विषय-सूची

निवेदन

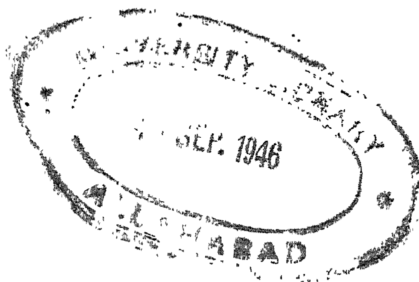
१—'साहित्य सन्देश' का आठवाँ वर्ष अप्रेल के बजाय जुलाई से प्रारम्भ हो रहा है। फलत: जिन ग्राहकों का मूल्य मार्च में समाप्त होता वह अब जून में समाप्त होगा। ग्राहक महानुभाव इस का ध्यान रक्खें।

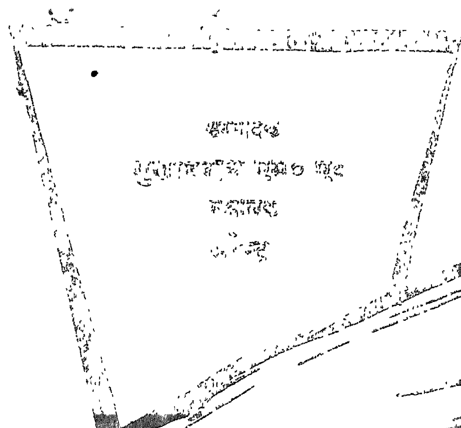
२—कागज की कठिनाई से 'साहित्य-सन्देश' की प्राय: उतनी ही प्रतियाँ छपाई जाती हैं जितने ग्राहक हैं। ऐसी दशा में जो लोग फायल बनाकर रखना चाहें उन्हें चाहिए कि प्रथम अङ्क (जुलाई) से ही ग्राहक बन जायँ।

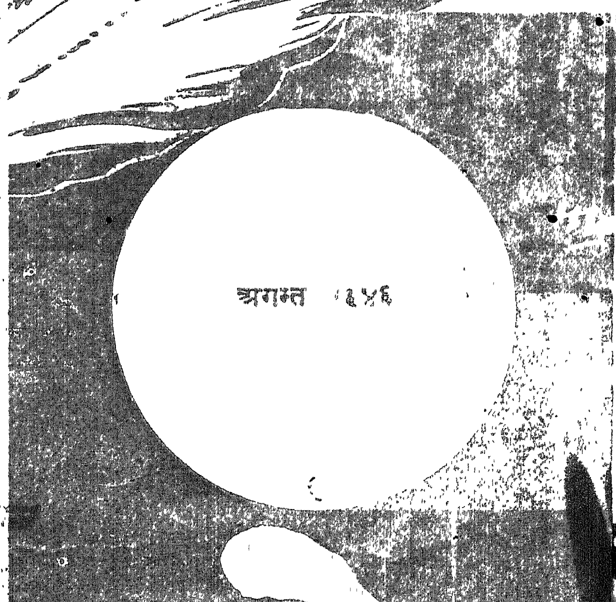
३—'साहित्य-सन्देश' के पुराने वर्षों की फायल कोई नहीं बची। कुछ फुटकर अङ्क बचे हुए हैं, जो छ: आने प्रति अङ्क के हिसाब से मिल सकते हैं। सभी अङ्कों में पठनीय और संग्रहणीय सामग्री है। जो सज्जन उन्हें चाहें, लिख कर मँगा सकते हैं।

४—कागज की कमी के कारण हम इस वर्ष केवल दो सौ नए ग्राहक बना सकेंगे। जिनका मूल्य पहले आ जायगा वे ही पहले ग्राहक बन जायँगे। ऐसी दशा में जो सज्जन ग्राहक बनना चाहें वे शीघ्रता करें।

—व्यवस्थापक


SEP. 1946




अगस्त १९४६

विषय-सूची

साहित्य संदेश

८ सितम्बर १९४६ अंक ३



प्रकाशक
साहित्य रत्न भंडार
आगरा

वार्षिक
मूल्य
३) रुपया

सम्पादक गुलाबराय एम० ए०

संचालक महेन्द्र

हिन्दी की नई पुस्तकें

आलोचना

विद्यापति की पदावली-शम्भुप्रसाद बहुगुणा २)

कविता

गांधी आश्रम की प्रार्थना—संकलन ।—)
फांसी—रघुवीरशरण मिश्र ३)
बल्लरी—शेखर १)
छत्रसाल शतक—ठा० रैवतसिंह ।≈)
मिट्टी की दुनिया--महेशचरण जौहरी १॥)

कहानी

धरोहर—होमवती १॥)
प्रगति और प्यार—वीरेन्द्र २)
कर्मयोग—विद्याभूषण पं० मोहन शर्म्मा १॥)
चवन्नी वाले—सन्तोषनारायण नौटियाल १॥)
नरक का कीड़ा—अरुण १॥)

उपन्यास

अधूरी रानी—उदयराजसिंह २॥)

राजनीत

आज़ाद हिन्द फौज का इतिहास—सूर्यवलीसिंह २)
गांधीवाद का विधान-श्रीमन्नारायण अग्रवाल १॥)
परमाणु बम—रा. रा. खाडिलकर बी. एस.सी. ।≈)
गायडा गैंग—रामकृष्ण ।≈)
यूरोप के दो सिपाही—रा. रा. रामकृष्ण शर्मा ॥≈)
जंगी गेस्टापो—कमलाप्रसाद राय शर्मा ।≈)
कल की दुनियां—रा० रा० खाडिलकर २॥)
नव भारत—रामकृष्ण ५)

स्फुट

गीतालंकार—श्रीमद् बन्द्योपाध्याय ॥)
सम्पत्ति का राजमार्ग—दास और राची ।॥)
अजीब दुनियां—सी० एम० विद्यार्थी ।≈)
जादूगर—नार्मन एम० एस० आई एस १॥)

विषय-सूची

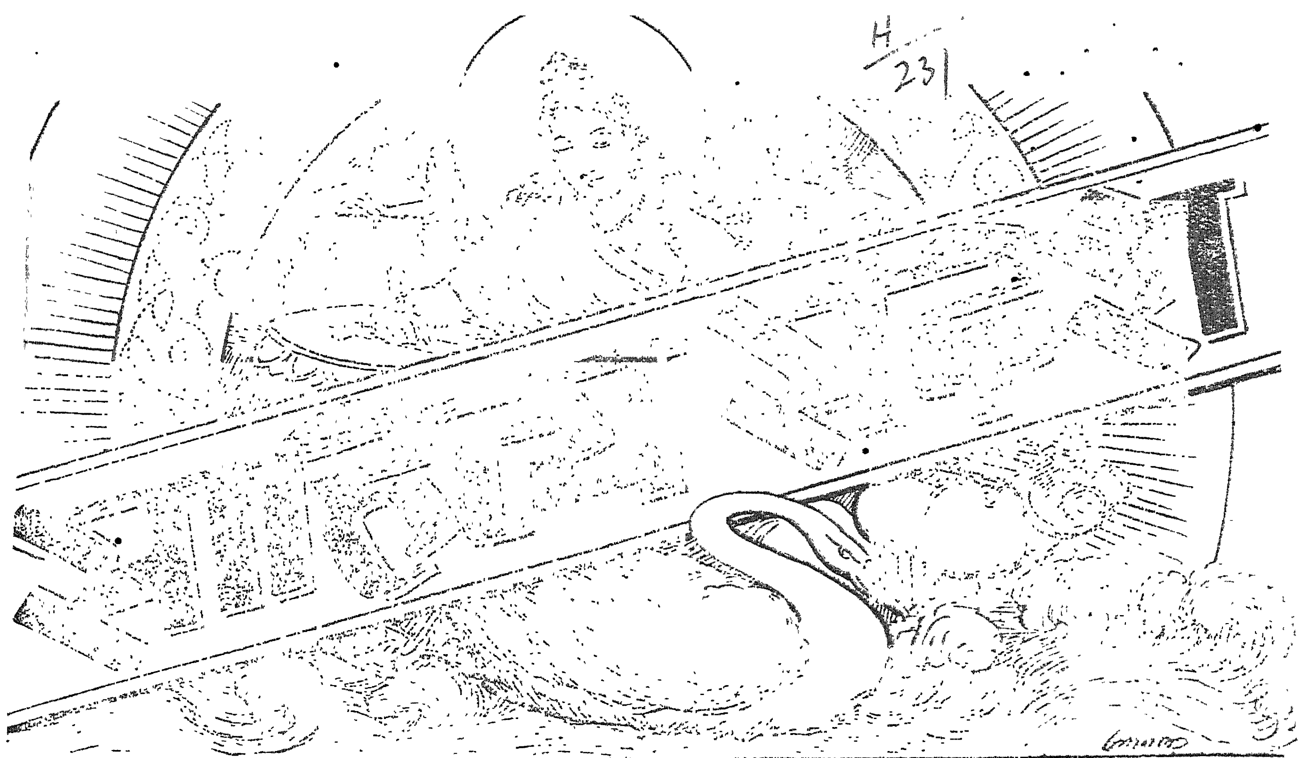
साहित्य सन्देश के पुराने अंक

साहित्य सन्देश के पुराने वर्षों की पूरी फायलों की बड़ी माँग है किन्तु हमें खेद है कि अब किसी वर्ष की भी फायल पूरी नहीं मिलती। किस वर्ष के कितने अंक मिल सकते हैं यह नीचे दिया जाता है ये अंक ।≈) प्रति के हिसाब से मंगाये जा सकते हैं। इनमें स्थाई साहित्य की बड़ी सामग्री मिलेगी:—

प्रथम वर्ष सिर्फ ५ अंक द्वितीय वर्ष सिर्फ १ अंक
तृतीय वर्ष ,, ६ अंक चतुर्थ वर्ष ,, २ अंक
पंचम वर्ष ,, ८ अंक छठे वर्ष ,, ६ अंक
सातवां वर्ष ७ अंक सिर्फ

विशेषांक

द्विवेदी अंक, प्रसाद अंक, शुक्ल अंक, उपन्यास अंक, परीक्षा अंक, विद्यार्थी अंक, और श्यामसुन्दर अंक यह सात विशेषांक अब तक निकल चुके हैं इन में पहले पांचों विशेषाँकों की अब तक एक भी प्रति नहीं मिलती। अंत के दो यानी विद्यार्थी अंक और श्यामसुन्दर अंक की कुछ प्रतियाँ शेष हैं। जो सज्जन चाहें मंगा सकते हैं। मूल्य प्रत्येक का१) है।



ा ८ | अक्टूबर १९४६ | अंक ४

विषय सूची

वार्षिक मूल्य) रुपया

एक प्रति का ।=)

सम्पादक ... एम०ए०

संचालक . महेन्द्र

विषय सूची



एक प्रति [illegible]

[illegible] एम०ए० सम्पादक

आलोचना और साहित्य

मिट्टी की ओर—रामधारी सिंह 'दिनकर' ४)
राजस्थान में हिन्दी हस्त लिखित—
ग्रन्थों की खोज—मोतीलाल मेनारिया ३)
हिन्दी साहित्य परिचय—डा० सी०बी०लाल गुप्त 'सरस' १)
साहित्य-परिचय—प्रेमनारायण टंडन २)
गोदान : एक अध्ययन—प्रेमनारायण टंडन १॥)
साहित्य निबन्धावली—डा०धर्मेन्द्र, प्रो०देवेन्द्र ३॥)

नाटक

संकल्प—प्रेमनारायण टंडन १)
सोहागदान—शिवकुमार ओझा ॥=)

कविता

कुरुक्षेत्र—रामधारी सिंह 'दिनकर' ३॥)
धूप-छाँह— ,, ,, १)
गाँव के गीत—रमेशवर्मा ॥)
अमर सङ्गीत—श्रीकृष्णप्रसाद गुप्त =)॥
महामानव—ठाकुर प्रसादसिंह ४॥)
हृदयध्वनि—लक्ष्मीनरायण टण्डन १)
दो चित्र—शिशुपालसिंह १॥)

कहानी

रामलीला—श्री राधाकृष्ण १॥)
तूफान—संग्रह २)

राजनीति

अगस्त क्रान्ति के विद्रोही नेता—
कैलाशचन्द्र जैन पुष्प २)
नेताजी सुभाषचन्द्र बोस—प्रह्लाद ब्रह्मभट्ट ३)
नव-भारत—रामकृष्ण ५)

उपन्यास

सर्दछाया—द्वारकाप्रसाद एम० ए० ॥)

हास्यरस

न नर न नारी—ले० बैरिस्टर ॥)

स्फुट

गाँव की सेहत—रमेशवर्मा ॥)
मानव-जीवन की सफलता—रामस्वरूप जैन १)
बुद्धि परीक्षा—पं० जगदम्बाशरण शर्मा २)

कृषि

तरकारी की खेती—व्यथित हृदय ॥=)
पशुओं के रोग— ,, ,, १)
रेंगने वाले—आनन्दस्वरूप श्रीवास्तव १)

स्त्रियोपयोगी

नारी समस्या—राधादेवी गोयनका ४)
गाँव के गीत—रमेशवर्मा ॥)

बालोपयोगी

नटखट कट्टो—ज्योतिर्वाद भार्गव ॥)
उड़न खटोला—लक्ष्मीनारायण टण्डन ।—)
चाँद-सितारे—गिरीशनाथ दीक्षित ॥)
विचित्र द्वीप—विमलादेवी १)
सात मूर्ख—गिरजाशङ्कर द्विवेदी ।=)

जीवनी

नेताजी सुभाष—छविनाथ पाण्डेय ३)

आयुर्वेद

शरीर परिचय—जगन्नाथप्रसाद शुक्ल वैद्य १)
नैसर्गिक आरोग्य— ,, ,, १॥)
भारतीय भौतिक विज्ञान— ,, ॥)
उर्ध्वाङ्गचिकित्सा—I ,, ,, २)
मुखरोग-विज्ञान—VI ,, ,, २)
कर्णरोग-विज्ञान— ,, ,, २)
शिरोरोग-विज्ञान— ,, ,, ४)
चिकित्सक—रामनरायण दुबे ५॥)



हिन्दी की नई पुस्तकें

आलोचना

गोदान : एक परिचय—प्रेमनारानायन टंडन १॥)
साहित्य परिचय—प्रेमनारायन टंडन २)
सूरदास—ब्रजेश्वर शर्मा ६)
कामायनी का विवेचन—ब्रजभूषण शर्मा १)
प्रेमचन्द : उनकी कहानी कला—प्रो० सत्येन्द्र ३)
हिन्दी लोकगीत—रामकिशोरी श्रीवास्तव १॥।)
उर्दू के अदीब—श्रीपाद जोशी १॥)

कविता

दो मित्र—शिशुपालसिंह १॥)
हृदय ध्वनि—लक्ष्मीनारायण टण्डन १।)
चित्तौड़—श्री परदेशी १)
साकेत सन्त—बल्देवप्रसाद मिश्र ६)
ध्रुव चरित—सूर्यदेव मिश्र ३)
महापुरुष—रघुवीरशरण मित्र १)
दीपशिखा—महादेवी वर्मा १८)
दीपक—द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी ॥।)

उपन्यास

भूचाल—रामसिंह ३॥)
देशभक्त और देशद्रोही— २।)
इसके बाद—मोहनलाल महतो वियोगी १॥)

कहानी

मानसरोवर भाग ५—प्रेमचन्द्र ३)
पगडन्डियाँ—राजेन्द्र सक्सेना १)
अमरज्योति—निशीथकुमार राय १)
अमरों की बस्ती में—मुरलीधर सारस्वत १।)
इन्कलाब—'पुष्पा' भारती २)
मालिनियाँ—रामशरण शर्मा १॥)

राजनीति

चीन और भारत—अंबिकाप्रसाद वाजपेयी १।)
जेल के वे दिन—विजयलक्ष्मी पंडित २)
अगस्त क्रान्ति और प्रति क्रान्ति—
मन्मथनाथ गुप्त २॥)

नाटक

सोहागदान—शिवकुमार ओझा ॥।≈)
संकल्प—प्रेमनारायन टंडन १।)

स्त्रियोपयोगी

नारी जीवन—दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह २॥)
नारी समस्या—राधादेवी गोयनका ४)

विविध

ब्राह्मण सावधान—किशोरीदास वाजपेयी ॥।)
जागरण का मार्ग—लक्ष्मीप्रसाद वाजपेयी १)
नवयुवकों के लिये—श्रीराम वाजपेयी १)

बालोपयोगी

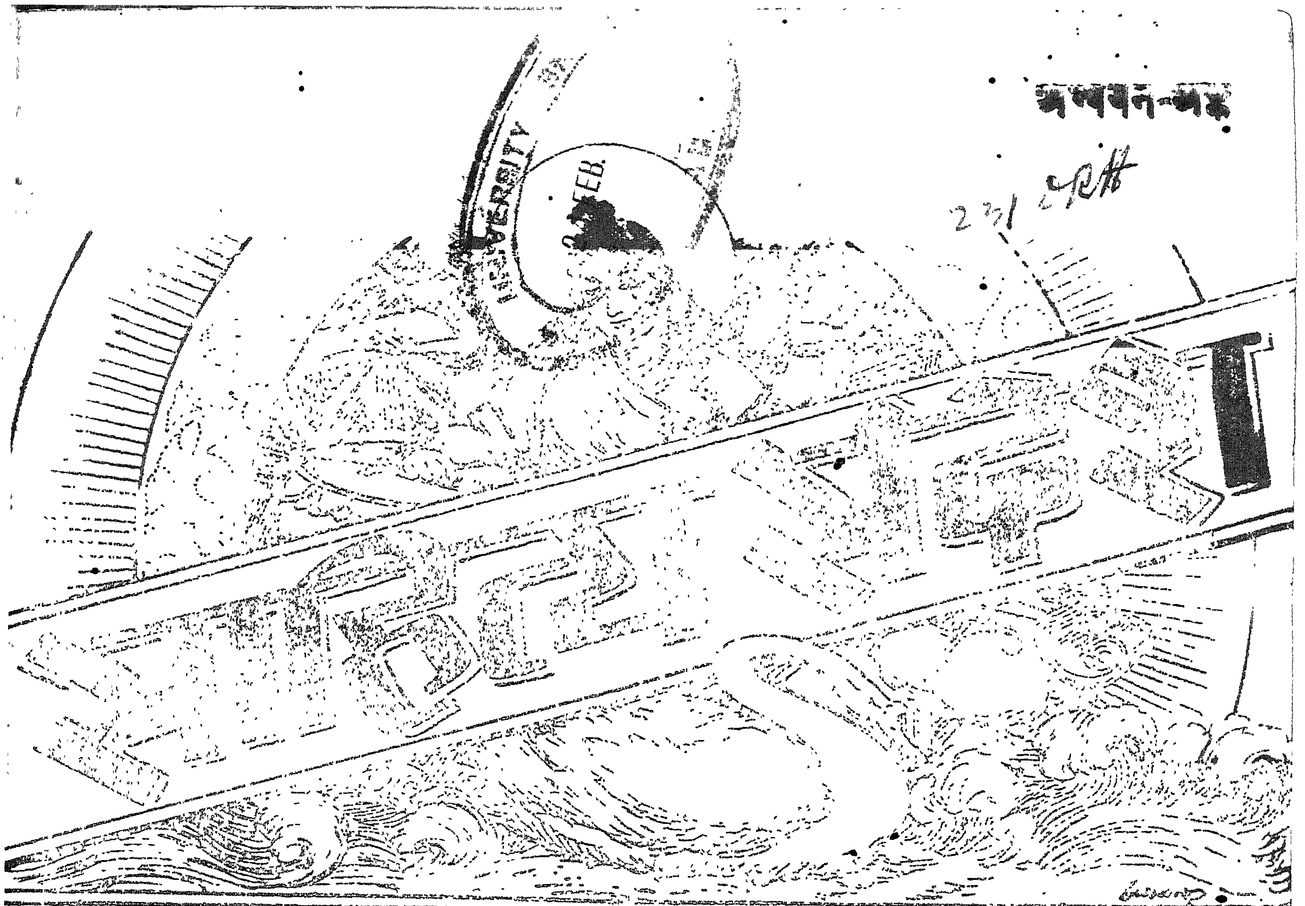
सात कहानियाँ—सोहनलाल द्विवेदी १)

साहित्य संदेश के तीन विशेषाङ्क

फर्वरी, मार्च तथा जुलाई के अङ्क विशेषाङ्क होंगे।
फर्वरी का अङ्क अध्ययन अङ्क
मार्च का अङ्क निराला जयंती अङ्क
जुलाई का अङ्क छायावाद अङ्क होगा।

सभी विशेषांकों में

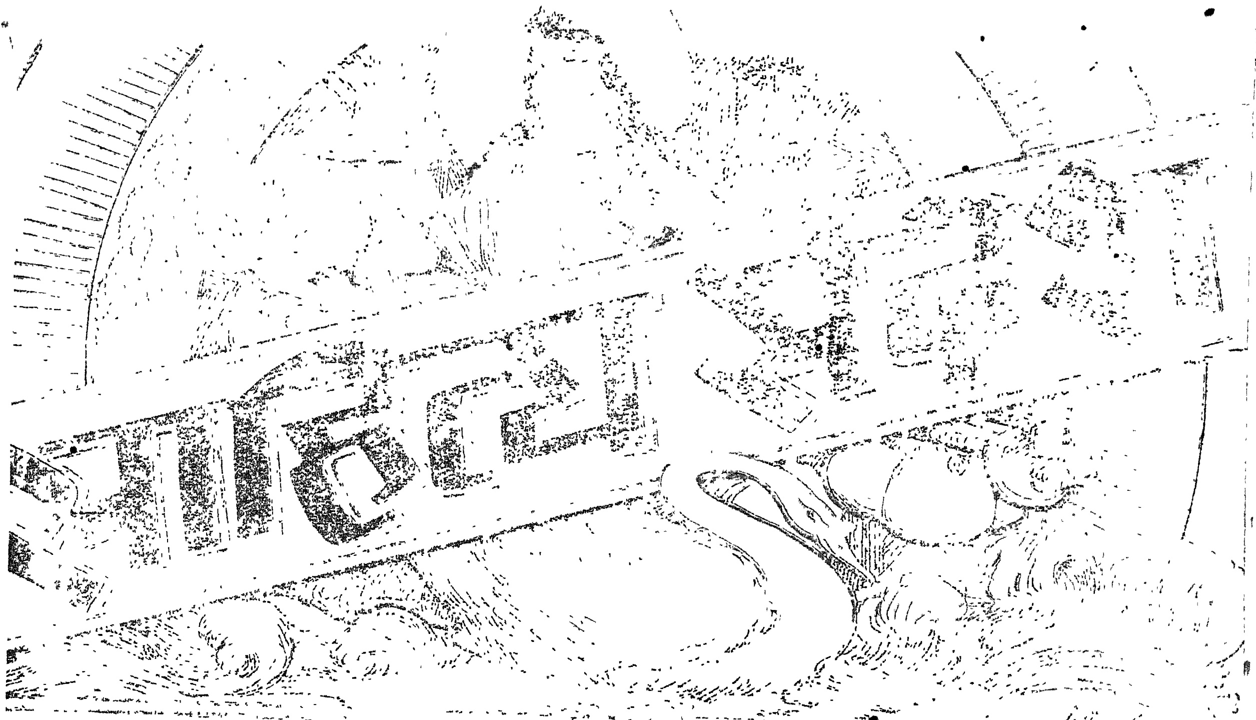
विद्वान लेखकों के लेख होंगे।
नये ग्राहक जनवरी से बनाये जायेंगे।
पुराने ग्राहक अपना मूल्य
तुरंत मनीआर्डर से भेज दें।



ष ८ फरवरी १९४७ अंक

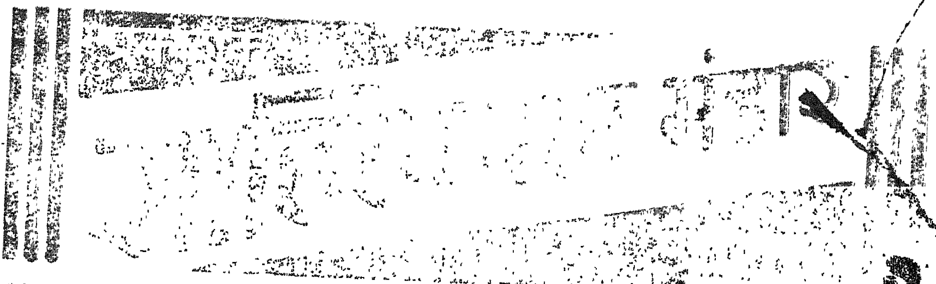
विषय सूची

सम्पादक—गुलाबराय एम० ए०



मई १९४७ अंक-११

विषय सूची



—गुलाबराय एम०ए०

❋पारिजात❋

सचित्र प्रगतिशील मासिक पत्र

'पारिजात' में क्या रहता है—

❋—नवीन सांस्कृतिक जागृति को प्रोत्साहित करने वाले लेख।
❋—राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का विचारोत्तेजक विवेचन
❋—कविताएँ, नाटक, निबंध, यात्रा-वर्णन और आलोचनाएँ आदि

'पारिजात' ने कुछ ही महीनों के अपने जीवन में लब्ध-प्रति
साहित्य-सेवियों का सहयोग प्राप्त कर लिया है। कुछ के नाम हैं:-

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी	स्वामी भवानीदयाल संन्यासी
श्री अज्ञेय	श्री गुरुदयाल मल्लिक
श्री नंददुलारे वाजपेयी	श्री रामदहिन मिश्र
श्री शिवपूजन सहाय	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी
श्री 'बच्चन'	श्री जगन्नाथप्रसाद मिश्र
श्री 'दिनकर'	श्री जानकीवल्लभ शास्त्री
श्री राधाकृष्ण	श्री रामइकबालसिंह 'राकेश'
श्री 'केशरी'	श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'
श्री उदयशंकर भट्ट	श्री हंसकुमार तिवारी
श्री प्रभाकर माचवे	श्री रांगेय राघव

संपादक
विश्वमोहन सिन्हा, देवकुमार मिश्र

पारिजात

केवल अध्ययनपूर्ण और मनोरंजक मासिक ही नहीं,
हमारी मानसिक स्वस्थता के लिए
आवश्यक, उत्साहवर्द्धक और जीवनोपयोगी पत्र है।

शीघ्र ग्राहक बनें

वार्षिक मूल्य ६) प्रत्येक अङ्क ॥=

ग्रन्थमाला-कार्यालय, बाँकीपुर, पटना



भाग ८] आगरा—जुलाई १९४६ [अङ्क १

कलागत सौन्दर्य और महत्ता

[डा० देवराज एम० ए०]

[काव्य के विषय (Matter) और कला को अलग-अलग मानते हुए प्रोफेसर एलेक्जेण्डर ने महत्ता का सम्बन्ध विषय से बतलाया है और सौन्दर्य का सम्बन्ध कला से। प्रोफेसर देवराज ने प्रस्तुत लेख में इस मत का निराकरण करते हुए सौन्दर्य का महत्ता से विच्छेद नहीं माना है। उन्होंने संश्लिष्ट दृष्टि से काम लिया है। इस दृष्टि से उन्होंने छायावाद प्रगतिवाद का भी मूल्याङ्कन किया है। —सम्पादक]

(१)

'साहित्य का मानदण्ड'* शीर्षक लेख में हमने यह स्थापना की थी कि किसी कृति अथवा कलाकार के मूल्यांकन की कसौटी उसकी अनुभूति की गहराई, व्यापकता एवं नूतनता है। किसी कलाकार का, जीवन की मार्मिक छवियों से जितना ही विस्तृत और गहरा परिचय है, वह उतना ही बड़ा कलाकार है; साथ ही यह भी आवश्यक है कि कलाकार की दृष्टि एवं अभिव्यक्ति पर उसके निराले व्यक्तित्व की छाप हो। संक्षेप में, साहित्य के मानदण्ड के अन्तर्गत हमने अनुभूति की इन तीन विशेषताओं पर ही जोर दिया था। मूल्यांकन से सम्बद्ध जिस प्रश्न का हमने विचार नहीं किया था वह अनुभूति की अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखता है और इस प्रकार रक्खा जा सकता है—कला या साहित्य के मूल्यांकन में अभिव्यक्ति की न्यूनाधिक पूर्णता का क्या स्थान होना चाहिए? क्या अभिव्यक्ति अथवा शैली का सौन्दर्य अनुभूति के सौन्दर्य से अलग चीज है? यदि हाँ, तो इस सौन्दर्य का स्रोत एवं अधिष्ठान क्या है? एक स्थल पर हमने उस लेख में कहा था कि श्रेष्ठ कलाकार की वाणी अपने बाह्य रूप में 'स्पष्ट, प्रभावपूर्ण और अर्थशालिनी लगती है।' किन्तु यह स्पष्ट है कि यह सब विशेषताएँ अनुभूति के प्रभावपूर्ण प्रकाशन से सम्बन्ध रखती हैं; अतः उनका अनुभूति से अलग अस्तित्व मानना उचित नहीं। क्या साहित्यकार की वाणी में अनुभूति से भिन्न भी कोई ऐसा तत्व होता है जो उसकी रचना को सुन्दर या असुन्दर

* देखिये 'साहित्य-सन्देश' नवम्बर १९४५

बनाए? पुराने अलंकार शास्त्री अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों को एक ऐसा ही तत्व मानते हैं। आधुनिक-काल में इन अलंकारों का महत्व बहुत-कुछ कम हो गया है। आज के लेखक और कवि अपनी बात यथाशक्ति सीधे ढंग से कहना पसन्द करते हैं; अनुप्रास आदि के आडम्बर से उन्हें घृणा है। पर शायद शब्दालंकार अपेक्षाकृत स्थूल उपकरण हैं; प्रश्न यह है कि क्या किसी अधिक गहरे अर्थ में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अनुभूति के सौन्दर्य से भिन्न होता है?

यूरोपीय दर्शन तथा आलोचना-साहित्य में "फार्म" या आकार (साहित्य की 'शैली') तथा "मैटर" अथवा वस्तु या विषय-वस्तु का भेद बहुत प्रसिद्ध है। हमारे यहाँ भी शैली और वस्तु का भेद कम प्रचलित नहीं है। यह शैली कहाँ तक कला की श्रेष्ठता को प्रभावित करती है?

प्रसिद्ध दार्शनिक और विचारक एस० एलेक्जेण्डर ने अपनी पुस्तक "ब्यूटी ऐण्ड अदर फार्म्स आफ वैल्यू" (सौन्दर्य तथा अन्य मूल्यभाव) में एक रोचक प्रभेद (Distinction) निरूपित किया है। उनका कहना है कि कला का सौन्दर्य एक बात है और उसकी महत्ता दूसरी; सौन्दर्य का अधिष्ठान कला-विशेष का माध्यम (मूर्तिकला में प्रस्तर या धातु, संगीत में स्वर, काव्य में शब्द) होता है जब कि उसकी महत्ता (Greatness) उसकी विषय-वस्तु पर निर्भर करती है। कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा। जेन आस्टिन में कलागत सौन्दर्य अधिक है यद्यपि डिकिन्स अधिक बड़ा कलाकार है। इसी प्रकार टेनीसन की कला अधिक सुन्दर है, ब्राउनिंग का काव्य अधिक महान। इन दोनों उदाहरणों में सौन्दर्य का कारण अभिव्यक्ति में और महानता का विषय-वस्तु में खोजना चाहिए। डिकिन्स की दृष्टि अधिक व्यापक है, इसलिए वह जेन आस्टिन से बड़ा कलाकार है; साथ ही यह मानना पड़ता है कि जेन की लेखन-प्रणाली में अधिक सौन्दर्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि जेन आस्टिन और टेनीसन अधिक कुशल कलाकार हैं यद्यपि वे उतनी बड़ी विषय-वस्तु से नहीं उलझते जितनी बड़ी से डिकिन्स और ब्राउनिंग। इस प्रकार एलेक्जेण्डर के अनुसार सौन्दर्य और महत्ता कला की दो भिन्न विशेषताएँ तथा कसौटियाँ हैं।

ऊपर का द्वैत दूसरे मूल्य-क्षेत्रों दोनों में भी पाया जाता है। मनुष्य के अनेक व्यापारों को हम शुभ या अच्छा कहते हैं, किन्तु सब शुभ व्यापार, अच्छाई में समान होते हुए भी, बराबर महान नहीं होते। 'स्वयं शुभ कर्मों के भीतर क्षुद्र और महान का भेद होता है, छोटाई और बड़ाई के दर्जे होते हैं।' स्पष्ट ही एक साधारण अच्छे बालक अथवा किसान और एक गाँधी जैसे नेता की सत्यपरता में महत्ता का भेद है; गाँधी का व्यापार देश के विराट् जीवन से सम्बद्ध है और उसे प्रभावित करता है। यहाँ भी कर्म-विशेष की महत्ता उसके क्षेत्र की विशालता पर निर्भर करती है। इसी प्रकार सत्य के क्षेत्र में भी; सच्चाई में समान होते हुए भी दो सत्य या सिद्धान्त कम या अधिक महान् हो सकते हैं। किसी सत्य की महत्ता का माप उसकी विषय-वस्तु की विशालता, उसके क्षेत्र की व्यापकता है। 'सूर्य पूर्व में उदय होता है' यह एक सत्य है; आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद भी एक सत्य है; किन्तु दोनों की महत्ता में अन्तर है। किन्तु, ऐलेक्जेण्डर के अनुसार, उनकी सत्यता में कोई अन्तर नहीं है, ठीक जैसे दो अच्छे कामों की अच्छाई में कोई अन्तर नहीं है। (किन्तु इस दृष्टि से कला की स्थिति कुछ निराली है; कलाकृतियों में महत्व का ही नहीं सौन्दर्य का भी अन्तर रहता है।)

संक्षेप में दार्शनिक एस० ऐलेक्जेण्डर का यही मत है। उनके अनुसार सौन्दर्य कला के माध्यम का गुण है और उसका महत्व विषय-वस्तु से निरूपित होता है। माध्यम को एक विशेष ढंग से नियोजित करके, ध्वनियों अथवा शब्दों के एक विशिष्ट संगठन से कलाकार (गायक अथवा कवि) सौन्दर्य की सृष्टि करता है। माध्यम का ठीक उपयोग न होने पर कला असुन्दर हो जाती है। इस सिद्धान्त की विशेष परीक्षा करने से पहले हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि उसकी हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में क्या उपयोगिता हो सकती है।

हिन्दी में छायावाद और प्रगतिवाद का विवाद कुछ वर्षों से चल रहा है। यह नहीं कहा जा सकता कि आज छायावाद के पक्ष में बोलनेवालों का सर्वथा अभाव है।

प्रगतिवाद का सम्बन्ध मुख्यतः, बल्कि पूर्णतः, साहित्य की विषय-वस्तु से है; अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की ओर उसका ध्यान नहीं है। छायावादी काव्य के वातावरण में पले हुए रसज्ञ पाठक तथाकथित प्रगतिवादी काव्य में इस सौन्दर्य का अभाव महसूस करते रहे हैं। उनके पक्ष में, एलेक्जेण्डर की भाषा में, कहा जा सकता है कि कला में सौन्दर्य का भी स्थान है, उसके मूल्यांकन की एक कसौटी अभिव्यक्ति या शब्दों का सौन्दर्य भी है। एलेक्जेण्डर के ही अनुसार छायावादी काव्य के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह सुन्दर भले ही हो, महान् नहीं है। उसमें जीवन और सभ्यता के प्रति गम्भीर दृष्टि का अभाव है।

एक दूसरा उदाहरण लीजिये। बच्चन की कविता का मूल्याँकन करने की सफल चेष्टाएँ कम हुई हैं। एलेक्जेण्डर की दोहरी कसौटी बच्चन की कविता पर खूब लागू होती है। सम्भवतः छायावादी कवियों में बच्चन का अनुभूति-क्षेत्र प्रायः अन्य सब कवियों से संकीर्ण है। (सम्भव है यहाँ कुछ लोग महादेवीजी को बच्चनजी के साथ एक कोष्ठक में रखना चाहें) किन्तु उसी अनुपात में उसकी प्रकाशन शैली पूर्ण एवं निर्दोष है। कहा जा सकता है कि बच्चन की कविता सुन्दर होते हुए भी महत्ता की दृष्टि से नीची श्रेणी की है क्योंकि वह जीवन और जगत की बहुत कम मार्मिक छवियों से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर पाती है।

यहाँ व्यावहारिक आलोचना के कम से कम दो महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़े होते हैं। एक, क्या बच्चन में छायावादी पन्त की अपेक्षा अधिक अभिव्यक्ति-सौन्दर्य है? और दूसरे, बच्चन की अनुभूति में व्यापकता भले ही न हो, तीव्रता पर्याप्त है; यह विशेषता उनकी कविता के महत्व की कहाँ तक रक्षा करती है? इस दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में हम पाठकों को इतना ही संकेत देंगे कि अनुभूति की तीव्रता और गहराई दो भिन्न वस्तुएँ हैं,* और इसमें सन्देह है कि अनुभूति की तीव्रता कला को महान् बना सकती है। पहला प्रश्न कुछ अधिक उलझन उत्पन्न करने वाला है; उसके समाधान के लिए सूक्ष्म एवं गहरा विश्लेषण अपेक्षित होगा। सम्भवतः कुछ आगे चल कर हम इस विषय पर किञ्चित् प्रकाश डाल सकेंगे।

(२)

एलेक्जेण्डर की आलोचना—एलेक्जेण्डर की उक्त पुस्तक पढ़ने का सौभाग्य हमें हाल ही में प्राप्त हुआ है। हमें यह देख कर प्रसन्नता हुई कि यह विचारक साहित्य के मानदण्ड सम्बन्धी हमारे विचारों से काफी दूर तक सहमत हैं। एलेक्जेण्डर के मत में कला की (तथा अन्य प्रकार की भी) महत्ता के दो पहलू व्यापकता और गम्भीरता हैं। वे कहते हैं—

'More largely and profoundly.' The phrase is used advisedly. For when we ask if we can analyse greatness, it is perhaps these characters which make the difference of the great subject and the small. To which we may add 'more complexly' unless we choose to construe largeness in the double sense of extension and detail, or include complexity under the head of profundity. (पृ० १४२)

ऊपर के अवतरण में ऐलेक्जेण्डर ने व्यापकता और गम्भीरता के साथ जटिलता का भी उल्लेख किया है। स्मरण होता है कि कहीं ऐसे ही प्रसंग में प्रो० नगेन्द्र ने अङ्कन की सूक्ष्मता को उच्च काव्य की विशेषता कथन किया है। सम्भवतः सूक्ष्मता का दृष्टि की गहराई में और जटिलता का सम्बन्धगत व्यापकता में अन्तर्भाव हो सकता है। वास्तव में व्यापकता और गहराई के विश्लेषण के लिए एक स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता होगी। देखने की बात यह है कि इस सम्बन्ध में एलेक्जेण्डर का हम से बहुत कुछ मतैक्य है। भेद इतना ही है कि उन्होंने 'नूतनता' का स्वतन्त्र विशेषता के रूप में उल्लेख नहीं किया है और

* तु० की० वर्ड्सवर्थ—Gods approve, The depth and not the tumult of the soul. अर्थात् देवताओं को अन्तरात्मा की गहराई प्रिय है, आकुल उत्तेजना नहीं।

सौन्दर्य को कला की एक अलग कसौटी मान लिया है। हमारी समझ में 'सौन्दर्य' और 'महत्ता' को कलात्मक मूल्यांकन की दो स्वतन्त्र कसौटियाँ मानने से अनेक कठिनाइयाँ उठ खड़ी होतीं हैं। नीचे हम उनका निर्देश करेंगे।

(१) साधारणतः कलाकृतियों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे सुन्दर होती हैं। इस वर्णन के औचित्य में सन्देह किया जा सकता है। एक भवन, मूर्ति अथवा चित्र को सुन्दर कह सकते हैं; पर क्या उसी अर्थ में एक गीत या कविता को सुन्दर कहा जा सकता है? हमारी समझ में 'सुन्दर' विशेषण का प्रयोग दृश्य पदार्थों के लिए ही होना चाहिए। संगीत में दृश्य तत्व का अभाव रहता है, अतः उसे सुन्दर कहना ठीक नहीं जँचता। काव्य-साहित्य में दीखने वाला तत्व छपे हुए शब्द हैं, किन्तु शब्दों के छपे रूप को सौन्दर्य का अधिष्ठान किसी ने नहीं कहा है। फिर कविता में सुन्दर क्या हो सकता है? शब्दों के अर्थ को सुन्दर कहने का एक ही आशय सम्भव है, कि शब्दबद्ध अनुभूति सुन्दर है। उस दशा में सौन्दर्य माध्यम का गुण नहीं रहेगा जैसा कि एलेक्जेण्डर को अभिप्रेत है। क्या यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य का अधिष्ठान ध्वनि है? उस दशा में एक अज्ञात भाषा के काव्य में भी सौन्दर्य का अनुभव होना चाहिए। कुछ लोगों का विचार है कि ऐसा होता है—अर्थ बिना समझे हुए भी हम कभी-कभी काव्यगत आवेग को हृदयंगम कर लेते हैं; पर हमें इसमें सन्देह है। हमारा विश्वास है कि यदि कोई भाषा नितान्त अपरिचित है, और उसके काव्य को पढ़ने वाला भी अपरिचित स्वभाव का है, तो हम उस काव्य के आवेग को ठीक-ठीक नहीं समझ सकेंगे। यदि कविता नाटकीय ढङ्ग से पढ़ी जाय तो हमारे किंचित् बोध का कारण पढ़ने वाले की भावभङ्गी होगी, न कि कविता के शब्द। निष्कर्ष यह है कि यदि सौन्दर्य काव्य-साहित्य का गुण है तो वह शब्दबद्ध अनुभूति का गुण ही हो सकता है न कि भाषा या माध्यम का। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बार-बार प्रयुक्त होने के कारण, अनुषंगों (Associations) के बल से, छपे और सुने हुए शब्द भी सुन्दर प्रतीत होने लगते हैं। यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि शब्दों के सौन्दर्य का कारण उनसे बँधी हुई अथवा संकेतित वस्तुगत छवियाँ ही होती हैं। प्रकृत में इसका फल यह हुआ कि कला की महत्ता ही नहीं उसका सौन्दर्य भी माध्यम द्वारा प्रकाशित विषय-वस्तु से निरूपित होता है।

वास्तव में देखा जाय तो चित्र का सौन्दर्य भी उस अनुभूति या विषय-वस्तु पर निर्भर करता है जो चित्र में उल्लिखित हो रही है; स्वयं वर्णों और रेखाओं में बहुत नीची कोटि का सौन्दर्य होता है सम्भवतः रेखाओं का विशिष्ट संगठन, संगीत के ध्वनि-समूह की भांति, कुछ अज्ञात अर्थों का वाहक होने के कारण आकर्षक लगता है। यहाँ अनेक प्रश्न उठाए जा सकते हैं, पर इस समय उन्हें छोड़ चलना ही ठीक होगा।

(२) थोड़ी देर को हम मान लें कि साहित्यिक अनुभूति सुन्दर होती है; तब दूसरी कठिनाई उपस्थित हो जाती है। एलेक्जेण्डर का मत है कि दो सुन्दर कलाकृतियों के सौन्दर्य में भेद नहीं होता, महत्ता में भेद हो सकता है* जैसे दो सत्य न्यूनाधिक महान् होते हुए भी सचाई में समान होते हैं और दो कर्म न्यूनाधिक बड़े होते हुए नैतिक अच्छाई में। पर क्या यह ठीक है? क्या विषयवस्तु के विस्तार से कलाकृति के सौन्दर्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता? क्या सम्पूर्ण 'शाकुन्तल' के सौन्दर्य और रघुवंश के किसी एक सुन्दर पद्य के सौन्दर्य में कोई भेद न होगा? कम से कम अध्यात्मवादी तर्कशास्त्रियों ने यह मत प्रकट किया है कि अधिक व्यापक सत्य, कम व्यापक सत्य की तुलना में अधिक सच्चा होता है। यदि सत्य के क्षेत्र में यह भेद माना जा सकता है तो सौन्दर्य के क्षेत्र में वह और भी अधिक युक्त है। वस्तुतः अनुभूति या विषय-वस्तु की महत्ता और सौन्दर्य परस्पर निरपेक्ष गुण नहीं हैं जो एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते। सुन्दर की एक विशेषता (जिसे एलेक्जेण्डर ने माना है) 'अनेकता में एकता' भी है; इससे स्पष्ट है कि एकीकृत तत्वों का विस्तार सौन्दर्य का प्रमुख उपादान है। वास्तव में महान् कलाकृति का सौन्दर्य छोटी कलाकृति से भिन्न और निराला होता

*The beauty of the great work is no greater than that of the small one—वहीं

है। इस भेद को केवल मात्रा का भेद नहीं कहा जा सकता; विषय का नूतन संगठन जिस सौन्दर्य को जन्म देता है वह निराली वस्तु होती है। यह उल्लेखनीय बात है कि जॉनस्टुअर्ट मिल ने सुख के जातिगत भेद माने थे। वास्तविकता यह है कि कृति-विशेष के उत्कर्ष को हम महत्ता और सौन्दर्य में विश्लेषित करके ग्रहण नहीं करते; वह हमें अपने समग्र रूप में ही प्राप्त होता है। उस अनुभूति के जो कला में हमें प्राप्त होती है, विस्तार, गहराई और नूतनता विभिन्न पहलू हैं; वे एक दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते।

यहाँ प्रश्न उठता है—क्या इस अनुभूति का एक पहलू सौन्दर्य भी है? अनुभूति से भिन्न सुन्दर अनुभूति का भी क्या अस्तित्व है? ऊपर हमने इस मत का निराकरण किया कि सौन्दर्य माध्यम का गुण है; क्या हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि कलाबद्ध अनुभूति में सौन्दर्य नामक गुण की अवस्थिति रहती है?

हमारा अपना विश्वास है कि ऊपर की प्रश्नावली का उत्तर नकारात्मक होना चाहिए। हम मानते हैं कि सौन्दर्य कलामात्र का गुण नहीं। कलात्मक अनुभूति तब ही सुन्दर कही जा सकती है जब उसकी विवृति का विषय वस्तुगत सौन्दर्य हो। हमारे अनुसार सुन्दर की अनुभूति ही सुन्दर अनुभूति है। क्योंकि कलात्मक अनुभूति का विषय सदैव सुन्दर नहीं होता इसलिए सौन्दर्य कला मात्र का धर्म नहीं है। किन्तु सब प्रकार की कलात्मक अनुभूति "सार्थक" होती है, अर्थात् उसका विषय सर्वत्र सार्थक तत्व होते हैं। साहित्य की दृष्टि से सार्थक तत्व या छवियाँ वे हैं जो मानवता के लिए राग-द्वेष का विषय हैं—जो मानव मात्र को हेय या उपादेय प्रतीत होती हैं। यहाँ याद रखना चाहिए कि कला की विषय-वस्तु व्यक्ति-विशेष के लिए ही सार्थकता नहीं रखती, वह मानव मात्र के दृष्टि-कोण से अर्थवत् प्रतीत होती है। सुन्दर तत्व अर्थवत् की ही एक उपश्रेणी है; जिन्हें हम सत्य और शिव कहते हैं वे अर्थवत् के दूसरे विभाग हैं। संक्षेप में कलात्मक अनुभूति का विषय जीवन और जगत में पिरोए हुए सब प्रकार के मूल्यभाव (Values) हैं।

नीचे के पद्यों और पद्य-खण्डों पर ध्यान दीजिए:—

(१) साथ निशिनाथमुखी पाथनाथ-नन्दिनी-सी
तुलसी विलोके चित्त लाए लेत संग है;
आनँद उमंग मन यौवन उमंग तन
रूप की उमंग उमगत अङ्ग अङ्ग है।

(२) पावस-ऋतु थी, पर्वत-प्रदेश;
पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार।

(३) बहुरि बदन-विधु अञ्चल ढाँकी।
पियतन चितै दृष्टि करि बाँकी॥
खञ्जन-मंजु तिरीछे नयननि।
निज पति तिनहिं कह्यो सिय सैननि॥

(४) द्विधाय जड़ित पदे, कम्पवक्षे नम्र नेत्रपाते
स्मितहास्ये नाहि चल सलज्जित बासरशय्याते
स्तब्ध अर्धराते।
उषार उदय सम अनवगुण्ठिता
तुम अकुण्ठिता
वृन्तहीन पुष्पसम आपनाते आपनि विकारी
कबे तुमि फुटिले ऊर्बशि!

ऊपर के सब पद्य सुन्दर काव्य हैं। उनके सौन्दर्य का कारण ललित पद-योजना नहीं अपितु अभिव्यक्त अनुभूति की सुन्दर विषय-वस्तु है। सुन्दर की अनुभूति के वाहक होने के कारण ही उक्त कविता-खण्ड सुन्दर हैं। उनकी पदावली को सुन्दर कहने का यही अभिप्राय हो सकता है कि कवियों ने विषय के अनुरूप भाषा का प्रयोग किया है। शेक्सपीयर की निम्न पंक्तियों में भी उपयुक्त शब्दावली का प्रयोग किया गया है; पर वे ऊपर के पद्यों की भांति सुन्दर कही जा सकती हैं, इसमें सन्देह है—

To-morrow, and to-morrow, and to-morrow
Creeps in this petty pace from day to day,
To the last syllable of recorded time;
And all our yesterdays have lighted fools
The way to dusty death. Out, out, brief candle

Life's but a walking shadow, a poor player
That struts and frets his hour upon the stage,
And then is heard no more; it is a tale
Told by an idiot, full of sound and fury,
Signifying nothing.

शेक्सपियर की ये पंक्तियाँ श्रेष्ठतम काव्य हैं इसे सभी सहृदय स्वीकार करेंगे; साथ ही यह मानना भी जरूरी मालूम पड़ता है कि ये पिछले पद्यों की भाँति सुन्दर नहीं हैं। उनकी श्रेष्ठता का कारण सौन्दर्य न होकर कोई और तत्व है। यहाँ कई रोचक निष्कर्ष निकलते प्रतीत होते हैं। एक श्रेष्ठ कला आवश्यकरूप में सुन्दर नहीं होती। अभिव्यक्ति की पूर्णता उच्च कला का आवश्यक गुण है, पर यह पूर्णता सौन्दर्य से भिन्न वस्तु है। दूसरे, सौन्दर्य और महत्ता काव्य के दो भिन्न गुण नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि कलागत सौन्दर्य का कारण एक तत्व हो और उसके महत्व का दूसरा। केवल सौन्दर्य भी कला को उच्च बना सकता है। पूर्वोद्धृत चार पद्यों में यदि कोई श्रेष्ठता या महत्ता है तो उसका एक प्रमुख कारण उनका सौन्दर्य है। इसका अर्थ यह है कि जहाँ सब प्रकार की महत् अनुभूति आवश्यक रूप में सुन्दर नहीं होती वहाँ केवल सुन्दर की अनुभूति कलागत उच्चता या महत्व का कारण बन सकती है। वस्तुतः हमारा विचार है कि कालिदास और कीट्स के काव्य का महत्व बहुत कुछ उनके अनुभूतिगत सौन्दर्य पर निर्भर है। यद्यपि हम यह नहीं मानते कि कला का एकमात्र विषय सौन्दर्य है फिर भी हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि कला में जिन मूल्यभावों (Values) की विवृति होती है उनमें सौन्दर्य का प्रमुख स्थान है। संसार के तथाकथित 'रोमाण्टिक' कवियों ने मुख्यतः जीवन और जगत के सौन्दर्य-तत्व (और उससे सम्बद्ध प्रेमवृत्ति) को ही अभिव्यक्ति देने की चेष्टा की है।

(३)

रोमांटिक काव्य; छायावाद और प्रगतिवाद—कवि कीट्स ने कहीं लिखा है कि Poetry should surprise us by a fine excess अर्थात् श्रेष्ठ कविता को हमें एक मनोज्ञ अतिशयता से चकित करना चाहिए। रोमांटिक काव्य में यह अतिशयता सौन्दर्य के निर्भर संकेतों से सम्पन्न होती है। रोमांटिक कवि मुख्यतः सौन्दर्य का कवि होता है, वह मानो संसार को सुन्दरता से रंगे चश्मे से देखता है। उसकी अनुभूति अन्य प्रकार की सार्थकताओं को ग्रहण करती हुई भी उनमें बरबस सौन्दर्य का समावेश कर देती है। ऐसे कवि करुण प्रसंगों पर भी अच्छा लिख सकते हैं क्योंकि उनमें प्रायः सौन्दर्य का मिश्रण रहता है। करुणा के उद्रेक का कारण बहुधा कोमल एवं सुन्दर पर आघात या प्रहार होता है। यथा—

अभी तो मुकुट बँधा था माथ,
हुए कल ही हलदी के हाथ;
खुले भी न थे लाज के बोल,
खिले भी चुम्बन-शून्य कपोल;
हाय! रुक गया यहीं संसार
बना सिन्दूर अंगार!
वात-हत-लतिका वह सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार!

रोमांटिक कवि को संसार चिर-नवीन, कुतूहलमय एवं मनोरम प्रतीत होता है। उसे यदि यहाँ बुराई दीखती है तो सौन्दर्य की नश्वरता एवं कोमल भावनाओं की उपेक्षा के रूप में। प्रायः रोमांटिक कवि को अपने व्यक्तित्व में विशेष मोह और उसकी मूल्यवत्ता में अखण्ड विश्वास होता है। फलतः वह अपनी उपेक्षा नहीं सह सकता और प्रायः मानव-समाज से असंतुष्ट रहता है। रोमांटिक स्वभाव के कवि प्रायः दुनिया में "फिट" नहीं बैठते।

रोमांटिक दृष्टि और कल्पना की मनोज्ञ अतिशयता अक्सर अनियंत्रित और संयमहीन होती है। ऐसा कवि प्रायः नैतिक संतुलन से अपरिचित तथा कर्म-जगत के प्रति उपेक्षा भाव रखने वाला होता है। उसमें अनुपात की भावना भी कम विकसित रहती है। अतः वह वीरों की गाथाओं अथवा मानवता के नैतिक प्रयत्नों का कलात्मक निरूपण करने में कम समर्थ होता है। वह प्रायः सफल नाटककार या महाकाव्य-प्रणेता नहीं बन पाता। बात यह है कि नाटक या महाकाव्य लिखने के लिए रचनात्मक एवं अनुभूतिगत संयम की जरूरत होती है जो विशुद्ध रोमांटिक स्वभाव में नहीं होता। यही कारण है कि शेली और

'प्रसाद' के नाटक यथार्थ नहीं हो सके हैं और अंकन की सूक्ष्मता के बावजूद, 'कामायनी' एक प्राण-हीन कृति मालूम पड़ती है।

सौन्दर्य का मतवाला रोमांटिक कवि कभी कभी बेमौके सुन्दरता की सुरा ढालने लगता है! बाणभट्ट का वैशंपायन शुक जिसका पिता अभी मारा गया है प्राण-रक्षा के लिए एक तमाल वृक्ष की जड़ में घुसता हुआ उसके सौन्दर्य-वर्णन का लोभ संवरण नहीं कर पाता, यह बाणभट्ट की नितांत रोमांटिक कल्पना का असंयम या अत्याचार है—

पितरमुपरतमुत्सृज्य········लुठन्नितस्ततः कृतान्तमुख कुहरादिव विनिर्गतमात्मानं मन्यमानो नाति दूरवर्तिनः **शबरसुन्दरीकर्णचरचूनोपयुक्तपल्लवस्य संकर्षण-पट नीलच्छाययोपहसत इव गदाधर देहच्छविम्, अच्छैः कालिन्दीजलच्छेदैरिव विरचितच्छदस्य ····विन्ध्याटवी केशपाश श्रियमुद् वहतो····तमाल विटपिनो मूलदेशमाविशम्।**

उस तमाल के कोमल पत्ते शबर-सुन्दरियों के कर्ण-फूल बनाने में नियुक्त होते थे, बलराम के वस्त्र जैसी नीली छाया से वह मानो विष्णु की शरीर-शोभा का तिरस्कार करता था, उसके पत्ते मानो यमुना के कृष्ण जल-बिन्दुओं से निर्मित हुए थे, विन्ध्याटवी की केशपाश-श्री का वह जैसे वहन कर रहा था········।' काल के मुख से पलायन करता हुआ कोई जन्तु इस प्रकार सौन्दर्य के निरीक्षण और वर्णन में प्रवृत्त हो सकता है, यह कल्पना रोमांटिक बाणभट्ट के मस्तिष्क में ही आ सकती है। सौन्दर्य का यह उचित-अनुचित सन्निवेश, उसकी प्रचुर अतिशयता, रोमांटिक संवेदना एवं कला की अन्यतम विशेषता है।

छायावादी काव्य में रोमांटिक काव्य की उक्त विशेषता न्यूनाधिक मात्रा में वर्तमान है, और यह विशेषता उसके आकर्षण का प्रमुख रहस्य रही है। साथ ही यह मानना पड़ेगा कि कल्पना की अतिशयता के कारण छायावादी सौन्दर्याभिव्यक्ति पुष्ट एवं प्रौढ़ नहीं हो सकती है। आज दिन प्रगतिवादी आलोचकों की ओर से यह कहा जा सकता है कि अब मात्र सौन्दर्य की विवृति करने वाले काव्य की आवश्यकता नहीं है; काव्य-साहित्य को समाज और सभ्यता के लिए उपयोगी होना चाहिए। किन्तु प्रगतिवादियों की यह आलोचना कि छायावादी काव्य पलायनवादी था, आधे से भी कम सत्य है। छायावाद की मूल प्रेरणा सुन्दर का प्रेम था, असुन्दर या अशुभ से पलायन नहीं; पन्त, निराला और महादेवी में पलायन की भावना प्रधान नहीं है। उनमें जहाँ कहीं पलायनात्मक उद्गार हैं भी वहाँ वे प्रायः असुन्दर-सम्बन्धी विरक्ति या उपेक्षा के ही द्योतक हैं। वादमुक्त आलोचना की दृष्टि से कहा जायगा कि छायावादी काव्य एकांगी था। इस दृष्टि से प्रगतिवादी जिस पथ का निर्देश कर रहे हैं वह भी साहित्य को एकांगी बनाने वाला है। प्रगतिवाद के पक्ष में कहा जा सकता है कि वह दो तिहाई जीवन (अर्थात् उसके सत्य एवं शिव-पक्ष) की अभिव्यक्ति के समर्थन में लड़ रहा है जब कि छायावादी कवि मात्र सौन्दर्य में उलझ कर रह गए थे। किन्तु कोई भी प्रथम श्रेणी का कलाकार जिसे अपनी अनुभूति में विश्वास है सुन्दर की अभिव्यक्ति से विरत नहीं हो सकता; इस अभिव्यक्ति का साहित्य में वही स्थान है जो जीवन में आनन्द का। यह ठीक है कि जीवन कर्मभूमि है, विशेषतः संघर्ष के युग में; पर साथ ही यह याद रक्खा जा सकता है कि साहित्य में मनुष्य का कर्म-पक्ष प्रायः सुन्दर और असुन्दर के रूपों में निरूपित या प्रकाशित होता है। (अपूर्ण)

———

कामायनी का 'काम' सर्ग

[प्रो० कन्हैयालाल सहल एम० ए०]

[शब्दों का अर्थ एक-सा नहीं रहता है। श्री सहलजी ने कामायिनी के काम सर्ग की व्याख्या करते हुए काम के शुद्ध और व्यापक तथा दूषित और संकुचित अर्थ पर प्रकाश डाला हैं। काम अपने व्यापक अर्थ में कामना का द्योतक रहा है 'सोऽकामयत्'। वासना है तो उसी के अन्तर्गत किन्तु उसका नीचा रूप है। काम अपने शुद्ध रूप में रति से मिलकर ही श्रद्धा का जनक हो सकता है। जिज्ञासा के साथ जब तृप्ति का भाव लगा रहता है तभी श्रद्धा की उत्पत्ति होती है। काम ने अपना वर्णन अपने शुद्ध रूप में किया है और मनु ने उसे वासना का रूप दिया है। कवि ने इन दोनों रूपों को मिला कर पृथ्वी और स्वर्ग का एकीकरण कर दिया है। यही कवि का कौशल है।

—सम्पादक]

जल-प्रलय के बाद मनु की नाव हिमालय की ऊँची चोटी पर जा लगती है। भीगे नयनों से वे प्रलय का प्रवाह देख रहे हैं। देव-सृष्टि के विध्वंस पर, अतीत के उन सुखों पर वे चिन्तित हैं। किन्तु जब प्रलय का भयङ्कर दृश्य धीरे-धीरे दूर होने लगा तो सुनहली उषा के साथ मनु के हृदय में भी आशा का संचार हुआ जिसका चित्रण दूसरे सर्ग में हुआ है। आशा का ही व्यक्त रूप है श्रद्धा। श्रद्धा मनोवृत्ति भी है और कामायनी नारी भी है। तीसरे सर्ग 'श्रद्धा' में मनु और कामायनी का मिलन होता है। नारी के प्रवेश के साथ घटना-चक्र में तीव्रता आती है। वस्तुतः कामायनी के 'कार्य' का प्रारम्भ यहीं से है। दोनों के साक्षात्कार के पश्चात् चतुर्थ सर्ग में काम का चित्रण हुआ है। नारी का आकर्षण मनु के अन्तर्द्वन्द्व का कारण बन जाता है। समस्त सर्ग की घटना को तो एक ही वाक्य में प्रकट किया जा सकता है 'श्रद्धा के सौन्दर्य से आकृष्ट मनु को स्वप्न होता है कि उसे पाना चाहो तो उसके योग्य बनो।' यह अवश्य है कि यह सर्ग, हमारी औत्सुक्य-वृद्धि करता है। हम जानना चाहते हैं कि देखें मनु कौनसे मार्ग को ग्रहण करते हैं। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से यह सर्ग दो स्पष्ट भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) नारी के आकर्षण के बाद मन की प्रतिक्रिया जो मनु की स्वगतोक्तियों में अभिव्यक्त हुई है।

(२) काम का मनु को स्वप्न में आदेश।

'कामायनी' घटना-प्रधान नहीं, वृत्ति-प्रधान है। इसलिए इस काव्य के सम्यक् रसास्वादन के लिए वृत्तियों के स्वरूप-निर्धारण और उनके विश्लेषण को ही विशेषतः लक्ष्य में रखना चाहिए। इसके सर्गों का नामकरण भी मनोवृत्तियों को लेकर ही हुआ है। प्रसाद ने बड़े उदात्त और व्यापक अर्थ में 'काम' का प्रयोग किया है जैसा कि कामायनी की निम्नाङ्कित पंक्तियों से स्पष्ट है—

> काम मङ्गल से मण्डित श्रेय सर्ग,
> इच्छा का है परिणाम।

भारतीय शास्त्रों में भी काम की व्यापकता का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है—

> कामो जज्ञे प्रथम नैनं देवा
> आयुः पितरो न मर्त्याः
> ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्ते
> काम नमः इति कृणोमि॥
> अथर्ववेद ९।२।१९

अर्थात् हे काम, तू सबसे प्रथम उत्पन्न होकर देव, पितर और मर्त्य सबको प्राप्त हुआ, कोई तुझसे बचा नहीं। इसलिए इस विश्व में तू व्यापक और सबसे महान् है। मैं तुझे नमस्कार करता हूँ।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो
रेतः प्रथमं यदासीत्।
(ऋक् १०। १२६। ४)

अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति के पहले मन की सर्वव्यापिनी बुद्धि का मूल तत्व काम प्रकट हुआ। 'एकोऽहं बहुस्याम्' की भावना से ही सृष्टि का प्रसार हुआ। गीता में भी धर्म से अविरुद्ध काम को ईश्वरीय विभूतियों में शामिल किया गया है।* मनुस्मृति में भी 'यद् यद्धि क्रियते कर्म, तत्तद्धि कामचेष्टितम्' कह कर काम की व्यापकता का स्पष्ट ही उल्लेख किया गया है। भारतीय शास्त्रों मे धर्म, अर्थ और मोक्ष के साथ काम की भी चतुर्वर्ग में गणना की गई है। किन्तु काम का अर्थ आज बिगड़ गया है। यह इन्द्रिय लिप्सा के अर्थ में ही प्रयुक्त होने लगा है। भारतीय साधकों और उपदेशकों ने वैराग्य-भाव जागृत करने के लिए क्रोध, लोभ आदि के साथ काम की षडरिपुओं में गणना की, मनुष्य के आध्यात्मिक विकास मे काम को बाधक समझ कर उसे वर्ज्य ठहराया गया। देवों में परिगणित किये जाने पर भी कामदेव, वर्जित देव ही समझे गये। काम की महती सर्जनशीलता और अदम्य प्रेरक शक्ति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने का श्रेय फ्रायड आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों को है। फ्रायड ने काम-भावना को मूल शक्ति माना। मनुष्य के प्रत्येक कार्य के पीछे इस शक्ति की प्रेरणा रहती है। भोग और संयोग की इच्छा स्वाभाविक है किन्तु वह तो पशु-पक्षियों में भी पाई जाती है; काम का परिशोध ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। दया, ममता, त्याग आदि उदात्त वृत्तियाँ काम-भावना के परिशोध के ही परिणाम हैं। हिन्दी साहित्य में सम्भवतः प्रसाद ही सबसे पहले कवि हैं जिन्होंने 'कामायिनी' के द्वारा काम का उदात्त और व्यापक रूप हिन्दी जनता के समक्ष रखा। मैं इसे प्रसाद की बड़ी भारी देन मानता हूँ कि सौन्दर्य, प्रेम और दर्शन के इस कवि ने काम का इस प्रकार वर्णन किया है जैसे यह विशुद्ध भारतीय विचार-धारा हो। श्रद्धा को काम और रति की पुत्री के रूप में देखना भी प्रसाद की नई अवतारणा है जो सामान्य पाठक को एकदम आश्चर्य में डाल देती है। कामायनी मनु से कहती है—

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास।

काम की पुत्री के पास कहाँ से आये ये मानवोचित गुण, यदि काम केवल उच्छृङ्खल वासना का ही दूसरा नाम हो किन्तु वस्तुतः प्रसाद ने मङ्गल से मंडित श्रेय के रूप में ही काम का वर्णन किया है। कामायनी के मनु ने काम के परिमार्जित रूप का प्रयोग नहीं किया, इसीलिए काम को कहना पड़ा—

"पर तुमने तो पाया सदैव
उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र।
सौन्दर्य—जलधि से भर लाये,
केवल तुम अपना गरल पात्र॥
× × ×
तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का
प्रणय-प्रकाश न ग्रहण किया।
हाँ, जलन-वासना को जीवन-
भ्रम तम में पहला स्थान दिया॥

कामायनी काम और रति की पुत्री क्यों है? अब हम इस प्रश्न पर बड़ी आसानी से विचार कर सकते हैं। काम भावना का उदात्त रूप दया, माया, ममता, भक्ति आदि गुणों की सृष्टि कर सकता है और श्रद्धा इन्हीं गुणों की मूर्तिमन्त रूप है। केवल भोगेच्छा के सीमित अर्थ से आगे बढ़ कर यदि हम काम और रति के व्यापक अर्थ पर ध्यान दें तो काम और रति की सन्तान के रूप मे कामायनी की कल्पना बड़ी उपयुक्त जान पड़ती है। प्रसाद ने काम को आकांक्षा तथा रति को तृप्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया है—

"हम भूख-प्यास से जाग उठे,
आकांक्षा तृप्ति समन्वय में।
× × ×

---

* धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।
गीता अध्याय ७-११

जो भी कर्म किया जाता है, वह सब काम की चेष्टा है।
—मनुस्मृति

मैं तृष्णा था विकसित करता,
वह तृप्ति दिखाती थी उनको।"

मान लीजिये, हमारे मन में सत्य की कामना का उदय होता है, गांधी जैसे महापुरुष में जब हम सत्य की पूर्ति देखते हैं तब हमारी आकांक्षा को तृप्ति का रूप मिलने के कारण गाँधीजी के प्रति हमारे हृदय में श्रद्धा का जन्म होता है। इस प्रकार काम और रति से अथवा आकांक्षा और तृप्ति से श्रद्धा की उत्पत्ति होती है।

व्यापक अर्थ में काम आकांक्षा का ही पर्याय है। आकांक्षा में भोगेच्छा भी शामिल है किन्तु 'काम' उसी तक सीमित नहीं। काम यदि व्यापक है तो भोगेच्छा व्याप्य है। देव-शरीर में मनु ने खूब उपभोग किया था। श्रद्धा से साक्षात्कार होने पर पुराने संस्कारों के कारण उनमें 'एकोऽहं बहुस्याम्' की इच्छा का उदय हो रहा है। काम के उद्रेक के समय मनु को ऐसा जान पड़ता है जैसे जीवन रूपी वन में वसन्त का आगमन हो गया हो। वसन्त के आने पर कोकिल मतवाली होकर कूकने लगती है, काम के आगमन पर मन उमंगों से भर जाता है, मन की वीणा राग अलापने लगती है हृदय की कोकिल कूक उठती है। कहीं-कहीं तो प्रसाद ने बायरन की तरह सौन्दर्य के प्रभाव का बड़ा तीव्र तथा व्यक्तिगत अनुभूतिमय वर्णन किया है। उदाहरणार्थ—

'जब लीला से तुम सीख रहे,
कोरक-कोने में लुक रहना।
तब शिथिल सुरभि से धरणी में,
बिछलन न हुई थी ? सच कहना।"

कितने ऐसे हैं जो कामिनियों के कटाक्ष-पात से विचलित नहीं हो जाते, फिसल नहीं जाते ? अपनी अनुभूति के बल पर इस प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर जैसे प्रसाद सुनना ही नहीं चाहते क्योंकि यथार्थ जीवन की सचाई तो इस प्रश्न के स्वीकारात्मक उत्तर में ही निहित है।

"है स्पर्श मलय के झिलमिल सा
संज्ञा को और सुलाता है;
पुलकित हो आँखें बन्द किये
तंद्रा को पास बुलाता है।
व्रीड़ा है यह चंचल कितनी
विभ्रम से घूँघट खींच रही;
छिपने पर स्वयं मृदुल कर से
क्यों मेरी आँखें मीच रही !"

मनु कहते हैं मुझे ऐसा लगता है जैसे शीतल मंद पवन के स्पर्श की तरह किसी ने मेरा स्पर्श कर लिया हो जिससे मेरी आत्म-चेतना जैसे जाग रही है; रोमांच हो रहा है, आँखें बन्द हो रही हैं और झपकी-सी आ रही है। मुझे ऐसा लगता है जैसे किसी लज्जाशीला नायिका ने विभ्रम से घूँघट निकाल लिया हो, जो स्वयं छिपने की चेष्टा करती है किन्तु फिर भी पीछे से आकर मुझसे आँख-मिचौनी का खेल-खेल रही है। प्रेम के इस प्रकार के शारीरिक अनुभावों पर लोगों ने आपत्ति भी की है। आदर्शवादियों के प्रभाव से यह परंपरा पड़ चुकी थी कि प्रेम का खुला रूप काव्य में प्रदर्शित न किया जाय। प्रसाद के सौन्दर्य-चित्रण और प्रेम-काव्य में हम अतृप्ति-मूलक वासना पाते हैं। एक साथ ही इतना वासनामय और इतना दार्शनिक कवि हिन्दी-साहित्य में दूसरा नहीं हुआ।

बाह्य सौन्दर्य ही सब कुछ है या "सुन्दरता के इस परदे में क्या अन्य धरा कोई धन है ?" यह प्रश्न रह-रह कर मनु के हृदय में उत्पन्न होता है। अनंत के प्रति अपनी आकुल आकांक्षा की भावना से प्रसाद ने कामायनी के मनु को भी आवेष्टित दिखलाया है। अनन्त के दिव्य उद्घाटन की कल्पना से मनु आह्लादित हो उठते हैं। उपनिषदों में कहा गया है कि स्वर्ण पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। प्रसाद के अनन्त ने भी चाँदनी सदृश सुसज्जित आवरण अपने मुख पर डाल रखा है। क्या ही अच्छा हो यदि यह आवरण हट जाय जिससे उस दिव्य रूप का दर्शन हो सके ! ऐसा दर्शन जिसमें परमात्मा शेष-नाग की तरह कल्लोल करता हुआ और आनन्द की लहरियों में विचरण करता हुआ दिखलाई पड़े (अथवा आसमान की तरह जिसमें शब्द भरा हुआ है और जो शब्दों की लहरों में विचरण करता है। पाइथागोरस के 'नक्षत्र-संगीत' की ओर भी अव्यक्त संकेत हो सकता है जिसके अनुसार आसमान में विचरण करने वाले नक्षत्र

गीत गाते हुए चलते हैं), शेषनाग के झागयुक्त फन की तरह (अथवा आसमान की आकाश गंगा की तरह) अपना वरद हस्त उठाये हुए हो और शेषनाग की अनन्त मणियों की तरह अथवा आकाश के असंख्य नक्षत्रों की तरह वरदान रूपी मणियों का जाल लुटा रहा हो, जो अपनी निद्रा से जाग उठा हो और उन्मत्त होकर कुछ गा रहा हो। कवि के ही शब्दों में—

"चाँदनी सदृश खुल जाय कहीं,
अवगुण्ठन आज सँवरता सा;
जिसमें अनन्त कल्लोल भरा,
लहरों में मस्त विचरता सा—
अपना फेनिल फन पटक रहा,
मणियों का जाल लुटाता सा;
उन्निद्र दिखाई देता हो,
उन्मत्त हुआ कुछ गाता सा।"

ऊपर की पंक्तियों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है जैसे परमात्मा कोई सुन्दर स्त्री हो जिसने अपने मुख पर घूँघट डाल रखा है। कबीर ने आत्मा रूपी स्त्री के घूंघट का उल्लेख किया है,* प्रसाद अनन्त के अवगुण्ठन का वर्णन कर रहे हैं।

मनु विकट परिस्थिति में पड़ जाते हैं। सोचते हैं कि जो कुछ मैं देख रहा हूँ वह सब क्या माया उलझन है? लेकिन बाद में मनु का चेतन मन इस निश्चय पर पहुँच जाता है कि संयम का मार्ग छोड़ कर मैं सौन्दर्य का उपभोग करूँगा। हमारे अवचेतन मन में बहुत सी अतीत कालीन स्मृतियाँ इकट्ठी होती रहती हैं। मनु अपनी जाग्रत अवस्था में तो एक निश्चय पर पहुँच जाते हैं किन्तु रजनी के पिछले पहरों में उनको एक आदेशात्मक स्वप्न आता है जिसमें काम उच्छृङ्खलता के दुष्परिणाम और संयम की मङ्गलमयी सम्भावनाओं की ओर मनु का ध्यान आकर्षित करता है। कभी-कभी हम देखते हैं कि जाग्रत अवस्था में जब किसी काम के लिए प्रेरणा नहीं मिलती तब हमें आदेशात्मक स्वप्न आया करते हैं। निम्नलिखित आदेशात्मक स्वप्न के साथ ही इस सर्ग की समाप्ति हुई है जिसमें नाटकीयता का अच्छा समावेश हो गया है—

"उसके पाने की इच्छा हो तो
योग्य बनो" कहती कहती
वह ध्वनि चुपचाप हुई सहसा
जैसे मुरली चुप हो रहती।
मनु आँख खोल कर पूछ रहे:-
"पथ कौन वहाँ पहुँचाता है?
उस ज्योतिमयी को देव!
कहो कैसे कोई नर पाता है?"
पर कौन वहाँ उत्तर देता
वह स्वप्न अनोखा भंग हुआ।

'काम' सर्ग मनोविज्ञान, काव्य और दर्शन का सुन्दर समन्वय है—

परमाणु बाल सब दौड़ पड़े,
अपने आलस का त्याग किये।
अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के,
अन्तर में उसकी चाह रही॥

आदि पद्यों में सांख्य दर्शन से सम्बन्ध रखने वाली विचार-धारा स्पष्ट है। सतोगुण, तमोगुण और रजोगुण की साम्यावस्था मूल प्रकृति है। साम्यावस्था में प्रकृति का उन्मीलन या आविर्भाव नहीं होता। वह प्रकृति के आलस्य की दशा है। वैषम्य में सृष्टि उत्पन्न होती है। कर्तृत्व उत्साह है और अकर्तृत्व आलस्य। 'परमाणु बाल सब दौड़ पड़े' में कणाद के परमाणुवाद की स्पष्ट झलक है।

किसी ने कहा है कि पन्त के सौन्दर्य-चित्रों में प्रकृति ही मनुष्य बन गई है, प्रसाद के सौन्दर्य-चित्रों में मनुष्य ही प्रकृति बन गया है। प्रसाद का प्रकृति-वर्णन मानव-सापेक्ष है। 'काम सर्ग' में वसन्त का सा वर्णन तो हो गया है किन्तु यह शुद्ध वसन्त का वर्णन नहीं है, उस वसन्त का वर्णन है जिसका सम्बन्ध मनु के जीवन से है।

कामायनी ध्वनि-प्रधान काव्य है। 'काम सर्ग' में ध्वनि के अनेक उदाहरण अनायास मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ—

* घूंघट के पट खोल रे तोहि पीय मिलेंगे—कबीर

अपना कलकण्ठ मिलाते थे
झरनों के कोमल कलकल में।

ध्वनि यह है कि झरनों से जो कलकल शब्द हो रहा था वह काम की ही ध्वनि थी अर्थात् कल-कल करते हुए झरनों से काम-भावना आगत होती थी। 'है भीड़ लग रही दर्शन की' में श्लिष्ट दर्शन पद के आधार पर ध्वनित होता है कि दर्शनों का वाग्जाल उस दिव्य ज्योति के साक्षात्कार में बाधक होता है। 'नक्षत्रो! क्या तुम देखोगे इस ऊषा की लाली क्या है?' इस पंक्ति में अप्रस्तुत प्रतीक विधान भी बहुत उपयुक्त हुआ है। हे दमसंयम का जीवन व्यतीत करने वालो, विलासिता के आनन्द का तुम्हें क्या पता? इस प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना के लिए ही उक्त पंक्ति का प्रयोग हुआ है। सौन्दर्य और अनुराग के प्रतीक के रूप में ऊषा की लाली का चित्रण और अन्धकार में टिमटिमाते हुए नक्षत्रों से संयमी लोगों की तुलना मनु की मनोदशा देखते हुए बहुत ही उचित है। काली रात में टिमटिमाते हुए नक्षत्र 'ऊषा की लाली' को क्या समझेंगे बेचारे!

कहीं-कहीं बहुत ही फड़कती हुई पंक्तियों का प्रयोग इस सर्ग में हुआ है—'क्या तुम्हें देख कर आते यों मतवाली कोयल बोली थी?' अपने मोहक आकर्षण में यह पंक्ति कितनी बेजोड़ है! प्रसाद एक साथ ही दार्शनिक और कवि दोनों हैं और ऐसा दार्शनिक कवि ही चिरकाल तक जीवित रहता है अपने विचारों की सार्वदेशीयता आदि के कारण।

साहित्य पर विज्ञान का प्रभाव

[श्री रामचन्द्र तिवारी]

(साहित्य जीवन और समाज का प्रतिविम्ब है। जिस अंश में विज्ञान जीवन को प्रभावित करता है उसी अंश में वह साहित्य पर भी अपनी छाप डाल देता है। इसी मूल धारणा को लेकर लेखक महोदय ने साहित्य पर विज्ञान का प्रभाव दिखलाया है। विज्ञान के सबसे पहले प्रभावों में साहित्य में बुद्धिवाद और विश्लेषण की प्रवृत्ति है। आजकल के कथा-साहित्य में फ्रायड के मनोविश्लेषण का आधिक्य विज्ञान ही की देन है। यूरोप के वैज्ञानिक आविष्कारों ने वहाँ की सम्पन्नता बढ़ाई है और पूंजीवाद को जन्म दिया है। उसी के शमन के लिए मार्क्स का आविर्भाव हुआ। मार्क्स के भौतिकवाद का जो प्रभाव साहित्य पर पड़ा वह थोड़े हेर-फेर के साथ विज्ञान की ही देन है। इस युद्ध के नये आविष्कार वी २, रैडर और परमाणु-विस्फोटन मानव कार्य-क्षेत्र की सीमाओं को विस्तृत कर देगा। मनुष्य चन्द्रलोक की भी यात्रा कर सकेगा। इस सबका प्रभाव मानव जाति के लिए शुभ होगा। मानव एक राष्ट्रीयता की ओर जा रहा है और लेखक महोदय अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों में धर्म-नीति बरते जाने का स्वप्न देखते हैं। हम भी यही चाहते हैं कि यह स्वप्न चरितार्थ हो किन्तु जब तक हमारे साहित्यिक क्या विश्व के साहित्यिक इसमें योग न देंगे और विश्वप्रेम और मानवता का प्रचार न करेंगे तब तक विज्ञान की यह असीम शक्ति मानव में प्रेम का साम्राज्य न स्थापित कर सकेगी। —सम्पादक)

साहित्य का मूल मनुष्य की आत्माभिव्यंजन या आत्माभिव्यक्ति की भावना में है। मानव की सौन्दर्योपना वृत्ति के साथ मिल कर वह विश्व साहित्य की सृष्टि करती है। आत्माभिव्यक्ति जब सौंदर्य के माध्यम द्वारा होती है तो हमें उत्तम कोटि का साहित्य प्राप्त होता है। यद्यपि एक अवस्था आ जाती है जहाँ हम अभिव्यक्ति और सौंदर्य का

विश्लेषण करने में प्रायः उतने ही असमर्थ होते हैं जितने कि देह और प्राण का विश्लेषण करने में। देह के गुणों, उसकी सम्पूर्ण सम्भावनाओं का अध्ययन उसी समय हो सकता है जब कि वह प्राणमय हो। इससे विहीन जो देह है, उसे हम देह न कह कर शव कहते हैं। इसी प्रकार देह से बाहर प्राण पर हमारे ज्ञान का कोई अधिकार नहीं है।

मानव जब साहित्य-सृजन करता है तब वह अपने में से कुछ देना चाहता है, अपने को प्रदान करता है, यही प्रदान की क्रिया आत्माभिव्यक्ति की क्रिया है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यह आत्माभिव्यक्ति क्या केवल प्रदान मात्र है। प्रकृति के व्यापारों में देखा जाता है कि धन और ऋण, भाव और अभाव सर्वदा साथ-साथ रहते हैं। माँ शिशु का निर्माण करती है क्योंकि यह प्राकृतिक व्यवस्था है, पर क्या जाति को एक सदस्य प्रदान कर वह स्वयं कुछ नहीं पाती? हम जानते हैं कि जब वह इस प्रदान के लिये अपने को असमर्थ पाती है तो उसके प्राण कितने व्याकुल हो उठते हैं।

जिस प्रकार मा को प्रदान के साथ वह मिलता है जिससे उसका जीवन सार्थक होता है, उसी प्रकार साहित्य-कार के प्रदान के साथ भी आदान लगा हुआ है। वह आदान चाहता है और उसे पाता है प्रदान में। इसीलिये प्रदान करता है। आदान की पिपासा ही हमारी आत्माभि-व्यक्ति का कारण है। जो हमें प्राप्त होता है उसका स्वरूप क्या है? स्पष्ट स्वरूप है भी या नहीं? यह स्वयं में एक विषय है। परन्तु हम में यदि एक क्षुधा नहीं होती तो निश्चय ही हम अपना वितरण नहीं करते। वह अपने को प्रदान करता है इसका कारण उसमें का अभाव है। मानव में जो अभाव है वही साहित्यिक-भाव के रूप में मूर्तिमान होता है। साहित्य मानव-अभाव को प्राप्त सौंदर्यमयी वाणी है। अभाव ऋणात्मक-परिमाण होने पर भी सौंदर्य के सम्पर्क से धनात्मक दृष्टिगोचर होता है।

साहित्यकार क्योंकि आत्मतुष्टि चाहता है, रागों का केन्द्र भी वह है, इसलिये साहित्य—उसका अभाव-स्वप्न—प्रकट होने के लिये विभिन्न रागों का मानव मानव के बीच सम्बन्ध का आश्रय लेता है। संसार के साहित्य का विशाल भाग कथा साहित्य है उसका कारण यही है। मानव इन रागों से परे कुछ जानता नहीं। जहाँ उसकी गति नहीं है वहाँ वह खोजेगा कैसे? इसी सीमा के कारण ईश्वर के विषय में उसकी उड़ान और कल्पनायें उसके सांसारिक अनुभवों की अभिव्यक्तियाँ मात्र हो पाई हैं।

मनुष्य शरीर का अध्ययन एक संतोषजनक गहराई तक अभी सम्भव नहीं, पर उसके रागों का अध्ययन अपेक्षा कृत सरल है। मस्तिष्क कैसे काम करता है यह हम नहीं जानते, पर किस अवस्था में उसके द्वारा क्या कुछ किये जाने की सम्भावना है यह हम प्रायः पूर्णतया जानते हैं, और यहीं मनुष्य का सर्व प्रथम विज्ञान मनोविज्ञान प्रारम्भ होता है। मनुष्य के रागों का प्रत्येक चित्रण मनो-वैज्ञानिक तथ्यों के उदाहरणों का चित्रण कहा जा सकता है। और इस प्रकार अनजाने हमारा समस्त काव्य मनो-वैज्ञानिक घटनाओं के सौन्दर्यशाली उदाहरणों के अतिरिक्त और विशेष कुछ नहीं रह जाता।

मानव समाज में नर और नारी के मध्य जो राग है उसकी व्यापकता और गंभीरता अन्य रागों की अपेक्षा बहुत अधिक है। अन्य राग शरीर धारण के संघर्ष में जन्म पाते है परन्तु यह राग है जो जीवन का एकमात्र प्राकृतिक उद्देश्य लगता है कि जैसे अन्य राग इसी के अंग प्रत्यंग हों।

परिभाषा है कि साहित्य मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब है। जीवन का, उस सम्पूर्ण जीवन का जो हम स्थूल रूप मे नहीं भी रह पाते; और जो हम नहीं रह पाते, उसके प्रति हम अधिक मोहमय होते हैं।

मनुष्य संसार में अनेक वस्तुयें और क्रियायें देखता है। अपने अनुभव के आधार पर विभिन्न घटनाओं में कारण और कार्य का सम्बन्ध स्थापित करता है। इस कारण-क्रिया के सामान्यीकरण से वह दशा विशेष में कारण को जान यह भविष्यवाणी कर सकता है कि इसकी क्रिया अमुक होगी। धुँये को देख अग्नि का अनुमान कर सकता है। विज्ञान का प्रारम्भ यहीं से होता है।

विज्ञान ने मनुष्य के जीवन और उसकी रचनाओं को दो प्रकार से प्रभावित किया है। उसने मनुष्य के विचार

और उसके प्रकाशन में तर्क-संगत शैली पर हठ किया और उसे प्राप्त किया। तर्क की कसौटी पर खरा उतरे इसलिये जीवन के गम्भीर अध्ययन की ओर रुचि बढ़ाई। रोम्यो रोलाँ का जेन क्रिस्टाफर और गोर्की का क्लिम सामग्नि इसके उदाहरण हैं। वे जीवन के कलात्मक अध्ययन हैं। कहा जा सकता है कि इस प्रभाव ने कला और सौन्दर्य को वैज्ञानिक तल पर प्रतिष्ठित किया। मनोवैज्ञानिक कही जाने वाली कथायें इसी प्रभाव में अपना बीज रखती है।

इस क्षेत्र में कला और विज्ञान का विचित्र समन्वय हुआ है। प्रजनन-भावना मानव-जीवन की व्यापकतम भावना है, वह हमारी गूढ़ गम्भीर मनोवृत्तियों और रागों की जननी है। इस नाते फ्रायड के अन्वेषण केवल वैज्ञानिकों की ज्ञान-सीमा के विस्तारक ही नहीं, वरन् साहित्यिक कलाकारों के पथालोक भी हैं। निःसन्देह वर्तमान साहित्य के एक विशाल प्रगतिशील अङ्ग पर आज हम फ्रायड का एक छत्र अधिकार पाते हैं और जो कलाकार जीवन के प्रति ईमानदारी को अपने चरित्र में उच्च स्थान देता है वह फ्रायड द्वारा अन्वेषित मनोवैज्ञानिक तथ्यों की नितान्त अवहेलना नहीं कर सकता। विज्ञान का साहित्य पर यह प्रभाव प्रत्यक्ष और सीधा है।

साहित्य पर विज्ञान का दूसरा प्रभाव अपेक्षाकृत परोक्ष और अधिक जटिल मार्ग द्वारा पड़ता है। विज्ञान ने पदार्थ एवं शक्ति के परीक्षणात्मक अध्ययन पर अपना समस्त बल लगाया। कल्पनायें उसने कीं, सिद्धान्त निश्चित किये, पर पूर्ण रूप से वैज्ञानिक परीक्षणों के परिणामों द्वारा शासित। यदि निश्चित सिद्धान्त के विरोध में नवीन परिणाम पाये गये तो सिद्धान्त में परिवर्तन परिवर्द्धन किया गया अथवा उनके स्थान पर एकदम नवीन सिद्धान्तों की सृष्टि की गई। वैज्ञानिक सिद्धान्त वास्तव में मानव अनुभवों के सामान्यीकरण से विशेष अधिक नहीं।

विज्ञान ने ज्यों-ज्यों पदार्थ एवं शक्ति का अध्ययन किया त्यों-त्यों इनके रहस्य उस पर विदित होते गये। प्रकृति के रहस्यों के उपयोग से ही मनुष्य ने अपनी जीवन यात्रा को आगे बढ़ाया है। लचक के उपयोग से उसने धनुष का सृजन किया लोच के उपयोग से उसने बर्त्तन और दीवारें बनाईं घर्षण के उपयोग से उसने अग्नि को वश में किया। यदि ज्ञान को उपयोगी बनाने की योग्यता उसमें न होती तो वह इस ग्रह पर इतना विकसित कभी न हो पाता।

जगत के परीक्षणात्मक अध्ययन ने मानव के ज्ञान में वृद्धि की। उसने पदार्थों और शक्तियों की सम्भावना को पहिचाना और उसने जीवन सुविधा के नवीन उपादानों और साधनों की सृष्टि कर डाली, बारूद, रेल, तार, फैक्टरी, तोपें बनी। इनके प्रभाव से मानव का पार्थिव संसार जहाँ अनुचित हुआ वहाँ उसका मानसिक क्षेत्र विस्तृत हो चला। उसकी कल्पना के लिये नवीन आकाश खुल गये। उसके अभाव की व्याप्ति बढ़ गई।

क्योंकि यह सब जाग्रति और दौड़ योरोप में हुई इसलिये संसार का पार्थिव और मानसिक नेतृत्व गोरी जातियों के हाथ में चला गया। एशिया विज्ञान और साहित्य का जन्मदाता होकर भी इस नवीन दौड़ के समय सोता पड़ा रहा और ज्ञान के आयोग से सशक्त योरोप द्वारा पद-दलित कर दिया गया। योरोप संसार का सामरिक नेता ही नहीं, साहित्यिक नेता भी बन गया। अन्य महाद्वीप उसके अनुसरण को बाध्य हुये। इसलिये आज यदि हम १९४६ के मानवजीवन के प्रतिनिधि के दर्शन करना चाहें तो हमें उसे पेरिस, लन्दन, बर्लिन, न्यूयार्क और मास्को में देखना होगा दिल्ली और कलकत्ते का जीवन अभी १९०० से विशेष आगे नहीं बढ़ पाया है।

विज्ञान के प्रभाव से योरोप के उत्पादन साधनों में वृद्धि हुई, जिसके फलस्वरूप समाज के सामन्ती संगठन में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। सामन्तों का स्थान कम्पनी डाइरेक्टरों ने ले लिया साधारण कारीगर अपना पैतृक घरेलू व्यवसाय त्याग जीवन यापन के लिये अपना श्रम बेचने को विवश हुये।

जन साधारण अब तक धार्मिक संघर्षों के अतिरिक्त प्रायः शान्तिपूर्वक रहता, प्रेम करता, सन्तान उत्पन्न करता और जब थकने लगता तो पीड़ा सहता हुआ मृत्यु की

गोद में सो जाता। जीवन का आर्थिक प्रश्न एक परिपाटी पर चला जाता था। प्रस्तुत व्यवस्था को सबने मौन सहमति से स्वीकार कर लिया था। धन की बुराई और दरिद्रता को स्वर्ग का आश्वासन दिलाने के अतिरिक्त साहित्यकारों ने विशेष रुचि इस दिशा में नहीं दिखाई थी।

परन्तु योरोप में अब यह आर्थिक प्रश्न जैसे शताब्दियों की निद्रा से जग कर ज्वलन्त रूप से उठ खड़ा हुआ था। श्रम और पूँजी में कशमकश प्रारम्भ हुई और उसने वर्तमान युग के दूसरे अन्वेषक नेता मार्क्स को विकास दिया। मार्क्स ने पूँजी और श्रम के सङ्घर्ष सम्बन्ध का अध्ययन किया। मानवों में समानता और उनकी स्वतन्त्रता की भावना को इस प्रश्न से संश्लेषित किया और वर्ग संघर्ष की शब्दावली में मानव के आर्थिक इतिहास का अध्ययन किया। मानव समाज के एक अत्यन्त विशाल भाग को एक नवीन स्वप्न प्रदान किया। एक नवीन अभाव की सृष्टि समाज में हो गई।

यहाँ हमें पुनः स्मरण कर लेना चाहिये कि साहित्य मानव-जीवन का प्रतिविम्ब है, नित्य प्रति की घटनाओं मात्र का नहीं, उसकी इच्छाओं, आकांक्षाओं और स्वप्नों का भी। जीवन का आर्थिक अङ्ग जो अब तक गौण था अब प्रमुख होने लगा और धीरे-धीरे कलाकारों के ध्यान को आकर्षित करने लगा। फलस्वरूप लैङ्गिक समस्या के पार्श्व में आर्थिक समस्या भी साहित्य में अपना शीश ऊपर उठाने लगी। मध्यकालीन सामन्ती युद्धों का स्थान वर्गों के आर्थिक संघर्ष ने ले लिया। कृतियाँ हैं जिनमें नायिका के स्थान पर सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं। पात्र माध्यम मात्र हैं। इस प्रभाव के नीचे साहित्य की दृष्टि व्यक्ति की सीमा पार कर समाज की परिधि में जा पहुँची।

यह सब कुछ हुआ योरोप में, जहाँ सब राष्ट्र राजनीति तल पर स्वतन्त्र थे। इन्हीं की अवस्था के अध्ययन के आधार पर मार्क्स ने अपने सिद्धान्त विकसित किये। उपनिवेशों और अन्य राष्ट्र द्वारा शोषित परतन्त्र किसी देश के अध्ययन का अवसर उसे नहीं प्राप्त हुआ। इसलिये उन देशों में मार्क्स के सिद्धान्त मौलिक रूप से लागू हो सकेंगे यह विषय घोर सन्देह का है। ऐसे देशों को मार्क्स से पहिले जार्ज वाशिंगटन की आवश्यकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञान ने मानव-जीवन में परिवर्तन कर साहित्य के आदर्शों में उसकी सामग्री में महान् परिवर्तन उपस्थित कर दिया है, आर्थिक सामर्थ्य से जहाँ विज्ञान ने साहित्य को धरती का स्पर्श कराया है वहाँ ग्रहों को माप कर और परमाणुओं का खण्डन कर कल्पना की क्रीड़ा के लिये इतना बड़ा क्षेत्र खोल दिया है कि हम उसकी ओर देख चकित ही रह जा सकते हैं आज हम प्रत्येक वस्तु को चार मापों में देखने के अभ्यस्त हो रहे हैं।

विज्ञान मानव का सञ्चित पार्थिव ज्ञान है। ज्ञान का उपयोग तीव्रता से सङ्घर्ष के समय ही होता है। क्योंकि आत्म-रक्षा की भावना जीव की सबसे प्रबल भावना है। यही कारण है कि वैज्ञानिक आविष्कारों की उन्नति युद्ध काल में तीव्रता से होती है। किस युद्ध में कौन आयुध किस प्रकार आविष्कृत हुआ यह स्वयं में एक रोचक कथा है। अभी जो महायुद्ध समाप्त हुआ है उसमें तीन ऐसे आविष्कार सम्मुख आये हैं, जिनका प्रभाव मानव जीवन पर अत्यन्त गहरा पड़ेगा। जो संसार के पुरातन मूल्यों को विनष्ट कर नवीन मूल्यों को बरवश उनके स्थान पर स्थापित कर देंगे। जिन्होंने मानव कला और मानव मस्तिष्क के लिये एक अतिशय नूतन क्षेत्र खोल दिया है, वह तीन आविष्कार हैं, उच्चाकाश में उड़ान, रैडर यन्त्र एवं परमाणु खण्डन।

प्रथम आविष्कार से अब पार्थिव वस्तुयें आकाश में लगभग ६० मील ऊपर जा सकती हैं। रैडर यन्त्र द्वारा हम विभिन्न ग्रहों से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं, और परमाणु खण्डन की क्रिया ने शक्ति का एक अपार भण्डार मानव के सम्मुख रख दिया है। मानव के वर्तमान राजनैतिक संघर्ष चाहे जो हों, वह विज्ञान के इन आविष्कारों के प्रभाव से बच नहीं सकता। इन आविष्कारों ने मानव जाति के दार्शनिक विचारक नेताओं का उत्साह अनन्त गुणा बढ़ा दिया है। मनुष्य शान्तिमय और न्यायसंगत जीवन के मार्ग पर तीव्रता से बढ़ रहा है। इससे विचलित हो कर अब वह स्वयं अपनी पूर्ण हत्या ही करेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विचार सम्मुख आरहे हैं कि यदि तीसरा महासमर हुआ तो वह किसी देश को जीतने के लिए नहीं होगा वरन् होगा इसलिये कि समस्त संसार में एक शासन स्थापित हो। राष्ट्रों की सीमाओं और तीव्र अहंकारों में मृदुता आये। जिस प्रकार एक राष्ट्र में व्यक्ति व्यक्ति के बीच न्याय का सम्बन्ध है उस प्रकार राष्ट्र राष्ट्र के बीच प्रतिष्ठित हो। समस्त संसार के व्यक्तियों को सुविधा पूर्वक जीवन धारण करने का पूर्ण अधिकार दिये जायें, उसके साथ साथ कोई विशेष उत्तरदायित्व वे उठायें ऐसा हठ न किया जाये।

विज्ञान के इस आघात से संसार जैसे हिल गया है। मानव शक्ति में जागरण आगया है, और जिस दिशा की ओर वह उन्मुख है वह रंग, रूप, लिङ्ग भेद को बिसार मानव मात्र की समानता का लक्ष्य, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति भोजन, वस्त्र, औषध और शिक्षा की चिन्ता से मुक्त होगा। खेलने, प्रेम करने, कला और सौन्दर्य की उपासना करने के लिये उसके पास पर्याप्त समय होगा। जहाँ आर्थिक प्रतियोगिता का स्थान सांस्कृतिक प्रतियोगिता ले लेगी। व्यक्ति को अवसर मिलेगा कि वह अपना चरम विकास कर सके।

रैडर, उच्च उड़ाकों और परमाणु शक्ति की सहायता से, कौन कह सकता है, आगामी शताब्दी में मनुष्य मन बहलाने के लिए चन्द्रमा उसी भाँति नहीं जाया करेंगे जिस भाँति वे आज काशमीर और स्विटजरलैंड जाते हैं।

ये नवीन स्वप्न हैं जो सम्भावना की परिधि के भीतर हैं और जिनका प्रवेश विज्ञान ने मानव जीवन में करा दिया है। यदि वे जीवन को प्रभावित करेंगे तो हमारा साहित्य उनसे प्रभावित हुए बिना न रहेगा।

दुर्भाग्य होगा कि परतंत्र और दलित राष्ट्र के निवासी होने के कारण हमारे कलाकार इस स्वप्न का श्रृंगार न कर सकें। यह स्वप्न हमें प्रभावित किये बिना न रह सकेगा। यही स्वप्न वर्त्तमान प्रतिनिधि मानव जीवन का अभाव है। नवीन साहित्य इसी को मूर्तिमान करेगा। विज्ञान ने जो एक रेखाकृति दूर आकाश में अंकित कर दी है उसे ही साहित्य अपनी मृदु तूलिका से सुसज्जित कर वास्तविकता प्रदान करेगा विज्ञान ने पृथ्वी पर स्वर्ग के स्वप्न को मनुष्य के निकट ला दिया है।

मनुष्य सौन्दर्योपासक है साहित्य सौन्दर्य की मूर्ति है। विज्ञान ने इस मूर्ति को इस्पात की सी अस्थियां दी हैं, इसी पर मांसल सुकुमारता की सृष्टि साहित्य करेगा। हमारे प्रेमादि मनोराग वही रहेंगे जो शाश्वत हैं, पर उनके माध्यम में विज्ञान महान परिवर्तन कर देगा।

हो सकता है कि यह समय मात्र पदार्थवाद का समय लाये, पर पदार्थ से परे सौन्दर्य की कल्पना असम्भव है। यदि अरूप की कल्पना सम्भव है तो वह उसी समय साकार हो सकेगी जब कि मानव का कलाकार पार्थिव तत्त्व पर पूर्ण सन्तुष्ट होकर एक ऊँचे असन्तोष में व्याकुल हो उठेगा। न्यूयार्क की सड़कों से असन्तुष्ट होकर हिमाचल की गुफाओं की ओर उन्मुख होगा, पर तब तक कदाचित विज्ञान भी उस दिशा में कुछ दूर तक उसके साथ जाने के लिये प्रस्तुत हो जावेगा।*

* दिल्ली प्रांतीय साहित्य सम्मेलन की साहित्य परिषद में पठित।

[वैज्ञानिक लोग स्वयं तो मानव हितैषी होते हैं किन्तु जब वे राजनीतिज्ञों की महत्वाकांक्षाओं के साधनमात्र बन जाते हैं तभी विज्ञान का दुरुपयोग होने लगता है। जातियों में सद्भावना उत्पन्न करने के लिए राजनीति में भी धर्मनीति के प्रचार की आवश्यकता है। तभी विज्ञान के घातक प्रयोग भी मानव हित के साधन बन सकेंगे।

—सम्पादक

यशोधरा में रस-निरूपण

[प्रो० शिव बालक राय, एम० ए०]

[प्रस्तुत लेख में विद्वान् लेखक ने यशोधरा के विरह का शास्त्रीय विवेचन कर यह प्रमाणित किया है कि इसमें न शान्त रस है न करुण और न करुण विप्रलंभ है वरन् प्रवासजन्य वियोग है जिसमें स्वाभिमान का मान भी है। लेखक को इस बात का असन्तोष है कि गुप्तजी ने साकेत की भाँति यशोधरा में संयोग शृङ्गार को स्थान नहीं दिया है। किन्तु गुप्तजी का मूल उद्देश्य उतना विरह वर्णन नहीं है, जितना कि नारी का आत्म-गौरव प्रदर्शन। यशोधरा का दूसरा रस वात्सल्य है जो वियोग को असह्य होने से बचाये रखता है। नीचे की अमर पंक्तियों में गुप्तजी ने इन्हीं दोनों रसों की ओर संकेत किया है—

अबला जीवन, हाय! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥ —सम्पादक]

'यशोधरा' में मुख्यतया दो रसों का सन्निवेश हुआ है—शृङ्गार और वात्सल्य। 'नव रसों' में वात्सल्य का स्थान नहीं। तो वात्सल्य को भी हमें इन्हीं नवों में से किसी के अन्तर्गत रखना पड़ेगा। शिशु दाम्पत्य-प्रेम का हो उत्फुल्ल कमल है। इस प्रकार वात्सल्य शृंगार रस के सर्वाधिक निकट है। यशोधरा शृंगार-रस-प्रधान काव्य है। यह कथन कानों में कुछ खटकता-सा है। हमारी प्रवृत्ति सदा सुख और आनन्द की ओर ढलकती रहती है। शृंगार रस के दो पक्ष, संयोग और विप्रलम्भ में से हमारे हृदय में प्रथम ही अपना आसन जमाए हुए हैं। साधारणतः शृंगार का अर्थ भी दाम्पत्य प्रेम, आनन्द और सम्भोग लिया जाता है। गोस्वामीजी ने शृंगार का एक स्थान पर इसी अर्थ में प्रयोग किया है—

जगत मातु पितु संभु भवानी।
तेहिं सिंगार न कहहुँ बखानी॥

शृंगार रस के पूर्ण परिपाक के लिए इसके दोनों पक्षों का सम्यक् चित्रण आवश्यक है। मान-मनौवल के विविध अभिनय के बाद प्रेमी-प्रेमिका का मिलन-सुख विशेष आनन्द-वर्द्धक होता है। कठिन प्रयास के बाद जिस पदार्थ की प्राप्ति होती है उसमें एक नवीन रस का आस्वादन मिलता है। कितनी कठिन तपस्या के बाद पार्वती को भगवान शङ्कर के प्रेम की शीतल छाया मिली। आतप पीड़ित प्राणी ही तो तरु-छाया का सुख अनुभव कर सकता है। यशोधरा में शृंगार का एक ही पक्ष चित्रित हुआ है, यानी विप्रलम्भ-शृंगार। मंगलाचरण के पश्चात् पुस्तक का प्रारम्भ सिद्धार्थ के मानसिक द्वन्द्व 'घूम रहा है कैसा चक्र' से होता है। सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण के बाद सुख-स्वप्न वंचिता पति-परित्यक्ता यशोधरा के दर्शन हमें होते हैं। उसका बायाँ नयन फड़क रहा है, भय से हृदय धड़क रहा है। अपने भाग्य को कोसती हुई, चोरी चोरी चले गये पति को उपालम्भ देती हुई, अपने विफल गर्व का स्मरण करती हुई वह हमारे सम्मुख उपस्थित की जाती है।

सिद्धार्थ और यशोधरा के दाम्पत्य-जीवन के सुख-दुख का कुछ भी परिचय नहीं पाने के कारण, पाठक यशोधरा को इस वेश में देखकर एकाएक चौंक उठता है। वह उसके हठात् प्रलाप को सुनने के लिए तैयार नहीं। 'आली वही बात हुई, भय जिसका था मुझे।' इस उक्ति से विदित होता है कि यशोधरा को सिद्धार्थ के अभिनिष्क्रमण की आशंका पहले से थी, लेकिन बेचारे पाठक को इसका क्या पता! 'यशोधरा' के लेखक ने साकेत में वन-गमन के पूर्व लक्ष्मण और उर्मिला का संयोग-सुख अत्यन्त

चटकीले रंग से चित्रित किया है। प्रेम-रस में पगी उर्मिला का विरहिणी रूप विशेष मार्मिक हो जाता है। जो उर्मिला प्रियतम का प्रेम-पीयूष पीकर लहलही लतिका के समान फूली न समाती थी, उसे ही चौदह वर्षों का महान् वियोग सहन करना पड़ा। ग्रीष्म की लू से लता कुम्हला जाती है, कोमल-कोमल पत्तियाँ सूख जाती हैं। इसलिए 'साकेत' में उर्मिला का विरह कुछ स्थलों पर विशेष स्वाभाविक दीख पड़ता है।

'यशोधरा' में संभोग-शृंगार के अभाव में एक युक्ति पेश की जा सकती है। सिद्धार्थ और यशोधरा हमारे लिए पूज्य हैं, माता-पिता तुल्य हैं, बल्कि कवि तो भगवान् अमिताभ से भक्ति का वरदान माँगते हैं—इसलिए यदि कवि ने अपने पूज्य का शृङ्गार-वर्णन नहीं किया तो कोई अनुचित नहीं। उनका शृंगार-वर्णन करना ही अनुचित होता। इस तर्क का नैतिकता से जितना सम्बन्ध है उतना काव्य-सौष्ठव से नहीं। काव्य तो नैतिकता, अनैतिकता दोनों से परे है। नैतिकता के दलदल में कविता नीचे ही धँसती जायगी, खुल कर खिल कर तैर नहीं सकती। गोस्वामी तुलसीदासजी काव्य में नैतिकता और सदाचार के कट्टर समर्थक थे। लेकिन इनने भी फुलवारी वर्णन में श्रीराम और जानकी का पूर्व राग अत्यन्त पवित्रता और कलात्मकता के साथ चित्रित किया है। जानकीजी की सखियाँ भी इतनी चतुर और शिष्ट हैं कि 'पुनि आउब यहि बिरियाँ काली' कह कर मन में ही विहँसती हैं। श्रीरामचन्द्र भी इतने भोलेभाले हैं कि प्रेम के इस विकार को अपने अनुज और गुरुदेव से कहने में संकोच नहीं करते। गोस्वामीजी के प्रेमवर्णन में ग्रामीणता और अश्लीलता का नामोनिशान नहीं। 'यशोधरा' के प्रारम्भ में भी यदि फुलवारी-वर्णन की तरह गोपा-गौतम के दाम्पत्य-जीवन की एक झाँकी रहती तो यशोधरा का विरह भी पाठकों को विशेष स्वाभाविक और धार्मिक जँचता। क्या राजकुमार सिद्धार्थ को अपनी पत्नी से कुछ भी अनुराग नहीं था? क्या उनका हृदय अपने नन्हे राहुल को निरख कर कभी उल्लसित नहीं हुआ होगा।

राजा शुद्धोदन अपने राजकुमार सिद्धार्थ के लिए विलास की सामग्री जुटाते गए और वह इन साधों से दूर ही हटते गए। वासना-धारा में बरजोरी डुबकियाँ लगाने के लिए बाध्य सिद्धार्थ को विषय-सुख में विराग उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। सिद्धार्थ की विषय-विरक्ति का यह मनोवैज्ञानिक कारण भी काव्य में चित्रित होना चाहिए। किसी वस्तु का अत्यधिक उपभोग कभी-कभी उसके प्रति हमें उदासीन बना देता है। सुलभता से उदासीनता और दुर्लभता से आकर्षण की वृद्धि होती है। हर घड़ी सुन्दरियों से घिरे रहने के कारण उनसे उदासीन हो जाना सिद्धार्थ के लिए स्वाभाविक ही है। पिता की अतिशय उत्सुकता और प्रयत्नशीलता ने पुत्र को असमय ही अभिनिष्क्रमण के लिए प्रेरित किया—इसमें कोई सन्देह नहीं। अश्वघोष ने अपने 'बुद्ध-चरित्र' महाकाव्य में सिद्धार्थ के इस मनोवैज्ञानिक पहलू का सुन्दर वर्णन किया है। कवि ने दूसरे सर्ग में सिद्धार्थ के अन्तःपुर-विहार का वर्णन किया है और तीसरे सर्ग में उनकी 'संवेग-उत्पत्ति' का। चौथे सर्ग में सुन्दरियों के साथ उनके वन-विहार का वर्णन आया है। एक ओर रम्भा, उर्बशी को लज्जित करने वाली मदोन्मत्त कामिनियों की सुगठित सेना है और दूसरी ओर राजकुमार सिद्धार्थ का चट्टान के समान सुदृढ़ निश्चल मन है,

"मदेनावर्जिता नाम तं काश्चित्तत्र योषितः।
कठिनैः पस्पृशुः पीनैः संहतैर्वल्गुभिः स्तनैः।"
"स्रस्तांसकोमलालम्ब मृदुबाहु लताबला।
अनृतं स्खलितं काचित्कृत्वैनं सस्वजे बलात्"
सर्ग ४, श्लो० २९,३०।

अर्थात्—मद से अवनत कुछ स्त्रियों ने अपने कठिन, पीन दृढ़ और सुन्दर स्तनों से राजकुमार सिद्धार्थ को स्पर्श किया। झुके हुए कन्धे से कोमलतापूर्वक लटकती हुई मृदु-बाहुलताओं वाली किसी अबला ने बनावटी गिरना दिखा कर उसे बलात् आलिंगन किया। इस प्रकार कामदेव के सभी बाण निष्फल हुए। सुन्दरियों की काम-चेष्टाओं से सिद्धार्थ की वैराग्य-भावना और बलवती हो गई। अश्वघोष ने अपनी काव्य-कला में शान्ति और शृंगार का अपूर्व संयोग उपस्थित किया है। 'बुद्ध-चरित' के कवि ने विलासिता के चिता-भस्म पर आसीन होकर वैराग्य की बंशी

बजाई है। 'यशोधरा' में इस विलास-वैभव और सम्भोग शृंगार का अभाव बहुत खटकता है। यह अभाव विप्रलंभ शृंगार के रस-परिपाक में बाधक सिद्ध होता है।

यशोधरा-विलाप में किस रस की निष्पत्ति हुई है?

यशोधरा-विलाप में पाठकों का तीन रसों का आभास होता है—शान्त, करुण और विप्रलम्भ-शृङ्गार। प्रत्येक रस के औचित्य पर यहाँ क्रमशः विचार प्रस्तुत किया जाता है।

शान्त रस :—शान्त रस का स्थायी भाव शम या निर्वेद है, आलम्बन अनित्य रूप संसार की असारता का ज्ञान या परमात्मा चिन्तन है। यशोधरा संसार के सुख-दुख से परे नहीं। उसके जीवन का निष्कर्ष इन दो पंक्तियों में हैं—

"रोना-गाना बस यही जीवन के दो अङ्ग।
एक संग में ले रही दोनों का रस रङ्ग॥"

प्रियतम के वियोग में आँसू बहाना और राहुल को गोद में लेकर गीत गाना यही उसके सुख-दुख के कारण है। वह निज बन्धन के सम्बन्ध को दृढ़ करना चाहती है। 'कह मुक्ति भला किस लिए तुझे मैं पाऊँ' कह कर मुक्ति को फटकारती है। वह तो अपने प्रिय के साथ इस भव में ही भाव विभाव भरना चाहती है। यहीं तक नहीं, बल्कि संसार हेतु शतबार सहर्ष मरने के लिए प्रस्तुत है। इसलिए यशोधरा-विलाप का स्थायी भाव निर्वेद नहीं है। यशोधरा के विलाप का आलंबन भगवान् नहीं हैं। एक स्थल पर उसका यह कथन कि 'मेरा भी प्रभु पति हैं।' प्रियतम सम्बन्धी प्रेम ही सूचित करता है। यशोधरा ने सर्वत्र अपने पति को ही संबोधित करके अपने भाग्य को कोसा है। जिस व्यक्ति के हृदय में वैराग्य या निर्वेद की उत्पत्ति होगी वह प्रिय या पुत्र के प्रेम में पुलकित क्यों होगी? इसलिए यशोधरा के विलाप में शात रस का कहीं स्थान नहीं। हाँ, ग्रन्थ के प्रारम्भ में सिद्धार्थ के मानसिक द्वन्द्व और महाभिनिष्क्रमण के वर्णन में शांत-रस का चित्रण हुआ है। संपूर्ण सांसारिक सुखों से उन्हें विरक्ति हो गई है। यह संसार निःसार दीख पड़ता है। और एक बार निर्वेद उत्पन्न होने से वह बन में ही रमते दीखते हैं।

करुण रस—करुण रस का स्थायी भाव शोक है। विनष्ट बंधु आदि शोचनीय व्यक्ति इसके आलंबन हैं। 'साहित्य दर्पण' के अनुसार—

"इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्।
धीरैः कपोत वर्णोऽयं कथितो यमदैवतः।"

तृतीय परिच्छेद श्लो० २२२

यानी इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण-रस आविर्भूत होता है। इसके देवता यमराज हैं। यशोधरा के मन में यह कभी शंका भी नहीं होती कि उसके प्रियतम का कुछ अनिष्ट हो सकता है। उसे तो विश्वास है, वह लौट आयेंगे, आयेंगे—यहीं इसी आँगन में।' इसलिए यशोधरा के लिए इष्ट नाश की कल्पना भी असह्य है। जब तक प्रियतम जीवित हैं और उनके लौट आने की संभावना बनी रहती है तब तक करुण-रस हो नहीं सकता। भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' में भगवान श्री रामचन्द्र का सीता-विषयक विलाप करुण-रस के अन्तर्गत आयगा क्योंकि उन्हें श्री जानकी के पुनर्मिलन की कोई संभावना नहीं।

करुण-रस के देवता यमराज हैं। कराल कठोर यम यशोधरा के लिए सदय हृदय, सुकुमार हो गए हैं। फिर भी 'मरण सुन्दर बन आया री' गीत में यशोधरा मरण से दूर ही रहती है। प्रियतम का क्या, यम का भी सुयोग उसे दुर्लभ है; क्योंकि राहुल का सब भार उसके ऊपर छोड़कर स्वामी उसे मरने का भी अधिकार नहीं दे गए। इसलिए अब उसे इसी में आनन्द है—'जिए जलकर काया री।' इस प्रकार करुण-रस के एक-छत्र सम्राट् स्वयं महाराज यमराज की भी यशोधरा के यहाँ कोई गुंजाइश नहीं।

करुण और करुणा के यौलिक अर्थ में कुछ भेद है। 'करुण' का सम्बन्ध उस रस विशेष से है जिसका स्थायी भाव शोक (इष्ट का नाश) है। शोक अपनी निज की इष्ट-हानि पर उत्पन्न होता है और करुणा दूसरों की पीड़ा, कष्ट या चिन्तनीय दशा देखकर या कल्पना कर। परपीड़ा की कल्पना से चित्त में उत्पन्न भावदशा का नाम समवेदना या सहानुभूति है। इस यंत्र-युग में कृत्रिम करुणा और सहानुभूति की बाढ़-सी आ गई है। प्रायः अपनी बड़ाई सुनने या शिष्टाचार को निबाहने के लिए ही अधिकांश

व्यक्ति अपने दुखी मित्रों को सहानुभूति के पत्र या तार भेजा करते हैं।

विप्रलंभ शृङ्गार—अब देखना यह है कि यशोधरा में विप्रलंभ शृङ्गार किस प्रकार वर्णित हुआ है। विप्रलंभ शृङ्गार में प्रिय के प्रति अनुराग तो उत्पन्न उत्कट रहता है परन्तु परिस्थिति वश प्रिय का समागम नहीं हो पाता—[यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्ट मुपैति विप्रलम्भोऽसौ—स०द०]

विप्रलंभ के चार भेद माने गए हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। 'सौन्दर्यादि गुणों के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक और नायिका की, समागम से पूर्व भाव-दशा का नाम पूर्वराग है। गोपा और गौतम का पूर्वराग घटित नहीं है, वर्णित है। 'प्रियतम तुम श्रुतिपथ से आये।' इसमें गुण श्रवण से उत्पन्न पूर्वराग का आभास है। नायक को पर स्त्री में आसक्त देखकर नायिका का कोप ईर्ष्यामान कहलाता है। 'चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी।' इस पंक्ति में यशोधरा की ईर्ष्या अत्यन्त सात्विक भाव से अभिव्यक्त हुई है। कोई भी प्रेमिका नहीं चाहती कि उसका प्रिय किसी अन्य वस्तु की साधना में तल्लीन रहे। प्रिय का पुस्तक-प्रेम या देश-प्रेम भी कभी-कभी प्रेमिका को खटकता है। मैं एक ऐसे फिलॉसफर को जानता हूँ जिनको श्रीमतीजी इसीलिए बराबर झल्लाती रहती हैं कि श्रीमान्, जब देखो तब, पुस्तकों को ही लिए पड़े रहते हैं। परिणीता पत्नी को छोड़ कर सिद्धार्थ का 'मुक्ति' का पाणिग्रहण करना यशोधरा को खटकता है। क्योंकि 'मुक्ति' में भी नारीत्व है। बिना कारण ही जो एक दूसरे के ऊपर मिथ्या कोप का प्रदर्शन किया जाता है, वह प्रणय मान है। यह मान क्षणिक और अस्थायी होता है। केवल पारस्परिक मनोविनोद के लिए यह किया जाता है। लेकिन यशोधरा का यह मान उसके व्यक्तिगत अपमान से सम्बन्धित है। प्रियतम ने उसका तिरस्कार किया है, अपमान किया है, उसे हीन समझा है। उसका तो एकमात्र यही उपालंभ है, "सखि, वे मुझ से कह कर जाते।" वे चोरी-चोरी क्यों चले गए।

'विदा न लेकर, स्वागत से भी वंचित यहाँ किया है।
ले न सकेगी तुम्हें नहीं वह तुम सब कुछ हो जिसके।'

यशोधरा के इस उपालंभ में उसका प्रियतम विषयक प्रेम ही ध्वनित हो रहा है। रूठने का अभिनय भी 'अपने' ही ऊपर किया जाता है। रूठी हुई नारी के हृदय से उसके प्रियतम की छवि एक पल भी ओझल नहीं हो पाती। यशोधरा का यह मान अंत तक ज्यों का त्यों बना रहता है। यहाँ तक कि बुद्धदेव के अजिर में आ जाने पर भी "गोपा वहीं है, छोड़कर उसको गए थे वे जहां।" लाचार होकर भगवान् को स्वयं वहाँ जाना पड़ा और कहना पड़ा, "मानिनि, मान तजो, लो रही तुम्हारी बान।" इस मान के मूल में यशोधरा के वैयक्तिक आत्म-गौरव की भावना केन्द्रीभूत है। यशोधरा का अहं उसे ऊपर उठाये रहता है। आत्महीनता की भावना मनुष्य को झुकने के लिए बाध्य करती है। यशोधरा अपने को तुच्छ नहीं समझती; वह वीर क्षत्राणी की तरह जीवन संघर्ष में लड़ना चाहती है। यशोधरा के मान के मूल में उसका आत्म-सम्मान सन्निहित है। यशोधरा का यह मान 'प्रणय मान' या 'ईर्ष्या-मान' तो हो नहीं सकता—क्या इसे हम 'आत्म-सम्मान-मान' कह सकते हैं?

कार्यवश, शापवश अथवा संभ्रम (भय) वश नायक के अन्य देश में चले जाने को 'प्रवास' कहते हैं—

'प्रवासो भिन्न देशित्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात्।'

भगवान् बुद्ध का प्रवास न शापवश है और न देवता, मानव या प्रकृति के संभ्रम से ही सम्बन्धित है। उनके प्रवास का एक महान् उद्देश्य है—मानवता को सुख-दुख के बन्धन से चिर विमुक्त करना। इसलिए भगवान् बुद्ध के इस प्रवास को कार्यवश कहना ही युक्ति-संगत होगा।

कार्यवश प्रवास के भी तीन भेद होते हैं—(१) भविष्यत् (२) वर्तमान और (३) भूत। यशोधरा को सिद्धार्थ के भावी वियोग की आशंका बराबर बनी रहती थी, परन्तु उसे उसके अभिनिष्क्रमण की सूचना कभी नहीं मिली। चोरी-चोरी चले जाने वाले प्रियतम की प्रेमिका को वर्तमान-प्रवास का विरह दुख हो ही कैसे सकता! इसलिए इस कार्यवश प्रवास को हम भूतकालीन ही कहेंगे क्योंकि सिद्धार्थ के अभिनिष्क्रमण के बाद ही यशोधरा का विरह-दुख वर्णित होता है।

यशोधरा के सम्पूर्ण विलाप में यही प्रवास-जनित विरह-वेदना तरंगित होती रहती है।

यशोधरा-विलाप में करुण विप्रलम्भ भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि इसमें 'कादम्बरी' की तरह नायक या नायिका की मृत्यु का वर्णन नहीं किया गया है।

करुण-विप्रलम्भ में नायक या नायिका के पुनर्जीवन या जन्मान्तर में पुनर्मिलन की आशा बराबर बनी रहती है। 'यशोधरा' में यशोधरा मरने की इच्छा भर करती है, मरती नहीं।

प्रियतम के प्रवास में रहने से नायिका की दश काम-दशायें होती हैं:—

अङ्गों में असौष्ठव, सन्ताप, पाण्डुता, दुर्बलता, अरुचि, अधीरता, अस्थिरता, तन्मयता, उन्माद, मूर्च्छा और मरण। यशोधरा-विलाप में इन सभों के काफी उदाहरण पाए जा सकते हैं।

इतना कहने पर भी एक बात और कहने को रह ही जाती है। यशोधरा को छन्दक के मुख से यह स्पष्ट सूचना मिलती है कि सिद्धार्थ ने राजकीय आभूषण उतार कर संन्यासी का वेश धारण कर लिया। पतिव्रता यशोधरा भी अपने केशों को काट डालती हैं, संन्यासिनी का वेश धारण करती है। यशोधरा की प्रेम-भावना के आलम्बन संन्यासी सिद्धार्थ हैं। एक संन्यासी स्थायीभाव निर्वेद का आलम्बन हो सकता है दाम्पत्य रति का नहीं। सिद्धार्थ यशोधरा की दृष्टि में सिद्धार्थ नहीं बल्कि भगवान् बुद्ध हैं, उसके पति प्रियतम नहीं बल्कि प्रभु के रूप में प्रतिष्ठित हैं। अन्त में दोनों का मिलन भी पति-पत्नी का मिलन नहीं बल्कि भक्त-भगवान् का मिलन है। तो क्या यशोधरा-विलाप में शान्त-रस है?

थोड़ी-सी सूक्ष्मता के साथ विचार करने पर यह भ्रम दूर हो जाता है। सिद्धार्थ के वैराग्य-पूर्ण जीवन से यशोधरा पूर्णतः अपरिचित है। उसके हृदय-मन्दिर में तो राजकुमार सिद्धार्थ ही प्रियतम के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वह अपने प्रियतम को 'अर्द्धाङ्गिनी भाव'। 'यशोधरा-कर-धार्य', 'प्रिय' आदि विशेषणों द्वारा सम्बोधित करती है। 'वधू सदा मैं अपने वर की' कहने में यशोधरा गर्व का अनुभव करती है उसकी यह उत्कट अभिलाषा है और अन्तिम अभिलाषा है:—

"लौट आओ प्रिय तुम्हारा पुण्य फूला-फला,
भाग जो जिसका उसे दो, जाय क्यों वह छला?
देखलूँ जब तक जगूँ भव नाट्यकी नव कला,
और फिर सोऊँ तुम्हारी बाँह पर धर गला।"

यद्यपि मिलन-वेला में उसका हृदय वासना से विमुक्त हो जाता है फिर भी वह नारी ही है, संन्यासिनी नहीं.

"अच्छी मैं नारी की नारी,
पूजा तो कर सकूँ तुम्हारी।"

कपिल-नगर-नरराज का भिक्षुक बन कर घर लौटना गोपा को व्यथित कर रहा है। वह अपने प्रियतम को राजकुमार के ही रूप में एक बार देखना चाहती है। भगवान् बुद्ध भी उसे 'मानिनि', और 'गोपे' कह कर सम्बोधित करते हैं। यशोधरा को अपने पूर्व-प्रणय पर अभिमान है:—

यही प्रगति उन्नति है मेरी,
हुई प्रणय की परिणति मेरी।
मिली आज मुझको गति मेरी,
क्यों न करूँ अभिमान?
पधारो भव-भव के भगवान!

इस प्रकार यशोधरा-विलाप में न शान्त रस है, न करुण रस और न करुण-विप्रलम्भ ही; वह प्रवास-जनित विप्रलम्भ शृङ्गार का सरस और सकरुण चित्र है।

विचार-विमर्ष

प्रगतिशील लेखक किधर ?

आज प्रगति का युग है। प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति के चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं। आज की दुनियाँ में कोई पीछे रह ही नहीं सकता। सबको समय के साथ चलना पड़ेगा और जो समय के साथ नहीं चलेंगे वे पछाड़ खाकर गिर जाएँगे और समय उनको अपने साथ घसीट ले चलेगा। ऐसी दशा में जो भी साहित्य प्रकट होगा उसमें प्रगति के चिह्न मौजूद होंगे ही। कुछ लोगों का कहना है कि कुछ साहित्यिक इस शताब्दी में भी १६ वीं सदी का साहित्य दे रहे हैं तथा वे लोग बूर्जुआ साहित्य के पोषक हैं। लेकिन मैं ऐसा नहीं मानता। २० वीं शताब्दी में २० वीं शताब्दी का ही साहित्य प्रकाश में आएगा। साहित्य अपने समाज और युग का प्रतिबिम्ब हुआ ही करता है। तब यह साहित्य में प्रगतिशीलता का बिल्ला कैसा ? आज प्रगति-शील साहित्य से हम क्या समझते हैं तथा प्रगति-शील लेखक किनको कहते हैं ? जिसमें किसानों और मजदूरों का वर्णन हो, sex को नये रूप में प्रस्तुत किया गया हो तथा जो रूसी साहित्य से प्रभावित हो आज उसी को हम प्रगतिशील साहित्य की संज्ञा देते हैं। लेकिन मैं पूछता हूँ कि क्या इतने में ही संसार की सब समस्याएँ समा गई ? इसके अतिरिक्त दुनियाँ में और कुछ जानने समझने लायक नहीं है। साहित्य की तो सर्वाङ्गीण जीवन पर ही दृष्टि होती है। इस प्रकार अपने को सीमाओं में बाँधने से क्या साहित्य एकाङ्गी न बन जायगा ? क्या इसका फल यह न होगा कि एक वर्ग तो उसका पारायण करेगा और दूसरा वर्ग उसको फूटी आँख भी न देखेगा ? साहित्य में भी वर्ग भेद का विष भर देना क्या श्रेयस्कर होगा ?

मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि साम्यवाद और समाजवाद से लेखकों को प्रेरणा न मिले। अभी उस दिन प्रगति शील लेखक संघ के तत्वावधान में कविवर मैथिली शरण गुप्त की हीरक जयन्ती मनाई गई। कुछ प्रगति-शील लेखक बोले।

शायद गुप्तजी प्रगति शील लेखकों के कृपा पात्र इसी लिए बन सके कि उन्होंने 'भारत भारती' लिखी है। प्रगति शील लेखकों को तो उनके काव्य-संग्रह में से सिर्फ उसी अंश की जरूरत है जिसमें उन्होंने किसान और मजदूरों के प्रति सहानुभूति दिखलाई है। लेकिन जिसमें मानव मात्र के हृदय का चित्रण है उससे हमारे प्रगतिशील लेखकों का कोई सम्बन्ध नहीं। प्रगति शील लेखकों का पार्टी के दफ्तर में ही कार्यालय है जहाँ पर यह छानबीन की जाती है कि किस लेखक ने किसान और मजदूरों पर लिखा है। जिस प्रकार एक हृदयहीन विद्यार्थी विज्ञान की गुत्थियों को सुलझाता है उसी प्रकार संघ की कार्यकारिणी अपने रिसर्च विभाग में कवियों पर Experiment करती है जो उनकी कसौटी पर खरा उतरता है उसको स्थान मिल जाता है शेष को निरादृत कर दिया जाता है। एक भाई कुछ संग्रह निकालना चाहते थे (मेरी समझ में शायद प्रगतिशील कविताओं का) सन्तोष भाई ने उनसे कहा—रवि बाबू को भी उसमें रखिए। वे भाई साब बोले—अरे रवीन्द्र की कविता में क्या धरा है। उन्होंने तो बुर्जुआ साहित्य की रचना की है। सन्तोष ने उत्तर दिया—यह बात तो नहीं है। कहीं-कहीं पर तो उन्होंने प्रगतिशील पंक्तियाँ लिखी हैं जैसे जहाँ पर वह कहते हैं कि ईश्वर तुमको वहाँ मिलेगा जहाँ मजदूर अपना पसीना बहा रहा है, सड़क पर गिट्टी फोड़ रहा है, कीचड़ में सने पैरों से हल जोत रहा है। उन्होंने उपेक्षा भाव से उत्तर दिया—ऊँह, वह तो समुद्र में बूँद के बराबर है।—रवीन्द्र जैसे साहित्यकार की भी प्रगति-शील बन्धुओं के बीच में प्रतिष्ठा नहीं है। वे तो पुराने साहित्यकारों से सिर्फ वे ही उद्धरण देते हैं जिनमें दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति है और उतने में ही कवि या लेखक के पूर्ण व्यक्तित्व का विकास समझ बैठते हैं। अपनी अपूर्णता के कारण वे उन साहित्यकारों को भी अपूर्ण रीति से देखते हैं। शायद साहित्य-क्षेत्र में भी कुछ दिनों में लाल, हरे, पीले झंडे फहराने लगेंगे और साहित्यकार एक

दूसरे का सिर फोड़ने को लट्ठ ले लेकर खड़े हो जाएँगे। साहित्य में राजनीति का दिग्दर्शन तो रहेगा ही लेकिन साहित्य राजनीति ही न बन जाना चाहिए।

दूसरे मैं पूछता हूँ आज के प्रगतिशील कहे जाने वाले लेखकों में कितनों ने मजदूर और किसानों के बीच रहकर उनके जीवन का सच्चा अनुभव प्राप्त किया है। मैं तो अपने प्रगतिशील बन्धुओं से प्रार्थना करूँगा कि मजदूर और किसानों पर कविता लिखने की बजाय वे लोग कुछ उनका दुःख बँटाया करें तो वे उनकी सौ गुनी अधिक सेवा करेंगे।

मैं मानता हूँ कि रूसी साहित्य ने शोषित पीड़ित जनता की आँखें खोलने में काफ़ी मदद की है लेकिन वहाँ अब उस साहित्य के दिन लद गए। तो भी वहाँ पर आज विचार स्वातंत्र्य नहीं है। एक दिन प्रेमीजी ने कहा—रूस से तो हमारा गुलाम भारत ही अच्छा है जिसमें कम-से कम हम अपनी बात तो कर सकते हैं। इतने वर्षों में रूस में किसी ने स्टालिन के विरुद्ध लिखा। कोई वहाँ की शासन-प्रणाली में एक त्रुटि निकाल सकता है। कोई जार के मानवीय सद्गुणों के बारे में एक शब्द लिख या बोल सकता है। एकदम ऐसा साहित्य निकल रहा है जो मानों मशीन से एक साँचे में ढलकर निकलता है। यह कथा साहित्य के साथ अन्याय नहीं है?

मेरे लिखने से कोई गलत आशय न निकाल ले। लेखक के उर में भी दलित मानव के प्रति उतनी ही व्यथा है जितनी किसी और के हृदय में। लेकिन मेरे कहने का मतलब सिर्फ इतना ही है कि साहित्य को राजनीति के दलदल में न फँसाया जाय और उसको स्वच्छन्द रूप से फलने-फूलने दिया जाय तभी उसकी आत्मा जीवित रह सकती है। उसको कैद करने से तो उसका दम ही घुट जायगा। जो लोग हमारे कालिदास और कवीन्द्र-रवीन्द्र को प्रतिष्ठा नहीं देते वे चाहे कोई भी हों हम उनके साथ नहीं चल सकते।

जो लोग साहित्य में से विश्व-बन्धुत्व की भावना का लोप करना चाहते हैं और वर्ग भेद को भरना चाहते हैं तथा जो रूसी साहित्य के अन्ध-भक्त हैं उनसे कल्याण की आशा नहीं की जा सकती। वे देश को गड्ढे में ही ले जाएँगे। —महेन्द्र कुमार 'मानव' एम०ए०

'आजकल की साहित्यिक धाराओं में प्रगतिवाद का एक विशेष स्थान है किन्तु उसमें भी कुछ एकाङ्गीपन और रूढ़िवाद आगया है। लेखक ने उसकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है।—सम्पादक

❀ ❀ ❀

'बीसलदेव रासो' वीर काव्य है अथवा प्रेम काव्य ?

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने जिस काल को आदि युग माना है उसकी अधिकांश सामग्री समय के साथ ही ध्वंस हो चुकी है, उस समय विनाश की भीषण ज्वाला में भस्म होने से अगर कुछ रह गया तो वह हिन्दी के कुछ चुने रत्न 'रासो ग्रन्थ' है। ये रचनायें अधिकतर राजस्थानी की डिंगल भाषा में हैं। डिंगल भाषा वीर-काव्य के लिये अधिक उपयुक्त है। पर यह मान लेना कि डिंगल भाषा में रचे हुये समस्त ग्रन्थ ही वीरकाव्य होंगें अधिक संगत नहीं प्रतीत होता।

कवि नरपति नाल्ह द्वारा रचित 'बीसलदेवरासो' को उसके डिंगल भाषा में होने पर भी हम जितना अधिक एक प्रेम-काव्य मानेंगे उतना वीरकाव्य नहीं। इसमें अजमेर के राजा वीसलदेव का यश वर्णन है। राज्योचित यश वीरता के बिना फीका ही रहता है किन्तु यह राजा अनन्त वैभव, राज्यश्री का स्वामी है जिसके अन्तःपुर में साठ-सहस्र रानियाँ हैं। भोगविलास में दिन रात निरत रहना ही उसका जीवन है। वह रणवाद्यों के साथ सेनानायक के रूप में कभी सामने नहीं आता है। यह सत्य है कि राजपूत युग में राजाओं की प्रकृति भोगविलास की ओर अधिक हो गई थी पर साथ ही अवसर आते ही वह वीरता के साथ युद्ध में प्रवृत्त होने को भी उद्यत रहते थे। एक कान से नूपुर की ध्वनि सुनते थे दूसरे से नगाड़ों की भीषण गर्जना। इस दृष्टि से वीसलदेव का चरित्र एकांगी प्रतीत होता है। उसके जीवन का एक बहुत आवश्यक अङ्ग कवि

ने अधूरा ही छोड़ दिया है। वीर पूजा की जो भावना चारण कालीन परम्परा के अन्तर्गत आती है उसका इस ग्रन्थ में केवल आभासमात्र मिल सकता है।

कथावस्तु की दृष्टि से बीसल व रासो में नायक से सम्बन्ध रखने वाली चार घटनाओं का चार खण्डों में अलग-अलग निर्देश है। पहिले खण्ड में विवाह-प्रसंग उठता है। बीसलदेव का विवाह धाराधिपति भोज की पुत्री राजमती के साथ होता है। अनेक प्रथाओं तथा रीति-रिवाजों का कवि ने पूर्ण रूप से पालन किया है। वर्णन में त्रुटि नहीं आने पाई है। अदली समली आरती, गुड़ी उछालना आदि राजस्थान में प्रचलित प्रथाओं का विस्तार से वर्णन है। बीसलदेव अपनी नवपरिणीता वधू राजमती को अजमेर लाता है जहाँ वह अन्तःपुर की समस्त रानियों में सर्वश्रेष्ठ है। राजमती के रूप-वर्णन में कवि उसकी तुलना जानकी से करता है। विवाह के बाद वह कुछ दिवस ही सुख से बिता सका कि एक नवीन प्रसङ्ग आ प्रस्तुत होता है। जिस समय बीसलदेव राज्यश्री के मद में चूर था और पृथ्वी पर अपनी समता करने वाला किसी को न समझता था तभी राजमती बीच में आकर उसके गर्व पर दो शब्दों के द्वारा ऐसा आघात करती है कि उसकी चेतना लौट आती है। राजमती उसे चेतावनी देती है कि पृथ्वी पर एक और नरेश है जिसके यहाँ हीरे की खान है, जबकि उसका पति केवल साँभर का स्वामी हो कर ही सन्तुष्ट और दर्प से पूर्ण है। राजा के मन को धक्का पहुँचा। अब उसे केवल एक ही उतावली है किसी तरह वह हीरा पाथरी लेकर आयेगा या फिर राजमती को मुँह ही न दिखायेगा। उसी समय यात्रा की तैयारी प्रारम्भ कर हाथी घोड़े से सजधज कर वह उड़ीसा राज्य को प्रस्थान करने का निश्चय कर लेता है। बीसलदेव ने जिस गर्व से कहा था कि या तो वह अपने यहाँ हीरे की खान उपजायेगा या फिर प्राण ही तज देगा, उस गर्वोक्ति का आगे निर्वाह नहीं हो सका है। वह तो स्त्रियों की भाँति रूठ कर अपनी ही कोटि के एक अन्य राजा के यहाँ अतिथि बन कर बारह वर्ष रहता है, इसके यहाँ हीरे की खान है।

जिस युग में पुरुष तो पुरुष स्त्रियाँ भी वीरता में किसी से कम न होती थीं—या तो वह रणाङ्गन में जाकर स्वयं शस्त्र ग्रहण करती थीं या फिर धधकती हुई ज्वाला में प्राण दे देती थीं। उसी कोटि की रानी राजमती के चरित्र में उन महान भावों का लेश भी नहीं है। पहिले तो वह अपने पति के पास हीरापाथरी के न होने का स्मरण करा उसके दर्प के टुकड़े कर देती है किन्तु फिर वही अवसर आने पर उसे रोकने के लिए लाख मनावनें करती है। यदि वास्तव में उसे बीसलदेव के पास हीरा-पाथरी के न होने का तनिक भी क्षोभ था तो उसे एक वीराङ्गना के समान अपने पति को अपने हाथों से अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित कर उल्लास से रणक्षेत्र के लिये विदा करना चाहिये था। यह समझना चाहिए था कि वह प्राणों का मोह न करके चाहे जिस भाँति हो हीरापाथरी लेकर लौटे अन्यथा कायर बन कर वह उसे मुँह न दिखावे नकि वह उसे इस तरह प्राणों में छुपाकर रखना चाहती केवल अपने सुख की प्राप्ति के लिये। बीसलदेव के चले जाने के उपरान्त राजमती विरह-व्यथा से दग्ध रहती है। वह मद से अभिभूत, चेतना-शून्य सी वद्ध हरिणी के समान पृथ्वी पर पड़ जाती है, भोजन तथा स्नान तज देती है। वह 'उलिगाणा' की स्त्री है इसलिये नींद भी उससे दूर भाग जाती है। सुन्दर राजप्रसाद बीसलदेव के बिना उसे झोंपड़े के समान कान्तिहीन प्रतीत होता है। उसके उन्माद की दशा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। विरह की ग्यारह अवस्थाओं में से अधिकांश राजमती में दृष्टिगोचर होती हैं। वह कभी वाराणसी जाकर तप करने की और कभी वियोगिनी का वेश धारण कर हिमालय में विचरण करने की सोचती है। राजमती के वियोग वर्णन में कवि ने कल्पना का आश्रय लिया है और उसमें सफलता भी मिली है। विरहिणी के आन्तरिक क्षोभ, उद्वेग तथा मानसिक अशान्ति का मनोवैज्ञानिक चित्रण है। विरह वर्णन के अन्तर्गत बारहमासे का भी निर्देश है: माह मास में अत्यन्त शीत पड़ता है किन्तु राजमती को विरह ज्वाला के कारण व्यापता ही नहीं है। चैत्र में जब पञ्चसखियाँ होली खेलने का अनुरोध करती हैं तब वह

कहती हैं—'म्हाँ क्यूँ होली खेलवा जाई उलिगाणा की गोरड़ी।' उसका स्त्री जन्म उसके लिये अभिशाप बन जाता है। हरिणी हो बन-बन में घूमना तथा कोयल हो आम की डाल पर बैठना उसे अधिक प्रिय होता अपने इस नारी जीवन की अपेक्षा। पति के आगमन की प्रतीक्षा में कौवे उड़ाते-उड़ाते उसकी बाँह थक जाती है, नेत्र अरुण वर्ण हो जाते हैं रोते-रोते। राजमती पांध्या को भेज वीसलदेव के पास संदेश कहलाती है—'एक बार घर आवज्यो चढ़तो जोबन कहाँ लहे स।'

वीसलदेव अजमेर लौटता है, हीरापाथरी तथा अनेक द्रव्य लेकर। बारह वर्ष की विरह तपस्या के पश्चात् राजमती सोलहों श्रृङ्गार से सुसज्जित हो थाल सजा कर अपने दूर देश से इतनी लम्बी अवधि के बाद आये हुये 'नाह' की आरती करने को चलती है। प्रेमोल्लास से उसके अङ्ग फड़क उठते हैं। उसकी साधना का अन्त हो जाता है। इसके बाद संयोग श्रृङ्गार का वर्ण है जो इन्द्रिय-जन्य अधिक हो गया है। इसके अन्तर्गत राजमती के उपालम्भ, हावभाव तथा रतिक्रीड़ा का ही विशेष वर्णन है। कवि ने आदि से अन्त तक मुख्यतः श्रृङ्गार रस के दोनों पक्षों का वर्णन ही अपना ध्येय रक्खा है। अपने नायक को विवाह सूत्र में बाँध कर फिर अचानक परदेश भेज देने का तात्पर्य विरह वर्णन ही हो सकता है क्योंकि उससे वीसलदेव के चरित्र पर तो कोई प्रकाश पड़ता नहीं है और उसके बाद उन दोनों का मिलन करने में कवि ने संयोग वर्णन कर दिया है। यकायक प्रवास का प्रसंग उठा कर कवि ने विरह वर्णन की पर्याप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है। यदि वीसलदेव को उड़ीसा में बारह वर्ष न रह कर कहीं बाहर युद्ध करने के निमित्त या और किसी कारणवश थोड़े दिनों के लिये बाहर जाना भी पड़ता तब कदाचित विरह वर्णन इतनी सफलता से न बन पड़ता। यह विरह एक दो दिन का नहीं वरन् एक लम्बी अवधि का है। वीसल देव का व्यक्तित्व एक संयोगी तथा वियोगी के रूप में ही दिखाई देता है। उस बड़े राज्य के योग्य उसका व्यक्तित्व नहीं है।

वीसलदेव रासो पूर्ण रूप से एक प्रेम आख्यान काव्य है। वीर रसात्मक काव्य नहीं। श्रृङ्गार-रस के विस्तार पूर्ण वर्णन पर ही सारा घटना-क्रम आधारित है, उसी प्रसंग में जहाँ और वर्णन आवश्यकीय समझे गये हैं, उनका उल्लेख कर दिया गया है। वीसलदेव खण्डाधीश है पर उसका किसी राज से कभी युद्ध नहीं होता है। उसका जीवन शान्ति से बीतता है। यदि अचानक हीरापाथरी का प्रसङ्ग न उठ खड़ा होता तो कदाचित उसका जीवन घटना-विहीन ही रह जाता। न कहीं पर दुर्गों का वर्णन है न सेना तथा युद्ध का। युद्ध तथा शौर्य ही वीरों के जीवन की सार्थकता है पर उसकी इस ग्रन्थ में गन्ध भी नहीं है। किसी भी स्थल पर वीसलदेव के कथन वीरता से भरे हुए नहीं हैं, न कहीं ओजपूर्ण उक्तियाँ ही हैं। वीसलदेव न एक सेनानायक है न कभी चक्रव्यूह की रचना ही करता है। वीसलदेव की दानशीलता का भी कहीं वर्णन नहीं है। रस की दृष्टि से भी वीर-रस, रौद्र तथा वीभत्स का कहीं उल्लेख नहीं है। छन्द भी उत्तेजनापूर्ण जैसे और वीर काव्यों में मिलते हैं इसमें नहीं हैं। आदि से अंत तक एक ही छन्द का निर्वाह है। पूर्णरूप से आलोचना करने पर यह ग्रन्थ एक प्रेमकाव्य ग्रन्थ ही ठहरता है, वीर रसात्मक नहीं। वास्तव में वीसलदेव रासो जो एक प्रेम काव्य है उसे एक काल विशेष की सामग्री होने के कारण ही हठपूर्वक वीर काव्य की कोटि में रखना लेखक के साथ अन्याय होगा क्योंकि ऐसी स्थिति में वह हमारी दृष्टि में दोषों तथा त्रुटियों से पूर्ण ही प्रतीत होगा और वह एक वीर-काव्य की समता करने के स्तर पर लाया जाने के योग्य कदाचित कभी न हो सकेगा। इसलिये यह अधिक न्याय-संगत होगा, यदि वीसलदेव रासो को चारण पद्धति के अन्तरगत लिखे गये प्रेम-काव्यों में एक स्थान दिया जाय और जब हम उस दृष्टि-कोण से उसकी विवेचना करेंगे तभी उनके सौन्दर्य का आभास पा सकेंगे। हम कवि नाल्ह की काव्य कला के तभी सच्चे पारखी हो सकेंगे जब हम 'वीसलदेव रासो' को प्रेम काव्य के सिद्धान्तों के अध्ययन की कसौटी के आधार पर, उसके एक-एक स्थल की जाँच करेंगे अन्यथा नहीं।

—राजेन्द्रकुमारी निगम एम० ए०

[बीसलदेव रासो के सम्बन्ध में लेखिका का जो मत है वह यद्यपि साहित्य के इतिहासों में भी मिलता है तथापि इस लेख में उस मत की पुष्टि की सामग्री मिल जाती है। साथ ही बीसलदेव रासो की कथा की जानकारी हो जाती है। ऐसे ग्रन्थों में वीरता के प्रभाव के कारण कुछ लोग वीरगाथा काल को चारण काल कहना पसन्द करते हैं। —सम्पादक]

❀ ❀ ❀

हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी हो सकती है या हिन्दुस्तानी ?

हिन्दी और हिन्दुस्तानी का संघर्ष राजनीतिक है। यदि राजनीतिक और साम्प्रदायिक दुराग्रह छोड़ दिये जायँ तो हिन्दी और हिन्दुस्तानी में कोई अन्तर नहीं। हिन्दी का अर्थ है वह भाषा जो भारतीय भाषा-परम्परा में विकसित हुई है और जो आवश्यकता के समय भारतीय परम्परा वाली भाषाओं के शब्द-कोष पर ही निर्भर करती है। साथ ही जो देशी-विदशी भाषाओं के अपने क्षेत्र में प्रचलित शब्द भी अपने नियमों के अनुसार ग्रहण कर लेती है। हिन्दी को किसी भी भाषा के शब्दों के सम्बन्ध में आरम्भ से आज तक किंचित भी दुराग्रह नहीं रहा। भारतेन्दु से पूर्व के साहित्य-महारथियों से लेकर आजतक के साहित्य-महारथियों की रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। हिन्दी की अत्यन्त शुद्धिवादी प्रवृत्तियाँ अपने स्थान पर हैं; वे मेरे कथन को असिद्ध नहीं करतीं। मैंने जो हिन्दी की परिभाषा दी है, वही हिन्दुस्तानी की भी हो सकती है। गाँवों की बोलियों की परीक्षा करके और भाषा के विकास के स्वाभाविक रूप का मनन करके भी इसी निर्णय पर पहुँचा जायेगा, इससे भिन्न पर नहीं।

गाँवों की बोलियों में अधिकांश संस्कृत तद्भव शब्द मिलेंगे। इसके लिए हम १८८४ में प्रकाशित कैप्टन टेम्पल के द्वारा संग्रहीत 'दी लीजेण्डस आफ पंजाब' को उदाहरण के रूप में दे सकते हैं। उसमें पंजाबी लोक-वीर-गाथाओं का संग्रह है—उनमें अधिकांश गीत हिन्दी में, संस्कृत हिन्दी में हैं। ये लोक-गीत [illegible] हैं जो जगाधरी में मेलों-उत्सवों के अवसर पर अपार जन-समूह में खेले जाते थे। पं० रामनरेश त्रिपाठीजी का ग्राम गीत संग्रह भी यही सिद्ध करता है। दूसरे समस्त भारत की लिखित और बोले जानेवाली भाषा के शब्दों का मूल स्रोत संस्कृत रही है—आज से ४-५ हज़ार वर्ष पूर्व से, कम से कम। उसकी ओर भारत की भाषाओं का स्वाभाविक झुकाव होना ही चाहिए और वही है। बंगाल, गुजरात महाराष्ट्र में ही नहीं तैलँगू-तामिल में भी वह अत्यन्त स्पष्ट है। तब 'हिन्दी' 'हिन्दुस्तानी' भिन्न नहीं हो सकतीं। 'हिन्दुस्तानी' का अर्थ यदि 'उर्दू' है, तो यदि उर्दू इस देश की भाषा है, और इस देश की प्रकृति को मानती है, वह हिन्दी से भिन्न नहीं हो सकती, यदि वह भारत से बाहर की भाषाओं पर अपने शब्दकोष और संस्कार के लिए निर्भर करती है, तो वह राष्ट्र-भाषा हो नहीं सकती। वह भारतीय राष्ट्रीयता को विदेशी शब्दों के साथ विदेशी अर्थों का गुलाम बनाये रहेगी, और आज नहीं तो कल किसी और भयानक राजनीतिक चक्र को जन्म देगी। कम से कम भारतीय-राष्ट्र की स्वाभाविक मानसिक स्वच्छन्दता और प्रतिभा तो अवश्य ही नष्ट कर देगी, जैसे आज अँग्रेजी मुहावरे की प्रमाणिकता के लिए भारत को इंगलैंड का मुख ताकना पड़ता है, वैसे ही उर्दू के ढंग की भाषा के राष्ट्र-भाषा होजाने पर 'अरब और फारस' का मुख ताकना पड़ेगा। यों उर्दू, हिन्दी की ही एक शैली है, इसे कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति कह सकता है, इतिहास इसका साक्षी है। यह अपने साहित्यिक संस्कार के लिए किसी विशेष तअस्सुब के कारण किसी भी भाषा से सम्बन्ध कर सकती है, पर राष्ट्र-भाषा के लिए यदि समस्त तअस्सुब को छोड़कर वह अपने स्वरूप पर विचार करे तो साधारण हिन्दी से किंचित भी भिन्न नहीं ठहरेगी। इसीलिए जब तक उर्दू के कवियों में 'उर्दू-ए-मुअल्ला' की ओर विशेष आकर्षण नहीं हुआ था, उनकी भाषा और हिन्दी-कवियों की भाषा में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता।

जिन लोगों ने 'हिन्दी' को हिंदुओं की बनाकर 'उर्दू' को मुसलमानों की कहा उन्होंने राजनीतिक कारणों से ही

ऐसा किया, कांग्रेस को नीचा दिखाने और मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग कर देने के लिए। भाषा का किसी मजहब से सम्बन्ध नहीं। राष्ट्र-भाषा का तो और भी। हिन्दी हिन्दुस्तानी या उर्दू का यह संघर्ष वास्तव में शहरों का संघर्ष है, गाँवों का नहीं। भारत का अधिकांश गाँव है, वह हिन्दी बोलता है, जिसमें अन्य भाषाओं के आवश्यकतानुसार छींटे रहते हैं। फलतः राष्ट्र-भाषा हिन्दी है। जिन व्यक्तियों ने 'हिन्दी' का राष्ट्र-भाषा के लिए विरोध किया है वे या तो हिन्दुस्तानी का भी विरोध करेंगे, या उसे बिल्कुल अभारतीय बना देंगे, जो गाँव के लिए और भारतीय राष्ट्रीयता के स्वाभाविक विकास के लिए अत्यन्त हानिकर होगी। मेरी युक्ति से फारसी-लिपि का भी राष्ट्र के लिए कोई उपयोग नहीं रहता। राजनीतिक दृष्टि से भी मुझे 'हिन्दुस्तानी' के ग्राह्य होने की संभावना नहीं दीखती। हिन्दुस्तानी के प्रचार की योजना का सूत्रपात यदि मुस्लिम-लीग ने किया होता, यानी उसने कहा होता कि प्रत्येक मुसलमान को हिन्दी-उर्दू दोनों सीखनी चाहिये; और तब कांग्रेस ने भी उसे राष्ट्र के लिए स्वीकार किया होता तब संभवतः गांधीजी की योजना, अस्वाभाविक होते हुए भी, सफलता की आशा कर सकती थी। हिन्दी का राज्य शहरों में भी है और गाँवों में तो उसी का अधिकार है, उर्दू शहरों में ही है, वह तअल्लुक के क्षेत्रों में है। हम उसके निरादर की बात नहीं कहते, पर राष्ट्र-भाषा के लिए वह या उस जैसी हिन्दुस्तानी उपयुक्त नहीं हो सकती। —सत्येन्द्र

साहित्य-समीक्षा —

त्रिशंकु

श्री शिवनाथ एस० ए०

श्री अज्ञेय चिन्तन-प्रधान साहित्यकार हैं और ऐसे ही साहित्यकार की समीक्षा-वृत्ति विशेष जागरित रहती है। यहाँ मैं समीक्षा-वृत्ति के साहित्य के क्षेत्र में ही सीमित नहीं कर रहा हूँ परन्तु जीवन, समाज और देश वा राष्ट्र तक भी इसकी व्याप्ति मान रहा हूँ। मतलब यह कि श्री अज्ञेय साहित्य के समीक्षक के साथ ही जीवन, समाज और राष्ट्र के भी समीक्षक हैं। 'त्रिशंकु'* में उनके प्रथम रूप के दर्शन मिलते हैं और 'शेखर: एक जीवनी' में दूसरे रूप के। श्री अज्ञेय में चिंतन के प्राधान्य के कारण ही उनका कवि रूप अधिक दिन तक नहीं चल सका, प्रतीत ऐसा ही होता है—यद्यपि उनका जो कवि रूप हिंदी के समक्ष आया वह बहुत आकर्षक है। उपन्यासकार के रूप में भी वे चिंतन-प्रधान हैं, उनके उपन्यास में तो चिंतन का प्राधान्य खटकता भी है। यहाँ यह स्मरण रखना है कि चिंतन वृत्ति प्रौढ़ता का लक्षण है, अत किसी भी साहित्यकार के लिए वह स्पृहणीय है, परन्तु इसका उपयोग यथास्थल ही होना चाहिए, स्मरण इसे भी रखना है।

श्री अज्ञेय टी० एस० इलियट की ओर विशेष रुजू जान पड़ते हैं। 'त्रिशंकु' में अनेक स्थलों पर इनकी बात आई है। 'केशव की कविताई' नामक लेख में बलराज द्वारा श्री अज्ञेय ने यह कहला भी दिया है कि 'इलियट की बात सोचने लायक होती है।' (पृष्ठ ६६)। विचार करने पर विदित होगा कि टी० एस० इलियट तथा श्री अज्ञेय की प्रवृत्ति में साम्य के तत्व विशेष हैं। दोनों ही बहुत प्रौढ़ और कुशल शैलीकार-टेक्नीशियन हैं। ये ऐसे शैलीकार हैं जो नयी-नयी शैलियों की उद्भावना में प्रवृत्त रहते हैं। श्री अज्ञेय ने कविता और उपन्यास के क्षेत्र में जो नवीन

* लेखक श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' प्रकाशक—श्री श्रीपतराय, सरस्वती प्रेस, बनारस मू० ३)।

शैलियाँ दी हैं वे प्रशंसनीय और अनुकरणीय हैं। इनकी कहानियों पर विशेष दृष्टि नहीं जमती, इनके स्केच बहुत सुन्दर हैं, इसमें संदेह नहीं। टी० एस० इलियट और श्री अज्ञेय दोनों का विश्वास वर्तमान सभ्यता—मशीनयुग की सभ्यता—के परिणाम पर नहीं है। दोनों की दृष्टि अपनी प्राचीन व अतीत संस्कृति पर विशेष जमती है। दोनों जीवन और साहित्य में आशावाद और विश्वास को आवश्यक स्वीकार करते हैं। 'त्रिशंकु' के 'पुराण और संस्कृति' नामक लेख में श्री अज्ञेय ने कहा है—'पुराण ही वह पहली सांस्कृतिक इकाई है जिसमें से जीवन की बहुरूपता प्रस्फुटित हुई है।'(पृष्ठ ४५)। यहीं यह भी कहा गया है—'इसलिए नहीं कि मैं पुराणों को धर्म का अंग मानता हूँ बल्कि इसलिए कि बिना पुराणों के अध्ययन के किसी भी देश के जीवन की सांस्कृतिक भित्ति तक नहीं पहुँचा जा सकता, और इसलिए उस जीवन के प्रति अपना दायित्व भी नहीं निभाया जा सकता।' भारतीय पुराणों के अध्ययन की उपेक्षा तथा विदेशी पुराणों के अध्ययन की ओर सम्मान पर उन्होंने क्षोभ प्रकट किया है। (देखिए पृष्ठ ४४)। अपनी प्राचीन या अतीत संस्कृति पर श्री अज्ञेय के अनुराग का इससे बढ़कर दूसरा उदाहरण नहीं हो सकता।

वर्तमान सभ्यता—मशीन युग की सभ्यता—के परिणाम पर असंतोष प्रकट करते हुए श्री अज्ञेय कहते हैं—'आधुनिक युग मशीन युग है। मशीन के विस्तार से प्राचीन समाज-व्यवस्था और संस्कृति नष्ट हो रही है, और फुरसत नाम की एक नई वस्तु पैदा हो रही है।'.......फुरसत का समय बिताने के लिये सामग्री चाहिए, लेकिन वह सामग्री एक विशेष प्रकार की हो सकती है, क्योंकि उसी का रस लेने की सामर्थ्य आधुनिक मानव में बचती है। इसका परिणाम है कि पुरानी संस्कृति के मरने के साथ नई के मान नहीं बन रहे, हमारा मन और आत्मा संकुचित हो रहे हैं और हम यथार्थता का सामना करने के अयोग्य बनते हैं। दूसरी ओर, मशीन युग के साथ जो Mass production आया है, उसके लिए विज्ञापनबाजी आवश्यक है। विज्ञापनबाजी स्वयं मशीन युग की विशेषताओं को उग्रतर बनाती है, और साहित्य को सस्ता, घटिया और एक रस बनाने का कारण बनती है।' (पृष्ठ २०)। श्री अज्ञेय ने इस प्रकार की संस्कृति में साहित्य के घुटकर मर जाने की आशंका प्रकट की है। इसके उद्धार का उपाय भी यों बताया है—'अगर उद्धार का उपाय कोई है, तो वह संस्कृति की रक्षा और निर्माण की सिर-जागरूक निष्ठा, और उस निष्ठा की आवश्यकता में अखंड विश्वास, वा ही मार्ग है। साहित्य का, कला का, चमत्कार मर रहा है, अभी मरा नहीं है। अगर इस चमत्कार को पैदा करने वाले पतन और निराशा से बच सकते हैं, और उससे मुकाबले की शक्ति उत्पन्न कर सकते हैं तो अभी परित्राण संभव है। और इस शक्ति को उत्पन्न करने का एकमात्र मार्ग है शिक्षा—शिक्षा जो निरी निरक्षरता नहीं, निरी जानकारी नहीं, जो मनुष्य की प्रसुप्त मानसिक शक्तियों का स्फुरण है।' (पृष्ठ २२)। ऐसी ही संस्कृत, प्रौढ़ और आशावादी भूमिका प्रस्तुत कर श्री अज्ञेय ने साहित्य-समीक्षा को प्रतिष्ठित किया है। साहित्य पर विचार करने के लिए उन्होंने सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक आदि पीठिकाएँ भी तैयार की हैं। विज्ञान की भी जानकारी समीक्षकों को अच्छी है। उन्होंने नृशास्त्र, जीव विज्ञान, भूगर्भ शास्त्र आदि का भी विचार यथास्थान आवश्यकता पड़ने पर किया है। इन शास्त्रों का उल्लेख साहित्य को स्पष्ट करने के लिए ही हुआ है।

'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।'(पृष्ठ २६)। कला वा साहित्य की सत्ता श्री अज्ञेय इस रूप में स्वीकार करते हैं। ऊपर हमने कहा है कि वे प्राचीन वा अतीत संस्कृति में विश्वास करते हैं। यह बात प्रमाणित हो चुकी है। परंतु वर्तमान काल के साहित्यकार होने के कारण वे आधुनिक विचार धाराओं से भी असंपृक्त नहीं हैं। कोई साहित्यकार अपने युग से पूर्णतः अछूता रहे यह सम्भव भी नहीं है। अभिप्राय यह कि श्री अज्ञेय ने कला वा साहित्य का जो रूप स्थापित किया है उस पर एडलर की हीनता ग्रन्थि (इनफीरिओरिटी कॉम्प्लेक्स) के सिद्धान्त का प्रभाव लक्षित होता है। एडलर और श्री अज्ञेय की बात में अन्तर केवल इतना ही है कि 'हीनता' के स्थान पर 'अनुपयोगिता' और 'अपर्याप्तता' का प्रयोग करते

हैं। एडलर का सिद्धान्त है कि हीनता वा आत्महीनता की ग्रन्थि की स्थिति किसी व्यक्ति में तब होती है जब उसमें किसी प्रकार की कमी, अनुपयोगिता वा अपर्याप्तता की भावना जड़ पकड़ जाती है। 'हम समाज के किन्हीं लोगों से कम हैं' यही भावना हीनता की ग्रन्थि का मूल है। इस हीनता वा उसी की भावना व्यक्ति के अन्तरमन में सदैव बनी रहती है। अपनी हीनता की भावना को व्यक्ति भुलाना चाहता है, कारण कि अपनी कमी किसी को प्रिय नहीं। परन्तु जितने ही मन से वह इस भावना को भुलाना चाहता है उतनी ही तीव्रता वा पूर्णता से वह भावना उसके अन्तर मन में जमती जाती है, जिसके परिणाम स्वरूप वह अपनी उसी अनुपयोगिता, वा अपर्याप्तता की पूर्ति करने के लिए किसी विशिष्ट कार्य में संलग्न होता है। हीनता की ग्रन्थि की उद्भूति के शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक, लैंगिक आदि अनेक कारण होते हैं। साहित्य, समाज आदि के कार्यों में व्यक्ति आत्महीनता की भावना की पूर्ति के लिए अपनी कमी को पूरी करने के लिए लगता है। कला वा साहित्य का कर्ता, कलाकार वा साहित्यकार, समाज में अपनी अनुपयोगिता, हीनता, अपर्याप्तता वा कमी की भावना को समाज के लोगों की दृष्टि में अप्रमाणित करने के लिए साहित्य-निर्माण की ओर प्रवृत्त होता है। एडलर और श्रीअज्ञेय का भी कथन यही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीअज्ञेय ने कला वा साहित्य का जो रूप निर्मित किया है उसमें वे स्पष्टतः एडलर से प्रभावित हैं। परन्तु साहित्य-निर्माण की मूल प्रवृत्ति यही है, इस विषय में मतैक्य नहीं हो सकता। अनेक सिद्धान्त लोग पेश करते हैं, और कर सकते हैं, और सभी में कुछ न कुछ तथ्य की निहिति भी होती है। साहित्यकार तो कला वा साहित्य-निर्माण की मूल वृत्ति प्रतिभा को मानता है जो ईश्वर प्रदत्त वा प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक शक्ति के रूप में स्थिर की जा सकती है, साहित्यकार में जिसके न होने से किसी भी प्रेरणा, भावना वा प्रतिक्रिया के होते हुए भी वह साहित्य-निर्माण सच्चा साहित्य-निर्माण—नहीं कर सकता। 'प्रतिभा' को नवनवोन्मेषशालिनी कहा है। अस्तु इस क्षेत्र में प्रस्थान भेद से अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित हो सकते हैं।

श्री अज्ञेय 'प्रत्येक महत्त्वपूर्ण लेखक' को 'अग्निगर्भ' मानते हैं। वे मानते हैं कि 'बुद्ध के बोधिसत्व होते हैं, तो महान लेखकों को भी अनिवार्य रूप से विद्रोह-सत्व होना चाहिए (पृष्ठ ५२)। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि '.... यदि लेखक की प्रतिक्रिया प्रौढ़ है तभी वह सत्साहित्य की रचना कर सकता है।' (पृष्ठ ५३) इन मतों का तात्पर्य इतना ही है कि किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना आदि ने यदि साहित्यकार को पूर्णतः प्रभावित किया है अथवा परिस्थिति वश वह स्वयं अपनी जागरूक अनुभूतियों और भावनाओं के कारण उनसे प्रभावित हुआ है—यदि वस्तु, व्यक्ति, घटना आदि की ओर से साहित्यकार के मनमें प्रतिक्रिया हुई है, अथवा स्वतः साहित्यकार ने उनसे प्रतिक्रिया ग्रहण की है—तभी उसके द्वारा सत्साहित्य का निर्माण हो सकता है। यहाँ सारा महत्व प्रभावित करने वा होने का है। साहित्यकार के 'विद्रोह सत्व' होने का तात्पर्य है उसमें 'वातावरण वा सामाजिक गति को तोड़कर नया वातावरण और नया सामाजिक संगठन लाने की प्रेरणा (पृष्ठ ५३) की निहिति।

श्री अज्ञेय ने साहित्य के क्षेत्र समाज—जहाँ से साहित्यकार को अपनी रचना के लिए आश्रय और आलम्बन मिलते हैं, की बहुत व्यापक व्याप्ति स्वीकार की है, जिसे कोई भी समीक्षक अस्वीकार नहीं कर सकता। वे साहित्य-क्षेत्र के अन्तर्गत अनेक रूपात्मक जगत् के चर और अचर सभी को ग्रहण करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी साहित्य-क्षेत्र को इसी रूप में देखा है। उनका कथन है कि 'काव्य दृष्टि कहीं तो (१) नरक्षेत्र के भीतर रहती है, कहीं (२) मनुष्येतर बाह्यसृष्टि के और (३) कहीं समस्त चराचर के।' (चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृष्ठ १६६)। श्री अज्ञेय कहते हैं कि 'कलाकार अपने और अपने समाज और यदि उसकी आत्मा इतनी विशाल है कि 'समाज' के अन्तर्गत समूचे मौलिक जगत् को खींच सकती है, तब वह अपने संसार के सम्बन्ध को फलप्रद बना सकता है, सिद्ध हो सकता है, अर्थात् सच्चा कलाकार हो सकता है।' (पृष्ठ २६)

श्री अज्ञेय कला वा साहित्य का लक्ष्य श्रेष्ठतरनीति

(इथिक्स) मानते हैं। कहते हैं—'इस प्रकार कला-वस्तु-रचना का एक नैतिक मूल्यांकन निरन्तर होता रहता है। इस क्रिया को हम यों भी कह सकते हैं कि 'सच्ची कला कभी भी अनैतिक नहीं हो सकती' और यों भी कह सकते हैं कि 'प्रत्येक शुद्ध कला-चेष्टा में अनिवार्य रूप से एक नैतिक उद्देश्य निहित है' अथवा 'सच्ची कलावस्तु अन्ततः एक नैतिक मान्यता (Ethical value) पर आश्रित है, एक नैतिक मूल्य रखती है।' हाँ यह ध्यान दिला देना आवश्यक होगा कि हम एक श्रेष्ठतर नीति (Ethic) की बात कह रहे हैं निरी नैतिकता (Morality) की नहीं।' (पृष्ठ २८)। 'स्वांतः सुखाय' और 'कला कला के लिए' का समर्थन वे करते हैं, परन्तु रस रूप में—'इस प्रकार कलाकार का आत्मदान केवल एक नैतिक मान्यता के लिए ही नहीं होता, सच्चे अर्थ में 'स्वांतः सुखाय' भी होता है, और वह सुख अपनी सिद्धि पा लेने का, समाज को उसके बीच रहे होने का प्रतिदान दे देने का सुख है। 'कला कला के लिए' झूठ नहीं हैं, वह अत्यन्त सत्य है, लेकिन एक विशेष अर्थ में। यदि 'कला कला के लिए' का अर्थ है निरे 'सौन्दर्य' की खोज—किन्हीं विशेष सिद्धान्तों के द्वारा एक रसायनिक सौन्दर्य की उपलब्धि, तब वह कला कलाकार को कोई भी सुख नहीं दे सकती—न आत्मदान का, न आत्म-बोध का, वह कला बन्ध्या है।' (पृष्ठ २६)। कहना न होगा कि श्री अज्ञेय की दृष्टि में 'स्वांतः सुखाय' का अर्थ है साहित्य-साधना की सफलता का सुख, सामाजिक प्राणी होने के कारण समाज के प्रति अपने कर्तव्य की पूर्ति का सुख। समाज के प्रति अपनी कर्तव्य-पूर्ति का तात्पर्य है जिस समाज ने अथवा जिस समाज से प्राप्त प्रेरणा ने—स्मरण रहे कि साहित्य का क्षेत्र वा उसका आलम्बन समाज होता है—कलाकार को कलाकार बनाया है, उसके स्तर को ऊँचा करना, उसमें सुख-शान्ति की स्थापना करना।

इस मीमांसा से यह स्पष्ट हो गया होगा कि श्रीअज्ञेय की साहित्य सम्बन्धी स्थापना सामाजिक है, वैयक्तिक नहीं; उसकी व्याप्ति बड़ी है, छोटी नहीं। उन्होंने साहित्य को जिस उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित करके देखा है वही उच्च भूमि सत्समीक्षकों द्वारा सदैव अनुमोदित होती रही है।

'त्रिशङ्कु' में श्री अज्ञेय ने साहित्य-सम्बन्धी अन्य विषयों की भी मीमांसा की है। वर्तमान साहित्य की भी अनेक समस्याओं को उठा कर उनका समाधान अपनी दृष्टि से किया है। यहाँ स्मरण यह रखना है कि श्री अज्ञेय साहित्य को विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखते हैं, वे शाश्वत साहित्य के समर्थक हैं, वे साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं। साहित्य को राजनीति आदि के चक्कर में पड़ा नहीं देखना चाहते। वे कला वा साहित्य पर ऐच्छिक नियन्त्रण लगे, इसे अच्छा नहीं समझते। कहते हैं—'कला पर ऐच्छिक नियन्त्रण लगाने से, उसे किसी निर्दिष्ट दिशा में चलाने के प्रयत्न से, विज्ञान मिल सकता है, अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र आदि मिल सकते हैं, साहित्य नहीं मिल सकता।' (पृष्ठ ७७)। यह भी कहते हैं कि यदि आज के साहित्य का लक्ष्य मनोरञ्जन है तो साहित्य खतरे में है। (देखिए पृष्ठ १६)। वे प्रगतिशीलता को 'अनुभूति और परिस्थिति में कार्य-कारण-परम्परा जोड़ने की वृत्ति' (पृष्ठ ७८) स्वीकार करते हैं। आगे कहते हैं—'इस प्रकार प्रगतिशीलता सापेक्ष और अचिर होने के लांछन से भी बच जाती है—उस तल पर आ जाती है जिस पर साहित्य की परख होनी चाहिए।' स्वयं ही स्पष्ट है कि वे प्रगतिशीलता को भी शाश्वत साहित्य की दृष्टि से देखते हैं। 'संक्रांति काल की कुछ साहित्यिक समस्याएँ' नामक लेख में 'साहित्य किसके लिए' पर विचार करते हुए उन्होंने तीन स्थापनाएँ स्थिर की हैं—'कला की सामग्री को सीमित करना अनधिकार चेष्टा है। परिस्थिति को ध्यान में रख कर हम जैसी प्रेरणा चाहते हैं, वह यदि साहित्यकार में स्वभावतया नहीं है, तो हम बलात् उसे पैदा नहीं कर सकते। साहित्यकार में प्रेरणा-शक्ति हो सकती है किन्तु वह साहित्यकार की आन्तरिक क्षमता का स्वयंभूतफल है।' (पृष्ठ ७०)। इसी सिलसिले में उन्होंने यह भी कहा है कि जिस जनता के लिए हम आज साहित्य निर्मित करने का दावा करते हैं, उसमें से बहुत कम ऐसे हैं जो साक्षर हैं, ऐसी अवस्था में जनता के लिए लिखे गए साहित्य का लक्ष्य सिद्ध नहीं होता। यह

भी कहा है कि जनता में पैठ कर उसके जीवन का अनुभव करने वाले साहित्यकार भी कितने हैं? और आगे यह भी कहा है कि ऐसी परिस्थिति में साहित्यकार को साहित्य का मोह छोड़ कर उसे समाज-सुधारक का उसमें जाग्रति उत्पन्न करने वाले का कार्य करना चाहिए जिससे उसके साहित्य के समझे जाने की भूमि प्रस्तुत हो जाय। श्री अज्ञेय के इन सभी विषयों के सम्बन्ध में हमें कहना यह है कि हम भी सच्चे साहित्य और साहित्यकार की सत्ता स्वीकार करते हैं, इनका बहुत बड़ा महत्व है, हमारी संस्कृति के निर्माण में ये सहायक होते हैं; परन्तु परिस्थिति-वश साहित्यकार का भी समाज के प्रति कुछ कर्तव्य होता है। साहित्य का भी कुछ न कुछ युगधर्म होता है। हम आज के फैशनेबुल प्रगतिवादियों की बात नहीं करते, परन्तु जिनके हृदय में जीवन, समाज, देश वा राष्ट्र के प्रति कुछ भी जलन है, आग है, वे तो उसे अभिव्यक्त करेंगे ही, और उन्हें अभिव्यक्त कर देना भी चाहिए। साहित्य और सच्चे साहित्य के माध्यम द्वारा यदि वे समाज और देश में जाग्रति उत्पन्न करें तो हर्ज क्या है। माना कि जनता के जीवन के अनुभव सभी साहित्यकारों में नहीं हैं और बहुत कम जनता साक्षर भी है। परन्तु जो जनता शिक्षित है और जिनके जीवन से वे परिचित हैं—अर्थात् मध्य वर्ग की जनता से, जिस वर्ग के व्यक्ति शिक्षा-सम्पन्न भी हैं—क्या उनमें साहित्यकार अपने साहित्य द्वारा जागर्ति नहीं उत्पन्न कर सकता। अभी मध्यवर्ग में भी जागरण की कमी है और मध्यवर्ग में जागरण उत्पन्न करना भी आवश्यक होता है, कारण कि सदैव सच्चा क्रान्तिकर्ता मध्यवर्ग ही होता है।

इसी प्रकार साहित्य सम्बन्धी अन्य विषयों की मीमांसा भी श्री अज्ञेय ने की है जिसके लिए 'त्रिशंकु' देखना अपेक्षित है। 'त्रिशंकु' में सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी लेख भी हैं और व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी लेख भी। आधिक्य पहले ढङ्ग के लेखों का ही है और विशेष महत्व भी उन्हीं का है। इस प्रकार के लेख में है—१ संस्कृति और परिस्थिति, २–उसका स्वभाव और उद्देश्य, ३–पुराण और संस्कृति, ४–परिस्थिति और साहित्यकार, ५–संक्रान्तिकाल की कुछ समस्याएँ और ६–चेतना का संस्कार। अन्तिम लेख में साहित्य की बात एक-दो स्थलों पर ही आई है। ये सभी लेख बहुत ही प्रौढ़, सुलझे हुए और विचारोत्तेजक हैं। 'रूढ़ि और मौलिकता' नामक लेख एटी० एस० इलियट के लेख का भावानुवाद है। परिशिष्ट में व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी छोटे-छोटे लेख हैं। इनमें से दो-एक के अतिरिक्त और सब पुस्तकों की भूमिका और पुस्तकावलोकन (बुकरिव्यू) हैं। इस प्रकार के निबन्धों के नाम ये हैं—१–केशव की कविताई, २–चार नाटक, ३–एक भूमिका, ४–'दो फूल', ५–आधुनिक कवि : महादेवी वर्मा और ६–'वागर्थ प्रतिपत्तये', 'परिस्थिति और साहित्यकार' में भी व्यावहारिक समीक्षा है।

'त्रिशंकु' में विषय का प्रतिपादन स्पष्ट, सोदाहरण और सोद्धरण है। समीक्षक अपने विवेचन का सारांश प्रायः देता चलता है। 'त्रिशंकु' में बिना पर्याय दिए कठिन अँगरेजी शब्दों का प्रयोग खटकता है। स्वीकार किया जा सकता है कि यह पुस्तक उच्च शिक्षा-सम्पन्न व्यक्तियों के लिए है, परन्तु हिन्दी की हिमायत के नाते अँगरेजी शब्दों के हिन्दी के पर्यायों को न देना उचित नहीं प्रतीत होता। अँगरेजी वाक्य-रचना का प्रभाव भी श्री अज्ञेय पर अत्यधिक है, इसका उदाहरण 'त्रिशंकु' के किसी भी स्थान से दिया जा सकता है।

अत्यन्त विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि 'हिन्दी-संसार' में त्रिशंकु का स्वागत अवश्य होगा। इतने से ही इसका महत्व जाना जा सकता है कि हिन्दी में ऐसी प्रौढ़ समीक्षात्मक पुस्तक कम प्रकाशित होती है।

साहित्य समीक्षा

गद्य-काव्य

उनमन—(गद्य-काव्य) लेखिका श्री० दिनेशनन्दिनी चौरड्या, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग। मूल्य ३), पृष्ठ संख्या ८८।

दिनेशनन्दिनी चौरड्या हिन्दी की प्रसिद्ध गद्य-काव्य लेखिका हैं। 'उनमन' उनके गद्य-काव्यों का नया संग्रह है। इसमें १०७ गद्य-काव्य हैं। सभी अनुभूतिमय तथा विचार-प्रेरक हैं। भाव लहरियों के किनारे जो विशद वर्णनों के रम्य शाद्वल हैं, वे भव्य हैं, निश्चय ही वे कल्पना की रंगीनी से रूपक के ठाट पर जमे हुए हैं, 'मानव-मन की मध्य-रात्रि में प्रतीक्षा-पंछी के श्याम परों पर झूलते हुए तेरे प्रथम परिरंभण की परितृप्ति हो उसके पूर्व ही तेरे हृदय पर अहर्निश फिरने वाली दोहरी श्वासों की माला का, कोमल पर निठुर व्यवधान मेरी मादक तन्मयता तोड़ देता है।

इन काव्यों के प्रत्येक क्षण एक ओर 'मैं' और दूसरी ओर 'तू' से घिरे हैं, जिससे सौन्दर्य के कण-कण में सजीव रहस्य झाँकता मिलता है, और उससे घनिष्ठ व्यक्ति-संपर्क स्थापित हुआ मिलता है। यह तू, कभी 'वह' होकर भी 'मैं' के लिए अनेकों भाव-भरी मधुमय अनुभूतियों को जाग्रत कर देता है। कहीं भी चांचल्य और बेकली नहीं है, एक विभोर भावना की रंजित तरंग है। पुस्तक की छपाई-सफाई आकर्षक है। —सं०

कविता

प्रतीक्षा—लेखक व प्रकाशक—शिवधानसिंह, बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा।

प्रसादजी की लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण आगरे में देखने को मिला जहाँ पर 'प्रतीक्षा' नाम की एक छोटी-सी कविता-पुस्तक प्रकाशित हुई है जिसके छन्द और बन्द बिल्कुल 'आँसू' के साँचे में ढले हुए हैं। हमारे देश में इसका चलन कम है कि जानबूझ कर किसी कवि का अनुकरण करके कविता लिखने का अभ्यास किया जाए। हमारे कविगण एक का अनुकरण न करके बहुतों की पंक्तियाँ उधार लेकर अपनी मोहनमाला सजाना ज्यादा अच्छा समझते हैं क्योंकि इसमें पकड़े जाने का भय कम रहता है। लेकिन चित्रकार की तरह कवि भी उस दिन तक स्टिल-लाइफ का अनुकरण करें तो उसकी कला के प्रसार और निखार में उसे सहायता मिलेगी। इसमें सन्देह नहीं।

'प्रतीक्षा' में प्रसादजी के अलङ्कार, उनकी उपमायें, और बहुत कुछ वैसी ही भावुकता देखने को मिलती है। इतनी सफलता से उनका अनुकरण करना कवि की बहुत बड़ी सफलता है। प्रसादजी का मार्दव और उनका काव्य सौन्दर्य सहज सुलभ नहीं है। लेखक ने अनेक बन्दों में अपने अगले विकास का भी परिचय दिया है। इस तरह की पंक्तियों में दुरूह लाक्षणिकता कम है। साधारण बोलचाल की मिठास और उनकी सीधी चोट ज्यादा है। जैसे—

मेरा विश्वास छिपा है,
उन प्यार भरी चोटों में।

या

यह रूप रंग निखरेगा,
तप तप कर जैसे कुन्दन।

में कवि की मौलिक व्यञ्जना है और हमें विश्वास है कि उसका अनुकरण काल समाप्त होने पर वह अपने नए मार्ग पर अपनी प्रतिभा को विकसित कर सकेगा।

—डा० रामविलास शर्मा

चट्टान—ले०-श्रीरामइकबालसिंह 'राकेश',प्रकाशक-ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना। पृ० सं० ९२, मूल्य २॥)

यह गम्भीर रुचि का परिचायक काव्य अपने कलेवर और संगठन में उपयुक्त है।

चट्टान पर लेखक को गर्व है।

'गाओ नहीं जनाने कड़खे धन्वा की टंकार में।'

किन्तु यह छन्द स्वयं जनाना है। निर्बल है।

हिमालय अभियान में शुष्क एकरसता का बोझा है। उसे पूरा पढ़ना भी एक हिमालय-अभियान है।

'कालपुरुष गाँधी' अच्छी कविता है। तालाबी पँखेरू 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' तथा संध्या के झुटपुटे में, श्मशान की खोपड़ी भी काफी अच्छी है।

राकेश 'ग्राम-गीतों' के आदमी हैं, फिर भी इनका बारहमासा और ग्राम्य-चित्रण दोनों हृदय-स्पर्श नहीं करते। प्रेम की कविताएँ भी निर्बल हैं।

विराट दर्शन के प्रति नवीन शैली देने का लेखक को अभिमान है। हाँ जिन लोगों ने कामायनी का 'ऊर्ध्वदेश उस नील तमस में, स्तब्ध हो रही अचल हिमानी, पढ़ा और समझा है उनके लिए शायद उन्होंने यह नहीं कहा। शब्दों की सुरुचि में अशुद्धियाँ हैं।

सौर चक्र में ग्रह-उपग्रह होते हैं—तारे नहीं कहलाते।

किन्तु काव्य अपनी पूर्णता में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

व्यक्तिवाद का उलझा हुआ रूप काफी चेष्टा करता है कि समष्टिवाद व्यवहारिक रूप से आ मिले, पर, इस काव्य में यह उसके वश के बाहर की बात साबित हुई है।

लेखक ने लिखा है कि 'विचारक कृपया कमल के फूल का मूल्य स्वर्णकार की कसौटी पर परखने की बुद्धिमानी न करें।' यह बहुत अच्छा कहा है। इस काव्य को स्वर्णकार की कसौटी पर नहीं रखा जा सकता। कमल में उतना भार नहीं होता, जितनी एक गन्ध होती है, जो उसके मुरझाने तक कायम रहती है। वह यहाँ मिल जायेगी।

आशा है यह काव्य अधिक पढ़ा जायेगा। प्रगतिशीलता के नाम पर जो द्वितीय श्रेणी की रचनाओं ने अन्धाधुन्ध एक एकरसता (Monotony) पैदा की है, यह काव्य उन्हें भी यह ध्यान दिला सकेगा कि वे अभी कितना बढ़े हैं और क्या—कर रहे हैं?

ब्रह्मवाद की छाया का काव्य में प्रभाव है, सनातनता का अवैज्ञानिक मोह है, मानसिक स्तर निस्सन्देह ही अभी प्रगतिशील नहीं है।

फिर भी काव्य पढ़कर परितृप्ति होती है क्योंकि कवि की अपनी छाप है, इसलिए नहीं कि उनका चित्र भी साथ है।

निर्वाण—ले-श्री कलाकुमार कुमुद विद्यालंकार, प्रकाशक—श्री वीर पुस्तकालय, लोहामंडी आगरा। पृ० सं० १०४, मूल्य १)

निर्वाण भगवान महावीर पर एक चरित काव्य है। लेखक ने प्रारम्भ में ही कहा है, 'सत्य का जो ईश्वरीय प्रकाश रामकृष्ण में चमका था, वही तथागत बुद्ध और भगवान महावीर में भी प्रकट हुआ था—सत्य इतना ही है।'

अतः जैन विचारधारा ही भगवान महावीर के प्रस्तुत काव्य में संबल हो ऐसा नहीं है, अन्य विचारधाराओं का भी समन्वय है। यह समन्वय समय का प्रभाव है, और आज इसकी आवश्यकता भी अधिक है।

यशोदा पर गुप्तजी की यशोधरा की छाया काफी प्रतीत होती है।

काव्य ठीक है। नैवेद्य की कविता में फरियाद का प्रयोग दुरन्त विलक्षण है। काव्य को सभी धार्मिक लोग पसन्द करेंगे यह आशा है।

धरती—रचयिता श्रीत्रिलोचन शास्त्री, प्रकाशक-प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद। पृष्ठ सं० १०६, मूल्य ३)

प्रस्तुत काव्य में लेखक की नई और पुरानी ८८ कविताएँ हैं।

युग का संघर्ष अधिकांश में मन से पूर्ण तादात्म्य नहीं कर पाया है अतः बोझ-सा लगता है। शुष्क जीवन की एकरसता (Monotony) हटाने के लिए प्रेम के स्वर का सन्निवेश है। यह प्रयत्न में तो समष्टिवाद की ओर आकर्षित लगता है किन्तु उसका प्रारम्भ, मध्य और अन्त वैयक्तिक है—घोर और नितान्त वैयक्तिक। कला का दृष्टि

रूप सरल है, उसमें नये पक्ष का अनुमोदन है किन्तु पुरानापन उसमें एक सुप्त छाया की भाँति निरन्तर मिला हुआ है।

यदि गद्य की इतनी छाप न होती तो कविताएँ निस्सन्देह सशक्त और सप्राण होतीं। व्याख्यात्मक रूप से अनेक कविताएँ नई दिशायें सामने खोलती हैं, जिनसे हिन्दी का पाठक काफी अपरिचित है. और उसमें जो नई शैलियाँ ली गई हैं वे भी काफी उचित ढंग से रखी गई हैं।

त्रिलोचन ग्रामवासी होकर भी ग्रामों का चित्रण उतना अच्छा नहीं कर सके जितना आजकल बहुत से कवि कर रहे हैं।

वैसे काव्य अच्छा है, सुन्दर है। पढ़ना चाहिये।

गेट-अप में धरती का प्रतीक हिरन बनाया गया है। देख कर ही लगता है कुछ दुष्यन्त-शकुन्तला का किस्सा होगा। किन्तु इसमें त्रिलोचन शास्त्री का कोई दोष नहीं है। मूल्य अधिक है।

बन्दी—लेखक-श्री रघुवीर शरण मिश्र, प्रकाशक-अ० भा० राष्ट्रीय साहित्य प्रकाशन परिषद, मेरठ। पृष्ठ १५५, मूल्य ३)

यह काव्य सचित्र है। प्रारम्भ में 'अनुभूति' गद्य है। वास्तव में वह सुन्दर है और उत्कृष्ट है। हृदय की अनुभूति ऐसी प्रखर है कि बरबस हृदय को वश में कर लेती है।

किन्तु बन्दी अपने काव्य के कारण प्रकाशित हुआ है और उसमें वह सफल नहीं हैं। यह तो है राष्ट्रीय क्रान्तिकारी का काव्य किन्तु यह उसकी शक्ति का इतना साधक नहीं जितना कि उसकी प्रिय की आराधना का। कहीं कहीं शायद कवि अपनी ही राय में अपनी व्याख्या के अनुसार प्रगतिशील भी हैं।

'बिना तुम्हारे दर्शन के अब, लुटती मन मण्डी रहती' —गोया मनके भाव गेहूँ के बोरे हैं, और उनके लिये एक बनिया भी है, अँगरेजों के राज में बनिया भाग गया है, पुलिस रक्षा करने में असमर्थ है, लिहाजा लोगों ने मण्डी को लूट लिया है। बहुत सुन्दर है यह। यहाँ राशन तुड़वाने के लिये प्रेम का सहारा लिया गया है।

पीड़ा, तार, ज्योत्स्ना, लक्ष्यहीन, परिवर्त्तन, रक्तपात, दोषी कौन अच्छी कवितायें हैं। भिखारी, दो पथ, माँ और बालक, याद जैसी कवितायें केवल तुकबन्दियां हैं और विषय की करुणा के उपजाने के स्थान पर 'नोंक झोंक' उत्पन्न करती हैं। संध्या, निद्रा-निमन्त्रण, बालकों के भी उपयोग में आसकती हैं- सफल हैं। हिन्दी में ऐसे काव्य सन् २० से ३० तक लिखे जा चुके हैं।

—रांगेय राघव

मानसी—रचयिता पं० उदयशंकर भट्ट, प्रकाशक-एज्युकेशनल पब्लिशिंग कम्पनी, चारबाग, लखनऊ। पृष्ठ ८+९७, मूल्य २)

इस कविता-समूह को कवि ने एक जीवन-दर्शन बताया है। छायावाद ने कवि को, उसके आत्म-कक्ष में निभृत सौन्दर्य की बाह्य प्रकृति में उल्लासित प्रतिच्छवि से, विमोहित कर लिया था, प्रगतिवाद ने उन बन्दी भावों को संसार के संघर्ष क्षेत्र में मुक्त कर दिया। वे स्थूल जगत में स्थूल उपकरणों के साथ उलझने लगे। पन्तजी ने एकदम प्रगतिवादी होने से पूर्व अपनी कल्पना को जिस आचार दर्शन की ओर मोड़ा था, उसमें सुख-दुख की व्याख्या के साथ किंचित जीवन-दर्शन भी आ पाया था, अब भट्टजी ने उसी जीवन-दर्शन की परम्परा में एक नया और शक्तिशाली भाव 'मानसी' के द्वारा प्रस्तुत किया है। इसमें मानवीय करुणा और उद्योग के अत्यन्त मूर्त और सीमित रूप नहीं उभरे, उनमें बिखरे उद्योगों के मूल-भावों और प्रेरणाओं का निरूपण है—

'कुछ न कर सका पीड़ित के प्रति'—
(कौन ? अध्यात्मवाद का ईश्वर)
कुछ न किया है अब तक उसने
कुछ न करेगा आगे भी वह
निर्बल को देगा यों चुसने—

ऐसे अध्यात्मवाद को कवि ने अध्यात्महीन जीवन, ढोंग और आडम्बर और मिथ्या बताया है—और वर्ड्सवर्थ की भांति यह माना है कि यह सब कुछ—

'कुसुम ! अरे देखो दुःखों को
नर ने उपजाया निज कर से।'

मानव के क्रूर-कर्मों के साथ, उसके आन्तरिक शक्ति सौन्दर्य को और प्रकृति के आनन्दमय मनोरम चित्र को सप्राण शैली में प्रस्तुत करता हुआ कवि सुख-दुःख की व्याख्या के साथ एक कर्त्तव्यनिष्ठ स्वस्थ आशावादी उत्साह अपनी कविता में परिछिन्न करता चला गया है। कहीं-कहीं भाव और शब्दावलियाँ पूर्वगामी कवियों से अनुप्रेरित-सी प्रतीत हो सकती हैं पर उनका नवयोजना में नयी पृष्ठभूमि के साथ संयोजन एक मौलिक प्रभाव और ओज प्रस्तुत कर देता है। स्थूल मूर्त्त जगत के व्यापार आते हैं, समष्टि भाव से, और उनमें कवि के व्यक्ति को विचार के लिये जगा जाते हैं, इन विचारों का मर्म जीवन का ही मर्म है; दुःखों और विकारों, अवसादों और अन्धकारों के जगत में से निकाल कर स्वस्थ सौन्दर्य और आशापूर्ण विकार-गति के उत्साहमय लोक में पहुँचा देने वाला। इस काव्य में पठनीय तथा मननीय और स्मरणीय २४ कविताएँ हैं।

—सत्येन्द्र

निबन्ध

विचार और वितर्क—लेखक-श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक—सुषमा साहित्य मन्दिर, जबलपुर। पृष्ठ संख्या २०४, मूल्य ३)

इस पुस्तक में श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी के स्फुट लेखों का संग्रह है। इन लेखों में अधिकांश का सम्बन्ध आलोचना और साहित्य शास्त्र से है। प्रत्येक लेख में व्यक्तित्व और निजीपन की छाप है और ये लेख सच्चे अर्थ में निबन्ध कहे जा सकते हैं। इन लेखों में बात थोड़ी सी बताई गई है, कहीं कहीं प्रसंग वश बड़ी-बड़ी बातों की ओर संकेत कर दिया गया है, किन्तु उन पर विचार और वितर्क अधिक है इसीलिये पुस्तक के नाम की सार्थकता है।

इस संग्रह मे एक लेख शव-साधना पर है। शव-साधना में तो द्विवेदीजी भी विश्वास नहीं करते लेकिन प्रतीक रूप से अथवा अलङ्कारिक रूप से शव-साधना की आवश्यकता वे इस युग में भी मानते हैं। शव आनन्द-भैरव का प्रतीक है क्योंकि(शव और शिव में एक मात्रा का ही अन्तर है) वह नितान्त निश्चेष्ट निष्क्रिय और राग-द्वेष से शून्य होता है। साधक उसकी पीठ पर बैठ कर मंत्र जाप करता है। जब मंत्र की सिद्धि हो जाती है तब शव अपना मुँह साधक की ओर कर लेता है और उससे बोलने लगता है। प्राचीनता का शव अनुशीलन करने पर शक्ति-समन्वित हो साधक से बोलने लगता है। यही शव-साधना का मूल तत्व है। इस संग्रह के अधिकांश लेख इसी शव-साधना की भावना से अनुप्राणित हैं किन्तु द्विवेदी जी ने केवल शव-साधना ही नहीं की है वरन् उन्होंने जीवित की भी सेवा की है। प्राचीनता के भक्त होते हुए भी पंडित जी अपने विचारों में सामुदायिकता से दूर रहे हैं। वे संस्कृत का अध्ययन और अनुशीलन इसलिये जरूरी नहीं समझते हैं कि वह किसी सम्प्रदाय विशेष की देव-भाषा है वरन् इसलिये कि उसके साहित्य में, जो यूनान और रोम के सम्मिलित साहित्य से भी अधिक विस्तृत है, मानव अनुभव का अमूल्य भण्डार है। फिर भी वे हिन्दी का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करते हैं। छन्दों के विषय में, वे उसको उर्दू और बङ्गला की भांति अपने स्वतन्त्र उच्चारण के अनुकूल छन्दों की साधना का परामर्श देते हैं। वे खड़ी बोली को कवि के विशेषाधिकारों से वञ्चित रखने के पक्ष में नहीं हैं। राष्ट्र-भाषा और प्रान्तीय बोलियों की जीवित समस्या पर पंडित जी ने विचार किया है। उनकी सलाह इस प्रकार है:—

"(१) शिशुओं और अनपढ़ प्रौढ़ों की शिक्षा का अध्ययन स्थानीय बोलियाँ होनी चाहिये पर इस बात का प्रयत्न होना चाहिए कि वे लोग यथाशीघ्र केन्द्रीय भाषा सीख जायें। (२) उच्चतर शिक्षा और साहित्य का माध्यम केन्द्रीय भाषा को ही होना चाहिये और इस बात का भी प्रयत्न होना चाहिये कि केन्द्रीय भाषा बोलियों से दूर न पड़ने पावे।" मेरी समझ में इसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि केन्द्रीय भाषा में अधिक विकृत और स्वेच्छाचार न आने पावे। उसमें लचीलापन अवश्य रहे किन्तु वह एक निश्चित परिमाण से अधिक न बहकने पावे।

द्विवेदी जी ने मधुर रस की साधना के विषय में विवेचन करते हुए बतलाया है कि मधुर रस और लौकिक शृङ्गार में यह अन्तर है कि इसके आलम्बन वास्तव में स्थायी और

शाश्वत हैं और इसका सम्बन्ध आनन्दमय कोष से है। आलम्बन के स्थायी और अस्थायी का भेद तो मानना पड़ेगा किन्तु मेरी समझ में रस की प्रक्रिया दोनों में एक सी ही है। लौकिक रस भी आत्मा के सात्विक आनन्द के प्रकाश से ही चमत्कृत होते हैं अन्तर केवल इतना ही हो सकता है कि मधुररस के आलम्बन की सात्विकता में आलम्बन और आश्रय की सात्विकता का अधिक से अधिक सामञ्जस्य रहता है।

आलोचना के आदर्शों के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने अधिक नहीं कहा है तथापि समीक्षकों की समीक्षा सम्बन्धी लेख में उनके तत्सम्बन्धी विचारों की क्षीण झलक मिल जाती है। वे समालोचना में शास्त्र के स्वतन्त्र मानदण्ड के ही अधिक पक्ष में मालूम होते हैं किन्तु उसे वे भी स्थिर मानदण्ड नहीं बनाना चाहते। वे लेखक में ईमानदारी चाहते हैं और उसके प्रभावों को थोड़ा महत्व देते हैं। श्री रामनरेश त्रिपाठी की तुलसीदास विषयक आलोचना की समीक्षा करते हुए बतलाया है कि गुसाईं चरित में सत्यं शिवं सुन्दरम् का उल्लेख किया गया है। उसमें त्रिपाठीजी ने इस वाक्य को प्राचीन संस्कृत साहित्य का वाक्य माना है। इस भूल की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए द्विवेदीजी ने उसे अठारहवीं शताब्दी के फ्राँसीसी लेखक का कथन बतलाया है। यह भी उतना ही गलत है जितना कि त्रिपाठीजी का कथन कि यह प्लेटो के The True, The Good, The Beautiful का अनुवाद है। इसका पर्याय यदि संस्कृत साहित्य में मिलता है तो वह है गीता में बतलाया हुआ सात्विक तप का आदर्श जिसमें सत्यं प्रियं हितं का उल्लेख हुआ है। गतिशील चिन्तन में हमको द्विवेदी जी की प्राचीन प्रेम से प्रेरित कल्पना की उड़ान का परिचय मिलता है।

द्विवेदी जी के निबन्धों की भाषा संस्कृत प्रधान ही नहीं वरन् संस्कृति से ओत प्रोत है। चित्रण का कौशल गतिशील चिन्तन के प्रारम्भिक दृश्य में मिलता है। इक्के वाले के वर्णन में बोलते चित्रपट की सी झलक आ गई है। ये लेख ज्ञान-वृद्धि और मनोरञ्जन दोनों के लिये पठनीय है।

—गुलाबराय

उपन्यास

कभी न कभी—(सामाजिक उपन्यास) लेखक श्री वृन्दावनलाल वर्मा, प्रकाशक—[illegible] मन्दिर, जवाहरगंज, जबलपुर। पृ० सं० [illegible]। मूल्य [illegible])

वर्माजी हिन्दी के अग्रगण्य उपन्यासकारों में हैं। हिन्दी में उपन्यासों की विविध शैलियों का प्रयोग हुआ है, उनमें से वृन्दावनलाल वर्मा की शैली अत्यन्त सरल, स्वाभाविक होते हुए भी ऐसी अनोखी है कि उसका अनुकरण नहीं हो सका है। प्रस्तुत उपन्यास में भी उनकी अपनी शैली की सभी विशेषतायें मिलती हैं। बुन्देलखंडीय प्रकृति का सहज चित्रण पात्रों के चरित्रों तथा स्थान और स्थलों के वर्णनों में विद्यमान है। देवजू तथा लछमन इन दो मजदूरों को कोई भी पहचान सकता है। रोमांस भी तो उपन्यास की कुञ्जी ही है। लेखक का विश्वास है कि "जीवन में रोमांच (रोमान्स) है। जीवन में उसका स्थान और आकर्षण है। ढूंढने पर मजदूर-जीवन में भी उसकी सरसता मिल सकती है।" इस उपन्यास का रोमांस मजदूर जीवन का रोमांस है। काम करते-करते मजदूरों के हृदय में भी प्रेम के सोते फूट पड़ते हैं; हरलाल मजदूर और उसकी लड़की भी वहीं काम पर आ गये हैं जहाँ देवजू और लछमन मजदूरी करते हैं। लछमन देवजू को बड़ा भाई मानता है, दोनों अलग-अलग स्थानों के रहने वाले मजदूर हैं, पर सहृदय हैं और मालिकों के अत्याचार से पीड़ित एक दूसरे की सहायता के लिए परस्पर घनिष्ठ हो जाते हैं, इतने कि भाई-भाई बन जाते हैं। एक को दूसरे के बिना जीवन भारी हो गया है। तब हरलाल की लड़की को लछमन अपने बड़े भाई देवजू के योग्य समझता है, पर हरलाल देवजू से विवाह नहीं करना चाहता, वह लछमन को पसन्द करता है, और लड़की भी। लछमन के मन का संघर्ष, देवजू का विक्षोभ और शौर्य लड़की में भोला-भालापन होते हुए भी त्रिया चरित्र की किंचित झलक—इन सब में भेंट की रसिकता—इस उपन्यास के उत्तर भाग को रोमांस की रंगीनी से व्यस्त और आर्द्र कर देती है। कहानी के कथा-सूत्र की भाँति घटना के आश्रय से ही पात्रों के चरित्र और मर्म को यह उपन्यास उपस्थित

करता है। पात्र यद्यपि निम्न वर्ग के हैं, फिर भी उनमें सहज आत्माभिमान, शुद्ध सहानुभूति और शौर्य तथा दृढ़ता मिलती है। मजदूरों की दशा और मालिकों तथा मेटों के अत्याचार की यह रोचक कहानी वर्माजी की आधुनिक युग के लिए अच्छी देन है।

डा० कोटनीस की अमर कहानी—लेखक श्री अहमद अब्बास, अनुवादक श्री राजेश्वर गुरु एम०ए०, प्रकाशक—चलचित्र कार्यालय, रूपान्तर प्रकाशन, दीक्षित-पुरा, जबलपुर। पृ० सं० ८०, मूल्य १)

डा० कोटनीस उस डाक्टरी मिशन के एक सदस्य थे जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने चीन की सहायतार्थ भेजा था। इस मिशन के सदस्यों को अनेकों संकट झेलने पड़े थे, और भयंकर तथा रोमहर्षक क्षणों में होकर जीवन-यात्रा करनी पड़ी थी। मिशन में तीन डाक्टर थे, दो तो भारत लौट आये। कोटनीस ने चीन की एक युवती से विवाह कर लिया और चीन में ही रह गये। लेखक ने यत्न किया है कि कहानी को रोचक बनाया जाय, अनुवादक अनुवाद में विशेष सफल नहीं हुआ। ऐसी पुस्तक में जो चुस्ती होनी चाहिए थी उसका अभाव मिलता है। यह विषय किसी अधिकारी की लेखनी से लिखा जाता तो अच्छा होता।

—सत्येन्द्र

ध्रुवा—मूल लेखक—श्री राखालदास वंद्योपाध्याय, अनुवादक—पं० बलदेवप्रसाद शुक्ल, प्रकाशक—शक्ति कार्यालय जंगमवाड़ी काशी। पृ० सं० १२८। मूल्य १)

श्री राखालदास वंद्योपाध्याय बँगला के सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखक हैं, उनकी रचनाओं के पीछे गंभीर अध्ययन और सामयिक परिस्थितियों के सम्यक् विवेचन की छाप रहती है। प्रस्तुत उपन्यास गुप्त कालीन राज्य घराने की स्थिति, उस समय की राजकीय व्यवस्था, गुप्त और शक वंश के आपस के संघर्ष तथा तत्कालीन अवस्था का परिचय देता है। उपन्यास उच्चकोटि का है और प्रस्तुत संस्करण में उसको और सरल तथा रुचिपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। श्री राखालदास के लिखने की शैली ऐसी है जिसमें उपन्यास और नाटक दोनों का आनन्द आता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में 'ध्रुवा' का एक अच्छा स्थान है।

अमरशहीद—लेखक—श्री अनन्त, प्रकाशक—कलकत्ता स्टूडेंट्स लाइब्रेरी। पृ० सं० १३३। मू० १॥)

साधारण पाठकों के मनोरंजन के लिये यह उपन्यास अच्छा है, वैसे उपन्यास के अच्छे गुण इस पुस्तक में नहीं आ पाये हैं। इसमें केवल घटनाओं का तारतम्य है और लेखक ने उसमें अपने कितने ही उद्देश्यों को पूर्ण करने की कोशिश की है जिससे उपन्यास-कला का आनन्द पुस्तक में नहीं आता। किसी नवसिखिए की कहानी का चित्र ही दिमाग में रह जाता है। हाँ उससे लेखक की राष्ट्रीय भावना का पूरा परिचय मिल जाता है।

मनोवेदना—लेखक—श्री अम्बिकाप्रसाद वर्मा 'दिव्य' प्रकाशक—विद्या-भास्कर बुकडिपो चौक, बनारस। पृष्ठ सं० ६२। मूल्य १)

असमान सम्बन्ध और समाज की रूढ़ियों के कुपरिणामों की घटनाएँ आए दिन हमारे सामने आती रहती हैं। लेखक की पुस्तक की यही कथा-वस्तु है। मालूम होता है उपन्यास लिखने की दिशा में लेखक का यह प्रारम्भिक प्रयत्न है। अपने क्षेत्र में बहुत साधारण कोटि की यह रचना है।

कहानी

वह—लेखक—श्री प्रो० अम्बालाल जोशी। प्रकाशक—हिन्दुस्तानी बुकडिपो, लखनऊ। पृष्ठ संख्या १४८, मूल्य १॥)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक की सात कहानियाँ संग्रहीत हैं। लेखक ने 'वह' के आधार पर अनेक कहानियों की रचना कर अपने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को व्यक्त करने की चेष्टा की है। सभी कहानियाँ राजस्थान की हैं, उनके कथानक, पात्र, भाषा प्रायः सभी चीजें राजस्थानी हैं। करुण चित्र उपस्थित करने में लेखक को काफी सफलता मिली है। दो एक कहानी भाव पूर्ण तथा कला पूर्ण हैं।

कुछ कहानियाँ इतनी लम्बी हैं कि पढ़ते-पढ़ते पाठक का जी ऊबने लगता है। लम्बी कहानियाँ कला की दृष्टि से भी अच्छी नहीं कही जा सकतीं। कहानी की सफलता इसी में है कि वह कम से कम समय में अधिक से अधिक मनोरञ्जक पठन सामग्री उपस्थित करे। इस कसौटी पर कसने पर

'याचना' कोरी भावुकता का नमूना रह जाती है। कुछ कहानियाँ वास्तव में सुन्दर और पढ़ने योग्य हैं।

कीमती आँसू—लेखक-रा० र० खाडिलकर। प्रकाशक-शिवाजी प्रकाशन मन्दिर, लखनऊ। पृष्ठ संख्या ७२, मूल्य ॥।)

प्रस्तुत संग्रह में लेखक की १० कहानियाँ हैं। कुछ कहानियों का कथानक सामाजिक तथा कुछ का राजनैतिक आधार लिये हुए है। वर्णन सजीव और पात्र व्यवहारिक हैं। कल्पना ने भी वास्तविकता में प्राण डाल दिये हैं। समाज के दम्भी और पतित धार्मिक व्यक्तियों का व्यङ्ग-चित्र लेखक ने सफलता पूर्वक दिया है। कुछ को छोड़ कर बाकी सभी कहानियाँ कलात्मक कहानियों की श्रेणी में आजाती हैं।

समाज-सुधारकों की स्वार्थ-परता और ढोंग पाठकों की आँखों के आगे नाचने लगता है। नारी-समस्या और भी जटिल हो जाती है, 'आग-पानी' और 'भूख' इसी के उदाहरण हैं। 'प्रदर्शिनी' में वाह्य सौन्दर्य पुरुष को आकर्षित करता है पर वेश्या अपना दिल किसी को नहीं दे सकती, उसका शरीर चाँदी के चन्द टुकड़ों पर बिकता है। कला और सौन्दर्य का उपासक किशोर भी मान लेता है कि सच्चे प्रेम में ही सौन्दर्य निहित है। 'लता, मुक्ता और पृथ्वी' स्त्री समस्या पर प्रकाश डालती है। 'आखिरी मुलाकात के बाद' कहानी 'जीवन एक प्रयोग है' का सुन्दर चित्र उपस्थित करती है। 'अण्डमान का रहस्य' में बृटिश राजनीतिज्ञों की कूटनीति का भण्डाफोड़ है। भाषा सजीव तथा शैली प्रवाहमयी है।

—तारासिंह धाकरे

पागल—अनुवादक-चौधरी शिवनाथसिंह शांडिल्य। प्रकाशक-नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर। पृ. ५६ मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक खलील जिब्रान के दी मैड मैन' का हिन्दी रूपान्तर है। खलील जिब्रान सीरिया में उत्पन्न अरबी तथा अँग्रेजी भाषा के महान लेखक हैं। वे एक तत्वदर्शी और कला-प्रेमी तथा कलाकार भी थे। 'दी मैड मेन' (पागल) उनकी एक उच्च कोटि की रचना है। इसमें विद्वान खलील जिब्रान ने हृदय गत भावों को छोटी-छोटी आख्यायिकाओं का जामा पहना कर उन्हें बड़े ही मनोरञ्जक रूप में अमर किया है। जिस प्रकार दूध में मक्खन, शर्बत के अन्दर मिठास अथवा वायु में गन्ध भरी रहती है उसी प्रकार खलील जिब्रान की एक-एक कहानी, दृष्टान्त अथवा चित्रों में जीवन का मर्म, जीवन-रहस्य अथवा उसका कर्तव्य भाव छिपा हुआ है। उसकी वाणी में मध्य कालीन संत अथवा नबियों के प्रेम की छाप है। अनुवाद सुन्दर हुआ है और उसमें मूल पुस्तक का सा आनन्द आता है।

—रमेश वर्मा

जीवन-चरित्र

विश्व की विभूतियाँ—लेखक—श्री हरिभाऊ उपाध्याय। प्रकाशक—हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग। पृष्ठ सं० १५१, मूल्य १॥)

महात्मा गान्धी, लेनिन, सुकरात, [illegible] (चीन), टैगोर, गेरीबाल्डी, कमाल अतातुर्क आदि विभिन्न देशों के सोलह पुरुषों की संक्षिप्त जीवनियाँ इस पुस्तक में आ गई हैं। राजनैतिक पुरुष ही नहीं बल्कि न्यूटन, क्यूरी दम्पत्ति, जगदीशचन्द्र वसु आदि विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न ध्येयों की आराधना में जीवन बिताने वाले विश्व-विश्रुत व्यक्तियों की जीवनियाँ भी इस संग्रह में हैं। विद्यार्थियों के लिये पुस्तक विशेष लाभप्रद है!

राजस्थान के रमणी-रत्न—लेखक-श्री जगदीश-प्रसाद माथुर 'दीपक', प्रकाशक-मीराँ कार्यालय, अजमेर; पृष्ठ सं० १३२, मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक में राजस्थान की १६ श्रेष्ठ महिलाओं की जीवन-झांकियाँ दिखाई गई हैं। पुस्तक का उद्देश्य उन्हीं महिलाओं को कहानी का विषय बनाना प्रतीत होता है, जिन्हें भारतीय इतिहास के पृष्ठों में नहीं के बराबर स्थान मिला है और जिन्हें राजस्थान के बाहर कम लोगों ने जाना है, क्योंकि मीराँबाई और कृष्णाकुमारी जैसी विख्यात राजपूत महिलाओं का उल्लेख इसमें नहीं हुआ। परन्तु अन्तिम अध्याय में पद्मिनी की कहानी न जाने किस प्रयोजन से स्थान पा गई है, और वह भी अपने महत्व के अनुरूप विस्तार नहीं पा सकी।

इनमें वर्णन-शैली की प्रथकता है, किसी का सम्पूर्ण जीवन-चित्र पूरे विस्तार के साथ है और किसी के जीवन की

कोई विशेष घटना ही संक्षेप में देकर काम चलाया गया है। करणी माता, पल्लू सती और 'मरतां मां न संभारजे' शीर्षक अध्यायों में चित्रित 'नारी' का स्वरूप पाठक-पाठिकाओं के मन में स्फूर्ति भरने में समर्थ है।

लेखक ने शैली की एकरूपता के साथ प्रूफ की अशुद्धियों, छपाई, सफ़ाई और जिल्द की कटिंग पर ध्यान दिया होता, तो पुस्तक की सफलता की विशेष आशा थी।

क्रान्ति और कुमारियाँ—लेखक और प्रकाशक, उपर्युक्त, पृ० सं० १२८, मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक बारह अध्यायों में विभक्त हुई है, जिनमें बंगाल की बन्दी बालाओं और आसाम की वीर बाला रानी गुइदालो की जीवन-चर्चा होने के साथ ही वीरा फ़िगनर, मेरी स्पिरीडोनोवा जैसी कतिपय विदेशी महिलाओं के स्केच दिये गये हैं। यद्यपि सभी देशी और विदेशी कुमारियों की चर्चा इस पुस्तक का ध्येय नहीं तथापि परिशिष्ट में शृङ्गार की प्रतिमाओं से एक भारत-भक्त अमेरिकन विदुषी का निवेदन तथा स्त्री-पुरुष सम्भोग-सम्बन्ध पर साम्यवाद का दृष्टिकोण देकर लेखक ने नारी-समस्या के अपने इस चित्रण को पूर्णता प्रदान की है।

पुस्तक में एक किसी कुमारी का पत्र भी है, जिससे लेखक को इस पुस्तक के निर्माण की प्रेरणा मिली। पुस्तक के अधिकांश अध्यायों का आरम्भ एक आकर्षक ढंग से हुआ है, और प्राञ्जल भाषा में ये स्केच प्रायः जोश से भरे हैं।

—हरिमोहनलाल श्रीवास्तव, एम० ए०, एल० टी०

नीति

मनन—लेखक-श्री हरिभाऊ उपाध्याय। प्रकाशक—नवयुग साहित्य-सदन, इन्दौर। पृष्ठ संख्या ११३, मूल्य १)

मन के सागर में हर समय विचारों की तरंगें उठा करती हैं। उन तरंगों में सात्विक और ऐसे विचार भी भरे रहते हैं जो जीवन के उपदेश बन जाते हैं। श्री हरिभाऊ उपाध्याय की ऐसी ही पहली दो पुस्तकें हैं 'स्वागत' और बुद्बुद्' इनमें ऐसी ही भाव-लड़ियाँ गूँथी गई हैं। 'मनन' उनकी तीसरी पुस्तक है। इसकी पृष्ठभूमि आध्यात्मिकता है। आगे के शीर्षकों में यही भाव नीति वाक्य और उपदेश का रूप धारण कर लेते हैं। पुस्तक के विचार मनन करने योग्य हैं।

राजनैतिक

रियासती जनता की समस्याएँ—लेखक-श्री बैजनाथ महोदयँ, प्रकाशक—नवयुग साहित्य सदन, इंदौर। पृ० सं० ६२, मूल्य ॥)

देश के भावी शासन में देशी रियासतों का क्या स्थान होगा यह प्रश्न अब प्रमुख रूप में हमारे सामने आरहा है। रजवाड़ों की वैधानिक स्थिति, सार्वभौम सत्ता के साथ उनका सम्बन्ध, राष्ट्रीय आन्दोलन और रियासती शासन के परस्पर सम्बन्ध—इन बातों पर पुस्तक में आज की स्थिति की दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। इस विषय की प्रारंभिक जानकारी के लिए यह पुस्तक उपयोगी है।

मालिक और मजदूर—मूल लेखक-लिओ टालस्टाय अनु०-श्री शोभालाल गुप्त। प्रकाशक-नवयुग साहित्य-सदन, इन्दौर। पृ० सं० ११०, मूल्य १।)

लियो टालस्टाय न केवल रूस की बल्कि विश्व की महान आत्माओं में से एक हैं। रूस की गत पीढ़ी के साहित्य के वह सम्राट हैं। विद्वान और साहित्यकार के अतिरिक्त वह मानव-जीवन के सुख और कल्याण के लिये सोचने वाले तथा उसके एक पथ-द्रष्टा भी हैं। इस पुस्तक में उन्होंने अपने समय के समाज का चित्र अंकित किया है। पहले उन्होंने शोषण का रूप बतलाया है। सुविधा-प्राप्त वर्ग के अन्याय और श्रमजीवियों के कष्टों का चित्रण किया है। इस रोग का इलाज वह व्यक्ति का सुधार करने में पाते हैं। वह किसी सत्ता को स्वीकार नहीं करते। किन्तु सत्ता को मिटाने का उनका मार्ग मानव में आध्यात्मिकता का विकास होना है। इस मार्ग को टालस्टाय से पूर्व अनेकों लोक-हितैषियों ने बताया था। टालस्टाय के युग में चूंकि शोषण का रूप अति उग्र था और उसके कारण संघर्षों ने स्थायी रूप धारण कर लिया था, इसलिये टालस्टाय के कथन में पहले सुधारवादी पुरुषों के कथनों से

अधिक उग्रता और स्पष्टता है। उसमें नवीन परिस्थिति का विवेचन खूबी और विद्वत्ता के साथ किया गय है। लेखक के मत से कोई सहमत हो या न हो, किन्तु उनके गम्भीर विचार, उनके कथन की सचाई, विद्वत्ता और लोकहित की भावना, इन सब बातों को समझने के लिये इस पुस्तक को पढ़ना चाहिये। पुस्तक के अनुवाद में मूल भावों का पूर्ण निर्वाह किया गया है। —र

परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्यसत्ता की उत्पत्ति—लेखक-फ्रेडिरिक एंगेल्स; अनुवादक-राहुल सांकृत्यायन और नेमीचन्द्र जैन; प्रकाशक-जन-प्रकाशन गृह, बम्बई; पृष्ठ ८४; मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक में मूल ग्रन्थ के ९ अध्यायों में से केवल तीन ही अध्याय लिये गये हैं, अतएव राज्यसत्ता की उत्पत्ति का पूर्ण विवेचन इसमें नहीं किया गया, पुस्तक के मूल विषय के सम्बन्ध में इतना निर्देश कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि तथ्यों का जो विवेचन इस पुस्तक में किया गया है, उस पर सभी विद्वान एक मत नहीं हैं। फिर भी, यह तो निर्विवाद है कि हमारे समाज का ढाँचा एक स्थिर वस्तु नहीं है; समय के साथ उसमें परिवर्तन हुए और होते रहेंगे।

अनुवाद निश्चय ही सुन्दर हुआ है, राजनीति के उन विद्यार्थियों के लिये, जिनमें इतना धैर्य है कि पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ कर उसकी मूल विचार-धारा को समझने का प्रयत्न करें, यह पुस्तक निश्चय ही उपयोगी सिद्ध होगी।

देशी राज्यों की अन्तिम ज्योति—लेखक-राजकुमार मानसिंह; प्रकाशक-राजस्थान साहित्य-मंडल, अजमेर; पृष्ठ संख्या १७४, मूल्य २)

प्रस्तुत पुस्तक में उपन्यास की सी शैली अपनाते हुये लेखक ने देशी राज्यों में उथल-पुथल के कुछ चित्र उपस्थित किये हैं। प्रथम दो परिच्छेदों में वह पुराने ढङ्ग के धार्मिक राजा के राज्य-काल में सुखी प्रजा का वर्णन करता है। तत्पश्चात् रीजेन्सी-कौन्सिल की प्रजा के प्रति उपेक्षा दिखाता है। फिर राजकुमार की शिक्षा, उसका राज्याधिकारी होना, उसका कुशासन, स्वार्थपूर्ण नीति, आय बढ़ाने की धुन के चित्र उपस्थित करता है। इसी सम्बन्ध में लेखक पुराने जागीरदारों की हिमायत भी करता है। फिर वह प्रजा के आन्दोलन, प्रजामण्डल के शासन तथा जन-हित कार्यों की चर्चा करता है। किन्तु कुछ दिन बाद पूँजीपति षडयन्त्र कर राज्यसत्ता पर अधिकार कर लेते हैं और दमन द्वारा काम चलाने का प्रयत्न करते हैं। बाद में प्रजा के सच्चे नेताओं के अनुरोध पर राजा अपने राज्य में पुनः प्रवेश करते हैं और युवराज को राजगद्दी दे तथा उत्तरदायी शासन स्थापित कर चल देते हैं।

लेखक का प्राचीन राजाओं तथा जागीरदारों की हिमायत करना और यह दिखाना कि उनके समय प्रजा सुखी थी, और राज्य-कार्य प्रजा के हित के लिये होते थे, अखरता है। स्पष्ट है कि इतिहासकारों की दृष्टि में इस विचार को निष्पक्ष नहीं कहा जा सकता। लेखक का उद्देश्य न तो उपन्यास लिखने का प्रतीत होता है और न ऐसा करने में वह सफल ही हुआ है। हाँ, कथा का रूप दे देने से रोचकता अवश्य बढ़ गई है।

आशा है सर्व साधारण को देशी राज्यों की समस्या को कथा-साहित्य के सुगम मार्ग द्वारा समझाने में प्रस्तुत पुस्तक सहायक होगी।—नवीन नारायण अग्रवाल, एम.ए.

बालोपयोगी

संसार के बालक—लेखक श्री तारकेश्वर प्रसाद वर्मा, छपरा; प्रकाशक-पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय और पटना; पृष्ठ संख्या २५१, मूल्य १।)

आलोच्य पुस्तक में लेखक ने संसार के बाल-जीवन का रेखा-चित्र उपस्थित करने का सफल प्रयत्न किया है। विभिन्न देशों के नाम पर पुस्तक २८ अध्यायों में विभक्त हुई है। इस सूची में संसार के सभी प्रमुख देशों का समावेश हो गया है, पर अरब, फ्रांस, मिस्र आदि कतिपय देशों को भुला देना उपयुक्त नहीं। अन्य देशों की समता में भारत के बाल-जीवन का वर्णन भी कम है।

प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में लेखक ने संक्षिप्त रूप से उस देश का भौगोलिक वर्णन अथवा उसकी विभिन्न विशेषताएँ देते हुए वहाँ के बाल-जीवन की जानकारी जुटाई है।

बाल-जीवन की इस पुस्तक में दो-एक स्थानों पर साधारण निवासियों की रहन-सहन को अनावश्यक विस्तार दिया जाना भी उपयुक्त नहीं कहा जायगा।

लेखक की यह पुस्तक ज्ञातव्य बातों से पूर्ण है, और इसमें कितने ही सुन्दर चित्र दिये गये हैं। बाल-साहित्य में यह निश्चय ही एक महत्वपूर्ण भेंट है।

— हरिमोहनलाल श्रीवास्तव, एम० ए०

नसीहत की कहानियाँ— लेखक—चौधरी शिवनाथसिंह शांडिल्य। प्रकाशक—हिन्दी मन्दिर प्रयाग। मूल्य ।≈) पृष्ठ संख्या ४४।

इस पुस्तक में छोटी-छोटी सोलह कहानियाँ हैं। हर एक कहानी से बालकों को कुछ न कुछ सीख मिलती है।

कौआ चला हंस की चाल—लेखक—चौधरी शिवनाथसिंह शांडिल्य। प्रकाशक—हिन्दी मन्दिर प्रयाग। मूल्य ।≈) पृष्ठ संख्या ४८।

इस पुस्तक में छः कहानियाँ हैं। साधारण लोगों में कहानी कहने और सुनने का शौक होता है, ये कहानियाँ उसी प्रकार की हैं। सभी कहानियाँ मनोरञ्जक हैं।

नया जादूगर—लेखक—विष्णुदेव तिवारी। प्रकाशक—आदर्श पुस्तक मन्दिर इलाहाबाद। मूल्य ।≈) पृष्ठ सं० ३२।

यह छोटे बालकों के पढ़ने योग्य पुस्तक है। नौ कहानियाँ दी गई हैं। कहानियों के साथ चित्र भी हैं।

गदहेराम विलायत को—लेखक—शेखर। प्रकाशक—आदर्श पुस्तक मन्दिर इलाहाबाद। पृष्ठ ३२, मूल्य ॥)

इस में दस छोटी-छोटी कहानियाँ हैं। बालक उन्हें पढ़ कर खूब हँसेंगे। चित्रों से पुस्तक की कीमत बढ़ गई है।

दिमागी खेल—लेखक—श्री राममूर्ति मेहरोत्रा एम० ए०, बी० एड०। प्रकाशक—कल्याण साहित्य मन्दिर प्रयाग। मूल्य प्रति भाग ।≈)

यह पुस्तक-माला शिक्षार्थियों के लिये बड़ी उपयोगी है। दिमाग से सम्बन्ध रखनेवाली बातों को खेल के रूप में प्रगट करना—यही इन पुस्तकों की खूबी है। पहले भाग में साधारण अङ्कगणित की बातें दो आदमियों की आपस की बात-चीत के साथ शुरू होती है। हिसाब किताब के मामले में मनुष्य की साधारण समझ का विकास कैसे होता है, प्रारम्भिक कक्षा का छात्र किस प्रकार अङ्कगणित में उन्नति कर सकता है, इसकी शिक्षा यह पुस्तक देती है।

दूसरे भाग में साइंस की बातें इसी ढँग से बताई गई हैं। तीसरे भाग में नेचरस्टडी की बातें हैं। रमेश वर्मा

विविध

नया साहित्य—(द्विमासिक पत्र) प्रकाशक-जन प्रकाशन गृह, सैंडहर्स्ट रोड बम्बई, मूल्य प्रति अंक १) पृ० संख्या सौ।

बम्बई के जन प्रकाशन-गृह ने कम्युनिस्ट विचारधारा सम्बन्धी साहित्य प्रकाशित करने में देश भर में ख्याति प्राप्त कर ली है। इस संस्था की ओर से प्रचारात्मक साहित्य काफी निकला है। सैद्धान्तिक विषयों पर अनुवादित पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। "नया साहित्य" प्रकाशन के साथ उसने अब अपने एक साहित्यिक अंग की कमी को पूरा करने की ओर कदम बढ़ाया है। यह पत्र साल भर में छः अंक प्रकाशित करेगा। हिन्दी के प्रायः सभी प्रगतिशील लेखकों का सहयोग इसे प्राप्त है। अब तक के प्रकाशित तीनों अङ्कों में हिन्दी के अनेक प्रतिष्ठित लेखकों के लेख इसमें छपे हैं। 'नया साहित्य' साहित्यिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करेगा, इसकी हमें पूर्ण आशा है।

हिमालय—सम्पादक—श्री शिवपूजनसहाय तथा श्री रामवृक्ष बेनीपुरी। प्रकाशक—पुस्तक भंडार, हिमालय प्रेस, पटना। मूल्य प्रति अंक १) पृ० सं० १०४।

'नया साहित्य' के समान ही यह मासिक पत्र भी पुस्तक रूप में निकलता है। लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान और साहित्यिक-जनों के लेखों का इसमें सुन्दर चयन हो रहा है। आरम्भ में देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद की आत्मकथा के कुछ पृष्ठ रहते हैं जो बड़े रोचक तथा प्रत्येक देश प्रेमी के पढ़ने योग्य हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे विद्वानों के भी लेख इसमें छप रहे हैं। इसका अन्तर और बाहर दोनों सुन्दर और आकर्षक है। प्रत्येक अंक में सामयिक साहित्य (समाचार पत्रों) का सम्पादक द्वारा पर्यालोचन होता है—वह इसकी बड़ी विशेषता है। हिन्दी में हिमालय अपने ढंग का अपूर्व प्रयास है। आशा है वह अपना धरातल हिमालय जैसा उच्च बनाए रख कर अपने नाम को सार्थक करेगा। रमेश वर्मा

आलोचना की चर्चा

१—मराठी भाषा में समालोचना-साहित्य—

मई और जून के 'हंस' में श्री प्रभाकर माचवे का एक परिचयात्मक लेख 'आधुनिक मराठी साहित्य' पर निकला है। इसका निम्न अंश उसके आलोचना साहित्य का परिचय देगा :—

(६) साहित्य-समालोचना काव्य के सम्बन्ध में 'काव्य-चर्चा' (अनेक लेखक) सन् १६२५ में प्रकाशित महत्वपूर्ण ग्रन्थ के बाद 'अभिनव काव्य प्रकाश' (रा० श्री० जोग) 'सारस्वत समीक्षा' (आगाशे) काव्यालोचन (द० के० कलकर) छन्दोरचना (मा० त्रि० पटवर्धन) रस-विमर्श (बाटवे) आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। सौंदर्य शास्त्र विषयक तथा कलासिद्धान्त चर्चा के सम्बन्ध में प्रो० फडके के 'प्रतिभासाधन' के पश्चात् आधुनिक महत्व पूर्ण ग्रन्थों में बा० सी० मर्ढेकर की 'वाङ्मयीन महात्मा' तथा 'आर्ट्स-ऐण्ड मैन' का मराठी अनुवाद ; प्रभाकर पाध्ये का 'कलेची क्षितिजें' तथा रा० श्री० जोग का 'सौंदर्यबोध व आनन्द शोध नामक ग्रन्थ महत्वपुर्ण हैं। समाजवादी दृष्टिकोण से साहित्य के इतिहास की ओर देखने वाले जी पेडसे के 'साहित्य आणि समाज जीवन' तथा पु० य० देशपाण्डे की उस पर टीका जो तवें मूल्ये नामक उसके ग्रन्थ में शीघ्र ही प्रकाशित होगी। 'पुरोगामी साहित्य' नामक प्रो० फडके तथा आचार्य जावडेकर की वादविवादात्मक किताब ; इनके अलावा वा० ना० देशपाण्डे, श्री० के० क्षीरसागर, बा० ल० कुलकर्णी, रा० शि० वालिंचे, माचवे आदि के फुटकर लेख और 'सुवर्णतुला,' विचारसमीक्षा' या 'साहित्याचा ध्रुवतारा' आदि पुस्तकें भी उल्लेखनीय हैं।

२—नवीन हिन्दी कहानी—

उक्त शीर्षक का एक विवेचनात्मक लेख जून के 'हंस' में श्री नन्द दुलारे बाजपेयी का प्रकाशित हुआ है। उसका अन्तिम पैरा हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं:—

हम मानते हैं कि आज का युग मतवादों और विचारों के प्रचार का युग है। कहानी-लेखक कमरे में बैठ कर, पुस्तकों को पढ़ कर कहानी लिखने को बाध्य हैं। उनका सम्पर्क देश की जनता और परिस्थितियों से एकदम समीपी नहीं है। हम यह भी मानते हैं कि इन प्रतिबन्धों के रहते भी कुछ बहुत ही सुन्दर कहानियां हिन्दी में लिखी गई हैं। कहानी का माध्यम इस प्रकार के विचार विज्ञापन के अनुकूल भी है किन्तु जनजीवन की बहुलता और व्यापकता, और जीवन के सम्पर्क-जन्य वास्तविक संवेदन इस प्रकार की कहानी में कहाँ से आ सकते हैं? नवीनतम कहानियों में इसलिये रचना चमत्कार और बुद्धिवाद का प्राधान्य रहता है। प्रेमचन्द की कहानियों में जो वास्तविक जीवन संपर्क और सहानुभूति है अथवा 'प्रसाद' की कहानियों में ऐतिहासिक कल्पना की मनोरमता के साथ मानव स्वभाव की विविधता और परिस्थितियों का जो वैचित्र्य है, वह नवीन कहानियों में बहुत कुछ विरल है। यशपाल और अज्ञेय आदि नवीन कहानी के प्रतिनिधि लेखक हैं। श्री राहुल और भगवत शरण उपाध्याय की ऐतिहासिक कहानियाँ भी उल्लेखनीय हैं। इन सभी लेखकों में वास्तविक जीवन-सम्पर्क की कमी खटकती है।

३—कविता और दर्शन—

जून की 'सरस्वती' से श्री जगन्नाथ शर्मा एम० ए० लिखित 'कवि और कविता' का यह अंश पाठक पसन्द करेंगे—

कविता सत्य के शिव अंश का सुन्दर चित्रण है। दर्शन सत्य को सत्य के रूप में पेश करता है; इससे वह प्रायः कुछ कटु-सा लगता है। धर्म सत्य को शिव रूप देता है, इससे लोग इसे मानने की कोशिश करते हैं। लेकिन कविता एक कदम और आगे बढ़ जाती है। वह सत्य को शिव ही नहीं, सुन्दर भी बना देती है। लोग अब सत्य को मानने के लिये बाधित हो जाते हैं।

सृष्टि मङ्गल है। यहाँ कुछ भी असुन्दर नहीं, कुछ भी अशिव नहीं। सत्य, शिव और सुन्दर पर्यायवाची शब्द हैं। अन्तर केवल दृष्टिकोण का है। जो सब में सत्य देखता है वह दार्शनिक, जो सब में शिव देखता है वह धार्मिक, और जो सब जगह सुन्दर देखता है वह प्रेमी; और जो सत्य, शिव और सुन्दर तीनों को मिला देता है वह कवि या भक्त! कवि मर्मज्ञ है, नाम का नहीं किन्तु वास्तविक तत्त्वदर्शी। कवि विश्लेषण नहीं करता, संश्लेषण करता है। अन्तिम तथ्य तक पहुँचने के लिये और सब जगह सुन्दर, शिव और सत्य तीनों को देखने के लिए कवि को वेदान्ती होना पड़ता है। ज्ञान, कर्म और भक्ति, जब ये तीनों योग हो जाते हैं तब कविता प्रस्फुटित होती है।

सम्पादकीय

आठवें वर्ष में प्रवेश—

इस अङ्क के साथ 'साहित्य-सन्देश' अपने जीवन के आठवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। उसका सातवां अङ्क मार्च १९४६ का अङ्क था, पर वह निकला था मई के अन्त में। फरवरी से मई तक हमारा प्रेस बीमार रहा, उसकी मशीनों और टाइप आदि में आवश्यक परिवर्तन किया गया जिसके कारण पत्र निकलने में असाधारण विलम्ब हो गया और हम एक दम तीन महीने पिछड़ गये। चाहिए तो यही था कि इन तीन अङ्कों को अलग-अलग निकाल कर क्रमशः जुलाई तक पहुँचते—पर एक महीने में चार अंक निकालना न तो हमारे लिये सम्भव था, न पाठकों के लिये ही इष्ट। पोस्ट आफिस भी शायद उसे स्वीकार न करता। संयुक्त अंक निकाल कर यह कमी पूरी की जा सकती थी—पर संयुक्त अंक तभी शोभा देता है जब वह कोई विशेषता लिए हुए हो। यह भी इतनी जल्दी संभव न था। ऐसी दशा में हमने निश्चय यह किया है कि पिछले महीनों का एक संयुक्त अंक तो पुस्तक-परिचय के रूप में अलग निकालें और नए वर्ष में प्रवेश जुलाई से करें। इसमें पाठकों को समय पर अंक मिल जायगा और उनकी कोई हानि भी न होगी। पिछले तीन अंकों के बजाय हम उनका वर्ष तीन महीने आगे बढ़ा देंगे। यों यह जुलाई का अंक १ जुलाई को निकल जायगा और आगे के अंक भी क्रमशः महीने के प्रारम्भ में निकलते रहेंगे।

हमारा भविष्य—

हमें यह लिखते हुए बड़ी प्रसन्नता है कि 'साहित्य-सन्देश' का भविष्य हमें बड़ा उज्ज्वल और स्पष्ट दिखाई देता है। यह तो पाठकों को ज्ञात ही है कि उपन्यास के बाद कविता का युग प्रायः समाप्ति पर है और आगे का युग आलोचना का होगा। आलोचना के इस युग में आलोचना प्रधान पत्र साहित्य-सन्देश का लोकप्रिय होना स्वाभाविक है। हम समझते हैं साहित्य-सन्देश के जितने ग्राहक हैं उतने ग्राहक शायद ही किसी दूसरे साहित्यिक पत्र के हों। साहित्य-सन्देश की लोक-प्रियता ने हमारे उत्तरदायित्व को और भी बढ़ा दिया है। एक विद्वान का कथन है कि आज हमारी सब से बड़ी समस्या यह है कि हम क्या पढ़ें? साहित्य-सदेश इस दिशा में और भी ईमानदारी तथा तत्परता से आगे बढ़ने का संकल्प कर चुका है कि वह पाठकों को इस सम्बन्ध में अपना निर्णय करने में पूरी सहायता दे। हमने यह भी अनुभव किया है कि हमारा पत्र लेखकों के लिये भी प्रेरणा तथा दिशा-निर्देश का कार्य करता है; इस ओर से भी हम निश्चिन्त नहीं हैं। इन्हीं सब उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हमने साहित्य-सन्देश के सम्पादन में हिन्दी के दो विद्वानों का और भी घनिष्ठ सहयोग प्राप्त कर लिया है। वे हैं श्री नगेन्द्रजी तथा श्री सत्येन्द्रजी। इस सहयोग से हमारा पत्र और भी मूल्यवान तथा उपयोगी हो जायगा, ऐसा सभी मानेंगे। इससे साहित्य-सन्देश जहाँ और भी लोक-प्रिय होगा, वहाँ वह प्रामाणिक आलोचना देकर पाठकों तथा लेखकों की सहायता भी विशेष कुशलता से कर सकेगा।

साहित्य-सन्देश में प्रकाशित सामग्री को स्थूलतः तीन विभागों में बाँटा जा सकता है। कुछ सामग्री उसमें सिद्धान्त चर्चा के रूप में रहती है। साहित्य के मर्म को जानने के लिए सिद्धान्त आवश्यक पृष्ठ भूमि है। सिद्धान्त साहित्य का शास्त्र ही नहीं दर्शन भी है।

कुछ सामग्री प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में दी जाती है। किसी भी युग के साहित्य की अन्तर्धारा को समझने के लिये साहित्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। प्रवृत्तियाँ ही साहित्य का क्रम-बद्ध सुसम्बद्ध रूप प्रस्तुत करती हैं। तब चर्चा रहती है कलाकार और उसकी कृतियों की। दोनों ही व्यक्ति और व्यष्टि के अध्ययन के रूप में प्रवृत्ति के अङ्गों का अध्ययन है। इन तीनों पर हम जो सामग्री निकट भविष्य में देने का विचार करते हैं, उसकी एक स्थूल रूप-रेखा हमने निश्चित की है, वह यहाँ दी जा रही है:—

सिद्धान्त—

१—काव्य और कल्पना।
२—ध्वनि की मनोवैज्ञानिक व्याख्या।
३—साहित्यकार का युग धर्म।
४—आलोचना की मार्क्सवादी कसौटी।
५—भारतीय काव्य में न्याय-शास्त्र का प्रभाव।
६—आलोचना और मनो विश्लेषण।

७—क्रोचे और हिन्दी लेखक।
८—अलंकारों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या।
९—गुण और रीति।
१०—शुक्लजी के काव्य-सम्बन्धी विचार।
११—भारतीय दृष्टि में काव्य और कला का सम्बन्ध।
१२—स्वस्थ-साहित्य की परिभाषा।

प्रवृत्तियाँ—

१—हिन्दी में वीर-गीत की परम्परा।
२—रहस्यवाद की मनो-विश्लेषणात्मक व्याख्या।
३—विभिन्न युगों में शृङ्गार का तुलनात्मक स्वरूप।
४—छायावादी दृष्टिकोण का विश्लेषण।
५—साहित्य में नैतिक मापदण्ड।
६—हिन्दी कविता में नये प्रयोग।
७—युद्धकालीन साहित्य।
८—अतिवस्तुवाद (Sur realism) और साहित्य
९—उर्दू कविता की नवीन दिशा।
१०—उपन्यास साहित्य की नयी प्रवृत्तियाँ।
११—आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य।
१२—शुक्लजी के पश्चात् आलोचना।

कलाकार और कृतियाँ—

१—इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास।
२—यशपाल के उपन्यास।
३—राहुल के उपन्यास।
४—लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उदय-शङ्कर भट्ट के नाटक।
५—अज्ञेय की कविता।
६—निराला के काव्य में विराट भावना।
७—दिनकर की कविता।
८—नरेन्द्र की कविता का विकास।
९—बच्चन की कविता का विकास-क्रम।
१०—रामकुमार वर्मा के एकांकी।
११—महादेवी के रेखा-चित्र।
१२—गुलाबराय के आत्म-परक निबन्ध।

यह सूची एक परामर्श-मात्र है। हमारे लेखक इन्हीं में से किसी विषय पर अथवा ऐसे ही अन्य विषयों पर अपने निबन्ध साहित्य-सन्देश के लिए भेजने की कृपा करेंगे, यह आशा है। इस विषय सूची से यह विदित हो जायगा कि हम प्राचीन और नवीन सभी युगों के कलाकारों, प्रवृत्तियों तथा सिद्धान्तों पर प्रकाश डालना चाहते हैं। साहित्य-सन्देश पर विद्वानों की सदा कृपा रही है, भविष्य में हमें वह कृपा और भी अधिक मिलेगी, इसके लिए हम विशेष प्रयत्नवान हैं। नये लेखकों को भी साहित्य-सन्देश का सहयोग सदा प्राप्त रहा है, और साहित्य-सन्देश ने सदा उनका उचित सम्मान किया है। इस प्रकार साहित्य-सन्देश इस नये वर्ष में नये उत्साह से प्रवेश कर रहा है।

वह अपने पाठकों से निजी संपर्क भी बनाना चाहता है। अभी तक तो जो हमने अपने स्टैण्डर्ड के योग्य समझा और आवश्यक समझा साहित्य-सन्देश में दिया, ऐसा आगे भी होगा ही, पर हम यह भी चाहते हैं कि पाठकों की रुचि और कठिनाइयों को भी समझें। उनकी जिज्ञासा को भी संतुष्ट करें। प्रयोग के लिए हम आगामी अङ्क से प्रश्न और उनके उत्तर के लिए भी कुछ स्थान दिया करेंगे। पाठकों का समाधान किसी साहित्यिक विषय पर यदि उसके अपने अध्ययन द्वारा नहीं हो पाता तो वह हम से उसका समाधान माँग सकता है, और हम यथासाध्य उसका उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रयोग में सफलता पाठकों के सहयोग से ही मिल सकती है। हम आशा करते हैं, इस दिशा में पाठकों की प्रवृत्ति होगी, और वे इस योजना से लाभ उठायेंगे।

इस प्रकार साहित्य-सन्देश का भविष्य और भी उज्ज्वल है, और वह हिन्दी-भारती की अधिकाधिक सेवा कर सकेगा। अबतक हमें जिनसे सहयोग मिलता रहा है, उनके प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट करते हुए हम उन से और अधिक कृपा की आशा करते हैं।

'साहित्य-सन्देश' का कलेवर बहुत छोटा है। हम उसे बढ़ाना चाहते हैं, इसी अङ्क से बढ़ाना चाहते थे—पर हमें दुःख है कि 'पेपर-कंट्रोल' उसमें बाधक हुआ। अवसर मिलते ही हम इस कमी की पूर्ति करेंगे। हमारा विश्वास है कि हमें हमारे पाठकों का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त होगा और हम अपने संकल्प को अपने ग्राहक-अनुग्राहक, लेखक तथा सहयोगी मित्रों की कृपा से पूरा कर सकेंगे।



भाग ८] आगरा—अगस्त १९४६ [अङ्क २

अलंकार और मनोविज्ञान

[प्रो० कन्हैयालाल सहल एम० ए०]

(अलङ्कार और मनोविज्ञान का बड़ा रोचक और महत्व पूर्ण विषय है यद्यपि अब यह धारणा दूर होती जाती है कि अलङ्कार कोई ऐसी वस्तु नहीं जो पीछे से नगीने की भाँति रचना में जड़े जा सकें तथापि आजकल भी अलङ्कारों के समर्थकों में ऐसे लोग मिल जाते हैं जो अलङ्कारों को ऊपर की चीज समझते हैं। उनके लिए यह लेख नेत्रोन्मीलन का काम करेगा। विद्वान लेखक ने यद्यपि अपनी अत्यधिक ईमानदारी के कारण यह माना है कि हमारे यहाँ अलङ्कारों का मनोवैज्ञानिक निरूपण नहीं हुआ किन्तु विद्वान लेखक ने जो प्राचीन अलङ्कार शास्त्रों के उद्धरण दिये हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि हमारे आचार्यों की पहुँच मनोवैज्ञानिक थी। वे उद्धरण बहुत मूल्यवान हैं। लेखक ने मनोभाव और अलङ्कारों का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है कि अलङ्कारों के मूल में कवि के हृदय का उत्साह है। उसका साधारण बात से जी न भरना उसे अलङ्कारिकता की ओर ले जाता है। सहलजी ने अपने विवेचन से तीन मनोवैज्ञानिक आधार स्तम्भों पर विशेष बल दिया है : (१) साम्य (२) विरोध (३) भावसाहचर्य। एक चौथा स्तम्भ मान लें तो पूर्णता आजाय। वह है बौद्धिक-शृङ्खला अथवा उसका आभास, इसमें सार, काव्यलिङ्ग, प्रमाण आदि अलङ्कार आ सकते हैं। वैसे ये भावसाहचर्य के व्यापक अर्थ में आ सकते हैं किन्तु पूर्णता के लिए एक पृथक स्तम्भ आवश्यक है। —सम्पादक)

अलङ्कार-विषयक किसी पाठ्य-ग्रन्थ को उठा कर देखने से यह भ्रम हो सकता है कि अलङ्कार नितान्त कृत्रिम हैं, उनका प्रयोग प्रयत्न-सापेक्ष है तथा बहुत से तो केवल कलाबाजी दिखाने के साधन-मात्र हैं। इस भ्रम के दो आधार हैं—(१) रीति-ग्रन्थों में अलङ्कारों के मनोवैज्ञानिक विवेचन का अभाव (२) अलङ्कारवादी कवियों द्वारा किया हुआ अलङ्कारों का दुरुपयोग।

प्रश्न यह है कि क्या अलङ्कारों का कोई मनोवैज्ञानिक

आधार है ? क्या अलङ्कारों का सहज प्रयोग रसोत्कर्ष में सहायक नहीं होता।

इस तथ्य से सभी परिचित हैं कि भावाभिव्यक्ति के पहले हमारे मन में विचारों की प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं, और अलङ्कार भी विचारों को प्रकट करने की एक प्रणाली, एक पद्धति-मात्र ही तो हैं—इसलिए अलङ्कारों का मनो विज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'प्राचीन भारतवर्ष में आज-कल का-सा ज्ञान का विशेषीकरण न था। शायद इसीलिए कि वे लोग ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं के परस्पर सम्बन्ध को स्थापित रखने में अधिक विश्वास रखते थे। उनके लिए ज्ञान एक अखण्ड वस्तु थी। वे उसे संश्लिष्ट रूप में ही देखना चाहते थे। यद्यपि प्राचीन वाङ्मय में मनोविज्ञान नाम का कोई विशेष शास्त्र न था तथापि योग, न्याय आदि दर्शनों में तथा साहित्य-शास्त्र में मनोविज्ञान सम्बन्धी प्रचुर सामग्री मिलती है। साहित्य में भावात्मक या रागात्मक तत्व की प्रधानता होने के कारण उस पर प्रकाश डालने वाले काव्य की आत्मा स्वरूप रस के निरूपण में मनोवेगों से संबंध रखने वाली बहुत कुछ सामग्री उपलब्ध हो सकती है।' ‡ स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में मनोविज्ञान का विवेचन न होने से ही सम्भवतः भारतीय साहित्य में अलङ्कारों के मनोविज्ञान का अध्ययन नहीं किया गया; अलङ्कारों का वर्गीकरण भी किसी मनोवैज्ञानिक पद्धति पर नहीं हुआ। हाँ रुद्रट ने अवश्य अपने ढङ्ग पर पहले-पहल अलङ्कारों के वैज्ञानिक वर्गीकरण का प्रयास किया। उसके पूर्ववर्ती आचार्य अलङ्कारों के वाह्य रूप को देख कर ही प्रकट या अप्रकट रूप से अलङ्कारों का द्विविध (शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार) अथवा त्रिविध वर्गीकरण (शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार तथा उभयालङ्कार) कर दिया करते थे। रुद्रट ने अर्थालङ्कारों के चार वर्ग निर्धारित किये—(१) वास्तव अर्थात् यथार्थ चित्रण से सम्बन्ध रखने वाले (२) औपम्य अर्थात् समानता पर आश्रित (३) अतिशय अर्थात् चमत्कार-प्रधान और (४) श्लेष पर आश्रित।

आगे चल कर विद्यानाथ ने अलङ्कारों के वैज्ञानिक वर्गीकरण का दूसरा प्रयास किया। एक वर्गीकरण के अनुसार उसने अर्थालङ्कारों के चार विभाग स्थिर किये—(१) जिनमें वस्तु की प्रतीति हो (२) जिनमें उपमा की ध्वनि हो (३) जिनमें रसादि की ध्वनि हो और (४) जिनमें किसी भी प्रकार की ध्वनि न हो। दूसरे वर्गीकरण के अनुसार उसने अर्थालङ्कारों के ९ वर्ग निश्चित किये—(१) साधर्म्यमूल (२) अध्यवसायमूल (३) विरोधमूल (४) वाक्यन्यायमूल (५) लोकव्यवहारमूल (६) तर्कन्यायमूल (७) शृंखला-वैचित्र्यमूल (८) अपह्नवमूल और (९) विशेषणवैचित्र्यमूल।

रुय्यक ने औपम्य, विरोध, शृंखला और न्याय (तर्क-संगत हेतु) के आधार पर अर्थालंकारों का एक और वर्गीकरण प्रस्तुत किया।

अलंकार और मनोविज्ञान—

शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार—इस प्रकार के वर्गीकरण का तो निश्चय ही मनोविज्ञान से कोई संबन्ध नहीं है, यह तो अलंकारों के बाह्य रूप से ही संबन्ध रखता है किन्तु रुद्रट, विद्यानाथ और रुय्यक के द्वारा किये गये वर्गीकरण में औपम्य, विरोध आदि कुछ मनोवैज्ञानिक आधार अवश्य मिल जाते हैं किन्तु ऐसे वर्गीकरणों को विशुद्ध मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनमें मनोवैज्ञानिक और वाह्य आधारों का घपला कर दिया गया है।*

अलंकारों के मनोविज्ञान पर विचार कर लेना भी यहाँ असंगत न होगा। विचारों के विश्लेषण में तीन मानसिक प्रक्रियाओं का तो स्पष्टतः निर्देश किया जा सकता है:—

१—सादृश्य एक बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु है। सादृश्य के अधार पर ही बच्चे का ज्ञान अग्रसर होता है। दो वस्तुओं की सामनता को देख कर छोटे बच्चे का भी उस ओर ध्यान चला जाता है। वर्षाऋतु में छत पर से गिरते हुए नाले के पानी को देख कर उस दिन बच्चे ने कहा था—

‡ सिद्धान्त और अध्ययन (बाबू गुलाबराय) पृ० १४—१५

*None of these classifications is strictly scientific for they mix broad heads indicating psychological factors (like similarity, contrast or contiguity) with mere formal bases of cassification as गूढ़ार्थप्रतीति or अपह्नव—Sanskrit Poetics. S. k. Dey.

'देखिए पिताजी, नाला कूद रहा है।' 'कूद रहा है' के क्रियागत लाक्षणिक प्रयोग में भी साम्य ही अपना काम कर रहा था। 'किसी निष्ठुर कर्म करने वाले को यदि कोई 'हत्यारा' कह देता है तो वह सच्ची कल्पना का उपयोग करता है, क्योंकि विरक्ति वा घृणा के अतिरेक से प्रेरित होकर ही उसकी अंतर्वृत्ति हत्यारे का रूप सामने करती है।....भारी मूर्ख को लोग जो 'गदहा' कहते हैं वह इसलिए कि 'मूर्ख' कहने से उनका जी नहीं भरता—उनके हृदय में उपहास अथवा तिरस्कार का जो भाव रहता है उसकी व्यंजना नहीं होती।' आचार्य शुक्ल के इस कथन से स्पष्ट है कि इस प्रकार के रूपकगत प्रयोगों द्वारा हम अपने मन के गुबार निकाला करते हैं। 'चाँद का टुकड़ा', 'चांद-सा मुखड़ा' आदि जो रूपक अथवा उपमा से संबन्ध रखने वाले प्रयोग प्रचलित हैं, वे भी वक्ताओं की भावनाओं के ही परिचायक हैं। सुन्दर रूप के वर्णन में अनेक उपमाएँ जो कवि के सामने अहमहमिकापूर्वक आने लगती हैं, वे केवल नियम-निर्वाह के लिए नहीं, उनसे अपूर्व सौन्दर्य-दर्शन के कारण कवि के मानसिक आल्हाद की अभिव्यक्ति होती है। उदाहरणार्थ—

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।
आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम-
बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छवि धाम।
या कि, नव इंद्र नील लघु शृंग
फोड़ कर धधक रही हो कांत;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रान्त।
घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलंबित मुख के पास;
नील घन-शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।

(कामायनी)

कामायनी के सौन्दर्य का यह वर्णन यहीं पूरा नहीं हो जाता किन्तु कहाँ तक कोई उद्धृत करे! सौन्दर्य-वर्णन में उपमाओं की वह झड़ी क्यों? यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठाया जा सकता है जिसका स्पष्ट उत्तर यह है कि ऐसा किये बिना कवि का जी नहीं भरता; उसका मन सौन्दर्य के इस अप्रतिम रूप के साथ जैसे रमण करना चाहता हो मनोविश्लेषणात्मक पद्धति वाला आलोचक चाहे तो यह कहले कि इस प्रकार की उपमाओं की झड़ी द्वारा कवि अपनी अतृप्त वासनाओं की पूर्ति कर रहा है!

कुछ प्रमुख सादृश्य-मूलक अलंकारों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करें। १—सन्देह में शब्दतः सादृश्य का कथन नहीं होता, यद्यपि सन्देह होता है सादृश्य के ही कारण, २—उपमा में सादृश्य की दृष्टि से हम आगे बढ़ते हैं और समान आदि शब्दों द्वारा साम्य-स्थापन करते हैं, ३—उत्प्रेक्षा में सादृश्य की मात्रा और भी बढ़ जाती है और हम उपमेय और उपमान के एक होने की संभावना करने लग जाते हैं, ४—रूपक में उपमेय और उपमान दोनों को एक कहने लगते हैं, ५—अपह्नुति में सादृश्य इतना बढ़ जाता है कि हम उपमेय का निषेध करने लगते हैं—उदाहरणार्थ "माननीय टंडनजी ने प्रदर्शिनी का उद्घाटन नहीं किया है, हमारे हृदयों का उद्घाटन किया है।" ६—रूपकातिशयोक्ति में सादृश्य इतना बढ़ जाता है कि उसमें उपमेय का निगीरण कर केवल उपमान का कथन किया जाता है। जैसे किसी नायिका को आते हुए देखकर कहा जाय "चन्द्रमा आ रहा है।" ७—भ्रांति-मान् में सादृश्य इतना बढ़ जाता है कि सचमुच भ्रम हो जाता है; ऊपर के अन्य छः अलंकारों में उपमेय और उपमान के भेद पर प्रयोक्ता की दृष्टि बनी रहती है।

उक्त अलंकारों में 'सन्देह' यदि नीचे की सीढ़ी पर स्थित है तो सादृश्य की दृष्टि से 'भ्रांतिमान्' ऊँची से ऊँची सीढ़ी पर है। सादृश्य का यह विविध वर्णन कृत्रिम नहीं, स्वाभाविक है। हमारी मानासिक प्रक्रियाएँ भावाभिव्यक्ति के न जाने कितने टेढ़े सीधे ढंग निकाल लेती हैं।

२—विरोध की मानसिक पद्धति विरोधमूलक अलं-

कारों में काम करती हुई दिखलाई पड़ती है। इन अलंकारों में आपाततः विरोध दिखलाई पड़ता है किन्तु वस्तुतः विरोध नहीं होता। कुछ उदाहरण लीजिये:—

विरोधाभास

(१) शीतल ज्वाला जलती है ईंधन होता दृग-जल का।
(प्रसाद)

(२) धन्य दूरता ही प्रिय की जो और निकट ले आवे।
(मैथिलीशरण गुप्त)

विषम

खडग लता अति स्याम तें उपजी कीरति सेत।

विशेषोक्ति

नीर भरे नित प्रति रहैं तऊ न प्यास बुझाय।

असंगति

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।

विरोधमूलक अलंकार अवश्य ऐसे हैं जिनमें चमत्कार-प्रदर्शन के लिए अच्छा अवसर कवि को मिल जाता है। कवि-विशेष के अलंकार-प्रयोग को देख कर भी उसके मन की वृत्तियों का अध्ययन कुछ आलोचक किया करते हैं।

एक दृष्टि से देखा जाय तो समानता के सिद्धान्त से ही असमानता अथवा विरोध के सिद्धान्त पर पहुँचा जाता है। कणाद ने निःश्रेयस के लिए साधर्म्य वैधर्म्य परीक्षा को साधन रूप माना है।*

३—भाव-साहचर्य मनोविज्ञान का ही विषय है। हम पहले एक वस्तु देख चुके हैं; उसी से मिलती-जुलती दूसरी वस्तु जब हम देखते हैं तो पहली वस्तु का स्मरण हो आता है। अप्रस्तुत-प्रशंसा, सूक्ष्म, स्मरण, समासोक्ति इन अलंकारों में भाव-साहचर्य का सिद्धान्त ही काम करता हुआ देखा जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार है और इस दृष्टि से उनका विवेचन भी किया जा सकता है। यह देख कर सचमुच आश्चर्य होता है कि रसगंगाधर के प्रणेता तत्वान्वेषी पंडितराज जगन्नाथ तक ने अलंकारों की मनोवैज्ञानिकता पर विचार नहीं किया। हिन्दी-साहित्य में भी अलंकारों के मनोवैज्ञानिक विवेचन की आवश्यकता है। आजकल अलंकारों की अवहेलना करने की प्रथा सी चल पड़ी है। यह हम मानते हैं कि कुछ कवि अवश्य ऐसे हुए जिन्होंने अलंकारों के लिए अलंकारों का प्रयोग किया—वे इस बात को भूल गये कि अलंकार साध्य नहीं, साधन मात्र हैं किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि अलंकारों का समुचित प्रयोग रसोत्कर्ष में सहायता पहुँचाता है।

भाव और अलंकार

अलंकार शब्द का अर्थ है आभूषण, और आभूषण शरीर की शोभा बढ़ाने के लिए होते हैं किन्तु शरीर का सप्राण होना आवश्यक है, नहीं तो 'मृताया मृगशावाक्ष्यः किं फलं हारसंपदैः ?'* मृगशावक-नयनी के भी शव को हार सुशोभित नहीं कर सकता। इसी प्रकार काव्य में जिन अलंकारों का प्रयोग किया जाता है, वे रस या भाव को सुशोभित करते हैं किन्तु यदि काव्य रस-हीन हो तो अलंकार भी व्यर्थ हो जायँगे। हम अपने प्रतिदिन के जीवन में भी देखा करते हैं कि कभी कोई मनुष्य आभूषणों को धारण करता है, कभी उनको उतार फेंकता है। आभूषणों

---

* विरोधमूलक अलङ्कारों के तीन मनोवैज्ञानिक आधार प्रतीत होते हैं—वैचित्र्य द्वारा ध्यान का आकर्षित होना। विरोध और वैषम्य मन की ऊब को भी दूर कर देता है। दूसरी बात यह है कि विरोध में तुलना के कारण साधारण और असाधारण का अन्तर स्पष्ट हो जाने से वर्ण्य विषय का महत्व बढ़ जाता है और प्रभाव भी अधिक पड़ता है। तीसरी बात यह है कि इन अलङ्कारों का विरोध उद्वेगजनक नहीं होता है। यह विरोध ऐसा होता है जो व्याख्या से बाहर नहीं होता। विरोध के शमन के साथ एक विशेष प्रसन्नता आ जाती है। —सम्पादक

* 'तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति अलंकार्यस्याभावात्।' —लोचन

अर्थात् अचेतन शवशरीर कुण्डलादि से युक्त होने पर भी शोभित नहीं होता क्योंकि वहाँ अलंकार्य का अभाव है। शव अलंकार्य नहीं हो सकता—अलंकार्य तो है मनुष्य की वह काया जिसमें प्राणों का स्पन्दन हो रहा है।

को धारण करने और उतार फेंकने के इस व्यापार द्वारा उस मनुष्य की मनोदशा की ही अभिव्यक्ति होती है। उर्मिला की निम्नलिखित उक्ति से इस तथ्य पर अच्छा प्रकाश पड़ता है:—

चन्द्रकान्तमणियाँ हटा, पत्थर मुझे न मार।
चन्द्रकान्त आवें प्रथम, जो सबके शृङ्गार ॥
(साकेत)

सखी उर्मिला को चन्द्रकान्तमणियों के आभूषण पहनाना चाहती है जिससे विरह-ताप की ज्वाला मंद पड़ जाय और उसे शीतलता का अनुभव हो सके। इस पर उर्मिला कहती है कि दूर हटा इन चन्द्रकान्तमणियों को; तुम्हारा यह व्यापार मुझे पत्थर मारने के समान जान पड़ता है। चन्द्र के समान कमनीय मेरे प्रिय जो सबके शृङ्गार हैं वे तो पहले आ लें! बिना चन्द्रकान्त कैसी चन्द्रकान्त मणियाँ? अलंकार तो हैं लेकिन अलंकारों के लिए उपयुक्त मनोदशा भी तो होनी चाहिए। ध्वन्यालोककार ने इस सम्बन्ध में कहा है:—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥
ध्वन्यालोक. II. ६.

रसभावादितात्पर्य का आश्रय लेकर ही अलंकारों का संनिवेश किया जाना चाहिए; तभी वे अपने अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

अकारण अलंकारों को धारण कर लेना और उतार फेंकना—इस प्रकार की मनोवृत्ति बालकों में देखी जाती है कुछ कवि भी एक प्रकार के 'बुड्ढे बच्चे' हुआ करते हैं जो अपने काव्यों में इस तरह की मनोवृत्ति का परिचय देकर अलंकारों के साथ खिलवाड़ किया करते हैं किन्तु मर्मज्ञ सहृदयों का इस प्रकार के खिलवाड़ से परितोष नहीं होता। वे 'कुछ और' चाहते हैं—उनकी दृष्टि में अलंकार स्वाभाविक हो, सहज हो—उससे रस ध्वनित होता हो। ऐसा मालूम हो जैसे अलंकार स्वतः उद्भूत होगया है और जब उसकी तरफ हमारा ध्यान जाय तो हम आश्चर्य—चकित होकर मुग्ध हो उठें।

भावावेग और अलंकार में जो परस्पर संबन्ध है उसकी ओर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है। हृदय में जब भावों के हिल्लोल उठने लगते हैं तब प्रतिभाशाली कवि के सामने अनेक प्रकार के अलंकार मानो 'मैं पहले' मैं पहले' कहते हुए अनायास ही उपस्थित होने लगते हैं।[1] ऐसे अवसर पर कभी तो कवि विस्मय-विह्वल हो उठता है; कभी प्रश्न करने लगता है। कभी संबोधन-पद्धति का प्रयोग करता है तो कभी अत्युक्ति से काम लेता है। कभी उपमाओं की झड़ी लगा देता है तो कभी रूपकादि इतर अलंकारों का प्रयोग करता है। वास्तव में कवि वस्तुगत तथ्य का उतना चित्रण नहीं करता जितना वह अपने मनोवेगों की स्थिति का चित्रण करता है।[2] कभी कभी तो मनोवेगों के प्रवाह में व्याकरण के नियम भी बह जाते हैं निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा विषय का स्पष्टीकरण हो सकेगा:—

विस्मय-विह्वलता—

बाँधे, बननिधि ? नीरनिधि ?
जलधि ? सिंधु ? बारीस ?
सत्य, तोयनिधि ? कंपती ?
उदधि ? पयोधि ? नदीस ?
(तुलसी)

राम का सेतु बांधना सुन कर रावण को ऐसा लगा जैसे बिलकुल अनहोनी बात हो गई हो। इस पर वह चकपकाकर उठता है—'बाँधे....नदीश?' अर्थ की पुनरुक्ति चाहे दूषण समझी जाती हो किन्तु यहां तो वह भूषण होगई है। इस पद्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के लिए आचार्य शुक्ल का तुलसीदास देखिए।

---

१ अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेः अहंपूर्विकया परापतन्ति। यथा कादम्बर्यां कादम्बरी दर्शनावसरे।—ध्वन्यालोक।

2 The more emotions grow upon a man, the more his speech abonuds in figures, exclamation, interrogation, anacoluthon, apostrophe, hyperbole (yes. certainly hyperbole!) simile, metaphor. Feelings swamp ideas and language is used to express not the reality of things, but the state of one's emotions.—
(डा० राघवन के एक लेख से उद्धृत)

प्रश्न द्वारा भाव व्यंजना

(१) हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी।
तुम देखी सीता मृगनयनी? (तुलसी)

(२) कहो, लुवाँ कित जावस्यो पावस धर पड़ियाँह।
हियो नवोढा नार रे, वालम विछड़ियाँह॥

अर्थात् हे लुओं, जब पृथ्वी पर वर्षा ऋतु आ जायगी तो तुम कहाँ जाओगी (तुम्हें कहाँ शरण मिलेगी)? लुएँ उत्तर देती हैं कि उस समय हम उस नवविवाहिता नववधू के हृदय में जाकर रहेंगी जिसका पति बिछुड़ गया है (उसका हृदय घोर संताप से जलता होगा, सैकड़ों वर्षा ऋतु आकर भी वहाँ हमारा नाश नहीं कर सकती)* उक्त दोहे में प्रयुक्त प्रश्नोत्तर अलंकार भाव-व्यंजना में सहायक होने से बहुत ही मार्मिक हो उठा है। वस्तुगत तथ्य की दृष्टि से तो न कभी लुओं से प्रश्न किया जाता है और न कभी किसी ने लुओं को प्रश्नों का उत्तर देते ही देखा है! किन्तु मर्मस्पर्शी भावव्यंजना के सामने इस वस्तुगत तथ्य की ओर हमारा ध्यान जाता ही नहीं। भावावेश में कवि भी वस्तुगत तथ्य को भूल जाता है—

'इन्द्रवधू आने लगी क्यों निज स्वर्ग विहाय?
नन्हीं दूवा का हृदय निकल पड़ा है हाय!'

वीरबहूटी का ही एक नाम इन्द्रवधू भी है। इन्द्रवधू शब्द के आधार पर कवि उर्मिला के मुख से कहलवाता है कि इन्द्रवधू अपना स्वर्ग छोड़ कर भला, इस पृथ्वी पर (जो कंटकाकीर्ण है) क्यों आने लगी? यह इन्द्रवधू नहीं, नन्हीं दूबा का हृदय ही निकल पड़ा है। तथ्य की दृष्टि से देखा जाय तो इस उक्ति पर आपत्ति उठाई जा सकती है क्योंकि वर्षा-ऋतु में जब इन्द्रबधू दिखलाई पड़ती है, उस समय दूब तो वापिस खिलती है, उसके हृदय निकल पड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता किन्तु उर्मिला तो अपनी मनोदशा के अनुरूप ही सब वस्तुओं को देखती है। उसके मन में प्रविष्ट होकर कोई कवि की आँखों से देखे तो उक्त पद्य में प्रयुक्त अपह्नुति अलंकार का रहस्य समझ में आ सकता है जो यहाँ पर भाव-व्यंजना में सहायक है।

संबोधन पद्धति

हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा!
हरी-भरी सी दौड़-धूप, ओ
जल-माया की चल-रेखा! (कामायनी)

अत्युक्ति का प्रयोग

सोई साजन आविया, जाँकी जोती बाँट।
थाँभा नाचै, घर हँसै, खेलन लागी खाट॥

अर्थात् जिनकी मैं बाट देख रही थी, वे ही प्रियतम आ गये! प्रसन्नता के मारे स्तम्भ नृत्य करने लगे, घर हँसने लगा और चारपाई भी खुशी से उछल कर क्रीड़ा करने लगी। (चारपाई का भी आज प्रियतम के आने पर भाग्योदय हो गया)!! कितनी मार्मिकता से नायिका के हर्षातिरेक की व्यंजना इस दोहे में हुई है। अत्युक्ति कृत्रिम न होकर यहाँ भाव-व्यंजना में सहायता पहुँचा रही है।

उपमा और रूपक के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। 'द्वापर' में 'अहा! गोपियों की वह गोष्ठी!' वाले प्रसङ्ग में कवि-उपमाओं की बौछार-सी करता गया है। रूपक के आधार पर किये गये लाक्षणिक प्रयोग तो क्या बोल-चाल और क्या साहित्य—दोनों में बहुत प्रचलित हैं।

व्याकरण की अवहेलना—भाव की तन्मयता के कारण कवि व्याकरण की अवहेलना भी करते देखे गये हैं:—

(१) अरे अमरता के चमकीले,
पुतलो! तेरे वे जयनाद;
काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि,
बन कर मानो दीन विषाद।
(प्रसाद)

(२) अरे एक मन, रोक थाम
तुझे मैंने लिया,
दो नयनों ने शोक, भरम
खो दिया, रो दिया!
(मैथिलीशरण गुप्त)

* राजस्थान रा दूहा पृ० १५० (संपादक प्रो० नरोत्तमदास स्वामी)

उर्मिला की उक्ति है कि मैं प्रेम-रहस्य को गुप्त रखना चाहती थी। मन को तो मैंने किसी तरह से रोक-थाम लिया मन के रहस्य को अब तक मन ही में छिपाये रही किन्तु हा ! इन आँखों ने सब रहस्य खोल कर भरम खो दिया। उक्त पद्य में 'रो दिया' का प्रयोग चिन्त्य है। 'रो दिया' अकर्मक क्रिया के साथ 'नयनों ने' का प्रयोग कैसे व्याकरण सम्मत कहा जा सकता है ?

ध्वन्यालोक, लोचन और अभिनवभारती में अलङ्कारों के प्रयोग सम्बन्धी बहुत-से नियम इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। आनन्दवर्धन ने शृङ्गार, विप्रलम्भ और करुण के वर्णन में यमक, शब्दभङ्गश्लेश आदि को त्याज्य ठहराया है। इस प्रकार के नियम मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित हैं। ‡ अलङ्कारों के दुरुपयोग से सी मन ऊबने लगता है। मैं तो तुलसी जैसे सिद्ध-हस्त कवि के भी लम्बे-लम्बे रूपकों से बहुधा ऊब उठा हूँ। अलङ्कारों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन और व्याख्या के लिए प्रचुर सामग्री संस्कृत साहित्य में उपलब्ध है। पाश्चात्य सिद्धान्तों के प्रकाश में भी जब मैं कभी-कभी 'अभिनवभारती' आदि पर विचार करता हूँ तो मुझे लगता है जैसे आज का ही कोई स्वस्थ-दृष्टि समालोचक लिख रहा हो, और उच्च कोटि के इन भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों पर मन ही मन गौरव का अनुभव करता हूँ।

‡ इसका मनोवैज्ञानिक आधार यह मालूम देता है कि इन अलङ्कारों में शाब्दिक चमत्कार का प्राधान्य है और इनमें भावावेश भी अधिक होता है। भावावेश के समय शब्दों की द्वयर्थकता और विशेषता जहाँ पर कि श्लेष शब्दों की तोड़-मरोड़ पर निर्भर हो, बाधक होता है—
सम्पादक

साहित्य और जातीयता

[श्री गुलाबराय एम० ए०]

(हमारा साहित्य हमारी संस्कृति का (जो जातीय संस्कारों की समन्विति होती है) प्रतिफलन होता है। इसी आधार को लेकर लेखक ने भारतीय संस्कृति का विश्लेषण करते हुए उसके पाँच प्रधान अङ्ग बतलाये हैं। वे हैं:–(१) आध्यात्मिकता, (२) समन्वय बुद्धि, (३) अहिंसा, (४) आनन्दवाद, (५) प्रकृति-प्रेम। इन्हीं पाँच अङ्गों की छाया भी भारतीय साहित्य में दिखाई गई है।
—सम्पादक)

साहित्य यद्यपि रचा व्यक्तियों द्वारा जाता है तथापि साहित्यिक व्यक्ति अपनी जाति का प्रतिनिधि होता है। साहित्यिक ही अकेला क्या होते तो हैं सभी क्षेत्र के व्यक्ति हाँडी के एक चावल की भाँति अपनी जाति की परिपक्वता की मात्रा के परिचायक किन्तु साहित्यिक में जातीय मनोवृत्ति की छाप इसलिए और भी उभर आती है कि वह स्वान्तः सुखाय तो लिखता ही है उसे अपने श्रोता और पाठकों का भी ध्यान रखना पड़ता है। कवि या लेखक यथासम्भव लोक रुचि से बाहर नहीं जा सकता।

साहित्यिक लोकरुचि का प्रतिनिधि होता हुआ भी वह उसको गति-विधि देने में भी योग देता है यदि ऐसा न हो तो समाज में उन्नति का द्वार बन्द हो जाय। स्वयं समाज भी स्थिर नहीं रहता है। उसमें भी नवीन परिस्थितियों की प्रतिक्रियाओं द्वारा नवीन विचार उठते रहते हैं। कवि या लेखक रेडियो के आकाशी (Ariel) की भाँति उन सूक्ष्मातिसूक्ष्म तरङ्गों को अपनी बढ़ी हुई संवेदन-शीलता के कारण ग्रहण कर उनको अपनी कला की अभिव्यंजना-शक्ति द्वारा समाज में प्रसारित कर देता

है। इस कार्य में कवि नितान्त निष्क्रिय ग्राहक नहीं होता है। वह अपनी ओर से भी बहुत कुछ देता है। वह अरुण शिखा (मुर्गे) की भाँति, होने वाले प्रभात की, अपनी बाङ्ग द्वारा सूचना ही नहीं देता वरन् सूर्य के रथ को भी नई गति देता है। कबीर ने शूद्रों का पक्ष लेकर हिन्दू-मुसलमान दोनों को निर्भीकता पूर्वक डाट-फटकार बतलाई, जायसी आदि प्रेममार्गी सूफी कवियों ने अपनी समाज की मान्यताओं को स्थित रखते हुए हिन्दुओं के प्रति उदारता और सौहार्द्र का परिचय दिया। कृष्ण-भक्त-कवियों ने कृष्ण-प्रेम में पारिवारिक-बन्धनों को कुछ ढीला किया और एक स्त्री-स्वातन्त्र्य का सूत्रपात किया, उन्होंने शूद्रों की स्थिति को कुछ सुधारा और जीवन के माधुर्यपक्ष का उद्घाटन कर उसके प्रति आस्था उत्पन्न की। तुलसी ने गोरख कबीर आदि के प्रभाव को कम कर सामाजिक व्यवस्था की प्रतिष्ठा की और वैष्णव और शैव सम्प्रदायों में समन्वय भावना को बढ़ाया। भक्त कवियों ने राज्याश्रय का तिरस्कार कर अपना जातीय व्यक्तित्व ही स्थापित नहीं किया वरन् स्वातन्त्र्य भावना की भी वृद्धि की। भूषण ने शृङ्गारिक काल में वीर रस को जाग्रत किया। सफल कलाकार प्रायः निजी रुचि और लोक-रुचि का समन्वय कर लोक-रुचि को दो-चार कदम आगे बढ़ाता रहता है। वह जातीय रूढ़ियों के गढ़ में से कुछ वातायन खोज निकालता है, उन्हीं में होकर वह उस गढ़ के भीतर प्रवेश पा जाता है और जनता के लिए मुख्य द्वार नहीं तो छोटे-पूरे द्वार खोल देता है। फिर कवि या सुधारक का बताया हुआ मार्ग ही पगडंडी का रूप धारण कर लेता है और क्रमशः वह राजमार्ग में परिणत हो जाता है।

इस प्रकार साहित्य में समाज और व्यक्ति का लेन-देन चलता रहता है फिर भी कवि अपने जातीय भावों की छाप को मिटा नहीं सकता। व्यक्तियों की भाँति जाति का भी व्यक्तित्व होता है और उसकी विशेष मनोवृत्ति होती है। यद्यपि कुछ बातों में मानव हृदय एकसा है तथापि देश-काल के अनुकूल प्रवृत्तियों और उनकी गति और बल की मात्रा में भेद रहता ही है। वही जातीय मनोवृत्ति बन जाती है। यह जातीय मनोवृत्ति भी एक रस नहीं रहती है। इसका भी बल कभी स्वच्छ, कभी गंदला, कभी फूल-पत्तियों और जलजीवों से संकुल और कभी उनसे रहित हो जाता है। जगत और संसार का अर्थ ही परिवर्तन-शीलता है इस परिवर्तन-शीलता में सब कुछ नहीं बदलता है यद्यपि गंगोत्री, हरद्वार, गढ़मुक्तेश्वर, सोरों, फर्रुखाबाद, कानपुर, प्रयाग, काशी और कलकत्ते की गंगाजी की धारा और जल की निर्मलता एकसी नहीं फिर भी वह गंगाजल ही रहता है, इसी प्रकार जातीय मनोवृत्ति बदलती हुई भी अपना व्यक्तित्व कायम रखती है। साहित्य में उसी मनोवृत्ति की छाप रहती है। जातीय साहित्य का अभिप्राय यही होता है कि उसमें हमको जातीय मनोवृत्ति का परिचय मिलता है।

जातीय मनोवृत्ति की छाया सब प्रकार के साहित्य में एक ही मात्रा की घनता में नहीं रहती है। कहीं ज्यादा कहीं कम। महाकाव्यो में अधिक रहती है प्रगीत काव्य में व्यक्तित्व प्राधान्य रहता है, यद्यपि व्यक्ति में भी जाति की झलक रहती है। जिस प्रकार चीता अपनी पीठ पर की चित्तियों को नहीं बदल सकता उसी प्रकार व्यक्ति भी अपनी जातीय छाप मिटा नहीं सकता और विश्व की सम्पन्नता के लिए उस छाप को मिटाने की आवश्यकता भी नहीं है। इस प्रकार कवि या लेखक पर बहुत से प्रभाव होते हैं। वह बहुत-सी सम्मतियों का उत्तराधिकारी होता है।

कवि मनुष्य है। उसमें मनुष्यजाति की दुर्बलताएँ वा कोमलताएँ होती हैं जिनमें वह सारी मानव समाज का साझीदार है। उसकी मनोवृत्ति का बहुत कुछ अंश जातीय होता है, उस अंश में वह जाति का प्रतिनिधि होता है। और उस में समय के अनुकूल बदली हुई जातीय मनोवृत्ति का बदला हुआ रूप भी रहता है। इसके अतिरिक्त उसके निजी कवित्व की भी छाप रहती है। कवि का निजी कवित्व समाज की मानी गति-विधि को निर्धारित करने में योग देता है। कविता में सब प्रभाव होते हुए भी यह उसके कवित्व पर निर्भर रहता है कि किन बातों को महत्व दे। कुछ में मानवमात्र की भावनाओं की झलक रहती है, कुछ में जातीय भावनाओं की छाप रहती है और कुछ शाश्वत बातों की ओर ध्यान न देकर तात्कालीन समस्याओं को जाति की

मनोवृति के अनुकूल अधिक महत्व देते हैं और कुछ समय आने वाले विदेशी रंग से रंग जाते है। कुछ ऐसे भी होते हैं जो सायर सिंह सपूत की भांति अपना नया मार्ग खोज निकालते हैं। इन सब रूपों में जातीय मनोवृति का अन्तः स्रोत बहता ही रहता है।

भारत के स्वच्छ उन्मुक्त उज्ज्वल ज्योत्स्नामय तपोवनों में पोषित त्याग और आत्मा के विस्तार सम्बन्धी सिद्धान्तों की झलक जो भारतीय साहित्य में मिलेगी वह अन्यत्र नहीं। विदेशी साहित्य में संघर्ष और भौतिक समृद्धि की भावना अधिक है। हमारे साहित्य में उस समृद्धि को प्राप्त कर उसके त्यागने की भावना भी प्रबल है। इंग्रेजी साहित्य में ही Paradise lost जैसी पुस्तक सम्भव थी। हमारे यहाँ प्रतिद्वन्द्विनी कोई प्रधान शक्ति नहीं है। हम लोगों में विद्रोह की भावना प्रबल है भी नहीं। मूर्ति पूजा के विरोध के कारण मुसलमानों में नाटक का विकास न हो सका। हिन्दुओं में ईश्वरीय न्याय की भावना अधिक प्रबल है इस लिए हमारे प्राचीन साहित्य में दुखान्त नाटकों का प्रभाव रहा।

हम और देशों की जातीय मनोवृत्ति को न लेकर भारतीय मनोवृत्ति की विशेषताओं पर ही ध्यान देंगे। भारतीय मनोवृत्ति की मूल धाराएँ संक्षेप में निम्न प्रकार हैं। उनकी झलक हमारे साहित्य में स्थान-स्थान पर मिलती है।

(१) **आध्यात्मिकता**—आत्मा की अमरता में विश्वास, आवागमन की भावना, भाग्यवाद से प्रभावित पुरुषार्थवाद, भौतिक की अपेक्षा आध्यात्मिक को महत्व देना आदि बातें इसके अंग हैं।

(२) **समन्वय बुद्धि**—धर्म, अर्थ, काम को अविरोध भाव से महत्व देना, ज्ञान भक्ति की एकता, ज्ञान, इच्छा क्रिया का मेल, आदि इसके ही रूप हैं।

(३) **अहिंसा**—यद्यपि युद्धादि के वर्णनों में हिंसा का प्रचुर वर्णन है तथापि महत्व अहिंसा, त्याग, क्षमा, दया आदि सात्विक गुणों को ही दिया गया है।

(४) **आनन्दवाद**—दुख को बौद्ध धर्म में अधिक महत्व मिला है किन्तु दुख से निवृत्ति और आनन्द की स्थायी आनन्द की प्राप्ति हमारे यहां का मूल ध्येय रहा है। वर्तमान युग में कुछ परिस्थितयों के कारण और कुछ पाश्चात्य प्रभाव और बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान से हमारे साहित्य में दुखवाद का प्राधान्य होगया है। वर्तमान कविता में दुखवाद को अधिक आश्रय दिया अवश्य जा रहा है किंतु उस में भी आनन्द की झलक देखी जाती है।

(५) **प्रकृति प्रेम**—भारतीय अध्यात्मिकता प्रकृति की विरोधनी नहीं है वरन् भारतीय विचार धारा में प्रकृति आध्यात्मिकता की पोषिका के रूप में स्वीकृत हुई है। हमारे यहां दोनों का सुन्दर सामञ्जस्य रहा है।

आध्यात्मिकता—हमारी जातीय मनोवृत्ति का परिचय हमको बाल्मीकीय रामायण, रघुवंश महाकाव्य, शकुन्तला, उत्तर रामचरित नाटकों आदि प्रायः सभी प्राचीन साहित्य में प्रचुर रूप से मिलता है और वर्तमान काल का भी साहित्य उनसे बहुत अंश में प्रभावित है। बाल्मीकीय रामायण के आदि में जो आदर्श पुरुष के लक्षण हैं वे भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल है। रघुवंश में जो सूर्यवंशी राजाओं के गुणों का उल्लेख हुआ है उनमें भारतीय आदर्शों की पूरी झलक पाई जाती है, देखिए:—

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।

अर्थात् दूसरों को दान देने के लिए ही जो सम्पन्न बनते थे और सत्य के लिए ही जो थोड़ा बोलते थे (मिथ्याभिमान के कारण नहीं), केवल यश के लिए ही विजय करते थे (धन और राज्य छीनने के लिए नहीं) सन्तानोत्पत्ति कर पितृ-ऋण चुकाने के लिए ही (कामोपभोग के लिए नहीं) जो गृहस्थ बनते थे, जो शैशव काल में विद्याध्ययन करते थे और यौवन में विषयों की इच्छा करते थे, वृद्धावस्था में मुनियों की वृत्ति धारण कर लेते थे और जो योग द्वारा स्वेच्छा से शरीर छोड़ते थे (आज-कल की भाँति रोगेणान्ते तनुत्यजाम नहीं थे)। ऐसे रघुवंशियों के कुल का मैं (कालिदास) वर्णन करता हूँ, यद्यपि मेरे पास उसके योग्य वाणी का वैभव नहीं है। इस अवतरण में भारत की जातीय

मनोवृत्ति का बड़ा सुन्दर चित्र है।

नश्वर शरीर के तिरस्कार की भावना रघुवंश आदि काव्यों में प्रचुरता से मिलती है। गुरु की प्रसन्नता के लिये नन्दिनी गौ की शेर से रक्षा के हेतु महाराज दिलीप कहते हैं कि यदि तुममें कुछ अहिंसा की मनोवृत्ति है तो मेरे यश शरीर पर दया करो नाश होने वाले पञ्चभूतों के बने हुए पिण्ड में मुझ जैसे लोगों की आस्था नहीं होती।

किमप्यहिंस्तव चेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलुभौतिकेषु॥

कबीर, दादू, सूर, तुलसी तो सन्त और भक्त ही थे उनमें वैराग्य हो तो कोई आश्चर्य नहीं, परम शृङ्गारिक कवि बिहारी में भी संसार के प्रति मोह नहीं था; वे भी उसमें एक परमात्मा के रूप को प्रतिबिम्बित देखते हैं।

आवागमन की भावना हमको रघुवंश, कादम्बरी, नैषध आदि अनेकों साहित्य ग्रन्थों में ओत-प्रोत मिलती है। शकुन्तला-दुष्यन्त जैसे पारस्परिक आकर्षण का आधार भी जन्मान्तर सम्बन्ध ही माना गया है। पातिव्रत की भावना (उसके लिए आज-कल के लोग चाहे जो कुछ कहें) हमारे साहित्य में प्रचुरता से पाई जाती है। सीताजी निर्वासित होने पर भी रामचन्द्र को दोषी नहीं ठहरातीं। वे अपने भाग्य को ही उसके लिए उत्तरदायी ठहराती हैं—

'ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः'

और यही सङ्कल्प करती हैं कि प्रसूति कार्य से निवृत्त होकर वे सूर्य की ओर दृष्टि लगा कर उनसे यही प्रार्थना करेंगी कि जन्मान्तर में भी राम ही पति-रूप से प्राप्त हों और उनके साथ तब भी सम्बन्ध-विच्छेद न हो।

भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न मे विप्रयोगः'

पूर्वी देशों में अलङ्कार-प्रियता कुछ अधिक है जिस प्रकार भारतीय नारियाँ आभूषणों को हमेशा पसन्द करती आई हैं वैसे ही कविगण कविता को भी अलङ्कारों से सजाने का प्रयत्न करते रहे हैं। इसीलिए जितने भाषा के अलङ्कार पूर्वी साहित्य में मिलते हैं उतने पश्चिमी साहित्य में नहीं।

समन्वय बुद्धि का परिचय हमको प्राचीन साहित्य में ही नहीं वरन् नवीन साहित्य में भी प्रचुरता के साथ मिलता है। साकेत के राम पृथ्वी को स्वर्ग बनाने आये थे। वे तोड़ने नहीं, जोड़ने आये थे। प्रसादजी की कामायनी का समरसता और समन्वयवाद में ही अन्त होता है श्रद्धा मनु को पर्वतराज कैलाश पर ले जाकर वहाँ ज्ञान, इच्छा और क्रिया को पहिले पृथक रूप से दिखाती है फिर उसकी मुसकराहट से वे तीनों चक्र मिलकर एक होजाते हैं। उसी में प्रसादजी ने शिव के दर्शन किये हैं। देखिये:—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह बिडम्बना है जीवन की।
महा ज्योति रेखा सी बन कर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें;
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिन में।
स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

समन्वयवाद और आनन्दवाद दोनों ही एक आध्यात्मिकता के प्रतिफलन हैं। आत्मा सदा विस्तारोन्मुखी होती है। वह सदा अनेकता में एकता और एकता में अनेकता चाहती है। यही समन्वयवाद है और यही आनन्दवाद का मूल है 'भूमा वै सुखम्' पूर्णता में सुख है। काव्य की आत्मा रस भी हम को उसी भूमा या पूर्णता की ओर ही लेजाता है। जो आत्मा विस्तार चाहती है वह हिंसा को भी आश्रय नहीं दे सकती।

भारतवर्ष पर प्रकृति की विशेष कृपा रही है। यहाँ पर ऋतुएँ समय-समय पर आती हैं और अपने अनुकूल फल-फूल का सृजन करती हैं। धूप और वर्षा के समान अधिकार के कारण यह भूमि शस्यश्यामला हो जाती है। यहाँ की नदियाँ इस देश की पावनता को और भी बढ़ाती हैं। वे सदा कवियों के उल्लास का विषय रही हैं। सूर्योदय और सूर्यास्त अपनी स्वर्णिमय आभा से आकाश-रञ्जित कर देते हैं। प्रथम प्रभात उदय तब गगने प्रथम

साम रव तब तपोवने ।' यहाँ के पशु-पक्षी, लता-गुल्म और वृक्ष तपोवनों के जीवन का एक अंग बन गये थे तभी तो शकुन्तला के पतिगृह जाते समय महार्षि कण्व वृक्षों से भी उसके जाने की आज्ञा चाहते हैं।

पातुं न व प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रिय मण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्येवः कुसुम प्रसूतिसमये यस्माभवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥

पीछे पीवति नीर जो पहले तुमको प्याय।
फूलपात तोरति नहीं गहने हू के चाय॥
जब तुम फूलन के दिवस आवत है सुखदान।
फूली अङ्ग समाति नहीं उत्सव करत महान॥
सो यह जाति शकुन्तला आज प्रिया के गेह।
अज्ञा देहु पयान की तुम सब सहित सनेह॥

यद्यपि पीछे के कवियों का प्रकृति-वर्णन परम्परा पालन मात्र रह गया था फिर भी हमारे यहाँ बिना प्रकृति-वर्णन के कविकर्म पूरा नहीं होता है।

'प्रसाद' के काव्य में समरसता

[श्री प्रो० चन्द्रबलीसिंह, एम० ए०]

(समरसता शैव दर्शन का सिद्धान्त है जिसका कि प्रतिपादन कामायनी के अन्त में हुआ है। यद्यपि इस लेख में उस सिद्धान्त की दार्शनिक व्याख्या तो अधिक नहीं है तथापि विद्वान लेखक ने बड़े कौशल से यह दिखलाया है कि समरसता की भावना प्रसाद साहित्य में आदि से अन्त तक वर्तमान है और स्वयं कामायनी का कथा सूत्र भी उसी भावना से व्याप्त है।

—सम्पादक)

जिन लोगों को 'प्रसाद' जी के साथ कुछ क्षण भी रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उनका कथन है कि प्रसादजी का व्यक्तित्व उनकी स्मित-रेखाओं में प्रस्फुटित हो उठता था। वे प्रकृति से अत्यन्त गम्भीर, शान्त, मितभाषी और संकोचशील थे। कभी-कभी उनके मिलने वालों को आश्चर्य होता था कि 'आँसू' की भावनाओं के गरल को पीकर भी इस कवि में पीड़ा की ऐंठन का कोई अवशेष न था। हमें यह भी ज्ञात है कि 'प्रसाद'जी का जीवन विषमताओं से रहित न था। किन्तु उलझनों के सिन्धु में तिरते रहते भी एक अद्भुत क्षमता उनमें थी। जीवन की अधिक से अधिक अनुभूति रहते हुए भी वे निर्लिप्त से जान पड़ते थे। उनकी अनुरक्ति में भी एक अद्वितीय दार्शनिक तटस्थता थी। वे रह-रह कर मुस्करा जाते थे, किन्तु उनकी मुस्कराहट अवसाद के परमाणुओं से बिलकुल अछूती न थी। उनके व्यक्तित्व में एक रहस्यपूर्ण संतुलन था और इस संतुलन के लिए उन्हें काफी साधनाएँ करनी पड़ीं। अपने हृदय की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए जीवन भर उन्हें अनुसन्धान करते रहना पड़ा। यह अनुसन्धान आध्यात्मिक था और इसमें सफलता प्राप्त करने के पूर्व कवि को अनेक स्थलों पर मानसिक संघर्षों का सामना करना पड़ा और सुख-दुख, प्रेम-विरह के आरोह-अवरोह के मध्य उन्हें एक समतल भूमि मिली भी। इन विभिन्न परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियों और स्थितियों के सामञ्जस्य को उन्होंने समरसता की संज्ञा दी।

यहाँ हम संक्षेप में 'प्रसाद'जी के काव्य में उन कड़ियों के क्रमिक विकास पर दृष्टि डालेंगे जिन्होंने अन्ततोगत्वा उनके दार्शनिक दृष्टिकोण में समरसता को इतना प्रमुख स्थान दिया।

'प्रसाद'जी के सर्वप्रथम काव्य 'चित्राधार' में छायावाद की एक प्रमुख प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। वह है जिज्ञासा। कवि प्रकृति को देखता है। उसके हृदय में एक गुदगुदी-सी पैदा होती है। प्रकृति की सुन्दर वस्तुओं में एक धुँधला आभास मिलता है किसी ऐसी चेतना का जो इन विभिन्न आकारों में एक सूत्र-सी दौड़ती जान पड़ती है। फिर भी उसके हृदय में जिज्ञासाओं की भीड़ है और इनके साथ वह 'प्रेम-पथिक' की भूमि में प्रवेश करता है। है। अन्तर इतना है कि यह जिज्ञासा यहाँ पर अत्यन्त माननीय है। उसका प्रेम स्वभावतः व्यक्तिगत सीमाओं को पार कर किसी व्यापक सत्ता से मिलने के लिए विकल प्रतीत होता है। यहाँ उसे अनन्त प्रेम के दर्शन होते हैं। प्रकृति और मानव दोनों के सुख-दुःख की व्यक्तिगत इकाइयों में उसे अपूर्णता का आभास होता है।

'झरना' में कवि की जिज्ञासा और भी तीव्र स्वरूप धारण कर आती है। जीवन का सूनापन, उसका विषाद अभी तक वह नहीं दूर कर पाया है। उसके जीवन में एक नवीन प्रभात आकर छिप चुका है। उसने बुद्धि के सहारे अपने जीवन का लक्ष्य तो पहचान लिया है, किन्तु उसकी भावनाओं का प्रवाह सुदूर कल्पना के शिखर को स्पर्श नहीं कर पाता। लक्ष्य और वास्तविक स्थिति में इस व्यवधान के कारण उसके जीवन में विश्राम नहीं। विश्रान्त होकर भी वह उस अन्तिम लक्ष्य का चिन्तन किया करता है—

'बढ़ उमंग सरिता आएगी आर्द्र किए रूखी सिकता
सकल कामना-स्रोत मीन हो पूर्ण विरति कब पावेगा?'

और इसी प्रतीक्षा में—

'गा रहा हूँ बस दुःख का राग
मिल गया विराग में अनुराग
न वीणा ही रही वंशी कहाँ है?
हृदय हुआ है मेरा एकतारा।'

'झरना' की अमा अभी राका नहीं बन पाई है। अभाव की इस भावना की सबसे उत्कृष्ट और तीव्रतम अभिव्यक्ति 'आँसू' काव्य में हुई है। मैं यहाँ इस विवाद में नहीं पड़ना चाहता कि 'आँसू' केवल मानव-विरह से सम्बद्ध है या इसकी उद्भावना-भूमि आध्यात्मिक है। पर इतना अवश्य कहूँगा कि 'प्रसाद'जी के व्यक्तित्व का विकास सदा ही इन दोनों के सामञ्जस्य से हुआ है। अतएव 'आँसू' में आध्यात्मिक और शारीरिक या लौकिक चेतना का सम्मिश्रण है। किन्तु हमें तो अपने ध्यान को विशेषतः 'आँसू' के इस पक्ष पर केन्द्रित करना है कि प्रसाद'जी की समरसता की दार्शनिक भूमि के निर्माण में इसका बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें हम प्रेम और विरह का समझौता देखते हैं और कवि, विरह-जन्य वेदना को भी एक वरदान के रूप में ग्रहण करता है। विरह उसके प्रेम की मांसलता को एक अत्यन्त भावनापूर्ण हृदय देता है। उसकी ज्वाला कल्याण की धात्री है। अपनी ज्वाला को सम्बोधित कर कवि कहता है—

'निर्मम जगती को तेरा,
मंगलमय मिले उजाला।
इस जलते हुए हृदय की,
कल्याणी शीतल ज्वाला।

'यहां मिलन और विरह, आसक्ति और विरक्ति दोनों एक दूसरे के आलिङ्गन में आकर एक हो गए हैं।

यहाँ 'आंसू' और कामायनी के बीच भी एक सुन्दर शृङ्खला है। 'लहर' और कामायनी की मानसिक भूमि में उतना अन्तर नहीं जितना दोनों की कला और दृष्टिकोण में। यहां उनकी कला के विवेचन से हमारा सम्बन्ध नहीं। दृष्टिकोण सम्बन्धी भेद यह है कि व्यापक जीवन-दृष्टि हमें 'लहर' में नहीं मिलती। कामायनी ने तो हमारे जीवन के आध्यात्मिक से लेकर अत्यन्त भौतिक पक्षों को भी समरसता के भाव से रंजित कर दिया है। 'लहर' में हम प्रेम और विरह से आगे बढ़ कर मानव-जीवन के अनेक पक्षों जैसे आशा और निराशा, राग और विरक्ति इत्यादि की ओर भी कवि का इंगित पाते हैं। मानव-जीवन की उद्भावना कवि इस प्रकार करता है—

'वसुधा के अंचल पर,
यह क्या कन-कन सा गया बिखर?
जल-शिशु की चंचल क्रीड़ा-सा
जैसे सरसिज दल पर,

लालसा निराशा से दल मल
वेदना और सुख में विह्वल
यह क्या है रे! मानव–जीवन।'
कितना है रहा निखर।'

इसी लिए वह अपनी मानसिक शक्तियों को जीवन में सामञ्जस्य–जन्य सुन्दरता के प्रतिपादन के लिये प्रेरित करता है—

'ओ री मानस की गहराई!
❀ ❀ ❀
तेरा विषाद द्रव तरल-तरल
मूर्छित न रहे ज्यों पिये गरल,
सुख लहर उठा री सरल-सरल
लघु-लघु सुन्दर-सुन्दर अविरल,
तू हँस जीवन की 'सुघराई।'

'कामायनी' इसी संकेत को हमारे सामने खोल कर रख देती है और इसके लिए एक विस्तृत जीवन-पीठिका की योजना भी करती है। कथा का उद्गम भी जीवन में समरसता के अभाव और उसका अवसान समरसता के निर्माण में है। देव-सृष्टि का नाश इसलिए होता है कि उन्होंने 'अहं' की निरंकुश साधना में सुख की सीमाओं का उल्लंघन कर दिया। मनु जब निराशा से आक्रांत है उस समय नवीन सृष्टि का संदेश देते हुए श्रद्धा मनु से इस प्रकार कहती है—

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान,
यही सुख दुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।
नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण-जलधि समान।
व्यथा से नीली लहरों बीच,
निखरते सुखमणि गण द्युतिमान्।

मनु और श्रद्धा का विछोह भी मनु के हृदय में एकांगी वासना के कारण होता है। वे श्रद्धा के प्रति अपने प्रेम को वासनापूर्ण एकाधिकार में परिणत करना चाहते हैं—

"यह जीवन का वरदान, मुझे
दे दो रानी अपना दुलार!
केवल मेरी ही चिंता का
तव चित्त वहन कर रहे भार।"

मनु और इड़ा का, जो बुद्धि का प्रतीक है संयोग श्रद्धा और मनु के व्यवधान को और भी बढ़ा देता है। अभी से सारस्वत प्रदेश में बुद्धिवाद के निरन्तर विकास के साथ-साथ दुःखवाद की नींव और भी दृढ़ होती जाती है। इस भौतिकवाद की एकान्त उपासना में भी उपद्रव खड़े होते हैं। सारस्वत प्रदेश ने इड़ा और मनु के नेतृत्व में प्रकृति के साथ संघर्ष कर वर्णों की सृष्टि की है, श्रम का विभाजन किया है, शस्त्रों और यन्त्रों का आविष्कार किया है। किन्तु यहाँ जब मनु इड़ा पर भी 'निर्बाधित अधिकार' चाहते हैं तो सारा प्रजातन्त्र विद्रोह कर उठता है और अपने नायक पर आक्रमण करता है। इड़ा ने मनु को समझाया कि मनुष्य का जीवन सङ्घर्षमय है और सङ्घर्षों में उसका विकास है। किन्तु श्रद्धा फिर मनु से मिलकर उन्हें ठीक राह पर लाती है और जीवन में समरसता की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए सङ्घर्ष का खण्डन करती और इड़ा को उसकी भूल बतलाती है—

"जीवन-धारा सुन्दर प्रवाह,
सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह;
ओ तर्कमयी! तू गिने लहर,
प्रतिबिम्बित तारा पकड़, ठहर;
तू रुक-रुक देखे आठ पहर;
वह जड़ता की स्थिति भूल न कर;
सुख-दुःख की मधुमय धूप-छाँह,
तूने छोड़ी यह सरल राह।"

इसी समरसता के आधार पर जीवन को ले चलाने का संकेत हमें उस समय मिलता है जब श्रद्धा मनु और अपने प्रेम के फल—श्रद्धामय और मननशील मानव को इड़ा के साथ छोड़ जाती है।

इस समरसता का पूर्ण प्रति-पादन श्रद्धा मनु को कैलाश से 'इच्छा' 'ज्ञान' और 'कर्म' के अरुण, उज्ज्वल और श्यामल आलोक-गोलकों को दिखला तथा उनकी एकाँगिता-

जन्य अपूर्णता की ओर संकेत करती है। 'इच्छा' का लोक जीवन की मध्य भूमि है, जिसमें सुख और दुःख दोनों हैं। 'ज्ञान' लोक में सुख और दुःख दोनों के प्रति उदासीनता है। 'कर्म' का लोक संघर्ष का लोक है, जहाँ सुख-दुःख में परिणत हो जाता है, जहाँ स्थूलता के सामने भाव का कोई मूल्य नहीं। ये तीन लोक पृथक-पृथक हैं, जिसके फलस्वरूप—

"ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों हो पूरी मन की;
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।"

और इन्हीं तीन लोकों को श्रद्धा अपने स्मित से एक कर देती है। वही सर्वोपरि आनन्द की स्थिति है और ऐसे लोक में—

"शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है;
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।"

संक्षेप में 'प्रसाद' के काव्य में समरसता के क्रमिक-विकास की रूप रेखा यहाँ अङ्कित की गई है। समरसता उनकी विचार-धारा की प्रधान दिशा है। यह केवल व्यवहार कुशलता नहीं, वरन् इसका निर्माण हमारी अनुभूति के सारे अवयवों को लेकर हुआ है। यह माना जा सकता है कि इस समरसता का एक व्यावहारिक रूप भी है, किन्तु व्यावहारिकता की उनके दर्शन की अन्तिम परिभाषा नहीं। साथ ही वह योगियों का निर्वेद भी नहीं। 'प्रसादजी' की सहृदयता को देख कर कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि उनका दर्शन वैराग्य का दर्शन है। उनका आनन्द तटस्थता-जन्य नहीं, उनका सङ्गीत तो हमारी चेतना के गह्वरों में बहते अनेक निर्झरों का सम्मिलित सङ्गीत है। उनकी समरसता में उदासीनता का सन्देश नहीं; उसका सन्देश तो है जीवन के विविध रसों का आस्वादन करते हुए भी अपने को निर्लिप्त रखना। कोरा 'सन्यास' जीवन के लिए घातक है और ईश्वर की सृष्टि का अपमान है। इससे व्यक्तित्व के कुण्ठित होने की आशङ्का रहती है; यह मानव चेतना की पुकारों का गला घोंटना है। व्यक्तित्व की एक-एक पूर्ण इकाई में एक-एक विश्व सन्निहित रहता है। 'प्रसाद' जी के शब्दों में—

"यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित,
एक विश्व अपने आवरणों में है निर्मित।"

चेतना की बहुमुखी सजगता का अभाव जीवन की अपूर्णता है और अतिक्रमण जीवन का अभिशाप यही 'प्रसादजी' की व्यापक दृष्टि का रहस्य है। एकांगिता की अपूर्णता का परिचय देकर हमारे आधुनिक भौतिकवाद को चेतावनी देते तथा तथा हमारी चेतना के लिए एक नवीन आधार भूमि की योजना करते हैं। वे जीवन का उत्कर्ष आनन्द की प्राप्ति मानते हैं। और समरसता को उस आनन्द का उद्गम स्रोत बतलाते हैं। उनके अनुसार जीवन में सुख-दुख, प्रेम-विरह इत्यादि के निरपेक्ष भाव हम में समरसता के अभाव के कारण हैं।' 'कामायनी' की यही मूक-भावना श्रद्धा के स्वप्न के उस प्रश्न का—

'जीवन में सुख अधिक या कि दुख,
मंदाकिनि कुछ बोलोगी।
नभ में नखत अधिक सागर,
में या बुद-बुद हैं गिन दोगी?
प्रतिविम्बित हैं तारा तुझ में,
सिंधु मिलन को जाती हो।
या दोनों प्रतिविम्ब एक के,
इस रहस्य को खोलोगी।

—उत्तर है! जीवन के स्पंदन स्पंदन हैं। उन पर सुख दुःख का आरोप हमारी अविकसित चेतना की अपूर्णता का चिह्न है। यदि हमने अपने व्यक्तित्व को विश्व की विशालता दे दी तो प्रत्येक स्पंदन आनन्द का स्पंदन है—हम नहीं कह सकते सुख का या दुःख का। 'प्रसादजी' इसको दूसरे शब्दो में इस प्रकार रखते हैं—हमारी आवश्यकता है अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा 'अहम्' का 'इदम्' से समन्वय। यही आनन्द लेख है और यही जीवन की शाश्वत् स्थिति है।

आलोचना के मान

[श्री प्रभाकर माचवे एम० ए०]

१

डाक्टर श्याम सुन्दरदासजी की स्मृति में सेन्ट जान्स कालेज के एक विशेष अधिवेशन में आलोचना सम्बन्धी विषयों पर विभिन्न आलोचकों के मत मांगे गये थे। उसी सम्बन्ध में आये हुये श्री प्रभाकर माचवेजी के विचार परिषद् के प्रश्नों सहित हम पाठकों के लाभार्थ उपस्थित करते हैं।

—सम्पादक)

प्रश्न १—आपकी दृष्टि में शास्त्रीय आलोचना का मूल्य क्या है ?

उत्तर—प्रश्न में 'आप' और 'शास्त्रीय' और 'मूल्य' यह तीन्हों शब्द सापेक्ष, अतः चिन्त्य हैं। 'आप से' क्या तात्पर्य है ? मान लीजिये मैं एक संत कवि हूँ, तो मेरी आपकी शास्त्रीय-अशास्त्रीय आलोचना से क्या काम ? याकि मैं एक छायावादी-रहस्यवादी हूँ, तो भी आपकी शास्त्रीय आलोचना की पकड़ में न आ पाने में ही मैं अपना गौरव अनुभव करूँगा। परन्तु यदि मैं जैनेंद्र के समान केवल अ बुद्धिवादी (अतः शास्त्रीयता में अविश्वासी) न हूँ तो मुझे आलोचना मात्र को मूल्य देना होगा।

मनोविज्ञान में बुद्धि (Intelligence) का एक लक्षण माना गया है आत्मालोचन (Auto-crticism) वैसे यह युग ही आलोचना का है, यदि फांट की बात मान लें। मेरे मत से पूँछें तो वह आलोचना आलोचना कहलाने के लिये ही अपात्र है जो शास्त्रीय नहीं हैं। आये दिन अखबारों में परिचय (नोटिस),संक्षिप्त निरीक्षण (रिव्यू) गुण दोष विवेचन (स्क्रूटिनी), प्रशंसा (एप्रीसिएशन) और निंदा (लैशिंग) आदि कई साहित्य प्रकार गलती से आलोचना माने जाते हैं। समालोचना या समीक्षा (क्रिटिसिज्म) केवल गुणदोष विवेचना से कुछ अधिक है। वह एक निर्णय भी है। वह एक मूल्यानिर्धारण पद्धति भी है इस दृष्टि से शास्त्र की सीमा है। शरदा अथवा विज्ञान केवल निरीक्षण-परीक्षण, प्रयोग. अनुमिति, तुलना आदि पद्धतियों से आलोच्य वस्तु (ग्रन्थ अथवा-ग्रन्थकार का) का विश्लेषण मात्र प्रस्तुत करता है। मेंढक की चीर फाड़ करने वाले प्राणीशास्त्रज्ञ के मन में मेंढक के प्रति सहानुभूति अपेक्षित नहीं है। दूसरी चीज जो शास्त्र अपने विश्लेषण के आग्रह में भूल जाता है, वह है सामग्र्य का अभाव। विज्ञान टुकड़ों में विभक्त सत्य देखता है। समग्र जीवन्त रसमय सत्य उसके सामने नहीं होता। इलियट के 'ईथिराइज्ड पेशंट लाइंग आन ए टेबल' की भांति ही सत्य उसकी वैज्ञानिकता को सुँघाकर, उसकी इच्छानुसार ही उसकी खुर्दबीन के सामने आता है। साहित्य के हक़ में यह स्थिति विशेष सुखद नहीं है।

असल में विज्ञान एक ओर, और दर्शन दूसरी ओर बीच में है साहित्य। विज्ञान वास्तव को अधिकाधिक जानता है, दर्शन सत्य के अंतिम छोर के अनुभव के लिये छटपटाता है, साहित्य चाहता है कि आदर्श और यथार्थ का वास्तव और सत्य का एक रसभासमय समन्वय उपस्थित करे। अगर आप दार्शनिक शब्दावली के उपयोग से परहेज न करें तो विज्ञान Reality, दर्शन truth और साहित्य Appearance को पकड़ने की कोशिश में हैं।

जैसे साध्यों में अंतर है, साधनों में भी अंतर है, विज्ञान का मार्ग मस्तिष्क का, विचार का, तर्कना का है, दर्शन का मार्ग आत्मानुभूति का राग -विराग, बोध अनुबोध के परे की Intuition है, साहित्य का मार्ग भावना का, हृदय, आवेग संयोगों का है। मूलतः तीनों क्रियाएँ

परस्पर-परिपोषक हैं विज्ञान का कर्मयोग, दर्शन का ज्ञानयोग और साहित्य (काव्य) का भक्तियोग परस्पर पूरक ही हैं। यदि चेतना को एक अंतः सलिला प्रवाह मान लिया जाय। साहित्य की गुप्त सरस्वती सौन्दर्य की सेविका है। दर्शन की गंगा सत्य से मिलने जा रही है। विज्ञान की यमुना भी उसी का सहयोग दे रही है।

क्षमा कीजिये, त्रिवेणी-संगम और योग-भेदों के पुराने ही रूपकों का मैंने सहारा लिया है। परन्तु साहित्य-कला के मूल्य-निर्धारण में मैं स्पष्टतः दो पक्ष प्रमुख देखता हूँ; एक उनका जो साहित्य-कला को साहित्य-कला के ही अपने तर्क और मानदंडों से नापना-जांचना चाहते हैं; दूसरा उनका जो साहित्य-कला को उससे बाहर के किन्हीं अन्य (चाहे राजनैतिक हों या आर्थिक हों या ऐतिहासिक हों या नैतिक या धार्मिक हों) मानों से नापना चाहते हैं। मैं पहिले मत के पक्ष में हूँ।

परन्तु चूँकि आज ज्ञान-विज्ञान और कला-साहित्य कुछ कटी-छँटी चीजें नहीं रही हैं; और साहित्य-सर्जना तथा आलोचना ये दोनों पक्ष भी अभिन्न होते जा रहे हैं, मेरा अपना मत है कि साहित्यालोचन के क्षेत्र में दो विज्ञानों का सहयोग बहुत आवश्यक है। चूँकि समस्त कला, व्यक्ति कलाकार के मत से निकल कर समाज में जाकर मिलती है, मिटती है—अतः मनोविज्ञान और समाजविज्ञान का अध्ययन, उसके नवनवीन आविष्कारों से अभिज्ञता आलोचक की एक प्राथमिक शर्त है। रावर्ट ओसवर्न ने अपने 'फ्रायड एंड मार्क्स' ग्रन्थ में भी यही बात प्रमाणित की है कि ये दोनों ही चिंतक परस्पर पूरक थे, और न कि जैसे काडवेल अपने एकांतिक आवेश में 'स्टडीज इन डाइंग कल्चर' में 'फ्रायड' प्रकरण में उसे 'रुग्ण और हासोन्मुख उच्चवर्ग का चारण' मात्र मानता है।

मेरी अल्पमति में आज का आलोचक इन दो चिंतकों से मूल्यनिर्धारण में बहुत कुछ सहायता प्राप्त करेगा। क्योंकि आज मूल्यनिर्धारण यह विषय केवल वैयक्तिक रुचि-अरुचि का न रह कर, सार्वजनीन विषय बन चुका है।

प्र० २—क्या आनन्द स्वयम् आलोचना का एक मूल्य हो सकता है ?

इस मत को मानने वाले ब्रह्मानन्दसहोदरवादी कम नहीं हैं। इसमें 'स्वान्तःसुखाय' वाले तुलसी से संत नीतिशास्त्र को सुखवाद (हीडोनिज्म) में परिवर्तित करने वाले उपयोगितावादी और आचारवादी (यूटिलिटेरियनिस्ट्स और प्रैमैटिस्ट्स) तथा कुछ बातों के जैसे आदर्शवादी दार्शनिकों से लगाकर कला को एक अनुत्तरदायित्व पूर्ण, असामाजिक, व्यक्ति की इच्छा-अनिच्छा का विषय मानने वाले सन्त कवियों तक सब शामिल हैं।

आनन्द को आलोचना का मापदंड मानने वालों में मुख्यतः दो दल हैं : एक तो ऐंद्रियिक इच्छापूर्ति मात्र को आनन्द मानने वाले, फ्रेंच मनोवैज्ञानिक सौंदर्यवादी; दूसरे उससे जरा ऊँचे सार्वजनीन सुख की अधिष्ठात्री कला को मानने वाले ब्रिटिश या अमरीकन उपयोगितावादी। पहिले वर्ग के समर्थन में अंग्रेजी साहित्य में आस्कर वाइल्ड, वाल्टर पेटर आदि 'कला-के-लिये-कला'-वादी कई दिनों तक फैशनेबल माने गये। फिर मनोविज्ञान ने आकर उन पर प्रहार किया कि ये तो स्व-रसात्मकता या आत्मसंभोग (नारसिसिज्म) का ही प्रचार कर रहे हैं। 'मोनिष्ट' एक दार्शनिकों का पत्र था। उसके जौलाई १६२६ के अङ्क में १६१४-२६ के बीच के सौंदर्य विज्ञान सम्बन्धी फ्रांस में हुए अन्वेषणों का संक्षिप्त लेखा जोखा मॅरीज चौइज ने दिया है। उनके अनुसार कला के मूलाधार आनन्द की कई मजेदार उत्पत्तियाँ हैं, यथा :

१—ज्यूल्स द गॉल्सेयर के मतानुसार मानव में आरम्भ में 'सेंसिबिलीते मेसियॉनीक' (अर्थात् मसीहा बनने की प्रवृत्ति) रहती है, जो धीरे-धीरे विकासवाद के अनुसार 'सेंसिबिलीते स्पेकॉकुलर' (अर्थात् केवल दर्शक बन कर आनन्द ग्रहण की प्रवृत्ति) में परिवर्तित होती है। व्यक्ति में संवेदना (सेंसेसन) से अनुबोध (पर्सेप्शनी) में परिवर्तन इसी का प्रमाण है। विकास के तत्त्व की दृष्टि से 'सत्य' यह अन्तिम मूल्य न रहकर धीरे-धीरे वह 'सौंदर्य' में परिवर्तित होगा।

२—मॉशिये लालो के मत से मूल्य निर्धारण के समय हमें सर्वसाधारण के मूल्य को आधार मानना चाहिये। उनके मत से कला का जीवन में पाँच प्रकार का योगदान है

(१) वास्तव से पलायन, (२) परिष्कार (कैथैर्सिस) (३) अश्लील या अश्लाघ्य को टाँककर सँवारकर रखने की प्रवृत्ति, (४) केवल कला की प्रक्रिया में आनन्द, (५) सरल यथार्थ की पुनस्थापना का प्रयत्न ।

३—मॉ. एच. दालेक्राई के मत से सौंदर्य-विषयक भावना के मूलारम्भ में सदा कुछ ऐंद्रेयिक तत्त्व विद्यमान रहता है, यद्यपि उसका कल्पना तथा स्वप्न द्वारा बौद्धिकीकरण (intellectualizing, कम महत्व का नहीं । यथा भाषा का जन्म ।

४—मॉ. ए. दज़ार्त और मॉ. पौलहॅन के मत से जब प्राकृतिक प्रेम सामाजिक कृत्रिमताओं से आबद्ध और निरुद्ध होता है, तब वर्जनाएँ हमारे-जीवन के आसपास खड़ी हो जाती हैं । इन्हीं निरुद्ध और अवरुद्ध आकांक्षाओं में से कला जन्म लेती है ।

५—हेन्सार्ड, डा० विशौत, आदि कला को अवश्चेतन की स्वप्नकेलि मानते हैं । और चार्ल्स बौदोंई तो फ्रायड के ही मत की परिपुष्टि करता है कि कला द्वारा आत्महनन की प्रवृत्ति को कलाकार मुक्त करता है ।

६—गौमों-बन्धु कला को सुख की शोध मानते हैं । यह सुख आसपास और चहुँ ओर से समझौते में, अभेदानुभव में है । अतः कला अमरत्व की इच्छा तथा प्रजनन द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने आपको बनाये रखने की इच्छा के समकक्ष है ।

७—फ्यूचरिस्ट (यथा मैरिनेट्टी) कला-चिंता में गतितत्त्व को प्राधान्य देते हैं । सुररियलिस्ट (यथा फिलिप सोपौल्ट, जोसेफ डेल्टैल आदि) संक्षिप्त तथा आवेगात्मक अभिव्यंजना (impulsive expression को ।

[इन मतों के साथ ही साथ छठी अन्तर्राष्ट्रीय दर्शन परिषद् के वृत्तान्त में पृ० ४३७ से पृ० ४५५ तक जो तीन महत्त्व के लेख हैं, उन्हें भी इस विषय के अध्येता को पढ़ जाना चाहिये । वे हैं :

Wish-Fulfillment and Intuition in Art (By-D.W.N. Parker)

The Foundations of Aesthetics (By-E. P. Nowes)

Objective Form and its Role in Aesthetics (By-I. G. Cambell)]

कला-समीक्षा में आनन्दवाद अथवा सुखवाद का सर्वोत्तम समर्थन हेनरी रजर्स मार्शल की एक पचास वर्ष पुरानी पुस्तक 'Pain, Pleasure and Aesthetics' में विस्तारपूर्वक मिलता है; विशेषतः उसके अन्तिम अध्याय Algedonic Aesthetics में जहाँ कि वह नीतिशास्त्र की उसी पुरानी मान्यता को दुहराता है कि 'अच्छा वही है जो सुखदायक है, और जो सुखदायक है वही अच्छा है : शिवम् आनन्दम् एक हैं ।'

इस 'सौन्दर्यशास्त्रागत सुखवाद' की तर्कयुक्त सुन्दर धज्जियाँ उड़ाई हैं जान डिवी ने अपने एक नये ग्रन्थ 'Art as Experience' के ग्यारहवें अध्याय में । संक्षेप में, उसके मतानुसार यह आनन्दवाद इसलिए टिक नहीं सकता कि :—

१—सौन्दर्य वही क्यों जो हमारी उच्चतर इन्द्रिय-संवेदनाओं को व्यक्त करे ? पक्का गाना तो सौन्दर्य का विषय है क्योंकि उसमें परिष्कृत रुचि का प्रश्न है; पक्का खाना सुन्दर क्यों नहीं ?—यह भी तो आनन्द देता है । पाककला क्यों नहीं ललितकला; क्यों वह उपयोगी कला है ?

२—यदि कला को क्रीड़ा मान कर आनन्द ही उसका उद्देश्य माना जाय, तो सभी खेल तो कलात्मक नहीं होते । उदाहरणार्थ मृगया या मनुष्यों का मनुष्यों द्वारा प्रपीड़न (ग्लैडियेटरों के रोमन खेल) । और इस क्रीड़ा की इच्छामात्र से तो कोई नीति निर्धारित नहीं होगी ?

३—सुखवादी कला को शृङ्गार और वीर-रस की आदिम-भावनाओं से जोड़ते हैं । यह बात आदिम-मानव के सम्बन्ध में कहाँ तक सच मानी जाय, यह स्वयं सन्देहास्पद है । करुणा क्यों नहीं है आदिम कला-विकार और उससे कैसी आनन्दोपलब्धि होती है ?

४—यदि सौंदर्य-विज्ञान एक सहानुभव पर आश्रित वस्तु है, तो उसमें व्यक्ति की सुखैषणा ही कला का आद्यंत है यह सिद्धांत कैसे टिक सकता है ? दो व्यक्ति क्यों एक ही चीज में आनन्द मानें ?

५—कांट आदि बुद्धिवादी सौंदर्य को राग-विराग के

परे की वृत्ति मानते हैं। मूल्य-निर्धारण में ऐसी मानसिक तटस्थता आवश्यक है। जहाँ आनंदादि आलोच्य वस्तु से तादात्म्य करानेवाली भावुक वृत्तियाँ हैं, वहाँ मूल्य निर्धारण कैसे संभव है?

अतः इस विवाद को आगे न बढ़ाकर मैं बर्नर्ड बोज़ांके के 'थ्री लेक्चर्स आन एस्थोटिक्स' के एक वाक्य को आधार मानता हूँ कि 'सच्चा आलोचक वही है जो कि योग्य प्रकार से कलाकृति द्वारा आनंद ग्रहण कराना सिखाय' मधुमक्षिका की भाँति वह फूलों का पराग एकत्रित कर शहद सा सुनहरा और मीठा सत्य सब दे। परन्तु वह स्वयम् अगर मधु में डूबा रहा, तो उसकी मृत्यु वहीं निश्चित है।

फिर यहाँ साँत बूव्ह की एक बात भी मुझे जँचती है कि 'प्रकृति विविधता से भरी हुई है। प्रतिभा के रूप अनेक हैं। फिर ऐ आलोचक! तू ही क्यों एक ही 'काट' (पैटर्न) का आग्रह धरता है।' (लोकी क्रिटिकी, पृ०४१५)

रविबाबू ने अपने 'सृजनात्मक अभेद' में 'कलाकार के धर्म' में इस औपनिषदिक 'आनंदमरूपममृतम्' मंत्र को बहुत बार दुहराया है। परन्तु क्या कला कृति का मूल्य इसीसे कम हो जाता है कि बजाय वह मीठी-मीठी गुदगुदी आपको देने के, थप्पड़ देती है, चोट करती है या वितृष्णा से आपका मन भर देती है?

प्रश्न ३—सौन्दर्य के साथ क्या उपयोगिता और आचार का प्रश्न सम्बद्ध किया जा सकता है?

पुनः यह प्रश्न साहित्य के क्षेत्र के बाहर का है। जहाँ पिछला प्रश्न मनोविज्ञान के क्षेत्र का था, यह नीति-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला है।

किसी ने पूछा है—

Is there any moral shut
Within the bosom of a bud?

अर्थात्

कली के अन्तराल में सुप्त
नीति का है क्या कोई तत्त्व?

वर्ड्स्वर्थ का उत्तर होगा—नहीं, नहीं मुझे तो पत्थरों में परोपकार के प्रवचन और झरनों में वेद पड़े मिलते हैं (Sermons in stones and books in running brooks.)

दूसरे किसी टेनीसन जैसे का उत्तर होगा—यह जो सत्य, शिव, सुन्दर, तुम तीन अलग नामों से पुकारते हो, एक ही मूल्यवान मणि के तीन पहलू (facts) हैं।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि उपर्युक्त कविका प्रश्न कि कली के भीतर कोई नीति-तत्त्व निहित नहीं है, ऊपर से दिखाई देने में बड़ा सरल है; असल में वह जटिल है। विशुद्ध सौंदर्य जैसी कोई चीज़ सिवा हमारे भावलोक के कहीं बाह्य जगत् में नहीं बसती। हमारा भाव-जगत् भी अंततः सामाजिक परिपार्श्व में बनता मिटता रहता है। जो एक हौटेंटौग के लिये सुन्दर और प्रेय होगा, शायद आपके लिये वह असुन्दर हो। और जो आज उपयोगी है, कल न रहे—चाहे वे मनु के नियम हों, चाहे मूसा के। आचार शब्द भी बड़ा सापेक्ष है। तिब्बत में वधू के सौंदर्य की परीक्षा उसके ललाट और हथेली पर जमे मैल की अधिकाधिक पुटों से करते हैं. यही वहाँ का आचार है। एक युग में जो सती-प्रथा या अछूत-व्यवस्था सदाचार थी, आज दुराचार मानी जाती है। सो, जीवन के देखने की इन तीन दृष्टियों को यों काट-पीटकर अलग न कीजिए। जीवन पानी की सतह की भाँति है। जिस पर लाख तलवारों के प्रहार कीजिए, वह कटता ही नहीं।

आचार कर्म का प्रश्न है; सौंदर्य भावना का—उपयोगिता सुविधा का। कर्म और भावना में वैसा मौलिक विरोध नहीं है जैसा कि आज के मानव में दिखाई देता है। अतः जो अनभिव्यक्त कर्म है वही भावना है; भावना की अभिव्यञ्जना कर्म है। सत्प्रवृत्ति या सौंदर्य-प्रेम हमें सदाचार की ओर प्रवृत्त करता है। परन्तु आप पूछेंगे कि बहुत बार सौंदर्य के प्रति आसक्ति क्या दुराचार के लिये प्रवृत्त नहीं करती? फूल का लालच उसे चुराने की ओर हमें प्रेरित कर सकता है; या जैसे अल्लाउद्दीन और पद्मिनी का प्रसंग प्रसिद्ध है; या आये दिन समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं, वे बलात्कार की घटनाएँ उदाहरण हैं। यहाँ प्रकृति सुन्दर नहीं है, अतः कर्म भी दुराचारमय हैं। पुनः पुण्य और पाप के भी बाँट बदलते रहते हैं। 'त्यागपत्र' की मृणाल

का आचरण या शेखर का शशि से संबन्ध आज हम पुरानी तुलापर नहीं तौलते। Intention (हेतु) और Motive (उद्देश्य) को हम देखते हैं। अब दुनिया वाले वैसे नहीं रहे कि साकेतकार के शब्दों में सिर्फ—'काम नहीं. परिणाम निरखते' हों, उपयोगिता के भी मान बदलते हैं। कलतक शिवाजी छत्रसाल की तलवार की प्रशंसा या वीर-पूजा बड़ी चीज़ थी, उपयोगी भी उसे कुछ हद तक कह सकते हैं, आज 'परमाणु बम' के युग में वह सब निरर्थक है, निरुपयोगी है।

आशय, मेरे मत से सौंदर्य में उपयोगिता या आचार को संबद्ध करने का प्रश्न ही नहीं बचता चूँकि सौंदर्य स्वयम् एक अरूप, अमूर्त भावना है, और वह हमारे आचार, उपयोगिता, विचार और सैकड़ों अन्य वस्तुओं से मिलकर बनती है। उन सब की चर्चा यहाँ अनावश्यक है।

प्रश्न ४—प्रभाववादी आलोचना का मूल आधार क्या है ?

मैं प्रश्न को समझा नहीं। प्रभाववादी से क्या तात्पर्य स्पिंगर्न का हवाला देकर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उसे 'ज़नानी' आलोचना कहा है। आलोचक के मन पर पड़ने वाला प्रभाव व्यक्त करने वाली, या पाठक के मानसिक प्रभावों की आलोचना करनेवाली ? प्रभाववादी शब्द क्या Impressionist के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है ? यह शब्द प्रभाव, बिम्ब अथवा 'इंप्रेशन' स्वयम् ऐसा निर्मूल और निराधार है कि उसका मूलाधार-चक्र बेचारा क्या होगा ? हिन्दी में मेरे मत से पं० पद्मसिंह शर्मा के बाद प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रभावीवादी आलोचक हैं।

मैं जहाँ तक जान पाया हूँ यह शब्द मूलतः चित्रकला के एक सम्प्रदाय से लिया गया है। वहाँ से वह कविता में प्रयुक्त हुआ और वहाँ से वह आलोचना में आया है। इसका अर्थ यही है कि एक कलाकृति को देखकर, सुनकर, पढ़कर आलोचक के मन में जो विविध मानसिक आघात-प्रत्याघात हों उन्हें बिना किसी sofitistication या मंझले सेंसर के ज्यों-का-त्यों ईमानदारी से, आलोचक व्यक्त कर दे। यों बहुत से 'प्रभाव' एकत्र होकर, कुछ समग्र रूपसा आलोच्य वस्तु का बन पायेगा अर्थात् आलोचक का यह दावा कि वह लेखक के अर्थ को पूरी तरह पा ही गया है, यहाँ फीका ठहरेगा। वर्जीनिया वूल्फ ने अपने 'दी कामन रीडर' में इसकी सुन्दर विवेचना की है। वह कहती है—'जीवन कोई करीने से सजे-सजाये दीयों की नुमाइश नहीं है। जो उन्हें गिन लिया और छुट्टी पायी। वह तो एक ऐसा आभालय है जो आसानी से शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता, उसमें मन की सभी क्रिया प्रति-क्रियाओं का नित नया आंदोलन प्रतिबिंबित है.......।

प्रभाववादी कविता के सम्बन्ध में जैसे नियम बनाना मुश्किल है, प्रभाववादी आलोचना की भी रूपरेखा अनिश्चित है।

प्र० ५—आधुनिक समालोचना की मूल प्रवृत्तियाँ कौन-कौन सी हैं और हमारी साहित्यिक प्रगति के लिये उनका क्या मूल्य है ?

प्रश्न को हिंदी की ही सीमा में लें। हिंदी की आधुनिक समालोचना के स्थूल रूप से कुछ ऐसे वर्ग हो सकते हैं :

१—पांडित्यपूर्ण आलोचना (जो प्राचीन रीति और ऐतिहासिक तथ्यों पर अधिक आश्रित है)—हजारीप्रसाद द्विवेदी, लाला गुलाबराय, रामचन्द्र शुक्ल, सुधांशु आदि।

२—छायावादी आलोचना (जो प्रभाववादी भी कही जा सकती है) शांतिप्रिय द्विवेदी, प्रो० नगेन्द्र, सत्येन्द्र आदि।

३—मार्क्सवादी आलोचना (जो कला-सृष्टि के सामाजिक परिपार्श्व, वैज्ञानिक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद को आधार मानती है : आदर्शः कडवेल, एल्फ फाक्स, क्रिनजेंडर आदि)—नन्ददुलारे वाजपेयी, शिवदानसिंह चौहान, डा० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अंचल, अमृतराय आदि।

४—मनोवैज्ञानिक आलोचना (इस पंथ की कोई निश्चित धारा नहीं —इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, नरोत्तम नागर, शिवनाथ, प्रभाकर माचवे।

पहिले दो तो विद्यार्थियों के लिये बहुत उपयोगी कार्य कर रहे हैं। तीसरे सबसे अधिक प्रगतिशील हैं। यदि उनका कुछ कठमुल्लापन और 'थ्योरी' से अधिक चिपटने की प्रवृत्ति कम हो तो सबसे अधिक मूल्य इसी आलोचना-धारा का है। चौथी धारा एकाकी, त्रिशंकु, विजनवती

आलोचना की है, जो कि तीसरी के अनावश्यक आवेश को 'ब्रेक' का काम करती है। जो आलोचना-शैली आगे हिंदी में स्थायी होगी वह इन चारों प्रकारों की एक सुन्दर नवीन अन्विति (Syntheis) होगी।

प्र० ६—क्या आप यह समझते हैं कि प्रगतिवादी के लिये प्राचीन साहित्य और रस-सिद्धान्त से पराङ्-मुख होना आवश्यक है ?

हरएक प्रगतिवादी के लिए क्या आवश्यक है और क्या अनावश्यक इसका निर्णय आप और हम करने वाले कौन होते हैं ? यह निर्णय तो प्रगतिवादी ही करेगा। जहाँ तक प्रगतिवाद को मैंने समझा है, ऐसी पराङ्मुखता आवश्यक नहीं। राहुल सांकृत्यायन ने 'हंस' में गत वर्ष प्रगतिवाद पर लेख लिखा था, उसमें स्पष्ट था कि वे प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर और कलात्मक रूपों से किसी भी प्रकार अपने को विच्छिन्न नहीं मानते। केवल वे पुरानी बातों में नया आशय और नये प्राण फूँकना चाहते हैं। उदाहरणार्थ जननाट्य-संघ की रामलीला। अतः प्राचीन साहित्य न पढ़ो ऐसा तो कोई भी प्रगतिवादी नहीं कहेगा। हाँ, पोंगापंथी मत बनों यह तो हर कोई सयाना आदमी कहेगा। प्राचीन-साहित्य (तुलसी-रामायण और महाभारत) का अनुवाद एक अत्यन्त प्रगतिशील राष्ट्र सोवियत् में हो रहा है, जो इस बात का प्रमाण है कि प्रगति का और प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा का कोई तीन और छः का रिश्ता नहीं है।

हाँ, रस-सिद्धान्त आदि के विषय में अवश्य मेरा मत-भेद है। क्योंकि नवीन मनोवैज्ञानिक संशोधन ने प्राचीन रस-सिद्धान्त में आमूल अन्तर उत्पन्न कर दिये हैं (उदाहरणार्थ फ्रायड वात्सल्य को भी रतिभाव ही मानता है; या जुगुप्सा या घृणा भी एक प्रकार की विपरीत रति भावना ही है)—अतः चूँकि रस-सिद्धान्त कोई अटल वस्तु नहीं है छंद, अलंकार-विधान, भाषा आदि बाह्यरूपों के समान, इनकी भी नये सिरे से पुनर्व्याख्या होना आवश्यक है। प्राचीन रस-सिद्धान्त रचनाकारों के समय संसार बहुत छोटा था, सरल था। आज समाज-जीवन के प्रश्न अधिक जटिल बन गये हैं और आज का कवि जहाँ आडेन के शब्दों में स्वयम् नये संसार और नये इतिहास-निर्माण की आत्म-विश्वासपूर्ण 'हुँकार' कर रहा है, वहाँ बेचारे रससिद्धान्त तो कहाँ के कहाँ उलट-पुलट जायँगे ही। फिर भी उन्हें बदलने के लिये भी, उनका अध्ययन तो आवश्यक है ही। पराङ्मुख तो प्रगतिवादी केवल प्रतिक्रिया और पलायन से होगा, अन्य किसी से नहीं।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

[श्री सत्येन्द्र एम० ए०]

रत्नाकरजी का जन्म हुआ सन् १८७२ में और मृत्यु २१ जून १९३२ में। हिन्दी में यह 'द्विवेदी युग' कहा जाता है। अपने साहित्य के इतिहास को हम यदि युगों में विभाजित करें तो आधुनिक युग का दूसरा उत्थान द्विवेदी युग माना जायगा। भारतेन्दुजी के पश्चात यही युग प्रधान हुआ। भारतेन्दु युग ने नव-निर्माण के जो बीज बोये, जो रूप खड़े किये, वे इस दूसरे युग में अंकुरित और पुष्पित हुए तथा परिमार्जन और संस्कार से वे निखरे भी। भारतेन्दु युग के विश्लेषण से विदित होता है कि उसमें दो तत्वों का संघर्ष आरम्भ होगया था। एक था 'युग-युग के साहित्य' का, दूसरा 'युग-साहित्य' का। भारतेन्दुजी ने युग साहित्य को भी पूरा-पूरा प्रोत्साहन दिया, अनेकों सामायिक समस्याओं पर मर्म-स्पर्शिनी रचनाएँ की, फिर भी ऐसी रचनाओं में रचयिता का लाइटमूड' व्याप्त मिलता है। युग-युग के साहित्य का आदर भारतेन्दुजी में बहुत था। ऐसी रचनाओं में हमें उनके यथार्थ कवित्व के दर्शन होते हैं। युग-साहित्य

वाली धारा द्विवेदी-युग से पूर्व विविध पत्रों के द्वारा परिपोषित होती रही। अधिकांश मासिक-पत्र भी इस युग में समाचार-विचार पत्र थे। द्विवेदीजी ने जब साहित्य परिमार्जन और संस्कार को महत्त्व देने के लिए 'सरस्वती' को सजीव कला का आदर्श बनाया, तब समाचार-विचार की साधारण प्रणाली छोड़ कर विशेष सुरुचि के प्रोत्साहन के लिए विशेष शिष्ट और परिष्कृत सर्जना को प्रेरित किया। फलतः साहित्य में कला का रूप कला सौन्दर्य का उपासक होने लगा। युग-साहित्य वाली प्रवृत्ति इस युग के आरम्भ में कुछ मंद पड़ी, 'युग युग के साहित्य' की तीव्र हुई। यथार्थ यह है कि भारतेन्दु के समय से रेनेसां (Renaissance) आरम्भ तो हुआ था, पर पूर्ण प्रभाव के साथ उसका उत्कर्ष द्विवेदी-युग में ही हो पाया। इस रेनेसां (साहित्यिक पुनर्जागरण) के मुख्य तत्व थे : १-प्राचीन साहित्य का अध्ययन, २-उसके गौरव की मान्यता, ३-उसकी प्रवृत्ति का अनुकरण, भारतेन्दुजी में, उनके नाटकों और काव्य में हमें ये सब बातें मिलती हैं। प्राचीन कवियों के प्रति आदर का भाव इस समय अगाध था। संस्कृत के काव्य और नाटकों के विविध अनुवाद इसके प्रमाण हैं। राजा लक्ष्मणसिंह ने तो कालिदास के मेघदूत को भी काव्य में अनुवादित कर डाला था। संस्कृत के प्राचीन कवियों में जो गुण थे उनके साथ हिन्दी के भक्त-कवियों की मनोदशा को मिलाकर इस युग ने युग-युग का साहित्य दिया। पर यह युग रीति-काल के पैरों में पड़ा हुआ था। अतः समस्त पुनर्जागरण के उद्योग में उस काल की एक खुमारी भरी हुई थी, एक रंगीनी और रसिकता भी। 'युग-युग के साहित्य' की यही दिशा द्विवेदी युग की मुख्य दिशा रही। और उस काल में जितने भी संघर्ष चल रहे थे उन सब में से निकल कर भी रत्नाकरजी ने इसी दिशा को परिपुष्पित और सुरभित किया। उन्होंने तो सामयिकता का एकदम तिरस्कार कर दिया, प्रत्यक्षतः; यों अप्रत्यक्षतः तो भारतेन्दु के युग की दूसरी प्रवृत्ति का रूप इन में भी दीखता है और उसमें सामयिकता का संदेश पूर्णतः विद्यमान है। साहित्यिक जागरण के साथ राजनीतिक संघर्ष में एक नए पहलू को इस युग में बल दिया गया था वह भारतीय गौरव की पुनर्स्थापना के साथ स्वतन्त्रता के चाह के गीत गाना। इसके दो उद्देश्य थे एक भारतीयों में से हीनता-भाव-मंडल को दूर कर 'पुनरास्था' पैदा करना दूसरे मानसिक स्वतन्त्रता के संघर्ष के लिए सन्नद्ध कर देना। यही कारण है कि जन-भावों के प्रतीक 'प्रताप' 'शिवाजी' 'गुरु गोविन्दसिंह' जैसे स्वतन्त्रता-कामी व्यक्ति बने। इन पर भारतेन्दुजी के समय में तो लिखा ही गया, द्विवेदी-युग में भी अनेक कवियों ने लिखा है और उनमें रत्नाकरजी ने तो कमाल ही किया है। प्रत्यक्षतः तो रत्नाकरजी ने सामयिक विडम्बनाओं पर केवल दो चार ही छन्द लिखे जिनमें से कुछ तो 'शुद्धि' पर हैं, भारत की दशा और भारतीयों को प्रबोध देने के लिये भी कुछ पंक्तियां मिलती हैं। और एक यह छन्द है:—

एहो लंदनेश नन्दनेस लौं बिराजे रहौ,
छाजे रहौ छाया सुभ नीति सुखेली की।
ह्वै है सांति फेर वाही भाँति भव्य भारत में,
पाँति पछितैहै क्रांतिकारिनि झमेली की।
❀ ❀ ❀
पै है एक बाल एकबाल कम होन नाहिं,
ढाल कम ना है एक मालकम हेली की।

भारत के वीरों का यशोगान करते हुए 'लक्ष्मीबाई' के वर्णन में कवि ने बड़े ओज में ये पंक्तियाँ लिखी हैं :

झारति कृपान सौं गुमान ज्वान जंगिनि के।
फारत फिरंगिनी के फर को चली गयी।

तथा :

'सेन लै तुरंगी संग सेनप फिरंगी बीर,
जंगी नारि धीर धाइ धारिवौ विचार्यौ है।
❀ ❀ ❀
ठोकर दै अस्व कौं उड़ाइ वेगि वोकर पै,
तीखी तरवारि सौं विदारि महि डार्यौ है।'

और स्वतंत्रता के लिए प्रोत्साहन तो अनेक स्थलों पर है :

श्री ताराबाई में है :

'कहै रतनाकर पछाड़ि देस-द्रोहिनि कौं,
फाड़ि कै करैजौ हाड़-भूषन गढ़ावै जो॥
मातभूमि-वेदी पै हिए की दाह साखि राखि,
सविधि स्वतंत्रता के मंत्रहि पढ़ावै जो।

श्री नील देवी में :

फूँकि कै स्वतंत्रता को मंत्र सेन-अंत्र मांहि,
छत्री-धर्म-कर्म की समर्म सुधि ध्याई है ॥
कहै रतनाकर सपूत राजपूतनि कैं,
पूत-देश-भक्ति-महा-शक्ति जिय ज्याई है ॥

वीर नारायण में—

देश-हित नेमिनि स्वतन्त्रता के प्रेमिन कौं,
आपनौ चरित्र दिव्य दरपन कीन्हौ है।

इस प्रकार कवि ने ऐतिहासिक प्रसंगों के आधार पर स्वतन्त्रता-प्रेम को प्रोत्साहित करके सामयिक आवश्यकता के हल में योग दिया है।

पर, यह दिशा कवि की वाणी की प्रकृत दिशा नहीं—कवि की आकाँक्षा तो शारदा से चाहती है :

नन्ददास-देव--घन आनन्द-बिहारी-सम,
सुकवि बनावन को तुम्हैं सुधि ध्याऊँ मैं।

और भी—

"रावरे अनुग्रह-प्रताप कौ प्रकाश पाइ,
वालमीकि-व्यास-जसचन्द उजराये हैं।
कहै रतनाकर त्यौं बानी महारानी मात,
कति–मति सूर तुलसी हूँ चमकाये हैं।

❀ ❀ ❀

कहै रतनाकर मृदुल माधुरी सौं मोहि,
वैसे ही कवित्त कहिबे कौं हुलसाये हैं।
अब तौ हमारौ मन राखतै बनैगौ तोहि,
भाषतै बनैगौ बर जापै मचलाए हैं। आदि।

तो कवि ने अपने लिये वाल्मीकि, व्यास, सूर, तुलसी, नन्ददास, देव, घन आनन्द, बिहारी की परम्परा को चुना और द्विवेदी-युग के वातावरण में जितनी भी शक्ति और सफलता से वे इस परम्परा का निर्वाह कर सकते थे, उन्होंने किया। ऊपर जो विवेचन किया गया है, और जो उदाहरण दिये गये हैं उनसे स्पष्ट है कि कवि ने सामयिकता से जान-बूझ कर बचने की चेष्टा की है, और सम्भवतः विशेष प्रेरणाओं में ही वे वैसी पंक्तियाँ लिख सकें हैं। इस प्रवृत्ति के लिए उनकी राजनीतिक स्थितिओं पर भी उत्तरदायित्व डाला जा सकता है; वे सामन्तशाही सभ्यता के भग्नशेष के पूजक बने हुए थे, यह कहा जा सकता है। इस काल की संघर्ष-स्थिति के विश्लेषण में लोक-वृत्ति और नागरिक-वृत्ति का संघर्ष प्रधान प्रतीत होता है। सुरुचि और नागरिकता का जिस कला से गठबन्धन है रत्नाकर जी उसी कला के पोषक थे। उस कला का बाह्य-पक्ष शृंगार-प्रियता है, अंतर-पक्ष माधुर्य-भक्ति-भाव का पोषण। कलाकार का जो रूप रत्नाकर जी के समक्ष था, जिसकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है, व्यक्ति-केन्द्रित ही हो सकता था। उसके लिये 'कवि' जगत् के द्वन्द्व से विरक्त, वाणी के विलास अथवा वाणी के मनोरम प्रकाश में ही मग्न रहना पसन्द करेगा। संसार के महान कवियों में हमें यह प्रवृत्ति निरपवाद रूप से मिलती है, उसके लिए रत्नाकर को अलग नहीं किया जा सकता।

रत्नाकरजी के काव्य में जो प्रणालियाँ मिलती हैं उनका भी वीजारोपण हरिश्चन्द्र युग में हो चुका था। रत्नाकरजी के 'हरिश्चन्द्र' की ये पंक्तियाँ देखिये :

भए एकट्ठा आनि तहाँ डाकिनि-पिसाच-गन,
कूदत करत कलोल किलकि दौरत तोरत तन ॥

❀ ❀ ❀

आकृति अति विकराल धरे, कैला से कारे,

❀ ❀ ❀

कोउ कड़ाकड़ हाड़ चाबि नाचत दै ताली,
कोई पीवत रुधिर खोपरी की करि प्याली।

इन पंक्तियों में भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के श्मशान वर्णन की प्रणाली ज्यों की त्यों भूल रही है।

'गंगावतरण' की शैली वही है जो भारतेन्दुजी के 'गंगा वर्णन' में हमें मिलती है। शब्द भी वही हैं। कवित्त और सवैयों की प्रणाली तो रीतिकाल की परंपरा के रूप में इस युग में उतरी चली आयी थी और रतनाकरजी ने उसे पूरे अधिकार से अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया है। 'दोहावली' लिख कर रत्नाकरजी ने छोटे छंद के चमत्कार को भी देख लिया है—हाँ, 'पद' प्रणाली को रत्नाकरजी ने किंचित भी प्रश्रय नहीं दिया। पद नहीं लिखे। रत्नाकरजी में 'उक्ति' और 'रस' का अपूर्व संतुलन है। इस कवि में इतना 'रस' का मूल स्रोत भावोल्लास नहीं, जितना भावोत्कर्ष

है। सूर और मीरा की-सी सहज भक्ति रत्नाकरजी में नहीं। रत्नाकरजी की भक्ति चेतन विश्वास के परिणाम स्वरूप है, अतः माधुर्य के प्रति आकर्षण का भाव सौन्दर्य-वृत्ति पर विशेष निर्भर करता है, उतना आध्यात्मिक वृत्ति पर नहीं। कवि ने शृङ्गार की माधुरी को पूत-भावना का आधार बनाकर रस का संचार किया है, इसके उद्रेक के कारण ही माधुरी की उद्भावना नहीं हुई। यही कारण है कि इस माधुरी के चित्रण में कवि भाषा और उक्ति की मनोरमता को विवशतः विशेष महत्त्व दे गया है। इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि रत्नाकरजी की 'रसानुभूति' स्वोद्भूत नहीं कृत्रिम है। वह, मात्र, उतनी सहज आध्यात्मिक नहीं जितनी सूर अथवा मीरा की। सूर और मीरा का बुद्धि-व्यापार रस में लीन हो चुका था, वह व्यापार रस-सागर की अन्तर-तरंगों की भाँति ही था। रत्नाकरजी में वह व्यापार 'रस-अनुभूति' से परास्त नहीं हुआ। सागर में लहरों की भाँति वह प्रकट उदमुदित होता रहता है। संभवतः इसीलिए रत्नाकरजी 'पद' नहीं कह सके या लिख सके।

इन प्रणालियों के द्वारा रत्नाकरजी ने दो प्रकार की रचनाएँ कीं—एक प्रबन्ध-काव्य की, दूसरी मुक्तक। इनकी प्रबन्ध-रचनाओं में सर्वमान्य हैं—'गंगावतरण' तथा 'उद्धव शतक'। समस्त-रचनाओं पर ध्यान देने से विदित होता है कि कवि को 'काशी', 'गंगा', 'हरिश्चन्द्र' और कृष्ण, विशेष प्रिय हैं। इनके सम्बन्ध में उनकी वाणी मचल जाती है, और बार-बार उन्हें इन्हीं विषयों की ओर प्रेरित करती है। कुछ विद्वानों का मत है कि रत्नाकरजी के व्यक्तित्व का जितना विशेष निकट सम्बन्ध 'उद्धवशतक' से हो पाया है; उतना उनकी दूसरी रचनाओं से नहीं हुआ। बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने 'रत्नाकर' की भूमिका में लिखा है :

"ऊपर कह चुके हैं कि भक्तों में भावुकता अधिक है और रत्नाकरजी में सूक्ति-प्रियता अधिक। परन्तु 'उद्धवशतक' की सूक्तियाँ भी एक अन्तर्निहित रस में डूबी हुई जान पड़ती हैं। इसका अर्थ यही है कि इन छन्दों में रत्नाकरजी का कवि-हृदय कारीगरी की खोज करता हुआ भी अपना वह व्यापार भूल गया है और मानों शिथिल होकर उन्हीं भावनाओं में विश्राम चाहने लगा है। रत्नाकरजी की इससे अधिक तन्मयी काव्य-साधना दूसरी नहीं मिलती। भवभूति की प्रसिद्ध पंक्ति—'एको रसः करुण एव निमित्त भेदात्' भिन्न भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न मात्रा में मान्य होगी। महाकवि रवीन्द्रनाथ ने एक स्थान पर कहा है 'हमारे सुख-शृङ्गार के सम्पूर्ण साज में दुख की एक प्रच्छन्न छाया मिली हुई है।' रत्नाकरजी भी शृङ्गार-प्रिय व्यक्ति थे; उन्होंने अधिकांश शृङ्गारी कविता ही लिखी है। उनके जीवन-व्यापी शृङ्गार में छिपी हुई दुख की छाया ही मानो 'उद्धवशतक' का केन्द्र पाकर साकार हो गयी है। सच ही है—'हमारी श्रेष्ठतम कविता वही है जो करुणतम कथा कहे'।

इस कथन का यह भाग तो ठीक ही है कि रत्नाकरजी में उक्ति-प्रधान्य है, पर रस अन्य रचनाओं में भी उतना गौण नहीं जितना लेखक ने बताया है। और यह कि रत्नाकरजी में शृङ्गार की प्रधानता थी, विशेष प्रमाण से पुष्ट नहीं होता। व्यक्तितः वे सामन्तवादी-विलासी वातावरण के अंग थे, पर काव्य-रचना में उनका यह शृङ्गार अत्यन्त संयम से प्रकट हुआ है। नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित 'रत्नाकर' की पृष्ठ गणना करने पर हमें यह विदित होता है कि, रत्नाकर जी ने ५९२ पृष्ठों में कविता की। इनमें से —

शृङ्गार लहरी—६२
वसंताष्टक—४
ग्रीष्माष्टक—४
वर्षाष्टक—४
शरदाष्टक—४
हेमंताष्टक—४
शिशिराष्टक—४
प्रभाताष्टक—४
संध्याष्टक—४
अन्योक्ति—१
स्फुट-काव्य—३४

दोहावली—३ में ही शृंगार की भावना विशेष मिलती है। इनमें भी ऋतु वर्णनों के बहुधा-स्थल प्राकृतिक

सौन्दर्य का चित्रण करके ही रह जाते हैं, फिर भी इन सबका योग केवल १३२ पृष्ठ होता है। जो चौथाई से भी कम है। अतः शृंगार-प्रियता कवि के काव्य में उसकी वृत्ति के अनुसार अन्य माधुर्य आदि गुणों का रूप धारण करके व्याप्त तो मिलती है, पर अन्य विषय, विशेषतः प्रबन्ध रचनाओं में रत्नाकर जी की काव्य-प्रतिभा विशेष प्रकट हुई है।

कवि ने प्रायः ब्रजभाषा में ही लिखा है।

'यशोधरा' में गुप्तजी की भक्ति-भावना

[श्री सिद्धिनाथ तिवारी]

[यशोधरा यद्यपि बुद्ध-पत्नी और राहुल की माता हैं तथापि वह हिन्दू रमणी का ही प्रतीक हैं। लेखक महोदय ने दिखलाया है कि पुस्तक में वैष्णव भावना का ही प्राधान्य है। भगवान् बुद्ध निवृत्ति पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं और यशोधरा प्रवृत्ति का। वह बन्धन में ही मुक्ति चाहती है। यद्यपि पुस्तक वैष्णव भावना से ओत-प्रोत है तथापि विजय निवृत्ति की ही होती है। —सम्पादक]

भारतीय भक्ति-मार्ग का प्रधान विषय कला के माध्यम से निराकार को साकार रूप देकर समझना है। अवाङ्मनसगोचर परमात्मा भाव के आश्रय से व्यक्तित्व विशिष्ट बना दिया जाता है। वैदिक साहित्य में वैष्णवीय भगवत्रूप राम की चर्चा नहीं के बराबर है। कारण वहां वैष्णव धर्म एकान्तिक था। इसका पूर्ण आश्रय रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों में ही मिला, शंकर अपने अद्वैतवाद में भाव की अद्वैतता जो चाहते हों, क्रिया में द्वैतता ही चाहते थे। वे मानव को आजीवन गुरुभक्त और ईश्वर भक्त बने रहने का परामर्श देते हैं।[1] उनके विचारानुसार चित्तशुद्धि के लिए भक्ति की नितान्त आवश्यकता है[2] और भक्ति की यही भावना तुलसी की पावन वाणी का स्पर्श करती हुई वैष्णव धर्म की रामाश्रयी भक्ति शाखा के नवीन प्रतीक मैथिलीशरण गुप्त में आ सिमटी है।

गुप्तजी की अधिकांश कविताओं के भीतर एक भक्ति-विह्वल हृदय का पवित्र आवेग है, जो इस नवयुग में एक मात्र इन्हीं की विशेषता है। 'यशोधरा' में कवि का मुख्य कर्त्तव्य एक उपेक्षिता के आंसुओं का मूल्याङ्कन करना है। उनका महत्व प्रदर्शित करना है। इस आवेश में कवि इतना व्यग्र होजाता है कि वह उसकी जाति-पांति रहन-सहन, आचार-विचार सभी का विस्मरण कर उसकी भावनाओं को अपने अन्तःकारण की ही वस्तु समझकर उसमें लोटपोट होजाने के लिए मचल उठता है। तभी तो यशोधरा के वैदिक चोले में वह वैष्णव धर्म का तुलसी गंगाजल डाल कर उसे चेतन बनाने की चेष्टा कर रहा है। बौद्ध-भावना पर यहां (यशोधरा में) वैष्णव-भावना का कितना अधिक भार है यह 'यशोधरा' के पाठकों से छिपा नहीं।[3] कवि अपने राम को वह किसी वेश में आवे,

१—यावदायुस्त्वया वंधो वेदान्तों गुरुरीश्वरः।
मनसाकर्मणा वाचा श्रुतिरेवैष निश्चयः॥
भावाद्वैतं तदा कुर्यात्, क्रिया द्वैतम् न कर्हिचित्।
अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह॥
—तत्वोपदेश, ८६-८७।

२—शुद्धयति हिंनान्तरात्मा कृष्णपदांभोजभक्तिमते।
—प्रबोध-सुधाकर, १६७ वाँ श्लोक।

३—हम किसी भी दशा में 'यशोधरा' को बौद्ध-धर्म की विशेषता रखती हुई पुस्तक नहीं कह सकते। इसमें बौद्ध-धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों—पंचस्कंध और रत्न-त्रय—की भी विवेचना नहीं है। थोड़ी भी बौद्धिक गन्ध के लिए 'सुतपिटक' में वर्णित पञ्च निकायों (दीघ, मज्झिमा, संयुत्त, अंगुत्तर तथा खुद्दक) का उल्लेख मात्र भी आवश्यक था। 'परिसंभिदा', 'थेरी गाथा' एवं 'विमानवत्थु' में वर्णित

पहचान ही लेता है। इसीलिए सिद्धार्थ का अस्तित्व कवि के राम से भिन्न नहीं है। 'यशोधरा' के मंगलाचरण में ही देखिए:—

राम तुम्हारे इसी धाम में,
नाम रूपगुण लीलालाभ।
इसी देश में हमें जन्म दो,
लो प्रणाम हे नीरजनाभ।
धन्य हमारा भूमिभार भी,
जिस से तुम अवतार धरो,।
भुक्ति-मुक्ति माँगें क्या तुमसे,
हमें भक्ति दो ओ अमिताभ।

अंधा क्या मांगे दो आँखें, भक्त को भक्ति के अतिरिक्त और चाहिए क्या? उसे उसका राम चाहिए, बस! उसके भगवान उसे साकेत में दिखें तो, द्वापर, पंचवटी, कपिल-वस्तु में दिखें तो, वह सभी जगह अपने राम की व्याप्ति पा लेता है। वह वेणु के साथ हो, धनुषबाण के साथ हो, या मधुकरी-पात्र के साथ हो—वह तो राम ही है, दूसरा कोई नहीं।

'यशोधरा' में भक्ति के दो आलम्बन हैं—यशोधरा तथा सिद्धार्थ। एक का पक्ष राग का है, दूसरे का विराग का, एक नवीन है, दूसरा प्राचीन। गौतम ने पहले से ही संसार की असारता देखकर अपनी आत्मा को वैराग्य की ओर उन्मुख कर रक्खा है। कबीर ने जिस अक्खड़ता के साथ सांसारिक जीवन के प्रति विरक्ति प्रकट की थी। सिद्धार्थ भी भीतर-भीतर कंकाल मात्र बाहर-बाहर है टीमटाम रह कर संसार की निःसारता प्रकट कर रहे हैं। यह ज्ञान का पक्ष है। नवीन साहित्य की देन है शारीरिक जीवन के प्रति आसक्ति, यही भक्ति की मूल भित्ति है, जिस पर भक्त जन्म-जन्म तक सशरीर भक्ति करने की याचना अपने भगवान से करता है। इस पक्ष का प्रतिनिधित्व 'यशोधरा' करती है!

सिद्धार्थ ने जीवन में नश्वरता देख कर 'सर्वं शून्यं सर्वं क्षणिकं' से भरे इस जगत पर विश्वास नहीं किया। उन्होंने देखा, वर्तमान क्षण-क्षण में भूत में परिणत होता जा रहा है; यौवन की उमगों पर वृद्धावस्था का तुषार क्षण-भर में ही फैल जाता है; सभी क्षणस्थायी हैं—

मैं सूँघ चुका वे फुल्ल फूल,
झड़ने को हैं सब झरित झूल।
चख देख चुका हूँ मैं समूल—
सड़ने को हैं वे अखिल आम
ओ क्षीणभंगुर भव, राम राम!

यही नश्वरता यशोधरा के लिए एक विश्वसनीय विकास है। अनन्त प्रगति की एक विश्वगति है, जहाँ गौतम का तर्क है—

एक बार को किसी जन्म के,
साथ मरण अनिवार हाय।
बार-बार धिक्कार किन्तु,
यदि मृत्यु का शेष दाय॥

वहाँ यशोधरा मुक्ति को दूर हटा, जीवन को बंधनमय चाहती है—

निज बंधन का सम्बन्ध सयत्न बनाऊँ,
कह मुक्त भला किसलिए तुझे मैं पाऊँ?
माना; ये खिलते फूल सभी झड़ते हैं;
जाना, ये दाड़िम आम सभी सड़ते हैं।
पर क्या यों ही ये कभी टूट पड़ते हैं?
या काँटे ही चिरकाल हमें गड़ते हैं?
मैं विफल सभी, जब बीज़ रहित हो जाऊँ।
कह मुक्ति, भला किसलिए तुझे मैं पाऊँ?

इस दृष्टि-भेद का कारण यह है कि गौतम ने जीवन को खण्ड-खण्ड करके, गणित करके, देखा है; यशोधरा ने अगणित करके समष्टि से शृंखलित करके देखा है। इसीलिए यशोधरा पार्थिवता में एक अखण्ड लय ग्रहण करने में ही विशेष विकल हैं। गौतम को पार्थिवता के प्रति साकाँक्ष मोह नहीं था—इसे हम स्वीकार नहीं कर सकते। यदि ऐसा नहीं होता तो उनका मुग्ध हृदय पार्थिव यशोधरा के पार्थिव सौन्दर्य पर नहीं जा टिकता और वे तुरन्त उसकी क्षणभंगुरता की छानबीन नहीं आरम्भ करते—

सरल सिद्धान्तों का भी यहाँ उल्लेख नहीं है। गौतम द्वारा व्यक्त 'सर्वं भूत्यम्' की भावना भी हमारे 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवोब्रह्मैव नापरः।' से भिन्न नहीं है।

देखी मैंने आज जरा !
हो जावेगी क्या ऐसी ही मेरी यशोधरा !

नश्वरता में सृष्टि का जो गति शील सत्य है, यशोधरा उसी के प्रति जागरूक है। महादेवी के शब्दों में वह कह उठेगी—

अमरता है जीवन का ह्रास.
मृत्यु जीवन का चरम विकास।

पार्थिव-जीवन के प्रति गौतम की इतनी माया-ममता है कि नश्वरता उनके सम्मुख सौन्दर्य के एक अभिशाप के रूप में आती है। 'है शुभे स्वेत के साथ श्याम। यही नश्वरता यशोधरा के सामने अनन्त का एक वरदान बन कर आती है। मृत्यु तो नवजीवनदाता है, उससे डरने की क्या आवश्यकता ? जीवन के कष्ट मानव को सरसता से त्राण देने के निमित्त ही आते हैं। यदि वे नहीं रहे तो सुख, मंगल का मूल न होकर विश्व का मूल बन जाय ! तभी तो यशोधरा कहती है—

वह जरा एक विश्रान्ति, जहाँ संयम है;
नवजीवन दाता मरण कहाँ निर्मम है ?
भव भावे मुझको और उसे मैं भाऊँ।
कह मुक्ति भला किस लिये तुझे मैं पाऊँ ?

तुलसी की तरह यशोधरा ने भी 'भक्ति को भक्ति के लिये' ग्रहण किया है। भक्ति का प्रधान लक्ष्य आराध्य से प्रेम है[१]। तुलसी प्रेम का अस्तित्व मानते हैं—वह अवस्था नहीं जिसमें उसका लय हो जाय। जो प्रेम का मधु चख चुका, उसे मुक्ति के फल की क्या आवश्यकता ? यशोधरा का कहना है कि प्रेमी, प्रेमी होते हैं, कुछ मजदूर नहीं जो मुक्ति के रूप में प्रेम की मजदूरी वसूल करें। तुलसी ने कहा है—

अस बिचारि हरि भगत सयाने।
मुक्ति निरादर भगति लुभाने ॥

गुप्त जी इसी ताल पर कहते हैं—

जो जन तुम्हारे पदकमल के,
असल मधु को जानते।
वे मुक्ति की भी कर अनिच्छा,
तुच्छ उसको मानते ॥

'यशोधरा' के मंगलाचरण में ही कवि ने 'भुक्ति-मुक्ति माँगें क्या तुमसे हमें भक्ति दो ओ अमिताभ' कह कर मुक्ति पर भक्ति की श्रेष्ठता दिखायी है। सत्य तो यह है कि कवि में वैष्णवीय करुणा इतने ऊँचे स्तर पर है कि वह 'वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाने' कहता हुआ जब अबला जीवन की कहानी कहने बैठा तो नारी के 'आँचल के दूध' और 'आँखों के पानी' ने उस पर कुछ ऐसा जादू-सा काम किया कि वह अपना हृदय वहीं खो बैठा। यही कारण है कि वह बुद्ध के साथ पैर मिला कर नहीं चल सका। गौतम के बहाने यशोधरा के अन्तर की नारी ने एक बार एकान्त में कवि से यह प्रश्न किया—

सिद्धि मार्ग की बाधा नारी,
फिर उसकी क्या गति है ?
मैं उनसे पूँछू क्या जिनको,
मुझसे आज विरति है !

इस अन्त की जिज्ञासा ने कवि के हृदय में लीलामय जीवन के प्रति बुद्ध की विरक्ति नहीं, बल्कि एक विश्वासपूर्ण अनुरक्ति उत्पन्न कर दी ! यदि उसका वश चले तो वह 'पन्त' के शब्दों में कह उठेगा—

क्या यह जीवन ? सागर में
जलभार मुखर भर देना।
कुसुमित पुलिनों की क्रीड़ा—
बीड़ा से तनिक न लेना !

—गुंजन, पृ० ६

और, तब से कवि जीवन को हासहुल समय देखना चाहने लगा। किन्तु उसके मधुरमलय पुलकित जीवन ने निदाघ सन्तप्त समीर का भी स्पर्श पा लिया और यही कारण है कि यशोधरा के पट पर वैष्णवीय भक्ति की जीवन संबन्धिनी उल्लासमय अभिव्यक्ति के साथ ही विश्व-वेदना के तुहिनकण भी उमड़ पड़े हैं। फलतः कवि का जीवन संसार में बँध जाना चाहता है। पन्त के शब्दों में—

न्योछावर स्वर्ग इसी भू पर,
देवता यही मानव शोभन,

[१] भक्तिः वपदानुरक्तिरीश्वरे।

अविराम प्रेम की बाहों में
है मुक्ति यही जीवन बंधन !

गुप्त जी की भक्ति-भावना स्वतः पूर्ण है। एक निष्काम भक्ति की तरह कवि ने आरिसिकता को विश्वव्याप्त कर दिया है। मुक्ति पर भक्ति की श्रेष्ठता अंकित करते हुए मस्ती से आप गा उठते हैं—

सखे मेरे बंधन मत खोल।
आप बन्ध्य हूँ, आप खुलूँ मैं
तू न बीच में बोल।
सिद्धि का साधन ही है मोल। सखे०।

कुछ इसी तरह की मधुर अनुमति भावुक रवि ठाकुर को भी हुई थी ! कवि ने जीवन की समष्टि में वैराग्य और भक्ति की जब जाँच पड़ताल शुरू की तब उसकी भावुक आत्मा ने भक्ति का ही दामन पकड़े रहना श्रेयस्कर समझा। कवि का अन्तःकरण बोल उठा—

'वैराग्य साधने मुक्ति, से आभार नय
असंख्य बन्धन माझे महानन्दमय
लभिव मुक्तिर स्वाद।

❀ ❀ ❀

इन्द्रियेर द्वार
रुद्ध करि योगासन, से नहे आमार।
जे किछु आनन्द आछे दृश्य गन्धे गाने
तोमार आनन्द र'बे ता'र माझखाने।
मोह मोर मुक्ति रूपे उठिबे ज्वलिया,
प्रेम मोर भक्ति रूपे रहिबे फलिया।'

(वैराग्य साधन से प्राप्त मुक्ति मुझे नहीं चाहिए। मैं तो असंख्य (सांसारिक) बन्धनों के बीच में पड़ा हुआ महानन्द मुक्ति का स्वाद पाऊँगा। .... योगासन करने से यदि इन्द्रियों के द्वार बन्द होते हैं तो मुझे उसकी आवश्यकता नहीं। (संसार के) दृश्य, गंध, गान में जो कुछ भी आनन्द है उनके बीच मुझे तुम्हारा ही आनन्द उपलब्ध होगा। तब मेरा मोह ही मुक्ति रूप मे खिल उठेगा, मेरा प्रेम ही भक्ति रूप में सुफल हो जायगा।)

वैष्णव-भक्ति में ज्ञानी, परमात्मा का 'प्रौण तत्त्व' है। वह मानवीय स्तर से ऊँचा उठकर देवता से वरदान पाकर उसकी समकक्षता प्राप्त करने का जिज्ञासु है। भक्त की भावना कुछ दूसरी है। वह मनुष्य ही बना रहना चाहता है। देवता पूजा लेकर वरदान देंगे, पर मनुष्य तो हमें सुख-दुख, आशा-निराशा में सहयोग देगा, हृदय से हृदय मिलाकर और इसके ऊपर परमात्मा की कृपा बनी रही, तब बचा ही क्या है ? भक्ति के आवेश में मानवधर्मी कवि चण्डीदास बोल उठते हैं—

'शुनह मानुष भाइ,
सबार ऊपर मानुष सत्य
ताहार ऊपरे नाइ।'

गौतम ने सिद्धि-लाभ की, उन्हें संतोष हुआ—माया से वे अपनी आत्मा को दूर—बहुत दूर—समझने लगे। यशोधरा को इसी का गौरव है कि वह नारी की नारी ही बनी रही—सांसारिक मानवी के स्तर पर ही प्रतिष्ठित रही। निष्काम भक्त को भगवान की दया चाहिए, और क्या ? इसी में उसके जीवन की कृतकृत्यता है—

उस समाधि-बल की बलिहारी,
अच्छी मैं नारी की नारी,
पूजा तो कर सकूँ तुम्हारी
धुलूँ चरण धो कर ही।

वैष्णव मत में कर्म-चक्र का नियम इतना अटल माना गया है कि 'जो जैसा करेगा, सो तैसा भरेगा'—यह एक सार्वभौम सिद्धान्त-सा हो गया है। अगले जन्म में इस जन्म का फल भोगने के लिए हमारी उत्पत्ति फिर होगी, इसलिए हमें यथाशक्ति शुभकर्म करना चाहिए—यह सिद्धान्त वैष्णव धर्म का मेरुदण्ड है। इसीलिए वैष्णव धर्मी मुक्ति की उपेक्षा करते हैं—

आकर पूछेंगे जरा मरण यदि हमसे,
शैशव यौवन की बात व्यंग्य-विभ्रम से,
हे नाथ, बात भी मैं न करूँगी यम से,
देखूँगी अपनी परंपरा को क्रम से।
भावी पीढ़ी में आत्मरूप अपनाऊँ।
कह मुक्ति भला किस लिए तुझे मैं पाऊँ ?

इस आवागमन के चक्र से डर कर भागने की क्या आवश्यकता ? 'ज्योत्स्ना' का कवि इस जीवन चक्र के प्रति

जागरूक है। उसका तर्क सुनिए—

'निश्चय आत्मा है अक्षय,
निश्चय मृन्मय तन नश्वर
यह जीवन चक्र चिरंतन
तू हँस-हँस जी, हँस-हँस मर।'

यशोधरा अपने स्वामी की भक्ति में एकाग्र चित्त होकर अपनापन अपनाए, पुनर्जन्म की आकांक्षा रखती है। एक जीवन की लघु अवधि में भला वह कैसे तृप्त हो सकेगी ?—

जीवन मुक्त भाव से तुमने किया अमरपद लाभ,
पर उस अमर मूर्ति के आगे ओ मेरे अमिताभ !
सौ-सौ बार मरूँगी मैं !

वैष्णव-भावना की नींव वहाँ से आरम्भ होती है जहाँ भक्त भगवान की असीम सत्ता में विश्वास करता हुआ 'भगवान जो कुछ करते हैं, भले ही के लिए करते हैं' का सिद्धान्त अंगीकार कर लेता है। इस धरातल पर भक्त, जीवन के क्लेशों को आगामी मंगल की भूमिका मानने लगता है। यशोधरा को जीवन में तिलतिल गलना पड़ रहा है उसमें वह 'भगवान का कुछ भेद' मानती है-—

सोने का संसार मिला मिट्टी में मेरा,
इसमें भी भगवान भेद कुछ होगा तेरा।
देखूँ मैं किस तरह आज छा रहा अँधेरा,
फिर भी स्थिर है जीव किसी प्रत्यय का प्रेरा।

यह सत्य है कि जीवन का चक्र सदा एक-सा नहीं रहता। लेकिन दुःख ही संसार का नियम है—यह भी तो मान्य नहीं। प्रकृति के चक्र में विकृति एक अपवाद-मात्र है। आलक्ष्य सत्ता के अनुकूल उसे कालान्तर में ठीक रास्ते पर आना ही पड़ता है। भगवत् कृपा से संसार में कौन वस्तु सुलभ नहीं है ? —

तेरी करुणा का एक कण,
बरस पड़े अब भी कहीं।
तो ऐसा फल है 'कौन' जो,
मिट्टी में फलता नहीं ?

यशोधरा की भक्ति द्वारा बौद्ध धर्म की निराशावादिता पर वैष्णवीय आशावादिता की 'आशा रखो, आशा रखो, आशा रखो भाई !' मुहर जम जाती है।

मुक्ति और भक्ति सम्बन्धी अबतक के विवेचन में शिशु राहुल द्वारा उत्पन्न जिज्ञासा को हम नहीं भूल सकते। दुखियाओं के हृदय में यही 'मातः मैं भी तो मरूँ कैसी है वह मुक्ति' कह कर मुक्ति और भक्ति के बाह्य प्रकटीकरण का माध्यम बनता है। जिस प्रकार समय-समय पर यह जिज्ञासा उत्पन्न करता है उसी प्रकार अंत में उसका समाधान भी। राहुल ही, यशोधरा और गौतम, भक्ति और विरक्ति के बीच संयोजक कड़ी है। आरम्भ में गौतम के वैराग्यजनित द्वन्द्व के प्रकटीकरण के उपरान्त यशोधरा भक्ति का पक्ष ग्रहण करती है। राहुल के सहयोग से 'सन्धान' मिलने के पश्चात, इन दोनों पक्षों का एकीकरण हो जाता है। तुलसी ने भी सगुण और निर्गुण को दो मान कर अन्त में 'निर्गुणहिं सगुणहिं नहिं कछु भेदा'। कह कर दोनों में ऐक्य स्थापित कर दिया था। एक परम वैष्णव की भाँति गुप्तजी भी अपनी रामानन्दी कमण्डलु को अमिताभ के पदपद्म में रखकर सिर झुका लेते हैं। लेकिन इस समर्पण के मुख पृष्ठ पर भक्ति की वैराग्य पर प्रबलता लिखी मिलती है। गौतम को अंत में गर्विणी गोपा के सामने यह स्वीकार करना पड़ाः—

माना दुर्बल ही था गौतम,
छिपकर गया निदान।
किन्तु शुभे, परिनाम भला,
ही हुआ सत्यसन्धान ॥

गोपा का चिर संचित मान यहीं पिघल जाता है। वह तत्काल ही सकुची-सी कह उठती है:—

मिली आज मुझको गति मेरी,
क्यों न करूँ अभिमान ?

इसी अभिमान की धारा में बह कर यशोधरा के अंतर की वैष्णव नारी अपने अमूल्य रत्न को हँसते-हँसते 'बुद्धं-शरणं धर्मं-शरणं, संघं-शरणं गच्छामि' कहकर गौतम के चरणों में सिर टेकने का आदेश देती है:—

कृत-कृत्य हुई गोपा,
पाया यह योग, भोग अब जा तू।
आ राहुल बढ़ बेटा,
पूज्य पिता से परम्परा पा तू।

दिनकर की प्रवृत्तियाँ

श्री शिवचन्द्र शर्मा

[दिनकर नये युग के अग्रणी माने जाते हैं। फिर भी वे प्रगतिवादी दृष्टिकोण को कुछ सुधार के साथ ग्रहण करते हैं। रसवन्ती और द्वन्द्वगीत में उन्होंने इस नयी दिशा में क्या देन दी है, इसी की ओर इस निबंध के लेखक ने ध्यान आकर्षित कराया है। इस निबंध से दिनकर की प्रवृत्ति की साधारण दिशा का भी परिचय हो जाता है। —संपादक]

जीवन-साहित्य की विशद व्याख्या में प्रगतिवाद का सीमित अर्थ संकुचित वातावरण का ही निर्माण कर सकेगा अतः कवि दिनकर अपनी स्वतन्त्र दृष्टि से उसकी पृथक मापक विधि प्रस्तुत करते हैं। जीवन की विशिष्टता गुण और धर्म से युक्त कर्त्तव्य द्वारा सिद्ध होती है। उसमें असत्य-सत्य, पाप-पुण्य, अभ व पूर्णता का समुचित विश्लेषण रहता है। उसके विस्तार या प्रसार के लिये अन्तर की स्वच्छ प्रवृत्तियाँ सहायक-स्तम्भ प्रमाणित होतीं है, साहित्य का अलंकार-पक्ष इन स्वच्छ प्रवृत्तियों की प्रगति पर पूर्ण-विश्वास का आदेश देता है परन्तु प्रगतिवाद, बुद्धि की प्रयोगिक शक्ति के मूल में इन प्रवृत्तियों को विनाशक घोषित करता है। कर्म की प्रधानता में जैसे विश्राम-शान्ति के स्वप्न का भी निषेध हो। उसके भाव-रूप में हृदय की स्वच्छ-प्रवृत्तियाँ कदाचित कर्म की ओर उन्मुख न करती हों, किन्तु भावनाओं के प्रारम्भ की क्रियात्मक शक्तियाँ कहीं भी ऐसा समझने का अवसर नहीं देती। बुद्धि की चिन्तन-क्रिया, यदि भौतिकता से पृथक रहे तो प्रवृत्तियों की जागरूकता पर कर्म की सुनिश्चित निधियों का प्रभाव सिद्ध कर सकती हैं किन्तु जड़ और नीरसता की प्रच्छन्न गुप्त क्रियायें विचारों के जाल में जनों को उलझा देती हैं, फलतः निसर्ग विकृतियां सम्मुख विरोध बनकर आखड़ी होती हैं। निर्णय, निष्कर्म की पृष्ठभूमि में निसर्ग-विकृतियाँ मानव की स्वच्छ प्रवृत्तियों का महत्व नहीं प्रदर्शित होने देगीं। वे बुद्धि का गहन सम्बन्ध भौतिकता के आधार के साथ प्रदर्शित करती हैं। कवि भी ऐसे स्थल पर प्रवृत्ति की स्वच्छता के विश्वास से हटकर बौद्धिक-नियम में उलझ गया। ऐसी स्थिति में चलते चलते उसे जीवन की गति में परिवर्तन अपेक्षित हुआ, तीव्र सुलगते अनल को बुझाने की चिन्ता के परिणाम में भीतर की कान्ति की प्रवृत्तियां परिवर्त्तित हो गई और अनल की शान्ति के लिये सागर जल का रसवन्ती रूप अवतरित हुआ। दिनकर रसवन्ती में अस्वाभाविक रूप से उतरे, विचारों मे उलझने रहीं। परन्तु पलायन प्रवृत्ति की यह सूचना नहीं है, रेतीले यात्री को थकान की आवश्यकता प्रतीत हुई, जिन्दगी के जूये में हारा अवश्य, इतना सहज ही में स्वीकार किया जा सकता है। छायवाद का युग-धर्म अपनी सत्ता लेकर, हृदय की सरसता का प्रभाव दिखाता है किन्तु यह युग-धर्म कवि मे व्यक्ति का गुण है वर्ग की व्यञ्जना व्यञ्जना रहती है। जीवन की व्यापक प्रवृत्तियाँ पूर्ण थीं; अन्तर्दाह का अनल-किरीट उग्रता की तप्तता से अभिभूत था जलने के अनलदान में ही उसकी प्रवृत्तियाँ सफल हो सकतीं थीं। अपनी भावनाओं के प्रतिकूल सौन्दर्य में आकर्षण, मादकता, मुग्धता मिली, यह मूल में रहते हुए भी कि वह असत्य और क्षणभङ्गुर है। स्पष्ट रूप से कवि विचलित होगया, उसका विश्वास निर्बल सिद्ध हुआ। संसार के साथ पग मिला कर चलने की इच्छा ने उसे विवश किया, काव्य आनन्द से, भौतिक आनन्द की चिन्ता करने के लिये। अन्यथा कभीं उसकी उग्र परिणित शान्ति की स्निग्धता में न हो सकती। तर्क के निष्कर्ष में आन्तरिक प्रवृत्ति निर्बल और अदृढ़ प्रमाणित होगी, किन्तु इसके लिये उसकी मान्यताएँ अस्वाभाविक और असत्य नहीं

होनी चाहिए। भावनाएँ संदिग्ध और भ्रान्तिपूर्ण हो सकती थीं। रसवन्ती की सर्जना ने यद्यपि उसे संभाल दिया है, और पुनः भारतीय-स्वतंत्रता का अवसर नहीं खोने का आग्रह और आदेश दोनों कर रहा है। उसकी काव्य-कला का टेकनीक भारतीय वातावरण पर पुनः अवलम्बित होने लगा। जीवन के सत्य को रोमान्स में परिणत करने में कदाचित् अस्वाभाविकता की झलक प्राप्त हुई। फ्रायड के सेक्स सिद्धान्त से भी प्रभावित या अनुप्राणित उसकी प्रवृत्तियां हुईं। जिसके परिणाम में रसवन्ती की वे कविताएँ लिखी गईं जो रोमान्स की अच्छी जगह बना गयीं। परन्तु जीवन को निकट से देखने का अवसर कवि को प्राप्त हुआ, इसमें सन्देह नहीं। एक नई दिशा का सङ्केत होने जा रहा था एक नई चेतना को लेकर कि मध्य ही में सजगता और जिज्ञासु की भावना सँभल गयी, आन्तरिक प्रवृत्तियों के यन्त्रों का क्रम जैसे फिर ज्यों का त्यों सुस्थित हो गया। और कदाचित् इस सुस्थिता में कवि को परितोष है। टेकनीक का निर्वाह जीवन की आन्तरिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण में हुआ है, विशेषतः वहां, जहां विषमताएँ, निम्नपक्ष से भावनापक्ष का महत्त्व सिद्ध करने लगी है। नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रयोग के लिये नूतन कहे जा सकते हैं। किन्तु विश्वास और आशा के लिये वर्तमान योरोपीय आधुनिकता का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होगा पूर्व की वृत्तियों में भौतिकता का लोभ, मोह, नहीं था। कदाचित् इसीलिये 'अरस्तू' की विश्वस्त भावनायें और नियमन कवि के मूल में थे। नारी की संसृति की आवश्यकता के पीछे (निर्णय के लिये) अरस्तू ही अपनी सजगता के साथ कवि को घसीट रहा था। सहसा उठी आन्धी में परिवर्तन का झोंका आया। इस भावना को अवकाश मिला कि मैं अबतक पहाड़ों से होड़ लेने के नीरस विचार की चिन्ता में ही समय गवाँ रहा हूँ। विश्व की वैभव पूर्ण-सम्पत्ति के भोग का मैं भी अधिकारी हूँ। इन भावनाओं के आविर्भाव ने सस्ती भावुकता की जगह दी। साधारण जन की सूझ मिलने लगी। परन्तु इसको विस्मृत नहीं करना होगा कि भौतिकता के प्रभाव ने नारी के प्रति अश्लील और घृणा की भावना नहीं भरी। इसके प्रति आस्था और श्रद्धा की ही उसने अञ्जलि चढ़ाई है। प्रगतिशीलता की आंधी ने वर्त्तमान हिन्दी-कवियों में ऐसी प्रेरणाएँ दी है, जो योरप की अनुकृति पर हैं। उन्होंने नारी को रोमान्स की गोद का सुन्दर आकर्षक खिलौना प्रमाणित करने का घृणित प्रयास किया है। नारी की मनोदशायें, आन्तरिक चैतन्य प्रवृत्तियाँ, आखिर मानव के विशिष्ट गुणों से ही प्रभावित हैं। रसवन्ती की सरसता में नारी के स्नेह की स्निग्धता पवित्रता ही रही है। दिनकर की पौरुष प्रवृत्तियाँ दानवता से निर्मित नहीं सिद्ध हुईं, यह सांस्कृतिक रूढ़ियों का प्रभाव है। नूतन प्रयोग की इस अवस्था में कवि को (अपने ही दृष्टिकोण में ही सही) वह सफलता प्राप्त हुई जो आत्म-विश्वास की सिद्धि के लिये पर्याप्त है।

जीवन के सत्य के प्रति उपेक्षा की प्रवृत्ति अनुचित और हेय है। काव्य-सृष्टि में भी इस प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। भौतिक भाव रसवन्ती में जिस प्रकार गुम्फित हुए हैं; उसी प्रकार केवल बौद्धिक केन्द्र बिन्दु पर ही दर्शन के आधार से पुष्ट द्वन्द्वगीत की सृष्टि हुई। सहज, किन्तु अस्वाभाविक परिवर्तन उसमें भी हुआ। जीवन के सत्य के प्रति उपेक्षा प्रवृत्ति इसमें सूक्ष्म दृष्टि डालने पर दीखेगी। अपने को स्पस्ट करने में कवि को सफलता प्राप्त हुई है। साथ ही यह भी सत्य है कि रसवन्ती की अपेक्षा इसमें प्रौढ़ता और स्थायित्व अधिक है। भावों के प्रतिकूल व्यक्तीकरण को आश्रय नहीं दिया गया, होता तो निस्सन्देह द्वन्द्वगीत हृदय के गुण और काव्य के भी समस्त गुणों को ढो सकता था। बौद्धिक प्रवृत्तियों में मानो वैज्ञानिकता की क्रियात्मक शक्तियाँ भी मूर्त रूप से विद्यमान हैं। संघर्ष से ऊब कर विश्व से भागने की प्रवृत्ति नहीं है। जहाँ अपने जीवन की शान्ति का अन्वेषण हुआ है, वहाँ पलायनवाद के गुण कार्य करते हैं, परन्तु काव्यरहित वातावरण की क्षुब्धता हृदय में घर नहीं कर गयी है, अतः गम्भीर चिन्तक की तरह सुस्थिर भाव से आपने जीवन का तात्विक विश्लेषण किया है। मूड और टाइप की विलक्षणता भी वहाँ दीखती है, जहाँ चिन्तन का अलग स्थान दृष्टि-पथ में आता है। यदि सत्य के भाव-पक्ष ग्रहण करने

में भूल न की गई होती तो द्वन्द्वगीत में सम्पूर्णता की अभिव्यक्ति होती और कवि के लिए भी यह अच्छी प्रशस्ति होती। स्वच्छन्द भागी जाती हुई प्रवृत्तियों को पकड़ने का प्रयास किया गया है। स्वाभाविक जीवन के विषय में उसकी विचार-धारा ही बदल गई। परन्तु एक सुनिश्चित दिशा का निर्देश अवश्य होता है। अनेक विचारों के निष्कर्ष के उपरान्त द्वन्द्व गीत की सर्जना हुई, यह स्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाता है। उसकी प्रवृत्तियाँ कई विपरीत भावों की सर्जनात्मक-शक्तियाँ रखती हैं, द्वन्द्वगीत को यह प्रमाणित करने का सबल साधन प्राप्त है। साहित्य के सार्वभौम, शिव-भाव के प्रति विश्वास की जागरूकता है। वर्तमान युग का प्रभाव व्यञ्जित होता है। रेणुका, हुँकार के पश्चात् साहित्य की गति-विधि योरप की मान्यताओं पर निश्चित होती है। द्वन्द्वगीत का बैक ग्राउण्ड उन्हीं पर अवलम्बित होता है। अब एक प्रकार से कहना चाहिये जीवन की विविधता में विषमता की भावना का आरोप पाश्चात्य प्रभाव का प्रतिफलन ही है। साहित्य और जीवन की घनिष्ठता के लिए पहले उसकी यह धारणा नहीं थी कि वह जीवन की आलोचना है। मैथ्यू आर्नोल्ड के सिद्धान्त ने अपनी सत्ता का प्रभाव डाला, फलतः—Literature is the criticism of life की कवि को आवृत्ति करनी पड़ी। इसके पूर्व अभाव और आवश्यकता के आग्रह की प्रवृत्ति में लिखी गई कविताओं में अमेरिकन समीक्षक हेनरी हेजलिट के जीवन-साहित्य के दृष्टिकोण अपना प्रभाव-पूर्ण कार्य करते थे। अज्ञात रूप से उसकी क्रियात्मक शक्तियों ने काव्यात्मक प्रवृत्तियों में परिवर्तन की रेखा दौड़ाई। इन परिवर्तित प्रवृत्तियों से एक लाभ अवश्य हुआ, जिसने बुद्धि-धर्म और टेकनीक-रूप की व्यञ्जना शक्ति को प्रौढ़ और सजग बनाया। कला मात्र के लिये जीवन का निर्माण वह नहीं मानता, किन्तु एक कला अवश्य स्वीकार करता है। दूसरी उसकी व्यक्तिगत विशेषता यह है कि वह जीवन को एक परिधि में, एक सीमा में नहीं ग्रहण करता, प्रगतिवाद इसके प्रतिकूल जीवन को एक दायरे में स्वीकार करता है। अनेकों के जीवन का लक्ष्य अथवा उद्देश्य कर्त्तव्य-पक्ष को दृढ़ करना है, कवि मानो इसकी सिद्धि के लिये व्यग्र है। पाश्चात्य अध्ययन ने अपना यह प्रभाव नहीं डाला कि भावना की सादृश्यता की स्वीकृति के लिये विज्ञ-पाठक से आग्रह करो। परन्तु भारतीय संस्कृति की मनोवैज्ञानिकता उसने स्पष्ट स्वीकार की है। सब सिद्धान्तों को अपनी प्रवृत्ति के प्रतिकूल अपना कर उसने अपनी अन्ध-प्रज्ञा की सूचना नहीं दी है। किसी भी सैद्धान्तिक सामञ्जस्य के मूल में उसके विचारों का बड़ा संघर्ष रहा है। हृदय के गुण और बुद्धि-धर्म ने पुनः आवश्यक और उचित परिवर्त्तन किये। द्वन्द्वगीत की रचना के अनन्तर वे भारतीय सांस्कृतिक निधियां अपनी अपनी जगह फिर आगईं जो हुँकार के बाद एक ओर उपेक्षित पड़ी थी। आगा की भीख 'जवानियां' कविताएँ पूर्व की स्थितियों का एक प्रकार से प्रतिनिधित्व करती हैं। दूसरी ओर सृष्टि के मूल विधायकों की विश्वस्त किन्तु समस्त परिस्थितियों की, दीनता का कवि उल्लेख करता है। चारों ओर की दयनीय परिस्थिति की क्षुब्धता से क्षुब्ध होकर संस्कृति से नियमन से उसका विश्वास उठने लगता है। निर्णय में उसके मन्तव्य कहते हैं। विध्वंस की निश्चयता सिद्ध होने के सब लक्षण दीखते हैं। और परिणाम में शीघ्र अब मनु का दीप बुझने वाला है। सारी दुनियां अब उजड़ने की नहीं, उजड़ चुकी है। चिन्तन के क्षण में लिखी गई कविता 'अन्तिम मनुष्य' इसी विश्वास-निर्णीत आशय को व्यक्त करती है। मनुष्य सृष्टि पर उसे गर्व है, उसकी शक्तियों पर दृढ़ विश्वास है। सूर्य के यौवन का ह्रास हो चुका है, उसकी ज्योति क्षीण हो चली है, अद्भुत सृष्टि की विलक्षणता के लिए विश्व में यह प्रसिद्ध है, उसका वृद्ध होजाना स्वाभाविक था:—

वृद्ध सूर्य की आंखों पर माँडी सी चढ़ी हुई है।
दम तोड़ती हुई बूढ़ी-सी दुनियाँ पड़ी हुई है॥

सूर्य और दुनियां का विश्लेषण स्पष्ट भावों की सुन्दर अभिव्यञ्जना है। वर्त्तमान विद्यमान स्थिति का इतना सुन्दर गम्भीर वर्णन बहुत कम ही कविता में प्राप्त होगा। भीतर की स्वच्छ काव्यात्मक प्रवृत्तियाँ इतनी प्रौढ़ हो चुकी हैं कि उनका प्रतिफलन काव्य की प्रेरक-शक्तियों में सत्य बनकर आयेगा।

विचार-विमर्ष

कामायिनी का कुटीर

कामायिनी हिन्दी की एक अनूठी रचना है, वह प्रसाद की, हिन्दी को सबसे बड़ी देन है। उसका अध्ययन किसी भी दृष्टि से अनिवार्य है। पर ऐसा हो नहीं रहा है। थोड़े से सन्तोष करना हिन्दियों का काम है। कामायिनी पर जो कुछ हुआ अथवा हो रहा है वह परीक्षा के कारण। यदि कामायिनी का सम्बन्ध परीक्षाओं से न होता तो और भी उसका अध्ययन कम होता, यह हमारे लिये क्षोभ और परिताप की बात है। उदाहरण के लिये 'कामायिनी का कुटीर' ही ले लीजिए। कवि की दृष्टि में वह कहाँ और क्यों था इसकी विवेचना किस व्यक्ति ने की है और किसने यह जानने की चेष्टा की है कि उसकी रचना कब और क्यों हुई ? भाव यह कि हमें सभी प्रकार से उसे समझने की चेष्टा करनी चाहिए और यह भी भली भाँति जान लेना चाहिए कि कवि प्रसाद ने कब उससे कौन सा काम लिया है क्योंकि वही प्रसाद की सर्वस्व है।

प्रसादजी ने कामायिनी को मनु के आश्रम में डाल दिया और वह भी उसी गुहा में उनके साथ अपना जी बहलाने अथवा जीवन बिताने लगी। जब तक दो थे तब तक उसे किसी कुटीर की न सूझी पर जब तीसरे के आने की आहट मिली तब एक कुटीर का निर्माण हो गया और मनु से प्रार्थना हुई—

"मैंने जो एक बनाया है
चल कर देखो मेरा कुटीर;
यों कह कर श्रद्धा हाथ पकड़
मनु को ले चली वहीं अधीर।
उस गुफा समीप पुआलों की
छाजन छोटी सी शांति पुञ्ज;
कोमल लतिकाओं की डालें
मिल सघन बनाती जहाँ कुञ्ज।
थे वातायन भी कटे हुए
प्राचीर पर्णमय रचित शुभ्र;
आवें क्षण भर तो चले जायँ
रुक जायँ कहीं न समीर, अभ्र।
उसमें था झूला पड़ा हुआ
बेतसी लता का सुरुचिपूर्ण;
बिछ रहा धरातल पर चिकना
सुमनों का कोमल सुरभि चूर्ण।'
(ईर्ष्या)

गृहलक्ष्मी के इसी गृह-विधान के कारण स्त्री को गृहणी का पद मिला है जो आज भी घरनी के रूप में चल रहा है। गृहस्थ का गृहभार्या ही है। इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इस क्षेत्र में पुरुष क्या निरा पशु है ? वह किसी प्रकार का योग स्त्री को क्यों नहीं देता ? मनु ने श्रद्धा का साथ नहीं दिया पर मनु की सन्तान के लिये श्रद्धा ने प्रासाद न सही पुआलों की कुटिया तो बना दी और बना दिया सभी प्रकार से उसे सुन्दर और सुशोभित भी।

विचारणीय बात यहाँ यह है कि 'मानव' की सृष्टि हुई कहाँ ? प्रसादजी ने 'रुक जायँ कहीं न समीर अभ्र' का जो विधान किया है वह उसकी स्थिति को स्पष्ट करने के लिये ही न ? और भी, श्रद्धा कहती है—

'झूले पर उसे झुलाऊँगी
दुलरा कर लूँगी बदन चूम;
मेरी छाती से लिपटा इस
घाटी में लेगा सहज घूम।"
(ईर्ष्या)

'अभ्र' और 'घाटी' से इतना तो सिद्ध हो गया कि कामायिनी का यह कुटीर किसी पर्वत-प्रदेश में बना है। पर वह पर्वत-प्रदेश है कहाँ, इसका अभी पता नहीं। हाँ, पहले इतना मनु के प्रसंग में कहा गया अवश्य है—

'वह अनन्त नीलिमा व्योम की
जड़ता सी जो शान्त रही,

दूर-दूर ऊँचे से ऊँचे
निज अभाव में भ्रान्त रही।
उसे दिखाती जगती का सुख
हँसी और उल्लास अजान,
मानो तुङ्ग तरङ्ग विश्व की
हिमगिरि की वह सुढर उठान।
थी अनन्त की गोद सदृश जो
विस्तृत गुहा वहाँ रमणीय;
उसमें मनु ने स्थान बनाया
सुन्दर स्वच्छ और वरणीय।''
(आशा)

मनु के स्थान का पता हो गया। वह कहीं 'हिमगिरि की सुढर उठान' के पास ही है। पर हिमगिरि का विस्तार भी तो कम नहीं ? नहीं, परन्तु प्रसादजी ने इसका भी विधान कर दिया है, वियोग से सन्तप्त श्रद्धा कहती है—

''जीवन में सुख अधिक या कि
दुख, मन्दाकिनि कुछ बोलोगी ?
नभ में नखत अधिक, सागर
में बुद्बुद हैं, गिन दोगी ?
प्रतिविम्बित हैं तारा तुम में,
सिन्धु मिलन को जाती हो,
या दोनों प्रतिविम्ब एक के
इस रहस्य को खोलोगी !'' (स्वप्न)

इस प्रकार इतना तो स्पष्ट हो गया कि उक्त कुटीर कहीं मन्दाकिनि-तट पर ही था और उसी की घाटी में सहज घूमने की बात थी। परन्तु इसके आगे इस स्थान का पता लगाना कठिन है। कहती है—

''जब शिरीष की मधुर गन्ध से
मान भरी मधु ऋतु की रातें,
रूठ चली जातीं रक्तिम-मुख,
न सह जागरण की घातें;
दिवस मधुर आलाप कथा-सा
कहता छा जाता नभ में,
वे जगते सपने अपने तब
तारा बन कर मुसक्याते हैं।'' (स्वप्न)

क्या इस 'शिरीष' और उस 'वेतसी लता' से, जिसका कामायिनी के कुटीर में भूला पड़ा था, पता लगाया जा सकता है कि कामायिनी का उक्त स्थान कहाँ था ? निवेदन है अभी तक तो नहीं लगा, आगे की राम जाने। हमारी समझ में यहीं प्रसादजी चूकते और गहरे में जा गिरते हैं! हाँ, यहाँ एक बात का और ध्यान आ गया। महाभारत के वनपर्व में मत्स्यावतार की जो कथा है उसमें कहा गया है कि मनु 'बदरी' में तप करते थे और 'चीरिणी नदी में उन्हें मत्स्य मिला था। तो क्या इसी से प्रभावित होकर प्रसादजी ने इसी के समीप कामायिनी का कुटीर अथवा मनु का अवसर्पण वा आश्रम बनाया ? उत्तर में हाँ के अतिरिक्त अभी तो और कुछ कहा नहीं जाता, आगे की आगे जानें। प्रसादजी ने 'आमुख' में महाभारत का उल्लेख नहीं किया पर उनका 'प्रलय' है उसी के आधार पर, निदान मानना पड़ता है कि कामायिनी का उक्त कुटीर कहीं बदरीनाथ के निकट मन्दाकिनी के तट पर होगा अन्यत्र नहीं। —चन्द्रबली पांडे

जायसी पर कबीर का प्रभाव

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जायसी कबीर के पश्चात् हुए, अतः यह संभव माना जा सकता है कि उन पर कबीर का प्रभाव पड़ा हो, और वे कबीर को मानते भी हों। इस सम्बन्ध में यों हमें कहीं 'कबीर' का सीधा नामोल्लेख नहीं मिलता। 'अखरावट' में एक स्थान पर 'जुलाहा' शब्द से कुछ विद्वान यह मानते हैं कि 'कबीर' की ओर जायसी संकेत कर रहा है। जैसे पं० रामचन्द्र शुक्लजी ने जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में लिखा है :

'यद्यपि कबीरदास की और उनकी प्रवृत्ति में बहुत भेद था—कबीर विधि-विरोधी थे और वे विधि पर आस्था रखने वाले; कबीर लोक-व्यवस्था का तिरस्कार करने वाले थे और वे सम्मान करने वाले—पर कबीर को वे बड़ा साधक मानते थे, जैसा कि इन चौपाइयों से प्रकट होता है—

ना-नारद तब रोइ पुकारा।
एक जुलाहे सौं मैं हारा॥
प्रेम-तन्तु निति ताना तनई।
जप-तप साधि सैकरा भरई॥

किन्तु किंचित विचार से यह स्पष्ट हो जायगा कि इस उल्लेख में 'कबीर' की ओर संकेत नहीं हो सकता। एक तो 'कबीर' को कबीर नाम से जायसी ने क्यों नहीं लिखा—तीनों ग्रन्थों में कहीं भी किसी प्रसंग में वे कबीर का उल्लेख कर सकते थे। ऊपर के उल्लेख से यदि 'कबीर' को ही ग्रहण किया जाय तो यह मानना पड़ेगा, वे अकेले कबीर को ही सबसे श्रेष्ठ साधक मानते थे। जिसके सम्बन्ध में जायसी के हृदय में इतना आदर हो, उसी का उल्लेख कहीं भी वे नाम लेकर न करें, यह बात समझ में नहीं आती। दूसरे, जिस प्रसंग में जुलाहे, का उल्लेख हुआ है, वह भी कबीर की ओर संकेत करता प्रतीत नहीं होता। कवि ने उस व्यक्ति की परिभाषा दी है जिस पर शैतान का प्रभाव नहीं पड़ सकता, जिससे वह सदा हारा है। उस व्यक्ति को जुलाहे के सांगोपांग रूपक से उन्होंने प्रकट किया है :

ना-नारद तब रोइ पुकारा।
एक जुलाहे सौं मैं हारा॥
प्रेम-तन्तु नित ताना तनई।
जप-तप साधि सैकरा भरई॥
दरब गरब सब देइ बिसारी।
गनि साथी सब लेहिं सँभारी॥
पाँच भूत मांड़ी गनि मलई।
ओहि सौं मोर न एकौ चलई॥
विधि कहँ सँवरि साज सो साजै।
लेइ-लेइ नावँ कूँच सौं मांजै॥
मन मुर्री देइ सब अंग मोर।
तन सो बिनै, दोउ कर जोरै॥
सूत सूत सो कया मँजाई।
सीझा काम बिनत सिधि पाई॥

इसी रूपक को आगे बढ़ाता हुआ कवि कहता है:—

'मनसौं देइ कढ़नी दुई गाढ़ी।
गाढ़े छीर रहै होइ साढ़ी॥
ना ओहि लेखे राति न दिना।
कर गह बैठि साट सो बिना॥
खरिका लाइ करै तन घीसू।
नियर न होइ, डरै इबलीसू॥
भरै सांस जब नावै नरी।
निसरे छूंछी, पैठै भरी॥
लाइ-लाइ कै नरी चढ़ाई।
इललिलाह कै ढारि चलाई॥
चित डोलै नहिं खूटी टरई।
पल-पल पेखि आग अनुसरई॥
सीधे मारग पहुँचै जाई।
जो एहि भाँति करै सिधि पाई॥

अतः जिस जुलाहे का उल्लेख है वह रूपक के आधार पर कोई भी साधक हो सकता है। विशेषतः कबीर के लिए इस समस्त उद्धरण में कोई भी संकेत नहीं है। 'प्रेम-तन्तु का ताना' तो और भी विपरीत संकेत करता है। कबीर का सिद्धान्त प्रेम का सिद्धान्त नहीं है, ज्ञानवादी कबीर को प्रेमवादी जायसी क्यों लिखते। यह समस्त विवरण प्रेम की पीर के साधक का है, ज्ञान के साधक का नहीं।

जायसी सूफी थे, और सूफी सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है, कबीर पर सूफियों का प्रभाव मात्र था। इस दृष्टि से देखने पर जायसी और कबीर में कहीं भाव-साम्य भी विशेष नहीं मिलता। सूफी होने के साथ-साथ मुसलमान धर्म में जायसी की भारी आस्था थी। उन्होंने हिन्दू और मुसलमान को एक ही बूंद से तो उत्पन्न माना है—मातु के रकत पिता के बिंदू,

उपजे दुवौ तुरुक औ हिंदू।

इस प्रकार हिंदू मुसलमानों के एका की ओर हलका संकेत भी किया है। वहीं उसने एक स्थान पर 'गीता' की भाँति यह मानते हुए भी कि—

'विधिना के मारग है ते-ते।
सरग-नखत तन-रोंवाँ जेते।
जेइ हेरा तेइ तहँवै पावा,
भा सन्तोष, समुझि मन गावा।'

जायसी ने मुसलमानों के धर्म को सब से श्रेष्ठ कहा है :

'तेहि महँ पंथ कहौं भल गाई,
जेहि दूनौ जग छाज बड़ाई।

सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा,
है निरमल कविलास बसेरा।"

जायसी में हिंदुओं के प्रति उदारता के भावों की कमी नहीं थी, उन्होंने हिन्दुओं के प्रचलित ज्ञान को ग्रहण कर अपने काव्य में यथामत आदरपूर्वक स्थान दिया है, पर कबीर में मिलने वाला भाव जायसी में कहीं नहीं मिलता। जो साम्य कहीं प्रतीत भी होता है वह कबीर से सीधा नहीं आया। वह उस लोक-धारा से ही लिया गया है जिससे स्वयं कबीर ने लिया था। अतः जायसी ने न तो 'कबीर' का कहीं किसी रूप में स्मरण ही किया है, न कबीर के सीधे प्रभाव की कोई साक्षी ही उनके काव्य में कहीं मिलती है। सामयिक स्थिति का स्वतंत्र प्रभाव जायसी पर पड़ा, ज्ञानवादी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया भी हुई और उन्होंने लोक से सामग्री लेकर उस समय की समस्या को हल करने के लिए अपना 'प्रेम की पीर' का हल उपस्थित किया।

—सत्येन्द्र

कविता में वाद

आज का प्रगतिशील-कवि-समुदाय जिस दिशा में जा रहा है वह कविता से दूर है, समाज के यथार्थ स्वरूप का चित्रण भले ही हो। कविता के सिद्धान्तों और तत्वों को भूल कर आज का कवि मानव के बाह्य स्थूल स्वरूप का चित्र अंकित करने का साधन कविता को मान बैठा है। भौतिक जगत में उसने कुरूपता को गहरा देखने का प्रयत्न किया है और उसी को अपना लक्ष्य बना लिया है। जीवन और प्रकृति का सरल सुन्दर स्वरूप उसकी कविता का विषय नहीं है, वरंच दुःख-पूर्ण, विकृत और विषण्ण जीवन उसके कल्पना-जगत का आधार है और गन्दे नालों तथा सड़ीली कीचड़ में किलकिलाते कीड़े उसका साधन। प्रकृति और आत्मा के सुन्दर स्वरूप शायद वह देख नहीं सकता अथवा उन्हें देखने के लिये उसके पास दृष्टि नहीं है। व्यापक प्रकृति पर यदि उसने दृष्टिपात किया भी तो या तो उसे घृणित और नृशंस दृश्य दिखाई पड़े अथवा विशृंखल जीवन और जगत के प्रति उपेक्षा का भाव लेकर उसमें (प्रकृति में) विनाश और संहार के तत्व ढूंढ़ कर उनका आह्वान किया। झंझा-वात और प्रलय के गीत गाकर उसने परिष्कार के स्थान पर नाश को निमन्त्रण दिया। इस प्रकार कवि की प्रवृत्ति नष्ट भ्रष्ट की ओर उन्मुख होगयी।

प्रगतिवादी कलाकार ने कुरूपता, अमंगल और विनाश ही देखा। उसके दृष्टिपथ में जीवन, वैषम्य और कटुता का समूह बन गया है। जीवन के शुभ तत्व टूट गये हैं। कलाकार ने अपनी अन्तर्दृष्टि में यह दृश्य देख कर या तो समाज की स्थिति पर आंसू बहाये अथवा अपनी कल्पना द्वारा उन्हें और भी भयावह बनाकर चित्रित किया। कभी ऐसे जीवन से ऊब-कर सत्ता को गालियां दीं अथवा ऐसे जीवन और जगत का अन्त कर देने के अभिप्राय के अन्तरिक्ष से बिजली, बादल, सूर्य, समुद्र के तूफान और ज्वालामुखी के विस्फोट तथा धधकती लपटों का आह्वान कर नाश और महानाश की कल्पना की। अथवा कभी रोमांस के नाम पर अपनी वासना को अश्लील शब्दों में आक्रोश के साथ उगला।

इस प्रकार की प्रवृत्ति में प्रतिहिंसा की भावना रहती है जो कला और साहित्य के कलाकार और साहित्यकार को कोसों दूर हटा दे सकती है। इस प्रकार का साहित्य समाज का यथार्थ नग्न चित्रण और मूल वृत्तियों का अंकन भले ही हो वह समाज का मंगलकारी साधन कदापि नहीं हो सकता।

मान लेना पड़ता है आज का जीवन विषाक्त और कलुषित हो गया है। किन्तु साहित्य और विशेष कर कविता उसके केवल प्रचारात्मक प्रदर्शन का साधन कभी नहीं है। साहित्यकार का यह धर्म कभी नहीं कि वह सामान्य प्राणी की भांति अपने स्वरूप को देख कर रोये अथवा गिड़गिड़ाये अथवा क्रोधित हो बड़बड़ाये और हाथ पांव मारे। साहित्यकार सामान्य समाज के ऊपर उठा हुआ व्यक्ति है जो अनुभव करता है, किन्तु परिस्थितियों का स्वयं दास नहीं बन जाता है वह तो सुख के समय समाज के कल्याण और मंगल की कामना करता है और दुःख और विपन्नावस्था में समाज को साहस और धैर्य का पाठ पढ़ाता है। संक्रान्तिकाल में साहित्यकार चतुर नीतिज्ञ की भांति सन्मार्ग बताता है और मार्ग-प्रदर्शक के पद से निर्माणकारी, व्यवस्थात्मक-कर्म-प्रणाली के पालन का आदेश भी दे सकता है। तथा क्रान्ति के समय वीरों के हाथों में शक्ति और हृदय में सत्यनिष्ठा और

स्फूर्ति का संचार कराता है। अशुभ का नाश और शुभ के उत्थान का चिन्तन ही साहित्यकार का प्रधान कर्तव्य है। उसका यह कर्तव्य नहीं कि एक कोने में बैठ कर रोये और गालियां दे 'तुम्हारा नाश हो' 'तुम मर जाओ'। जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक समाज का वैषम्य और विशृंखलता को संतुलित करने का प्रयत्न करे अन्यथा समाज में ऐसी शक्ति और प्राण भरे कि समाज संघर्ष और क्रान्ति से व्यवस्थित और समन्वित हो जाये ।

साहित्यकार वह शक्ति है जो विश्व का संचालन करती है। ईश्वर के उपरान्त शान्ति और विश्व की व्यवस्था का भार साहित्यकार—कवि पर है। एक डाक्टर यदि रोगी को आपरेशन की वेदना असह्य और उसका कष्ट बढ़ा-चढ़ा कर बताये और उस कष्ट के सहन की तुलना में मृत्यु को श्रेष्ठ बताये, तो क्या यह उसका धर्म होगा? उस पर तो रोग को निर्मूल कर रोगी को स्वस्थ बनाने का उत्तरदायित्व है।

साहित्यकार समाज का अभिभावक है जो उसकी स्थिति के यथार्थ चित्रण के साथ उसके भावी निर्माण की मंगलमयी रूप-रेखा स्फुट अथवा अस्फुट स्पष्ट करता है। यदि वह इस योग्य नहीं तो उसे कोई अधिकार नहीं कि, वह स्वयं तो अपने पद से च्युत हो ही, साथ ही समाज को भी ले डूबने का प्रयत्न करे।

प्रगतिवाद अपने आप में लांछित नहीं है। उसे तो दोषी बनाया गया है। समय और समाज के साथ साहित्य की प्रगति होती है। किन्तु साहित्य को वाद-विशेष में बाँध लेना साहित्य की स्वाभाविक प्रगति को रोक देना है। 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' के नाम से आज अधिकांश व्यक्ति घृणा करते हैं। इसका यही कारण है कि इन्हें 'छाया' और 'रहस्य' के रहस्यमय शब्दों से बाँध कर जाल ओढ़ा दिया गया। उस जाल का एक सूत्र नहीं पा सकने की सम्भावना से लोग उसे छूना पसन्द नहीं करते। 'छायावादी' अथवा 'रहस्यवादी' कविता यदि किसी व्यक्ति को समझा कर स्पष्ट करा दी जाय और समझ लेने पर वह उसे प्रिय भी लग जाय, तो भी बाद में यदि उसे 'वाद' बताया जाय तो वह व्यक्ति उस कविता को दुरूह समझने लगेगा और जो उसने समझा है उसी पर उसे सन्देह होने लगेगा। यह उस 'वाद' का प्रभाव है, चमत्कार है। वास्तव में 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' एक शैली बनकर समय और समाज के साथ आये किन्तु उस शैली विशेष को 'वाद' की चादर ओढ़ा कर दुरूह बना दिया गया। यही अवस्था 'प्रगतिवाद' की भी हुई। बल्कि इससे भी कहीं अधिक दुर्व्यवहार 'प्रगतिवाद' के साथ किया गया।

काल-विभाजन की दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन करने के लिये भिन्न-भिन्न समय के साहित्य का वर्गीकरण कर प्रवृत्तियों के आधार पर काल विशेष के साहित्य का नामकरण होता है। इसके लिये तत्कालीन साहित्य का सर्वांगीण अध्ययन अपेक्षित होता है। इस अध्ययन के लिये उस काल की समग्र सामग्री का उपलब्ध होना और प्रवृत्ति विशेष वाले साहित्य का काल समाप्त हो गया होना आवश्यक है। तात्पर्य यह कि नामकरण, समयगत प्रवृत्तियों के आधार पर भूतकाल के साहित्य का होता है। वर्तमान का सम्भवतः नहीं। वर्तमान काल के साहित्य का नामकरण तभी सम्भव है, जब कि 'उस' प्रकार का साहित्य प्रचुर मात्रा में निर्मित हो चुका हो और अब भी वही धारा चल रही हो। प्रवृत्ति के बदल जाने पर वह भूतकालीन धारा हो जाती है और तब तो उसका नामकरण सरल हो ही जाता है।

'प्रगतिवाद' के लिये ऐसा नहीं हुआ। 'प्रगतिवाद' का नामकरण पहले हुआ और उसके लक्षणों के आधार पर साहित्य बाद में रचा जाने लगा। भारतीय साहित्य में 'प्रगतिवाद' रूस की देन है और यही कारण है कि प्रगतिवादी साहित्य परम्परागत प्रवृत्तियों के विकास-क्रम की वस्तु न होकर एकदम नई वस्तु हो गया। काल कैसा ही हो उसका साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य का अनुगामी एवं विकसित स्वरूप अवश्य होता है। बहुत सम्भव था काल की गति के अनुसार इस प्रकार का साहित्य जिसे 'प्रगतिवादी साहित्य' कहा जाता है, यहाँ स्वतः रचा जाने लगता। वह समय भी आगया था जब इस प्रकार के साहित्य की भारत में भी आवश्यकता थी फिर भी

'प्रगतिवाद' को बाहरी आवरण ओढ़ कर नहीं आना चाहिये था। वह काल और स्थान के अनुसार स्वतः उत्पन्न होता तो उसका स्वरूप अधिक आकर्षक और विशेष मनोहर होता। बहुत आवश्यकता थी ऐसे साहित्य की, किन्तु बाहर से आना और सूचना देकर आना साहित्यिक क्षेत्र में अस्वाभाविकता ही थी, कविता के क्षेत्र में तो यह और भी अग्राह्य और निन्दनीय कृत्य ही था।

कविता एक सहज और स्वच्छन्द धारा है। कविता मानवात्मा का स्वतः प्रसूत धवल स्रोत है जो काल और समाज की चट्टानों से टकराता हुआ अपना मार्ग स्वयं बनाता हुआ बहता है। उसे न तो रोका ही जा सकता है और न उसमें गन्दगी ही फैलाई जानी चाहिये। दार्शनिक दृष्टि से—कविता जीवन के सत्य स्वरूप की समष्टि का व्यक्तिगत संकेत है जो मनुष्य की वृत्तियों में रागात्मिकता के साथ जीवन की महानता का आदर्श संचार करता है। कविता जीवन के यथार्थ तत्वों का आदर्श शब्दचित्र है और इस प्रकार वह जीवन से भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं। किन्तु 'वाद' का ऊपरी बन्धन कविता की स्वाभाविकता का नाश करता है और स्वयं कविता के प्रति अन्याय भी है। —भगवतीप्रसाद व्यास

ध्रुव स्वामिनी का ऐतिहासिक पृष्ठाधार

'प्रसाद' का प्रकटीकरण कुछ ऐसे समय में हुआ था, जिस समय विज्ञान की विभीषकाओं के सन्मुख भारतीय वीरता म्लान सी दिखलाई पड़ती थी। परन्तु भारतीय वीरता में जो संस्कृति की झनकार है, उसके समक्ष विज्ञान तुच्छ एवं श्रीहीन है। प्रसाद ने इस बात को ध्यान से देखा और दुनियां की आँखों में भारतीय संस्कृति की पुनीत झांकी दिखलाने का संकल्प कर लिया। यही संस्कृति की ललकार हम प्रसाद के नाटकों की जड़ में देखते हैं। अतः उनके नाटकों की इमारत इसी सांस्कृतिक आधार पर ही खड़ी होती है। स्वभावतः संस्कृति के बिखरे अवयवों को जोड़ कर वस्तु की दीवारें खड़ी करने लिये उन्हें प्राचीनता की प्रशस्त भूमि में पदार्पण करना पड़ा और ऐतिहासिक घटनाओं का भी सहारा लेना पड़ा। अतः इस प्रकार प्रसाद ने कठिन तपस्या करके ऐतिहासिक तथ्यों का जीर्णोद्धार किया। इतिहास का जितना उपयोग प्रसाद के नाटकों में मिलता है उतना उत्तम उपयोग अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

'ध्रुवस्वामिनी' में समुद्रगुप्त की मृत्यु और चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण के बीच के काल का चित्रण एवं दिग्दर्शन है। यह इतिहास में लुप्त प्राय है। विशाखदत्त द्वारा लिखित 'देवी चन्द्रगुप्त' नामक नाटक की एक खंडित प्रति कुछ वर्ष पहले प्राप्त हुई। इससे सम्राट द्वितीय विक्रमादित्य के संबंध में नई बातें प्रकाश में आईं। 'देवी चन्द्रगुप्त' नाटक के आधार पर हम दो परिणाम निकालने मे समर्थ हुए। पहला प्राचीन काल में भारत में भी मोक्ष (Divorce) तथा उसके बाद पुनर्लग्न, अर्थात् स्त्री को दुबारा विवाह करने का अधिकार प्राप्त होता था। इस बात को कुछ लोगों ने कुरुचिपूर्ण माना और इसमें संदेह करने लगे। परन्तु इसके एक प्रमाण नहीं बल्कि तीन प्रमाण मिलते हैं। वे ये हैं—

(१) आठवीं शताब्दी के संजात ताम्रपत्र पर ये पंक्तियाँ खुदी हुई हैं:—

> 'हत्वा भ्रातरमेव राज्य-
> महरद्देवीं स दीनस्तथा।
> लक्षं कोटि मलेखयन किल,
> कलौ दाता स गुप्तान्वयः'

(२) बाणभट्ट की ये पंक्तियां जो इसी घटना का उल्लेख करती हैं:—

> अरि पुरे च परकलत्र कामुकं कामिनी वेश श्चन्द्रगुप्तो शकपतिमशासयत्।

(३ इसी प्रकार राजशेखर की दो पंक्तियां हैं:—

> दत्वारुद्ध गति खसाधिपतये,
> देवीं ध्रुव स्वामिनीं।
> यास्मात् खण्डित साहसो,
> निववृते श्रीराम गुप्तो नृपः॥

जब यह घटना ताम्रपत्र पर लिखित है और बाणभट्ट तथा राजशेखर जैसे महाकवियों ने इसका उल्लेख किया है तब हम इसको केवल जनश्रुति कह कर नहीं टाल सकते। कितने लोग रामगुप्त को गुप्तवंश का राजा मानते ही नहीं

हैं। पर प्रो० आल्तेकर तथा जायसवालजी ने ऐतिहासिक प्रमाणों से रामगुप्त का गुप्त वंश में होना सिद्ध कर दिया है। भण्डारकरजी तो 'काच' खुदा हुआ सिक्का रामगुप्त का ही बतलाते हैं—क्योंकि 'राम' शब्द ही घिसकर 'काच' हो जा सकता है। सबसे बड़ा ऐतिहासिक प्रमाण चन्द्रगुप्त के सिक्कों से मिला है जिस पर 'रूपकृती' शब्द लिखा पाया गया है। प्रसादजी का कथन है 'रूपकृती' विरुद् का उल्लेख करके चन्द्रगुप्त अपने उस साहसिक कार्य की स्वीकृति देता है जो ध्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिए उसने रूप बदल कर किया। परन्तु शास्त्रीय दृष्टिकोण से चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का पुनर्लग्न कुछ दिनों तक कुरुचिपूर्ण माना जाता रहा क्योंकि लोग समझते थे भारतीय शास्त्रों से यह विरुद्ध है। बात ऐसी नहीं, —नारद और पराशर के गृह-सूत्रों में भी स्त्रियों को मोक्ष करने का अधिकार दिया गया है। इसका प्रमाण यह है:—

'नष्टे मृते प्रव्रजते,
क्लीवे च पतिते पतौ।
पञ्च स्वपत्सु नारीणां,
पतिरन्यो विधीयते ॥

इन पांच आपत्तियों में मृत्यु को छोड़ चार तो स्त्री के काल में ही घटेगी।

अस्तु, इसी ऐतिहासिक घटना को लेकर 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की कथावस्तु का विकास हुआ है। नाटक की मूल घटना इस प्रकार है। चन्द्रगुप्त के बड़े भाई समुद्रगुप्त मगध के सम्राट थे। उनकी पत्नी का नाम ध्रुवदेवी था। वह अत्यन्त सुन्दरी थी। शकों ने गुप्त साम्राज्य के ऊपर चढ़ाई की और समुद्रगुप्त को किसी विषम परिस्थिति में डालकर उनसे सन्धि करने का प्रस्ताव भेजा। उस प्रस्ताव में कई शर्तें थीं; ध्रुवस्वामिनी का देना जिसमें मुख्य था। छोटा भाई चन्द्रगुप्त इस घटना से बहुत क्षुब्ध हुआ और उसने स्वयं 'ध्रुवस्वामिनी' का वेष बनाकर शकराज का उसी प्रकार बध किया जिस प्रकार भीम ने द्रौपदी का वेष बनाकर कीचक का बध किया था। शकराज के मारे जाने पर शायद ध्रुवस्वामिनी का स्नेह चन्द्रगुप्त के ऊपर अधिक हो गया और इसका फल यह हुआ कि दोनों भाइयों में अनबन हो गयी और पारस्परिक कलह में रामगुप्त चन्द्रगुप्त के द्वारा मार डाला गया। इसी कथानक को लेकर 'प्रसाद-जी' ने इस नाटक की कथा-वस्तु का विकास किया है।

परन्तु इतना होने पर भी उपर्युक्त ऐतिहासिक आधार में संदेह उत्पन्न करने वाले निम्नलिखित कारण हैं:—(१) देवी चन्द्रगुप्त नाटक कोई ऐतिहासिक नाटक नहीं। (२) कुछ स्मृतियों में जो मोक्ष की चर्चा की गई है वह सभी वर्णों पर लागू है—ऐसा सिद्ध नहीं किया जा सकता। (३) समुद्र गुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच में रामगुप्त नाम का कोई सम्राट था—इस बात का पक्का प्रमाण नहीं। (४) यह बात अत्यन्त असंभव-सी मालूम होती है कि एक अत्यन्त साधारण शक सरदार महाराज समुद्रगुप्त की पुत्रबधू को अपनी स्त्री बनाने के लिए मगध के सम्राट से, चाहे वह कितना भी नीच क्यों न हो—मांगने का साहस करे। (५) सबसे आश्चर्य की बात यह है कि स्वयं चन्द्रगुप्त ही नारी वेष बनाकर शकराज के पास नहीं जाता, वरन् इस आपत्तिजनक परिस्थिति में मगध की सम्राज्ञी को को भी डाल देता है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से ध्रुवस्वामिनी नाटक की कथा-वस्तु असंभव-सी प्रतीत होती है।



आलोचना

साहित्य की वर्त्तमान धारा—लेखक-प्रोफेसर जगन्नाथप्रसाद मिश्र एम० ए०, बी० एल०, प्रकाशक-ग्रन्थमाला कार्यालय, बाँकीपुर। पृष्ठ १६६, मूल्य १॥)

साहित्य पर प्रगतिवाद क्रमशः अपना अंक जमाता जा रहा है। साथ ही जितनी उसकी व्यापकता बढ़ती जाती है उसकी कट्टरता और एकाङ्गिता भी कम होती जाती है। प्रस्तुत पुस्तक 'साहित्य की वर्तमान धारा' यद्यपि प्रगतिवादी दृष्टिकोण से लिखी हुई है तथापि उसमें बदली हुई स्वस्थ मार्गोनुमुखी उदार मनोवृत्ति की छाप है। लेखक साहित्य को भाषा के माध्यम द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं। इस जीवन की अभिव्यक्ति में विद्वान् लेखक युगकालीन सापेक्षता को स्वीकार करते हैं, इसीलिए उनका दृष्टिकोण उदार है। वे लिखते हैं—

"युग साहित्य के इतिहास के मूल सूत्र का सन्धान पाने के लिए हमें चतुर्दिश की वाह्य परिस्थितियों के प्रति उदार एवं व्यापक दृष्टि रखनी होगी। वर्तमान युग के आदर्श एवं भावधारा के मानदण्ड को लेकर यदि हम रीतिकाल के साहित्य पर विचार करें, तो अवश्य ही अकिञ्चितकर मालूम होगा। किन्तु आज की बदली हुई रुचि को लेकर उस पर विचार करना ही असङ्गत होगा।"

लेखक महोदय ने यद्यपि इस सम्बन्ध में भारतीय साधारणीकरण के सिद्धान्त का उल्लेख नहीं किया है तथापि वे उसके बहुत निकट आगये हैं और उनमें आचार्य शुक्लजी की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगती है। वे प्रगतिवाद के भौतिक पक्ष के पूरक से प्रतीत होते हैं। साहित्य का मानदण्ड बतलाते हुए वे लिखते हैं:—साहित्य की श्रेष्ठता का उसके मूल्य एवं महत्व का एक ही मानदण्ड हो सकता है, और वह मानदण्ड यही है कि जातीय जीवन के साथ अखिल जन शक्ति की प्राणधारा के साथ उसका निविड़ संयोग है या नहीं, यहाँ तक तो प्रगतिवाद का स्वर है। आगे चलकर वे कहते हैं—'वह मनुष्य के जीवन की संकीर्ण परिधि से, पारिवारिक जीवन के प्राचीरवेष्टित कारागार से मुक्त कर के उसके चैतन्य को वृहत्तर एवं व्यापक जीवन के उन्मुक्त वातावरण में परिव्याप्त करने में सक्षम है या नहीं' यही प्राचीन साधारणीकरण और शुक्लजी की हृदय की उन्मुक्त अवस्था का प्रगतिवादी पर्याय है। लेखक महोदय ने साहित्य पर केवल वाह्य परिस्थितियों के प्रभाव को ही नहीं स्वीकार किया वरन् मानव हृदय के चिरन्तन सत्यों को भी यथोचित स्थान दिया है। इस अंश में वे प्रगतिवाद की कमी को पूरा करते हैं। वे लिखते हैं:—

इस प्रकार के साहित्य पर एक ओर यदि युग की वाह्य परिस्थितियों के फलस्वरूप युगधर्म की छाप होती है, तो दूसरी ओर उसमें मानव के अन्तर का चिरन्तन सत्य भी संनिहित होता है जो युग-युग में उसे वरेण्य बनाता है। मिश्रजी ने रस को सिद्धान्त माना है किन्तु उसे सारहीन नहीं माना है वे जीवन रस को ही साहित्य के रस में परिणत करना चाहते हैं। न हमें रसहीन जीवन चाहिए और न जीवन से विच्छिन्न रस।

लेखक महोदय नवीन युग के साहित्य का विषय उन्हीं लोगों को मानते है जिनके बैङ्कों में रुपये जमा नहीं है, जिनके स्वागत में जुलूस नहीं निकलते, समाचार पत्रों में

जिनके चित्र प्रकाशित नहीं होते है। यह बात ठीक है कि किसी व्यक्ति की महानता को अखबारी दुनिया की ख्याति से नहीं नापना चाहिए। किन्तु यह भी सोलह आना ठीक नहीं है कि अखबारी दुनिया की ख्याति के लोगों का साहित्य से बिल्कुल बहिष्कार कर दिया जाय। अखबारी दुनिया की ख्याति किसी की नैसर्गिक महानता को मिटा नहीं सकती और न नैतिक श्रेष्ठता निम्नवर्ग के लोगों में ही सीमित हो सकती। जहाँ तक वर्गों की पार्थक्य-भावना को दूर किया जाय वहाँ तक अच्छा है।

लेखक महोदय प्राचीन साहित्य पर एकाङ्गिता का आरोप करते हैं, लेकिन भय यह है कि नवीन साहित्य दूसरी ओर की एकाङ्गिता का पोषण कर रहा है। लेखक महोदय वर्तमान युग के वस्तुवाद और बुद्धिवाद की ओर झुकाव के पक्ष में है। साथ ही वे बुद्धिवाद की उथल-पुथल और अव्यवस्था से थोड़े शंकित भी हैं। उस भय से बचने के लिए वे किसी प्रतिभाशाली नेता की प्रतीक्षा में हैं वे कहते हैं—अति आधुनिक साहित्य में आज जो दुखवाद, नैराश्य, वेदना, उच्छृङ्खल भाव, अपमानित प्रेम, उद्भ्रान्त आदर्श, सनातन नीति निष्ठा के प्रति विद्रोह, सब बातों में सन्देह, संयम और अविश्वास तथा नाना प्रकार की जटिल समस्याओं का आलोड़न दीख पड़ रहा है, वह साहित्य क्षेत्र में किसी विराट प्रतिभाशाली नायक के अवतीर्ण होने पर नहीं रहेगा। जब सामाजिक क्षेत्र से विशाल और विराट व्यक्तित्व का मान उठता जाता है तब इस तर्कवाद के युग में साहित्यिक-क्षेत्र में इस विराट व्यक्तित्व को आश्रय देना कुछ असंगत सा लगता है।

लेखक महोदय कला में सत्यं शिव सुन्दरम् में सत्यं के ही अधिक पक्ष में है। वे उनमें से तो नहीं हैं जो सुन्दरम् की आड़ में अश्लीलता को आश्रय दें वरन वे सत्य को श्लीलता और अश्लीलता के परे मानते हैं। कलाकार सत्य के नाते बुराइयों और मानव कमजोरियों का उद्‌घाटन कर सकता है बशर्ते कि वह ऐसा स्वयं निरपेक्ष और वासनाहीन होकर करता है और उसका उद्देश्य बुराई का आकर्षण रूप में उपस्थापन नहीं है।

यह हर्ष की बात है कि मिश्रजी प्रगतिवाद का पक्ष लेते हुए भी नितान्त वस्तुवादी नहीं हैं। उन्होंने साहित्य में थोड़ी रहस्यमयता स्वीकार की है लेकिन वे सत्य की निष्ठा से नहीं हटे हैं। पुस्तक बहुत विचारोत्तेजक है और इसका दृष्टिकोण स्वस्थ और उदार है। —गुलाबराय

सिद्धान्त और अध्ययन—लेखक, बाबू गुलाबराय एम० ए०; प्रकाशक प्रतिभा प्रकाशन मन्दिर हैदरकुली दिल्ली के लिये साहित्य रत्न भण्डार, आगरा डिमाई साइज के पृ० २४२, मूल्य ३।)

प्रस्तुत पुस्तक 'आलोचना-शास्त्र' की पुस्तक है। यह १८ अध्यायों में लिखी गयी है जिसमें काव्य की आत्मा रस और मनोविज्ञान, रसनिष्पत्ति, साधारणीकरण, कवि और पाठक के क्रियात्मक व्यक्तित्व, साहित्य की मूल प्रेरणायें, कविता और स्वप्न, काव्य के हेतु, काव्य का क्षेत्र (सत्यं शिवं सुन्दरम्), काव्य की परिभाषा, काव्यकला काव्य के विभिन्न रूप, काव्य के वर्ण्य (भाव और विभाव), काव्य का कलापक्ष, अभिव्यञ्जनावाद एवं कलावाद, शब्द शक्ति, ध्वनि और उसके मुख्य भेद तथा समालोचना के मान पर गम्भीर विवेचन किया गया है।

लेखक हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्यिक विचारक हैं, जिनसे हिन्दी-प्रेमी आबाल-वृद्ध सभी परिचित हैं। उनके दीर्घ अनुभव और गम्भीर अध्ययन से जैसी वस्तु की आशा की जा सकती थी, यह रचना वैसी ही है। विषय के प्रतिपादन में कई विशेष उल्लेखनीय बातें भी इस पुस्तक में मिलती हैं। एक बात तो यह है कि लेखक ने पाश्चात्य आलोचना-पद्धति के आलोक में भारतीय काव्यशास्त्र की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। जिससे केवल तुलानात्मक अध्ययन ही नहीं हो जाता वरन दीर्घकालीन भारतीय विचार-परंपरा का मूल्यांकन भी हो जाता है कविता की परिभाषा में कवि और पाठक और उनका सम्बन्ध कराने वाली शैली तीनों को महत्ता दी गयी है। श्रेय के प्रेम रूप में विषय और शैली दोनों ही आ जाती हैं।

तीसरी बात यह है कि लेखक ने काव्य का कलाओं से नितान्त विच्छेद नहीं माना है और काव्य में सब कलाओं से श्रेष्ठता ही नहीं आंकी गयी है वरन् उसमें सब कलाओं का प्रतिनिधित्व भी दिखाया है। फिर काव्य के

वर्ण्य रूप में रस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और रस सम्बन्धी साधारणीकरण आदि समस्याओं पर नवीन आलोक डाला गया है तथा भारतीय पद्धति की व्याख्या जो डाक्टर श्यामसुन्दरदास, आचार्य शुक्लजी आदि ने की है उसका भी सूक्ष्म विवेचन है। भारतीय परम्परा की शृङ्खला बाँधने की कोशिश की गयी है। रस और मनोविज्ञान में लेखक ने 'नव रस' में जो रस की व्याख्या है उसका स्पष्टीकरण हो गया है। मनोवेगों से रस का भेद बतलाकर रस में जो आत्मा के प्रकाश का आध्यात्मिक पक्ष है उस पर विशेष बल दिया गया है तथा आलोचना में शास्त्रीय आलोचना को महत्व देते हुए मूल्य पर बल दिया गया है। मूल्य में भौतिक मूल्यों के अतिरिक्त आध्यात्मिक मूल्यों पर भी बल दिया गया है। लेखक व्यक्ति का आन्तरिक सामञ्जस्य नहीं वरन् बाह्य सामाजिक सामञ्जस्य भी चाहते हैं। वे उस समाजिक व्यवस्था का पोषक साहित्य चाहते हैं जिसमें कि भेदों के रहते हुए सामञ्जस्य हो भेद मिटाये न जायँ।

इस प्रकार इस पुस्तक में प्राच्य और पाश्चात्य दोनों प्रणालियों के प्राचीन से नवीनतम विचार-धाराओं का विवेचन तथा प्रतिपादन आ गया है, जिससे पुस्तक विद्यार्थियों के लिए तो अत्यन्त उपयोगी हो ही गयी है, विद्वानों के विचारार्थ भी इसमें अनेक प्रश्न तथा समस्यायें आ गयी हैं, किन्तु इन सब प्रश्न तथा समस्याओं के रहते हुए भी इस पुस्तक की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने जटिल से जटिल और गम्भीर से गम्भीर विषयों को भी बहुत स्पष्ट और निश्चयात्मक शैली में उपस्थित किया है। द्विवेदी युग की शैली में अधुनातन विचारों का ऐसा प्रतिपादन सचमुच ही हिन्दी-साहित्य को एक देन है। जिसका स्वागत होगा।

आधुनिक हिन्दी साहित्य--(भाग दो) सम्पादक श्री नगेन्द्र एम. ए. तथा श्री० स० ही० वात्स्यायन; प्रकाशक, प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद। पृष्ट १४४, मूल्य छपा नहीं।

इस पुस्तक में १३ निबंध संग्रहित हैं। संपादकों ने लिखा है:—प्रस्तुत पुस्तक, आधुनिक हिन्दी साहित्य भाग २ हिन्दी साहित्य परिषद् मेरठ के द्वितीय और तृतीय अधिवेशनों में पढ़े गये निबंधों का संकलन है। 'इस संकलन में सर्व श्री रायकृष्णदास, बी० एल० भणौत, जड़ाऊलाल मेहता, प्रभाकर माचवे, गुलाबराय, रामविलास शर्मा, नगेन्द्र, प्रकाशचन्द्र, अंचल, हँसकुमार तिवारी, इलाचन्द्र जोशी' सुधीन्द्र तथा सत्येन्द्र के निबंध हैं। ये विविध निबंध ४ विषयों से संबंधित हैं:—१–कला समीक्षा, २–साहित्य और मनोविज्ञान, ३–साहित्य के मूल्य, ४-हिन्दी साहित्य की प्रगति।

कला की भारतीय परिभाषा में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'कला जब तटस्थता से रस-दर्शन के लिए ही कोई अभिव्यक्ति करती है तभी वह कला कहलाने की अधिकारिणी है। और उस समय उसके उद्देश और सिद्धि में अभेद होजाता है। और उनका मत है कि हमारे पूर्वजों की यह दृष्टि 'कला कला के लिए' की ही दृष्टि है। 'कला समीक्षा और पूर्वग्रह' में भणौतजी ने पूर्वाग्रह अथवा Prejudice को आलोचक के लिए हानिकारक बताया है। हां, कलाकार की बात दूसरी है, क्योंकि कलाकार के साथ प्रश्न विवेक अथवा Reason का नहीं, उसके समस्त व्यक्तित्व का है। मेहताजी का साहित्य और मनोविज्ञान इस संग्रह के सर्वोत्तम निबंधों में से प्रधान है। परिषद् ने इस एक नये लेखक को हिन्दी की ओर आकर्षित किया है। मनोविज्ञान और साहित्य के घनिष्ठ संबंध को स्पष्ट करते हुए, साहित्य के यथार्थ अनुशीलन में मनोविज्ञान के सहयोग पर लेखक ने जोर दिया है। माचवेजी ने अपने सहज अभ्यास से 'कला समीक्षा की कुछ समस्याएँ' में पाश्चात्य जगत के विविध विद्वानों के मत का सार भेंट किया है और अन्त में वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि हिन्दी के आलोचकों में गहराई और ऊँचाई का अभाव है। 'साहित्य के मूल्य' में, बाबू गुलाबरायजी ने यह निर्देश किया है कि 'जीवन के मूल्य साहित्य के मूल्य हैं। जो साहित्य जीवन को पूर्ण बनाये वही सत्साहित्य है। जीवन की पूर्णता का अर्थ है भौतिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक (जिसमें धर्म और कला दोनों ही सम्मिलित हैं) मूल्यों की सम्पन्नता पूर्ण-समन्विति। 'आधुनिक हिन्दी कविता' डा० रामविलासजी का लेख है। उसमें यह वाक्य चमत्कारक है: 'उनकी (प्रतापनारायन मिश्र जैसे लेखकों की)

भाषा, मालूम होता है बैसवाडे की धूलि में खेली है। 'आज के लेखकों की भाषा, मालूम होता है, मुँह में क्रीम लगाकर आई है।' नगेन्द्रजी ने छायावाद की परिभाषा देते हुए बताया है कि छायावाद का काव्य प्रथम श्रेणी का विश्व-काव्य नहीं है—कुण्ठा की प्रेरणा प्रथम श्रेणी के काव्य को जन्म नहीं दे सकती और अंत में आपने यह तुलना करदी है कि 'उसकी (छायावादी कविता की) समृद्धि की समता हिन्दी का केवल भक्ति-काव्य ही कर सकता है।' आगे के लेखों में पं० इलाचन्द्र जोशी का निबंध 'हिन्दी-साहित्य की नवीन प्रवृत्तियां' छोटा होते हुए भी सारगर्भित और मौलिक विचार-प्रणाली से युक्त है। इस प्रकार यह संग्रह पठनीय और मननीय ही नहीं किसी सीमा तक दिशा निर्देशक भी है। इसमें यद्यपि आलोचक पर विशेष दृष्टि रक्खी गई है फिर भी साहित्य के सभी क्षेत्रों पर कुछ न कुछ प्रकाश पड़ ही गया है। परिशिष्ट में आनरेबल डा०-सर सीताराम तथा परिषद् मंत्री के स्वागत भाषण दिये गये हैं।

—सत्येन्द्र

कविता

नवीन—लेखक श्री गोपालसिंह नेपाली। प्रकाशक-पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय और पटना। पृष्ठ संख्या ६२, मूल्य २)।

प्रस्तुत पुस्तक नेपालीजी की कविताओं का नवीन संग्रह ही नहीं वरन् इसमें अपने नाम (नवीन) को सार्थक करने वाली एक नवीन उमंग भी है। इस काव्य-संग्रह में, प्रकृति प्रेम और जवानी की उमंग से भरे देश प्रेम के गीत हैं जिनमें से कुछ दिल्ली और लखनऊ रेडियो स्टेशनों से ब्राडकास्ट भी हो चुकी हैं। यद्यपि लेखक ने अपने जीवन के उत्साह में जीवन और प्रसन्नता का सागर लहराता देखा है तथापि उसकी दृष्टि संसार के मृत्यु, पीड़ा और अत्याचार सम्बन्धी करुण दृश्यों से भी अछूती नहीं रही है। कवि ने जो जीवन के तरङ्गित सागर का चित्रण किया है वह युवकों को उसमें कूद कर तैरने के लिए संकेत करता है। कवि अपने उत्साह में काली में भी लाली देखता है।

पश्चिम नभ की भरी जवानी
उमड़ रही हैं बादल बन-बन
जीवन में यौवन की झंझा
घुमड़ रही है पागल बन-बन
तुमने देखा मैंने देखा,
खिले अधर की मुस्कानों सी
चमक गई बिजली की रेखा
चंचल बिजली के सैनों पर
सावन का दल-बल चलता है

यह तो रही मूक प्रकृति की बात, अब जीते-जागते संसार का उल्लास-नृत्य देखिए:—

जीवन सागर गहराता है
जीवन का जल लहराता है
यौवन इन लहरों-धारों में
निज विजय ध्वजा फहराता है

कवि करुणा में भी जीवन देखता है—

कुहराम मचाकर गली-गली
जब किसी तरुण की लाश चली
दुनिया की आँखों के आगे
तब एक नई तसवीर जली
ज्वालों में जय-जयकार मचा
लपटों में हाहाकार मचा
रूमालों में ही सूख गया
इस दुनिया की आँखों का जल

कवि ने अपनी कवि और कविता शीर्षक कविता में कवि को एक प्रकार की स्वाभाविक प्रतिक्रिया माना है जैसा कि बादलों के आने से मोर के मन में होती है, देखिए:—

पावस में भर गया मेघ
श्याम नील आकाश
बन कर मोर कुञ्ज में
नाचा कविता का उल्लास
पतझड़ में गया पात बन
रङ्ग रूप बन बन का
कविता रानी शरद्-चन्द्र बन
चुनती तिनका तिनका

इस दृष्टि से कविता निराशा में भी आशा दिलाने का

काम करती है। पतझड़ के बाद शरद लाती है। कवि ने अपनी कविताओं में अधिकांश में यही दृष्टिकोण रक्खा है। यद्यपि सब कविताएँ एक से स्टैण्डर्ड की नहीं तथापि इस संग्रह की अधिकांश कविताएँ उत्साहवर्द्धक हैं। —गुलाबराय

अपने पथ पर—लेखक–शिशुपालसिंह 'शिशु', प्रकाशक–मारवाड़ी नवयुवक मण्डल, मारवाड़ी बाजार, हैदराबाद (दक्षिण)। पृष्ठ संख्या ७७, मूल्य १)।

प्रस्तुत पुस्तक में प्रताप के जीवन की एक छोटी-सी घटना को राष्ट्रीय रंग से रञ्जित करके काव्य रूप में खड़ा किया गया है। महाराणा का प्रत्येक उठा हुआ पद आदर्शों की उच्चता से अनुप्राणित है। उनका प्रगति-पथ स्वतंत्रता-स्वाभिमान का पथ है। 'विपक्षी की विवशता' से लाभ उठा कर बदला लेना महाराणा की मर्यादा के प्रतिकूल है। मानसिंह उनके सिपाहियों से घिर जाता है फिर भी महाराणा की उदारता उसे मुक्त कर देती है, यद्यपि उन्हें पता है कि उनका वीर-गुप्तचर पत्ता मानसिंह की कारा में पड़ा है, यही घटना है।

कविता ओज, उत्साह से ओतप्रोत है। प्रकृति वर्णन घटनानुकूल हुआ है प्रारम्भिक प्रकृति-चित्रण महाराणा के शौर्य, साहस और उल्लास से अभिमंडित है। भाव राष्ट्रीय हैं। भाषा में स्वाभाविक गति है।

—चन्द्रभान

दीपिका—रचयिता–श्री देवनाथ पाण्डेय 'रसाल'; प्रकाशक दीक्षित बुकडिपो, बाँस फाटक, काशी। पृष्ठ ६४, मूल्य १)।

इस पुस्तक में लेखक की छोटी-छोटी ५१ कविताएँ हैं। कविता-पथ पर अग्रसर होने वाले रचयिता की कविता में जो बातें पाई जानी चाहिये वे ही इन पंक्तियों में हैं। उनमें वेदना, विरह, आशा-निराशा, देशभक्ति और पूर्व गौरव की स्मृति है जो हमारी कविता के इन दिनों के विषय रहे हैं। कविता की खूबी विषय की नवीनता में नहीं बल्कि नवीन ढंग के उसके वर्णन में है। पुस्तक में लेखक का वह प्रयत्न दिखाई पड़ता है और वह भविष्य में प्रखर होगा ऐसी आशा है। —र

नाटक

काल-दहन—रचयिता–श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' एम० ए०; प्रकाशक पुस्तक-भण्डार पटना। पृष्ठ ५२; मूल्य १)।

प्रस्तुत पुस्तक 'गीतिनाव्य' है। इसमें प्रमुख पात्र हैं; अतीत, चेतना, विश्वास, आशा, पौरुष, चिनगारियाँ—किन्तु इन्हें पात्र ही क्यों कहा जाय, ये तो मानव-क्षेत्र में मिलने वाले विविध मानसिक और प्राकृतिक तत्व तथा गुण हैं, उन्हें ही पात्रों का रूपक दे दिया गया है। इन सब के द्वारा एक छोटी-सी कहानी कही गयी है। 'अतीत' अपने यज्ञकुण्ड को प्रज्वलित करना चाहता है, चेतना प्रोत्साहित करती है, पर पुरुषार्थ तो भाग्यवादी बन, एक वृक्ष से बँधा हुआ है। चेतना उसे उद्‌बोधन देती है :

सोचता है—
क्या न जीवन भाग्य का
एक छोटा-सा
सजल अनुवाद है!
भाग्य प्रेरक
और जीवन प्रेरणा,
क्या न यह
पुरुषत्व का अपमान है?
चेतना से प्रेरणा पाकर कि,
शक्ति तेरे हृदय में
है सो रही
देख अपने उस महान अतीत को
देख अपने उस विराट
स्वरूप को
भाग्यवादी तू न बन—

पौरुष अपनी शृङ्खलाएँ तोड़ कर मुक्त हो जाता है। वह दिग्विजय करता है, अतीत का यज्ञकुण्ड अब प्रज्वलित हो उठता है।

इस रूपक को गीति-नाव्य की ओजमयी और प्रवाहमयी शैली में प्रस्तुत कर कवि ने 'पौरुष' का जो कर्मठ सन्देश दिया है, वह स्पष्ट है। समस्त काव्य भाव-

जगत को जागृत करने के लिए है, मानसिक तथा प्राकृतिक तत्वों के बड़े सुन्दर विचारोत्तेजक चित्र दिये हुए हैं। 'आशा' और 'चेतना' ने प्रथम अङ्क के तृतीय दृश्य में अपना-अपना जो परिचय दिया है वह मौलिक और आकर्षक है। आशा का मनोरम रूप, और 'चेतना' का उग्रतामय रूप प्रस्तुत किया गया है : उदाहरणार्थ 'आशा' कहती है :

'सजनि ! मैं एक पुकार सजल
दृगों के नीरव वंदन में
हृदय के मृदु स्पंदन में

❀ ❀ ❀

करुण कविता-सी रहती हूँ

और 'चेतना' उसी ढंग में कहती है :

'सजनि मैं एक पुकार सजल
बन्द मैं दृग की कारा में
मुक्त पर आँसू धारा में
छिपी चिनगारी-सी मनमें
अनल रेखा-सी जीवन में'

इस प्रकार यह छोटा-सा काव्य पठनीय और संग्रहणीय है।

मीरा—(मौलिक नाटक)—लेखक तथा प्रकाशक सन्त गोकुलचन्द शास्त्री, बी० ए०, मुख्य संस्कृताध्यापक, डी० ए० वी० हाई स्कूल, लाहौर। पृष्ठ १३४. मूल्य १॥)

भक्त-विह्वल कवियित्री मीरा का जीवन, भक्ति का आदर्श रूप है। 'कुल की कानि' छोड़ कर भक्त बने, और भक्ति-विह्वल हो नाचे-गावे, यह घटना है।

उन्होंने भक्ति के लिए 'कुल की कानि' त्याग दी, वे सिसौदिया वंश की कुल वधू थीं। उस कुल की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए दयाराम पांडे ने राजा विक्रमाजीत की प्रेरणा से कैसे षडयंत्र मीरा को मार डालने के लिए किये। एक बार विष पिलाया, दूसरी बार विषधर सर्प भेजा, और कैसे विष अमृत हो गया और सर्प शालग्राम की बटिया। नाटककार ने राजकीय षडयंत्र, और चाटुकारों की मलिन-बुद्धि के कुचक्र के वातावरण में मीरा की भक्ति और उसके प्रभाव को निरन्तर दृढ़ दिखाया है। उनके बालकपन से अन्त तक के दृश्य इस नाटक में आगये हैं। यद्यपि नाटकीय कला की दृष्टि से नाटक सफल नहीं, पर कहीं-कहीं रस के मार्मिक स्पर्श इसमें मिल जाते हैं। पुस्तक की छपाई-सफाई अच्छी है।

—सत्येन्द्र

कहानी

पुकार—लेखक-श्रीमती कमला त्रिवेणीशंकर; प्रकाशक—लक्ष्मी प्रकाशन मन्दिर, गोरखपुर। पृष्ठ संख्या २२३; मूल्य २॥)

प्रस्तुत पुस्तक विद्वान् लेखिका की कहानियों का संग्रह है। सभी कहानियाँ स्त्रियों के जीवन से सम्बन्ध रखती हैं, उनमें सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं, स्त्री और पुरुष जाति की स्वाभाविक तथा परिस्थिति-जन्य कमजोरियों तथा उनके गुणों आदि का सुन्दर परिचय मिलता है। एक महिला लेखिका द्वारा नारी-जीवन का चित्रण वास्तविकता की दृष्टि से अधिक सफल होता है और इसमें सन्देह नहीं कि श्रीमती कमला त्रिवेणी ने न केवल आज के भारतीय समाज की महिलाओं की स्थिति का ही सफल और सुन्दर चित्र प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त की है बल्कि मनोगत भाव, वाह्य-चेष्टा, सामाजिक सम्बन्धों का आदर्श आदि के चित्रण में भी कला का अच्छा परिचय दिया है। अठारह सुन्दर कहानियों का यह संग्रह स्त्री और पुरुष दोनों के लिये समान रूप से पठनीय है।

दले मले फूल—सम्पादक-'बिजली'; प्रकाशक—ज्ञानलोक, दारागंज, प्रयाग। पृष्ठ संख्या २६७, मूल्य १॥)

इस संग्रह में छोटी-छोटी कहानियाँ हैं। अधिकांश कहानियाँ जीवन में असफलता तथा उसके निराशा-पूर्ण पहलू का परिचय देती हैं, लेकिन हैं वे मनोरंजक और शिक्षाप्रद। उनका आधार सामाजिक और ऐतिहासिक है, कुछ कहानियाँ बड़ी ही रोचक तथा दिल और दिमाग पर अचूक प्रभाव करने वाली है।

मञ्जिल—लेखक-श्री भैरवप्रसाद गुप्त, प्रकाशक—कल्याण साहित्य मन्दिर, प्रयाग। पृष्ठ सं० १५४, मूल्य २)

इस पुस्तक में चार कहानियाँ हैं, चारों कहानियाँ ऊँचे

दर्जे की हैं। कहानी साहित्य में वे नये दृष्टिकोण को उपस्थित करती हैं। वह नया दृष्टिकोण है जीवन के उन अङ्गों को कहानी-कला का जामा पहिनाना जिन तक अभी अधिकांश कहानी लेखक पहुँचे नहीं हैं और उसमें भी स्वाभाविकता का परिचय देना। प्रेम, प्रणयलीला, प्रेम का दुखान्त या सुखान्त, कहानी का क्षेत्र केवल इतना ही नहीं है। प्रेम की और भी सीमाएँ हैं, उसके और भी सम्बन्ध हैं। यह इस संग्रह की कहानियों में प्रकट किया गया है, परीक्षा कहानी में डाक्टर का चित्र कितना सुन्दर प्रस्तुत किया गया है और 'मंजिल' में गृह-कर्तव्य को कितनी उच्चता प्रदान की है यह देखने योग्य है। —र

देवदासी:—लेखक श्री० रांगेय राघव, प्रकाशक प्रदीप कार्यालय मुरादाबाद। पृष्ठ १४०; मूल्य छपा नहीं।

श्री रांगेय राघव एक उदीयमान प्रगतिशील कवि और लेखक हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन्हीं की छः कहानियां संगृहीत हैं। प्रथम कहानी के नाम पर ही पुस्तक का नामकरण हुआ है। शेष पाँच कहानियां हैं—अनुवर्तिनी, काई, नरक, कुछ नहीं और देवोत्थान।

प्रथम दो कहानियां देवदासी तथा अनुवर्तिनी श्री प्रसाद जी की शैली की याद दिलाती हैं। वस्तु, पात्र और भाषा शैली में उनकी शैली का अनुकरण स्पष्ट लक्षित होता है। काई, नरक और कुछ नहीं में समाज के वीभत्स दृश्यों को चित्रित किया गया है। कहीं-कहीं चित्र इतने नग्नरूप में चित्रित कर दिये गये हैं कि उसे कला की सीमा का उल्लंघन कहे बिना नहीं रहा जा सकता। पर आजकल के प्रगतिशील लेखकों की कला आवरण को हटा देने में ही है। अन्तिम कहानी में लेखक के साम्राज्यवाद का दुपट्टा (अन्ध-विश्वास) हँसिया से फड़वा दिया है।

इस प्रकार इस संग्रह की छः कहानियों में प्रथम दो कहानियाँ भावात्मक प्रणाली पर लिखी गई हैं जिनमें पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को भी लेखक ने भली प्रकार अंकित किया है और चार कहानियों में समाज की कड़ी आलोचना है। पुस्तक सुन्दर और पठनीय है। —सरोज एम० ए०

उपन्यास

गुरु घण्टाल:—मूल लेखक-मिर्जा रुसवा साहब, अनुवादक पं० केदारनाथ भट्ट एम० ए०; प्रकाशक पुस्तक मन्दिर काशी। पृष्ठ २७३, मूल्य ३)।

उर्दू साहित्य के प्रसिद्ध लेखक मिर्जा रुसवा के 'जात शरीफ' उपन्यास का यह हिन्दी अनुवाद है। उपन्यास की भूमि और काल लखनऊ की नवाबी के डूबते हुए दिन हैं। उन दिनों शाही खानदान की क्या हालत हो जाती है। नबावों के घर, उनके सम्बन्धी, नौकर और शाही घराने से सम्बन्ध रखने वाले लोगों की क्या हालत थी तथा स्वयं लखनऊ में अंदर का जीवन उस समय किस ढंग का था इसका सुन्दर परिचय इस उपन्यास में मिलेगा। उपन्यास मनोरंजक शिक्षाप्रद और कला की खूबियों से भरा हुआ है। अनुवाद भी उसके अनुरूप ही हुआ है। —'

हास्य

खटोला—लेखक श्री आनन्दकुमार; प्रकाशक विशाल भारत बुकडिपो, हरिसन रोड, कलकत्ता। पृष्ठ ८६, मूल्य १।),

इस पुस्तक में हास्य और व्यंग के साथ लेखक ने कुछ चीजों पर लेखनी चलाई है। इस तरह का साहित्य मनोरंजक तो होता ही है, साथ ही वह कितनी बातों की पोल भी खोल देता है, उनका ऐसा नंगा रूप सामने ला देता है जो अन्य प्रकार से कहने में शायद कलह और कटुता का कारण बन जाय, इस पुस्तक में ऐसे सात वृतान्त हैं। उनका आधार लेखक का व्यवहारिक ज्ञान और प्रत्यक्ष अनुभव दोनों हो सकते हैं। मनोरंजन की दृष्टि से पुस्तक अच्छी है।

राजनीति

गाँव की बात:—लेखक श्री भगवानदास केला। प्रकाशक—भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, प्रयाग। पृष्ठ ५० मूल्य ॥)

आज लोकप्रिय सरकारें कायम हो चुकी हैं। उनके सामने ग्राम सुधार की योजनायें हैं। ऐसी स्थिति में केलाजी ने ग्रामीण जीवन के बारे में जो अनुभव प्रकाशित किये हैं और अध्यापकों की संस्था सम्बन्धी जो सुझाव दिये हैं, वे बहुत उपयोगी हो सकते हैं।

हिन्दी में अर्थ-शास्त्र और राजनीति साहित्य— लेखक श्री दयाशङ्कर दुबे और श्री भगवानदास केला; प्रकाशक–भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, प्रयाग। पृष्ठ १०८ मूल्य २)

हिन्दी में इस प्रकार की पुस्तकों की बहुत कमी है जिनके द्वारा एक साथ किसी विषय पर प्रकाशित पुस्तकों की सूची मिल सके। राजनीति और अर्थ-शास्त्र जैसे विषयों पर तो पुस्तकें पाना ही कठिन है, सूची की बात दूसरी है। इस दृष्टि से केलाजी तथा दुबेजी का यह प्रयत्न सराहनीय है। पुस्तक में ग्रन्थों की सूची ही नहीं है, उनका परिचय भी है तथा राजनीति व अर्थ-साहित्य के विभिन्न अङ्गों की कमियों पर प्रकाश भी डाला है।

मनुष्य जाति की प्रगति— लेखक श्री भगवानदास केला; प्रकाशक–भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, इलाहाबाद। पृष्ठ ३८०, मूल्य ३॥) ।

राजनीति तथा अर्थ-शास्त्र पर ग्रन्थ लिखने के बाद केलाजी ने समाज-शास्त्र के मुख्य विषय पर इस ग्रन्थ को लिख कर एक बड़े भारी अभाव की पूर्ति की है। पुस्तक में ५० अध्याय हैं जिनमें भोजन, कपड़ा, घर, स्वास्थ्य, चिकित्सा, पशु पालन, खेती, उद्योग, व्यापार, आदि से लेकर विवाह, परिवार, रिवाज, धर्म, सदाचार, राज्य, कानून, युद्ध, भाषा, साहित्य, संवाद, शिक्षा, कला, विज्ञान, वर्णाश्रम, समाजवाद, अराजकवाद आदि प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में अब तक हुई प्रगति का लेखा-जोखा दिया गया है। एक ही पुस्तक में मानव सम्बन्धी मूलभूत समस्याओं के इतिहास का वर्णन बहुत उपयोगी है। हिन्दी में अभी तक ऐसी पुस्तकों की कमी थी। अन्त में संसार की जो घटनायें दी गई हैं उनसे व पूरी पुस्तक पढ़ने से एक भावना का उदय होता है कि हम सब संसार की एक मानव जाति के अङ्ग हैं और हमारी प्रत्येक घटनायें एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। यही पुस्तक की सबसे बड़ी उपयोगिता है।

—जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी

स्फुट

आर्य भाषा और संस्कृति— लेखक–श्री रामकृष्ण शुक्ल, प्रकाशक–त्रिसत्य अदर्श, पब्लिशर्स, जयपुर सिटी। पृष्ठ संख्या १६०, मूल्य पुस्तक पर मुद्रित नहीं।

यह पुस्तक शुक्लजी के भाषा सम्बन्धी स्फुट पर एक केन्द्रीय विचार में समन्वित लेखों का संग्रह है। इन लेखों में भाषा-विज्ञान और संस्कृति की दृष्टि से राष्ट्र-भाषा तथा तत्सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया गया है। राष्ट्र-भाषा तथा विकेन्द्रीकरण के प्रश्न में बहुत कुछ भावुकता का समावेश हो जाता है किन्तु लेखक ने इस प्रश्न पर सावधानी से विचार किया है। लेखक महोदय ने अपभ्रंश को प्राकृतों से स्वतन्त्र मान कर उसका उत्तराधिकार हिन्दी को दिया है और यह दिखलाया है कि अपभ्रंश को संस्कृत का अग्रसंस्कृत भाई मानते हैं। खड़ी बोली, राजस्थानी, बिहारी आदि बोलियों का सम्बन्ध प्राकृतों से न मान कर लेखक महोदय अपभ्रंश से मानते हैं और उनकी यह धारणा है कि निस्संतान प्राकृतों के प्रदेशों को व्यापक अपभ्रंश ने अपना लिया और जहाँ अधिकार जमाया वहाँ पूर्व प्राकृतों तथा स्थानीय प्रभावों के कारण उनमें कुछ विशेषताएँ आ गईं और उन्होंने स्वतन्त्र बोलियों का रूप धारण कर लिया। खड़ी बोली को वे परिवार का अग्रज मानते हैं और परिवार की एक सांस्कृतिक भावना के नाते वे विच्छेद और स्वतंत्रता के पक्ष में नहीं हैं। उन्होंने सम्मिलित परिवार का जो रूपक लिया है। वह साम्राज्य के रूपक की अपेक्षा अधिक ग्राह्य है। कहीं-कहीं उनकी पुस्तक में साम्राज्य की भी भावना आ गयी है वह दूसरी बोलियों को ग्राह्य न होगी। जनपद के सम्बन्ध में भी उनका यही मत है। जयपुर की बोली को वे मध्य देश से आये हुए कान्यकुब्ज क्षत्रियों की बोली मानते हैं और उसमें वही संस्कृति मानते हैं। इसलिए हिन्दी से उसका स्वतंन्त्र अस्तित्व नहीं है।

यद्यपि शुक्लजी के निष्कर्षों से हम सहमत हैं तथापि वैज्ञानिकता के नाते हम उनसे कुछ अधिक स्पष्टीकरण चाहते हैं। प्राकृतों से स्वतन्त्र अपभ्रंश के विकास तथा प्राकृतों के निस्सन्तान रहने के कारणों पर अधिक प्रकाश की जरूरत थी। खड़ी बोली के अग्रज होने के लिए भी अधिक पुष्ट प्रमाणों की आवश्यकता है। —गुलाबराय

सम्पादकीय

हिन्दी साहित्य के कुछ अभाव--

हिन्दी साहित्य दिन-प्रति समृद्धशाली होता जा रहा है। उसके लिए हम सबको गर्व है किन्तु उसमें कुछ शोचनीय अभाव भी हैं जिनकी ओर हम लेखकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। हिन्दी के गद्य साहित्य में सबसे अधिक कमी पत्र-साहित्य की है। पत्र लेखक की अकृत्रिम रचना होती है और उसमें लेखक का व्यक्तित्व पूर्ण रूपेण व्यक्त रहता है। यह बात नहीं कि हिन्दी लेखकों ने पत्र नहीं लिखे हैं या उनके पत्र संग्रहीत नहीं है किन्तु इस ओर हमारे साहित्यिकों ने उपेक्षा की दृष्टि रक्खी है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी से लगाकर यदि वर्तमान काल तक के प्रमुख लेखकों के पत्रों का संग्रह निकाला जाय तो वह अवश्य साहित्य के लिए गौरव का विषय होगा। इस सम्बन्ध में प्रयत्न अवश्य हो रहे हैं किन्तु वे अभी तक साकार रूप नहीं धारण कर पाये हैं। कहना न होगा कि इस संबंध में उर्दू साहित्य विशेष सम्पन्न है। आशा है कि इस सम्बन्ध में हमारे लेखक और प्रकाशक अपनी उदासीनता का त्याग करेंगे।

हिन्दी में दूसरा एक अभाव पौराणिक कथाओं के कोष का है। अन्तर्कथाओं के अध्ययन के लिए हमारे यहाँ विद्यार्थियों के सामने कोई भी प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है। अंग्रेजी में तो इस प्रकार की एक डिक्शनरी है जिसमें कि पौराणिक व्यक्तियों का विवरण है। हिन्दी में ऐसी पुस्तक का अभाव बहुत खटकता है। दिया तले अँधेरी की बात है।

चतुर्वेदी अयोध्याप्रसाद पाठक--

आगरा के वयोवृद्ध हिन्दी प्रेमी और साहित्य-सेवी वकील पाठकजी का ता० ११ जून को प्रातःकाल अचानक शारीरांत हो गया। वे ब्रजभाषा के विद्वान, रमायण के प्रेमी और पारगंत तथा उर्दू कविता के अच्छे ज्ञाता थे। ब्रज कोकिल कविरत्न पं० सत्यनारायणजी का सबसे ज्यादा संसर्ग आगरे में पाठकजी से ही था और वहीं बैठ कर वे अपनी कविता को शान पर चढ़ाया करते थे। आगरा में कविरत्नजी का स्मारक स्थापित करने का अधिकांश श्रेय पाठकजी को ही था। स्थानीय नागरी प्रचारिणी सभा अपने बाल्य काल में पाठकजी से परिपोषित हुई थी। सभा के वर्तमान विद्यालय का श्रीगणेश भी आज से २४-२५ वर्ष पूर्व आपके ही परिश्रम से साहित्य-रत्न-भंडार में हुआ था। युक्त प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन १६२१ और फिर २१ वर्ष बाद १६४२ में आगरे में हुआ। दोनों बार उसकी सफलता में आपका बड़ा हाथ रहा। आपके पचासों लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं प्रकाशित हो चुके हैं। कई पुस्तकों का सम्पादन भी आपने किया। मृत्यु से एक दिन पूर्व आपने महाकवि नजीर की कविताओं का एक संकलन प्रकाशित होने के लिए दिया था जिसका सम्पादन आपने और पं० केदारनाथजी भट्ट ने मिलकर किया था। आपका हिन्दी प्रेम स्वाभाविक था और उसके लिए आप सदा समय देने को तैयार रहते थे। ख्यालों के आप बड़े प्रेमी थे और कहीं न कहीं प्रति वर्ष अच्छे ख्याल कहने वालों का एक सम्मेलन आप करा देते थे। इस प्रकार पाठकजी सच्चे अर्थ में साहित्यिक थे जिनका अभाव आगरे में बुरी तरह खटकेगा। हम उनके असामयिक देहावसान से दुःखी हैं और परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि उनकी आत्मा को शान्ति और उनके परिवार को धैर्य प्रदान करे।

श्री गोपालराम गहमरी--

गुरुवार ता० २६ जून १६४६ को गरमर (गाजीपुर) निवासी श्री गोपालरामजी (गहमरी) का लगभग ८५ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवास होगया। हिन्दी के उत्थान-काल में जब हिन्दी लेखकों का प्रायः अभाव था गहमरीजी ने बंगला के उपन्यासों का अनुवाद करके और कुछ स्वतन्त्र नाटक और जासूसी उपन्यास लिख कर हिन्दी की बहुत सेवा की थी। अपनी पुस्तकों का प्रकाशन भी आपने स्वयं किया था और उन दिनों उनकी धूम भी खूब थी। आज हम उनके कार्य की महत्ता का नहीं अनुभव कर सकते जितनी वास्तव में है। दो एक शताब्दी बाद संभवतः उसका कुछ अनुभव हो। हम गहमरीजी के कुटुम्बियों के साथ हार्दिक संवेदना प्रकट करते हुए उनकी आत्मा को शान्ति लाभ की प्रार्थना करते हैं। हिन्दी के पुस्तकालय और धनी हिन्दी प्रेमी गहमरीजी की पुस्तकों का एक एक सैट अपने यहां रक्खें तो गहमरीजी के परिवार को मदद मिले।



भाग ८] आगरा—सितम्बर १९४६ [अङ्क ३

कलागत सौन्दर्य और महत्ता

[डाक्टर देवराज एम० ए० डी० फिल]

(इस लेख का पहला अङ्क जुलाई में प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत लेख में लेखक ने स्थापना की है कि अभिव्यक्ति अनुभूति पर ही आश्रित है। गुण तो अनुभूति के अन्तगत माने ही गये हैं, लेखक अर्थालङ्कारों को ही नहीं वरन् शब्दालङ्कारों को भी काव्य की संगीतमय अनुभूति को बढ़ाने के कारण अनुभूति का ही अंग माना है। कल्पना को आप अनुभूति से नीचा स्थान देते हैं। इसी कसौटी के आधार पर उन्होंने सूर और तुलसी को रवि बाबू की अपेक्षा अधिक महत्ता प्रदान की है। संयम और नियंत्रण को वे क्लासीकल होने का लक्षण मानते हैं फिर भी ये गुण अनुभूति का स्थान नहीं ले सकते और न शब्द बाहुल्य ही उसका प्रतिनिधित्व कर सकता है। बच्चन में संयम और नियन्त्रण के होते हुए भी वे अनुभूति की अपेक्षा कल्पना का प्राधान्य मानते हैं। यही उनकी कमी है। —सम्पादक)

पिछले लेख में हमने एलेक्जेण्डर के इस मन्तव्य का विरोध किया था कि सौन्दर्य मूल्यांकन की अलग कसौटी है। इस सम्बन्ध में हमने यह महत्त्वपूर्ण स्थापना की थी कि सौन्दर्य कलात्मक अनुभूति का व्यापक धर्म नहीं है और सुन्दर की अनुभूति को ही सुन्दर कहा जा सकता है। शेक्सपियर के एक अवतरण की सहायता से हमने यह संकेत करने की भी चेष्टा की थी कि अभिव्यक्ति की पूर्णता सौन्दर्य नहीं है। प्रस्तुत लेख में हम अभिव्यक्ति एवं शैली की समस्या पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे। कारण यह है कि इस सम्बन्ध में कतिपय पक्षपात गहरी जड़ें पकड़ गए हैं।

शैली और सौन्दर्य; पन्त और बच्चन

शब्द-जाल के अपार होते हुए भी यह कहना सत्य का विपर्यय न होगा कि मनुष्य की भाषा अथवा व्यञ्जना-शक्ति बहुत सीमित है। हमारी आत्मपाती तथा वस्तुपाती, अन्तर्जगत एवं बाह्य जगत से सम्बद्ध, अनुभूति में जितनी विविधता, विचित्रता और "शेड" होते हैं उन्हें व्यक्त करने के लिए अलग-अलग शब्द पाना प्रायः असंभव होता है। फलतः

हम काफी मिलती-जुलती तथापि भिन्न संवेदनाओं को अपनी सुविधा के लिए कतिपय अधिक परिचित शब्दों से प्रकट करने लगते हैं। यह लाचारी साधारण लोगों तक ही सीमित रहे तो इतना हर्ज न हो; होता यह है कि वह चिन्तकों की सूक्ष्मतम विचारणाओं को आक्रान्त करके नितान्त भ्रामक निष्कर्षों तथा सिद्धान्तों के प्रतिपादन का कारण बन जाती है।

हमें भय है कि हमारी भाषा में 'सुन्दर' शब्द का बहुत दुष्प्रयोग होता है। न जाने हम अपनी कितनी विभिन्न भावनाओं को इस एक शब्द द्वारा प्रकट करते हैं! सुन्दर-विशेषण का प्रयोग प्रकृति तथा मनुष्य के आकर्षण के लिए ही नहीं होता; हम सुन्दर संगीत, सुन्दर भाषा, यहाँ तक कि सुन्दर बात, सुन्दर प्रस्ताव, सुन्दर योजना आदि का भी व्यवहार करते हैं। स्पष्ट ही इन सब स्थलों में सुन्दर शब्द का एक ही अर्थ नहीं होता। कोई प्रस्ताव उपयोगी हो सकता है न कि सुन्दर; इसी प्रकार योजना भी उपयोगिता तथा व्यावहारिकता की कसौटी पर ही कसी जा सकती है। ऐसे ही किसी समाचार को सुन्दर कहना भी समीचीन नहीं है। वास्तव में, जैसा कि सौन्दर्यशास्त्री काण्ट के समय से कहते आए हैं, सुन्दर पदार्थ उपयोगी न होते हुए भी आनन्दप्रद होता है। प्रश्न यह है कि क्या सुन्दर के इस वर्णन के अनुसार भाषा और शैली को उसके अन्तर्गत लाया जा सकता है।

ऊपर हमने यह मत प्रकट किया कि सौन्दर्य अनुभूति का गुण है, उस अनुभूति का जिसका विषय सुन्दर तत्त्व है। वस्तुतः सौन्दर्य अन्तर्जगत तथा वाह्यजगत की वस्तुओं का धर्म है; उनकी अनुभूति को उपचार से ही सुन्दर कहा जा सकता है। इस दृष्टि से कला के लिए भी सुन्दर विशेषण का प्रयोग औपचारिक है। कलात्मक अनुभूति का व्यापक धर्म अर्थवत्ता (Significance है और यह गुण वीभत्स तथा भयानक छवियों से सम्बद्ध साहित्य में भी पाया जाता है। जगत्प्रसिद्ध उपन्यास 'War and Peace' (युद्ध और शान्ति) के वे पृष्ठ जहाँ घायल सैनिकों से भरे अस्पताल का वर्णन है साहित्य नहीं उच्चतम साहित्य हैं, क्योंकि वह मानव सुख-दुःख एवं प्रयत्नों के लिए भीषण सार्थकता रखता है।

सौन्दर्य शैली का भी गुण नहीं है। शैली शक्तिशाली, सफल, कम सफल, या असफल हो सकती है; उसे सुन्दर या असुन्दर कहना उचित नहीं। १बर्नार्ड शा ने कहीं कहा है—Effective expression is the alpha and omega of style. अर्थात् शैली का सम्पूर्ण तत्व प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति है। इस प्रभविष्णुता के अतिरिक्त शैली में सौन्दर्य-असौन्दर्य की खोज भ्रामक है। कहा जाता है कि 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' और 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' का अर्थ वही है, भेद केवल शैली में है; किन्तु यह ठीक नहीं है। इन दो वाक्यों से दो भिन्न चित्र हमारे सामने आते हैं। विशेष परिस्थितियों में सूखा वृक्ष भी सुन्दर लगता है, जैसे चाँदनी रात में, और रोमांटिक कल्पना की वस्तुएँ प्रायः सौन्दर्य से रंगी हुई प्रतीत होती हैं।

प्रायः यह सभी स्वीकार करेंगे कि शैली की पूर्णता पन्त की अपेक्षा बच्चन में अधिक है, पर क्या बच्चन का काव्य अधिक सुन्दर होने का प्रभाव उत्पन्न करता है? हमारा प्रस्ताव है कि बचन की शैलीगत पूर्णता के लिए सुन्दर से कोई भिन्न नाम दिया जाना चाहिए, हम उसे रचना-नैपुण्य अथवा निर्माण-कौशल कह सकते हैं।

इस निर्माण कुशलता के दो पहलू हैं, एक का सम्बन्ध अनुभूतिगत सामञ्जस्य से और दूसरे का अर्थ पूर्ण शब्द-योजना से है। जिस प्रकार एक अच्छे विचारक के विचार-खण्ड परस्पर संगति रखते हैं, उसी प्रकार श्रेष्ठ साहित्यकार की सम्वेदनाएँ समञ्जस अनुभूति अथवा अनुभव-समष्टि का रूप धारण कर लेती हैं यह सामञ्जस्य छोटे-बड़े गीतों में ही नहीं नाटकों तथा विशालकाय उपन्यासों में भी अपेक्षित होता है। किसी दशा में व्यापक अनुभूति का अर्थ असम्बद्ध अनुभव-खण्डों का जमघट नहीं किया जा सकता। अतः हमारा विचार है कि अनुभूतिगत सामञ्जस्य को व्यापकता से भिन्न की कसौटी मानना जरूरी नहीं है।

१—भाषा और शैली स्वतः साध्य न होकर भाव-व्यंजना के उपकरण हैं, अतः काण्ट की परिभाषा के अनुसार सुन्दर कहलाने के अधिकारी नहीं हैं।

वास्तव में जहां सामञ्जस्य का अभाव एक गम्भीर दोष है वहाँ उसकी उपस्थिति अपने में साहित्यिक श्रेष्ठता का प्रमाण या मापक नहीं है। बच्चन की कविता में अनुभूतिगत सामञ्जस्य है इससे हमें उसके महत्व के सम्बन्ध में कोई बोध नहीं होता, हम केवल इतना जान पाते हैं कि उसमें निर्माणकुशलता की कमी या अभाव नहीं है। अनुभूतियों का सामञ्जस्य प्रथम साहित्यिक श्रेष्ठता की आवश्यक शर्त है, पर वह स्वयं श्रेष्ठता का उपादान या माप नहीं है।

अब हम निर्माण-कौशल के दूसरे पक्ष शब्द-योजना का विचार करें। यदि शब्दों का चयन अनुभूति के अनुरूप नहीं हुआ है तो इसका अर्थ यह है कि कलाकार अपनी अभीष्ट अनुभूति को हम तक नहीं पहुँचा सका। किन्तु इस प्रकार की सफलता या असफलता का हम अनुमान ही कर सकते हैं। क्यों कि शब्दबद्ध अनुभूति से भिन्न मूल अनुभूति तक हमारी पहुँच नहीं है इसलिए हमारे लिए यह कहना कठिन होगा कि कलाकार की अनुभूति सदोष है अथवा उसकी अभिव्यक्ति। प्रायः अच्छे कलाकारों और विचारकों का भाषा पर काफ़ी अधिकार रहता है, प्रायः भाषा की कमी का अर्थ क्षेत्र-विशेष से सम्बद्ध अनुभव की कमी होता है। एक लेखक किसान-मजदूर की भावनाओं का ठीक प्रकाशन नहीं कर पाता इसका अर्थ यही है कि वह उनके जीवन और मनोभावों से सुपरिचित नहीं है। साधारणतया भाषा की जटिलता विचारगत जटिलता की और उसकी सादगी विचारगत सादगी की द्योतक होती है। इसी प्रकार उलझी हुई अनुभूति या विचार उलझी हुई अभिव्यक्ति को जन्म देते हैं। तात्पर्य यह कि अनुभूति और व्यञ्जना में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रहता है।

इस क्रम में विपर्यय तब पैदा होता है जब लेखक अनुभूति के अभाव में पद्य-पूर्ति की आवश्यकता अथवा शब्द-मोह से प्रेरित होकर अनावश्यक पदों का जमघट खड़ा करने लगता है। शब्दों का यह अतिरेक कभी तो अनुभूति की क्षीणता का और कभी कलाकार के असंयम अथवा अभिव्यक्तिगत अनियन्त्रण का परिचायक होता है। यहाँ संयम और नियन्त्रण से क्या तात्पर्य है? नियन्त्रण से मतलब उस क्रिया से है जिसके द्वारा कलाकार अपनी अनुभूति को अभीष्ट रूपरेखा एवं सामञ्जस्य देता है; और संयम का अर्थ वह वृत्ति है जो कलाकार को उक्त अनुष्ठान में बाधक तत्त्वों की ओर, फिर वे चाहे कितने भी आकर्षक क्यों न हों, ध्यान देने से रोकती है। हमें भय है कि पन्त तथा अन्य छायावादी कवियों में ऊपर के दोनों गुणों की कमी है। वे लोग अक्सर अभीष्ट अनुभूति को सुस्पष्ट रूपरेखा और सामञ्जस्य नहीं दे पाते और उस अनुभूति से न्यूनाधिक असम्बद्ध शब्द-चित्रों के मोह में पड़ जाते हैं। ऐसे चित्रों का सन्निवेश यदि अभीष्ट अनुभूति के सामञ्जस्य को क्षुण्ण न करे तो वह कीट्स द्वारा संकेतित मनोज्ञ अतिशयता का विधायक बन जाता है, विपरीत हालत में, जब वह सामञ्जस्य का विघातक हो, उसके द्वारा काव्य की प्रभविष्णुता को क्षति पहुँचती है।

संयम और नियंत्रण व्यक्तित्व के गुण हैं और चारित्रिक दृढ़ता को प्रतिबिम्बित करते हैं। इस दृढ़ता का व्यावहारिक प्रतिफलन एक निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर शक्तिपूर्वक अग्रसर होना है। जिन्हें योरपीय आलोचना में "क्लासिकल" लेखक कहा जाता है उनमें उक्त गुणों की पूर्ण उपस्थिति रहती है; वे अनुभूति से अधिकृत होकर ही नहीं लिखते अपितु उसकी अभिव्यक्ति पर पूरा नियंत्रण रखने और उसे अभीष्ट रूपरेखा देने में समर्थ होते हैं। रोमांटिक कवियों या लेखकों में इन गुणों का न्यूनाधिक अभाव रहता है। शैली की अपेक्षा कीट्स में और पन्त की अपेक्षा रवीन्द्र में संयम और नियन्त्रण अधिक है; शैली की दृष्टि से वर्ड्सवर्थ (तथा बच्चन) को क्लासिकल कहना चाहिए। रवि बाबू की कुछ रचनाओं तथा बच्चन के प्रायः समस्त काव्य में एक खटकने वाली बात अनुभूति की क्षीणता एवं कल्पना का अतिरेक है। पन्त की भी अनेक रचनाएं, जैसे 'छाया', 'नक्षत्र', 'स्याही का बूँद' आदि इस दोष से दूषित हैं। कल्पना-प्रधान रचनाओं में प्रायः अनुभूति की गहराई और व्यापकता दोनों की कमी रहती है, भले ही उसमें हलके आकर्षण का सन्निवेश रहे। कल्पना में हमें चमत्कृत करने की जितनी क्षमता होती है उतनी रस-सिक्त करने की नहीं। इसीलिए हमारा विचार है

कि रवीन्द्रनाथ उतने बड़े कवि नहीं है जितने कि सूर और तुलसी। इस कथन का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि रावीन्द्रिक साहित्य में उच्चतम कोटि की रचनाएँ नहीं हैं; प्रश्न ऐसे काव्य के परिमाण और अनुपात का है। हमारा अनुमान है कि रवि बाबू की अधिकांश रचनाएँ जिनकी रमणीयता कल्पना द्वारा निर्मित है शीघ्र ही भुला दी जायँगी। बच्चन की कविताएँ पढ़ते समय लगता है कि वे न्यूनाधिक तीव्र असन्तोष के "मूड" में लिखी-गयी हैं जब कवि बरबस विश्व को अपने अनुकूल रंग में रँगा हुआ देखता है, अथवा उसे इस प्रकार रँगने की चेष्टा करता है। विश्व-जीवन में यों भी काफ़ी दुःख और पीड़ा है जिसकी विवृति उच्च काव्य में होती आयी है। बच्चन इस वास्तविक व्यथा और दुःख से प्रेरणा नहीं लेते इसीलिए उनकी कविता रीढ़हीन अथच "सेण्टीमेण्टल" मालूम पड़ती है। वह वास्तविक जीवन की कलात्मक व्याख्या प्रस्तुत नहीं करती और उसके विस्तार एवं गहराइयों से हमारा रागात्मक सम्बन्ध नहीं जोड़ पाती। वह प्रायः ऐसे पाठकों को अधिक प्रिय लगती है जिन्होंने परिस्थितियों के आघात से अपनी जीवन-दृष्टि को सीमित तथा एकांगी और अपनी रुचि को विकृत बना लिया है।

संयम और नियन्त्रण कलाकार के आवश्यक गुण हैं जो श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि में सहायक होते हैं। उनका अभाव कला में खराबी उत्पन्न करता है, पर इसका यह अर्थ नहीं हैं कि उनकी उपस्थिति कला-साहित्य को अतिरिक्त महत्त्व प्रदान कर देती है। नैतिक-क्षेत्र में भी हम किसी व्यक्ति का महत्त्व उसकी चारित्रिक दृढ़ता से नहीं बल्कि उन बड़े कामों से आँकते हैं जो उस दृढ़ता द्वारा सम्पन्न होते हैं। कलाकार का संयम और नियन्त्रण भी साधनभूत है, साध्य नहीं; अतः वह महत्व का उपकरण होते हुए भी उसका प्रतिमान नहीं है। इस स्थापना का व्यावहारिक निष्कर्ष यह है कि काव्य-साहित्य की आलोचना में शैली अर्थात् भाषा और अभिव्यक्ति सम्बन्धी विशेषताओं का गुण गान नहीं होना चाहिए, यद्यपि तत्सम्बन्धी दोषों का निर्देश आलोचना का आवश्यक अंग है। प्रायः जब हम किसी कलाकार की शैली की प्रशंसा करते हैं तो हमारे तो आनन्द का कारण उसकी अनुभूति की कोई विशेषता होती है। क्योंकि अनुभूतिगत विशेषताओं को नाम देना कठिन है इसलिए आलोचक भ्रमवश यह समझने लगते हैं कि उनकी रसानुभूति का कारण शैली है। वास्तव में शैली को लेकर वाहवाही देना, विशेषतः उच्च साहित्य के सम्बन्ध में, आलोचनात्मक असामर्थ्य का सूचक है। मेरे एक मित्र ने एकबार बड़ी गम्भीरता से कहा कि उर्दू कवियों की प्रमुख विशेषता भाषा की सफ़ाई है। यह ध्यान देने की बात है कि उर्दू साहित्य में आलोचना बहुत कम विकसित दशा में है; इसका एक कारण यह भी है कि वे भ्रमवश गजल के सौन्दर्य का कारण भाषा को समझते रहे, और दूसरे प्रकार के श्रेष्ठ साहित्य से उनका परिचय नहीं हो सका। गजल के विभिन्न द्विपदों में एकता नहीं होती इस बात को लेकर कुछ समीक्षक आज उसे कोस रहे हैं। इस प्रकार यह प्रश्न कि गजल के अपार आकर्षण का क्या रहस्य है, आलोचना की दृष्टि से अछूता ही रह गया है। वास्तव में उर्दू शेरों में जो जातिगत साम्य दृष्टिगोचर होता है उसका कारण उनमें विशेष ढङ्ग की वक्रता का समावेश है, और वक्रता अनुभूति का गुण है, उक्ति का नहीं। इसी प्रकार विरोधाभास (Paradox) तथा विनोदवृत्ति (Humour) भी विशिष्ट जीवन-दृष्टि की विशेषताएँ हैं, कथन के प्रकारमात्र नहीं।

भाषाधिकार उर्दू कवियों की निराली सम्पत्ति हो ऐसा नहीं हैं; कालिदास और तुलसी भी भाषा तथा अभिव्यक्ति पर पूर्ण अधिकार रखते हैं। भेद यही है कि अन्तिम कवियों की अनुभूति उर्दू-काव्य की वक्रता से रहित है। एक संकीर्ण भाव-भूमि में घूमते हुए उर्दू कवि प्रायः एक ही बात को भिन्न शब्दों में कहते पाए जाते हैं जिससे भ्रम होता है कि वे शाब्दिक प्रयोग कर रहे हैं; पर वस्तुतः उनका लक्ष्य अनुभूतिगत वक्रता के विभिन्न 'शेड' होते हैं।[१] जौक ने कहा है कि कविगण कोशिश

१—निम्न दो शेरों की तुलना कीजिए,

(१) हजरते नासह गर आएँ दीद औ दिल फ़र्शे राह,
कोई मुझको यह तो समझा दो कि समझाएँगे क्या।
(ग़ालिब)

करने पर भी गजल के क्षेत्र में मीर को नहीं पा सके; इसका कारण मीर की विशिष्ट शैली नहीं, अनुभूति की विशेषता थी। सम्भव है शैली का कुछ दूर तक अनुकरण हो सके, पर एक भिन्न संवेदना के लेखक की अनुभूति का अनुकरण संभव नहीं है। यही कारण है कि गजल की संकीर्ण भावभूमि में भी बड़े कवियों का अलग-अलग व्यक्तित्व दिखाई देता है।

निष्कर्ष यह है कि सामान्यतः उर्दू काव्य के तथा विशेष रूप में उसके विशिष्ट कवियों के निराले आकर्षण का रहस्य भाषा एवं अभिव्यक्ति-कला के बाहर खोजना चाहिए। यहां एक प्रश्न और उठाया जा सकता है।

विहारी तथा उर्दू कवियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे 'गागर में सागर' भरने की कला जानते हैं। क्या यह शैली की विशेषता नहीं है? हमारा विचार है कि यह विशेषता भी अनुभूति से सम्बन्ध रखती है और उस उन्नति चयनवृत्ति (Selective Spirit) की द्योतक है जिसे विलियम जेम्स ने 'एरिस्टोक्रेटिक' मनोवृत्ति का अन्यतम लक्षण बताया है। यह कवि मानो परिस्थिति-विशेष की सार्थकतम छवियों को ही देखते हैं, साधारण रोचकता वाले पहलुओं में उनका दिमाग नहीं रमता।

ऊपर की विवेचना से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि काव्य-साहित्य की शैली मूल्यांकन की अलग कसौटी नहीं है और जिन विशेषताओं का शैली में सन्निवेश किया जाता है वे प्रायः अनुभूति की विशेषताएँ होती हैं। उदाहरण के लिये सौन्दर्य, मधुरता, वक्रता आदि शब्द-रूप माध्यम अथवा उक्ति-प्रकार के गुण न हो कर अनुभूति या दृष्टि की विशेषताएँ हैं। हम जानते हैं कि इस स्थापना द्वारा हम विश्व के अधिकांश आदरणीय विचारकों का विरोध कर रहे हैं, पर हमें इसका भय नहीं है। डर यह कि कहीं इस अतिवादी मंतव्य द्वारा हम रसज्ञों की वास्तविक अनुभूति के विरुद्ध तो नहीं जा रहे हैं।

यह उल्लेखनीय बात है कि आचार्य मम्मट ने माधुर्य आदि गुणों को रस का धर्म माना है, शब्दों का नहीं[1] किन्तु इन आचार्यों ने अलंकारों की व्याख्या अपेक्षाकृत स्थूल लेखनी से की है, वे उनका रसानुभूति से कोई गहरा सम्बन्ध नहीं स्थापित कर पाए हैं। रस के अंगभूत शब्दार्थों द्वारा उसमें अतिशय अथवा उत्कर्ष का विधान करने वाले धर्म अलंकार हैं' (वामनी टीका)। यहां यह स्पष्ट है कि शब्दालंकार शब्दों द्वारा तथा अर्थालंकार अर्थ द्वारा रस में उत्कर्ष स्थापित करते हैं। भला रस की अभिव्यक्ति से भिन्न उसके उत्कर्ष विधान का क्या अर्थ है? क्या रस की व्यञ्जना काफी नहीं है? क्या उत्कर्ष-विधान अधिक रसोद्रेक अथवा स्थायी भाव की सफलतर अभिव्यक्ति से जुदा है? वस्तुतः इस असमंजस का मूल हेतु वस्तु-जगत की सार्थकता के बदले (जो शब्दों का प्रकृत विषय है) स्थायी भावों को कलात्मक अभिव्यक्ति का लक्ष्य अथवा विषय बना देना है। हमारे मंतव्य के अनुसार तथाकथित अर्थालंकार अनुभूतिगत विशेषताओं को वर्णित करने के प्रयत्न मात्र हैं। कहा जाता है कि समस्त अर्थालंकारों का मूल उपमा है। यह उपमा और कुछ नहीं जीवन एवं जगत की अर्थवत् छवियों को सम्बन्धित करने का एक प्रकार मात्र है। वैज्ञानिक भी वस्तुओं के सम्बन्ध-सूत्र खोजता है, किन्तु यह सम्बन्ध प्रायः कार्य-कारण-मूलक होते हैं। साहित्यकार जिन सम्बन्धों को देखता व पाता है वे नितान्त भिन्न कोटि के होते हैं। शायद उनका मूल मानवता को निगूढ़ अन्तः-प्रकृति में रहता है शायद वे मूल्य-जगत के अनिर्वाच्य नियमों के वाहक होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उपमा अथवा अन्य अलंकारों का विधान कोई खामख्याली चेष्टा नहीं है। वे अलंकार जो वस्तुतः मार्मिक हैं, जो हृदय को स्पर्श करते हैं प्रगल्भ कल्पना के रूप में नहीं आते, वे अनुभूति का

(२) क्या जाता है इसमें हमारा चुपके हम तो बैठे हैं,
दिल जो समझना था सो समझा नासह को समझाने दो।
(मीर)

पहले शेर में खीझ और अधैर्य का भाव है, दूसरे में दीर्घपीड़ा-जन्य निर्वेद (Resignation) की भावना।

१—रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम् (अष्टम-उल्लास),

अवियोज्य अङ्ग, उसके विधायक अणु-परमाणु रूप, होते हैं। ऐसे अलङ्कार वाणी या कल्पना का विलासमात्र नहीं होते।

महाकवि कालिदास ने, जो अपनी उपमाओं के लिए प्रसिद्ध हैं, शकुन्तला के अभुक्त यौवन-सौन्दर्य का वर्णन इस प्रकार किया है,

अनाघ्रातं पुष्पं किसलय मलूनं कररुहैः
अनाविद्धं रत्नं मधु नवमना स्वादित रसम्
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च..............

अर्थात् वह (शकुन्तला का व्यक्तित्व) 'उस फूल की तरह है जो अभी तक सूँघा नहीं गया है, उस नई कोंपल के समान है जो नख-स्पर्श द्वारा क्षत नहीं हुई है; न बेधे हुए रत्न की भांति; न चक्खे हुए नए मधु की तरह; संचित पुण्य कर्मों के अखण्ड (सम्पूर्ण) फल के तुल्य.......।' शकुन्तला के यौवनोच्छल व्यक्तित्व में एक अपूर्व नयापन है, ताजगी (Freshness) है जैसी सद्यः स्फुटित गुलाब में होती है, जैसी अभिनव पल्लव अनास्वादित मधु में रहती है, जैसी....आप सम्पूर्ण अनुभव जगत् को खोज डालिए पर कालिदास की उपमाओं से अधिक सुन्दर या व्यञ्जक एक भी उपमा नहीं पा सकेंगे। यह उपमाएँ कालिदास ने प्रगल्भ-कल्पना द्वारा नहीं उपजाई हैं। अपनी अनुभूति को प्रकट करने के लिए उनकी दृष्टि बरबस समूचे अनुभव जगत में घूम गयी है और वहाँ से उन छवियों को ढूंढ़ लाई है जो अपनी सद्योन्मिषित नूतनता से हृदय को वैसे ही प्रभावित करती हैं, जैसे शकुन्तला का अस्पृष्ट रूप-यौवन। पाठक देखें कि यह दृष्टि मुख्यतः जीवन्त वनस्पति जगत् में शकुन्तला का उपमान खोजती है; और उसके बाद खनिज वर्ग तथा हिन्दू-समाज के सांस्कृतिक वातावरण में पहुँचती है। कालिदास ने विभिन्न व्यक्तियों (Entities) में सादृश्य स्थापित किया है वह उसकी कल्पना का चमत्कार नहीं है, उसकी सत्यता का साक्षी, प्रथम कोटि की उपमाओं में बनस्पतिविज्ञान या प्राणिशास्त्र है; और अन्तिम तुलना में हिन्दू-जाति की चिर-शिक्षित सांस्कृतिक दृष्टि जो पुण्यों के अखण्डफल को विशेष लोभ की दृष्टि से देखती आयी है। न बेधे हुए रत्न की उपमा संभवतः सबसे कमजोर है, पर कृत्रिम स्पर्श अथवा स्पर्श-जन्य बिकृति के निराकरण का कार्य वह पूर्णतया सम्पन्न करती है। अच्छी उपमाएँ सर्वत्र इसी प्रकार या तो हमारी जैवी प्रकृति अथवा हमारे दीर्घकालीन मानवीय (Racial), सामाजिक किंवा सांस्कृतिक अनुभव पर निर्भर करती हैं। दूसरे साम्य और वैषम्य के वे विधान जो प्रकृत काव्य-प्रेरणा से निःसृत होते हैं, अनुभव जगत की किसी सचाई को प्रकट करते हैं; और यह धारणा कि काव्य-साहित्य का सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, नितान्त भ्रमपूर्ण है।

यहाँ जागरूक पाठक पूछेंगे—किन्तु शब्दालङ्कार क्या हैं? वे तो किसी तरह भी अनुभूति के धर्म सिद्ध नहीं किए जा सकते। शब्द-विशेषों के प्रयोग पर ही उनकी उपस्थिति निर्भर रहती है। इस आपत्ति में कुछ बल अवश्य है, पर उतना नहीं जितना दिखाई पड़ता है। हमारे (अर्थात् भारतीय) साहित्यशास्त्र में स्वीकृत शब्दालङ्कार दो प्रकार के हैं, एक वे जो मुख्यतः संगीत का विधान करते हैं, जैसे अनुप्रास। अनुप्रासों का समावेश वहीं अच्छा लगता है, जहाँ वह संगीत को पुष्ट करता है, अन्यत्र वह सहृदयों को खलता है। श्रेष्ठ कवि प्रायः अज्ञातभाव से अनुप्रासों का सन्निवेश करते हैं; इसके विपरीत क्षुद्र कवि उन्हें यांत्रिक ढङ्ग से ठूँसने का प्रयत्न करते हैं। उस दशा में अनुप्रास मूल अनुभूति की निरर्थकता के कारण ही अच्छे लगते हैं, वह भी निम्नकोटि के पाठकों को। यमक और श्लेष के यत्किंचित् चमत्कार का कारण (प्रथम के संगीत-विधान के अतिरिक्त) यह है कि वस्तु जगत की भांति शब्द-जगत से भी मानव-जाति का बड़ा गहरा सम्बन्ध स्थापित हो गया है। यमक और श्लेष वस्तु-जगत की नहीं, शब्द-जगत की अर्थवत्ता (Significance) का उद्योतन करते हैं—वहाँ लेखक अपनी शब्द-जगत से सम्बद्ध अनुभूति को प्रकाशित करता है। वाणभट्ट ऐसा ही कलाकार है। वह शब्द-शास्त्र के पण्डितों और अनुषंगवश से शब्दों के प्रेमियों को प्रिय लगता है। गद्य-ग्रन्थ होते हुए भी उसकी कृतियाँ भाषान्तरित नहीं हो सकतीं। ऐसे कलाकारों में भय इस बात का रहता है कि वे शब्दों को जीवन

और जगत का स्थानापन्न समझने लगे; वे कभी प्रथम श्रेणी के साहित्यकार नहीं बन सकते। हमें भय है कि हिन्दी के छायावादी कवि भी बहुत दूर तक शब्द-मोह के शिकार रहे जिसके फल-स्वरूप उनके काव्य में जीवन और जगत की ठोस अनुभूति का समावेश नहीं हो सका। उनकी सौन्दर्यानुभूति भी वस्तु-जगत के दृढ़ आधार पर अवस्थित नहीं है।

यदि संगीत अथवा लय (Rhythm) की संवेदना अनुभूति का अंग है तो मानना पड़ेगा कि विशिष्ट छन्दों, अनुप्रास आदि का विधान शैली की विशेषता नहीं है। कहना चाहिए कि, कम से कम काव्य के क्षेत्र में, संगीत कलागत महत्ता का एक पृथक उपादान और प्रतिमान है। किन्तु काव्यगत संगीत का निर्णय करने के लिए किन्हीं नियमों का निर्देश नहीं किया जा सकता; रस और सौन्दर्य की भाँति वह सहृदय-संवेदना द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। पन्त के 'गुञ्जन' में कृत्रिम शब्द-मोह के साथ हृदय को झंकृत करने वाला संगीत भी ओत-प्रोत है।

इस सम्बन्ध में यह कह दें कि काव्य में संगीत का महत्व होते हुए भी उसे अर्थ पर प्रधानता नहीं देनी चाहिए—संगीत के लिए अर्थ का बलिदान क्षम्य नहीं है। साहित्य मुख्यतः सार्थक अनुभूति है। भवभूति की 'अविदित गत यामा रात्रिरेवं व्यरंसीत्' पंक्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसमें विन्दुमात्र का आधिक्य है, 'एवं' के बदले 'एव' होना चाहिए। यहाँ पाठक देखेंगे कि बिन्दु की उपस्थिति संगीत को और अनुपस्थिति अर्थ को पुष्ट करने वाली है। तथापि हम यह जोड़ दें कि अवसर विशेष पर अर्थ और संगीत के आपेक्षिक महत्व का निर्णय सहृदय कवि की चेतना ही ठीक कर सकती है।

स्वभावोक्ति का अलङ्कारत्व

[श्री कन्हैयालाल सहल एम० ए०]

(अलंकार-निर्णय की सीमा में 'स्वभावोक्ति' क्या है ?—सहलजी ने प्रस्तुत लेख में इस पर अपना दृष्टिकोण पेश किया है। कुन्तक-महिम भट्ट आदि प्राचीन आचार्यों के मत वैभिन्य को सामने रखते हुए, लेखक इस पक्ष में है कि स्वभावोक्ति अलंकार है। जहाँ तक अलंकार की सार्थकता है वह स्वाभाविक वस्तु को अपने उपकरणों से अलंकृत कर सकता है, स्वभाव को अलंकार नहीं बना सकता। ऐसा होने पर स्वभाव का महत्व ही नहीं रह जाता। हम सहलजी का दृष्टिकोण साहित्य-संसार के समक्ष रखते हुए प्रसन्नता का अनुभव करते हैं—प्रसन्नता का अनुभव इसलिए कि उनके दृष्टिकोण पर और भी 'दृष्टिकोण' सम्मुख आ सकते हैं। स्वभाव शब्द से जिस ध्वनि का भास होता है वह अलंकार की कृत्रिमता की ध्वनि से सर्वथा भिन्नता रखती है। कुन्तक ने तथा वर्तमान काल में आचार्य शुक्ल ने ऐसी विचारधारा के आधार पर वक्रोक्ति का खंडन किया। वक्रोक्तिकार स्वभावोक्ति को अलंकार मान भी कैसे सकते थे ? यद्यपि हम भी अलंकार्य वस्तुओं को अलंकार बनाने के पक्ष में नहीं हैं तथापि जिस प्रकार सरलता और सादगी भी एक प्रकार अलंकार हो जाता है, उसी प्रकार स्वभावोक्ति भी एक अलंकार हो सकता है। प्रत्येक स्वभाव की उक्ति अलंकार न होगी वरन् स्वभाव ही जहाँ चमत्कार-पूर्ण हो जाय वहीं उसको अलंकार कहना सार्थक हो जाता है, यह दूसरा मत है। —सम्पादक)

एक दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक मनुष्य मूक कवि होता है क्योंकि कौन ऐसा है जिसके हृदय में भावों का संघर्ष नहीं चलता ? कौन ऐसा है जो जीवन की सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों से प्रभावित नहीं होता ? यह

अवश्य है कि कवि में अपेक्षाकृत भाव-प्रवणता अधिक होती है तथा उसकी चेतना भी सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक जागरूक रहती है किन्तु केवल भावप्रवणता और चेतना से ही तो कोई कवि नहीं कहला सकता। जब तक किसी में अभिव्यक्ति की शक्ति नहीं तब तक काव्य-निर्माण नहीं हो सकता।[1] जो वस्तु जैसी है उसका यदि वैसे ही पद्य-बद्ध वर्णन कर दिया जाय तो वह पद्य काव्य का रूप नहीं धारण कर सकता। 'सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा शोभित हो रहा है, पक्षी घोंसले में जा रहे हैं' इस प्रकार का वर्णन क्या काव्य कहला सकेगा ? इसे तो वार्ता कहते हैं।[2] अथवा 'गौ की संतान वह बैल मुख से तृण चर रहा है' इस पंक्ति को यदि श्लोक-बद्ध कर दिया जाय तो क्या वह काव्य हो जायगी ? 'उठो भाइयो ! 'नींद को त्याग दो ! 'जगो, आलस्य जाल को तोड़ दो !' जैसी पंक्तियां भी वार्ता अथवा इतिवृत्त मात्र के उदाहरण-स्वरूप रखी जा सकती हैं किन्तु कवि का काम केवल इतिवृत्त प्रस्तुत करना अथवा[3] वार्ता कहना नहीं है। श्रीनीलकंठ-दीक्षित ने शिवलीलार्णव में क्या ही सच कहा है—

यानेव शब्दान्वयमालपामः
यानेव चार्थान्वयमुल्लिखामः।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः
संमोहयन्ते कवयो जगन्ति ॥

अर्थात् जिन शब्दों का हम उच्चारण करते हैं, जिन अर्थों का हम उल्लेख करते हैं—कवि, विन्यास-विशेष के कारण भव्य प्रतीत होने वाले उन्हीं शब्दार्थों द्वारा जगत् को मोहित कर लेते हैं। इसीलिए भामह ने वक्रोक्ति पर जोर दिया। उसके मतानुसार वक्रोक्ति के बिना अलंकारत्व हो नहीं सकता।

'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते,
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥'
(काव्यालंकार),

भामह की इस उक्ति से प्रभावित होकर कुंतक ने तो 'वक्रोक्ति जीवित' ही लिख डाला और आगे चल कर रुय्यक ने वक्रोक्ति की कसौटी पर ही प्रत्येक अलंकार के तारतम्य का विश्लेषण किया। भट्ट नायक ने भी शास्त्र को शब्द-प्रधान, इतिहास को अर्थ-प्रधान और काव्य को व्यापार-प्रधान माना है। महिम भट्ट ने काव्य को उभय-प्रधान कहा है। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में भट्टनायक के व्यापार और भामह की वक्रोक्ति दोनों को प्रायः समान ही माना है। कर्पूरमंजरी में राजशेखर भी कहते हैं, 'उक्ति-विशेष ही काव्य है, भाषा कोई भी क्यों न हो'।[4]

प्रश्न यह है कि क्या स्वभावोक्ति में उक्ति-वैचित्र्य नहीं ? क्या स्वभावोक्ति अलंकार नहीं ? स्वभावोक्ति का जिन्होंने विशेष विवेचन किया है उनमें कुंतक और महिम भट्ट का नाम प्रमुख है। कुंतक जहां स्वभावोक्ति का अलंकारत्व स्वीकार नहीं करते, वहां महिम भट्ट इसका जोरदार समर्थन करते हैं। कुंतक के मतानुसार वर्ण्य-विषय में अलंकारत्व नहीं रह सकता, स्वभावोक्ति तो वर्ण्य-विषय है, वह तो काव्य का शरीर है और अगर इसे ही अलंकार मान लिया जाय तो अलंकार फिर अलंकार को ही क्या अलंकृत करेगा ? जैसे कोई अपने ही कन्धों पर नहीं चढ़ सकता, उसी प्रकार इस प्रकार की स्थिति भी असंभव हो जायगी। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल भी कुंतक की भांति स्वाभावोक्ति का अलंकारत्व स्वीकार नहीं करते। उन्हीं के शब्दों में 'रीति-ग्रन्थों की बदौलत रस-दृष्टि परिमित हो जाने से उसके संयोजक विषयों में से कुछ तो 'उद्दीपन' में डाल दिए गए और कुछ भाव क्षेत्र से ही निकाले जाकर 'अलंकार' के खाते में हांक दिये गये। इसी व्यवस्था के अनुसार वस्तुओं के स्वाभाविक रूप और क्रिया का वर्णन 'स्वाभावोक्ति' अलंकार हो गया—जैसे लड़कों का खेलना, चीते की पूंछ पटक कर झपटना, हाथी का गंड-स्थल रगड़ना इत्यादि। पर मैं इन्हें प्रस्तुत विषय मानता हूँ जिन पर अप्रस्तुत विषयों का उत्प्रेक्षा

१—नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना (भट्टतौत)
२—गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यम् ? वार्तामेनां प्रचक्षते ॥
३—गोरपत्यं बलीवर्दः तृणान्यत्ति मुखेन सः।
४—उक्तिविशेषः काव्यं भाषा या भवतु सा भवतु।

हिन्दी साहित्य पर अंग्रेजी का प्रभाव

श्री त्रिलोकीनारायण दीक्षित, एम० ए०

[यद्यपि इस विषय का विस्तार बहुत है और इस लेख में केवल मुख्य-मुख्य दिशाओं की ओर ही अंगुलि निर्देश हो सका है तथापि इस दिशा में अनुसन्धान करने वालों को इससे कुछ सहायता मिलेगी। अंग्रेजी के अनुकरण में क्या हमारी भाषा की प्रकृति के अनुकूल है और क्या प्रतिकूल यह विचार का विषय है। इस पर हम विद्वानों से स्वतन्त्र लेख की अपेक्षा करेंगे। अन्धानुकरण से बचने के लिए इन प्रभावों का मूल्याङ्कन होना आवश्यक है। यह लेख इस विषय की छान-बीन के लिए भूमिका स्वरूप समझा जाय। —सम्पादक]

हिन्दी साहित्य पर अंग्रेजी साहित्य का यह प्रभाव तीन मार्गों से आया। पहले अंग्रेजी पुस्तकों के हिन्दी अनुवादों के द्वारा, दूसरे बँगला से छनकर बङ्ग साहित्य के माध्यम से, और तीसरे अँग्रेजी-शिक्षा के प्रचार के साथ अँग्रेजी साहित्य के परिचय से।

अनुवादों द्वारा एक भाषा का सम्पर्क दूसरी भाषा से होता है और उसकी संगति के प्रभाव से उस भाषा के गुण दोषों का प्रभाव भी उस पर पड़ने लगता है। अन्य समुन्नत भाषाओं के सम्पर्क में आने से पिछड़ी हुई भाषायें भी क्रमशः अपने स्वरूप को समुन्नत करने लगती हैं। हिन्दी को भी बाल्यकाल में अनुवादों द्वारा बहुत सहारा मिला। बाल-सुलभ अनुकरण द्वारा उसने अंग्रेजी और बँगला से बहुत कुछ सीखा।

अंग्रेजी से अनुवाद—जीवन की मार्मिक व्यजना, प्रकृति-वर्णन की विशिष्टता और भाषा की लाक्षणिकता से आकृष्ट होकर कुछ कवियों ने अंग्रेजी के काव्य-ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी वालों के सम्मुख रखा।* इन अनुवादों के द्वारा अंग्रेजी न जानने वाले हिन्दी पाठकों का परिचय भी अंग्रेजी साहित्य से हुआ। दृष्टकोण की व्यापकता और विषय की अनेकरूपता की सृष्टि हुई। श्रीधर पाठक जैसे कवियों ने अंग्रेजी काव्यगत भाव और शैली से मुग्ध होकर हिन्दी में भी उसी श्रेणी की रचनाएँ कर मन स्तुष्टि करनी चाही। गोल्डस्मिथ, वर्डसवर्थ आदि के प्रकृति वर्णन का बहुत प्रभाव पड़ा। शृङ्गारी कवियों की परिपाटी पर केवल उद्दीपन की दृष्टि से प्राकृतिक वस्तुओं के नाम भर न गिना कर, उन्होंने प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण कर, उसका स्वतन्त्र वर्णन किया। यद्यपि हिन्दी में संस्कृत कवियों की परिपाटी पर प्रकृति वर्णन होता चला आ रहा था, परन्तु उसमें संस्कृत कवियों का सा प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण न आ पाया। अंग्रेजी के सम्पर्क से हिन्दी के प्रकृति वर्णन का फ़िर से संस्कार हुआ। गोल्डस्मिथ की शैली पर श्रीधर पाठक ने प्रकृति वर्णन में मानव-अनुभूतियों का भी ध्यान रखा है। प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण

* श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' का 'एकान्तवासी योगी' नाम से १८८६ ई० में डैजर्टेड विलेज (Deserted vellage) का 'ऊजड़ ग्राम' नाम से १८८६ ई० में, और इसी प्रकार कुछ दिनों बाद 'ट्रैवलर' (Traveller) का 'श्रान्त पथिक' नाम से अनुवाद किया। इन्होंने लाँगफैलो के 'इवैञ्जलाइन' का भी १८८६ में अनुवाद किया था। लक्ष्मीप्रसाद ने भी गोल्ड स्मिथ के 'हरमिट' का एक अनुवाद खड़ी बोली में प्रस्तुत किया। आबू के विद्यारसिकजी ने 'ग्रे की 'एलिजी' का 'ग्रामस्थ शवागार लिखित शोकोक्ति' नाम से अनुवाद किया। रत्नाकरजी ने पोप की रचना का 'समालोचनादर्श' नाम से अनुवाद किया। वर्डसवर्थ की 'कोकिल' का ज़ीतनसिंह ने अनुवाद किया।

और सुन्दर दृश्य विधान के साथ वर्णन में चित्रोपमता भी आई। यह वर्णन की चित्रोपमता हमें अंग्रेजी के आरनाल्ड, टैनिसन आदि कवियों में विशेष रूप से मिलती है।

काव्य-ग्रन्थों के साथ शेक्सपीयर, एडिसन आदि अंग्रेजी नाट्यकारों की कृतियों का भी हिन्दी में अनुवाद हुआ। अंग्रेजी शिक्षा द्वारा शेक्सपीयर ने बहुत शीघ्र ही भारतीय मस्तिष्क में प्रवेश कर लिया। सबसे पहला *अनुवाद* १८७६ई० में *तोताराम वर्मा* ने जोसेफ एडिसन कृत केटो (Cato) नामक सरल नाटक का *केटो वृत्तान्त* नाम से प्रस्तुत किया। शेक्सपीयर के नाटकों में कामेडी ऑव एर्रस (Comedy of Errors) और मरचैन्ट आव वेनिस (Merchant of Venice) का अनुवाद हुआ[1]

अनुवाद की दृष्टि से रत्नचन्द को भारतेन्दु की अपेक्षा अधिक सफलता मिली। उन्होंने शेक्सपीयर की नाटकीय कथावस्तु को अत्यन्त सुन्दर ढंग से और सफलता पूर्वक भारतीय आवरण दिया है। भारतेन्दु ने केवल विदेशी नामों के स्थान पर स्वदेशी नाम रख दिये हैं परन्तु भावों रीति रस्मों, आचार विचारों और घटनाओं को विदेशी-रूप में ही रहने दिया है। फलतः उनकी रचनाओं में असामञ्जस्य और गड़बड़ी उत्पन्न होगयी। अच्छा होता यदि वे मर्चेन्ट ऑफ वेनिस Merchant of Venice का अविकल अनुवाद उपस्थित कर हिन्दी पाठकों को विदेशी सभ्यता और संस्कृति से परिचित कराते। इससे उनका ज्ञान-सम्बन्धी महत्व (Acadamic Vealue) बना रहता। इस प्रकार का अविकल अनुवाद जबलपुर की आर्या नामक महिला ने 'वेनिस नगर का व्यापारी' (१८ ० ई० Merchant of Venice), और जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ एम० ए० ने 'मन भावन' (As You Like It १८९६ ई०) और 'प्रेम लीला' (Romeo Juliet १८९७ ई०) किये, जिनमें उन्हें पूरी सफलता मिली। आर्या ने पद्यांशों का अनुवाद पद्यों में ही दिया है और जहांतक हो सका दोनों ने कवि के शब्दों और वाक्यों में ही उसके गंभीर आशयों को अत्यन्त सुन्दर रूप में रखा है। सन् १८९३ ई० में मिर्जापुर के मथुराप्रसाद उपाध्याय शर्मा बी० ए० ने शेक्सपीयर के 'मैकबैथ' (Mcbeth) का 'साहसेन्द्र' नाम से स्वतन्त्र अनुवाद किया उन्होंने कथा को भारतीय आवरण दे दिया है। उसमें भारतेन्दु के दुर्लभ बन्धु की सी उलझन नहीं पैदा होने पाई है।[1]

इन अंग्रेजी के अनुवादों का प्रभाव हिन्दी पर बहुत व्यापक नहीं हैं। इन्होंने केवल दिशा निर्देश किया और हिन्दी में भी उच्चकोटि के काव्य और नाटक ग्रन्थ प्रस्तुत करने की आकांक्षा और प्रेरणा दी। अंग्रेजी के समृद्ध साहित्य के परिचय से हमने अपनी त्रुटियों को पहचाना और रूढ़ियों में शिथिलता आयी। स्वगत-कथन की परिपाटी को अस्वाभाविक कह कर छोड़ दिया गया और दुखान्त नाटकों (Tragedies) का भी हिन्दी में प्रचार हो गया। नाट्य रचना के प्राचीन नियमों के पालन में बहुत कुछ शिथिलता आगई और कई नाटकों की रचना आधुनिक पाश्चात्य ढाँचे पर होने लगी। कथा-साहित्य में भी कुछ दिनों अनुवादों की धूम रही। परन्तु धीरे धीरे

१—ईटावा निवासी रत्नचन्द (१८४०-१९११) ने सन् १८७९ ई० में Comedy of Errors का 'भ्रमजालक' नाम से स्वतन्त्र अनुवाद किया। सन् १८९० ई० में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने Merchant of Venice का दुर्लभ बन्धु या वंशपुर का महाजन नाम से अनुवाद प्रकाशित किया।

१—अंग्रेजी से इन अनुवादों का क्रम बराबर चल रहा है। पं० हरिभाऊ उपाध्याय तथा छविनाथजी ने अनेक पुस्तकों के भावानुवाद प्रस्तुत किए। गणेश शंकर विद्यार्थी का 'बलिदान' अनुवाद भी बहुत सुन्दर हुआ। इसके अलावा श्री कृष्णदत्त पालीवाल ने अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध उपन्यास इटर्नल सिटी (Eternla city) का अनुवाद 'अमरपुरी' नाम से किया। पं० जनार्दन भट्ट एम० ए० ने टाल्सटाय की कुछ पुस्तकों के अनुवाद प्रस्तुत किए। रूस, फ्राँस, इंगलैण्ड आदि के और भी प्रौढ़ लेखकों के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी में हुआ।

सुन्दर मौलिक काव्य-ग्रन्थों, नाटकों तथा कथा-उपन्यासों की भी रचना होने लगी।

बंगला से छनकर—

बंगला-साहित्य से छन कर जो पाश्चात्य प्रभाव हिन्दी में आया, उसका रूप बहुत कुछ स्वदेशी, शुद्ध, और ग्राह्य हो चुका था। बंगाल का सम्पर्क अँग्रेजों से, हिन्दी भाषी प्रान्त की अपेक्षा बहुत पहले हो गया था।

अंग्रेजी-साहित्य का परिचय और उसका अध्ययन भी बंगाल में ही पहले हुआ। फलतः अंग्रेजियत का प्रभाव भी पहले बंगाल के ही ऊपर पड़ा। नवीन परिस्थित तथा पश्चिमी संस्कृति के संघर्ष से बंगाल में जो नव जागृति (Renanssaise) आई वह अधिक व्यापक और सर्वतोमुखी थी। ब्रह्म-समाज के द्वारा धार्मिक क्रान्ति की जो सूचना मिली उसका निर्देश किया जा चुका है। सामाजिक क्षेत्र में भी रूढ़ियों का सम्मान घटा और पुरानी समाज-व्यवस्था के पूर्णरूप से नष्ट न होने पर भी उसके प्रति श्रद्धा कम अवश्य होगयी। कला के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। कलाविदों का ध्यान अपनी अतीत की विभूतियों की ओर जाने लगा और प्राचीन विषयों के लिए विशेष आकर्षण दिखाई पड़ा। दूसरे प्रतीकवाद (Symbolism) की ओर विशेष झुकाव हुआ। यह प्रतीकवाद बंगला काव्य में आने से पूर्व ही वहां की नृत्यकला और चित्रकला में आ चुका था और नवीन ढंग के भाव-चित्रों में इन प्रतीकों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होने लगा था। नृत्यकला और चित्रकला से होता हुआ यह प्रतीकवाद धीरे धीरे कविता में भी आगया। छायावाद की प्रतीकात्मक शैली जिसे हिन्दी वालों ने प्रेम से अपनाया, वह हिन्दी में अंग्रेजी से, बंगला में होकर ही आई है। शैली की व्यंग्यात्मक वक्रता और लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता भी बंगला कविता में प्रचुर मात्रा में आगयी थी। रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि ने पश्चिम की प्रतीकात्मक शैली पर जो आध्यात्मिक ढंग की कविताएँ शुरू कीं उनका प्रचार हिन्दी में भी बहुत शीघ्र होगया।

अंग्रेजी के 'मिस्टसिज्म' (Mysticism) शब्द का बोध हिन्दी-साहित्य में 'छायावाद' तथा 'रहस्यवाद के नाम से होता है। यह रहस्यवादी भावना पहले बंगाल में ही आयी। आधुनिक हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद की प्रवृत्ति का जन्म बंगला के रहस्यवादी साहित्य के प्रभाव से ही हुआ है। छायावाद का मूल बंगला-साहित्य के 'छाया-दृश्य' में मिलता है। छायावाद की शैली के अन्तर्गत विशेषण-विपर्यय आदि अलङ्कारों का भी जो अंग्रेजी प्रभाव से आये थे प्रचार हुआ।

हिन्दी के वर्तमान साहित्य में यह छायावाद नाम से चलने वाला मार्ग हिन्दी कविता का अपना बनाया हुआ स्वतन्त्र-मार्ग-सा नहीं लगता। द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता से निकल कर हमारे कविगण अभिव्यञ्जना का नवीन मार्ग खोज ही रहे थे कि इसी समय रवीन्द्रनाथ की गीताञ्जली' की धूम मची, जो अधिकतर पाश्चात्य ढाँचे का रहस्यवाद लेकर चली थी। 'पुराने ईसाई सन्तों के छायाभास (Phantasmata) तथा यूरोपीय काव्य-क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर रची जाने लगी थीं' (रा० च० शुक्ल)। यह वाद प्रकट होते ही हिन्दी के कुछ कवि एक बारगी ही इधर झुक पड़े। इसका दूसरे साहित्य-क्षेत्र में प्रकट होना, कई कवियों का एक साथ इस पर चल पड़ना, और कुछ दिनों तक इसके भीतर अंग्रेजी और बँगला की पदावली का जगह जगह ज्यों का त्यों अनुवाद रखा जाना, ये सब बातें मार्ग की स्वतन्त्र उद्भावना नहीं सूचित करतीं।

बंगला कविताओं के अनुवाद 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में सं० १९६७ से ही निकलने प्रारम्भ हो गए थे। बंगाल के लगभग सभी प्रमुख साहित्यकारों, रवीन्द्रनाथ टैगोर, द्विजेन्द्रलाल राय, बंकिमचन्द्र, शरदचन्द्र आदि के लगभग सभी प्रमुख ग्रन्थों के अनुवाद हिन्दी में हुए जिनका प्रभाव हिन्दी के काव्य, नाटक, कहानी और उपन्यास आदि सभी क्षेत्रों पर लक्षित हुआ।

बंगला साहित्य का प्रभाव भी वास्तव में अंग्रेजी साहित्य का ही प्रभाव है, क्योंकि बंगला-साहित्य स्वयं अंग्रेजी से प्रभावित है। अन्तर केवल इतना है कि यह ऋण अंग्रेजी सिक्कों में नहीं, भारतीय सिक्कों में था जिससे हमें उसके विनिमय और रूपान्तर के झंझटों से छुटकारा

मिला। विदेशी भावों के अनुकरण के लिए उन्हें अपनी संस्कृति और भावों के अनुरूप रूपान्तरित करना आवश्यक होता है; उन्हें अपने वातावरण में ढालना पड़ता है। यह कार्य बंगाल के साहित्यकार कर ही चुके थे। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों में हमें पाश्चात्य नाटकीय विधान का (विशेषकर शेक्सपीयर कालीन) भारतीय वातावरण के अनुरूप रूपान्तर मिला,* रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीतकाव्यों में पाश्चात्य काव्य-शैली और भाव पचकर भारतीय रक्त में मिलने के योग्य हो गये थे। *बंकिमचन्द्र के उपन्यासों में स्काट की उपन्यास कला को भारतीय वेशभूषा मिल चुकी थी।* इससे हिन्दी के लिए अनुकरण का मार्ग बहुत ही सुगम हो गया, और हमारे लेखक बंगला का अनुकरण और अनुसरण करने लगे। इसी कारण हिन्दी इतने थोड़े समय में इतनी उन्नति कर सकी।

सीधे अंग्रेजी से—अनुवाद और बंगला-साहित्य के माध्यम के अलावा अंगरेजी साहित्य के साक्षात् परिचय का प्रभाव भी हमारी भाषा और साहित्य पर पड़ा। हिन्दी प्रचार के प्रारम्भिक दिनों में, द्विवेदीजी (पं० महावीरप्रसाद) हिन्दी से अनभिज्ञ, अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को जब हिन्दी की ओर आकर्षित कर, उन्हें हिन्दी में लिखने के लिए प्रेरित करते थे, तब इन लोगों के हाथों में पड़कर भाषा की बहुत विचित्र दशा होती थी। वह बहुत अव्यवस्थित और अंग्रेजी का अनुवाद सी लगती थी। धीरे-धीरे भाषा व्यवस्थित तो हुई पर उसमें अंग्रेजी-पन की छाप लगती गयी। बहुत से अंग्रेजी शब्द और मुहावरे (जैसे नया अध्याय खोलना, भाग लेना, एक ठेले में दो पच्छी आदि) हिन्दी में चले आये। वाक्य-विन्यास पर भी प्रभाव पड़ा। इसका कारण यह है कि बहुधा जब अंग्रेजी के विद्वान हिन्दी में अपने विचार प्रकट करने बैठते हैं तब पहले अंग्रेजी पदावली ही उनके मस्तिष्क में आती है और तब वे उसका अनुवाद हिन्दी में रखते हैं। अर्थात् वे सोचते अंग्रेजी में और लिखने का कार्य हिन्दी में करते होते हैं; इसी कारण अलक्ष्य रूप से अंग्रेजी शब्द मुहावरे और वाक्य-विन्यास उनकी भाषा में चले आते हैं। इन अंग्रेजी जानने वाले लोगों की भाषा अंग्रेजी से अनभिज्ञ लोगों के लिए बहुत कुछ अपरिचित सी लगती है।

भाषा के अलावा, भावों के क्षेत्र में भी प्रभाव पड़ा। पाश्चात्य दर्शन और साहित्य के अध्ययन के उपरान्त हिन्दी में आजकल जिस साहित्य का सृजन हो रहा है, उस पर आधुनिक युग के विचार निर्माता दो दार्शनिकों *मार्क्स और फ्राइड का विशेष प्रभाव है।* वर्तमान युग की विचार धारा पर इन दोनों का बहुत प्रभाव पड़ा है। (मार्क्सवाद का प्रगतिवाद में तथा फ्रायड का कथा-साहित्य और आलोचना में) इनमें से एक ने बहिर्जगत के क्षेत्र में और दूसरे ने अन्तर जगत के क्षेत्र में क्रान्ति सी लादी है। इनसे प्रभावित साहित्य का निर्माण तो हमारे यहाँ होने लगा है परन्तु इनके विचारों और ग्रन्थों का अभी हिन्दी में बहुत कम प्रचार हुआ है।

दूसरे 'मानवता' की नई कल्पना भी जिसने आधुनिक साहित्य में ईश्वर का स्थान ले लिया है, वर्तमान साहित्य की एक नई विशेषता है। इन विदेशी प्रेरणामूलक विचारों का यथेष्ट प्रचार न होने से केवल हिन्दी जानने वाले इन नवीन भावों से युक्त कविता में रसात्मकता नहीं पाते। इसलिए अंग्रजी साहित्य से परिचित सहृदयजन जिन लोगों को बहुत उच्चकोटि का कवि मानते हैं, उन्हें ही उस साहित्य से अपरिचित लोग 'छायावादी' कह कर और अबोधगम्य मान कर उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। इस व्यवधान को आधुनिक शास्त्रों के प्रचार के द्वारा ही भरा जा सकता है।

इस अस्पष्टता और दुरूहता का कारण जितना भावों की नवीनता है उससे भी अधिक शैली की नवीनता है। व्यञ्जना की नवीन शैली के अनुसार कविगण स्पष्ट कथन

* योरोप की वर्तमान नाट्य-कला का भी प्रभाव लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रभृति नाटककारों पर है। एकांकी नाटकों तथा कहानियों के वर्तमान रूप के लिए भी हिन्दी साहित्य अंग्रेजी तथा अंग्रेजी के माध्यम से आये हुए अन्य विदेशी प्रभावों का ऋणी है (यद्यपि एकांकी और कहानियाँ दोनों के स्वदेशी रूप थे) समालोचना के सिद्धान्तों और वादों का हिन्दी में अंग्रेजी के द्वारा प्रचार हुआ है। —सम्पादक

के स्थान पर *गोपन शैली* का प्रयोग करते हैं, जिसके अनुसार वे अर्थ की ओर संकेतमात्र करके छोड़ देते हैं, और पाठक की कल्पना को जागृत कर उसे क्रियाशील कर देते हैं। 'कला के गोपन में ही कला है' इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ धूमिल रहते हुए भी, अर्थ का विस्तार और कल्पना का सौन्दर्य बढ़ जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य के सभी अङ्गों में नवीनता के दर्शन हो रहे है। *भाव, भाषा, शैली सभी क्षेत्रों में परिवर्तन हो रहे हैं।* इस नवीनता की दौड़ में हमने क्या पाया और अपना क्या छोड़ चले, हमारे लिए ये नवीन प्रभाव कहाँ तक और किस रूप में ग्राह्य है, इसका विचार करने का प्रयास यहाँ नहीं किया जायेगा, यहाँ केवल यह कह देना ही पर्याप्त होगा कि अपनी संस्कृति और साहित्य की प्रकृति और आत्मा की रक्षा करते हुए, विदेशी प्रभावों की अच्छाई और उनके गुणा-वगुणों की परीक्षा के उपरान्त, उन्हें शुद्ध करके तथा अपने साँचे में ढाल कर, हमने जो कुछ लिया है उससे हमारे *साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है।* किन्तु यह अवश्य कहना पड़ेगा कि जहाँ अपनी संस्कृति और साहित्य को हेय समझ कर, पराधीन मनोवृत्ति का परिचय देते हुए, हमने विदेश का अन्धानुकरण किया है, उससे हमारे साहित्य और संस्कृति को आघात पहुँचा है। इस अन्धानुकरण से हमें अपने साहित्य और संस्कृति की बराबर रक्षा करनी चाहिये।

उद्धव-शतक में भक्तिकाल और रीतिकाल के सम्मिलित प्रभाव

[श्री गुलाबराय एम० ए०]

पिछले अङ्क में हम प्रो० सत्येन्द्रजी का एक लेख रत्नाकरजी के काव्य की एक व्यापक भूमिका के रूप में दे चुके हैं। प्रस्तुत लेख में हम उनकी एक पुस्तक का संक्षिप्त अध्ययन दे रहे हैं जिसमें कि लेखक ने दिखलाया है कि रत्नाकरजी की उक्त रचना में भक्तिकाल और रीतिकाल की प्रवृत्तियाँ किस प्रकार दृष्टि गोचर होती हैं—यह लेख कुछ छन्दों की व्याख्या में भी सहायक होगा।

—सम्पादक

उद्धव की महत्ता—उद्धवजी हिन्दी साहित्य के लोक-प्रिय पात्रों में से हैं। इसलिए नहीं कि वे भगवान् कृष्ण के समवयस्क थे अथवा उनके से ही आकार के थे वरन् इसलिए कि वे ज्ञानी होकर भी प्रेम-पथ के पथिक बने। उद्धवजी की कथा का मूल आधार यद्यपि श्रीमद्भागवत् में है तथापि हिन्दी के कवियों ने उन्हें गोपियों के उपहास का विषय बना कर एक आकर्षक व्यक्तित्व प्रदान किया है। श्रीमद्भागवत के उद्धव के साथ न तो इतना तर्क हुआ है और न उनका इतना उपहास किया गया है। गोपियाँ उद्धव की युक्तियों से प्रभावित हुईं और उद्धव गोपियों के प्रेम की सराहना करते हुए लौटे।

भ्रमरगीत की परम्परा—इसी प्रसङ्ग को सूर और नन्ददास ने अपना कर साहित्य को एक अमूल्य निधि दी है। निजी सम्बन्ध की दृढ़ता, प्रेम की अनन्यता, योग और निर्गुणवाद की हास्य-व्यङ्ग पूर्ण निरर्थकता सिद्ध करने के लिए ये दोनों ग्रन्थ अद्वितीय हैं किन्तु सूर में जहाँ हृदयपक्ष की प्रबलता है वहाँ नन्द की गोपियों में बुद्धि-पक्ष की ही महत्ता है। उन्होंने तर्क का उत्तर तर्क से दिया है। ये दोनों ग्रन्थ भक्ति-मार्ग के परिपोषक हैं, उनमें ज्ञान और हठयोग के विरुद्ध भक्ति की प्रतिक्रिया का प्रतिफलन है और उनमें भक्त कवियों का हृदय बोलता हुआ दिखाई देता है। कविवर रत्नाकरजी ने उद्धव-शतक लिखकर आजकल के युग में उस परम्परा को कायम रक्खा है किन्तु उन्होंने भक्तिकाल की आत्मा के लिए रीति-

काल के शरीर को आवरण रूप से स्वीकार किया है और कहना न होगा कि स्वर्गीय रत्नाकरजी के स्थूल शरीर की भाँति ही इसका शरीर भी कुछ भारी भरकम हो गया है।

हमको रत्नाकरजी के उद्धव शतक में भक्तिकाल की सरलतामयी भावुकता और रीतिकाल की अलङ्कारिकता दोनों के ही दर्शन होते हैं। इस ग्रन्थ में मुक्तक और खण्डकाव्य की प्रवृत्ति मिली हुई है। खण्ड-काव्य का सा इसमें प्रबन्ध-निर्वाह भी है और मुक्तक की सी छन्दों की साज-सम्हाल भी है। इसमें भक्तों के गीतों और पदों को न अपना कर रीतिकालीन कवित्त-सवैयों को अपनाया है। उद्धव-शतक में सूर और नन्ददास तथा श्रीमद्भागवत् की छाया के अतिरिक्त कुछ अपना भी है।

उभयपक्षी प्रेम—उद्धव शतक की पहली विशेषता तो यह है कि सूर और नन्ददास के भ्रमरगीतों की अपेक्षा रत्नाकरजी ने भगवान् कृष्ण को कुछ अधिक विरह-विह्वल दिखाया है। जमुना में बहते हुए एक कमल को देख कर कृष्ण को समान वर्ण वाली राधिकाजी की स्मृति इतनी तीव्र हो जाती है कि बेसुध से हो जाते हैं। चेत आने पर कृष्णजी ने अपनी प्रेमदशा का वर्णन किया है, उस सम्बन्ध में रत्नाकरजी बड़े मार्मिक शब्दों में कहते हैं—

गहवर आयो गरौ भभरि अचानक त्यौं,
प्रेम परयौ चपल चुचाइ पुतरीन सौं।
नैक कही बैनन अनेक कही नैननि सों,
रही-सही सोउ कहि दीनी हिचकीन सौं॥

उद्धव का ब्रज को भेजा जाना—जब भावातिरेक होता है शब्द काम नहीं देते। कृष्ण को उद्धव ज्ञानोपदेश देते हैं—

बारनि[१] कितेक तुम्हें बारें[२] कितेकन;
बारन[३] उबारन ह्वै बारन बनौ ना॥

❀ ❀ ❀

आप ही हौं आपुको मिलाप औ बिछोह कहा,
मोह कह मिथ्या सुख दुख ठायौ हैं।

पहले उद्धरण में रीतिकालीन आलङ्कारिक प्रवृत्ति है और दूसरे में भक्तिकाल की सरल पद्धति। उद्धव की इसी ज्ञानमयी अहंमन्यता को दूर करने के लिए उन्हें भगवान् गोकुल भेजते हैं—

आवौ एक बार धारि गोकुल गली की धूरि,
तब इहिं नीति की प्रतीत धरि लैहैं हम।

इसमें उनके लिए एक पन्थ दो काज की बात हो जाती है। उद्धवजी को पहुँचाते समय कृष्ण की दशा का वर्णन भी यही सिद्ध करता है कि कृष्ण और गोपियों का प्रेम एकाङ्गी न था—

सीरे तपे विविध संदेसनि की बातन की,
घातनि की झोंक में लगेई जात हैं।

उद्धव के वहाँ पहुँचने से पूर्व ही उन पर प्रेम का प्रभाव पड़ जाता है फिर भी अपने ज्ञान और योग का सन्देश कहते हैं। रत्नाकर के वर्णन में इतना ही अन्तर है कि यद्यपि गोपियों ने उन्हें मधुप करके सम्बोधित किया है तथापि श्रीमद्भागवत या सूर के भ्रमरगीत की भाँति कोई वास्तविक भौंरा वहाँ नहीं आया है।

व्यक्तित्व का महत्व—सूर की गोपियों की भाँति रत्नाकर की गोपियों की अधिकांश उक्तियाँ तो निजी अनुभव और प्रेम की दृढ़ता पर आश्रित हैं तथापि कुछ उक्तियाँ नई और अनूठी हैं। उनमें से कुछ में हृदय की सीधी आभा है और कुछ में रीतिकालीन परम्परा के प्रभाव की झलक है। रत्नाकर की गोपियाँ भी व्यक्तित्व की रक्षा चाहती हैं। वे ब्रह्म बन जाने की अपेक्षा व्यक्ति बना रहना अधिक पसन्द करती हैं क्योंकि ब्रह्म रूपी समुद्र में बूँद के समा जाने से समुद्र का तो कुछ बनता बिगड़ता नहीं है किन्तु बेचारी बूँद का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है। द्वैतवाद के लिए यह बड़ी जोरदार उक्ति है। इस बात में उद्धवशतक की गोपियाँ नन्ददास की गोपियों से टक्कर लेती हैं—

मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यो जो तुम,
तौहू हमें भावति ना भावना अन्यारी की।

१—अनेक बार। २—निवारन, रोकना, मना करना। ३—हाथी के उबारने वाले होकर हाथी मत बनो जो गोपियों के प्रेम के तिनकों से आच्छादित गड्ढे में मत गिरे पड़ो।

जैहै बनि-बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूढ़ता बिलै है बूँद बिवस बिचारी की ॥

गोपियाँ ब्रह्म हो जाने पर अपना नारीत्व नहीं खोना चाहतीं। उन्हें अपने नारीत्व पर गर्व है।

ब्रह्म हू भए नारि ऐसिए जौ बनी रहैं,
तो तो सहैं सीस सबै बैन जु तिहारे हैं।
यह अभिमान तो गँवैहैं ना गए हूँ प्रान,
हम इनकी हैं वह प्रीतम हमारे हैं ॥

इस निजी सम्बन्ध की दृढ़ता पर लाख-लाख दार्शनिक युक्तियाँ न्यौछावर की जा सकती हैं।

दूरकी सूझ और वैज्ञानिक ज्ञान—कुछ उक्तियों में दूर की सूझ और कल्पना का विस्तार है, देखिए—

टूक-टूक ह्वै है मन मुकुर हमारो हाय,
चूकि हू कठोर बैन पाहन चलावौ ना।
एक मन मोहन तौ बसिकैं उजारयौ मोहिं,
हिय में अनेक मन मोहन बसावौ ना ॥

यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि जिसके जितने टुकड़े होजाते हैं उसमें उतने ही प्रतिविम्ब दिखाई देते हैं। इस छन्द में उसी की ओर संकेत है।

वियोग और योग—गोपियाँ ब्रह्म को शशश्रृंग (तुम मनमानौ ससासृंग गहिबो करो) कहती हैं; वे तो प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानती हैं और अपने मन और नेत्रों की गवाही के खिलाफ़ ब्रह्म को किस प्रकार स्वीकार कर सकती हैं। सूर ने गोपियों की विरह-दशा की तुलना की है, रत्नाकरजी ने वियोग दशा को कुछ और बढ़ा चढ़ा कर दिखाया है:—

वे तो बस बसन रँगावैं मन रँगत ये
भसम रमावैं वे, ये आप ही भसम हैं।
आपुही भई हैं मृगछाला ब्रजबाला सखि
तिनपै अपर मृगछाला कहा सोहैगी।

हृदय-पक्ष—इस प्रकार की उक्तियों में तो चमत्कार की झलक है किन्तु नीचे के छन्दों में गोपी-सुलभ हृदय की सरलता और करुण पुकार है।

(क) चेरी हैं न ऊधौ ! काहू ब्रह्म के बबा की हम
सूधौ कहें देतिं एक कान्ह की कमेरी हैं

(ख) सहिहैं तिहारे कहैं साँसति सबै पै बस
एती कहि देहु कै कन्हैया मिलि जायगो
(ग) ब्रह्म मिलिबे तै कहा मिलिहै बतावौ हमैं
ताको फल जबलौं मिलै ना नन्दलाला हूँ।

सीधी सादी गोपियों को निष्कामता का मोह नहीं है।

(घ) मोर-पँखियाँ कौ मोर बारौ चारु चाहन कौं
अँखियाँ चहैं न मोर पखियाँ चहैं हैं।
(ङ) ऊधौ ब्रह्मज्ञान कौ बखान करते न नैकुँ
देख लेते कान्ह जौ हमारी अँखियान हैं

बिहारी की छाया—चमत्कार प्रदर्शन वाले छन्दों में उतना हृदय का स्पन्दन नहीं सुनाई पड़ता है जितना कि ऊपर के छन्दों में। एक चमत्कारिक छन्द में बिहारी की छाया कुछ विस्तार के साथ दिखाई पड़ती है।

रत्नाकरजी ने 'रस के प्रयोगनि' की बात छोड़ कर संजीवनी शक्ति भर दी है। रस (सोने की भस्म आदि और दूसरे अर्थ में प्रेम की बात) तो मूल्यवान और दुर्लभ है। उनका तो कहना ही क्या जिन्हें सुदर्शन जैसी सुलभ काष्ठादि औषधियाँ नहीं मिलती। देखिए:—

रस के प्रयोगनि के सुखद सु जोगनि के
जेते उपचार चारु मँजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन
देत ना सुदर्शन हूँ यों सुधि सिराई हैं ॥

❀ ❀ ❀ ❀

ह्याँ तौ विषम-ज्वर-वियोग की चढ़ाई यह
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं।

ऋतुवर्णन में चमत्कार और ज्योतिष ज्ञान—ऋतुओं के वर्णन में भी हमको सेनापति की श्लेषात्मक पद्धति की झलक मिलती है। सूरदास ने भी निसिदिन बरसत नैन हमारे, कह कर पावस को स्थायी बना दिया था। उसमें एक व्यञ्जना यह थी कि जब शरीर में ही पावस ऋतु लगी हुई है तब उससे भाग कर कहाँ जायँ? रत्नाकरजी ने सभी ऋतुओं को ब्रज में चिरस्थायी कर दिया है, यहाँ पर बसन्त का एक उदाहरण दिया जाता है।

विकसित विपिन वसन्तिकावली कौ रंग
लखियत गोपिन के अंग पियराने मैं
बौरे वृन्द लसत रसाल बर बारिन के
पिक की पुकार है चबाव उमगाने मैं
होत पतझार झार तरुनि समूहनि कौ
बैहर बतास लै उसास अधिकाने मैं
काम विधि बाम की कला मैं मीन-मेष कहा
ऊधौ नित बसत बसन्त बरसाने मैं ॥

बसन्त का दूसरा चित्र विरहिणी गोपियों के निवास स्थान में उतार दिया है। उनके तन का पीलापन बसन्त के पतझड़ के पूर्व का पीलापन ब्रजबालाओं की पत (लज्जा) का जाना ही पतझार हैं। उनका पागल होजाना रसालों का बौराना है (बौराना व्रज में पागल होने को भी कहते हैं) अन्तिम दो पंक्तियों में विशेष चमत्कार है। मीन मेष महावरा है। जिसका अर्थ है शंका करना; लेकिन बसन्त के सम्बन्ध में यह उक्ति मीन और मेष की राशियों में ही होती है—शिशिरे मकरे कुम्भे बसन्ते मीन मेषयोः बरसाने में बसन्त के लिए मीन और मेष राशियों के लिए ठहरना नहीं पड़ता इसलिए वहाँ उसकी स्थिति के लिए मीन-मेष करने की गुञ्जायश नहीं है। इसी प्रकार व्रज के सम्बन्ध में भी रत्नाकरजी ने अपने ज्योतिष-ज्ञान का परिचय दिया है, देखिए:—

बगर-बगर वृषभान के नगर नित
भीषम प्रभाव ऋतु ग्रीषम बनी रहै ॥

सूर्य जब वृष राशि में आते हैं तब सबसे अधिक तपते हैं। वृषभान राधिकाजी के पिता का भी नाम है, बिहारी ने इसी पर तो चुटकी ली, ये वृषभानुजा वे हलधर के वीर। जब वृषभान का नगर ही है तब ग्रीष्म की क्या कमी? ग्रीष्म ऋतु वृष और मिथुन में होती है, 'वृषभे मिथुने ग्रीष्म वर्षा कर्कट सिंहयोः'। सेनापति ने भी वृष के सूर्य की प्रचण्डता का उल्लेख किया है।

'वृष को तरनि तेज सहसौ किरनि कर
ज्वालन के जाल विकराल बरसतु है'

ज्योतिष के सम्बन्ध में रत्नाकरजी का ज्ञान विहारी के ज्ञान से कम नहीं था। उसमें महावरे का प्रयोग ले आना तो मणि-काञ्चन संयोग की बात हो जाती है।

भाव-सुकुमारता

भाव-सुकुमारता में भी रत्नाकर जी रीतिकालीन कवियों से पीछे नहीं हैं। गोपियाँ ऊधौ से यही कहती हैं कि श्याम से उनकी विरह-दशा का वर्णन न करना वे उदास हो जायँगे। गोपियाँ उनको कल्पना में भी उदास नहीं देखना चाहती हैं, इसमें हृदय की वेदना पूरी तौर से झलक रही है। देखिए:—

आँसू भरि ऐहैं औ उदास मुख ह्वै हैं हाय
ब्रज दुख त्रास की न तातैं साँस लीजियौ,
नाम को बताइ औ जताइ गाम ऊधौ बस
स्याम सौं हमारी राम-राम कहि दीजियौ।

अतिशयोक्ति

अतिशयोक्तियों में भी रत्नाकरजी रीति-कालीन कवियों के समकक्ष हैं, नीचे की उक्ति में अतिशयोक्ति ही नहीं है, वरन् श्लेष का भी चमत्कार है। देखिए:—

हरि-तन-पानिप के भाजन दृगंचल हैं
उमगि तपन तैं तपाक करि धावै ना।
कहै रत्नाकर त्रिलोक-ओक-मण्डल में
बेग ब्रह्मद्रव उपद्रव मचावै ना ॥
हरकौं समेत हरिगिरि के गुमान गारि
पल मैं पतालपुर पैठन पठावै ना।
फैले बरसाने मैं न रावरी कहानी यह
बानी कहूँ राधे आधे कान सुनि पावै ना ॥

यहाँ पहिली पंक्ति में पानिप शब्द में श्लेष का चमत्कार है। गंगाजी पहले ब्रह्म-कमण्डल में विष्णु चरणोदक के रूप में रही थी। यहाँ राधाजी के नैनों को ब्रह्म-कमण्डल बनाया है क्योंकि उसमें श्रीकृष्ण रूपी ब्रह्म के तन का पानिप (अर्थात् तेज रहता है)। पानिप पानी को भी कहते हैं। गंगाजी का वेग तो महादेवजी ने सहलिया था किन्तु राधाजी के आँसुओं की गंगा का वेग शिवजी भी न सहन कर पायेंगे और हिमालय भी पाताल को चला जायगा। इस छन्द में गंगावतरण और उद्धव-शतक के लेखक मिल जाते हैं। उद्धवशतक के लेखक की इसमें विजय दुन्दुभी सुनाई पड़ती है।

हास्य व्यङ्ग्य—इस विषय में रत्नाकरजी में भक्ति-कालीन सूर और नन्ददासजी की झलक दिखाई पड़ती है। सूर ने कृष्ण के कालेपन पर बड़े सुन्दर व्यंग्य किये हैं। यह हास्य-व्यंग्य रति के ही आश्रित है। रत्नाकर की गोपियाँ अपनी खीज में कृष्ण की सर्प से तुलना करती हैं, साँप तो आँखों से कान का काम लेता है (सूर ने तानसेन की तान के सम्बन्ध में कहा है कि विधि ने शेषनागजी को कान नहीं दिये नहीं तो प्रसन्नता में उसके सिर हिलाने से पृथ्वी चलायमान हो जाती) किन्तु कृष्ण ने उद्धव को दूत बनाकर कानों से आँख का काम लिया है, देखिए:—

एते दूरि देसनि सौं सखिन-संदेसनि सौं
लखन चहै जो दसा दुसह हमारी है।

* * * *

रीति नीति भुजंगन की निपट न्यारी है
आँखिन तैं एक तौ सुभाव सुनिबै को लियौ।
काननि तैं एक देखिबै की टेक धारी है।।

शाङ्करीमत के मायावाद पर जो कि संसार को स्वप्न मानता है एक सुन्दर व्यंग्य देखिए:—

जग सपनौ सौ सब परत दिखाई तुम्हें,
ता तैं तुम ऊधौ हमैं सोवत लखात हौ!
कहै रतनाकर सुनै को बात सोवत की,
जोई मुँह आवत सो विवस बयात हौ।।
सोवत मैं जागत लखत अपने को जिमि,
त्यौंही तुम आपही सुज्ञानी समुझातु हौ।

रत्नाकर की गोपियों में सजीवता सूरकी गोपियों से कुछ ही कम कही जा सकती है। उनके व्यंग कहीं-कहीं बड़े तीखे हैं। किन्तु रत्नाकर की गोपियों के भी काफी चुटीले हैं।

दौनाचल कौ ना यह छटक्यौ कनूका जाहि
छाइ छिगुनी पै छेम छत्र छायौ है।
कहै रत्नाकर न कूबर बधूबर को
जाहि रंच राँचै पानि परसि गँवायौ है।।
यह गुरु प्रेमाचल दृढ़ व्रतधारिन कौ
जाकै भारभाव उन्हूँ कौ सकुचायौ है।

जानै कहा जानि कै अजान ह्वै सुजान कान्ह
ताहि तुम्है बात सो उड़ावन पठायौ है।।

कहा जाता है कि गिरराज द्रोणाचल पर्वत से टूटा हुआ टुकड़ा है। जब हनूमानजी द्रोणाचल को लिए जाते थे तब यह गिर पड़ा। कुबरी के कुबर को भी कृष्ण ने केवल इस बात पर खुश होकर कि जो चन्दन वह कंस के लिए जाती थी उनको अर्पण कर दिया कूबर सीधा कर दिया था। बात शब्द में श्लेष है। कोरी बातों से वे अपने लिए व्रत से नहीं हट सकती जिस प्रकार हवा से पहाड़ नहीं टल सकता। बात में प्राणायाम के योग का भी संकेत है क्योंकिउसका सम्बन्ध हवा से है। कुब्जा के कूबर पर गहरी चोट नीचे के छन्द में की गयी है। इसमें कल्पना का चमत्कार है।

सोच है चहै के संग ताके रंग भौन माहि
कौन धौं अनोखौ ढंग रचत निराटा हैं।
छाँटि देत कूबर कैं आँटि देत डाँट कोऊ
काट देत खाट किधौं पाटि देत पाटी है।।

इसमें टकार का प्राधान्य है और वैसे भी कुछ वीभत्सता आ जाती है जो शृङ्गार के विरुद्ध है किन्तु असूयाभाव में यह क्षम्य हो जाती है। इसमें चोट काफी गहरी है। तुक तो नहीं मिली किन्तु बोझों मरने की बात आ गयी है। रत्नाकरजी का यह ग्रन्थ अपनी परम्परा में एक बहुमूल्य रत्न है। इसमें भक्तिकालीन भावुकता के साथ रीतिकालीन चमत्कार का सुन्दर समन्वनय है। भाषा का माधुर्य श्लेष और पाण्डित्य के कारण कहीं-कहीं दब अवश्य गया है किन्तु जहाँ उन्होंने सहज स्वाभाविकता से काम लिया है वहाँ माधुर्य भी पर्याप्त है। कथा-प्रसङ्ग को भी मनोवैज्ञानिक बनाया गया है और दो एक बातों में जो सूर और नन्ददास में कमी रह गयी है उसकी भी पूर्ति की है। जैसे उद्धव द्वारा श्रीकृष्णजी को उपहार भेजना। यह बात श्रीमद्भागवत् में आ गई है और यह बात जरूरी भी थी।

———

'सिद्धान्त और अध्ययन'*

[श्री शिवनाथ एम० ए०]

यद्यपि पिछले अङ्क में पुस्तक (सिद्धान्त और अध्ययन) की छोटी सी आलोचना निकल चुकी है तथापि इस लेख में पुस्तक की समीक्षा के सहारे कई आलोचना-सम्बन्धी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रकाश पड़ने के कारण इसे स्वतन्त्र लेख रूप से हम प्रकाशित कर रहे हैं। इसमें अन्य समीक्षा सिद्धान्तों के विवेचन के अतिरिक्त 'सिद्धान्त और अध्ययन' के लेखक का और स्वर्गीय आचार्य शुक्लजी का जिन रस सम्बन्धी प्रश्नों पर (जैसे हाव आलम्बन गिने जायँ या उद्दीपन अथवा साधारणीकरण में आलम्बन के कुछ सामान्य धर्मों की प्रतिष्ठा रहती है अथवा उसके पूर्ण व्यक्तित्व की) मतभेद है, उन पर दोनों पक्षों के साथ सहृदय भाव रखते हुए प्रकाश डाला गया है।
—सम्पादक)

बाबू गुलाबराय एम० ए० हिन्दी-साहित्य में कई रूपों से प्रतिष्ठित हैं—दार्शनिक के रूप में, निबन्धकार के रूप में और समीक्षक के रूप में। इन तीनों रूपों के मूलतत्व या बीज उनमें आरम्भ से ही थे, जो यथासमय पल्लवित, पुष्पित और फलित हुए। दार्शनिक से हमारा तात्पर्य किसी में दर्शन-वृत्ति की सम्पन्नता से है। बाबूजी में आध्यात्मिकता का प्राधान्य है और इसी कारण जब-जब हिन्दी साहित्य में इस पक्ष को लेकर कोई प्रश्न उपस्थित हुआ तब तब उन्होंने इसका समर्थन किया; जैसे, रहस्यवाद का। अपनी आध्यात्मिक वृत्ति के कारण ही उन्होंने हिन्दी में दर्शन विषयक ग्रन्थों का निर्माण किया और उस समय एतद्विषयक ग्रन्थों का निर्माण किया जिस समय इस विषय के ग्रन्थों की हिन्दी में बहुत ही कमी थी। यहाँ दर्शन के अन्तर्गत मैं तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान को भी ले रहा हूँ। हिन्दी दार्शनिक के रूप में ही बाबूजी सर्वप्रथम प्रतिष्ठित हुए।

निबन्धकार की दृष्टि से मैं बाबू गुलाबराय को बहुत ही विशिष्ट पद का अधिकारी स्वीकार करता हूँ। मेरी धारणा है कि सर्वात्मक सफलता उन्हें इसी क्षेत्र में मिली है। भारतीय दृष्टि से निबन्ध का क्या रूप है अथवा हो सकता है और इसके रूप के विषय में व्यक्तिगत तौर पर साहित्यिकों के क्या विचार हैं, यहाँ हम इसका विचार नहीं कर रहे हैं। आधुनिक समय में पश्चिम में व्यक्ति-प्रधान निबन्धों के जो रूप हैं और उनमें जो तत्व होने चाहिए वे सभी बाबूजी के निबन्धों में विद्यमान मिलेंगे। पश्चिमी दृष्टि से व्यक्तिप्रधान निबन्धों की रचना का सुष्ठुरूप बाबूजी के निबन्धों द्वारा ही प्रतिष्ठित हुआ। इस क्षेत्र में दूसरों ने भी यत्र-तत्र काम किया परन्तु जम कर काम बाबूजी ने ही किया और हिन्दी में उसका रूप स्थापित कर दिया। निबन्धों में व्यक्तित्व-तत्व की निहिति उनका हलकी, मनोरञ्जक और प्रसन्न शैली, उनमें हास्य, व्यंग्य, विनोद की स्थापना आदि बाबूजी के निबन्धों की विशेषता है। निबन्ध के कुछ तत्व उनके समीक्षात्मक निबन्धों में भी यत्र-तत्र मिलते हैं। निबन्धकार की दृष्टि से बाबूजी का निखरा रूप अब भली भाँति प्रतिष्ठित हो गया है।

साहित्य समीक्षा की ओर बाबू गुलाबराय की वृत्ति आरम्भ से ही थी परन्तु इधर जब से 'साहित्य-सन्देश' का सम्पादन कार्य अपने हाथों में लिया— इस क्षेत्र में विशेष कार्य कर रहे हैं, कहना तो यह चाहिए कि समीक्षा का कार्य ही कर रहे हैं। इसी कारण उनका समीक्षक का रूप विशेष उभरा हुआ दृष्टिगत हो रहा है। समीक्षा के क्षेत्र में बाबूजी की दृष्टि व्याख्या और मीमांसा की ओर विशेष

* लेखक—श्री गुलाबराय एम० ए०। प्रकाशक—प्रतिभा प्रकाशन मन्दिर, हैदरकुली दिल्ली के लिए साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा। पृष्ठ संख्या, २४२ मूल्य ३)

रहती है। वे समीक्षा को दृष्टिपथ में रख कर ही समीक्षा करते हैं। इसी कारण उनमें नवीन, प्राचीन, पूरब, पच्छिम किसी के लिए विशेष आग्रह नहीं है। समीक्षा के क्षेत्र में ये सत्यान्वेषण के पक्षपाती हैं। 'सिद्धान्त और अध्ययन' से हमारी बात स्पष्ट हो जायगी। यही कारण है कि वयोवृद्ध होते हुए भी, अपने समवयस्क समीक्षकों द्वारा छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद आदि नवीन साहित्य-प्रवृत्तियों का विरोध होता देखते हुए भी उन्होंने इन साहित्यिक प्रवृत्तियों के सत्य का अन्वेषण कर इसका समर्थन किया। साथ ही इनके दोष भी कहे। अभिप्राय यह कि सत्समीक्षक सुलभ अनाग्रह उनमें सर्वत्र मिलेगा और आरम्भ से ही मिलेगा। 'सिद्धान्त और अध्ययन' के 'समालोचना के मान' नामक निबन्ध में वे लिखते हैं—

आलोचना शब्द 'लुच' धातु से, जिसका अर्थ देखना है, बना है। यह वही धातु है जो 'लोचन' शब्द में है। समीक्षा का भी वही अर्थ है। सम्यक् प्रकार से देखने में वस्तु या कृति का प्रभाव या आस्वाद, उसकी व्याख्या और उसका शास्त्रीय तथा नैतिक मूल्याङ्कन सभी बातें आ जाती हैं।' (पृष्ठ २३०) समीक्षा में नैतिक मूल्यांकन पर दृष्टि होने के कारण वे काव्य व साहित्य को नीति से परे नहीं स्वीकार करते। प्रस्तुत पुस्तक के 'अभिव्यंजनावाद एवं कलावाद' नामक लेख में वे कहते हैं—'जो लोग काव्य को नीति से परे रखना चाहते हैं वे उसके क्षेत्र में सौन्दर्य का अवाधित राज्य देखना चाहते हैं परन्तु काव्य के राज्य को हम यदि व्यापक मानें और उसका अधिकार पूरे जीवन पर समझा जाय तो उसमें सत्यं शिवं और सुन्दरम् तीनों का समन्वय होना चाहिए। ....कलाकार समाज से बाहर नहीं रह सकता, उसका नागरिक रूप उसके कलाकार रूप से पृथक् नहीं। तीन लोक से न्यारी अपनी मथुरा बसा कर रहे थे तो केवल सौन्दर्य भी नीति से विच्छिन्न हो अपूर्ण रहेगा अतः नीति का प्रश्न उपेक्षणीय नहीं है। (पृष्ठ २०५) इस प्रकार हम देखते हैं कि वे साहित्य में मर्यादावाद को प्रतिष्ठित रखना चाहते हैं। बात भी ठीक ही है; जब जीवन और साहित्य का या समाज और साहित्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और समाज तथा जीवन की धारणा के लिए मर्यादा व नैतिकता की परमावश्यकता है तब साहित्य से नैतिकता अथवा मर्यादावाद अलग किया भी नहीं जा सकता है। हाँ, साहित्यकार को इसका ध्यान रखना होगा कि वह इसी का व्याख्यान न करे। जो कुछ कहे वह साहित्य-तत्व समन्वित हो।

हिन्दी-साहित्य की इस उन्नतावस्था में बार बार यह माँग होती सुनाई पड़ती है कि अब भारतीय साहित्य-शास्त्र के आधार पर हिन्दी का अपना समीक्षा-शास्त्र निर्धारित कर लिया जाय। यह भी कहा जाता है कि समीक्षा में भारतीयता पर भी दृष्टि रहनी चाहिए। इस प्रकार की माँग के साथ ही यह भी कहा जाता है कि हिन्दी में भारतीय साहित्य-शास्त्र को भी लाना आवश्यक है जो संस्कृत में प्रस्तुत हुआ है, क्योंकि हिन्दी में ऐसे पाठक कम हैं जो संस्कृत से इस शास्त्र का अध्ययन कर सकते हैं। संस्कृत का अध्ययन तो बहुत ही कम होगया है और दिन पर दिन कम होता जा रहा है। हिन्दी वालों के लिए यह खतरे की बात है। यह बात कहते हुए हमारी दृष्टि हिन्दी के साहित्यकारों पर तो है ही, विशेषतः उसके पाठकों पर है, जिन में अधिकतर विद्यार्थी हैं। होता यह है कि हम भारतीय साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी अधूरी और अनपढ़ी बातें अँगरेजी से ले लेते हैं, क्योंकि इसके क्षेत्र में उसमें प्रयत्न हुआ है, जिसका परिणाम अच्छा नहीं होता, भारतीय साहित्य-शास्त्र का यथार्थ रूप हमारे सम्मुख नहीं आ पाता। ऐसी अवस्था में इसकी बड़ी आवश्यकता है कि सीधे संस्कृत से भारतीय शास्त्र संबन्धी बातें हिन्दी में आएँ। 'सिद्धान्त और अध्ययन' इस क्षेत्र में एक श्लाघ्य कार्य है, इसमें बहुत सी बातें अंगरेजी के माध्यम से आई हैं, परन्तु मूल ग्रन्थों की प्रामाणिकता से वे वञ्चित नहीं हैं। बाबूजी बड़े प्रौढ़ और विश्वासनीय समीक्षक हैं, अतः उन्होंने मूल पर ही विशेष ध्यान रखा है। यहां यह भी कहूँ कि भारतीय साहित्य-शास्त्र को 'हिन्दी में' लाने का यह फुटकल कार्य है। इसके द्वारा हिन्दी वालों की साहित्य-सम्बन्धी जिज्ञासा का समाधान होता तो है, परन्तु पूर्णतः और वैध रूप में नहीं। आवश्यकता इसकी है कि संस्कृत में लिखे साहित्य-शास्त्र के पूरे के पूरे ग्रन्थों का प्रामाणिक अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत

हो जाय और उन पर लिखी प्रौढ़ टीकाएँ भी उनके साथ लगी हों। या जैसा कि 'सिद्धान्त और अध्ययन' में है इन ग्रन्थों का अध्ययन मनन करके इनके विषय में समीक्षात्मक रूप से हिन्दी में ग्रन्थ प्रस्तुत कर दिए जायँ।

'सिद्धान्त और अध्ययन' द्वारा पश्चिमी साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी बहुत सी बातें भी ज्ञात होती हैं। बात यह है कि प्रस्तुत पुस्तक में बाबूजी की दृष्टि तुलनात्मक मीमांसा की ओर विशेष है। इसी पद्धति की मीमांसा द्वारा कुछ बातें बहुत ही स्पष्ट हो गयी हैं। मीमांसा की पद्धति भी बाबूजी ने बहुत स्पष्ट और सुलझी हुई रखी है। जहाँ-जहाँ विषय जटिल आया है वहाँ-वहाँ वे मीमांसा के पश्चात् स्पष्टता के हेतु 'सारांश' देते गये हैं। बाबूजी सरल भाषा में और सरल ढंग से विचार भी करते हैं। जब यत्र तत्र समीक्षा के दौरान में निबन्ध तत्व भी आ जाता है, तब बुद्धि के परिश्रम का परिहार भी हो जाता है। वे समीक्षा के क्षेत्र में भी हास्य और विनोद की ओर मुड़ जाते हैं। भाषा-शैली में मनोरंजकता के लिए संदर्भपूर्ण संस्कृत वा हिन्दी के प्रायः काव्य के टुकड़ों का प्रयोग करते हैं। अभिप्राय यह कि सभी दृष्टियों से बाबूजी की समीक्षा-शैली सुगम, मनोरंजक और प्रभाव-पूर्ण है।

'सिद्धान्त और अध्ययन' में सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी लेख ही संगृहीत हैं; व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी लेख इसमें नहीं है। यद्यपि इसमें लेख ही संगृहीत हैं, तथापि इनमें स्वदेशी, विदेशी, नवीन, प्राचीन सभी साहित्य-सिद्धान्तों का समावेश हो गया है। इन लेखों द्वारा साहित्य उसकी वस्तु तथा वस्तु की अभिव्यक्ति-पद्धति, साहित्य का लक्ष्य, रस-सिद्धान्त आदि सभी विषयों की मीमांसा यथास्थान हुई है। यथाप्रसंग साहित्य सम्बन्धी अन्य तत्वों की विवेचना भी इसमें मिलती है। ऊपर हमने देखा है कि श्री गुलाबराय जी समीक्षा में नैतिक मूल्यांकन की आवश्यकता का अनुभव भी करते हैं। वे नीति को भी 'सौन्दर्य का ही आन्तरिक रूप' मानते हैं (देखिए पृष्ठ ७१) इससे स्पष्ट है कि वे साहित्य को लोक-जीवन की पीठिका पर प्रतिष्ठित कर उसकी मीमांसा करना चाहते हैं। 'साहित्य की मूल प्रेरणाओं' में उन्होंने कहा है कि 'साहित्य इसी लोक की, किन्तु असाधारण वस्तु है और उसके मूल तन्तु जीवन से ही रस ग्रहण करते हैं।' (पृष्ठ ६०) साहित्य को 'असाधारण वस्तु' कहने के दो ही लक्ष्य संभव प्रतीत होते हैं—एक तो यह कि उसके ग्राहक वा आस्वादक सामान्य जनके स्तर से कुछ ऊपर उठे शिष्ट-मानस-सम्पन्न सहृदय व्यक्ति होते हैं और दूसरे यह कि उसका निर्माण सर्व सुलभ नहीं है, उसका निर्माण सर्व साधारण से कुछ ऊपर उठा विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य को वे ग्रहीता और निर्माता को दृष्टि-पथ में रख कर असाधारण 'वस्तु' कहते हैं। 'असाधारण' से उनका तात्पर्य अलौकिक से नहीं है। 'इसलिए जीवन की मूल प्रेरणाएँ ही साहित्य की मूल प्रेरक शक्तियाँ हैं।' (पृष्ठ ६०) ऐसा वे स्वीकार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में साहित्य का लक्ष्य इन्हीं मूल प्रेरणाओं से उद्‌भूत फल की साधना है। साहित्य के स्वरूप-निर्माण में उनकी दृष्टि मम्मट द्वारा निर्धारित काल के प्रयोजनों में से एक पर विशेष है—अर्थात् 'शिवेतर-शक्ति' पर। 'साहित्य की मूल प्रेरणाओं' में वे कहते हैं—'जो हमारे भावों और विचारों को इकट्ठा रख कर या मानव-जाति में एक रूपता उत्पन्न कर अथवा जो काव्य के शरीर स्वरूप शब्द और अर्थ को परम्परानुकूलता द्वारा सप्राण बनाकर मानवजाति का हित सम्पादन करे वही साहित्य है।' (पृष्ठ ६५) प्रस्तुत पुस्तक में साहित्य के लोक-जीवन सम्पन्न होने की बात अन्य प्रसंगों में अन्यत्र भी कही गयी है। इससे स्पष्ट है कि श्री गुलाबराय जी उन समीक्षकों की श्रेणी में आते हैं जो साहित्य और जीवन का सम्बन्ध मुख्य रूप से स्थापित करते हैं तथा साहित्य की कोई न कोई उपयोगिता स्वीकार करते हैं। परन्तु वे उसकी उपयोगिता पर ही दृष्टि नहीं रखते, उसके साहित्य-तत्व पर भी उनकी दृष्टि रहती है। 'काव्य की परिभाषा' पर विचार करते हुए वे उसकी 'प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति' पर भी दृष्टि रखते हैं। कहते हैं—'काव्य संसार के प्रति कवि की भाव-प्रधान किन्तु क्षुद्र वैयक्तिक सम्बन्धों से मुक्त मानसिक प्रति क्रियाओं की कल्पना के ढाँचे में ढली हुई श्रेय का प्रेय रूप उद्‌घाटन करने वाली प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।' (पृष्ठ ११२)

इस परिभाषा की रचना में जगत् और जीवन से काव्य का सम्बन्ध उसकी भावात्मकता, काव्य निर्माण में कवि के हृदय की मुक्तावस्था जगत् और जीवन के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएँ जिनके फल-स्वरूप काव्य-निर्माण होता है, कल्पना, काव्य में श्रेय और प्रेय उसकी रसात्मक अभिव्यक्ति की बात कही गयी है। 'सुन्दर अभिव्यक्ति के बिना विषय पंगु रह जाता है और विषय के सान्दर्य के बिना कला का सौन्दर्य खोखला' (समालोचना के मान, पृष्ठ २४२)।

साहित्य वा काव्य-रचना की प्रक्रिया की मीमांसा भी समीक्षक द्वारा की गयी है। 'कवि और पाठक के क्रियात्मक व्यक्तित्व' में कवि के तीन व्यक्तित्व स्वीकार किये गये हैं— 'एक लौकिक और दूसरा साधारणीकृत सहानुभूति पूर्ण कलाकार का व्यक्तित्व। इसके अतिरिक्त उसका भावक का तीसरा व्यक्तित्व भी होता है।' (पृष्ठ ५७) लौकिक व्यक्तित्व में वह सामान्य व्यक्तियों की ही भाँति सुख-दुःख का अनुभव करता है। परन्तु जब वह कलाकार के व्यक्तित्व से सम्पन्न हो जाता है तब दुःख को भी अपनी रचना-प्रक्रिया द्वारा सुख के रूप में—रसात्मक रूप में—प्रस्तुत करता है। 'कलाकार का व्यक्तित्व साधारणीकृत होता है। वह अपने अनुभव को निजत्व-परत्व से परे पाता है। उसमें वह उस का शुद्ध रूप में आस्वाद करता है। वह आनन्दित होता है और अपने आनन्द का परिप्रेषण करता है।' (पृष्ठ ५७) मीमांसा से स्पष्ट है कि यहाँ समीक्षक की दृष्टि काव्य-रचना की उस अवस्था पर है जिसमें वह काव्य-रचने में सक्षम होता है, जिसमें वह अनुभूति, संवेदन-शीलता, जगत् और जीवन की प्रतिक्रियाएँ, तथा इन्हें व्यक्त करने के लिए काव्य-रचना के सभी साधन जुटा कर उसके लिए उन्मुख होता है, यही काव्य-रचना की अवस्था (मूड) है, कवि निर्माण के लिए जिस अवस्था की अभिलाषा बराबर करता रहता है। कलाकार की दृष्टि में इस अवस्था का बहुत महत्त्व है, कारण कि बिना इसके वह रचना में प्रवृत्त नहीं हो पाता। कवि का भावक का व्यक्तित्व समीक्षक का व्यक्तित्व है, जिसमें उसकी समीक्षक वृत्ति जागरित रहती है। यही व्यक्ति कवि को अपनी रचना रसात्मक, प्रभावपूर्ण रमणीयार्थ सम्पन्न बनाने के लिए वर्णन के विषय और भाव के विभिन्न अवयवों में से संग्रह और उनके त्याग के हेतु सक्षम बनाता है। लेख में कवि के कलाकार तथा लौकिक व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध की बात भी कही गयी है। प्रस्तुत पुस्तक का यह लेख बहुत ही महत्वपूर्ण है; अनेक स्थलों पर मीमांसा सतर्क और मौलिक है।

'काव्य के क्षेत्र' नामक लेख में काव्य-रचना की प्रक्रिया में चुनाव की आवश्यकता की मीमांसा भी की गयी है। कला में चुनाव की आवश्यकता पर आचार्य शुक्ल ने भी विचार किया है। विचार करने पर विदित होगा कि काव्य-रचना के क्षेत्र में चुनाव का महत्व इसीलिए है कि इस प्रक्रिया द्वारा प्रभावात्मकता बढ़ायी जाती है। कवि उन्हीं वस्तुओं को वर्णन के लिए चुनता है जिनके द्वारा प्रभाव डाला जासके इसके अतिरिक्त यदि वह वर्णन के लिए वस्तु और व्यक्ति का चुनाव न करे तो वर्णन करेगा कितनों का? अभिप्राय यह कि काव्य में सभी वस्तुओं और व्यक्तियों के वर्णन के संग्रह की अपेक्षा ऐसी वस्तुओं और व्यक्तियों का वर्णन श्रेयस्कर है जिनके द्वारा श्रोता, पाठक वा दर्शक पर प्रभाव डाला जासके, उन्हें रसात्मक अनुभूति करायी जासके। इस लेख में 'कविकृत सत्य' की मीमांसा भी की गयी है। (देखिए पृष्ठ ६५—६८) काव्य-रचना के साधन-कल्पना आदि की बात भी यत्र-तत्र की गयी है। (देखिए पृष्ठ ७६)

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में आचार्य शुक्ल ही एक ऐसे समीक्षक हुए जिन्होंने रस तथा उसके अवयवों की विशेष रूप से मीमांसा की और तर्क सम्मत प्रौढ़ और मान्य मीमांसा की। आचार्य शुक्ल की दृष्टि रस के प्रायः उन्हीं स्थलों की विवेचना पर गयी जो जटिल होने के कारण विवादास्पद हैं। आचार्य शुक्ल द्वारा विवेचित स्थानों पर श्री गुलाबरायजी ने भी अपने मत दिए हैं, जो यत्र तत्र आचार्य शुक्ल के मतों से मेल खाते हैं। प्रायः स्थल ऐसे हैं जहाँ श्री गुलाबरायजी का मत आचार्य शुक्ल के मत से भिन्न पड़ता है, जो कहीं संगत है और कहीं असंगत। आचार्य शुक्ल की भाँति श्री गुलाबरायजी भी किसी न किसी रूप में हृदय की मुक्तावस्था को रस-दशा मानते हैं। उनका कहना है कि रस-दशा में हृदय अपने

पराए के घेरे से ऊपर उठ जाता है, उसका विस्तार होता है, वह दूसरों के दुःख सुख को भी अपना दुःख-सुख बनाता है। इस प्रकार आत्मा का विस्तार ही आनन्द का कारण है जिसका सम्बन्ध रस-दशा से है। (देखिए पृष्ठ १५-१६) ऐसे ही साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी अन्य तत्त्व भी हैं जहाँ इन दोनों समीक्षकों में मत साम्य है। परन्तु इनमें मत वैभिन्न्य भी है, इसका निर्देश हमने ऊपर किया है।

आचार्य शुक्ल की स्थापना है कि "आलंबन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन होजाता है।" और श्री गुलाबराय जी कहते हैं '....व्यक्ति कुछ समान धर्मों की ही है। प्रतिष्ठा के कारण नहीं वरन् अपने पूर्ण व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा में सहृदयों का आलंबन बन सकता है।' (पृष्ठ ४२-४३) परन्तु इसे भी स्मरण रखना है कि आलंबन के पूर्ण व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा कुछ समान धर्मों के कारण ही तो होगी। कुछ समान धर्मों से ही तो उसका संपूर्ण व्यक्तित्व निर्मित होगा। साधारणीकरण में प्रमुख तत्व है, आलंबन में समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की स्थापना जिन समान धर्मों के संस्कार, अनुभूति आदि अधिक से अधिक श्रोता, पाठक और दर्शक के हृदय में हों। यह संभव है कि इस प्रकार के समान धर्म विभिन्न आलंबन में विभिन्न प्रकार के हों। ऐसी परिस्थिति में भी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं पड़ती। नंददास तथा सूरदास की गोपियों में समान प्रभाव वाले धर्मों की विभिन्नता है परन्तु उनके द्वारा रसानुभूति में कोई बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि श्रोता, पाठक और दर्शक दोनों कवियों की गोपियों में प्रतिष्ठित समान धर्म वाले धर्मों का बीज अपने हृदय में रखता है। स्मरण यह रखना है कि बाबूजी ने आचार्य शुक्ल के विपक्ष में जहां अपने मत प्रकट किए हैं वहां केवल मत प्रकट करने के लिए ही मत नहीं प्रकट किए हैं। विनम्र तथा शिष्ट रूप से अपने तर्क भी दिए हैं— यद्यपि उनके मत चिंत्य है। हमतो हिंदी-समीक्षा के लिए इसे शुभ लक्षण मानते हैं कि इस जैसे विषय पर भी विद्वान अब वाद-विवाद चलाने लगे हैं। आचार्य केशवप्रसाद मिश्र की मधुमती भूमिका पर विचार करते हुए बाबू जी ने कहा है कि यह योग की बहुत ऊँची अवस्था नहीं है, दूसरी ही श्रेणी है, इसके आगे दो श्रेणियाँ और हैं। (देखिए पृष्ठ ४६—४७)

श्री गुलाबराय जी ने इसको लेकर एक विशेष बात कही है, जिस पर ध्यान जाना आवश्यक है। वे कहते हैं कि 'आजकल के उपन्यासों में यह निर्धारित करना तो कठिन हो जाता है कि उनमें कौन-सा रस प्रधान है किंतु रस की दृष्टि से उनका विश्लेषण किया जा सकता है।' (पृष्ठ १४१) इस विषय में वे कहते हैं कि यद्यपि उपन्यासों में विचार प्राधान्य होता है तथापि इनके मूल में भावों की ही धारा बहती है। अतः इसकी दृष्टि से भी इनकी विवेचना संभव है। (देखिए पृष्ठ १४०—१४१)

सिद्धान्त और अध्ययन' में विवेचित नियमों की रूप-रेखा तथा उनके विवेचना की पद्धति अब स्पष्ट होगयी होगी। प्रस्तुत पुस्तक में साहित्य-शास्त्र की विवेचना की व्यापकता पर भी दृष्टि गयी होगी। स्पष्ट होगया होगा। कि इसमें ऐसे भारतीय तथा अभारतीय सभी साहित्य-तत्वों की मीमांसा प्रस्तुत की गई है जिनका प्रचार आज अधिक है। पुस्तक देखने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि समीक्षक का अध्ययन व्यापक है और उसने जो कुछ अध्ययन किया है उसे बहुत ही अच्छे ढंग से प्रस्तुत करने में समर्थ है। साहित्य-मीमांसा में शिष्ट समीक्षकों की भांति इनकी दृष्टि भी प्रायः सामान्य पर रहता है। ये ऐसी अलौकिक स्थापना नही स्थिर करते जो अमान्य हो। सिद्धान्त और अध्ययन की उपयोगिता के विषय में इतना ही कहना है कि इसके द्वारा विशेषतः भारतीय साहित्य-शास्त्र का परिचय तथा उसकी मीमांसा प्राप्त होती है, जिसकी आज साहित्य के विद्यार्थियों को अत्यंत आवश्यकता है। बाबूजी ने जो मौलिक बातें इसमें कही हैं उनकी बात अलग है, उन पर तो विद्वान विचार करेंगे। हिंदी में इधर साहित्य-शास्त्र संबंधी जो दो-चार ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं उसमें 'सिद्धान्त और अध्ययन' का प्रमुख स्थान है। इसका स्वागत हिंदी-साहित्य में अवश्य होगा; इसमें संदेह नहीं।

विचार विमर्श

'व्याकरण की अवहेलना'

'साहित्य-सन्देश' के पिछले अङ्क में प्रो० कन्हैयालाल सहल एम० ए० का एक लेख प्रमुख रूप से छपा है। इस लेख का एक उपशीर्षक है—व्याकरण की अवहेलना।

शीर्षक के नीचे लिखा है—"भाव की तन्मयता के कारण कवि व्याकरण की अवहेलना करते भी देखे गये हैं।'

कवि व्याकरण की अवहेलना कैसे करेगा? वह तो लोक-शिक्षक है! स्खलन हो जाना और बात है; सब में सम्भावित है। बड़े लोग भी गलती कर जाते हैं! परन्तु किसी बड़े आदमी की मूर्खता को हम 'सरलता' या 'सीधापन' कहें, तो यह हमारी अज्ञता या चापलूसी होगी। और, भावावेश में किसी अच्छे नियम की अवहेलना होजाय, यह और बात है; पर अवहेलना की नहीं जा सकती।

इस प्रसंग में प्रो० सहल ने श्री मैथिलीशरण गुप्त का एक पद्य उद्धृत किया है—

अरे एक मन, रोक-थाम—
तुझे मैंने लिया।
दो नयनों ने शोक, भरम—
खो दिया, रो दिया!

फिर इस पर सहलजी ने टिप्पणी की है:—"उक्त पद्य में 'रो दिया' का प्रयोग चिन्त्य है। 'रो दिया' अकर्मक क्रिया के साथ 'नयनों ने' का प्रयोग कैसे व्याकरण-सम्मत कहा जा सकता है?"

ऐसे कहा जा सकता है, जैसे:—

१—**राम ने** अभी तक **नहाया** कि नहीं? २—**हमने तो सो लिया** ३—सीता ने बस, रो दिया; इत्यादि।

'राम अभी तक नहाया कि नहीं' यों कर्तृवाच्य प्रयोग भी हो सकता है; यह दूसरी बात है; पर 'राम ने, अभी तक नहाया कि नहीं,' इस प्रयोग को व्याकरण विरुद्ध कोई बुद्धिमान भावावेश में ही कह सकता है। अकर्मक क्रिया का प्रयोग कर्तृवाच्य तथा भाववाच्य, दोनों तरह से होता है; जैसा जहाँ प्रवाह हो। 'नहाना' क्रिया का प्रयोग उभयथा होता है; परन्तु 'हमने तो सो लिया' इस भाववाच्य को 'हम तो सो लीं' या 'हम तो सोलिये, जैसा कर्तृवाच्य वैसा प्रवाह प्राप्त नहीं है; इसलिए ठीक नहीं। इसी तरह 'सीता ने बस, रो दिया' या 'दो नयनों ने रो दिया' को 'सीता तो बस, रो दी' या 'दो नयन रो दिये' इस रूप में कर्तृवाच्य नहीं कर सकते। फलतः गुप्त जी ने जो प्रयोग किया है; बहुत चुस्त तथा व्याकरण-सम्मत है, प्रवाह-प्राप्त है। प्रो० सहल ने इस पर जो कुछ लिखा है, चिन्त्य है। छात्रों में भ्रम न फैले, इसलिए निवेदन करना पड़ा।

संस्कृत में भी अकर्मक क्रियाओं के कर्तृवाच्य तथा भाववाच्य प्रयोग होते हैं; जहाँ जैसा प्रवाह हो। सर्वैः सुखं सुप्यते भाव-वाच्य भी ठीक है और सर्वे सुखे सुपन्ति भी ठीक, परन्तु सर्वे भवन्तु सुखिनः की जगह सर्वैः सुखिभिः भूयताम्' ऐसा भाववाच्य प्रयोग न होगा? क्योंकि भाषा का ऐसा प्रवाह नहीं है; अच्छा न लगेगा।

सो, 'नयनों ने रो दिया' भाववाच्य प्रयोग बिलकुल ठीक है, भाव की खूब अभिव्यक्ति भी इस (भाववाच्य) प्रयोग से है। 'नयन तब रो दिये' में वह बात नहीं!

असल बात यह है कि हिन्दी में अकर्मक क्रियाओं के प्रयोग भूतकाल में प्रायः कर्तृवाच्य होते हैं—लड़का सोया लड़के सोये, राम रोया—सीता रोयी, गोविन्द उठा—शीला उठी; इत्यादि। सकर्मक क्रियाओं के भूतकाल में प्रयोग **प्रायः** कर्मवाच्य या भाव-वाच्य होते हैं—१–राम ने रोटी खायी और भेड़िये ने मेमने को खाया या चीलों ने साँपों को खाया २–राम ने मां को देखा और मैंने लड़की देखी—सीता ने लड़का देखा। इस तरह; पर 'राम ने तुम को देखा' यह भाववाच्य ही रहेगा, 'राम ने तुम देखे' यों कर्मवाच्य नहीं। पं० कामताप्रसाद गुरु ने अपने 'हिन्दी-व्याकरण' में यह गलत लिख दिया है कि सकर्मक क्रिया का प्रयोग हिन्दी में भाववाच्य नहीं होता है! संस्कृत में वैसा नहीं होता है, हिन्दी में खूब होता है। 'राम ने तुमको देखा,' इस भाववाच्य सकर्मक क्रिया को बदलिए तो, किसी दूसरे वाच्य में! गुरु जी ने स्वयं 'बेटी की विदा में लिखा है—

'पाल-पोस कर इसको मैंने इतना बड़ा बनाया।' यह सकर्मक क्रिया का भाववाच्य प्रयोग है न ? व्याकरण में गुरु जी लिखते हैं कि सकर्मक क्रियाओं का हिन्दी में भाववाच्य प्रयोग होता नहीं; परन्तु अपनी भाषा में वे स्वयं भाववाच्य प्रयोग करते हैं ! वस्तुतः हिन्दी का व्याकरण अभी तक बना ही नहीं ! हिन्दी का व्याकरण बहुत सरल है; पर लोग तो 'अंग्रेजी के आधार पर' या 'संस्कृत के आधार पर' हिन्दी का व्याकरण बना रहे हैं न !

अकर्मक क्रियाओं के भूतकाल में कर्तृवाच्य प्रयोग 'प्रायिक' हैं, भाववाच्य भी होते हैं—तुमने नहाया नहीं ?

यह इतना प्रासंगिक; किन्तु बहुत जरूरी।

—किशोरीदास वाजपेयी।

वीसलदेव रासो के सम्बन्ध में कुछ नवीन ज्ञातव्य

वीसलदेव रासो प्राचीन हिन्दी-साहित्य का सुपरिचित काव्य है। वीर-गाथा काल के नाम से हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में जो समय माना गया है, उसी समय की रचना होने के कारण ही इसका उल्लेख सभी इतिहासकारों ने किया है और नागरी-प्रचारिणी-सभा से प्रकाशित संस्करण पर यथामति विचार किया गया है पर ७ वर्ष पूर्व मैंने इस ग्रन्थ की हस्त लिखित प्रतियों का अनुसन्धान एवं अवलोकन कर अपने सम्पादित राजस्थानी* पत्रिका के वर्ष ३ अंक ३ में वीसलदेवरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ शीर्षक लेख में विशेष प्रकाश डाला था पर उस पत्रिका के सर्वत्र नहीं पहुँचने के कारण हिन्दी-साहित्य के विद्वानों का ध्यान अभी तक उस ओर कम ही गया है।

साहित्य-सन्देश के गत जुलाई के अङ्क में श्रीमती राजेन्द्र कुमारी निगम का प्रस्तुत रासो के सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें इसे प्रेम का व्याज बतलाते हुए डिंगल भाषा का ग्रन्थ बतलाया है। साधारणतया बहुत से विद्वानों की धारणा यही है कि राजस्थान के समग्र साहित्य की भाषा डिंगल है। पर वास्तव में डिंगल यहाँ के चारण-भाट इत्यादि की साहित्य-भाषा थी। इसके अतिरिक्त बोलचाल की सरल भाषा अलग थी ही और उसमें भी बहुत विशाल साहित्य है, वीसलदेव रासो उसी बोलचाल की भाषा का प्राचीन एवं प्रसिद्ध प्रेमकाव्य है।

मेरा उक्त लेख बहुत से विद्वानों के अवलोकन में नहीं आया होगा और इसके बाद ७-७ प्रतियों का पता और भी चला है अतः यहाँ वीसलदेव रासो के सम्बन्ध में नवीन ज्ञातव्य प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है विद्वद्गण और भी अधिक जानकारी प्रकाश में लायेंगे।

१—वीसलदेवरासो के दो प्रकार के संस्करण पाये जाते हैं। पहला खंड विभक्तः जिसमें ४ खंड हैं, प्रकाशित ग्रन्थ इसी संस्करण का है। दूसरा संस्करण खंड विभक्त नहीं होकर एक खंड के रूप में ही है। इनमें पद्यों की संख्या में एवं पाठ-भेद में बहुत अधिक अन्तर है। पद्यों की कम से कम संख्या वाली सं० १६६१ की प्रति में छन्द १०० है और अधिक से अधिक वाली में ३१० छंद तक हैं।

२—अभी तक इस ग्रन्थ की लगभग २५ प्रतियें उपलब्ध हैं, वे प्राय: सभी जैन लेखकों के द्वारा लिखित हैं। अर्थात् इस ग्रन्थ को सुरक्षित रखने व प्रचार में लाने का श्रेय जैन विद्वानों को ही है।

अद्यावधि प्राप्त प्रतियों में सबसे प्राचीन प्रति सं० १६६१ की है पर वह मेरे अवलोकन में नहीं आई। बीकानेर के जैन-भण्डार में सं० १६६१ की प्रति है। सं० १६६६ की प्रति जयपुर में बतलाई गयी है।

३—विभिन्न प्रतियों में ग्रन्थ के रचनाकाल के सम्बन्ध में ४ मतभेद पाये जाते हैं। कुछ में सं० १०७३ कुछ में १२१२/१२७२ दो प्रतियों में सं० १३०७ एवं कई प्रतियों में रचनाकाल के निर्देश का सर्वथा अभाव है। खोज रिपोर्ट (सन् १६००) एवं मिश्रबन्धु-विनोद में सं० १३५४ (तृतीय संस्करण भा० १ पृ० २२४) माना है। पर वह भी केवल कल्पना है। मिश्रबन्धुओं ने लिखा है कि "नरपति नाल्ह ने इसका समय १२२० लिखा है" पर पाठ "बारह सैबहोतराहां" है। अतः इस सम्बन्ध में अभी और विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

४—ग्रन्थकर्त्ता नरपति नाल्ह को सत्यजीवन वर्मा

* राजस्थान रिसर्च सोसायटी कलकत्ता का त्रैमासिक मुखपत्र।

(सं० वीसलदेव रासो) ने भाट बतलाया है पर ग्रन्थकार अपने को व्यास एवं ज्योतिषी (जोइसी–वर्तमान जाति जोसी) बतलाता है जो ब्राह्मण हैं।

५—छन्द-संख्या की न्यूनाधिकता एवं पाठभेद आदि पर विचार करने पर ग्रन्थ प्रथम मौखिक रूप से रहा होगा, पीछे से लिखे जाने से पाठ में गड़बड़ी अधिक होगयी।

६—ग्रन्थ की वर्त्तमान भाषा राजस्थानी (बोलचाल की) है एवं १३ वीं शताब्दी जितनी प्राचीन नहीं है। विषय प्रेम है।

—अगरचन्द नाहटा

प्रसादजी का एकांकी : 'एक घूंट'

(इस छोटे लेख में लेखक महोदय ने एकांकी नाटक का इतिहास देकर यह सिद्ध करना चाहा है कि प्रसादजी यद्यपि सफल नाटककार थे किन्तु सफल एकांकीकार न थे। लेखक की राय में प्रसादजी का एक घूंट एकांकी न होकर एक संवादात्मक निबन्ध है, लेकिन प्रश्न यह है कि उसमें जो भावुकता का अंश है वह भी क्या निबन्ध या केवल संवाद के अन्तर्गत आयगा।

—सम्पादक

एकांकी नाटकों की परम्परा बीसवीं सदी की देन है। इस कथन में सत्यांश है मगर पूर्ण सत्यता नहीं। यों तो हम कह सकते हैं कि इन एकांकी नाटकों का स्वरूप हमारे आचार्यों द्वारा वेद-रचनाकाल से ही निर्धारित कर दिया गया था। भारतवर्ष में नाटकों की प्राचीनता निर्भ्रान्त रूप से सिद्ध है। ऋग्वेद में इसके उल्लेख मिलते हैं। अग्नि-पुराण में भी नाटकों की चर्चा है। इसी समय रचित काव्य-ग्रन्थों में नाटक के विभाजन मिलते हैं, जिसमें प्रधानतः ये हैं—भाण, व्यायोग, अंक, प्रहसन, वीथी, इत्यादि। ऊपर के सभी शब्द एकांकी नाटक के स्वरूप के द्योतक हैं। 'भाण' में परिहास पूर्ण धूर्तता का प्रदर्शन होता है। 'व्यायोग' में एक ही अंक होता है और पुरुष पात्रों की बहुलता होती है। इसके अतिरिक्त 'गोष्ठी', 'काव्य-प्रेक्षण', 'रसिक', 'श्रीमोदित', 'विलासिका' सभी अपनी विशेषता रखते है, पर सभी एकांकी नाटक हैं। यह तो हुआ एकांकी नाटक का स्वरूप भारतीय साहित्य के अनुसार।

यूरोपीय साहित्य में एकांकी नाटक का इतिहास और उसकी प्रगति अपना एक महत्व रखती है। एकांकी नाटक के स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा सब से पहले कामेडिया-डेल-आर्टी (Commedia-Dell-Artie) में दिखाई देती है। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में एकांकी नाटकों का स्थान साहित्य में बड़ा ही महत्वपूर्ण था। एलिजबेथ युग में बड़े-बड़े नाटकों के बीच में गर्भाङ्क (Interlude) के रूप में भी एकांकी नाटकों की अवतारणा हुई है। इसका विशेष प्रयोजन नाटकों की विषाद पूर्ण मेघमाला में हास्य एवं मनोरंजन की सुनहली रेखा खचित कर देना था। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में यह व्यवस्था सदा पायी गयी है। विक्टोरियन काल में इसका बहुत प्रचार था परन्तु आजकल के एकांकी नाटकों से इनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। आजकल का एकांकी प्राचीन पद्धति से एकांकी होकर प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। इस अपने एकांकीपन से ही वह प्रतिक्षण निखर और बिखर रहा है। आज बीसवीं सदी में तो यह अपनी परिपूर्णता के कारण अन्य साहित्यांगों से आगे निकल जाना चाहता है। इस परिपूर्णता की ओर संकेत करने वाले (D. H. Lawrence) डी० एच० लारेंस तथा स्टिलवेल (Stilwell) हैं।

एकांकी में हमारा लक्ष्य निश्चित होता है। एक समस्या तथा एक घटना ही प्रधान रहती है और उसमें वेग काफी रहता है। एकांकी में फाजिल कथोपकथन, मुहावरे बाजी इत्यादि का स्थान नहीं रहता है।

अब 'प्रसादजी' की 'एक घूंट' की समीक्षा करना अनिवार्य है। प्रसादजी हिन्दी के मौलिक नाटककार हैं। उनके नाटकों का स्थान हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय है। भारतेन्दु ने तो नाटक-रचना की नींव ही डाली थी, पर 'प्रसादजी' ने इसे पुष्पित और पल्लवित किया। पर प्रसादजी ने अपने नाटकों में शास्त्रीय परम्परा का ही पालन किया है। उनके अधिकांश नाटकों में (विशेषतः प्रारम्भिक) हम शास्त्रीय पद्धति का अवलम्बन पाते हैं। सूत्रधार का

आगमन होता है, उसके पश्चात् नेपथ्य की योजना की जाती है—इस प्रकार प्रायः संस्कृत नाटकों का हूबहू चित्रण करते हैं। पर युग की छाप कलाकार की कृति पर पड़ती है, उसकी वाणी में युग की अन्तरात्मा बोलती है और उस वाणी-वारिद से जो अमृत-वर्षा होती है उसके रिमझिम में युग निहाल हो जाता है। धीरे-धीरे उनके नाटकों में अंकों की सजावट अधिक सुन्दरता एवं लघुकलेवर में ही होने लगी। इधर एकांकी नाटकों का प्रचार बढ़ने से उन्होंने इस ओर पैर बढ़ाया। उसके फलस्वरूप था एक घूंट।

प्रसादजी अपने अन्य नाटकों में इतिहास का साथ नहीं छोड़ सके हैं। सभी नाटकों में इतिहास का स्थान सर्व प्रथम है, तब किसी अन्य का। अपनी कृतियों के उद्देश्य का कथन लेखक ने स्वयं लिखा—'इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श-संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है—(विशाख)। ऐसी रचनाएँ जिनमें इतिहास का स्थान नहीं, वे क्रमशः 'एक घूंट' और 'कामना' है।

'एक घूंट' को आन्योपदेशिक (allegorical) एकांकी कहना चाहिये। इस कृति का स्वरूप तो नाटक-सा है, पर यथार्थ में यह एक संवादात्मक लेख जंचता है। आद्योपांत एक ही प्रतिपाद्य विषय है। इसी विषय को ले कर भिन्न भिन्न पात्रों में कथोपकथन चलता है। नाटकीय पद्धति पर लिखे जाने के कारण उसमें दो चार गानों का भी समावेश हुआ है। पर इन सभी बातों के रहने पर भी बातें इस प्रकार कही गई हैं कि मालूम होता है कि विषय शृंखला की कड़ियाँ जोड़ी गई हों अथवा प्रश्नोत्तरी विधान द्वारा बात कही जारही हो। यही कारण है उनमें सजीवता एवं सरसता नहीं है।

सारा नाटक एक अंक और एक दृश्य में सीमित है। प्रारम्भ में वनलता के शब्दों में ही प्रश्न उठता है, आकर्षण किसी को बाहुपाश में जकड़ने के लिए प्रेरित कर रहा है। इस संचित स्नेह से यदि किसी रूखे मन को चिकना कर सकती।' इसी प्रश्न का समाधान संपूर्ण नाटक में होता है। अंत में इसकी प्राप्ति वनलता को होती है। जहां झाड़ूवाला और उसकी स्त्री में विवाद समाप्त होता है और दोनो एक होकर घर जाते हैं। उसी समय वनलता को भी अपने प्रश्न का उत्तर मिल जाता है।

संपूर्णनाटक में व्यंग्य की मीठी छुरी वर्त्तमान है। पाश्चात्य सभ्यता हमारे ऊपर अपनी गहरी छाप छोड़ गई है। हम अपने समाज का निर्माण उसी ढंग पर करते हैं। इसलिए आजकल उसी की छाप लिए हमारे समाज में अनेकानेक सभा सोसाइटियां हैं जिनमें मानवता जीवन इत्यादि की व्याख्याएँ विचित्र प्रकार से की जाती हैं। कहीं कहीं विश्वबंधुत्व को नया रूप दिया जाता है। कहीं जीवन का सार सत्य-शिव-सुन्दर में स्थापित किया जाता है। पर ये सभी सिद्धान्त ऐसे हैं जो केवल सिद्धान्त मात्र हैं; उनके कार्यरूप में परिणत होने की कोई आशा नहीं है। इसी प्रकार के संघों, और आश्रमों का चित्र खींचकर 'प्रसादजी' ने वर्त्तमान समाज के अभ्यंतर खोखलापन को दर्शाने की चेष्टा की है।

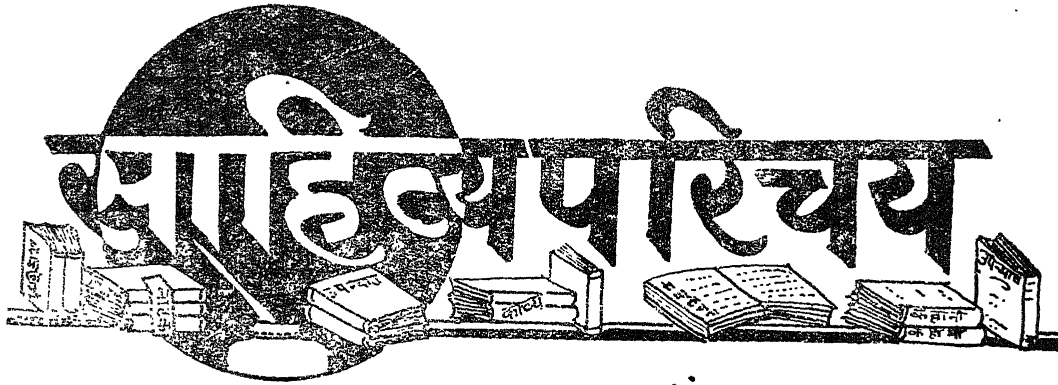
विषयः—इस नाटक का प्रधान विषय है जीवन का लक्ष्य सुलझाना। जीवन क्या है? इस पर न जाने कितने विद्वानों ने अपनी रायें प्रकट की है। पर उनमें प्रायः सभी सिद्धान्त ऐसे होते हैं जो सुनने में बड़े मनोहर हैं पर उन्हें कार्यरूप में परिणत करना पूर्णतया असंभव है। संसार के लिए कोई आदर्श तभी मंगलमय हो सकता है जब सिद्धांत और व्यवहार में पूर्ण सांमजस्य हो। लेखक ने इसी प्रश्न को उठाया है। आदर्शवादी का आदर्श और जीवन के व्यवहारवाद में कितनी भिन्नता है। यही दिखलाना लेखक चाहता है। दूसरी विचार धारा जो लेखक उपस्थित करता है वह है—स्त्री और पुरुष। नारी हृदय-पक्ष की प्रतिनिधि है और पुरुष मस्तिष्क और बुद्धि-पक्ष का। मनुष्य की संम्पूर्णता दोनों के सामञ्जस्य एवं सन्तुलना में है। जब किसी एक की वृद्धि होती है तो दूसरा पक्ष प्रति क्रिया करता है और फिर दोनों एक सतह पर चले आते हैं।

चरित्र-चित्रण—इस नाटक में आनन्द का चरित्र प्रधान है। वह आदर्शवादी है। वह केवल कोरी कल्पना करना जानता है। वह यह नहीं जानता कि उसके विचार व्यावहारिकता की ठोस भूमि पर कितनी देर तक टिक

सकता है। वह स्वतन्त्रता चाहता है। उसका विचार है कि यदि स्वतंत्र आत्मा को बन्दीगृह में डाल दें तो उसका 'स्वास्थ्य, सौन्दर्य और सरलता नष्ट हो जाती है।' वह सब दुःखों का कारण 'प्रेम की परधि को संकुचित करना' ही बतलाता है। वह निर्मोह प्रेम का पुजारी है। 'सबसे एक घूँट पीते-पिलाते नूतन जीवन का संचार करते चल देना—यही उसका सन्देश है। पर वनलता उसके आदर्श को कोरी कल्पना बतलाती है और तब उसे अपनी भ्रान्ति का सन्देह जाता रहता है।

रसाल—पहले एक भावुक कवि था पर आनन्द के सिद्धान्त से प्रभावित हो वह भी दुःखवाद का समर्थन करने लगता है। इससे यह पता चलता है कि किस प्रकार कविता भी सिद्धान्तों के खोखलेपन से प्रभावित होती है। वनलता और प्रेमलता हृदयपक्ष की प्रतिनिधि है। चँदुला और झाड़ू वाला जीवन की व्यावहारिकता के मापदण्ड हैं।

इस प्रकार पूर्णतया देखने पर प्रसादजी एकाङ्की नाटक की रचना में असफल से दीखते हैं। इससे पता चलता है कि इतिहास की पृष्ठभूमि छोड़ते ही प्रसादजी के पैर फिसलने लगते हैं। उनके नाटक एक संवादात्मक निबन्ध से प्रतीत होते हैं। —शारदाप्रसाद



कविता

वल्लरी—रचयिता-श्री मुरलीधर श्रीवास्तव 'शेखर', प्रकाशक–ग्रन्थ-माला कार्यालय, बाँकीपुर। पृ० सं० ८०, मूल्य १।)

अलग-अलग ५२ शीर्षकों के इस कविता-संग्रह में रचयिता ने अपने रसिक-हृदय-जनित उद्गार प्रगट किये हैं। प्रेम लीला के कितने ही दृश्य होते हैं। मिलन, विरह, प्रणय, दर्शन, यौवन, मुसकान आदि कितने नाम और शीर्षक हैं जो शृंगार रस की परिधि के अन्दर आते हैं। लेखक ने इन सब पर लिखा है, पर उनका प्रेम-रस प्रेयसि के पार्श्व-बन्धन मुक्त से ऊँचा नहीं उठ पाया है। उसमें वियोग की पीड़ा और मिलन का स्वप्न ही अधिक है फिर भी कितने ही छन्द इस प्रकार की कविता के सुन्दर उदाहरण हैं। जैसे 'मुसकान' में—

अरुण पल्लव से अधर पर
मन्द मृदु मुसकान रेखा।
खेलती हो नव गुलाबी
बादलों पर चन्द्र लेखा॥
हँस पड़े, नव राग बिखरे,
तनुलता के फूल सिहरे।
आज जग ने इस हृदय में
इन्द्र धनु का रंग देखा॥

कवि के नैसर्गिक भावों का सहारा पाकर कई कविताएँ जहाँ इतनी सुन्दर हैं वहाँ कुछ छन्द बहुत साधारण कोटि के भी हैं।

श्री छत्रसाल शतक—रचयिता-ठा० रैवतसिंह भाटी, प्रकाशक–हितैषी पुस्तक भण्डार, उदयपुर (मेवाड़)। पृष्ठ ४६, मूल्य ।=)

मध्यकालीन भारत के सुप्रसिद्ध महाराजा छत्रसाल का नाम भारत के इतिहास में ही नहीं, कवियों की वाणी में भी आलोकित हो चुका है। शिवाजी के गुण के लिए भूषण की शिवा बावनी जैसे प्रसिद्ध है इसी प्रकार महाराजा छत्रसाल की प्रशंसा में मतिराम की कविता प्रसिद्ध है।

इस पुस्तक में लेखक ने उसी प्रणाली का अनुसरण किया है। यहाँ तक कि छन्द और भाषा में भी पुराने आदर्श का पालन किया गया है। गीतों के इस युग में इस प्रकार की कविताओं का चलन उठ सा गया है, किन्तु प्राचीन गौरव की स्मृति और वीररस के आनन्द के लिये छत्रसाल-शतक की कविता का मान होगा। —र०

कविता

फाँसी—लेखक-श्री रघुवीरशरण मित्र; प्रकाशक-अ० भा० राष्ट्रीय साहित्य-प्रकाशन परिषद, मेरठ। पृष्ठ १७६, मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक में १६०८ से लेकर आज तक देश की स्वतन्त्रता के लिए फाँसी पर चढ़ने और बलिदान होने वाले कुछ लोगों की कहानियाँ अतुकान्त पद्यबद्ध करने की असफल चेष्टा की गयी है। कहानियों को पढ़कर नवयुवक हृदयों को देश के नाम पर मर मिटने वालों का संक्षिप्त परिचय भले ही मिल जाय पर पुस्तक में काव्य ढूँढने वाले को निराशा ही होगी—

दोषी की हत्या के हेतु
चल पड़े सैनिक दो,
आये मुजफ्फरपुर,
ठहरे सराय में,
ढूँढने निकले पथ,
गोला सिराने का
खून के बदले का।

पुस्तक की सारी पंक्तियाँ इसी ढंग की हैं। और इन्हीं पंक्तियों के बल पर पुस्तक को कविता-पुस्तक कहलाने का दावा है। पर उसे कविता का नाम देना कविता का उपहास और अपमान करना होगा। अधिक अच्छा होता यदि इस प्रकार का व्यर्थ प्रयास न कर लेखक ने इन कहानियों को गद्य में लिखा होता। उस समय उसका श्रम और उद्देश्य अधिक सफल होता। इतना होते हुए भी पुस्तक की एक वस्तु सराहनीय अवश्य है वह है पुस्तक की छपाई और गेट अप। उसी के बल पर शायद पुस्तक का मूल्य तीन रुपये रखा गया है। —परमेश्वरीलाल गुप्त।

कहानी

कच्चा धागा—लेखक-श्री द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' प्रकाशक-शिक्षा-सदन, गोबर्द्धन सराय, बनारस। मूल्य २)

प्रस्तुत पुस्तक में निर्गुणजी की चार कहानियाँ हैं। प्रायः सभी कहानियाँ एक ही भाव की हैं; उनमें करुणा, वियोग और असफल प्रेम की टीस है। उनमें सामाजिक जीवन के एक पहलू का चित्र हमारे सामने आता है और एक प्रश्नवाचक चित्र खड़ा हो जाता है जिसका समाधान कहानी के अन्दर नहीं मिलता। अतः वे लेखक द्वारा अंकित एक मार्मिक चित्र बन कर रह जाती हैं, पाठक को किसी निर्णय की ओर नहीं ले जाती। अपनी कला की खूबी प्रकट करने को सम्भवतः लेखक ने यह दृष्टिकोण रक्खा है। पुस्तक की प्रथम दो कहानियाँ 'दो अध्याय' और 'हृदय का घाव' के अन्दर यह बात पाई जाती है। 'कच्चा धागा' में मास्टर और हरिप्यारी के बीच का सम्बन्ध बड़े ही सुन्दर ढंग से दिखाया गया है। किन्तु यहाँ भी वह बड़ा प्रश्नवाचक उत्तर की प्रतीक्षा में खड़ा रहता है। अपने क्षेत्र की ये कहानियाँ सुन्दर कही जा सकती हैं। पुस्तक का मूल्य अधिक है।

मिट्टी की दुनिया—लेखक-श्री महेशचरण जौहरी-'ललित', प्रकाशक-वर्द्धमान साहित्य-मन्दिर अमीनुद्दौला पार्क, लखनऊ। पृष्ठ सं० १०३, मूल्य १।)

इस पुस्तक में सात कहानियाँ हैं। प्रत्येक कहानी में छिपा हुआ एक उद्देश्य है। लेखक ने प्रेम विषय पर लिखी जाने वाली कहानियों से भिन्न दृष्टिकोण अपनाया है। वे यथार्थ घटनाओं के चित्र मालूम होती हैं। इसीलिये कई कहानियाँ तो बहुत साधारण सी लगती हैं। पाठक के हृदय पर कहानी का उतना असर नहीं होता जितना उस घटना का, स्वयं लेखक के ऊपर है। उदाहरणार्थ 'बालापन के साथी' शीर्षक कहानी। इसी प्रकार 'दो कम पचहत्तर' शीर्षक कहानी एक घटना का नग्न चित्र मात्र रह जाती है, कहानी कला के गुण उसके अन्दर नहीं आ पाये हैं। लेखक की वर्णनशैली प्रवाहयुक्त है, इसलिये साधारण घटनाओं के वर्णन में उन्होंने लालित्य ला दिया है।

चवन्नी वाले—लेखक, सन्तोषनारायण नौटियाल, प्रकाशक–निष्काम प्रेस मेरठ। पृ० सं० १५४, मूल्य १॥)

लेखक की तेरह कहानियों का यह संग्रह है। कहानियाँ छोटी-छोटी और रोचक हैं। इन कहानियों में लेखक ने जीवन के विभिन्न पहलुओं का चित्र खींचा है और चरित्र-चित्रण में लेखक ने काफी सफलता प्राप्त की है। सुहागरात में प्रेमी की मनोदशा का चित्र इसका प्रमाण है। निम्न श्रेणी के लोगों के साथ लेखक की सहानुभूति है। उनके अवगुणों का चित्र प्रस्तुत करने के साथ साथ वह उनके गुणों को तरजीह देता है। तभी 'चवन्नी वाले' में लफंगा इस्माइल एक भिखारी की दृष्टि में उस भद्र पुरुष से अच्छा है जो ऊँचे दिमाग की बात करना जानता है और भूखे के लिये जिसके हृदय में दया नहीं। इसी प्रकार जूते की पालिश करने वाले के झूठ में लेखक सत्य के दर्शन करता है। भाषा प्रवाहमय है, छपाई सफाई अच्छी है।

नरक का कीड़ा—लेखक–श्री अरुण। प्रकाशक–निष्काम प्रेस मेरठ। पृ० सं० १४१, मूल्य १॥)

लेखक के ये भाव-चित्र हैं, जिन्हें कहानियों का रूप दिया गया है। घटना में विस्तार कम, भाव-चित्रण अधिक है। इस पर कहानियाँ सुन्दर बन पड़ी हैं और पाठक के हृदय पर प्रभाव डालती हैं। 'नरक का कीड़ा' आजाद हिन्द फौज का सिपाही बनकर यह सिद्ध करता है कि मनुष्य की अनैतिकता और सदाचार, क्षुद्रता और बड़प्पन परिस्थितियों का तकाजा है। अन्य कहानियों में भी समाज के इस द्वन्द का चित्र आता है। किन्तु लेखक की कलम जीवन की कई दिशाओं में दौड़ लगाती है। 'अमृत और विष' में प्रेम और मर्यादा का ही नहीं स्त्री-जाति की मनोवैज्ञानिक स्थिति का भी चित्र आ जाता है। 'हृदय का द्वन्द' में भी इस भाव की झलक मिल जाती है। देश की नई से नई हलचल को भी लेखक ने कहानी के अन्दर लाने की चेष्टा की है, जैसे 'काया-पलट' में। पर सभी कहानियों के चित्र समान रूप से कसौटी पर खरे उतर सके हैं, ऐसा हम नहीं मानते। यह पुस्तक भी कहानी-साहित्य में नई दिशा को ओर इंगित करने वाली है।

—र०

नाटक

कर्ण—लेखक-सेठ गोविन्ददास, प्रकाशक–विद्या-मन्दिर, मुरार। पृष्ठ १२६, मूल्य २)

यह महाभारत के प्रसिद्ध कथानक पर आश्रित नाटक है। इस नाटककार ने यह माना है कि प्रसिद्ध वृत्तों पर लिखने वाले नाटककार को मूल वृत्त में हेरफेर करने का अधिकार नहीं, वह उनकी व्याख्या में ही अपनी स्वतन्त्र-मेधा का उपयोग कर सकता है। इसी नियम की रक्षा करते हुए लेखक ने नाटक में कई अलौकिकताओं को आश्रय दिया है। जैसे कर्ण का सूर्य से उत्पन्न होना, उसके कुण्डल-कवच का दिव्य होना, द्रौपदी की साड़ी का बढ़ जाना, सुरपति का कर्ण को अमोघ अस्त्र देना आदि। ऐसी अलौकिकताओं का प्रदर्शन कराने के लिए उसे सिनेमा-कला के प्रभावों को अपनाना पड़ा है और स्थान-स्थान पर यह संकेत करना पड़ा है कि यह दृश्य चित्रपट पर ही दिखाया जा सकता है। विषय की दृष्टि से 'कर्ण' के द्वारा लेखक ने व्यक्ति के वर्ण-जाति आदि की अपेक्षा कर्म और गुणों का सम्मान कराया है। कर्ण सूत थे फिर भी उनका आदर हुआ। लेखक ने यह भी प्रदर्शित किया है कि कर्ण में अर्जुन तथा कृष्ण दोनों के गुण विद्यमान थे। इस प्रकार सेठ गोविन्ददासजी का यह नाटक पौराणिक कथानक की नयी व्याख्या देता है। हाँ यह मानना पड़ेगा कि इसकी व्याख्या का रूप कर्तव्य में 'राम' और 'कृष्ण' की व्याख्या से दुर्बल है फिर भी पठनीय है। —स०

राजनैतिक

भारत का भाग्य—लेखक—श्री सिरिल मोडक, संपादक–श्री रामनाथ सुमन, प्रकाशक—साधना सदन इलाहाबाद। पृष्ठ १४८, मूल्य १॥।)

भारत का भाग्य सूर्य अभी गृह-कलह के धूमिल वातावरण से घिरा हुआ है। मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की। सदियों के प्रयत्न, पीढ़ी दर पीढ़ी की अर्जित संपत्ति जो इस विशाल राष्ट्र को एक सूत्र में बांधने, सांप्रदायिक संकीर्णता को दूर करने और राष्ट्रीय स्वत्व विजय करने के लिए थी, आज के हालात को देखकर मालूम

पड़ता है, वह निष्फल प्रयत्न था, उसमें कोई भारी भूल थी। "भारत का भाग्य" का लेखक अपनी पुस्तक में इन संदेहों का निवारण करते हुये, अतीत के प्रमाण, तथा वर्तमान की प्रगति का सबूत देकर भारत में विभिन्न संस्कृतियों का समिश्रण होता है, हिन्दू और मुसलमान इन दो संस्कृतियों में सामञ्जस्य और एका करने के प्रयत्न होते रहे हैं, ये प्रयत्न एक ही दिशा में नहीं, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, राजनैतिक सभी क्षेत्रों में हुये हैं। वर्तमान आर्थिक समस्यायें और उनके हल पेश करने वाली, प्रयत्नशील क्रांतिकारी शक्तियां भी उसी दिशा की ओर हमें ले जारही हैं, फिर भी मार्ग के रोड़ों का अवसान नहीं हुआ, देश का असम्प्रदायीकरण और जाति-प्रथा का उन्मूलन लेखक की दृष्टि में रोग का एक खास इलाज है। जो सही है। आवश्यक नहीं कि लेखक के प्रत्येक दृष्टि कोण से हमारा साम्य हो पर जिस मननशीलता, विद्वत्ता, गवेषणा और भारत के हित-कामना की दृष्टि से लेखक ने यह पुस्तक लिखी है वह अपने जोड़ की एक ही है। 'प्रारंभ' में लेखक ने एक सुन्दर आख्यायिका का सृजन कर 'रोग और उसके इलाज' का सुन्दर परिचय दे दिया है। "सब के लिये स्वतंत्रता,' ' 'सब स्वतंत्रता के लिये "लेखक के इस नारे में पुस्तक का सार और उद्देश्य गर्भित है।

विजय पथ—मूल लेखक—श्री जौन रस्किन, अनु० श्री रामनारायण विजयवर्गीय। प्रकाशक—साधना सदन इलाहाबाद, पृ० सं० १४६, मूल्य १॥)

आंगल भाषा के परम विद्वान, विचारक तथा महान आत्मा जॉन रस्किन की "क्राउन आंव वाइल्ड ओलिव" पुस्तक का यह अनुवाद है। रस्किन के विचार क्रांतिकारी हैं जो उन्नीसवीं सदी के पूंजीवादी दुर्ग पर अपनी कलम के कुठार का प्रहार करता है। इस पुस्तक में उनके विचार तीन खंडों में विभक्त हैं। पहले अध्याय में पूंजीवाद और उससे उत्पन्न बुराइयों, शोषण, अत्याचार, श्रमिकों की दशा आदि का मार्मिक वर्णन फिर कर्म की महत्ता, न्याय, सत्य, प्रेम और सच्चे जीवन का ढंग बतलाया है। दूसरे अध्याय में कला का सुन्दर विवेचन, स्थापत्य कला का महत्व तथा कला के स्वस्थ महान का दिग्दर्शन कराने के साथ धर्मान्धता की पोल और पुरोहितों के पाखंडों का भंडाफोड़ किया है। यहां भी वह पूंजीपतियों की बुरी तरह खबर लेता है। अंतिम भाषण में उसके कला और युद्ध का संबंध, युद्ध का अर्थ और कारण, आवश्यकता तथा उसकी भलाई बुराइयों का विवेचन किया है। रस्किन के विचारों का महात्मा गांधी पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। पाठकों के लिये वह मनन और अध्ययन की चीज है। अनुवाद में मूल भावों की पूर्ण रक्षा की गई है। —र०

स्फुट

सम्पत्ति का राजमार्ग अथवा विचार-शक्ति का चमत्कार—लेखक-श्री दास और रावी, प्रकाशक-साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा। पृ० सं० ८३। मू० ।॥)

मनोविज्ञान पर हिन्दी में यह एक नई और उपयोगी पुस्तक निकली है है। मनुष्य के अन्दर कौनसी शक्तियाँ काम करती हैं, उन शक्तियों का विकाश और संगठन किस प्रकार हो सकता है, जिससे बड़े से बड़ा और कठिन से कठिन कार्य भी मनुष्य के लिये हस्तामलक होजाय—उसे मन चाही सिद्धि प्राप्त होजाय, इसका उत्तर इस पुस्तक में मिलेगा। विचारशक्ति के चमत्कार, चाह, सङ्कल्प, कल्पना, एकाग्रता की शक्ति और उससे कार्य-विधान की उत्पत्ति इन बातों को समझ कर ही मनुष्य-जीवन में पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकता है। जीवनोद्देश्य को प्राप्त करने और निश्चित ध्येय तक पहुँचने के लिये मनुष्य को सर्वप्रथम अपनी शक्ति का ज्ञान होना चाहिये। उसके अन्दर अतुल और अथाह शक्ति छिपी हुई है। इस शक्ति का भण्डार उसका मस्तिष्क मनाकाश है। यदि हम उसका ठीक उपयोग समझें तो फिर लक्ष्मी हाथों में खेलने लगेगी। यह पुस्तक इन बातों को समझाने में सहायक सिद्ध होगी। आरम्भ में बा० गुलाबरायजी की विद्वत्तापूर्ण भूमिका पुस्तक के महत्व को और भी बढ़ा देती है।

—र०

सम्पादकीय

प्रगतिवादियों से विनम्र निवेदन—

जुलाई मास के 'साहित्य-सन्देश' में विचार-विमर्श' स्तम्भ के अन्तर्गत श्री महेन्द्रकुमार मानव द्वारा लिखा हुआ 'प्रगतिशील लेखक किधर' शीर्षक एक छोटा सा नोट छपा था। उसके नीचे दो पंक्तियों की सम्पादकीय टिप्पणी भी छपी थी। उसके सम्बन्ध में मेरे दो प्रगतिवादी मित्रों (डा० रामविलास शर्मा तथा श्री कान्तिचन्द्र सोनरिक्सा) ने आपत्ति की है कि ऐसा लेख 'साहित्य-सन्देश' में क्यों छापा गया। सोनरिक्साजी ने तो इसमें कुछ राजनीतिक द्वेष की भी गन्ध पाई।

हम सौनरिक्साजी तथा अन्य सज्जनों को जो उनके विचार के हों यह आश्वासन दे सकते हैं कि साहित्य-सन्देश राजनीतिक प्रभावों के चक्कर से बाहर रहता है। शुद्ध साहित्य-समीक्षा संबन्धी प्रगतिवाद, मानवतावाद, छायावाद आदि सभी वादों के पक्ष और विपक्ष के लेख छापता है। प्रगतिवाद की दैन (साहित्य का जीवन से सम्पर्क) को स्वीकार करते हुए वह उसका आदर करता है किन्तु वह आदर उस अन्ध-भक्ति की कोटि तक नहीं पहुँचा है जो यह कहता है—'हरि गुरु निन्दा सुनै जु काना। पाप होइ गऊ घात समाना॥' वह स्वस्थ समीक्षा के प्रचारक के नाते 'दोषा वाच्या गुरोरपि' में विश्वास करता है। विचार-विमर्श के स्तम्भ के नोट इसीलिए होते है कि यदि उनसे कोई सहमत न हो तो उनका उत्तर प्रत्युत्तर दिया जा सके। उत्तर प्रत्युत्तर में हम व्यक्तियों पर आक्षेप नहीं चाहते वरन् सद्भावना के साथ सिद्धान्तों के पक्ष-विपक्ष में विचार का स्वागत करते हैं।

इस विशेष नोट के सम्बन्ध में हमारा इतना ही निवेदन है कि लेखक ने प्रचलित प्रगतिवाद की पारिभाषिक परिभाषा देते हुए लिखा है 'आज प्रगतिशील साहित्य से हम क्या समझते हैं तथा प्रगतिशील लेखक किनको कहते हैं? जिनमें किसानों और मजदूरों का वर्णन हो, Sex को नये रूप में प्रस्तुत किया गया हो तथा जो रूसी साहित्य से प्रभावित हो—आज हम उसी को प्रगतिशील साहित्य की संज्ञा देते है। लेकिन मैं पूछता हूँ कि क्या इतने में ही संसार की सब समस्याएँ समा गईं?'

मैं यह मानता हूँ कि प्रगतिवाद में इन तीनों बातों के अतिरिक्त भी कुछ हो सकता है किन्तु वह इतना प्रकाश में नहीं आया है जितनी कि ये तीन बातें। लेखक ने जो रूस के प्रति अन्ध-श्रद्धा-भक्ति की बात लिखी है उसके लिए हम यही कह सकते हैं कि अभी तक प्रगतिवादी लेखकों की कलम से रूस की कोई बुराई की बात मैंने (मेरा अध्ययन विस्तृत नहीं है) नहीं देखी है और यह भी नहीं कहा जा सकता है कि रूस सब बातों में निर्दोष है। यह हम स्वीकार करते हैं कि रूसी लेखकों से हमारे लेखकों ने बहुत-सी प्रेरणा ग्रहण की है किन्तु साथ ही अंग्रेजी लेखकों से भी उनको अपनी रचनाओं के लिए सामग्री मिली है। फिर एक ही देश का विशेष स्तवन क्यों?

दुनियाँ में एक ही राजनीतिकवाद नहीं है। किसी एक ही वाद से अपना तादात्म्य कर लेना प्रगति के विरुद्ध है। प्रगतिवादी चाहे स्वीकार न करें; प्रगतिवाद में जो प्रगति हो रही है अर्थात् थोड़ा-बहुत मत-परिवर्तन हो रहा है उसका स्वागत करता हूँ। विचारों में संशोधन सच्ची प्रगति है। यदि जो आक्षेप लेखक ने किये हैं प्रगतिवाद में नहीं हैं तो हम यह कहेंगे कि बहुत अच्छी बात है। और यदि हैं तो उनको दूर करने का प्रयत्न किया जाय अथवा उनको मान्य समझने के लिए युक्ति और तर्क उपस्थित किये जाँय।

रवि बाबू के सम्बन्ध में जो बात लिखी गयी है यदि सत्य है (और मैं उसके सत्य होने के खिलाफ कोई बात नहीं पाता) तो वह प्रगतिवाद के संकुचित दृष्टिकोण पर अवश्य प्रकाश डालता है। यह सम्भव हो सकता है कि जिन भाईसाहब ने यह कहा हो कि रवीन्द्र की कविता में क्या धरा है वे सच्चे प्रगतिवादी न हों।

प्रगतिवाद ने जो रूस के गीत गाये हैं वह इसलिए मान्य है कि वहाँ से एक विचारधारा मिली है किन्तु उन गीतों के साथ जन-साधारण के हृदय का प्रतिस्पन्दन नहीं होता है। प्रगतिवाद यदि जन-रस (Callective emotion) में विश्वास करता है तो उसको रूस की लाल सेना के अतिरिक्त और कोई देशी आलम्बन ढूँढना चाहिए। 'लाल रूस का दुश्मन, साथी दुशमन सब इन्सानों का; दुशमन है सब मजदूरों का दुशमन, सभी किसानों का' की अपेक्षा हम यह सुनना अधिक पसन्द करेंगे 'कि दुशमन साम्यवाद का दुशमन दुशमन सब इन्सानों का'। एक देश की प्रशंसा की अपेक्षा एक वाद की प्रशंसा अधिक श्रेयस्कर है। साम्यवाद का भी भारतीय-करण आवश्यक है। मानवता के नाते हम भी किसान-मजदूरों के उतने ही पक्ष में हैं जितना कि प्रगतिवाद। किन्तु हम किसान-मजदूरों की दयनीय दशा के चित्रण की सराहना करते हुए भी मानवता के अन्तर्गत और भी बातें चाहते हैं, वे हैं संघर्ष की कमी, पारस्परिक सद्भावना, शिष्टता, शालीनता और मानवतापरायण एवं विनयपूर्ण धर्म। धर्म में बुराई है और धर्म के नाते अत्याचार भी हुए हैं किन्तु उनके कारण हम धर्म का समूल नाश नहीं चाहते हैं। भुसी के साथ गेहुँओं को नहीं फटकना चाहते हैं। 'श्वानों को मिलता दूध वस्त्र भूखे बालक अकुलाते हैं' इन मार्मिक चित्रणों का हम स्वागत करते हैं फिर भी मानवता के नाते हम संघर्ष को न्यूनातिन्यून चाहते हैं।

गांधीवाद में दोष हों किन्तु उसमें तथ्य भी है। उनको हम उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखना चाहते। आजकल के जो प्रगतिवादी उपन्यास हैं उनमें उसके तथ्य की उपेक्षा की जाती है। हम साहित्य को किसी भी वाद विशेष से बाँधना नहीं चाहते हैं। विचार-स्वातन्त्र्य के नाते हम प्रगतिवाद का भी उतना ही स्वागत करते हैं जितना कि गान्धीवाद का। और यही हम अपने प्रगतिवादी मित्रों से चाहते हैं कि वे वास्तविक मतभेद का हृदय से स्वागत किया करें उससे विचलित न हुआ करें। अपने दोष-दर्शक को वे अपना मित्र समझें।

एच० जी० वेल्स का स्वर्गवास -

अंग्रेजी भाषा के प्रसिद्ध उपन्यासकार तथा इतिहासज्ञ एच० जी० वेल्स के स्वर्गवास का हाल सुनकर बहुत दुख हुआ। यद्यपि उन्होंने अंग्रेजी साहित्य की श्री वृद्धि की थी तथापि साहित्यिक के नाते हमको उनके परिवार के साथ हार्दिक सहानुभूति है। उनका दुनिया का इतिहास सभी देशों में आदर की दृष्टि से देखा जाता है और उन्होंने जो अपने उपन्यास में भविष्य का हाल कहा था वह बहुत-कुछ चरितार्थ हो रहा है। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

श्री निवास दास पुरस्कार—

ब्रज-साहित्य-मण्डल के तत्वावधान में (सेठ रणछोड़-दास बल्लभदास अजमेरा द्वारा) संस्थापित १०१) रु० का श्रीनिवासदास पुरस्कार इस वर्ष प्राचीन ग्रन्थों के सुसम्पादित संस्करण एवं स्फुट रचनाओं के संकलन पर प्रदान किया जावेगा। पुरस्कार के लिए अब से ६ वर्ष पूर्व तक की प्रकाशित पुस्तकों पर विचार किया जायेगा।

पुस्तकों की ६ प्रतियाँ मण्डल-कार्यालय, मथुरा में दीपावली के पूर्व भेज दी जायँ।

शोध-कार्यों का संगठित-रूप -

हिन्दी में आजकल शोध का कार्य कई संस्थाओं तथा व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग हो रहा है। यह शोध-कार्य दो प्रकार का है—एक है विशेष अध्ययन करने के लिए तथा विश्व-विद्यालयों से डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त करने के लिए। दूसरा हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का। हम चाहते हैं कि यह दूसरे प्रकार का कार्य विशेष संगठित रूप में प्रगट हो। कोई संस्था यह भार ले कि वर्ष में खोज से प्रकाश में आने वाली समस्त पुस्तकों का एक सामूहिक-विवरण प्रकाशित किया करे। इसमें पुस्तक, उसके लेखक, विषय, संवत, खोज करने वाली संस्था अथवा व्यक्ति आदि का संक्षिप्त अकारादि क्रम से विवरण रहे। इससे हिन्दी-साहित्य का बहुत कल्याण होने की संभावना है।



भाग ८] आगरा—अगस्त १९४९ [अङ्क ४

आलोचना और मनोविश्लेषण

श्री कन्हैया लाल सहल एम० ए०

विकासवाद की भाँति आजकल फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र की सभ्य समाज में दुहाई दी जाती है। फ्रायड के कार्य की महत्ता स्वीकार करते हुए विद्वान् लेखक ने उसकी सीमाएँ निर्धारित की हैं जिसके बाहर उसकी गति नहीं है। इसी के साथ उन्होंने आज कल के उपन्यास साहित्य के रचयिताओं को एक गहरी चेतावनी दी है, वह यह कि जीवन से मनोविज्ञान के सिद्धान्त निकलने चाहिए, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से जीवन नहीं, वास्तव में हो भी यही रहा है कि उपन्यासकार पाश्चात्य समाज में प्रचलित ग्रन्थियों (Complexes) के ढाँचों में भी अतिरिक्त जीवन ढाला जारहा है। आजकल के उपन्यासों में भारत में जबरदस्ती इडीपस कंप्लेक्स (Oedipus complex) अर्थात् माता के प्रति दमित काम-वासना के उदाहरण भी उपस्थित किये जाते हैं, कुछ-कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार रीतिकाल में नायकाओं के उदाहरण। लेखक ने प्रायः फ्रायड के ही सिद्धान्त को लिया है। जिन बातों की व्याख्या फ्रायड से नहीं होती उनकी व्याख्या एडलर के मनोविज्ञान (हीनता-ग्रन्थि) से हो जाती है। शेक्सपियर में हीनता-ग्रन्थि तो अवश्य थी ही और सम्भव है कालिदास में भी हो (यदि विद्योत्तमा वाली किंवदन्ती सत्य है) फिर उपनिषदों की लोक एषणा भी बड़ी प्रबल है। कामवासना को भी हमें व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। भरतमुनि ने कहा है जो कुछ पवित्र है शृङ्गार से उपमा देने योग्य है।

—सम्पादक

प्रकृति के विकास को समझाने के लिए जिस प्रकार डार्विन का नाम लिया जाता है, समाजवाद के संबन्ध में जिस प्रकार मार्क्स का नाम उल्लेखनीय है, उसी प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान और फ्रायड का भी अभिन्न संबन्ध है। अचेतन मन का वैज्ञानिक विवेचन कर मनोविश्लेषण पद्धति को विशद रूप में उपस्थित करने वालों में फ्रायड का नाम ही प्रमुख है। शिक्षा, धर्म आदि अनेक क्षेत्रों में जहाँ मनोविश्लेषण पद्धति का प्रयोग किया गया है, वहाँ फ्रायड ने

कला और मनोविश्लेषण के संबन्ध में भी अपने विचार प्रकट किये हैं। फ्रायड और उसके अनुयायियों की दृष्टि में कला के निर्माण में अचेतन मन का बड़ा हाथ रहता है। बहुत से कवियों ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि वे अंतः स्फूर्ति से प्रेरित होकर काव्यरचना करते हैं—वे तो अनायास लिखते चले जाते हैं, ऐसा जान पड़ता है जैसे वे किसी अदृश्य शक्ति के साथ में साधन मात्र हों। गेटे ने लिखा कि उसकी बहुत सी कविताएँ स्वप्न-तुल्य अवस्था में रात्रि के समय लिखी गई थीं। भावावेश की अवस्था उपस्थित होने पर वह अकस्मात ही चारपाई से उछल पड़ता और शीघ्र ही अपनी मेज के पास पहुँच कर बात की बात में संपूर्ण कविता लिख डालता था। प्लेटो ने भी अन्तःस्फूर्ति के संबन्ध में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं।—"स्वयं काव्य की देवी ही मनुष्यों में अन्तःस्फूर्ति भरती है। .... क्योंकि सभी अच्छे कवि चाहें वे प्रबन्ध-काव्य के रचयिता हों, चाहे गीत-काव्य के, कला की सहायता से सुन्दर रचना नहीं कर पाते; वे तो किसी अदृश्य शक्ति से अभिभूत होकर अन्तःस्फूर्ति प्राप्त किये रहते हैं। होश-हवाश में रहने पर जिस तरह भक्त नृत्य नहीं करने लगते, उसी तरह सुन्दर सुन्दर गीतियों को शब्द-बद्ध करने वाले कवि भी काव्य-रचना करते समय अपने वश में नहीं रहते.... .. कवि तो एक प्रकार की ज्योति है, एक पुनीत वस्तु है — कल्पना के उन्मुक्त पंख फैला कर उड़ने वाला प्राणी।'

मनोविश्लेषण त इस प्रकार की अन्तःस्फूर्ति को अचेतन मन का ही व्यपार मानता है। इसलिए बहुत से मनोविश्लेषण के आचार्यों ने कवि की रचनओं के आधार पर उसके आन्तरिक जीवन के रहस्यों का पता लगाने का प्रयत्न किया है। स्वयं फ्रायड ने कला उद्‌गम कलाकार के दिवास्वप्नों में ढूँढा है। मनुष्य की सब इच्छाएँ पूरी नहीं हो पाती। कलाकार भी प्रतिष्ठा, शक्ति, द्रव्य, यश और स्त्रियों का प्रेम प्राप्त करना चाहता है किन्तु यथार्थ जगत् में जब वह इनको प्राप्त नहीं कर पाता तो कल्पना की सृष्टि कर वह उनको प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि अगर कलाकार अपनी रचनाओं में अतृप्त इच्छाओं का ही प्रदर्शन करता है तो दूसरे क्यों उसकी रचनाओं में दिलचस्पी लेते हैं? बात यह है कि कलाकार अपनी अतृप्त इच्छाओं को आत्म-चरित के रूप में उपस्थित नहीं करता, दूसरे पात्रों पर घटित करके वह अपनी अतृप्त इच्छाओं को अभिव्यक्त कर देता है। इससे इच्छाओं का व्यक्तिगत रूप तिरोहित हो जाता है जिससे अन्य पाठक भी काव्य का रसास्वादन कर पाते हैं। यह बहुत संभव है कि कवि की जो इच्छाएँ अतृप्त रहीं हों पाठकों की भी उसी प्रकार इच्छाएँ अतृप्त रह गई हों। इससे स्पष्ट है कि मनोविश्लेषण का सिद्धान्त लेखकों तथा पाठकों दोनों से संबन्ध रखता है। इस दृष्टि से देखने पर कला भी स्वप्न की भाँति अचेतन इच्छाओं की काल्पनिक तृप्ति जान पड़ती है किन्तु स्वप्न और कला कृति में अंतर यह है कि जहाँ कला-कृति द्वारा लेखक तथा पाठक दोनों ही अपनी अतृप्त इच्छाओं की तृप्ति कर पाते हैं, वहाँ स्वप्न के संबन्ध में ऐसी कोई बात नहीं कही जा सकती; स्वप्न व्यक्तिगत वस्तु है, समाज से उसका संबन्ध नहीं —— कला व्यक्तिगत होते हुए भी अ-व्यक्तिगत हो जाती है। पंतजी की 'भावीपत्नी' शीर्षक कविता को लीजिये, मनोविश्लेषण-पद्धति का आलोचक संभवतः यह कहे कि काव्यगत भावी पत्नी का चित्र खड़ा कर कवि ने पत्नी के संबन्ध में अपनी अतृप्त इच्छा की पूर्ति की है। जैनेन्द्रजी की 'एकरात' कहानी के संबन्ध में भी इसी से मिलती-जुलती बात कही जा सकती है। बहुत से पाठक भी अपनी अतृप्त काम-भावना की तृप्ति इस प्रकार की रचनाओं द्वारा कर पाते हैं, इसलिए उनको आनन्द मिलता है। इस प्रकार की आलोचना में लेखक की प्रतिभा और रचना-तंत्र (technique) पर विचार नहीं हो पाता। मनोविश्लेषण के आचार्यों ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि ऐसा करना उनके लिए संभव नहीं।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक है। क्या विश्व के सभी बड़े कलाकारों की कृतियाँ उनकी कुण्ठित इच्छाओं का परिणाम है! क्या उनकी कुण्ठाओं की ही रसास्वादन के रूप में हम अब तक ग्रहण करते चले आरहे हैं! नाट्यकार शेक्सपियर की आलोचना में कहा गया है कि उसने निर्वैयक्तिकता का निर्वाहप्रायः सर्वत्र किया है। हैमलेट को छोड़ कर शेक्सपियर के अन्य नाटकों में संभवतः

इस बात का पता नहीं चल पाता कि कौनसे पात्र द्वारा शेक्सपियर स्वयं बोल रहा है। इस वैशिष्ट्य के लिए शेक्सपियर की बड़ी प्रशंसा की जाती है। प्रसाद के नाटकों में इसका स्पष्ट आभास मिल जाता है कि कौनसे पात्रों के माध्यम द्वारा प्रसाद अपने विचार प्रगट कर रहे हैं। इसे नाट्यकार प्रसाद को न्यूनता समझी जाती है और यह है भी। प्रसाद के कतिपय पात्र तो दोहरे व्यक्तित्व से समन्वित हो गये हैं। ऐतहासिक स्कंदगुप्त क्या उतना ही दर्शनिक और निवृत्ति-प्रधान रहा होगा जितना प्रसाद ने उसे चित्रित किया है! उसके मानो दो व्यक्तित्व हो गये हैं — एक ऐतहासिक और दूसरा प्रसाद द्वारा आरोपित व्यक्तित्व। विश्व के बड़े बड़े कलाकारों की निर्वैयक्तिकता को हम किसी भी प्रकार कुण्ठा का परिणाम नहीं मान सकते। यह सच है कि ऐसी रचनाएँ मिलती है जिनके विश्लेषण करने पर हम उनमें कलाकारों की दमित इच्छाओं की तृप्ति पाते हैं किन्तु सभी रचनाओं के लिए यह कह देना कलाकारों के साथ अन्याय करना होगा। फिर रचनाएँ तो सोद्देश्य और निरुद्देश्य दोनों प्रकार की हो सकती हैं, क्या सभी सोद्देश्य रचनाओं के मूल में भी अचेतन वासनाओं का नृत्य हो रहा है? आज की प्रगतिवादी रचनाओं को लीजिये। हो सकता है कि उनमें से अनेक रचनाएँ ऐसी हों जो दमित इच्छाओं के परिणाम स्वरूप लिखी गई हों किन्तु सभी रचनाओं के लिए क्या यही बात कही जा सकती शेक्सपियर की चतुर्दशपदियों (sonnets) के संबन्ध में वर्डस्वर्थ ने लिखा था (With this key shakespeare unlocked his heart) वर्डस्वर्थ के कहने का तात्पर्य यह था कि नाटकों में तो शेक्सपियर इतना निर्वैयक्तिक है कि उसके व्यक्तिगत आंतरिक भावों का कुछ पता नहीं चलता। इन चतुर्दशपदियों की चाबी के द्वाराही उसने अपना हृदय जो अब तक मानो ताले में बंद था लोगों के सामने खोल कर रख दिया है। वर्डस्वर्थ की इस उक्ति के प्रत्युत्तर में सेक्सपियर के किसी दूसरे आलोचक ने कहा था — "If this be so. the less shakespeare he." शेक्सपियर तो मानो इतना महान् कलाकार है कि जिसके 'स्व' का जैसे पता ही नहीं चलता — अपने 'स्व' को सर्वत्र वितरित कर जैसे वह बहुत ऊँचा उठ गया हो—एक दम तटस्थ हो गया हो।

"भारतवर्ष का पुराना कवि एक ही चाँद को आज पीयूषवर्षी, कल अंगार-वर्षी और परसों चाँदी की थाली कह सकता था, बशर्ते कि आज उसकी कल्पित नायिका स्वाधीनपतिका हो, कल प्रोषितपतिका हो और परसों घर से बाहर चली गई हो। संस्कृत कवि ने इस काव्य-दृष्टि का परिहास करने के लिए एक संन्यासी के मुँह से निम्नलिखित श्लोक कहलवाया था—

येषाँ वल्लभया समं क्षणमपि क्षिप्रं क्षपा क्षीयते
तेषा शीतकरः शशी विरहिणामुल्केव सन्तापकृत्
अस्माकं तु न वल्लभा न विरहस्तेनोभयभ्रंशिनाम्
इन्दू राजति दर्पणाकृतिरसौ नोष्णो न वाशीतलः!

अर्थात् अपनी प्रेयसी के संयोग में क्षण भर भी जिनकी रात्रि व्यतीत होती है, उनके लिए चन्द्रमा शीतलता प्रदान करके वाला है, विरहीजनों के लिए वह उल्का की तरह संतापकारी। किन्तु हमारी न कोई प्रेयसी, न किसी से हमारा विरह! हमें तो चन्द्रमा दर्पण के आकार वाला दिखलाई पड़ता है — न उष्ण, न शीतल!

आधुनिक कवि ने निरासक्त और निर्वैयक्तिक दृष्टि से वस्तु के सौन्दर्य को देखना चाहा है। वह प्रिया को यह कह कर पुकारने में गौरव का अनुभव करता है कि हे प्रिये, तुम सूर्य से भी बड़ी हो, समुद्र से भी, और मेढक से भी। क्योंकि उसकी दृष्टि में अपनी व्यक्तिगत आसक्ति नहीं है। सूर्य और समुद्र अपने आप में जितने महान् सत्य है! हम मेंढक छोटा या कुत्सित इसलिए देखते हैं कि उसे अपनी रुचि-अरुचि और अनुरक्ति-विरक्ति में सान देते है। निरासक्त भाव से देखने पर मेंढक में कहीं भी लघुता और कुत्सितता नहीं है। आज का पाठक पुराना पाठक नहीं है जो अपना रुचि-अरुचि को इस बुद्धिगम्य सौन्दर्य के मार्ग में बाधी खड़ी करने को प्रोत्साहित करें।"— श्री हजारीप्रसादजी द्विवेदी के एक लेख से उद्धृत.

पता नही, इस प्रकार के अनासक्त साहित्य के सबन्ध मे मनोविश्लेषण- पद्धति का अलोचक क्या कहेगा! संभवतः नवीनता-प्रदर्शन की अचेतन भावना इस प्रकार की उक्तियों में काम कर रही हो।

साहित्य में श्लील और अश्लील का प्रश्न भी बहुधा उठाया आता है, मूलतः यह प्रश्न भी मनोविश्लेषण से ही सम्बद्ध है

अश्लील साहित्य की सृष्टि करने वाला लेखक क्या विशुद्ध मन का व्यक्ति हो सकता है? ऊपर से सच्चरित्र और विशुद्ध दिखलाई पड़ने वाला लेखक भी जब साहित्य में अश्लीलता का परिचय देता है तो उसकी कृति से उसके अचेतन मन पर प्रकाश पड़े बिना नहीं रहता। कुछ आलोचक ऐसे होते हैं जो कवि की कृतियों से उसके मानसिक रोगों का उद्घाटन करने में ही मनोविश्लेषणात्मक आलोचना की सार्थकता समझते हैं। यह तो सीमा का अतिक्रमण कर एक अतिवाद का आश्रय लेना है। — फिर भी कलात्मक कृतियों में अचेतन मन का जो हाथ रहता है उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। कलाकार की कृतियों के अध्ययन द्वारा उसकी अन्तर्वृत्तियों पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकता है। दूसरी बात यह है कि कला में काम-भावना की प्रमुखता सभी देशों के साहित्यों में देखी जाती है। भारतीय साहित्य में शृंगार को जो आदि रस और रसराज कहा गया है वह अकारण नहीं है। उसमें भी मनोवैज्ञानिक सत्य अन्तर्हित है। मनुष्य के लिए ही क्या, पशु-पक्षियों के संबन्ध में भी प्रसिद्ध है कि गर्भाधान के मौसम में उनमें भी मुखरता की सर्वाधिक वृद्धि देखी जाती है। काम के तरु पर ही कला के पुष्प खिलते हैं — इस उक्ति में सच्चाई का बहुतांश देखने को मिल सकता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अचेतन मन का वैज्ञानिक विश्लेषण तो फ्रायड की देन है किन्तु फ्रायड से पूर्ववर्ती साहित्य में भी अचेतन मन से संबन्ध रखने वाली उक्तियाँ कहीं-कहीं मिल जाती हैं। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त की निम्नलिखित उक्ति से अचेतन मन की समस्या पर प्रकाश पड़ता है। - —

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत् सुखितो ऽपि जन्तुः
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

अर्थात् सुखी मनुष्य भी रम्य स्थानों को देख कर या मधुर शब्द सुनकर जो बेचैन हो उठता है उसका कारण यह है कि वह अपने अचेतन मन में संस्कार के कारण स्थिर जन्म-जन्मातर के प्रेम भावों का स्मरण करता है। दुष्यंत के कानों में एक संगीत की ध्वनि सुनाई पड़ती है जिसमें वियोग का वर्णन है। गीत को सुन कर उसका मन चंचल हो उठता है। दुष्यंत के चेतन मन को इस बात का पता नहीं है कि वह शकुन्तला से वियुक्त है किन्तु उसके अचेतन मन में यह भाव समाया हुआ है जो उसके चेतन मन को भी प्रभावित करता है। फ्रायड ने तो इस जन्म में पड़े हुए मानसिक संस्कारों का ही वर्णन किया है, जुंग ने जातिगत चेतना (Racial consciousness) की बात उठा कर मानसिक संस्कारों के क्षेत्र को व्यापक बना दिया है किन्तु भारतीय कवि ने तो मानसिक संस्कारों का जन्म-जन्मान्तरों से सम्बन्ध स्थापित किया है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री सियाराम शरण गुप्त ने तो इसे एक प्रत्यक्ष तथ्य मान कर यहाँ तक कह दिया है—

"देख कर यह समुदाय समाज
आज होता है मुझको ज्ञात
विगत जन्मों में भी बहुबार
मिले हैं हम सब इसी प्रकार
भूल कर मैंने किसी प्रकार
किया हो यदि कुछ गुरु अपराध
क्षमा उसके निमित्त शत बार
मांगता हूँ मैं हाथ पसार।"

इस जन्म के अपराधों के लिए तो लोग क्षमा मांगते देखे गये हैं किन्तु बलिहारी है इस कवि की जो जन्म-जन्मांतरों के अपराधों के लिए इस जन्म के लोगों से क्षमा-याचना कर रहा है!

अचेतन मन और काम-भावना की प्रमुखता स्वीकार कर लेने के बाद काम के उन्नयन (sublimation) पर भी विचार कर लेना असंगत न होगा। मनोविश्लेषण शास्त्र में भक्ति आदि को काम का ही उदात्त रूप कहा गया है। एक तुलसीदास अपने प्रेम का प्रवाह नारी की ओर से हटा कर भगवान् की ओर उन्मुख कर देते हैं; एक रसखान ऐन्द्रियक प्रेम से ऊपर उठ कर 'माखन-चाखन-हार' के प्रेम में तल्लीन होकर ऐसा रस प्रवाहित करते हैं जिस पर भारतेन्दु जैसे रसिक कवि भी सौ जान से न्यौछावर हो जाते हैं "इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दू वारिये।"

घनानन्द भी सुजान के प्रति अपने प्रेम-प्रभाव को भगवान की ओर मोड़ देते हैं और उस प्रेम-विह्वला मीरा का तो कहना ही क्या, जिसका जीवन ही भक्ति से आप्लावित रहा। यदि मीरा की भक्ति भी काम का उदात्त रूप है तो निश्चय ही ऐसा परिमार्जित रूप अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

विषय के सम्यक् विवेचन के लिए मनोविश्लेषण के प्रतीकों पर भी दो शब्द कहना आवश्यक जान पड़ता है। कभी-कभी जब हम स्वप्न देखते हैं तो ऐसे चित्र हमारे सामने आते हैं जिनका हमारे मन से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। किन्तु मनोविश्लेषण के आचार्य इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यथार्थ जगत् में कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनके स्वप्न-चित्र हमेशा एक ही अर्थ के द्योतक होते हैं। उदाहरणार्थ यदि स्वप्न में आप कोई मकान देखते हैं तो वह हमेशा मनुष्य के शरीर का द्योतक होगा। मनोविश्लेषण वालों के कुछ प्रसिद्ध प्रतीक हैं। यथा—

राजा और रानी = माता-पिता
यात्रा (प्रयाण) = मृत्यु
छोटे जानवर = भाई-बहन
बाग-बगीचे, कुसुम और कलियाँ = कामिनी का शरीर अथवा उसके विभिन्न अङ्ग

इस प्रकार के छाया-चित्र जो हमेशा सभी मानव-समुदाय के लिए एक ही अर्थ के द्योतक होते हैं, मनोविश्लेषण-शास्त्र में प्रतीक कहलाते हैं। यह तो माना जा सकता है कि काम एक बहुत ही प्रचण्ड सहज-वृत्ति है किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यही एक मात्र सहज वृत्ति है जिसकी अन्य सब सहज-वृत्तियाँ रूपान्तर मात्र हैं? जब हम किसी उद्यान के सौन्दर्य का रसास्वाद करते हैं तब मनोविश्लेषण के आचार्यों के अनुसार उसके पीछे भी प्रच्छन्न रूप से काम-भावना ही अपना काम कर रही है। उद्यान के कुसुम तथा कलियों के सौन्दर्य का रसास्वादन तो प्रच्छन्न रूप से कामिनी के अंगों के सौन्दर्य का रसास्वादन है। भरतीय साहित्य में भी उद्यान तथा कुसुम-कलियों को काम के उद्दीपक के रूप में ग्रहण किया गया है; स्वयं कामदेव का चित्रण भी पुष्प-धन्वा के रूप में हुआ है। इस बात का पता लग जाने पर भी कि उद्यान के आनन्द के मूल में केवल अंगों का आनन्द है, हम उद्यान के आनन्द को छोड़ना नहीं चाहते। उद्यान तो केवल प्रतीक है किन्तु मूल वस्तु (कामिनी का अंग) को छोड़ कर भी जब हम उद्यान की इच्छा करते हैं तो इससे स्पष्ट है कि उद्यान का महत्व केवल प्रतीक के रूप में ही नहीं है, स्वतः उद्यान का भी महत्व है। यह हो सकता है कि प्रच्छन्न का काम-भाव चाहे ९५ प्रतिशत ही क्यों न हो, स्वतः उद्यान का आनन्द भी कुछ प्रतिशत तो माना ही जायगा।

साहित्य की आलोचना में मनोविश्लेषण का निश्चित स्थान है किन्तु मनोविश्लेषण की भी एक सीमा है, उसको लेकर कवि के मानसिक रोगों का मनगढ़न्त लेखा-जोखा करना उचित नहीं जान पड़ता। हाँ मनोविश्लेषण की मर्यादाओं को मानते हुऐ विषय के स्पष्टीकरण के लिए उसका समुचित प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरण के लिए बच्चन जी की एक कविता को लीजिये —

जीवन में एक सितारा था
माना वह बेहद प्यारा था
वह डूब गया तो डूब गया।
अंबर के आनन को देखो
कितने इसके तारे टूटे
कितने इसके प्यारे छूटे
जो छूट गये फिर कहाँ मिले
पर बोलो टूटे तारों पर अंबर कब शोक मनाता है

कहा जाता है कि सन् १९४२ में दूसरी शादी करने के बाद कवि ने इस प्रकार के उद्‌गार प्रगट किये हैं। पहली बार की मृत्यु के समय जो यह कहते थे कि हम दूसरा विवाह कभी नहीं करेंगे वे भी मौका आने पर दूसरा विवाह करते देखे गये हैं। तथ्य यह है कि बुद्धि सहज वृत्ति को इतना प्रभावित नहीं करती जितना सहज-वृत्ति बुद्धि को प्रभावित करती है सहजवृत्तियों में इतनी प्रबल शक्ति होती है कि वे बुद्धि को भी अपने अनकूल बना लेती हैं।

इस प्रकार के विश्लेषण कविता या मर्म को समझाने में हमारी सहायता करता है किन्तु किसी काव्य से कवि के आत्म-चरित की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को प्रस्तुत करने में बड़ा खतरा है। आवश्यकता इस बात की है कि मनोविश्लेषण का समुचित प्रयोग हो। अच्छा सिद्धान्त भी दुरुपयोग से बदनाम होजाता है, सीमा का अतिक्रमण वांछनीय नहीं। जीवन से मनोविज्ञान के सिद्धान्त निकलने चाहिए, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से जीवन नहीं।

कबीर पंथी साहित्य का अध्ययन

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

[प्रस्तुत लेख पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी के कबीर-साहित्य का अध्ययन जो शीघ्र ही हिन्दी भवन शान्ति-निकेतन से प्रकाशित होने वाला है, भूमिका स्वरूप है। इसमें उन्होंने उस पद्धति का जिससे कबीर के ग्रन्थों का अध्ययन किया है अंगुलि निर्देश किया है। पण्डित हजारी-प्रसाद द्विवेदी की यह विशेषता है कि उन्होंने कबीर के अध्ययन की एक व्यापक विचार-धारा को जिसका सम्बन्ध केवल संयुक्त प्रान्त से ही नहीं है वरन् बङ्गाल और विहार से है, अङ्ग बनाया है। उनके इस लेख से आदि मङ्गल और निरञ्जनी-पन्थ पर विशेष प्रकाश पड़ेगा।

इस लेख को देख कर हम उनके आगे आने वाले ग्रन्थ की ओर उत्सुकता तो उत्पन्न कर ही सकेंगे, किन्तु यह भी सम्भव है कुछ अन्वेषकों को इससे दिशा-निर्देश मिले। —सम्पादक]

लगभग दो-ढाई साल के परिश्रम के बाद मैंने 'कबीर' नामक अपनी पुस्तक लिखी जो सन् १६४२-४३ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के लिखते समय मुझे कबीर-पंथी साहित्य से थोड़ा परिचय हुआ। यह साहित्य—मुझे स्पष्ट ही स्वीकार करना चाहिए—आकर्षक नहीं मालूम हुआ। कबीरदास पर मेरी श्रद्धा जितनी ही बढ़ती गयी उतनी ही 'कबीर पंथी' कहे जाने वाले साहित्य से वितृष्णा भी बढ़ती गई। मुझे ऐसा लगा कि कबीर दास जितने ही सहज और साफ थे उतना ही उनके नाम पर लिखा हुआ साम्प्रदायिक साहित्य जटिल और दुर्बोध है। उसमें जान-बूझ कर पहेलियों की भाषा का प्रयोग किया गया है, परन्तु एक बात मेरे मन में बराबर उठती रही कि यह सारा साहित्य क्या कुछ सनकियों की कल्पना और झक्कीपन का परिणाम है? मेरा मन यह बात मानना नहीं चाहता था, परन्तु इस साहित्य के प्रति वितृष्णा का भाव कुछ ऐसा बद्धमूल हो गया था कि इसकी परीक्षा करने का विचार उठता था और फिर तुरंत विलीन हो जाता था।

हिन्दीभवन की स्थापना के समय जो कार्य-क्रम की योजना बनायी गयी उसमें एक विषय था दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी का लोकधर्म। मैंने इस विषय पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहा। उस समय मेरे मन में यह बात आई कि कबीर पंथ में जो विचित्र सृष्टि-प्रक्रिया स्वीकार की जाती है उसका मूल उद्गम खोजना चाहिए। मैंने 'कबीर' में ही अपना यह विश्वास प्रकट किया था कि यह प्रक्रिया किसी पुरानी परम्परा का भग्नावशेष हो सकती है। एकाएक इतनी जटिल सृष्टि-प्रक्रिया किसी पंथ में ईजाद नहीं की जा सकती। मेरा विश्वास था कि इस पर खोज करने से प्राचीन लोक-धर्म का कोई न कोई पहलू अवश्य स्पष्ट होगा। सबसे पहले मेरा ध्यान 'आदि-मङ्गल' नामक छोटी-सी पुस्तक पर गई। महाराज विश्वनाथ सिंह जी ने इस पुस्तक की टीका में बड़ी विद्वत्ता का परिचय दिया है, परन्तु उनकी व्याख्या सम्पूर्णतः रामायत संहिताओं पर आधारित है। इस टीका ने मुझे नये सिरे से इस प्रश्न को सोचने को बाध्य किया। मैंने कबीर पंथी साहित्य से इस पुस्तक में प्रतिपादित मतों से मिलते-जुलते मत संग्रह करना शुरू किया। इस पुस्तक का 'आदि-मङ्गल' नाम काफी संकेत-पूर्ण था। हिन्दी में 'मङ्गल' नाम देकर केवल तीन पुस्तकों का मुझे पता था। तुलसीदास के जानकी-मङ्गल और पार्वती-मङ्गल तथा नन्ददास का रुक्मणी-मङ्गल। तीनों ही पुस्तकों का मुख्य विषय विवाह है, परन्तु आदि-मङ्गल में विवाह का तो नाम भी नहीं है पर उत्पत्ति का प्रसङ्ग अवश्य है। पुत्रोत्पत्ति और विवाह दोनों ही अवसरों पर 'मङ्गल'

गाये जाते हैं। तुलसीदास के पूर्व जितने तरह के भी लोक-प्रचलित साहित्यिक रूप थे उन सबको उन्होंने राम-मय करने का प्रयास किया था और इस पर से यह अनुमान किया जा सकता है कि मङ्गल-साहित्य भी जरूर रहा होगा और उसका प्रधान विषय विवाह और—शायद—पुत्रोत्पत्ति होती होगी, परन्तु 'मङ्गल' नाम धारी साहित्य पूर्व देश की विशेषता है। हिन्दी की अपेक्षा बँगला में यह साहित्य बहुत अधिक है और पुराने बँगला-साहित्य की एक महत्व-पूर्ण शाखा का नाम ही 'मङ्गल-काव्य' दे दिया गया है। बङ्गाल के मङ्गल-काव्यों में एक उलझी हुई सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन मिलता है जो अधिकांश में कबीर पंथी सृष्टि-प्रक्रिया से मिलता है। इस मङ्गल काव्य की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपशाखा धर्ममङ्गल काव्य है। इनके प्रधान देवता निरञ्जन या धर्मराज हैं। मुझे इस निरञ्जन-दैवत कथा से कबीर-पंथी कथा में आश्चर्यजनक साम्य दिखायी दिया। पण्डितों का अनुमान है कि धर्म-पूजा बौद्ध-धर्म का अवशेष है। इन पुस्तकों की कथा में और कबीर पंथी साहित्य की कथा में प्रधान भेद यह है कि जहाँ इन पुस्तकों में निरंजन को परम-दैवत माना गया है वहाँ कबीर पंथी साहित्य में उसे भरमाने-भटकाने वाला माना गया है। कबीरदास बार-बार अवतरित होकर निरंजन की माया से इन पृथ्वीवासियों का उद्धार किया करते हैं। स्पष्ट ही कबीर पंथी पुस्तकें निरंजन के प्रभाव में पड़े हुए गुमराह लोगों को कबीर साहब की महिमा बता कर उन्हें अपनी ओर मोड़ने के उद्देश्य से लिखी गयी हैं। निरंजन के जितने भी नाम धर्म-पूजा वाली पुस्तकों में हैं वे सभी कबीर पंथ में भी पायी जाती हैं। निरंजन के मुख्य नामों में धर्मराय और शून्य रूप तथा काल-पुरुष अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

मुझे ऐसा मालूम हुआ कि धर्मपूजा के सम्बन्ध में पूर्व प्रान्त के साहित्य से जो कुछ जाना जा सकता है वह अधूरा ही है। उसका एक अध्याय अभी तक विद्वानों के सामने आया ही नहीं। अनुराग-सागर, श्वास-गुञ्जार, स्व-संवेद बोध, निरंजन-बोध, अम्बुसागर आदि पुस्तकों में धर्मपूजा-साहित्य का यह अध्याय छितराया पड़ा है। यह नाना दृष्टियों से महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे एक विस्मृत धर्ममत का संधान निश्चित रूप से मिलता है। इस साहित्य से इतना स्पष्ट अनुमित होता है कि बङ्गाल में धर्मपूजा का जो रूप अभी जीवित है वह दूर-दूर तक फैला हुआ था। वह सम्भवतः बिहार से लेकर मध्यप्रदेश तक किसी न किसी रूप में फैला हुआ था जो बाद में कबीर पंथ में सम्मिलित हो गया है। परन्तु यह बात केवल अनुमान ही अनुमान थी। मुझे ऐसा लगा कि जिस साहित्य से मुझे अकारण वितृष्णा हो गयी थी उसका भी महत्व है। अपने इसी अनुमान के सहारे मैंने इस सर्वथा परित्यक्त और अस्पृष्ट साहित्य की जाँच करने का सङ्कल्प किया। आगे चल कर कबीरबानी में यह प्रसङ्ग मिला कि कबीरदास ने स्वयं यह भविष्यद्वाणी की थी कि उनके नाम पर बारह पन्थ ऐसे चलेंगे जो लोगों को भरमाने के उद्दे-श्य से उन्हीं (कबीर) के नाम पर धर्मराय या निरंजन चला देगा। इन बारह पन्थों में एक का नाम 'मूल निरंजन पन्थ' होगा। मुझे यह पता नहीं चल सका कि इस नाम का पन्थ कोई है या नहीं। परन्तु नाम काफी संकेत-पूर्ण लगा। अनुराग-सागर में लिखा है कि धर्मराय का एक मनभंगा दूत 'मूल कथा' को लेकर यह पन्थ चलाएगा। इस पर से इतना तो अत्यन्त स्पष्ट है कि जब निरंजन पंथ में कबीर पन्थी प्रभाव बहुत बढ़ गया होगा तो किसी साधु ने मूल निरंजन कथा को आश्रय करके मूल निरंजन-पंथ चलाया होगा। इसमें भी कबीरदास प्रधान गुरु अवश्य होंगे पर उनके मतों की व्याख्या पुरानी निरंजनी कथा के अनुकूल की गयी होगी।

जो हो, बंगाल में पाई जाने वाली निरंजन कथा का साहित्य अधूरा ही है, उसका एक अध्याय कबीर पंथी ग्रन्थों में अवश्य मिलेगा।

इधर सोलहवीं शताब्दी और बाद के उड़ियासाहित्य में भी वैष्णव धर्म के वेश में बौद्धधर्म का परिचय मिला है। मेरी धारणा है कि कबीर पंथी साहित्य से उस साहि-त्य का भी कुछ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में मेरा एक लेख विश्वभारती पत्रिका के पंचम वर्ष के तृतीय अंक में छप रहा है।

परन्तु सिर्फ इतना ही कबीर पंथी साहित्य का महत्व

नहीं है। मैं जैसे जैसे इस साहित्य के भीतर प्रवेश करता गया वैसे वैसे मुझे स्पष्ट मालूम होने लगा कि कबीर पंथी साहित्य में एक विशाल लोक धर्म का समावेश हुआ है जिसकी चर्चा पुराणों और अन्य संस्कृत ग्रन्थों में बहुत कम है। इस साहित्य की एक शाखा का लक्ष्य बराबर कबीरसाहब और उनके पंथ की महिमा स्थापन रहा है पर इस बहाने उसमें अनेक अद्भुत पौराणिक आख्यानों का समावेश होगया है। यह अवश्य नहीं समझा गया कि मूल कबीर वाणी से इन कथाओं का कोई सामंजस्य ढूंढा गया। लेखकों ने सहज भाव से सारी कथा इस ढंग से कहदी है जिससे अन्तमें कबीरदास और धर्मदास के बयालीस वंश की महिमा सिद्ध होजाय इस प्रसंग में योग और ज्ञानकी बातता मानो जानबूझ कर दूर रखी गई है। भक्ति का क्षेत्र भी गुरुसेवा और गुरु पर अखण्ड विश्वास तक ही सीमित रखा गया है। कथाएं बड़े सहज और तर्कगंध हीन शैली में कही गई हैं। यद्यपि वे पहलेपहल विचित्र और नीरस लगती हैं—क्यों कि पाठक उनकी शैली से परिचित नहीं होता—पर सब मिला कर वे अस्पष्ट और दुर्बोध नहीं हैं।

कबीर पंथी साहित्य की इस महत्वपूर्ण शाखा का नाम मैंने 'प्रचार मूलक साहित्य' दिया है। ऐसा नाम देने का कारण यह है कि इन कथाओं में समाज के उन लोगों में कबीर साहब की महिमा का प्रचार करने का प्रयत्न किया गया है जिन पर किसी समय किसी रूप में निरंजन की महिमा प्रतिष्ठित रही होगी। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि इन पुस्तकों में कबीरदास के प्रतिपादित धर्म-मतों के प्रचार की कोई चेष्टा की गयी है। कबीरदास ने निरर्थक रूढ़ियों, बाह्याचारों और अकारण प्रवर्तित ऊंच-नीच-व्यवस्था पर कस-कर आघात किया था पर इस साहित्य में इस आक्रमणात्मक नीति को एक दम भुला दिया गया है। सही बात तो यह है कि इसमें केवल 'कबीर' के नाम का प्रचार किया गया है और घूमफिर कर यह बताया गया है कि धर्मदास के बयालीस वंश का पान-परवाना ही मनुष्य को निरंजन के जाल से मुक्त करने का एक मात्र साधन है। इन पुस्तकों में निरंजन को धर्मराज नाम से अधिक स्मरण किया गया है और यमराज के साथ उसकी एकात्मकता मान ली गयी है। स्पष्ट ही, यह निरंजन कथा का यह अत्यन्त परवर्ती विकास है। जान पड़ता है कि उपलब्ध साहित्य बहुत बाद का बना है परन्तु इस साहित्य के पूर्व का साहित्य इसका उपजीव्य होगा या फिर लोक-कथाएँ ही इसका उपजीव्य हों।

सृष्टि-प्रक्रिया की खोज करते समय इन पुस्तकों को पढ़ते पढ़ते मुझे अनेक ज्ञातव्य बातों का पता लगा। बीजक की टीकाओं में वेदान्तमत की एक विचित्र परिणति का पता चला। हमने 'कबीर' के अध्ययन में देखा था कि कबीरदास द्वैताद्वैत विलक्षण मत में विश्वास करते थे। यह मत उन्हें नाथ-योगियों से विरासत में मिला था परन्तु परवर्ती टीकाग्रन्थों में इसको इतने तर्क पूर्ण ढंग से उपस्थित किया गया है कि आश्चर्य होता है। ऐसा जान पड़ता है कि किसी पुरानी परम्परा का आश्रय इस मत को भी मिला होगा पर कबीर पंथी उपादान इसमें बहुत अधिक हैं। वस्तुतः भारतीय दर्शन का यह रूप अभी तक विद्वानों के समक्ष आया ही नहीं। इसका एक कारण तो इसकी विचित्र उपस्थापन शैली ही है। इस मत से, जैसा कि आगे चल कर स्पष्ट होगा, हंस की देह 'ब्रह्म-मूल' से पक्के से कच्चे तत्वों का बन गयी है। जगत में जितने मत मतान्तर हैं वे अधिक से अधिक उस महा-आनन्द तक ही पहुँच सके हैं जिसमें जीव अपने को ब्रह्मरूप समझता है। परन्तु यह महाआनन्द रूप गाफिली मनुष्य को जन्म-मरण के चक्र से छुड़ा सकता। कबीरपंथी लोग मानते हैं कि खानी में स्त्री और बानी में ब्रह्म-सिद्धान्त इनका ही प्रभाव सारे जगत में है और इन दोनों के चक्कर में फँसा हुआ मनुष्य भटक भटक कर हैरान है।

अब, दुनिया में चार प्रकार के ज्ञानी हैं, (१) पूर्ण-योगी महासिद्ध (२) पूर्ण अनन्य भक्त (३) ब्रह्मज्ञानी परम हंस और (४) पारखी। पूर्णयोगियों को तो स्वेच्छा से जहाँ कहीं गमन करने की स्वाधीनता है, अतः इनमें स्वेच्छा का प्राधान्य है, भक्तलोगअपने को भगवान से न्यारा समझ कर भगवदिच्छा पर अवलंबित रहते हैं, इसलिये उनमें पर-इच्छा वर्तमान है और ब्रह्मज्ञानी लोग विधि-निषेध सभी से मुक्त हो समस्त जगत् को ब्रह्म-रूप मान

कर 'जड़वृत्ति धारण कर महा आनन्द में गाफिल धुन्ध से भक्ष-अभक्ष सेवन अथवा कोई जगत् निंद्य कर्म करते हैं' इससे उनमें 'अ नच्छा' वर्तमान है। ये तीनों को अपने ही जीव पर दया नहीं हुई तो दूसरे पर क्या दया करेंगे और जन्म मरण के बंधन से उन्हें कैसे दूर करेंगे ? किन्तु चौथे ज्ञानी श्रेष्ठ हैं। वे कौन हैं ? - 'पारख प्रकाश रूप, अचल-पूर्ण-चैतन्य जीव पद पर स्थिति किए हुए न्यायमूर्ति सद्गुरु कबीर साहेब'। सो, ये ही जड़ देह से उत्पन्न समस्त नाश मान जड़ पदार्थों की भावना छोड़, एक अपने ही जाति के सब जीव हैं, ऐसी समदृष्टि रखके सहज दया स्वभाव से न्याय नीति का सत्य उपदेश, जगत् के सब मनुष्य रूप हंस जीवों को करते हैं।' (राजनीति धर्म पृ०२३३)।

शुरू-शुरू में ऐसा लगता है कि इन बातों का कोई अर्थ नहीं है पर यदि कबीर पंथी साहित्य को—विशेष करके बीजक के व्याख्यान परक साहित्य को—पढ़ा जाय तो यह एक विचार तत्त्ववाद जान पड़ेगा। यह तो नहीं कहा जा सकता कि कबीरदास का यही मत था, परन्तु इससे इस तत्त्ववाद का महत्त्व कम नहीं हो जाता। यह मत कबीरदास की वाणियों पर उसी प्रकार आधारित है जिस प्रकार वेदान्त मत उपनिषद् की वाणियों पर। जिस प्रकार यदि यह सिद्ध कर दिया जाय कि उपनिषद का मत वही नहीं है जो शंकर या रामानुज ने प्रतिपादित किया है तो भी शंकर या रामानुज के प्रतिपादित तत्त्ववाद का महत्त्व कम नहीं हो जायगा ठीक उसी प्रकार यह सिद्ध कर देने पर भी कि कबीर की वाणी का यह भाव नहीं है इस तत्त्ववाद की महिमा कम नहीं होती।

इस प्रकार कबीर पंथी साहित्य से मेरी वितृष्णा दूर हुई और मैं उसे समझने का प्रयत्न करने लगा। मुझे इस साहित्य की एक संक्षिप्त रूप रेखा तैयार करने की प्रेरणा मिली। इस साहित्य की अधिकांश पुस्तकें जिन पाठकों को उद्देश्य करके लिखी गयी हैं उनका बौद्धिक स्तर बहुत ऊंचा नहीं है। इसलिये एक बात को बार बार घुमा फिरा कर कहा गया है। कभी कभी तर्क शैली बड़ी सीधी है और परपक्ष की भावना से एकदम रहित है, कभी कभी ज्ञान के दिखाने का प्रयास बड़ा नीरस और विरक्तिकर है, कभी कभी सहज बात को खामखवाह जटिल बनाने की चेष्टा है, कभी कभी ब्रह्म ईश्वर आदि पर भोंडी भाषा में आक्रमण किया गया है, इन सारे जंजालों को पार करने के लिये बड़े धैर्य की आवश्यकता है। अपना मत बताने के लिये स्वरीय-शास्त्र, शकुन-शास्त्र, स्त्री-पुरुष के सामुद्रिक लक्षण, योग की नाना भूमियाँ आदि का विस्तृत लेखा दिया गया है। इसमें सन्तोष की बात इतनी ही है कि ये सब विषय लोक-भाषा में आगये हैं, नहीं तो इस नीरस बालुका राशि को पार करते समय पाठक भाग जाता है और वास्तविक ज्ञान-सरिता के अवगाहन से वंचित रह जाता है।

यह भ्रम विद्वानों में भी रह गया है कि कबीर पंथी साहित्य अधिकांश में अमुद्रित है और प्राय: हो लोग हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज की रिपोर्टों पर अवलम्बित रहते आए हैं। मैंने इस भ्रम को दूर करने का प्रयास किया है। वस्तुतः हस्तलिखित पुस्तकों की खोज-रिपोर्टों में जिन पुस्तकों की चर्चा है उनकी अपेक्षा कहीं अधिक पुस्तकें छप चुकी हैं। जितनी पुस्तकें छपी हैं सब का मैं संग्रह नहीं कर सका हूँ पर जितनी संगृहीत हुई हैं उनमें शायद ही कोई महत्वपूर्ण पुस्तक छूटी हो। इन्हीं बातों को ध्यान में रख कर मैंने 'कबीर पंथी साहित्य' नामक अध्ययन प्रस्तुत किया है जो शीघ्र ही पुस्तक रूपमें हिन्दी-भवन शांति-निकेतन की ओर से प्रकाशित होने जारहा है। इस पुस्तक को लिखने में मेरा प्रधान उद्देश्य यही है कि इस उपेक्षित विषय की ओर विद्वान मण्डली का ध्यान जाय। मुझे अपनी योग्यता का उतना भरोसा नहीं है जितना सदुद्देश्य का। यदि विद्वानों का ध्यान इस ओर गया तो मेरा परिश्रम सार्थक समझा जायगा।

रिपोर्ताज़

(ले० डा॰रामविलास शर्मा)

[रिपोर्ताज गद्य भी एक साहित्यिक विधा है जो धीरे-धीरे पाश्चात्य प्रभाव से प्रचार में आरही है या जिसकी चर्चा होने लगी है। हमारे यहाँ ऐसी चीजों का नितान्त अभाव था ऐसा तो नहीं कहा जा सकता और न यही कहा जा सकता है कि 'मेरे घर से आग लाई नाम धरा बैसंधर'। यह ऐसी चीज है जो कि व्यावहारिक हो सकती है और जिसका सफलता पूर्वक अनुकरण किया जा सकता है। अखबारी रिपोर्ट को रिपोर्ताज बनाने में थोड़ी कला और निजी उत्साह की आवश्यकता है। —संपादक]

फ्रान्सीसी भाषा के और बहुत से शब्दों में जो अँग्रेजी ही नहीं, योरुप की और दूसरी भाषाओं में भी प्रचलित होगये हैं यह एक शब्द रिपोर्ताज भी है। इसकी शक्ल और सूरत अँगरेजी के रिपोर्ट शब्द से मिलती जुलती है जो हिन्दी में आकर सीधा रपट हो गया है। रिपोर्ट ज्यादातर अखबारों के लिए लिखी जाती है, रपट ज्यादातर पुलिस या दूसरे सरकारी अफसरों के लिए। यह सभी लोग जानते हैं कि रपट में नमक-मिर्च इतना होता है कि भोजन-तत्त्व उसकी तेजी से निस्तत्त्व हो जाता है। अखबारी रिपोर्टों में भोजन तत्त्वों का बिलकुल अभाव तो नहीं होता, फिर भी काफी चरपरापन न हो तो लोग अखबार पढ़ना छोड़ दें। रिपोर्ताज रिपोर्ट का ही साहित्यिक रूप है लेकिन उसका अन्तःकरण साहित्य की श्रेणी में आने से शुद्ध होता है।

किसी घटना या घटनाओं का ऐसा वर्णन करना कि वस्तु-गत सत्य पाठक के हृदय को प्रभावित कर सके, रिपोर्ताज कहलायेगा। कल्पना के सहारे कोई रिपोर्ताज लेखक नहीं होसकता। इसे लिखने की कला इस महायुद्ध में विशेष रूप से विकसित हुई है। साहित्य का यह सबसे लचीला रूप है। जिसकी सीमा एक पृष्ठ से लेकर कई सौ पृष्ठों की मोटी पुस्तक तक हो सकती है। वर्त्तमान पत्रकार-कला से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। पत्रों में जैसे लम्बे उपन्यास एक साथ नहीं छप सकते, वैसे ही उनमें बहुत लम्बी रिपोर्ताज भी नहीं छप सकतीं। इसकी सीमायें कहानी और निबन्ध से मिलती जुलती हैं और इन दोनों से इसका भावात्मक सम्बन्ध भी है। रिपोर्ताज में जब तक एकाध छोटी कहानी न हो, वह काफी रोचक नहीं होता। परन्तु कहानी ज्यादातर एक ही घटना को लेकर चलती है और उसी का केन्द्र मान कर पात्रों का चरित्र अंकित किया जाता है। रिपोर्ताज में एक से अधिक घटनाएँ हो सकती हैं, लेखक का लक्ष्य इनके सम्मिलित प्रभाव की ओर रहता है। कहानीकार की तरह किसी "समस्या" को लेकर नहीं चलता न कहानी के अन्त में समस्या के विचित्र समाधान से वह पाठकों को आश्चर्य में डाल देना चाहता है। वह लेख के आरम्भ से ही छोटी-छोटी बातों की ओर यों ध्यान आकर्षित करता है कि इन सब से मिल कर एक वृहत चित्र बन सके। चरित्र-चित्रण के लिये कहानीकार के पास ही कम जगह होता है, रिपोर्ताज-लेखक के पास तो और भी कम। वह रेखा-चित्रकार की तरह ब्रुश के इशारे से चित्र को उभार कर आगे बढ़ चलता है। उसे इस बात की पूर्ण स्वतंत्रता है कि वह अपने लेख को घटना-प्रधान बनाये या चरित्र-प्रधान, वह उसमें नाटकीयता का ज्यादा पुट दे या गीतात्मकता का। उसके लिये सबसे ज्यादा जरूरी बात यह है कि वह जिस बात पर कलम उठाये, उसे खुद अपनी आँखों और कानों से देख सुन चुका हो।

यदि हम अखबार लेकर पिछले कई महीने की घटनाओं पर एक भाव-पूर्ण निबन्ध लिख डालें, तो वह रिपोर्ताज न होगा, वह रिपोर्ट भले हो। आँखों से देखने पर भी यदि केवल वस्तु-गत सत्य का शुष्क वर्णन हुआ तो भी उसे रिपोर्ताज न कह सकेंगे। जो पत्रकार सिर्फ रिपोर्ट लिखना जानते हैं वे रिपोर्ताज-लेखक नहीं हो सकते जो।

लेखक घर में बैठे कल्पना के सहारे साहित्य रचा करते हैं, उन्हें भी इस ओर सफलता पाने के लिये अपना पुराना क्रम छोड़ना होगा। रिपोर्ताज-लेखक के लिये जरूरी है, कि वह आधा तो पत्रकार हो, और आधा कलाकार हो। वह अपने चारों ओर के गतिशील जीवन की वास्तविक घटनाओं का इतिहासकार है। इसलिये वह अपना काम घर में बैठे-बैठे नहीं कर सकता।

जिस देश में लेखकों को इतनी सुविधा होगी कि वे अपनी इच्छानुसार जहाँ-तहाँ भ्रमण कर सकें और जो कुछ लिखें, उससे उन्हें जीविका के लिये काफी पैसा भी मिल सके, वहीं इस तरह के साहित्य का विशेष रूप से विकास हो सकता है। सोवियतरूस में प्रकाशन का कार्य पूँजीवादियों के हाथ में नहीं है, इसलिये लेखकों को अपनी रचनाओं से जीविका के लिये काफी पैसा ही नहीं मिल जाता बल्कि समाज के दूसरे लोगों की अपेक्षा ज्यादा धन भी मिल जाता है। वे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार जहाँ चाहें भ्रमण कर सकते हैं और अपने अनुभव के बल से सजीव-साहित्य-सृष्टि लिख सकते हैं। पिछले महायुद्ध में सोवियत लेखकों ने कलाकार के उत्तर-दायित्व को कितना समझा और कितना निबाहा, यह उसके साहित्य से प्रगट है। लड़ाई का कोई ऐसा मोर्चा नहीं था जहां लेखक भी न पहुँचे हों। पत्रकारों को जाने दीजिये। जाने-माने लेखक साहित्य की प्रेरणा के लिये मोर्चे पर पहुँचते थे। साहित्य के जिस रूप का इन्होंने सबसे ज्यादा विकास किया, वह था रिपोर्ताज। इलिया एरनवर्ग ने लेखकों की कठिनाइयों का जिक्र करते हुए लिखा है कि सजीव साहित्य की रचना के लिए उन्हें मुसीबतों का जरूर सामना करना पड़ता है लेकिन उन्हें याद रखना चाहिये कि लाल फौज के सिपाहियों को मुसीबतों का ही नहीं मौत का सामना करना पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि कई सोवियत लेखकों ने साहित्य को अपने प्राणों से भी ज्यादा महत्वपूर्ण समझा और दूसरे सिपाहियों की तरह वे अपने मोर्चे पर डटे रहे। कई लेखकों की जानें भी गयीं। परन्तु उन लोगों ने जितने रिपोर्ताज लिखे हैं उनमें महायुद्ध का सजीव-साहित्य और इतिहास दोनों हैं।

लेनिनग्राड पर महिनों तक बम-वर्षा होती रही लेकिन वृद्ध लेखक तिखोनोव ने शहर छोड़ने का नाम नहीं लिया। सर्दी के दिनों में वह बर्फ से ढके हुए मैदान और लेनिनग्राड के वीर नर-नारियों के आत्म-रक्षा के प्रयत्न देखता था। उसने इन सबके अमर चित्र अंकित किये हैं। सबसे ज्यादा रिपोर्ताज लिखने का श्रेय इलिया एरनवर्ग को है। महायुद्ध में वह सोवियत संघ का सबसे लोकप्रिय लेखक रहा है। उसके लेखों से मालूम होता था कि वह लाल फौज के साथ आगे बढ़ रहा है और उसके प्रभावपूर्ण शब्द सैनिकों की ही ललकार है। ऐसे तीव्र व्यंग का लेखक कम से कम पिछले दस वर्षों में दूसरा नहीं रहा। दर्जनों भाषाओं में उसके लेख अनुवादित हुए हैं और सोवियत संघ में तो वे न जाने कितने पत्रों में छापे जाते थे और कितने रेडियो स्टेशनों से विस्तार किये जाते थे। अभी हाल में एरनवर्ग अमरीका गया था; वहाँ के जीवन के जो शब्द-चित्र उसने दिये हैं, वे इतने मनोरञ्जक हैं कि उन्हें संसार के दैनिक पत्रों ने छापा था। वह एक महान उपन्यास-कार भी है और अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'पेरिस का पतन' के लिये उसे सोवियत संघ का सब से बड़ा पुरस्कार मिल चुका है। इस उपन्यास में रिपोर्ताज लेखक की छाप मौजूद है और उसकी सजीवता का यह भी कारण है कि एरनवर्ग ने आँखों देखी घटनाओं का वर्णन किया है।

अन्य सोवियत उपन्यासकारों में भी ऐसा ही प्रभाव दिखाई देता है। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि बहुत से लेखक ऐसे हैं जिन्हें उपन्यास और रिपोर्ताज लिखने में समान रूप से सफलता मिली है। वासली गोसमव, वान्दा वासीलेव्स्का, सिमोनो, सोलोगुब, शोलोखोव आदि के उपन्यासों में पचीसों ऐसे टुकड़े हैं जिन्हें निकाल कर अलग छापदें तो वे रिपोर्ताज के बड़े अच्छे उदाहरण मालूम होंगे। इन्हीं में से ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने जलते हुए स्तालिनग्राद और वोल्गा पर उसकी लाल छाया के अमर चित्र अंकित किये हैं। ग्रोसमन और सिमोनोव ने अपनी वर्णनात्मक शैली से रूस के पुराने लेखकों की परम्परा को सुरक्षित रखा है। इनके छोटे लेखों में भी वह एपिक टच है जो गोर्की और तोल्सताय में मिलता है। इनमें

घटनाओं की नाटकीयता, साधारण पात्रों की असाधारण वीरता आदि के चित्रों में सोवियट जनता के दृढ़ निश्चय, उसके साहस और बलिदान का चित्र मिलता है। किन कठिनाइयों में यह लोग अपने साहित्य की सामग्री एकत्र करते थे, इनका परिचय यूजिनी कीगर के एक रिपोर्ताज का अंश उद्धृत करने से मिल जायगा। स्तालिनग्राद से चलते हुए उसने एक घटना का वर्णन किया है :—

"स्तालिनग्राद के घेरे का प्रभाव मेरे मन में एक बूढ़े मल्लाह के कारण अमिट बन गया है। घटना रात को हुई थी। न अब किसी को उसकी सूरत याद है, न उसका नाम मालूम है। नाव के ऊपर एक बम फूट पड़ा। उस पर जितने लोग बैठे थे, वह सब नदी में ढुलक पड़े। एक नौजवान लैफ्टिनेंट भारी लबादा पहने था। उसके बोझ से वह डूबने लगा। बूढ़े मल्लाह ने उसका कॉलर पकड़ लिया और तेजी से अपना लाइफ-बेल्ट उसके सामने बढ़ा दिया। "लो इसका सहारा लो"—उसने कर्कश आवाज में कहा। लैफ्टिनेंट चुपके से बह जाने की कोशिश करने लगा। बूढ़ा मल्लाह चिल्लाया, "अरे बेवकूफ, मेरी बाँह तो टूट गयी है। अब बूढ़ा होगया हूँ, जो कुछ करना था कर चुका, अब तेरी बारी है। यह लाइफबेल्ट ले और शहर के लिये लड़।" वह लाइफबेल्ट छोड़कर एक हाथ से तैरता हुआ दूसरी तरफ को निकल गया और रात के अंधेरे में खोगया।"

इस उद्धरण से रिपोर्ताज लेखक का उत्तरदायित्व और उसकी कठिनाई का परिचय मिल जाता है। वीरों का वर्णन करने के लिये थोड़ी वीरता लेखक में भी होनी चाहिये, नहीं तो वह रीतिकालीन कवियों की वीरगाथा लिख सकेगा।

इस महायुद्ध के समय और उसके बाद भी हमारे देश में बड़ी बड़ी लोहमर्षक घटनाएँ हुई हैं। बंगाल के अकाल में लाखों स्त्री-पुरुषों ने जान से हाथ धोये। इस विभीषिका के अनुकूल हिन्दी में प्रभावपूर्ण रिपोर्ताज नहीं लिखे गये किन्तु जो लोग वहाँ गये थे, उन्होंने साहित्य को एक स्थायी निधि दी है। चटगाँव के बारे में उर्दू के प्रसिद्ध कवि अली सरदार जाफरी ने एक सुन्दर रिपोर्ताज लिखा था। अकाल और युद्ध से फायदा उठाकर ठेकेदारों ने मानवता के साथ कैसा वीभत्स खिलवाड़ किया था, इसका रोषपूर्ण चित्रण अली सर्दार ने किया है। अकाल के समय प्रसिद्ध बंगाली चित्रकार चित्तप्रसाद चटगाँव गये थे। थोड़े से शब्दों में उन्होंने जनता की नारकीय यातनाओं का दृश्य उपस्थित कर दिया है। उसका एक अंश हम यहां उद्धृत करते हैं—

"मैंने उस स्त्री से उसका नाम पूछा तो वह फूट फूट कर रोने लगी। हिचकियों के बीच में कभी कभी कुछ शब्द भी उसके मुँह से निकल रहे थे, पर इतने धीमे कि उन्हें सुनना असम्भव था। उसके बदन पर कपड़े की एक धज्जी भी नहीं थी। पास खड़े एक आदमी ने बताया कि वह मौयशखाली गाँव के एक मुसलमान किसान की पत्नी है और अब पागल होगयी है।

"कौक्स बाजार में आधे दर्जन से अधिक गुप्त रंडीखाने हैं। उनके ठेकेदारों के दलाल गिद्ध की तरह शहर की सड़कों पर निराश्रित स्त्रियों की तलाश में घूमते रहते हैं। किसान स्त्रियां जब मजूरी करके अपना पेट नहीं भर पातीं तो इनमें से किसी के फंदे में पड़ जाती हैं और कुछ दिन बाद इस हालत में पहुँच कर रंडीखाने से निकलती हैं।

"पास बैठा बच्चा अनाथ है। बाप मछुआ था, पिछले अकाल में मर गया। जब मां उसका पेट न पाल सकी तो वह भी उसे बाजार में छोड़कर कहीं चली गयी।"

रिपोर्ताज लिखने के लिये जनता से सच्चा प्रेम होना चाहिये। वैसे तो साहित्य के सभी रूपों के लिए यह शर्त्त है लेकिन रिपोर्ताज के लिये वह और भी जरूरी है। जिन्होंने अकाल और महामारी की चिन्ता न करके जनता के बीच में जाकर उसके दुख-दर्द की सही तसवीर खींचना साहित्य का ध्येय समझा है, वही अच्छे रिपोर्ताज लिख सके हैं।

अकाल और युद्ध के बाद सारी दुनियाँ के साथ हिन्दुस्तान भी बदला है। अब लोग सड़कों पर भूख से तड़प कर जान नहीं देते; वे सड़क पर आकर मजबूत मुट्ठियां बाँधकर साम्राज्यवाद को चुनौती देते हैं। बंबई में जहाजी सैनिकों ने विद्रोह किया और सन सत्तावन के बाद पहली बार तोपों का मुँह दूसरी तरफ घुमाया गया। आजाद हिन्द फौज के लिये विराट् प्रदर्शन हुए और उनमें जनता ने

गोलियों का सामना किया। कश्मीर के विद्रोह ने देशी राज्यों की जनता को आजादी का रास्ता दिखाया। इसमें सन्देह नहीं कि आज देश में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हो रहे हैं। दुनियाँ के लिये क्राँति अब कोई चीज नहीं रह गयी। अन्य देशों में इसके जो लक्षण देखे गये थे, वे आज हमारे देश में भी हैं। हिन्दी के साहित्यकार इस विद्रोही जनता के साथ बढ़कर ही अपने साहित्य की गौरवपूर्ण परम्परा की रक्षा कर सकते हैं। जहाजी सैनिकों के विद्रोह पर उर्दू के प्रसिद्ध लेखक कृष्णचन्द्र ने गुरुडा नाम की सुन्दर कहानी लिखी थी। अनेक पात्रों, अनेक घटनाओं और वर्णन की प्रधानता होने से इसका रूप कहानी से अधिक रिपोर्ताज का है। आज तो इस तरह के वीरतापूर्ण कार्य हर शहर और देहात में देखने को मिलते हैं। 'कला कला के लिये' की रट छोड़कर साहित्य को जीवन से सम्बन्धित करने का यही तरीका है कि लेखक आज के विद्रोह के इतिहासकार बनें। उनकी कला के लिये क्या सम्भावनाएँ हैं, वे अपने देश के प्रति किस तरह अपना कर्त्तव्य निबाह सकते हैं, इसका एक उदाहरण देकर हम यह लेख समाप्त करते हैं।

गुलाम मुहीउद्दीन कश्मीर की राष्ट्रीय कान्फ्रैन्स की सैनिक-समिति के अध्यक्ष हैं। राज्य की ओर से उन्हें पकड़ने के लिये काफी बड़ी रकम इनाम के लिये घोषित की गया है लेकिन वह जनता में छिपे हुए फरार का जीवन बिता रहे हैं। फरारी की हालत में भी उनकी कलम चलती जाती है और वह देशवासियों को विद्रोही कश्मीर के प्रति उनके कर्त्तव्य की याद दिलाते हैं। 'जख्मियों की आवाज' से हम एक अंश देते हैं—'और उस बच्चे की आँखें तो मैं कभी भूल न सकूँगा। उसका नाम असदुल्ला है। वह अभी पूरे बारह वर्ष का नहीं हुआ था कि काक की एक गोली सीधे उसके सीने में पैठ गयी। उसके बदन में अब इतनी शक्ति भी नहीं रह गयी है कि वह तकलीफ से कराह सके। वह गरीब माँ-बाप का बेटा है। इसलिए बचपन में खेलने खाने की उम्र थी तब उसे एक दर्जी के यहाँ नौकर होना पड़ा। घर वालों को उम्मीद थी, असद दर्जी का काम सीख लेगा तो कुछ घर का खर्च संभालेगा। पर उनकी उम्मीदें पूरे होने के पहले ही डायन डोगराशाही असद के खून की प्यासी हो गयी। शेरे कश्मीर की गिरफ्तारी के बाद श्रीनगर में जो पहली सभा हुई उसी में असद डायन का शिकार हो गया।

'बारह साल का बच्चा था, शायद राजनीति की बातें बिलकुल नहीं जानता था। मगर वह इतना जरूर जानता था कि वह गरीब है, उसके आस-पास रहने वाले तमाम लड़के गरीब हैं, और उन्हें भरपेट खाने को भी मयस्सर नहीं होता।'

'और वह यह भी जानता है कि अकसर जो लोगों को पकड़ते हैं, और पुलिसवाले जो निहत्थों पर डण्डे चलाते हैं, वे उसकी दुनिया कभी नहीं बदल सकते।

'असद और उसके जैसे तमाम गरीब और भूखे लड़कों की सारी उम्मीदें बस एक लफ्ज शेरे-कश्मीर के साथ बँधी हैं। वे जानते हैं, शेरे कश्मीर और उसके साथी भी असद की तरह गरीब हैं, वे भी उन्हीं गलियों में रहते हैं, जिनमें असद के माँ-बाप रहते हैं, और वह भी वही मोटा चावल खाते हैं, जिससे असद के घर पर लोग पेट भरते हैं।

'इस लिये जब शेरे-कश्मीर बोलते हैं, या उनके साथी सभा करते हैं, असद और उसके जैसे तमाम बच्चे उन्हें सुनने के लिये इकट्ठे होते हैं। उन्हें मालूम है कि इस जुर्म की सजा गोली हो सकती है—पर उससे क्या! कश्मीर में भूखे और गरीब बच्चों की कमी नहीं है।'

इन शब्दों में वही आग है जो हर देश भक्त लेखक के शब्दों में होनी चाहिये। कश्मीर की जनता मुहीउद्दीन के शब्दों से प्रभावित होती है, उसकी देशभक्ति पर विश्वास करती है, निरंकुशता को मिटा कर एक नई दुनिया बसाने के लिए व बलिदान के लिए तैयार होती है इसलिये अपनी जान की पर्वाह न करके वह मुहीउद्दीन को अपने बीच में छिपाती है। नये राष्ट्र के नये साहित्य का ऐसे ही निर्माण होता है।

ध्रुवस्वामिनी की ऐतिहासिकता

श्री परमेश्वरी लाल गुप्त, सहकारी संपादक "सैनिक"

'साहित्य सन्देश' के गतांक में पृष्ठ ८१ पर एक छोटा सा लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें प्रसाद जी के 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की पृष्ठभूमि की विवेचना करते हुए यह शंका प्रकट की गयी है कि उसका आधार ऐतिहासिक नहीं है। लेखक महोदय की दृष्टि में 'ऐतिहासिक दृष्टि से नाटक की कथावस्तु असम्भव मालूम देती है'। प्रस्तुत लेख में ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर उनके कथन की समीक्षा करने का यत्न किया जायेगा।

'ध्रुवस्वामिनी' में तीन प्रमुख पात्र हैं : गुप्त वंश के सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय जो विक्रमादित्य के नाम से प्रख्यात हुए हैं; उनके बड़े भाई रामगुप्त और रामगुप्त की पत्नी ध्रुवदेवी अथवा ध्रुवस्वामिनी जो पीछे से चन्द्रगुप्त की पत्नी हुई। चन्द्रगुप्त की ऐतिहासिकता में किसी को सन्देह करने की गुन्जाइश नहीं है। चन्द्रगुप्त की पत्नी के रूप में ध्रुवस्वामिनी की ऐतिहासिकता प्रमाणित है।[1] रामगुप्त और उनकी पत्नी के रूप में 'ध्रुवस्वामिनी' का नाम हमारे सामने पहले पहल 'देवी चन्द्रगुप्त' नामक नाटक के निम्नलिखित स्फुट अंशों से सामने आया जो एक प्राचीन नाट्यशास्त्र के ग्रन्थ में उदाहरण स्वरूप उद्धृत किये गये हैं।

१—यथा देवी चन्द्रगुप्ते द्वितीयेऽङ्के प्रकृती नामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवीं संप्रदाने अभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेनारिवधनार्थं यियासु प्रतिपन्न ध्रुवदेवी नेपथ्यः कुमार चन्द्रगुप्तो विज्ञपयन्नुच्यते।

एतत्स्त्री वेषधारिचन्द्रगुप्त बोधनार्थमभिहितमपि विशेषणा साम्येन ध्रुवदेव्या स्त्री विषयं प्रतिपन्नम् इति।

२—आर्तिः खेदो व्यसनमिष्टाद्विरोधः यथा देवी चन्द्रगुप्ते राजा चन्द्रगुप्तव्याह अत्र स्त्री वेषनिह्नुते चन्द्रगुप्ते प्रियवचनैः स्त्रीप्रत्ययाद ध्रुवदेव्यागुरुमनुमंतापरूपस्य व्यसनस्य सम्प्राप्तिः।

३—इयमुन्मतस्य चन्द्रगुप्तस्य मदनविकार गोपन परस्य मनोजशत्रुमातस्य राजकुल गमनार्थं निष्क्रमसचिकेति।

४—यथा देवी चन्द्रगुप्ते चन्द्रगुप्तो ध्रुवदेवीं दृष्ट्वा स्वगतमाह इयमिति सा देवी तिष्ठति येषा

रम्यां चारति कारिणां च करुणाशोकेन नीतां दशाम्
तत्कालोपगतेन राहुशिरसागुप्तेव चान्द्रकला।

व्युःकल्वीव जनोचितेनपरितेनानेव पुमः सतः लज्जाकोप विषादभीत्परतिभिः क्षेत्रीकृतानाम्यते। अत्र ध्रुवदेव्याभिप्रायस्य, चन्द्रगुप्तेन निश्चयः।[1]

उक्त नाट्यशास्त्र की पुस्तक से पता लगा है कि 'देवी चन्द्रगुप्त' नाटक के लेखक विशाखदत्त थे। विशाखदत्त की ख्याति मुद्राराक्षस जैसे ऐतिहासिक नाटक के लेखक के रूप में है। जिस प्रकार 'मुद्राराक्षस' में शासन के चक्रों का चित्रण है उसी प्रकार 'देवी चन्द्रगुप्त' में भी राजप्रासादों में होने वाले चक्रों और कुचक्रों तथा राजनैतिक उलट पुलट का चित्र जान पड़ता है। खेद है कि पूरा नाटक प्राप्य नहीं है। विशाखदत्त का समय अमुक पुष्ट प्रमाणों के आधार पर, जिनकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है, छठी शताब्दी माना जाता है। 'मुद्राराक्षस' की कथावस्तु लेखक के जीवन से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व की ऐतिहासिक घटना है, जिसके सम्बन्ध में आज भी किसी

१—परम भागवतस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तस्य महादेव्यां ध्रुवदेव्यमुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तस्य……

कार्पस इन्सक्रिप्सनम् इंडिकम्, भाग ३, संख्या १०, १२, १३।

महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त पत्नी महाराजा श्री गोविन्दगुप्त माता ध्रुवस्वामिनी।

वैशाली से प्राप्त मुहर (आर्कीलाजिकल सर्वे रिपोर्ट १९०३-४)

१. जनरल एशियाटिक, १९२३, पृ० २०१-२०९

को सन्देह नहीं है। इसलिए यह स्वाभाविक रूप से अनुमान किया जा सकता है कि 'देवीचन्द्रगुप्त' की कथावस्तु उन्होंने किसी ऐतिहासिक घटना से ही ली होगी और जो घटना उन्होंने ली है, वह उनसे कुछ ही सौ बरस पहले हुई थी। अतः इतिहास के विद्वानों को उसमें वर्णित घटना को सत्य मानने में कोई आपत्ति न जान पड़ी। विशेषतः जब उसके दो पात्र चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी उनके जाने पहचाने थे। अतः 'देवी चन्द्रगुप्त' में उल्लिखित सूत्रों को लेकर विद्वानों ने खोज आरम्भ की और इस क्षेत्र में स्वर्गीय श्री राखालदास बन्धोपाध्याय और डाक्टर अनन्तसदाशिव आल्तेकर ने विशेष रूप से छान बीन की। उनके अनुसंधान के फल स्वरूप 'देवी चन्द्रगुप्त' की घटना की सत्यता को पुष्ट करने वाले कुछ और प्रमाण सामने आये। ये प्रमाण छठी शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक के हैं।

पहला उल्लेख बाण के 'हर्षचरित्र' में मिलता है। बाण की ख्याति के सम्बन्ध में कुछ कहने की अपेक्षा नहीं है। वह महाराज हर्षवर्धन के राजकवि थे और उनका समय सातवीं शताब्दी है। उसमें आपने लिखा है।

अरि पुरे च पर कलत्र कामुकं कामिनीवेश गुप्तः चन्द्रगुप्त शकपतिमशासयति।

बाणभट्ट को इस रचना की टीका करते हुए नवीं शताब्दी में हुए शंकराचार्य ने लिखा है—

शकनामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थ्यमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेश जन परिवृतेन व्यापादितः।

इस टीका से स्पष्ट है कि इस घटना का नवीं शताब्दी में पता था और बाण ने अपनी पुस्तक में उसी घटना की ओर संकेत किया है।

दशवीं शताब्दी में कन्नौज के शासक यशोवर्मा के यहां राजशेखर थे। उन्होंने अपनी काव्य-मीमांसा में वस्तु स्वरूप का उदाहरण देते हुए उक्त घटना की इस प्रकार चर्चा की है :

दत्वारुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुव
खंडित साहसो निवर्तते श्री शर्मगुप्तो (
तस्मिन्नेव हिमालये गुरु गुहाकोणत्क्वणत्किन्नर
गायन्ते तव कीर्ति केय नगर स्त्रीणां गणैकीर्तिय:

इसके बाद हमें इस घटना का उल्लेख राजा भोज कृत 'शृंगारप्रकाश' में मिलता है। राजा भोज ११ वीं शताब्दी में धार के शासक थे। उन्होंने अपने 'शृङ्गार प्रकाश' में इस घटना की चर्चा इन शब्दों में की है।

स्त्रीवेषनिह्नुतः चन्द्रगुप्तः शत्रोस्कन्धावारमलिपुरं शकपात वधायागमत्।

यथा देवी चन्द्रगुप्ते शकपतिना परंकृकमापादितं रामगुप्त स्कन्धवारामनुजिघृक्षुरुपायान्तराऽगोचरे प्रतिकारे निशिवेताल साधनम्, अध्यवस्यन् कुमार चन्द्रगुप्त आत्रेयेण विदकेन उक्तः

इस प्रकार 'देवी चन्द्रगुप्त' के अतिरिक्त रामगुप्त और उनकी पत्नी के रूप में ध्रुवस्वामिनी की चर्चा करने वाले साहित्य के चार प्रमाण हैं। ये प्रमाण केवल कल्पना या जनश्रुति कह कर टाले नहीं जा सकते। उनमें जो कुछ भी कहा गया है उनके आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चन्द्रगुप्त का ज्येष्ठ भाई रामगुप्त अत्यन्त शक्तिहीन और असमर्थ राजा था, उसके राज्य पर शकों ने आक्रमण किया, पर अपने राज्य को सुरक्षित रखने के निमित्त उसने आक्रमणकारी से सन्धि करली। आक्रमणकारी ने सन्धि की शर्तों में उससे उसकी पत्नी को मांगा और उसने उसे देना स्वीकार कर लिया। उसका कनिष्ठ भ्राता चन्द्रगुप्त इसको सहन नहीं कर सका और उस साहसी वीर योद्धा ने ध्रुवदेवी का वेश बनाकर शत्रु के शिविर में जाने का निश्चय किया ताकि वह उन दुष्ट शकों के राजा को मार डाले। फलतः वह स्त्रीवेशधारी सैनिकों के साथ शत्रु-शिविर में पहुँचा। वहाँ शक राजा ध्रुवदेवी की प्रतीक्षा कर रहा था। ध्रुवदेवी वेशधारी चन्द्रगुप्त ने मौका पाकर उस शक शासक को मारडाला।

ठीक यही घटना हमें बारहवीं शताब्दी की फारसी की इतिहास पुस्तक मुजम्मुल तवारीख में मिलती है। उसमें

रामगुप्त और चन्द्रगुप्त के स्थान पर रव्वाल तथा बरकमारीस नाम मिलते हैं। बरकमारीस तो स्पष्ट विक्रमादित्य का अपभ्रंश जान पड़ता है रव्वाल भी रामगुप्त को संकेत करता है, ईलियट ने इसको अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ इन्डिया' में संकलित किया है, उस पुस्तक में फारसी से अनुवाद की बहुत सी अशुद्धियाँ पायी जाती हैं, हो सकता है मूल प्रति के पढ़ने में भूल हुई हो अथवा जो प्रति उन्हें मिली हो वह अशुद्ध लिखी गयी हो, जो भी हो, उसमें घटना इस प्रकार है:—

राजा रव्वाल तथा बरकमारीस दो भाई थे, रव्वाल के शासन काल में स्वयंवर में बरकमारीस को एक राजकुमारी मिली। जब वह राजकुमारी को लेकर घर आया तो रव्वाल उस पर मोहित होगया और उससे स्वयं विवाह कर लिया। बरकमारीस विद्याभ्यास में लग गया और विद्वान के रूप में ख्याति प्राप्त की। रव्वाल पर उसके पिता के एक शत्रु ने आक्रमण किया और रव्वाल पराजित हो गया। वह अपने परिवार आदि को लेकर एक पर्वत की चोटी पर चला गया जहां एक दुर्ग था। वहां जाकर रव्वाल ने सन्धि की प्रार्थना की, सन्धि की शर्तों के अनुसार रव्वाल ने अपनी पत्नी तथा सामन्तों की पुत्रियों को शत्रुओं को भेंट करने का वचन दिया। जब यह बात बरकमारीस को मालूम हुई तो उसने राजा से अपनी स्त्री तथा सामन्तपुत्रियों को न भेज कर उसे तथा सामन्तपुत्रों को स्त्री के वेश में भेजने का सुझाव रखा, राजा ने उसका सुझाव मान लिया। तदनुसार वह और सामन्तपुत्र हथियार ले लेकर स्त्री वेश में शत्रु के शिविर में पहुँचे, उसके सोचे हुए विधान के अनुसार शत्रु नरेश ने उसे अपने पास रख लिया। और अन्य स्त्री वेश धारी युवकों को अपने सामन्तों में बाँट दिया। बरकमारीस ने मौका पाकर उस शासक की हत्या करदी। पश्चात् उसने बिगुल बजाया जिसे सुनकर और युवकों ने सामन्तों को मार डाला। उसकी आवाज सुनकर रव्वाल की सेना ने शत्रु की सेना पर आक्रमण कर उसे मार भगाया।

इस प्रकार प्रसाद जी ने अपने नाटक के लिये एक अतिप्रचलित घटना को चुना है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि इस घटना को ऐतिहासिक कहा जा सकता है या नहीं। दक्षिण के राष्ट्रकूट वंशज राजा अमोघवर्ष प्रथम ने एक ताम्र शासन शक संवत् ७६४ प्रचलित किया था। यह ताम्रशासन 'संजन ताम्रपत्र' के नाम से विख्यात है। इसमें उसने अपने दानशीलता का ढिंढोरा पीटते हुए अपने से पूर्व हुए दानी एक गुप्तवंशज पर आवाजाकशी की है:—

हत्वाभ्रातरमेव राजमहादेवीं स दीनस्तथा लंबां
कोटिमलेखयनकिल कलौदाता स गुप्तान्वयः

इस ताम्रशासन में गुप्त शासक का नाम नहीं है पर उसमें जो बातें कही गयी हैं वह, यदि उपर्युक्त घटना के प्रकाश में देखा जाय तो स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि, वहां चन्द्रगुप्त पर लागू होता है। कोई शासक जब अपने किसी बड़प्पन की डींग हांकेगा तो अपने ही समान किसी व्यक्ति की तुलना में अपने को बड़ा बतायेगा, उसके लिए वह किसी कल्पित व्यक्ति का नाम नहीं लेगा। अतः जब अमोघवर्ष गुप्तवंशज का उल्लेख करता है तो यह निश्चित है कि उसे यह मालूम था कि गुप्तवंश में कोई ऐसा शासक था जिसने अपने भाई को मार कर उसका राज्य तथा उसकी पत्नी छीन ली। इस प्रकार संजन ताम्रपत्र से इस घटना की ऐतिहासिकता को बल मिलता है। फिर भी इस सम्बन्ध में तीन आपत्तियां की गयी हैं :—

१—समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच रामगुप्त नाम का कोई सम्राट था इस बात का कोई प्रमाण नहीं।

२—यह बात अत्यन्त असम्भव मालूम देती है कि एक अत्यन्त साधारण शक सरदार महाराज समुद्रगुप्त की पुत्रवधू को अपनी स्त्री बनाने के लिए मांगने का साहस करेगा।

३—चन्द्रगुप्त और विधवा ध्रुवदेवी का विवाह शास्त्र सम्मत नहीं है, इसलिए उसका होना सम्भव नहीं जान पड़ता।

पहली आपत्ति के सम्बन्ध में यह मानने में हमें सङ्कोच नहीं है कि अभी तक कोई ऐसा प्रत्यक्ष पुरातात्विक प्रमाण सामने नहीं आया है जिससे उल्लिखित साहित्यिक प्रमाणों

१—ईलियट, हिस्टरी आफ इण्डिया, भाग १ पृष्ट ११०

२—एपीग्राफिकाइन्डिका भाग १८, पृष्ठ २४८

का समर्थन हो सके। पर इसका यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि घटना ही असत्य है। जिस बात का प्रमाण आज सामने नहीं है, उसका प्रमाण कल प्रस्तुत हो सकता है। कम से कम पुरातत्व विज्ञान की आधार शिला यही है और उसी की नींव पर इतिहास का निर्माण होता है। वैदिक एवं पौराणिक घटनाओं अथवा महाभारत और रामायण की घटनाओं के उपलब्ध चिह्न आज कहां हैं? फिर भी हम उसकी सत्यता में सन्देह नहीं करते। उन किंवदन्तियों में हम सत्य के अंकुर मानते हैं। जब हम हजारों वर्ष पूर्व की घटना के सम्बन्ध में सन्देह नहीं करते तो फिर इस घटना के सम्बन्ध में यह सन्देह क्यों जिसके सम्बन्ध में लिखित प्रमाण घटना के कुछ ही दिनों बाद से मिलते हैं।

इस तर्क का आश्रय छोड़ कर प्रत्यक्ष पर आइये। यह समुद्रगुप्त के एरण वाले लेख से स्पष्ट है कि उसके कई भाई थे*। संजन ताम्र शासन से भी उस शासक के कम से कम एक और भाई होने का उल्लेख मिलता है, जिसकी ओर उस शासन में संकेत है। जब इतना स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त के कोई और भाई था तो रामगुप्त के उसके भाई होने में सन्देह की गुञ्जाइश कहां है? हां, इतना अवश्य है कि उसके नाम का न तो कोई लेख प्राप्त हुआ है और न मुद्रा। पर इससे उसका अस्तित्व लोप नहीं किया जा सकता। बिना किसी मुद्रा के आज गोविन्दगुप्त का अस्तित्व माना जाता है। पुरगुप्त की भी कोई मुद्रा नहीं पायी जाती। उसकी समझी जाने वाली मुद्रायें बुधगुप्त की हैं।+ इसी प्रकार काचगुप्त, घटोत्कचगुप्त का कोई लेख प्राप्त नहीं है और न उसका किसी लेख में उल्लेख है। पर इससे उनके अस्तित्व को मिटाया नहीं जा सकता। गुप्त शासकों के अभिलेखों को यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो किसी शासक ने अपने वंश-वृतान्त में अपने भाई की चर्चा नहीं की है। सबने अपने पिता, पितामह, प्रतिपितामह आदि का ही उल्लेख किया है। समुद्रगुप्त की प्रशस्तियों में गुप्त, घटोत्कच और चन्द्रगुप्त प्रथम का ही उल्लेख है। उसके बड़े भाई काचगुप्त का कहीं जिक्र नहीं है, जब कि उसके अस्तित्व का पता उसके सिक्के से चलता है और समर्थन मंजुल-मूल कल्प तथा अन्य साधन से होता है। इसी प्रकार कुमारगुप्त प्रथम अथवा उसके वंशजों की किसी भी प्रशस्ति में गोविन्दगुप्त का नाम नहीं है। उनका पता वैशालीवाली मुहर से ही चलता है। सबसे ज्वलन्त उदाहरण स्कन्दगुप्त और पुरगुप्त का है। स्कन्दगुप्त का पता उसके अपने अभिलेखों से चलता है। वह कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र था। उसका भाई पुरगुप्त था। यह बात उसके अभिलेख से नहीं मिलती। पुरगुप्त के वंशजों के अभिलेख हैं उसमें पुरगुप्त को कुमारगुप्त का पुत्र बताया है पर स्कन्दगुप्त का कहीं उल्लेख नहीं किया है। और यह उस अवस्था में जब इस बात के प्रमाण हैं कि वह शासनारूढ़ रहा है। इस प्रकार रामगुप्त का नाम यदि अब तक के ज्ञात अभिलेखों में नहीं मिलता तो कोई आश्चर्य नहीं। पुरगुप्त का अपना कोई अभिलेख नहीं मिला। उसका पता उसके पुत्र-पौत्रों के अभिलेख से ही लगता है। हो सकता है अपने अल्प-कालीन शासन-काल में उसने कोई प्रशस्ति न प्रकाशित की हो। इन सब सम्भावनाओं को देखते हुए रामगुप्त का अस्तित्व पुष्ट ही होता है।

दूसरी आपत्ति का विषय यह है कि समुद्रगुप्त के पश्चात् देश में ऐसी कोई शक्ति रह ही नहीं गयी थी जो गुप्त सम्राट् का सामना करने का साहस करती। यह सोचना कि जिस शत्रु को पिता ने पराजित कर दिया वह पुत्र के समय, वह भी ऐसे पुत्र के समय जो भीरु हो, सर उठाने का साहस न करेगा थोथी कल्पना है, उस समय तो वह और भी जोर के साथ सर उठायेगा। साथ ही यह न भूलना चाहिये कि विजयी विजित से चाहे जिस भी प्रकार शर्तें सन्धि के लिए रख सकता है। समुद्रगुप्त जैसे पराक्रमी का बेटा जब पराजित हो तो पराजय देने वाले का गौरव तो तभी बढ़ेगा जब वह उसका अधिक से अधिक मान मर्दन करने में सफल हो। ऐसी अवस्था में शक शासक चाहे कितना ही निर्बल रहा हो रामगुप्त को पराजित करने के बाद

*—गृहेषु मुदिता बहु पुत्र पौत्र सक्रामिणी कुल वधू व्रतिनि निविष्टा।
—कार्पस इन्स्क्रपशनम इण्डिकम, भाग ३ नं० २

+इण्डियन कल्चर भाग १, खण्ड ४५०६६१-६२

तो वह बली हो ही गया था। यदि उसने ध्रुवस्वामिनी की माँग की हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अब यदि हम वस्तुस्थिति की ओर आयें तो हम देखेंगे कि चन्द्रगुप्त द्वितीय को नये सिरे से विजय करनी पड़ी थी, उसने अपने पिता की तरह अपने विजय की लम्बी चौड़ी प्रशस्ति नहीं लिखाई है पर मेहरौली और उदयगिरि के लेख बताते हैं कि उसे नये सिरे से शासन-विस्तार करना पड़ा था। हां, यह विचारणीय प्रश्न होसकता है कि पराजय देने वाला वह शक शासक कौन था। शक भारत में बाहर से आने वाली सभी जातियों को कहा गया है पर उस प्रश्न का उत्तर इस लेख का अपेक्षित विषय नहीं हैं।

तीसरी आपत्ति का विषय ऐतिहासिक महत्व न रख कर सामाजिक महत्व रखता है, इसलिए लेख के विस्तार के भय से उस पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे।

विषय को आगे बढ़ाने से पहले लेखक की एक चौथी आपत्ति की भी प्रसंगवशात् चर्चा कर देना चाहते हैं। लेखक ने लिखा है कि सबसे आश्चर्य की बात यह है कि स्वयं चन्द्रगुप्त ही नारी वेश बनाकर शकराज के पास नहीं जाता, वरन् इस आपत्तिजनक परिस्थिति में मगध की साम्राज्ञी को भी डाल देता है। हम यह नहीं जानते कि लेखक ने यह किस आधार पर कहा है। ऊपर जो तथ्य संकलित किये गये हैं उनमें किसी ऐसी बात का उल्लेख नहीं हैं, चन्द्रगुप्त ने जो कुछ किया वह असम्भव नहीं है। हमारे सामने अलाउद्दीन खिलजी और पद्मिनी का उदाहरण मौजूद है। इस घटना का बहुत कुछ साम्य उससे है।

अतः हमें प्रसाद जी के इस कथानक में न तो कोई बात असम्भव जान पड़ी और न अनैतिहासिक. पर यदि थोड़ी देर के लिए हम इस घटना को सत्य घटना भी न मानें और यही मान लें कि वह परम्परागत जनश्रुति है। तो भी उससे प्रसाद जी अथवा उनके नाटक पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता। कल्पना प्रसूत मौलिक कथानक तो वह कहा नहीं जायेगा। पौराणिक कथानक में भी उसकी गणना हो नहीं सकती। फिर उसे आप क्या कहेंगे? हमारी समझ में तो पुरानी कोई भी घटना जो जनश्रुति हो या लिखित हो इतिहास की कोटि में आ जाती है।

'ध्रुवस्वामिनी या किसी अन्य नाटक के सम्बन्ध में विचार करते समय यह समझना चाहिये कि प्रसादजी का लक्ष्य प्राचीन कालीन किसी घटना का चित्रण उतना नहीं रहा है जितना कि प्राचीन साँस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधुनिक समस्याओं पर विचार करना। इस दृष्टि से उनके नाटकों को कम देखने की चेष्टा की गयी है। ध्रुव स्वामिनी उस समय लिखी गयी थी (उसका रचना काल संवत् १९९० है) जब नारी जागरण आरम्भ होरहा था, नारी अपने पैरों पर उठने की चेष्टा कर रही थी। लोगों का ध्यान विधवा-विवाह के प्रश्न की ओर भी था। अतः हम देखते हैं कि इस नाटक में ध्रुवस्वामिनी हमारे सामने समाज और परम्परा से विद्रोह करती दिखाई पड़ती है। अपने मनोवाञ्छित भावों को चित्रित करने के लिए इससे अच्छा दूसरी कोई कथावस्तु मिल भी नहीं सकती थी। उससे कुछ ही पहले राखाल बाबू ने इस कथानक के आधार पर ध्रुवा नामक उपन्यास लिखा था। यह उपन्यास देवी चन्द्रगुप्तम् के उद्धरणों के प्रकाश में आने के बाद ही संवत् १९८५ में लिखा गया था। और बंगला मासिक 'प्रवासी' के संवत् १९८८ के अंकों में छपा था। इस प्रकार सबसे ताजा और उपयुक्त विषय उन्हें अपने विचार व्यक्त करने को मिला था। इसी दृष्टि से देखा जाय तो हमें इस बात पर विवाद करने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि इस नाटक की कथावस्तु ऐतिहासिक है या नहीं।

गुप्तजी की उर्मिला और यशोधरा

[लेखक ने साकेत और 'यशोधरा' को गुप्त जी के सब ग्रंथों में श्रेष्ठ माना है। प्रस्तुत निबंध में उसने 'उर्मिला' और 'यशोधरा' के चरित्रों के मर्म पर किंचित प्रकाश डालते हुए, उनके विरह की मात्रा का विशेष वर्णन किया है। उसकी दृष्टि में 'उर्मिला' यशोधरा' से श्रेष्ठ है। लेखक की युक्तियों और निष्कर्षों से यद्यपि पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता, तथापि एक दृष्टिकोण अथवा एक पहलू के रूप में इसे ग्रहण किया जा सकता है।

—संपादक]

सन् १६३१ से अब तक गुप्त जी ने जिन श्रेष्ठ ग्रन्थों का प्रणयन किया है वे ये हैं: —'साकेत' 'यशोधरा' 'द्वापर' 'सिद्धराज' और 'नहुष'। इन सभी काव्यों में नारी-हृदय की विह्वलता तथा उसकी करुण पुकार है। नहुष को छोड़ कर सभी में स्त्री की प्रधानता है। 'यशोधरा' में पुरुष प्रधान और न स्त्री; वरन दोनों में आत्मार्पण के भाव हैं। पूर्ण रूप से पंगु हो गया है। और 'साकेत' में, मेरे विचार से न पुरुष ही प्रधान है और न स्त्री। वरन दोनों में आत्मार्पण के भाव हैं। नहुष की इन्द्राणी की तरह उर्मिला पुरुष के कठोर अत्याचार से सताई नहीं जाती, बल्कि उसे पुरुष का सहारा मिला उसमें कर्त्तव्य और पति प्रेम का सम्मिश्रण है। साकेत में यदि स्त्री-पुरुष का संघर्ष है तो केवल दशरथ और कैकई के बीच। यशोधरा में पुरुष और स्त्री के बीच दो विरोधी सिद्धान्तों का संघर्ष है। गुप्त जी की इन सभी रचनाओं में 'साकेत' और 'यशोधरा' निस्सन्देह श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में गुप्तजी की काव्य-कला चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर गयी है।

'साकेत' और 'यशोधरा'-दोनों में नारी की विह्वल आत्मा तड़पती नजर आती है। उर्मिला और यशोधरा दोनों विरहणियाँ हैं। दोनों राजप्रसाद की चहारदीवारी के भीतर क्रंदन करती हैं। दोनों दो श्रेष्ठ पुरुषों की स्त्रियाँ हैं। दोनों में पति-मिलन की तीव्र-अभिलाषा है। पर दोनों की परिस्थिति और जीवन-सिद्धान्त में बहुत भेद है। यदि यशोधरा उपेक्षिता और तिरस्कृता दोनों हैं तो उर्मिला दोनों में से कुछ भी नहीं है। उसका अलग अपना विशेष व्यक्तित्व है। वह केवल राम के शब्दों में 'सहधर्मचारिणी' है। यशोधरा को राहुल-सा लाल प्राप्त है पर उर्मिला इससे वंचित है। यशोधरा के स्वामी चोरी-चोरी उसे छोड़ कर गये, पर उर्मिला के स्वामी उसे अयोध्या में रहने का आदेश देकर गये —

रहो रहो हे प्रिये रहो।
यह भी मेरे लिये सहो॥

उर्मिला ने प्रस्ताव स्वीकार भी कर लिया। उसने इस प्रस्ताव का समर्थन बिना किसी तर्क के स्वीकार कर लिया। उसने अपने मन को धैर्य तथा दृढ़ता प्रदान करते हुए मन में कहा—

'........ रे मन!
तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन॥'

यशोधरा के स्वामी का प्रस्थान रात्रि-काल में होता है। यशोधरा को यदि दुख है तो इसका कि उसके प्राणेश्वर चोरी-चोरी क्यों गये!—

'सिद्धि-हेतु स्वामी गये यह गौरव की बात।
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात॥'

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि सिद्धार्थ लक्ष्मण की तरह बन गमन करते, तो क्या यशोधरा अपने स्वामी की बात सहज ही में स्वीकार कर लेती? यशोधरा में तर्क की प्रधानता है। वह, उस समय मेरे विचार से, 'सिद्धि-मार्ग की बाधा नारी' अवश्य हो जाती, क्योंकि सिद्धार्थ यशोधरा के स्वभाव से चिरपरिचित थे। वह जानते थे कि यशोधरा हास-विलास-पूर्ण विनोद-पूर्ण है। यदि वह उसे जगाते तो वह उनके मार्ग की बाधा अवश्य बन जाती। फिर सीता की तरह चलने के लिये जरूरी जिद करती। इसके

अतिरिक्त सिद्धार्थ यह भी समझते थे कि यशोधरा सांसारिक सुखों के मायिक बंधन से अधिक जकड़ गयी है,— माता बन चुकी है। ऐसी हालत में सांसारिक सुखों का त्याग तुरन्त न कर सकेगी। इस प्रकार सिद्धार्थ को चुपके से रात में यशोधरा को छोड़ भागना सिद्धार्थ जैसे विरागी के लिए बिल्कुल उपयुक्त है।

यशोधरा के जीवन में उन्माद अधिक है। वह रह-रह कर पति को उपालंभ देती है—

मैं अबला! पर वे तो विश्रुत वीर-बली थे मेरे,
मैं इंद्रियासक्त! पर वे कब थे विषयों के चेरे?

पर उर्मिला अपने हृदय की उक्तियों को अपने अन्दर सीमित रखती है, भूल कर भी व्यक्त नहीं करती। यशोधरा को कभी कभी अपने ऊपर से भी विश्वास जाता रहता है। इसलिये वह कहती है —

ढलक न जाय अर्घ्य आखों का
गिर न जाय वह थाली।,,

उर्मिला को अपने ऊपर दृढ़ विश्वास है; साथ-साथ अपने पति के कर्त्तव्यों में भी वह पूर्ण श्रद्धा तथा विश्वास रखती है। उर्मिला लक्ष्मण के वन-गमन का कारण न तो कैकई को बताती है और न राम को। वह समष्टिरूप से इसका कारण राजनीति की कुटिल चाल को बताती है— 'हम राज्य लिये मरते हैं!' वह कृषक जीवन अधिक पसंद करती है। वह कहती है —

'सच्चा राज्य परन्तु कृषक ही करते हैं।
जिनके खेतों में अन्न,
कौन अधिक उनसे सम्पन्न?
× × ×
होते कहीं वहीं हम लोग,
कौन भोगता फिर यह भोग।'

इस प्रकार उर्मिला यशोधरा से निस्संदेह श्रेष्ठ नारी है। गिरीश ने उर्मिला के चरित्र पर दो आक्षेप किये हैं--(१) यशोधरा ने एक बार अपने पति को खोकर सदा के लिए खो दिया..., (२) उर्मिला के वियोग की अवधि निश्चित थी, लेकिन यशोधरा का वियोग निरवधि था। ये कथन निराधार हैं। इसके विपरीत मैं तो कहूँगा कि यशोधरा ने अपने पति को एक बार खो कर सदा के लिए पा लिया। सच तो यह है कि बुद्ध के आने के पहले ही से यशोधरा बुद्ध की शरण में जाने के लिए तैयार बैठी थी--

'उनके करुण धर्म-सङ्घ की शरण में
गोप के लिए कहीं ठौर होगा या नहीं।'

गोप को ठौर अवश्य मिला। तभी तो वह गौरवान्वित हो कर कहती है--

'यही प्रणति है उन्नति मेरी,
हुई प्रणय की परिणति मेरी,
मिली आज मुझको गति मेरी,
क्यों न करूं अभिमान!
पधारो भव-भव के भगवान!

अन्त में दोनों—राहुल और यशोधरा बुद्ध की शरण में चले जाते हैं--

'बुद्धं शरणं, धर्मं शरणं, सघं शरणं गच्छामिहु:।

इस प्रकार यशोधरा को एक साथ अनेक तत्व मिले---पुत्र, परमेश्वर, पति और आदर्शजीवन। एक पति-परायणा को एक साथ इतने वरदान! क्या कम हैं?

उर्मिला को चौदह वर्ष की लम्बी अवधि के बीच क्या मिला? आठ-आठ आँसू, बस और क्या! वास्तव में उर्मिला के चौदह वर्षों का जीवन विरहिणी पत्नी का जीवन है। चौदह वर्ष की लम्बी अवधि क्या कम है? उर्मिला के यदि एक भी सन्तान होती तो उसका जीवन इतना क्रन्दन पूर्ण न होता, तब वह समाज-सेविका अवश्य होती।

'गिरिश' जी का एक और आक्षेप इन दो विरहिणि यशोधरा और उर्मिला—पर है और वह यह है कि कवि ने यशोधरा को भी उर्मिला की तरह समाज-सेविका नहीं बनाया। मेरे विचार से ऐसा न कर गुप्त जी ने अपनी दूर-दर्शिता का परिचय दिया है। भारत में राजनैतिक सुधार तो आज जोरों से हो रहा है, पर सामाजिक सुधार करने के लिए बहुतों ने कोशिश की है अवश्य, पर उन्होंने कौटुम्बिक जीवन का कोई भी सुधार नहीं किया है। सिर्फ समाज की ऊपरी बुराइयों के दूरीकरण की ही कोशिश की गयी है। इस तरह गुप्त जी ही एकमात्र हमारे कौटुंबिक जीवन के कवि हैं। उन्होंने स्वयं कहा है--

जाति बड़ी है, देश और भी
बड़ा, विश्व का क्या कहना,
जल में, थल में और गगन में,
मैं हूँ कौटुंबिक कविमात्र ॥

गुप्त जी ने 'साकेत' में कौटुंबिक जीवन की झाँकी दिखाई है। यशोधरा में भी कौटुंबिक पहेलियाँ सुलझाई गयी हैं। कवि साकेत छोड़कर अन्य कहीं नहीं जाता, उसी प्रकार कवि कपिलवस्तु छोड़कर अन्य स्थलों का स्पर्श तक नहीं करता। समाज सुधार करने के लिए सबसे पहले गृह-कलह का सुधार होना चाहिये। 'साकेत' में राजनैतिक दाव-पेच तो हैं नहीं; है आपस की कौटुंबिक विषमता। गुप्त जी इन विषमताओं का सुधार चाहते हैं। गुप्तजी वस्तुतः महाकवि तुलसीदास की परंपरा के कवि हैं। तुलसी के अधूरे कार्य को ये आज पूरा कर रहे हैं। इस प्रकार उर्मिला और यशोधरा को समाज-सेविका न बना कर गुप्तजी ने भारतीय नारी परंपरा को अक्षुण्ण रखा है। इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। गुप्तजी ने अपने काव्यों में इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया है कि पुरुष का क्षेत्र बाहर का है और स्त्री का क्षेत्र भीतर का! दूसरे शब्दों में, भारतीय स्त्री को गृहिणी बनकर, पतिपरायण होकर, कला और संगीत में प्रवीण होकर, आदर्श और मर्यादा की रक्षा कर गृह जीवन व्यतीत करना चाहिए। इसीलिए गुप्तजी की सभी पात्रियाँ शील, पतिपरायणता, कला और संगीत में प्रवीण हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि स्त्री जब राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश करती है तब गृह-कलह की आँधी गतिमान हो उठती है। इसके उदाहरण में हम गुप्तजी की कैकेयी और प्रसाद जी की छलना को प्रस्तुत कर सकते हैं, इसलिए स्त्री को राजनीतिक तथा सामाजिक पचड़ों में कभी भी नहीं पड़ना चाहिए। उसे केवल कौटुंबिक प्रश्नों का समाधान करना चाहिए।

उर्मिला और यशोधरा में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि उर्मिला एक जगह समान रूप से एकमात्र अपने पति की दासी बनी रहती है—सहधर्मचारिणी है। पर यशोधरा तार्किक और कभी-कभी चञ्चल तथा उच्छृंखल भी है। यशोधरा अपने अन्तर की व्यथा का प्रकाशन राहुल को गीत गा-गा कर करती है, पर उर्मिला के पास कौन शिशु है, जिससे अपना मन बहलाती! सखियाँ? स्त्री की व्यथा स्त्री सुन लेती है जरूर, पर उसका निवारण वह नहीं कर पाती। अतः वह (उर्मिला) अपने हृदय की सारी व्यथाएँ अपने भीतर समेट लेती है, उसका प्रकाशन नहीं करती। 'साकेत' के प्रथम और अन्तिम सर्ग को छोड़ कर सभी जगह उर्मिला शान्त और गम्भीर बनी रहती है। उसके जीवन में अनेक ऐसी परिस्थितियाँ आयीं कि यदि वह चाहती तो समाज से, कुटुम्ब से अवश्य विद्रोह कर सकती थी लेकिन उर्मिला का चरित्र इन स्थलों पर और भी उज्ज्वल हो गया है। इस सम्बन्ध में श्री प्रेमनारायण टण्डन ने ठीक ही कहा है कि—"आवेगपूर्ण यौवन के अनुराग मय और सावेश प्रेम पर वह जितना कठोर नियंत्रण करती है, वह मानवीय त्याग का कदाचित सर्वोच्च उदाहरण समझा जाएगा।" वह केवल चुप रहना जानती है। वन-गमन के अवसर पर जब कि सीता अपने पति के साथ जाने के लिए उद्यत हो उठी, उस समय भी उर्मिला चुप रही, कुछ न बोली। उस अवसर पर सीता का यह कथन कि—

"सास-ससुर की स्नेहलता,
बहन उर्मिला महा व्रता
सिद्ध करेगी वही यहाँ
जो मैं भी कर सकी कहाँ"

उर्मिला को उत्तेजित करने के लिए काफी था। वह सीता की तरह वन जाने के लिए अवश्य जिद करती, पर वह चुप रही, शांत रही। सच तो यह है कि इस अवसर पर सीता ने उर्मिला के प्रति साम्यभाव एवं सहानुभूति का सच्चा प्रदर्शन न किया, वरन् उसने जले पर नमक छिड़का। सीता उर्मिला को संबोधित कर कहती है:—

आज भाग्य जो है मेरा,
वह भी हुआ नहीं तेरा!

कहने का तात्पर्य यह है कि उर्मिला का त्याग यशोधरा के त्याग से कहीं श्रेष्ठ है। यशोधरा आत्महत्या की भावना मन में लाती है, पर तुरंत ही उसकी दृष्टि भोले राहुल पर पड़ती है, उसी क्षण उसकी यह भावना शांत हो

जाती है। यशोधरा महाप्रजापती एवं शुद्धोदन के साथ अनेक तर्क वितर्क करती है। वह स्पष्ट शब्दों में गौतम का स्वागत न कर देने की बात कह देती है। उसने अपने हृदय की सारी कथाएं एक ही सांस में कह डालीं। यशोधरा का वह उग्र कथन दर्शनीय है। बुद्ध मगध के समीप आगए हैं, लेकिन मानिनी यशोधरा अपने जीवन का एक सिद्धांत लिए बैठी रहती है—

'विदा न लेकर स्वागत में भी वंचित यहाँ किया है।' वह नहीं जाती है। पूछने पर सिंहनी की तरह कह उठती है—

"......आप इच्छा रहते हुए,
जाने नहीं पाती ? यदि पाती तो कभी यहां
बैठी रहती मैं ? छान डालती धरित्री को।
सिंहनी सी काननों में, योगिनी सी शैलों में,
शफरी-सी जल में, विहंगिनी सी व्योम में
जाती तभी और उन्हें खोज कर लाती मैं !

यशोधरा के ये कथन यथार्थ हैं। सच तो वह है कि यशोधरा की गोद में यदि 'राहुल सा लाल' न होता तो वह कभी ही काल के गाल में समा जाती अथवा, गोविन्द-वल्लभ पंत कृत 'वरमाला' की नायिका वैशालिनी की तरह जंगलों की खाक छानती फिरती। यशोधरा मानिनी इसलिए है कि उसकी गोद में एक शिशु है। यह ठीक है कि किसी स्त्री के लिए उसका पुत्र जितना महत्वपूर्ण होता है उतना पति नहीं। जब तक स्त्री माता नहीं बन जाती है तब तक स्त्री का सर्वस्व - उसका पति ही होता है। इस प्रकार उर्मिला मानिनी इसलिए नहीं है कि उसकी गोद खाली है—उसे राहुल सा रत्न प्राप्त नहीं।

भारतीय आदर्श नारी जितनी उर्मिला है उतनी यशोधरा नहीं। यशोधरा पर आधुनिक गर्वीली स्त्री का हलका-सा रंग चढ़ा है। जिस तरह आज समाज की पढ़ी-लिखी अपने को शिष्ट और सभ्य कहने वाली स्त्री अपने पति के सिद्धांत, रहन-सहन आदि की समालोचना-प्रत्यालोचना करती है, मान करती है, रूठती है, उसी प्रकार यशोधरा अपने पति से जीवन-सिद्धांत के लिए मान करती है। लेकिन यशोधरा को आधुनिक समाज एवं सभ्यता की चंचल और उच्छृंखल तितली कहना भारी भूल होगी। वह यदि मानिनी है तो अपने सिद्धांत के लिए, अपने कर्तव्य के लिए। उसे अपने सिद्धांतों पर अटूट विश्वास है। वह वर्तमान नारी की तरह खोखली नहीं, द्विभाषिना नहीं। 'यशोधरा' में पुरुष और स्त्री के जीवन का सैद्धांतिक संघर्ष है। सिद्धार्थ को यह जीवन काटने को दौड़ता है, फूल में शूल का अनुमान होता है,—क्योंकि:—

'प्रच्छन्न रोग है, प्रकट भोग,
संयोग मात्र भावी वियोग।'

इसके विपरीत यशोधरा का सिद्धांत यह है:—

यदि हममें अपना नियम और शम-दम है,
तो लाख व्याधियों रहें स्वस्थता सम है।'

इस प्रकार यशोधरा अपने पति की पूर्णरूपेण दासी नहीं वरन् अनन्य प्रेमिका है, जिसका प्रिय उससे अकस्मात छिन गया है। यशोधरा पर आधुनिक जीवन-सिद्धांत का प्रचुर प्रभाव दिखाई पड़ता है। उर्मिला के जीवन में प्राचीन परम्परामुक्त नारी की व्याकुल आत्मा छिपी बैठी है, उस पर आधुनिकता का कम प्रभाव है। वह केवल आदर्श नवयुवती ही नहीं वरन् भारतीय आदर्श पत्नी है। उसके चरित्र में आदर्श नारी की पूर्णता है, पति-परायणा का चरमोत्कर्ष है। वह गृह जीवन की कलह का कारण स्वयं बनना नहीं चाहती। वह स्वयं यह स्पष्ट कहती है----

'सुख भोगे हैं मैंने, दुःख भला क्यों न भोगूंगी।' उर्मिला का १४ वर्ष का जीवन आत्म त्याग और आत्म-विस्मृति का जीवन है। वह अपने पति को आत्म-चिंतन में लीन रहने के लिए प्रोत्साहित करती है—

'मेरी चिंता छोड़ो मग्न रहो, आत्मचिंतन में।' गुप्तजी के सभी स्त्री-पात्र पुरुषों से प्रतियोगिता (competitions) नहीं करते। वे अपने पति की दासी, चिरसहधर्मिणी बनकर रहती हैं। ये सभी गुण यशोधरा और उर्मिला में यथेष्ट परिमाण में पाये जाते हैं। पर साथ ही साथ यह नहीं भूलना चाहिये कि उर्मिला यशोधरा से बहुत अंशों में आगे तथा श्रेष्ठ नारी है।

—वासुदेव नंदन, बी० ए० (आनर्स)

स्वाभावोक्ति और अलंकारत्व

[श्री ब० प्र० वाजपेयी]

स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति के पृथक्करण के अवसर पर अलंकार्य और अलंकार की समस्या हमारे यहाँ सदा ही उपस्थित होती आयी है। इस समस्या का समाधान तीन विकल्पों में सम्भव है—१. स्वभावोक्ति अलंकार है। २. स्वभावोक्ति अलंकार्य है। और ३. स्वभावोक्ति अलंकार तथा अलंकार्य दोनों हैं। अभी तक उक्त समस्या का स्वरूप यही रहा करता था कि स्वभावोक्ति अलंकार है अथवा नहीं, और इसका समाधान भी विधि अथवा निषेध में से किसी भी एक पक्ष में प्रायः हो जाया करता था। किन्तु अब कदाचित् उभयात्मक समाधान की प्रवृत्ति जड़ पकड़ रही है।

'साहित्य-सन्देश' के भाग ८, संख्या ३ में 'स्वभावोक्ति का अलंकारत्व' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि स्वभावोक्ति अलंकार्य भी है, और अलंकार भी है। इतना ही नहीं, वरन् स्वभावोक्ति अलंकार्य कब होगी, और अलंकार कब हो जायगी, इस पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है—'यदि भावना से अनुप्राणित हो तो स्वभावोक्ति किसी रस के आलंबन का रूप धारण कर सकती है और तब स्वभावोक्ति अलंकार्य मानी जायगी। किन्तु भावना से अनुप्राणित न रहने वाली 'वस्तु का सुन्दर यथावत वर्णन' स्वभावोक्ति अलंकार के अन्तर्गत होगा। उदाहरणार्थ शुद्ध संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन उपस्थित किया गया है। 'साहित्य सन्देश' के सम्पादक महोदय भी कुछ-कुछ ऐसा ही मत रखते हैं—'प्रत्येक स्वभाव की उक्ति अलंकार न होगी, वरन् स्वभाव ही जहाँ चमत्कारपूर्ण हो जाय वहीं उसको अलंकार कहना सार्थक हो जाता है।' यद्यपि 'अलंकार्य वस्तुओं को अलंकार बनाने के पक्ष में' कोई नहीं है, तथापि उक्त लेख के लेखक महोदय तर्क करते हैं, कि 'क्या स्वभावोक्ति में उक्ति वैचित्र्य नहीं?' और इसलिए 'क्या स्वभावोक्ति अलंकार नहीं?' आगे चल कर उनके लेख में यह सिद्ध किया गया है कि स्वभावोक्ति में भी कवि-कौशल अपेक्षित है। 'सम्यक निरीक्षण' और 'संश्लिष्ट चित्रण' अतः स्वभावोक्ति अलंकार के ही अन्तर्गत आती हैं।

स्वभावोक्ति की उक्त उभयात्मक कल्पना के मूल में, एक ओर तो स्वभावोक्ति की अलंकारता का परम्परा-प्राप्त संस्कार झलक रहा है, और दूसरी ओर आचार्य शुक्ल के मत की अकाट्यता—'प्रस्तुत वर्ण्य-विषय अलंकार नहीं कहा जा सकता, वह स्वयं रस के संयोजकों में से है। वात्सल्य-रति-भाव के प्रदर्शन में यदि बच्चों की क्रीड़ा का वर्णन हो तो क्या वह अलंकार-मात्र होगा?'

अलंकार्य और अलंकार-काव्य के दो अन्योन्याश्रित पक्ष हैं; जिन्हें काव्य का विभाव-पक्ष और कला-पक्ष भी कहा जा सकता है। काव्य के इन दोनों पक्षों में अविच्छिन्न भाव सम्बन्ध भी है—एक की सत्ता में ही दूसरे की सत्ता भी सदैव सन्निहित रही आती है। दोनों में से एक भी कभी सर्वथा स्वतन्त्र, निरपेक्ष और पृथक् रूप में स्थित हो नहीं हो सकता; अतः जहाँ भी उपलब्ध होंगे वहाँ ये दोनों साथ ही साथ उपलब्ध होंगे। इन दोनों के सह-भाव को ही तो साहित्य कहते हैं। राजानक कुन्तक केवल शास्त्रीय विवेचन के लिए ही सिद्धान्ततः उन दोनों का साध्य-साधन रूप में विश्लेषण सम्भव मानते हैं, अन्यथा व्यवहारतः वे इन दोनों की अहमहमिकतया प्रतिस्पर्द्धा को ही काव्य का वास्तविक स्वरूप कहते हैं।*

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'अहमहमिकतया प्रतिस्पर्द्धा' में अलंकार्य और अलंकार की सापेक्षिक प्रधानता और गौणता का प्रश्न ही नहीं उठता। किसी सत्काव्य में अलंकार्य-गत चमत्कार अथवा अलंकार-गत चमत्कार के

---

* अलङ्कृतिरलंकार्यं मपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्वं, सालंकारस्य काव्यता ॥

आधार पर उसका अलंकार्य होना अथवा अलंकार के अन्तर्गत आना सिद्ध करना संभव नहीं; क्योंकि सत्ता तो दोनों की ही पायी जायगी, और वह भी तुल्य मात्रा में होगी। यदि मात्रा में किसी प्रकार का न्यूनाधिक्य प्रकट हो गया, तो वह कवि-कर्म का दोष होगा। इस प्रकार किसी पद में उक्ति के चमत्कार और भाव के चमत्कार के आधार पर अलंकार और अलंकार्य का निर्धारण करना, और उस पर से वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति का क्षेत्र-विभाजन करना सुसंगत नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार यह तर्क किया गया है कि 'क्या स्वभावोक्ति उक्ति-वैचित्र्य नहीं? क्या स्वभावोक्ति अलंकार नहीं?' उसी प्रकार यह भी तो प्रश्न किया जा सकता है कि 'क्या वक्रोक्ति में भाव-वैचित्र्य नहीं? क्या वक्रोक्ति अलंकार्य नहीं?' इस प्रकार तो सर्वत्र ही अलंकार और अलंकार्य कुछ भी प्रतिपादित कर दिया जा सकेगा। वस्तुतः अलंकार्य और अलंकार के निर्णय में अन्वयव्यतिरेक की कसौटी लगती ही नहीं।

उक्त लेख में स्थिर किया हुआ 'भावना की अनुप्राणिता और वर्णन की यथातथ्यता वाला माप-दण्ड भी अलंकार्य और अलंकार की नाप-तौल कर सकने में असमर्थ है; क्योंकि प्रमाण-स्वरूप उपस्थित किए गये संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन की 'शुद्धता' (अर्थात् भाव-हीनता) भी निर्विवाद नहीं। इस पर आचार्य शुक्ल के ही शब्दों में 'प्रकृति के केवल यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण में कवि प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति सीधे अपना अनुराग प्रकट करता है। प्रकृति के किसी खण्ड के ब्यौरों में वृत्ति रमाना इसी अनुराग की बात है।' (काव्य में रहस्यवाद), इसके अतिरिक्त जब स्वभावोक्ति को अलंकार स्वीकार किया जाता है, और अलंकार की स्थिति काव्योक्ति में ही मानी जाती है; और काव्य के लिए सरसता अनिवार्य समझी जाती है, तब भला यह प्रश्न कैसे उठता है कि 'प्रत्येक स्वभावोक्ति के लिए रस से अनुप्राणित होना क्या अनिवार्य है?' अलंकार क्या वनस्पति-शास्त्र और भू-गर्भ-विद्या का भी सहयोगी है? फिर भला शुष्क वैज्ञानिक 'सम्यक् निरीक्षण' से 'विश्रृंखलित जटिलता के स्थान में संश्लिष्ट सौंदर्य की सृष्टि अपने आप कैसे हो जायगी! सौन्दर्य ज्ञान का विषय नहीं, अनुभूति का विषय है। 'सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति भले ही वैज्ञानिक का गुण भी कह दिया जावे, परन्तु उसके फलस्वरूप 'सुन्दर संश्लिष्ट चित्रण' की कवि-धर्मता निर्विवाद है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'स्वभावोक्ति वर्णन-शैली की किसी विशिष्टता का वाचक भी नहीं सिद्ध होता—उसका सम्बन्ध वर्ण्य वस्तु से ही मिलता है, वर्णन के ढँग से नहीं जैसाकि 'वक्रोक्ति' का मिलता है, 'स्वभावोक्ति' का अर्थ स्वाभाविक उक्ति करना शब्द-शास्त्र का गला घोंटना है। 'स्वभावोक्ति' में षष्ठी तत्पुरुष और वक्रोक्ति में कर्म-धारय समास प्रत्यक्ष है। 'स्वभाव' की व्याप्ति 'स्वक्रिया-रूप' से परे नहीं जाती, अब यह स्वक्रिया-रूप-वर्णन चाहे केवल डिम्भ-मात्र का कहा जावे, अथवा 'आदि के अन्दर अश्व-मार्जार-शुकादि पशु पक्षियों के साथ-साथ प्रकृति को भी कर लिया जावे। मैं नहीं कह सकता कि 'स्वभाव' शब्द से जिस ध्वनि का भास होता है वह अलंकार की कृत्रिमता से किस प्रकार सर्वथा भिन्नता रखती है।' शास्त्रीय विवेचन में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ करता है, व्यवहारिक का नहीं। 'स्वभाव अर्थात् स्वरूप भाव' का अर्थ बिलकुल स्पष्ट है—अपनी निजी सत्तात्मक विशिष्टता, या वैज्ञानिक वैशिष्ट्य, जो अन्यत्र-प्राप्त सजातीय सामान्यता से किसी व्यक्ति को भिन्न प्रतिपादित करती है। इसके अतिरिक्त वक्रोक्ति-गत 'वक्र' पद में अस्वाभाविकता या कृत्रिमता की भी कोई ध्वनि नहीं। व्यवहार में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति से चाहे जो कुछ समझा जाने लगा हो। भाषा में रूपात्मक विकास के समान ही भावात्मक रूपान्तर भी होता ही रहता है। पर अपने मूलरूप में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति हिन्दू-मुसलिम नहीं मानी गयी और न उनका क्षेत्र ही इतना संकुचित समझा गया है। ये दोनों ही अपने विस्तृत अर्थों में ग्रहण की गयी है और काव्य की आधार शिलाएँ कही गयी हैं। काव्य-शास्त्र के आदि आचार्य भामह और दण्डी, जो समकालीन ही थे, स्वभावोक्ति वक्रोक्ति के संकुचित अर्थ को लेकर उनके खण्डन-मण्डन में नहीं प्रवृत्त मिलते, भामह वक्रोक्ति को अधिक पसन्द

करते हैं, और दण्डी स्वभावोक्ति की ओर विशेष झुकाव रखते हैं। पर न तो भामह ही स्वभावोक्ति को भला-बुरा कहते हैं, और न दण्डी ही वक्रोक्ति का विरोध करते हैं। भामह 'केचित'* कह कर स्वभावोक्ति से अपनी उदासीनता प्रदर्शित करते हैं, और दण्डी स्वभावोक्ति को आद्यालंकृति कहते हुए, काव्य की ही क्या बात, सभी शास्त्रों पर भी उसका एकच्छत्र साम्राज्य घोषित करते हैं + पर वे वक्रोक्ति का परित्याग भी नहीं करते—उन्हें दोनों मार्गों के प्रति तुल्यानुराग है, तभी तो वे दोनों का प्रतिपादन करते हैं। उक्त दोनों आचार्यों के मतानुसार स्वभावोक्ति का क्षेत्र भी पर्याप्त है—'अर्थस्य तदवस्थावं और जाति-क्रिया-गुण-द्रव्य' का प्रसार कम नहीं है।

उत्तरकालीन अलंकार-सम्प्रदाय अपनी साम्प्रदायिक कट्टरता में यावत् चमत्कार को अलंकार ही मानने के पक्ष में रहा आया है, फिर वह चमत्कार चाहे जिसका ही क्यों न हो। सर्वस्व हरण ही साम्प्रदायिकता का नित्य लक्षण है। इसके लिए नाना नाम-रूपात्मक उद्भावनाएँ कर लेना आश्चर्य का विषय नहीं। अलंकारों का निरर्थक सीमा-संकोच, उनका हास्यास्पद संख्या-विस्तार, उनका अव्यवस्थित स्वरूप-साधन, उनके उच्छृङ्खल भेदोपभेद आदि इसी साम्प्रदायिक अंधता का शोचनीय दुःपरिणाम है। अब आवश्यकता सभी प्राचीन और अर्वाचीन अलंकार शास्त्रियों के मतों और उनके द्वारा कल्पित परिभाषाओं के सामञ्जस्य और संग्रह की नहीं, साम्प्रदायिक दुराग्रह छोड़ कर अलंकार्य और अलंकार के निष्पक्ष अन्वेषण, व्यवस्थित वर्गीकरण और सुस्पष्ट सीमा निर्धारण की है।

वस्तुतः विभाव-प्रसाधन ही कवि का एक मात्र अभीष्ट हुआ करता है। कल्पना में सम्यक् उद्भूत मानसमूर्ति का सांगोपांग शब्द-चित्र उपस्थित कर देना 'विभाव-प्रसाधन' कहलाता है। सहृदय के अन्तःकरण में प्रत्यक्ष, स्मृत अथवा कल्पित प्रत्यक्षीकरण के परिणाम-स्वरूप सत्व का उद्रेक होने पर आत्म-क्रिया-वश स्वतः-सम्भूत प्रतिबिम्ब उपस्थित हो जाना तो मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है; पर उस स्वयंप्रकाश कल्पना-चित्र के सौन्दर्य-स्रोत का अवगाहन करना तथा उसकी संश्लिष्ट-योजना कर दूसरों को भी उसकी रहस्यात्मक रमणीयता का आभास दे सकना कवि-कौशल-सापेक्ष रहता है। उसके लिए एक ओर तो कवि के समुचित पद-संघटना की आवश्यकता होती है, और दूसरी ओर कुछ अप्रस्तुत-विधान भी अनिवार्य हो जाता है। शब्द-चयन में वह अपनी रुचि तथा प्रसंग के अनुकूल या तो सरल, सरस स्वभाव-सिद्ध पदावली की प्रस्थापना करता है, अथवा वक्रता-पूर्ण श्लिष्ट अभिलाक्षणिक शब्दावली का संनिवेश करने लग जाता है। इसी प्रकार वस्तु-निबन्धन में या तो वह विशुद्ध प्रस्तुत विषय का ही वर्णन करता रहता है, अथवा यत्र-तत्र अप्रस्तुत वस्तुओं के साथ उसका साम्य, असाम्य और वैषम्य भी दिखलाता चलता है। यदा-कदा भावावेश में वह अपने वर्ण्य को पर्याय से ही लक्षित-मात्र कर के रह जाता है। अब ऋजु-मार्ग का अवलम्बन कर अपने अभीष्ट की सिद्धि करना अथवा कुंचित मार्ग में क्रीड़ा करते हुए अपने लक्ष्य पर पहुँचना सर्वथा ऐच्छिक है काव्यत्व दोनों में है; दोनों परस्पर-विरुद्ध नहीं, परि-पूरक हैं। एक की महत्ता और अन्य की लघुता तर्क्य नहीं। अपनी-अपनी रुचि और प्रकृति के अनुरूप किसी को कोई विशेष पसन्द हो सकता है, और किसी को कोई। एक स्वभावोक्ति-पद्धति कहलाती है, और दूसरी वक्रोक्ति-पद्धति।

मेरे मत में पद-योजना की दृष्टि से केवल श्लिष्ट और लाक्षणिक शब्दावली, तथा वस्तु-विधान की दृष्टि से यावत् अप्रस्तुत-वर्णन को अलंकार के क्षेत्र में लेना चाहिए; और अवशिष्ट औचित्य-पूर्ण अभिधा-द्वारा समग्र प्रस्तुत कथन को अलंकार्य मान लेना युक्ति-युक्त होगा। मेरा अनुमान है कि श्लेष, लक्षणा, अप्रस्तुत-निबन्धन और पर्याय-वचन के अन्तर्गत सभी आलंकारिक उक्तियों का समावेश हो जायगा—संस्कृत तथा हिन्दी की काव्योक्तियों का भी और अँग्रेजी तथा उर्दू की काव्योक्तियों का भी। इससे परे अलंकार का उपादेय चमत्कार नहीं। इस

(शेष पृष्ठ १६१ के नीचे)

*स्वभावोक्तिरलंकार, इति केचित प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थात्वं स्वभावोऽभिहितो यथा ॥२।९३

+जाति क्रियागुण-द्रव्य, स्वभावाख्यानमीदृशम्।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितं ॥२।१३

विचार-विमर्श—

कला और संगीत

सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी

कला संगीत के सहयोग से अत्यन्त रोचक हो जाती है। निम्न कला भी संगीत का बल पाकर प्रभावशालिनी हो जाती है। संगीत आधुनिक-काल का आवश्यक अंग बन गया है। जिस कवि के पास मधुर कण्ठ नहीं, उसकी रचनाएँ काव्य की दृष्टि से उच्च भले ही हों, वह जनता का कवि नहीं बन सकता। वैसे तो काव्य मात्र में संगीत–तत्व अपने सूक्ष्म रूप में निहित रहता है। संगीत प्राणिमात्र की सहज प्रवृत्ति है जो अवसर पाकर बोल उठती है। कोयल की कूक और पपीहे के पी-कहाँ के पीछे यही सहज प्रेरणा कार्य करती है। हाँ, उसके लिए एक विशेष अवसर या वातावरण की अपेक्षा होती है, यद्यपि मानव-वर्ग तो अकारण ही समय बिताने के लिए गुनगुनाया करता है। वस्तुतः संगीत अन्य सहयोगी कलाओं की भाँति मानव हृदय की अंतरंग भावना का प्रकट स्वरूप है और भावना के अनुरूप ही संगीत का वातावरण और उसकी शब्दावली स्वभावतः निर्मित हो जाते हैं। जल-प्लावन के भीषण आलोडन से होड़ लेने के लिए शिलाखण्ड पर बैठे अन्य-मनस्क प्रथम मानव की कोमल भावना अवश्य किसी रूप में फूट पड़ी होगी। प्लावन की प्रचण्डता में जहाँ विनाश का रव था, मनु की स्वरलहरी में एक माधुर्यपूर्ण आकर्षण था, एक आह्वान था, जो श्रद्धा को उनके निकट खींच लाया और फिर श्रद्धा और मनु के अनुभूतिमय संयोग में जिस अमर संगीत का सृजन हुआ उसका फल सम्पूर्ण मानव-सृष्टि है। योगी की साधना की चरमावस्था का अन्त संगीत में होता है जिसे अनाहत्‌नाद कहते हैं। रहस्यवादी तो प्रकृति के कण-कण में परिव्याप्त एक रव या ध्वनि (संगीत) का अनुभव करता है। समस्त भूमण्डल उसके लिए संगीतमय है।

प्रश्न हो सकता है कि क्या संगीत एक कला है? वास्तव में क्या काव्य, क्या संगीत और क्या अन्य कोई भावना का विषय, वह अभिव्यक्ति की पूर्वावस्था में कला नहीं होता। प्राणी को कला की आवश्यकता का अनुभव भाव-प्रकाशन में होता है, जब वह भाव को प्रत्यक्ष रूप देना चाहता है या उसे अपने तक ही सीमित न रख कर दूसरों के भी रंजन या आत्म-प्रकाशन की वस्तु बनाना चाहता है। साधारणतः हम संगीत को स्वर-लय और वाद्य के नियमों से परिपुष्ट गेय सामग्री के रूप में मानते हैं जिससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि संगीत की कला से पृथक कोई सत्ता नहीं है। सच्चा गायक भी सौन्दर्योपासक होता है और उसकी इस उपासना में सत्य उसकी अनन्यता के रूप में विद्यमान रहता है। यही सत्य और सौन्दर्य कला के प्राण हैं। कोई भी कला सत्य उसी बिन्दु तक होती है जहाँ तक कि उसके सौन्दर्य-तत्व को आघात नहीं पहुँचता, किन्तु अत्यन्त सौन्दर्य–लोलुपता में कला के अप्राकृतिक या बनावटी हो जाने का भी भय रहता है। इसीलिए कलाकार को अत्यन्त सतर्क होने की आवश्यकता है, यद्यपि प्रतिभाशील कलाकार में यह सतर्कता उसकी प्रकृति में अंतर्हित रहती है और कला-निर्माण के समय उसका आरोप स्वतः होता चलता है। हम एक कुशल संगीतज्ञ की कला में सत्य और सौन्दर्य का इतना सूक्ष्म संयोग और विनिमय पाते हैं कि ऐसा मालूम पड़ता है वह बड़ी सतर्कता से प्रत्येक चरण के आरोह–अवरोह और नियमन के प्रति सजग है। पर है यह सब उसकी प्रतिभा का चमत्कार, यद्यपि अभ्यास का कुछ हाथ अवश्य होता है। कला जीवित वही है जो जनता पर प्रभाव डाल सके और जनता के हृदय पर तत्काल अधिकार जितनी शीघ्रता से संगीत कर सकता है, कदाचित अन्य कोई कला नहीं। संगीत में इतनी शक्ति है कि पशु भी उसकी मोहिनी के प्रभाव में बेसुध हो जाते हैं, फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या। भिन्न-भिन्न देशों में संगीत का बाह्य रूप यद्यपि भिन्न भिन्न होता है, मूल-भावना एक ही होती है और इसीलिए संगीत प्राणि-मात्र को समान रूप से प्रभावित करता है।

जिज्ञासा

श्री चिरञ्जीलाल माथुर ने निम्नलिखित प्रश्न भेजे हैं। उनके संक्षिप्त उत्तर यहाँ दिये जाते हैं :—

प्रश्न—(१) **हिन्दी के सम्बन्ध में महात्मा गाँधी और सम्मेलन में क्या मतभेद है? और** इस पर आपकी राय क्या है?

उत्तर—गाँधीजी का हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। दक्षिण में हिन्दी प्रचार का कार्य गाँधीजी की अनवरत चेष्टा से हुआ। वे दो बार सम्मेलन के सभापति रह चुके हैं। अतः आरम्भ से गत दो वर्षों तक महात्माजी का सम्मेलन से, और सम्मेलन का महात्माजी से कोई मतभेद नहीं रहा। गाँधीजी के उद्योग से इन्दौर में सम्मेलन ने नई भाषा हिन्दी की जो परिभाषा निश्चित की थी, शिमला सम्मेलन में वह परिभाषा सम्मेलन ने संशोधित कर दी, तब भी गाँधीजी का अशीर्वाद और सहयोग सम्मेलन को मिला रहा। १६४२ के आन्दोलन में गाँधीजी की जेल होगयी, उस जेल से मुक्त होने पर इस सम्बन्ध में गांधी जी ने भाषा के सम्बन्ध मे कई विशेष निश्चय किए। वे संक्षेप में ये हैं:—

१. राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी है।
२. उसकी लिपि देवनागरी और फारसी दोनों हैं।
३. प्रत्येक व्यक्ति को दोनों लिपियाँ और 'हिन्दी' तथा 'उर्दू' दोनों भाषायें सीखनी चाहिए।

इसके लिए गाँधीजी ने राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति और हिन्दी-प्रचारक मण्डल से पृथक हिन्दुस्तानी-प्रचार की एक अलग संस्था की स्थापना की है।

यहीं सम्मेलन से कुछ विरोध हो गया है। सम्मेलन 'हिन्दुस्तानी' नाम की किसी भाषा की सत्ता स्वीकार नहीं करता। वह 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' तक मान सकता है, पर 'हिन्दुस्तानी' शब्द भ्रामक है। इसका सहारा लेकर लोक-भाषा के प्रति बड़ा अत्याचार किया जाता रहा है। विशेष कर पिछले दिनों में रेडियो ने तो बड़ा गजब ढहाया। गांधीजी को भी मानना पड़ा कि रेडियो की भाषा 'हिन्दुस्तानी' नहीं। 'हिंदुस्तानी' अतः किसी निश्चित रूप को प्रकट नहीं करता। सम्मेलन की दृष्टि में 'हिन्दी' में सब बातें हैं जिन्हें राष्ट्र-भाषा के लिए गाँधीजी चाहते हैं; उसमें किसी भी भाषा के किसी भी शब्द के प्रति परहेज नहीं है, न उसमें किसी प्रकार का तास्सुब ही है; उर्दू भी हिन्दी की ही एक शैली है, पर यह शैली राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें अभारतीय शब्दों की भरमार है, अतः साधारण जन को बोधगम्य नहीं हो सकती। हिन्दी का रूप निश्चित है अतः राष्ट्रभाषा का नाम हिन्दी ही रहना चाहिए। गाँधीजी को 'हिन्दी' नाम से राष्ट्र के लिए थोड़ा भय हो गया है: एक तो लीग और जिन्ना महोदय ने हिन्दी को हिन्दुओं की भाषा बताया है, और यह घोषित किया है कि यह भाषा मुसलमानों के विरोध में खड़ी की गयी है, दूसरे 'हिन्दी' रूढ़ में संस्कृत तत्सम बहुला भाषा बनती जा रही है, लोक-भाषा और बोलचाल से दूर हो रही है। वे, अतः बदनाम शब्द को छोड़ देना चाहते हैं। यों हिन्दुस्तानी के जिस रूप को वे हिन्दुस्तानी समझते हैं वह रूप सम्मेलन जिस हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानता है उससे भिन्न नहीं है। गाँधीजी और गाँधीजी के अनुयायी जिस भाषा को लिखते हैं वह 'हिन्दी' है, और सम्मेलन को उससे व्यावहारिक मतभेद नहीं।

सम्मेलन लिपि देवनागरी चाहता है, फारसी नहीं। वह दोनों भाषाओं का सीखना भी अनिवार्य नहीं मानता। यही मतभेद है।

हमारी राय यह है कि भाषा की दृष्टि से सम्मेलन और गाँधीजी में व्यावहारिक मतभेद नहीं है। सम्मेलन की दृष्टि काफी उदार है, और गांधीजी को उससे पृथक होने की आवश्यकता नहीं थी। हमारे राष्ट्रीय कवियों की रचनएँ जिस भाषा में होती रही हैं, और हो रही है वह 'हिन्दुस्तानी' भी कही जा सकती है, वही हिन्दुस्तानी है।

लिपि के सम्बन्ध में, सद्भावना से जो दूसरी लिपि सीखना चाहे, अवश्य सीखे। राष्ट्र-राजनीति के कार्य-कर्त्ताओं को दोनों लिपियाँ सीखने से सुविधा ही होगी, पर दूसरी लिपि का सीखना राष्ट्र के लिए अनिवार्य नहीं होना चाहिए। देवनागरी से बढ़ कर वैज्ञानिक वर्णमाला और सुबोध लिपि दूसरी नहीं, पहले इसी लिपि का अच्छा ज्ञान हरेक को हो जाना चाहिए। अतः एक लिपि तो अनिवार्य हो, दूसरी

स्वेच्छा पर। यह उचित नहीं प्रतीत होता कि जो दूसरी लिपि नहीं सीखना चाहता, उसे इसी कारण अराष्ट्रीय माना जाये। न हम हिन्दी न जानने वाले, केवल उर्दू का ही ज्ञान रखने वाले को ही केवल इसी कारण अराष्ट्रीय कहेंगे, न उर्दू न जानने वाले, केवल हिन्दी और देवनागरी जानने वाले को ही अराष्ट्रीय कहना ठीक समझेंगे।

२. अयोध्यासिंह उपाध्याय का हिन्दी-साहित्य में क्या स्थान है ?

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने हिन्दी के आधुनिक युग के द्वितीय उत्थान के संधिकाल से हिन्दी की सेवा प्रारम्भ की है। उनकी देन ने उनका स्थान हिन्दी में बहुत ऊँचा कर दिया है। वे कई दृष्टियों से आधुनिक हिन्दी-साहित्य के निर्माता हैं: उनकी पहली देन है भाषा के सम्बन्ध में एक विशेष दृष्टिकोण प्रस्तुत करना, माधुर्य किसी भाषा की बपौती नहीं यह प्रियप्रवास की भूमिका में युक्तिपूर्वक आपने सिद्ध किया और खड़ीबोली को ब्रजभाषा के विरुद्ध काव्य-भाषा बनाने के लिए प्रोत्साहन दिया। उनकी दूसरी देन आधुनिक युग में 'महाकाव्य' की रचना है। 'प्रियप्रवास' खड़ीबोली का प्रथम 'महाकाव्य' है, भले ही शास्त्रीय दृष्टि से महाकाव्य के समस्त लक्षण उसमें न मिलते हों। उनकी तीसरी देन है महाकाव्य के पात्र-चित्रण में रस और मनो-विज्ञान की प्रतिष्ठा। रीतिकालीन मनोवृत्ति से विरुद्ध दिशा में उन्हीं के साधनों के द्वारा साहित्य-सृजन 'हरिऔध' जी के प्रयास की महत्ता सिद्ध करता है। महाकाव्य में 'अतुकान्त' छन्दों का प्रयोग, आदि से अन्त तक हिन्दी में क्रान्तिकारी प्रयास था। इन प्रयोगों के साथ 'बोलचाल' की मुहाविरेदार भाषा पर अधिकार ही नहीं उसमें चौबोलियां तथा चौपाइयों की रचना द्वारा हिन्दी और फारसी प्रणालियों का समन्वय उपस्थित करने की चेष्टा की। यह प्रयोग भी सर्वथा नवीन था, अभिनन्दनीय भी था, जहाँ तक कि भाषा से सम्बन्ध है, पर यह हिन्दी में स्थान विशेष नहीं पा सका, हाँ उपाध्यायजी के शिष्य गुरुभक्तसिंहजी ने अवश्य ही 'नूरजहाँ' में इस प्रयोग में सफलता पाई है। अतः कविता-क्षेत्र की शैलियों में ऐतिहासिक दृष्टि से तो उपाध्यायजी का स्थान एक युग-प्रवर्तक के रूप में माना जा सकता है, पर बाद में काव्य का जो उत्कर्ष हुआ है, साकेत और कामायनी जैसे महाकाव्यों की रचना हुई है उसके समक्ष उपाध्यायजी का काव्य-सौष्ठव और सौन्दर्य आज उतना आकर्षक नहीं रहा।

विद्वत्ता और अध्ययन में भी उपाध्यायजी कम नहीं हैं। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिख कर और 'रस-कलस' की भूमिका में, आपने अपने अध्ययन का परिचय दिया है। वात्सल्य और भक्ति का 'रसों' में स्वतन्त्र स्थान निश्चित करने में आपने उत्कृष्ट योग्यता दिखायी है।

यों आपने उपन्यास क्षेत्र में भी, और नाटक क्षेत्र में भी प्रयोग किये हैं।

प्रश्न ३—मुगल दरबार का हिन्दी पर क्या प्रभाव पड़ा ?

उत्तर—किसी भी प्रभाव के दो रूप हो सकते हैं: १—मुगल-दरबार के कारण सामयिक परिस्थितियों में कोई ऐसा परिवर्तन हुआ हो, जिससे विशेष प्रभाव पड़ा; २—मुगल-दरबार के सीधे सम्पर्क से कोई विशेषता पैदा हुई हो।

१—मुगलों का शासन हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग माना जा सकता है। सूर-तुलसी केशव जैसी प्रतिभायें इसी युग में हुईं। साहित्य के दो प्रसिद्ध युग मुगल-काल में फले-फूले: १—भक्ति-युग, २—रीति-युग। वस्तुतः मुगल-शासन की नीति ने सामयिक-परिस्थितियों में गंभीर परिवर्तन कर दिये थे। मुगलों की नीति उदार और सहानुभूतिपूर्ण शासन की थी। बाबर ने हुमायूँ को जो उपदेश दिया और अकबर ने जो प्रत्यक्ष व्यवहार में दिखाया उससे एक विशेष मत और विचार-स्वातन्त्र्य जनता को मिला। हिन्दू-मुस्लिम समस्या का वह रूप नहीं रहा जो खिलजियों के समय में था। अकबर ने धार्मिक सहिष्णुता का ही परिचय नहीं दिया, अन्य धर्मों के प्रति आदर भी दिखाया, उन्हें अभय भी दिया। इस समस्त वातावरण ने काव्य-प्रतिभाओं को विशेष प्रोत्साहित किया। अतः काव्य में हृदयोद्गारों की सहज अभिव्यक्ति इस युग में हुई।

अकबर के समय में संस्कृत का पुनरध्ययन आरम्भ

हुआ। यह भारत का एक रैनेसन्स (जागरण) था। इसने वेद-शास्त्रों, पुराणों, महाकाव्यों और इतिहास का मुक्तरूप से अध्ययन करने की प्रवृत्ति विशेष उभारी। इससे हिन्दी-साहित्यकार की पृष्ठभूमि में भी संस्कृत-मनोवृत्ति दृढ़ हो गयी। उसकी अनुभूतियों का आधार उतना वैयक्तिक नहीं रह गया जितना सन्त कवियों का था, न उतना लौकिक रह गया जितना प्रेमगाथाओं का था। इन्हीं के फलस्वरूप भागवत और रामायण तथा काव्य-शास्त्र की ओर हिन्दी-साहित्य की भी प्रवृत्ति हुई।

२—ये तो प्रत्यक्ष प्रभाव था। सीधे सम्पर्क से भी हिन्दी पर कुछ प्रभाव पड़ा, यह देखना है? कुछ समय पूर्व यह आरोप किया गया था कि सूर आदि कवियों ने राधा-कृष्ण सम्बन्धी रचनाएँ अकबर के इशारे पर की थीं, अभिप्रायः यह था कि इस प्रकार की रचनाओं से राजनीति से जनता को दूर रखने और शृङ्गार के मद में भुलाए रखने का उद्योग हुआ। सूरदास आदि का अकबरी दरबार से सम्बन्ध था यह आरोप मिथ्या है। सूर और तुलसी जैसे कवियों में सहज भक्ति और काव्य मिलता है। इन्होंने राज-दरबारों से सदा घृणा की। अकबर ने अवश्य इन्हें निर्विघ्न उपासना करते रहने देने की आज्ञायें दे रखी थीं और धर्मार्थ भूमि का दान भी दिया था।

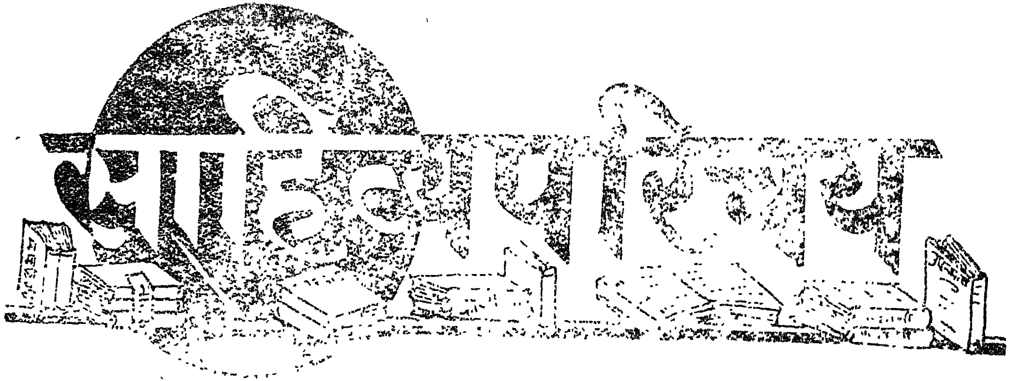
इसमें कोई सन्देह नहीं कि अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ ने अपने दरबार में कवियों को आश्रय दिया था, वे गुणियों का आदर करते थे। बीरबल स्वयं कवि थे, अकबर भी कविता करते थे। रहीम खानखाना प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार कितने ही कवियों का अकबरी दरबार से सीधा सम्बन्ध था और ऐसे कवियों का वर्ग भक्त-कवियों से भिन्न था। ये रीति और अलङ्कार सम्प्रदाय के कवि थे, जिनकी रचनाओं में रीति, नायक-नायिका और चमत्कारक युक्तियों का प्राबल्य था। अकबरी दरबार में दरबारी कवियों का आरम्भ-मात्र था। राजसी-वैभव का चरम शाहजहाँ के दरबार में हुआ, इसी काल में यह वर्ग भी उत्कर्ष की ओर अग्रसर हुआ। इस दरबार में फारसी प्रभाव भी था, उससे हिन्दी-कविताएँ शैली में अवश्य प्रभावित हुईं। रीति-युग सीधा मुगल दरबार की देन है, भक्तियुग मुगल-काल से पूर्वकाल की प्रबल प्रतिक्रिया थी।

मुगल-दरबार का प्रभाव हिन्दी-भाषा के शब्द-भण्डार पर भी पड़ा था। यों तो यह प्रभाव कबीर में भी मिलता है, पर हिन्दी-भाषा-भाषियों का उतना सहज सम्पर्क फारसी से तब नहीं होपाया था जितना अब मुगल-दरबार के कारण हुआ। तुलसी जैसे भक्त कवियों ने, जिन्होंने श्रुति-सम्मत बात कहने की चेष्टा की है, गरीबनिवाज जैसे अनेकों शब्द अपनाये। हिन्दी की एक शैली 'उर्दू' रूप में भी इसी दरबारी प्रभाव के कारण विशेष स्पष्ट और दृढ़ हुई। यही नहीं मुगल-साम्राज्य के विस्तार के कारण और उसके साथ साथ ही हिन्दी भी भारत के विविध भागों में फैली और वह राष्ट्रीय रूप की अधिकारिणी बन सके, इसका बीजारोपण हुआ।

[पृष्ठ १५७ का शेषांक]

विषय पर मैं अपने विचार पृथक् व्यक्त करूँगा। अलंकार्य के चमत्कार का बिवेचन करने का भी यहाँ समुचित स्थल नहीं।

मैं स्वभावोक्ति की रमणीयता को अस्वीकार्य नहीं समझता, और न उसमें वक्रोक्ति की अपेक्षा किसी भी प्रकार की हीनता देखता हूँ; प्रत्युत मैं उतनी शब्दार्थ-योजना को काव्य की प्रकृत सामग्री मानता हूँ। उसमें काव्यत्व पूर्ण है, किन्तु अलंकारत्व नहीं। क्या यह अनिवार्य है कि जहाँ-जहाँ काव्यत्व हो वहाँ-वहाँ अलंकारत्व भी हो? 'साहित्य-सन्देश' के उक्त लेख में अलंकारत्व की सर्व-भक्षी अतिव्याप्ति के कारण ही स्वभावोक्ति में अलंकार्य और अलंकार दोनों भासने लगे हैं।



कविता

मैथिल कोकिल विद्यापति की पदावली—लेखक-शंभुप्रसाद बहुगुना एम० ए०, डिप० साइ०, हिन्दी अध्यापक, आइसा बेला थोवर्न कालेज, लखनऊ; प्रकाशक एजूकेशनल पब्लिशिंग कम्पनी, चारबाग, लखनऊ। पृष्ठ संख्या ७१-७५-३। मूल्य २)

इस पुस्तक में पहले ७५ पृष्ठों में विद्यापति पर एक विवेचनात्मक तथा परिचयात्मक निबन्ध है। इसमें विद्यापति का युग-परिचय, काव्य में भक्ति का समावेश, उसमें राधा का स्थान, और 'राधा' के साहित्य में स्थान पाने का इतिहास, संस्कृत में जयदेव का महत्व, विद्यापति का सप्रमाण काल-निर्णय (सन् १३५१ से १४३९-ई० तक), उनकी रचनाएँ, उनकी भाषा का रूप हिन्दी की ओर झुका हुआ है, (सोदाहरण, बंगला से तुलना करते हुए), विद्यापति के काव्य का भाव सौन्दर्य, सूरदास तथा जयदेव से यत्किंचित तुलना और यह निष्कर्ष कि विद्यापति भक्त कवि नहीं, आदि विषय विवेचित है।

बाद के ७५ पृष्ठों में ५३ पद और उनके अर्थ दिये गये हैं। नीचे पद-टिप्पणियों में कहीं-कहीं विशेष शब्दार्थ और व्याकरण विवेचन है। पुस्तक उपयोगी है। —स०

वीरगान—लेखक-श्री शिवनन्दन कपूर, प्रकाशक-बाल-साहित्य मन्दिर, लखनऊ, पृष्ठ ५२ मूल्य ।) आना।

इस पुस्तक में विशेषतः गाने की तर्ज की लेखक की छब्बीस कविताएँ संग्रहीत हैं। कविता की दृष्टि से वे सार्वजनिक सभाओं या प्रचार स्थल पर पढ़ी जानेवाली साधारण तुकबन्दी की कोटि की हैं, लेकिन वे रचयिता के देश-भक्ति पूर्णभावों को प्रगट करती हैं और साधारणजनों के हृदय में ऐसे भाव जाग्रत करने में उपयोगी सिद्ध होंगी।

— रमेश वर्मा

उपन्यास

बदलती दुनियाँ—लेखक-श्री गोपीनाथ योगेश्वर। प्रकाशक-आदर्श पुस्तक मन्दिर, चौक, इलाहाबाद। पृष्ठ १५६, मूल्य २।)

यह एक सामाजिक उपन्यास है और इसका मूल लक्ष्य यह स्थापित करना है कि जिससे प्रेम हो उसी के साथ विवाह किया जाय। यद्यपि इस पुस्तक में स्त्रियों की प्रेम सम्बन्धी दुर्बलता को कुछ अनुचित मात्रा तक पहुँचा दिया है, तथापि उपन्यासकार ने बड़े कौशल से उपन्यास को दुखान्त होने से बचाया है और यह दिखलाया है कि जापर जाको सत्य सनेहू, सो तेहि मिलै न कछु संदेहू। पुस्तक के अंत में बाबू रघुवीरसरन की वक्तृता ने बदलती दुनिया का शीर्षक सार्थक कर दिया है। जिससे प्रेम हो उसी से शादी हो यह बदलती दुनिया का ही चिन्ह है। अजीत और विनय का भ्रातृ-प्रेम सराहनीय है किन्तु अजीत का वकीलसाहब की स्त्री से और वकीलसाहब से बदला लेने की इच्छा उसके उच्च आदर्शों से मेल नहीं खाती। उपन्यास में और भी खटकने वाली बातें हैं जैसे कि डिप्टीसाहब की

लड़की चारुशीला का एक ऐसी अवस्था में जब कि वह विवाह योग्य हो, गाँव के मदरसे में पढ़ना जरा अस्वाभाविक लगता है। पुरुषों की कमजोरी की अपेक्षा इस में स्त्रियों की कमजोरी अधिक दिखाई गयी है। जिसका मन पर बहुत स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ता है। आचार की दृष्टि से पुस्तक के आरम्भिक भाग की अपेक्षा उसका उत्तर भाग अधिक सम्हला हुआ है।

—गुलाबराय,

पार्टी कामरेड—लेखक—यशपाल। प्रकाशक—विप्लव-कार्यालय, लखनऊ। पृष्ठ १३६, मूल्य १।।)

'दादा कामरेड' 'देश द्रोही' तथा 'दिव्या' के कम्यूनिस्ट लेखक यशपाल की लेखनी से ही यह नया उपन्यास हिन्दी को भेंट मिला है। यह प्रधानतः राजनीतिक उपन्यास है किन्तु ऐसा कि व्यक्ति और उनके चरित्र के अन्तरङ्ग और व्यक्तित्व को भी न भूलने वाला; अतः रंगीनी से यह एकदम शून्य नहीं मिलेगा। कहानी पार्टी कामरेड गीता के चरित्र को प्रधानता देती है। गीता कालेज में पढ़ती है, देश-सेवा का उत्साह है, पहले कांग्रेस की ओर झुकती है, अन्त में कम्युनिस्ट हो जाती है। बम्बई का भयानक सेठ भावरिया इस लड़की की ओर कुत्सित मनोवृत्ति से आकृष्ट होता है, यह गीता उसकी ओर पार्टी के काम से बढ़ती है। गीता के आचार का भावरिया पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। वह पाप और विलासिता छोड़कर देश के कार्य में संलग्न हो जाता है और इण्डियन नेवी के उपद्रव के समय अत्याचारियों का विरोध करता हुआ गोलियों का शिकार हो जाता है। मरते समय वह केवल गीता को स्मरण करता है। गीता अक्षरशः पार्टी अनुशासन में बँधी हुई भावरिया से बहुत काल पूर्व से ही मिलना बन्द कर देती है। उसी अनुशासन के कारण ये मरते समय बुलाये जाने पर भी भावरिया के पास नहीं पहुँच पाती; जब उसे आदेश मिलता है, तब तक भावरिया संसार से कूँच कर चुका होता है। इस व्यक्ति और चरित्र के कथानक में गुँथा हुआ है राजनीतिक संघर्ष, जिसमें यद्यपि पार्टी के सदस्यों के मुख से बार-बार यह प्रकट कराया है कि कम्यूनिस्ट पार्टी कांग्रेस या लीग से कैसे संघर्ष कर सकती है? वह उनके विरुद्ध नहीं है! वह कांग्रेस से क्यों लड़ेगी, उसे तो अँगरेजों से लड़ना है, किन्तु समस्त उपन्यास इस दृष्टि से कांग्रेस के विरुद्ध राजनीतिक मोर्चा है। बम्बई के कांग्रेसी नेता 'भायाजी' का अच्छा व्यंगचित्र दिया गया है। कम्युनिस्ट पार्टी के नियम, अनुशासन और सिद्धान्तों का वर्णन इसमें यथाप्रसङ्ग अच्छा हुआ है। लेखक को यह भय हुआ है कि उसकी पुस्तक 'प्रचार' कह कर न टाल दी जाय। और इसके लिए उसने परिचय में कुछ शब्द कहे हैं—

"आपत्ति होती है आलोचक को प्रचार की गन्ध आने पर। प्रश्न है बन्दर को बन्दर, हाथी को हाथी और गधे को गधा कहना प्रचार है या नहीं? बन्दर के लिये यह कहना कि वह चञ्चल और धूर्त होता है, हाथी के लिए कहना कि भारी भरकम और विशाल होता है और गधे को बेसमझ कहना प्रचार है या नहीं।"

यह लेखक ने परिभाषा तो की है पर यह नहीं बताया कि गधे को गधा कहने वाला सचमुच गधे को ही गधा कह रहा है या घोड़े को। क्या इस सङ्घर्ष की दुनिया में दृष्टिभ्रम असम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति इस उपन्यास को पढ़कर सचमुच यही जानना चाहेगा कि क्या यह दर्पण ही है? सन्देह इसलिए और भी हो सकता है कि जो मोर्चे पर खड़े होते हैं वे बन्दूकें तानते हैं अथवा बम फेंकते हैं, दर्पण नहीं दिखाया करते। गीता और भावरिया के चरित्रों का जहाँ तक निजी सम्बन्ध है वे पुरानी लकीर पर गये हैं और दोनों आदर्शवादी हो गये हैं; फलतः उपन्यास की मूल-प्रेरणा के यथार्थ और प्रगति के अवरोधी। इधर-उधर की भूल-भुलैयों का चक्कर दिलाकर लेखक ने प्राचीन सम्प्रदाय प्रणालियों की कहानियों की रूप-रेखा प्रस्तुत की है, जिसमें अ बुरी दृष्टि से ब की ओर बढ़ता है पर ब के चरित्र तथा चमत्कार के प्रभाव में आकर वह एकदम महात्मा बन जाता है और उस सम्प्रदाय की शरण में आ जाता है, 'कण्ठी माला' धारण कर लेता है। लेखक की उदारता तो इसी से स्पष्ट है कि उसने कहीं कांग्रेस को सफाई का अवसर नहीं दिया है। हाँ यशपालजी सशक्त उपन्यासकार हैं, अतः वे स्थल जिनमें

पार्टी पालिटिक्स के विवादों के कारण कुछ मन्दता आती है, उनके ओरपास के वातावरण के उद्वेग में सिमिटे हुए से रहते हैं। रङ्गीनी और आकर्षण की कमी नहीं। उपन्यास में संयत सौष्ठव के दर्शन होते हैं। छपाई सफाई स्पृहणीय है।

मनुष्य का मूल्य—लेखक-रामनिवास मिश्र, एम० ए०, प्रकाशक-आदर्श-पुस्तक-मन्दिर, चौक, इलाहाबाद। पृ० सं० २०४, मूल्य सवा तीन रुपये।

यह एक सामाजिक उपन्यास है। हिन्दू-समाज का कुत्सित चित्र इस उपन्यास में है।

दहेज के सम्बन्ध में धन-लोलुपता कैसे दो कुटुम्बों का सर्वनाश कर डालती है, यह इसमें भली प्रकार चित्रित किया गया है। उपन्यास का मूल-केन्द्र यही है।

लेखक के कौशल ने पांडेजी की धूर्तता, रमेश में युवकोचित दृढ़-प्रतिज्ञ कर्म शीलता, कृष्णा की सहज प्रेम की ग्रामीण श्रद्धा, बाबा रत्नागिरि की परोपकार परायणता के सजीव चित्र उपस्थित कर दिये हैं। वैवाहिक अत्याचार ही नहीं, सामाजिक अत्याचारों का गर्हित चित्र भी इसमें मिलता है।

उपन्यास छोटा है, उसमें कथा घनिष्ठ है, कथा के द्वारा ही लेखक ने अपना मन्तव्य उपस्थित किया है। पात्रों में पक्ष लेकर विवाद करने की प्रवृत्ति नहीं। कथा में गुथकर कथोपकथनों की स्वाभाविक सीमा में से ही स्थितियों का ज्ञान होता रहता है।

उपन्यास अच्छा तो अवश्य है, पर संभवतः आलोचक और पाठक भगवतीचरण वर्मा की इसी पुस्तक में दी हुई इस सम्मति से सहमत न हो सकेंगे कि 'हिन्दी में आज तक लिखे जाने वाले उपन्यासों में इसका सर्वोत्तम स्थान है'।

—सत्येन्द्र

'विकल-विश्व'—ले०-विष्णुदेव तिवारी। प्रकाशक—आदर्श-पुस्तक-मन्दिर-चौक, इलाहाबाद. पृ० सं० १६०, मूल्य २॥),

भारत में संघर्ष मूलतः जमीदार-वर्ग और कृषक-वर्ग का है। दूसरे शब्दों में: अवपतित क्षात्र-धर्म और वैश्यत्व का संघर्ष है। ब्राह्मणत्व सदैव मंत्रित्व का अधिकारी रहा है। प्रस्तुत उपन्यास इसी तत्व से अनुप्राणित है।

समस्या बिखरी पड़ी है। हल नहीं मिला है और न कोई उपाय ही सोचा गया है। हाँ संघर्ष का उग्ररूप हल के पास पहुँच चुका है।

छोटे उपन्यासों की कमी की पूर्ति में लेखक का प्रयत्न स्तुत्य है। भाषा सुबोध और सबल है। मुख-पृष्ठ आकर्षक तथा कलात्मक है।

—'राधे राधे'

संन्यासिनी—लेखक-विज्ञानरत्न जगदेवसिंह 'देव' प्रकाशक-आदर्श-पुस्तक-मन्दिर, चौक, इलाहाबाद, पृ० सं० १५६, मूल्य २॥)।

इस उपन्यास में लेखक ने रोमांस की रंगीनी को आदर्श कर्मठता की छाप के नीचे दबा दिया है। कहानी वास्तव में चिन्तामणि, अरुणिमा, अखिलेश और कामिनी की है। अरुणिमा और अखिलेश भाई बहिन हैं, उमानाथ की संतान। चिन्तामणि सेठ बिहारीमल का लड़का है। अरुणिमा से बचपन में ही चिन्तामणि की भेंट हुई है, वह अरुणिमा के गांव का जमीदार था। अरुणिमा से घनिष्ठता भी होगई। अखिलेश चिन्ता के साथ कालेज में पढ़ने गया। यहां चिन्तामणि कामिनी की ओर आकर्षित हुआ, किन्तु क्लब में कामिनी चिन्तामणि से रुष्ट होकर और अपमान अनुभव करके भाग गई। चिन्तामणि इंगलेंड चला गया और आई०सी० एस० हो गया। कामिनी संन्यासिनी बनकर अरुणिमा को ग्राम-सुधार में छिपे छिपे सहायता देती रही। अखिलेश राष्ट्रीय युद्ध में कूद पड़ा, कैद हुआ। चिन्तामणि कलक्टर बना पर अखिलेश-अरुणिमा के त्याग और राष्ट्र-प्रेम को देख वह भी पद-त्याग कर इनका साथी होगया। अन्त में चिन्ता और अरुणिमा, अखिलेश और कामिनी परस्पर बन्धन में बांध दिये गये। उपन्यास में ग्राम की दुरवस्था, वहाँ किया गया उद्योग और संघर्ष उभर कर आया है। जमीदारों के हृदय परिवर्त्तन का भी रूप है, इस युग में जब कि जमीदारियों को समाप्त कर देने का पूरा सरकारी उद्योग हो रहा है यह हृदय-परिवर्तन वाली कहानी कैसी रहेगी, कह नहीं सकते?

—म०

सजनी—लेखक-श्री सिद्ध बिनायक द्विवेदी, प्रकाशक-आदर्श-पुस्तक-मन्दिर, चौक, इलाहाबाद। पृ० सं० १६०, मूल्य २॥)।

यह उपन्यास रोमांस की रंगीनी और कर्त्तव्य की पुकार के संघर्ष का चित्र उपस्थित करता है। इसमें दो घटनाएँ प्रधान हैं, एक विध्य-पर्वत की जनशून्य उपत्यका में एक साधु की पालिती नवयौवनवती बसंतिका का प्रथम प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा प्रकाश से प्रेम हो जाना। दूसरी घटना है दौलतशाह की जागीर में कष्टों से मुक्ति दिलाने के लिए बसन्तिका का नर्तकी बन कर तथा दौलतशाह की प्रेयसी का रूप भर कर 'प्रजामण्डल' के लिये अधिकार पत्र पर हस्ताक्षर करा लेना।

कहानी मूलतः दुर्बल रोमांस पर निर्भर है, और उसमें उतना ही दुर्बल राजनीति क्षेत्र की चालों को गूंथा गया है। लेखक की प्रथम रचना है इस लिए कथा-विधान की इन दुर्बलताओं पर इतना जोर नहीं दिया जा सकता। ठाकुर श्रीनाथसिंहजी की भूमिका के ये शब्द हम भी उद्धृत किए देते हैं। परन्तु तो भी प्रस्तुत उपन्यास के विषय में इतना तो बिना हिचक कहा ही जा सकता है कि यह पाठक को बगैर अपनी ओर खीचे नहीं रह सकता।

दिव्य-गन्धा—(वैदिक कालीन उपन्यास) ले०-कवीन्दु बैनीप्रसाद बाजपेई 'मंजुल'। प्रकाशक-हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन, शाहगंज, इलाहाबाद। पृष्ठ २४८, मू० २॥)

लेखक ने इसे वैदिक कालीन उपन्यास बताया है। ईसका कथानक बहुत छोटा है। कुछ दस्युओं को आर्यों ने दास बना लिया है। इससे असन्तुष्ट होकर अनार्य उन दासों में से एक को लेकर भाग जाते हैं। उसका शोध करने के लिए दो दास चल पड़ते हैं। वे अरण्य में दस्यु वेष में एक आर्य गुप्तचर को बाणों से घायल कर देते हैं। वे भी दस्युओं द्वारा पकड़ लिए जाते हैं। आर्य स्त्रियाँ दास स्त्रियों से अनार्यों के अत्याचार की कहानी सुनकर आर्यों को प्रेरित करती हैं कि वे अनार्यों का नाश करें। जिस आर्य के बाण लगे थे, वह चित्ररथ का भाई था। चित्ररथ अनार्यों पर विशेष क्रुद्ध है। राजा की पुत्री दिव्यगन्धा उस पर आसक्त है। राष्ट्र-सभा के आदेश से चित्ररथ सेनापति बनकर अनार्यों से लड़ने जाता है, दिव्य-गन्धा को भी उसके साथ जाने की आज्ञा मिल जाती है। चित्ररथ दिव्यगन्धा के सहयोग से अनार्यों पर विजय प्राप्त करता है। लौट आने पर राष्ट्र-सभा की स्वीकृति से दिव्यगन्धा चित्ररथ को अपना पति वरण करती है। वही राज्य का उत्तराधिकारी भी निर्वाचित कर लिया जाता है। इसमें वेदों के आधार पर जहाँ तहाँ आर्य आदर्श उपस्थित किये गये हैं। आर्यों की प्रशंसा की गयी है, आर्यों के विविध आयुधों का अच्छा वर्णन है। लेकिन इस प्रकार के उपन्यास के लिये जिस ऐतिहासिक ज्ञान, कल्पना और प्रतिभा की आवश्यकता होती है, वह इस उपन्यास में नहीं मिलते। उपन्यास में औपन्यासिकता का अभाव है।

—स०

कहानी

भस्मावृत्त चिनगारी—(कहानी संग्रह) लेखक—यशपाल, प्रकाशक—विप्लव-कार्यालय, लखनऊ। पृष्ठ १५२, मूल्य १॥)

इस संग्रह में १५ कहानियाँ हैं और चार पृष्ठों में 'बात यह है कि—' एक वक्तव्य। इस प्राम्भिक वक्तव्य में लेखक ने कला को मनुष्य के भावों का परिमार्जित रूप बताया है। भावों में परिस्थिति से परिवर्तन होते हैं, फलतः कला में भी। परिस्थिति से कला और नैतिकता के आदर्श बदलते हैं। कला और प्रचार के सम्बन्ध में भी कुछ शब्द लेखक ने कहे हैं—उसका पक्ष है कि 'कला और साहित्य का उद्देश्य सभी अवस्थाओं में मनुष्य में नैतिकता और कर्त्तव्य की प्रवृत्तियों की चिंगारियों को भावना की फूँक मार कर सुलगाना ही रहता है।'

यशपाल प्रसिद्ध कहानी लेखक हैं, और प्रगतिवादी हैं। इस संग्रह की सभी कहानियाँ पढ़ने में रोचक हैं, और लेखक के उद्देश्य को प्रकट करती हैं। 'भस्मावृत्त चिंगारी' में चित्रकार की कला का विषय और उसकी वस्तु है मृत्यु की यातना सहता हुआ नर-कंकाल। नर-कंकाल की पीड़ा पर किसी ने दया दिखा कर चित्रकार की कला पर अनाचार किया है। अन्त के शब्दों में कहानी वर्त्तमान मानव-समाज की जर्जरावस्था का

रूपक बन जाती है : "वह चित्र, मानवता का वह चित्र अब भी वैसा ही है। कलाकार क्षुब्ध है। कला अपूर्ण है, शायद पूर्णता की प्रतीक्षा में।' 'गुलाम की वीरता' में कैदी मुलुआ की उस वीरता का उल्लेख है जिसमें उसने अपने बल्लम से ही शेर को मार डाला था, पर जिसे चुपचाप ही नदी में बहा देना पड़ा था। राजा का शिकार एक गुलाम प्रजा मारे, भले ही आत्म-रक्षा के लिए हो! 'महादान' में चोर-बजार से अन्न को बंगाल के महादुर्भिक्ष में बेचबेच कर करोड़ों कमाने वाले सेठ के बीस हजार रुपये के दान का उल्लेख है जो उन्होंने अकाल से मरने वालों को फूँकने के लिए लकड़ी के लिए दिया। लेखक ने बहुत गम्भीर व्यंग किया है—उस सेठ का धन दुर्भिक्ष में मरने वालों के कारण था, और उसका दान जैसे सेठ के अपने अनाचार की वीभत्स साक्षियों को भस्म कर डालने के लिए ही था, और इस सबके लिए सेठ को अनेकों धन्यवाद मिले। सेठ थे करुणा के अवतार! 'गवाही' में उन पन्नालाल सक्सेना की कहानी है जो स्वयं तो मिक्स्ड कम्पनी की चाह में घूमते, अपनी पत्नी को घर में बन्द रखते। उनकी पत्नी एक दिन मिक्स्ड समाज में चली गयी तो जैसे वज्रपात हो गया। 'बफादारी की सनद' में सन् ४२ के विद्रोह में पण्डित बंसीधर की अवसर-पूजा का रूप है। शक्ति के पूजक थे। जब प्रजा ने विद्रोह का अपना अधिकार अपने गाँव में जमा लिया तो प्रजा के साथ होकर पण्डितजी सबके पूज्य बने, और जैसे ही रुख पलटा, कुछ व्यक्तियों को खुद गिरफ्तार करा के गोरे हाकिम से 'बफादारी की सनद' ली। बफादारी की सनद देते समय साहब के ये शब्द मार्के के हैं : 'अगर तुम हमारा मुल्क का आदमी होता, हम तुमको दगाबाज (Traitor) कहता और गोली मार देता।' वांन हिण्डन वर्ग उस बुढ़े माली की कहानी है जिसने वात्सल्यभाव से स्कूल की हैडमिस्ट्रेस सुनामा की रक्षा के लिए अपने भविष्य की चिन्ता न कर क्रूर सैक्रेटरी का घोर अपमान कर डाला था, जो साहस माली कर सका सुनामा के लिए, सुनामा अपने माली के लिए नहीं कर सकी! 'भाग्यचक्र' में अमला की आँख पंजाबी से लड़ गयी, वह उसे लेकर भागा, पर चोट खा जाने से पकड़े गये, अमला का विवाह अन्यत्र कर दिया गया, वहाँ से वह निकाल दी गयी, और वेश्या बन कर कितने ही लोगों के भाग्यचक्र दांये-बांये चलाती रही। 'पुरुष भगवान' में भी वैवाहिक समस्या के साथ स्त्री-पुरुष की समस्या है। भोला नाम के नौकर का प्रेम-सम्बन्ध बूढ़े गोरखा चौकीदार की जवान स्त्री से हो गया है, क्या यह अनुचित है? इस सम्बन्ध में रामनाथ का प्रतिवाद करते हुए कहानी के 'मैं' की यह उक्ति चरम पर है : 'अच्छा यदि मोटरों के अड्डे पर घुटनों के बल रेंग कर भीख माँगनेवाली बुढ़िया तुम्हें एक लाख रुपये रोज की मजदूरी दे पति की ड्यूटी पर नौकर रखना चाहे......यदि उसकी दया बिना तुम्हें भोजन वस्त्र की सुविधा न रहे?' 'देवी के वरदान' में उस देवी के कृपा-पात्र ब्राह्मण की कहानी है जिसके घर में सन्तान-वृद्धि होती जाती है, और आय कम। हर बार जब पुत्र या नाती होता है तो देवी के वरदान के लिए देवी का जप किया ही जाता है, आखिर एक दिन उन्होंने वह यज्ञ नहीं किया। 'इस टोपी को सलाम' साधारण कहानी है अंग्रेजों को सलाम न कर हिन्दुस्तानियों को सलाम करने, अपनों का ही आदर करने का संकेत करती है। 'सत्य का मूल्य' उस ग्रामीण दिनांक की कहानी है जो १६ दिन तपस्या करके भी ज्ञान न पासका और अन्त में गूलर के रस से अपने को स्वस्थ कर जो इसी अनुभव पर पहुँचा कि संसार मिथ्या माया नहीं, और इसी अनुभव के आधार पर सम्राट हर्ष के बौद्ध राजगुरु से प्राण की बाजी लगाकर भी शास्त्रार्थ करने भरी सभा में जा पहुँचा। 'सआदत' स्त्री-सौन्दर्य के रस को उभारती हुई उस सौन्दर्य की शाश्वतता को प्रकट करती है। 'साग' में उन दो बागी कैदियों की कब्र पर उगाये गये 'साग' की कहानी है जिन्होंने १९४२ में स्वतन्त्रता-संग्राम के लिए अंग्रेजों को जला कर खून कर डाला था, जिन्हें फाँसी देकर जेल में दफनाया गया और उन पर मर्सा का साग बोया गया। वह मर्सा का साग अंगरेजों ने खाया—प्रत्येक हिन्दुस्तानी मर्सा के प्रतीक से सोचता था कि अंग्रेज हिन्दुस्तानी को खा रहा है—प्रत्येक सोचता था और उबलता था, पर अलग-अलग। 'पहाड़ का छल' चम्बा के पहाड़ों में पाठकों को ले जा कर

उसके राजा के साथ सती होने वाले रानियों के करुण-चित्र के साथ राजा की प्रेयसी उस गूजरी को भी उपस्थित करता है जिसने महाराज के जवान नौकर से प्रेम किया। लेखक की सहानुभूति गूजरी की ओर होनी ही चाहिए। 'घोड़ी की हाय' मे एक मार्मिक कहानी है। एक इक्केवाला जून की दोपहरी में घायल घोड़ी के साथ इक्का हाँकता है, वह पकड़ लिया जाता है, पशु-दया के हिमायतियों द्वारा, घोड़ी छीन ली जाती है, घोड़ी का उपचार भी होता है, इक्केवाला दोपहरी में ही इक्के को स्वयं खींच कर घर ले जाता है। उसकी स्त्री घोड़ी न देखकर सन्देह में पति से चिढ़ गयी है, पानी नहीं देती। इक्केवाला यह अपमान नहीं सहता और अपनी स्त्री को कुचलकर मार डालता है। इसके फल स्वरूप उसे दण्ड मिलता है, पाँच वर्ष की कड़ी क़ैद। फाँसी न दी मानों कलक्टर महोदय ने बड़ी दया की। पशु और मनुष्य में कौन किस दया के अधिकारी हैं? यह प्रश्न है।

लेखक की प्रत्येक कहानी में उसका कौशल प्रकट होता है, उसने व्यञ्जना की समुचित सहायता ली है। —स०

कर्मयोग—सम्पादक, पं० मोहन शर्मा, ठा० किशोर-सिंह किशोर, प्रकाशक-प्रकाश मंदिर, बनारस, मूल्य १॥),

इस पुस्तक में हिन्दी के कुछ कहानी लेखकों की चुनी हुई कहानियाँ दीगयी हैं। प्रो० रामकुमार वर्मा, श्री जहूर-बख्श 'हिन्दी' कोविद, देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त', देवी-प्रसाद कुसुमाकर, पं० सिद्धिनाथ माधव आगरकर तथा श्रीरामचन्द्र रघुनाथ 'सर्वटे' आदि एक दर्जन लेखकों की रचनाएँ इस संग्रह में संकलित हैं। सभी कहानियाँ उच्चकोटि की तथा सुरुचिपूर्ण हैं, पाठकों का उनसे अच्छा मनो-रंजन होगा।

बाहर-भीतर—लेखक-श्री नरोत्तमलाल गुप्त 'नरेन्द्र' प्रकाशक-गंगा-पुस्तक-माला, लखनऊ, पृष्ठ संख्या १२७ मूल्य १।)

इस पुस्तक में लेखक की बीस कहानियाँ दी गयी हैं, प्रायः सभी कहानियों का आकार छोटा है, उनमें घटना-विस्तार नहीं, इसलिये साधारण पाठक उन्हें रुचि से पढ़ लेंगे। कुछ एक कहानियाँ बहुत साधारण हैं, कुछ भाव-चित्र मात्र हैं, निम्न श्रेणी के व्यक्तियों की दुर्दशा का वर्णन करते हुए लेखक ने प्रगतिशील विचारों का परिचय दिया है, किन्तु 'बायाँ हाथ' और कई अन्य कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें कहानी का सा चमत्कार दिखाई नहीं देता।

युग-चित्र—लेखक-श्री लक्ष्मीचन्द्र बाजपेयी। प्रकाशक—छात्र हितकारी पुस्तक माला, दारागंज, प्रयाग। पृ० सं० १६७, मू० २॥)

लेखक की सत्रह कहानियों का संग्रह है। कई कहानियाँ उच्चकोटि की है, कुछ साधारण हैं। 'भाभी', 'प्रतिच्छाया' और ऐसी ही दो-एक कहानियाँ केवल भाव-चित्रण ही रह गयी हैं, दूसरी ओर उदारता में अत्यधिक घटना विस्तार है, 'भग्गू', 'अन्धकार', 'घटनाचक्र' कहानियाँ पढ़ कर किसी बात का हृदय पर असर नहीं होता जो कि कहानी का गुण होता है। ऐसी कहानियाँ घटना का चित्रण मात्र रह जाती हैं। कई कहानियाँ पत्रों के ढंग पर लिखी गयी हैं जिनमें एक ही व्यक्ति के हृदयोच्छ्वास अंकित हैं, भावों और घटनाओं का चित्रण करने में लेखक सिद्धहस्त है। उनकी कहानियों में कला का अच्छा परिचय मिलता है।

राजनीति

आजाद हिन्द फौज का इतिहास—संकलन-कर्ता—श्री सूर्यबलीसिंह, प्रकाशक—काशी—पुस्तक—भंडार, चौक, बनारस, पृष्ठ संख्या १७६, मूल्य २) रुपया।

आजाद हिन्द फौज और सुभाष बाबू के नाम का जनता पर जो जादू छा गया है, उसके कारण उनके नाम पर लोगों ने जनता का खूब ही शोषण किया है। इस शोषण में सबसे अधिक हाथ पुस्तक-प्रकाशकों का रहा है। आजाद हिन्द फौज और उसके नेताजी के सम्बन्ध में अधिक से अधिक जानने की उत्सुकता का लाभ उठा कर अच्छा बुरा जो जिसके जी में आया इधर-उधर से एकत्र करके छाप दिया और आजाद हिन्द फौज का इतिहास तैयार हो गया। जनता ने भी प्रामाणिक साहित्य के अभाव

में उसका स्वागत किया और उसका मनमाँगा मूल्य दिया। आज इस प्रकार की सैकड़ों पुस्तकें बाजार में बिक रही हैं। प्रस्तुत पुस्तक भी उसी श्रेणी की पुस्तक है।

इसके संकलनकर्ता का दावा है कि पुस्तक प्रामाणिक और रहस्यपूर्ण है। उनका यह भी कहना है कि इसमें ऐतिहासिक और महत्वपूर्ण विषयों की खोज के साथ सम्पादन किया गया है। पर सच बात तो यह है कि पुस्तक की सारी सामग्री अखबारों की कटिंग मात्र है। और अखबारों की त्रुटियाँ उसमें मौजूद हैं। पुस्तक में हमें एक पंक्ति भी ऐसी नहीं दिखाई पड़ी जो अन्यत्र न छप चुकी हो। इसमें कितनी ही ऐसी बातें हैं जिनकी प्रामाणिकता का दावा करना दुस्साहस मात्र है। तथापि उन लोगों के लिए, जिनका सम्पर्क पत्र-पत्रिकाओं से कम है, इस पुस्तक से आजाद हिन्द फौज और नेताजी के सम्बन्ध में काफी जानकारी प्राप्त हो सकती है। पर उनके लिए इस पुस्तक का मूल्य अधिक है। —परेश।

अधिनायक तन्त्र—लेखक-श्री गुप्तनाथसिंह एम० एल० ए०। प्रकाशक-राष्ट्रीय प्रकाशन परिषद्, झाबुआ, शाहबाद; पृष्ठ ३६। मूल्य ।≈) आना।

राजनीतिक ज्ञान बढ़ाने के उद्देश्य से यह किताब लिखी गयी है। अधिनायक तन्त्र (डिक्टेटरशिप) क्या है, लोकतन्त्र और अधिनायक तन्त्र का भेद, फासिस्ट डिक्टेटरशिप और मजदूर (प्रोलेतेरियत) डिक्टेटरशिप का रूप और अन्तर, इस तन्त्र (अधिनायक-वाद) का भविष्य और उसका भूतकालीन इतिहास, इन बातों पर लेखक ने इस पुस्तिका में प्रकाश डाला है। राजनैतिक बातों का ज्ञान प्राप्त करने वाले प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए पुस्तक उपयोगी है।

समाजवाद—लेखक-श्री सम्पूर्णानन्द, प्रकाशक-कांशी-विद्यापीठ, बनारस। पृष्ठ संख्या ३३२ मूल्य २),

श्री सम्पूर्णानन्दजी लिखित 'समाजवाद' का हिन्दी संसार में काफी नाम और प्रचार हो चुका है। पुस्तक के महत्व का पता इसीसे लग जाता है कि इतने थोड़े समय में ही 'समाजवाद' का यह चौथा संस्करण हमारे हाथों में है। पुस्तक की उपादेयता स्वतः सिद्ध है, इसमें श्री सम्पूर्णानन्दजी ने मार्क्सवादी समाजवाद की तात्विक विवेचना करते हुए धर्म, सदाचार प्रभृति प्रश्नों को समाजवादी दृष्टिकोण से समझाया है, जिसके सम्बन्ध में अभी तक बहुधा लोग अज्ञान अन्धकार में पड़े हुए हैं। भारत में समाजवाद की स्थिति तथा रूप क्या होगा, इस सम्बन्ध में अच्छा ज्ञान इस पुस्तक से प्रगट होता है।

गांधीवादी विधान—लेखक-श्रीमन्नारायण अग्रवाल, प्रकाशक-नवयुग-साहित्य-सदन, इन्दौर। मूल्य १॥), पृष्ठ ११२।

'स्वतंत्र भारत का गांधीवादी विधान' कैसा हो, यह इस पुस्तक में बताया गया है। योरुपीय राजनीति-तत्ववेत्ताओं के विचारों का अध्ययन और उल्लेख करते हुए, अर्वाचीन शासन पद्धतियों को भारतीय अवस्था की कसौटी पर कस कर विद्वान लेखक ने यह सिद्ध किया है कि भारत का भावी शासन-विधान गांधीजी के सिद्धान्त और उनके व्यवहारिक कार्यों के आधार पर निर्मित होना चाहिये। भारत के लिए यही सच्चा और उपयुक्त विधान होगा। केन्द्रीयकरण की शक्ति ढीली कर ग्राम-व्यवस्था को शासन का आधार बनाया जाय और ग्राम, तहसील, जिला, प्रान्त और इसके बाद एक केन्द्रीय परिषद द्वारा शासन चलाया जाय, जिसमें क्रमशः उच्च परिषदों में नीचे की पंचायतों द्वारा निर्वाचित सदस्य होंगे। यही पंचायती राज्य की रूपरेखा होगी। अर्थ-व्यवस्था में इसी योजना के अनुसार पूंजी के केन्द्रीय-करण की नीति को नहीं अपनाया जायगा। वैयक्तिक श्रम और पूंजी का विकास राजस्व का आधार हो, जिसमें कलों से आवश्यकता भर ही काम लिया जाय। निर्माण में उक्त योजना की कितनी ही बातों का समावेश हो जाना संभव है। अतः पुस्तक का महत्व केवल विचारों की क्रांति में ही नहीं, उन विचारों को अमली रूप दिये जाने की उपयोगिता में भी है। देश-हित चिंतकों को इस पुस्तक का पाठ करना चाहिये।

नव-भारत—लेखक-श्री रामकृष्ण, प्रकाशक-प्रकाश मंदिर, काशी। मूल्य ५) पृ० सं० २५०।

गांधीवाद अथवा गांधीजी की विचारधारा पर यह

सैद्धान्तिक पुस्तक है। महात्मा गांधी के विचारों को अब तक हम सुनते, पढ़ते और समझते रहे, उन विचारों को सिद्धान्त के रूप में गुम्फित करने का प्रयत्न भी हुआ है। गांधीवादी विचारधारा के अनुसार लेखक का विश्वास है कि नव-भारत का निर्माण भारतीय ग्राम-व्यवस्था के आधार पर होगा। वह पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों के अंदर एक से ही दोष देखता है। समाज के विकास क्रम में लेखक मार्क्सवादी दृष्टिकोण के साथ बहुत कुछ साम्य प्रकट करता है, आर्थिक शोषण में भी वह मार्क्स द्वारा प्रतिपादित शोषण से इन्कार नहीं करता किन्तु शोषण मिटाने के ढंग में उसका मौलिक मतभेद है। गांधीवाद का रास्ता दूसरा है। मशीनों की जगह चर्खे का प्रतिदान ही उसे अभीष्ट है। मुद्रा-प्रसार से वह वस्तु-विनिमय को समाज के लिए अधिक कल्याणकारी समझता है। इसी प्रकार गांधीवाद की जिन बातों को प्रवाह के विरुद्ध तैरना कहा जाता है, उनको लेखक ने सिद्धान्ततः सत्य और व्यवहारतः संभव सिद्ध किया है।

युद्ध सम्बन्धी साहित्य

परमाणु बम—लेखक-रा० र० खाडिलकर, बी० एस० सी०, प्रकाशक-प्रकाश-मन्दिर, काशी। पृष्ठ ५०, मूल्य छः आना।

परमाणु बम दुनिया के अब तक के नरसंहारकारी अस्त्रों में सबसे विकराल और भयंकर अस्त्र है। साथ ही आधुनिक युद्ध-कला की वह सबसे नई और विलक्षण खोज है, इस बम का इतिहास क्या है, इस अस्त्र के निर्माण में कहाँ के किन लोगों ने प्रयत्न और खोज की और किनको सफलता मिली तथा किन तत्वों के मिश्रण से एटम बम बनता है, ये बातें इस पुस्तक में बतलाई गयी हैं।

जङ्गी गेस्टापो—लेखक-श्री कमलाप्रसादराय शर्मा, प्रकाशक-प्रकाश मन्दिर, बनारस, पृष्ठ ४८, मूल्य छःआना।

जर्मन फासिज्म का गुप्तचर विभाग 'गेस्टापो' के नाम से मशहूर है। यह गेस्टापो विभाग हिटलर शासन की एक शायद सबसे बड़ी शक्ति थी, इस विभाग के अध्यक्ष हिमलर को, हिटलर की ओर से सब तरह की शक्ति और अधिकार दे दिये गये थे, जिसके बल पर उसने न जाने क्या-क्या किया। छिपी हुई नरहत्यायें किसी के द्वारा कभी इतनी नहीं हुई होंगी। हिटलर के अत्याचार की बालू पर खड़ा किया गया जर्मन फासिज्म का महल आँधी से गिरे पेड़ की तरह ढह गया। हिमलर हिटलर की जान का गाहक बन गया। इस पुस्तक में बर्लिन के पतन का वही रोमांचकारी दृश्य दिखाया गया है।

गायडा गेंग—लेखक—श्री रामकृष्ण, प्रकाशक—प्रकाश मन्दिर, काशी। पृष्ठ ६८, मूल्य दस आना।

इस पुस्तक में युद्धकालीन जासूसी के दृश्य हैं। पुस्तक में वर्णित घटनाओं में सत्य और कल्पना का समावेश है। जासूसी वर्णन सनसनी पूर्ण होते ही हैं, इसलिये पुस्तक किसी निठल्ले समय को आनन्द से काटने का साधन है, साथ ही युद्धकाल की रहस्यमयी घटनाओं का परिचय भी उससे मिलता है।

योरुप के दो सिपाही—लेखक-श्री० रा० र० खाडिलकर, रामकृष्ण शर्मा। प्रकाशक-प्रकाश-मन्दिर, काशी। पृष्ठ ८४, मूल्य दस आना।

इस पुस्तक में फ्रांस के दो बड़े सैनिक मार्शल पेतां और मार्शल फाक का जीवन परिचय दिया गया है। मार्शल पेतां का नाम इस युद्ध में मशहूर हो चुका है। फ्रांस के पतन के बाद हिटलर से सन्धि कर लेने वाला और मित्र राष्ट्रों की विजय तक फ्रांस के शासन-सूत्र को अपने हाथ में रखने वाला पेतां फ्रांस की जनता द्वारा किस प्रकार तिरस्कृत हुआ और उसे सार्वजनिक अदालत के कठघरे में खड़े होकर आजन्म कारावास के दण्ड का हुक्म सुनना पड़ा। मनुष्य के उत्थान और पतन की यह एक कहानी है।

मार्शल फाक फ्रांस का वह सेनापति था जिसने सन् १६१४-१८ के महायुद्ध में जर्मनी के विरुद्ध मित्र सेनाओं का संचालन किया था, एक सफल योद्धा के रूप में नरमेध का पुरोहित बन कर जीवन के अन्तिम चरण में काक चिड़ियों के शिकार को भी पाप समझने लगता है। सैनिकों का जीवन भी अध्ययन की चीज है जिससे हम बहुत कुछ सीख और समझ सकते हैं। र० व०

कल की दुनिया—लेखक–श्री० रा० र० खाडिलकर, प्रकाशक–प्रकाश मन्दिर, काशी। पृष्ठ संख्या १७२ मूल्य २॥),

इस पुस्तक में युद्धकाल में हुई वैज्ञानिक उन्नति का पता दिया है जिसमें एटम-बम भी है। युद्ध सम्बन्धी बातों में क्या-क्या नई खोज हुई, कौन से नये आविष्कार हुए, इसकी चर्चा करते हुये लेखक ने आगे होने वाली रसायनिक तथा चिकित्सा सम्बन्धी नई खोजों और आविष्कारों का भी वर्णन किया है। चित्रों से पुस्तक का महत्व और बढ़ गया है।

विविध

अजीब दुनिया—सम्पादक, सी० एल० विद्यार्थी, प्रकाशक–प्रकाश मन्दिर, काशी, पृ० ४८ मूल्य ।≈)

इस पुस्तिका में संसार में होने वाली अद्भुत घटनाओं का परिचय दिया गया है। जीवों और पदार्थों की अजीब बनावट और अनोखे काम, मनुष्य और प्रकृति-रचना की अद्भुत लीलायें तथा मानवी कार्यों की असाधारण बातें, इनका संकलन पाठकों के लिये मनोरंजन की एक चीज है।

—र० व०

बाल-साहित्य

मोतीचूर का भुट्टा—लेखक, श्री अशोक बी० ए० प्रकाशक–गंगा–पुस्तक–माला, लखनऊ। पृष्ठ ६३ मूल्य आठ आना।

'मोतीचूर का भुट्टा', 'अनार-देव रानी' और 'लालची ब्राह्मण' ये तीन कहानियाँ इस पुस्तक में संग्रहीत हैं। उनसे बालकों का मनोरंजन होता है। भाषा जहाँ तक संभव था, सरल रक्खी गयी है, अलबत्ता छोटे बच्चों के लिये कहानियाँ लम्बी हो गई हैं, प्रत्येक कहानी के साथ चित्र भी दिये गये हैं।

—र० व०

बिगुल—प्रकाशक—साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग, लेखक–श्री सोहनलाल द्विवेदी।

द्विवेदीजी ने आज 'बिगुल बजा कर सुकोमल बाल-संसार को जागृत कर दिया है। इस निर्घोष को सुन कर वीर बालकों की टोली 'भारत की ध्वजा उड़ायेंगे' गाती हुई प्रगति पथ पर चल पड़ी है। 'बिगुल' से केवल शब्द ही नहीं निकल रहा, वरन् टेलीविज़न की भाँति एक चित्र भी अंकित हो जाता है: पौराणिक महापुरुषों की कीर्ति स्वर्ण से यह चित्र झिलमिल है; वर्तमान के 'महान्' की शुभ्रता और आदर्श इसके स्वरों में विहँसित हैं; भविष्य की ओर एक बाल-सुगम मार्ग इसमें स्पष्ट है।

गांधीवाद की गम्भीर पर्वत-शिलाओं को रुई के गालों का रूप देकर बच्चों के कोमल कन्धों पर रखने का प्रयत्न है। राम और कृष्ण के नाम लेवा पानी देवा छोटी चोटी और लँगोटी वाले संत के छोटे लकुट और भविष्य के गौरव-प्रतीक, बच्चों के क्षेत्र में जिन बीजों का वपन आज के कठिन काल में कवि ने किया है, वे एक दिन देश के तप्त हृदय को छाया-दान देंगे। कवि की प्रतिभा से बीज सिंचित है। कवि की ओजस्वी प्रेरणा से आज बच्चे सोचते हैं: एक कहता है कि मैं सिपाही बनूँगा और —

'मैं जननी की ढाल बनूँगा, होगा पूरण काम।'

एक मास्टर बनेगा और उसका प्रण आज ही सुन लीजिये—

'अपढ़ न कोई यहाँ रहेगा, सब होंगे गुण-धाम।'

एक बालक तो कवि होकर रहेगा? उसी के शब्दों में—

लिखा करूँ मैं दलित जाति का,
जो भी हो उज्ज्वल इतिहास।
पोंछूँ उनके दृग के आँसू,
फैला दूँ अधरों में हास।

इस प्रकार 'बिगुल' ने बाल-संसार में एक स्वस्थ और चपल चहल-पहल कर दी है। बालक इस रंगीन सचित्र, सुन्दर और मोहक पुस्तक के लिए मचल उठेंगे—ऐसा हमारा विश्वास है। पुस्तक बाल-साहित्य का एक रत्न है।

—चन्द्रभान

सम्पादकीय

चतुर्वेदीजी का साहित्यिक और सांस्कृतिक स्वराज्य—अन्तर्कालीन सरकार के अस्तित्व में आते ही पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने पुनर्निर्माण की योजना के रूप में साहित्यिक और सांस्कृतिक स्वराज्य की आयोजना उपस्थित की है जिसमें कि उन्होंने यह बतलाया है कि वे साहित्य और संस्कृति के उत्थान के सम्बन्ध में केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों से क्या चाहते हैं। वैसे तो इस वक्त उनके लिए यह लोकोक्ति लागू हो सकती है कि 'तालाब खुदने नहीं पाया मगर आन कूदे' क्योंकि अन्तर्कालीन सरकार के पास अभी काफी समस्याएँ हैं किन्तु समय के पूर्व से सतर्क रहना अनुचित नहीं कहा जा सकता केवल इतना ही ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ बहुत कुछ करने की साध होती है वहाँ बहुत सी मामूली और आवश्यक बातें भी रह जाती हैं।

हम यह अवश्य कहेंगे कि साहित्यिक और सांस्कृतिक स्वराज्य की आलोचनायें इस प्रकार रक्खी जायें कि वे भारत की हिन्दू-मुस्लिम समस्या के ही हल करने में सहायक न हों वरन् भेदों के रहते हुए पारस्परिक सहयोग और सहकारिता के भाव बढ़ाने में सहायक हों। जानपदीय संस्कृतियों का अध्ययन अवश्य हो किन्तु उनमें अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग की प्रवृत्ति न हो जिससे शक्तियों का ह्रास हो। इस टिप्पणी के साथ चतुर्वेदीजी की स्कीम का स्वागत करते हुए अन्तर्कालीन सरकार से हम यह निवेदन करेंगे कि सांस्कृतिक और साहित्यिक एकता की स्थापना करने के लिए सबसे पहले वह एक वृहत् पारिभाषिक कोष का काम हाथ में ले जिस से पारिभाषिक शब्दावली का एकीकरण होकर प्रामाणीकरण भी होजाय। यह बहुत बड़ा कार्य है। इसके लिए सभी प्रान्तीय भाषाओं में लिखी हुई वैज्ञानिक पुस्तकों के संग्रह और अध्ययन तथा प्रान्तीय विद्वानों के विचार-विनमय की आवश्यकता होगी। यह कार्य उन विद्वानों का मुख्य विषय हो आजकल का सा गौण न हो। जब तक पारिभाषिक शब्दावली का एकीकरण और प्रामाणीकरण न होगा तब तक एक राष्ट्रीय विचारधारा को जन्म नहीं दिया जा सके। वह वैज्ञानिक कोष सभा-विधान सम्बन्धी शब्दों की समस्या को भी हाथ में ले।

चतुर्वेदीजी की आयोजना में पुस्तकालयों, संग्रहालयों आदि के सुझाव हैं, वे भी क्रमशः हाथ में लिये जायँ। रचनात्मक कार्य अभी लोगों की स्फूर्ति और वैयक्तिक उद्योग पर ही निर्भर रहे किन्तु ऐसे कार्य जिनसे पूरे राष्ट्र का सामूहिक रूप से सम्बन्ध है स्वयं सरकार हाथ में ले।

ब्रज विद्यापीठ—ब्रज-साहित्य-मण्डल ने अपने शिकोहाबाद के अधिवेशन में ब्रज-विद्यापीठ की स्थापना का सङ्कल्प किया था। यद्यपि हम पण्डित बनारसीदासजी चतुर्वेदी के विकेन्द्रीकरण के पक्ष में नहीं है तथापि हम चाहते हैं कि उपभाषाओं और बोलियों के प्राचीन-साहित्य की केवल रक्षा ही न हो वरन् उसका विधिवत् अध्ययन हो। उस अध्ययन का सांस्कृतिक महत्व होने के कारण राष्ट्रीय महत्व भी है। इस अध्ययन में हम यह भी चाहते हैं कि हमारे विद्यार्थी शोध के कार्य से पूर्णतया परिचित हो जायँ और वे अपने शोध की मनोवृत्ति को जीवन और साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भी लगा सकें। हम भावुकता के परिशीलन के साथ वैज्ञानिकता की मनोवृत्ति भी बनाना चाहते हैं। इसलिए ब्रज-विद्यापीठ का स्वागत करते हैं कि उसके द्वारा ठोस पाण्डित्य, अध्ययन और गवेषणा की मनोवृत्ति जाग्रत हो। हम आशा करते हैं कि ब्रज-विद्यापीठ के पाठ्य-क्रम-निर्माता इस उद्देश्य को भी ध्यान में रक्खेंगे।

सूचना

इस वर्ष के अब तक के सभी अंक पाठकों की सेवा में नियमित समय पर पहुँचते रहे हैं। यह अंक आगरे में साम्प्रदायिक दंगा व करफ्यू आर्डर होने की वजय से १० दिन लेट जा रहा है आशा है पाठक इसके लिये क्षमा करेंगे।

—सम्पादक



भाग ८] आगरा—नवम्बर १९४६ [अङ्क ५

काव्य-प्रेरणा का उद्गम

[प्रो० शिवनन्दन प्रसाद एम० ए०, साहित्यरत्न]

[काव्य-समीक्षा में उसकी प्रेरणा का प्रश्न प्रायः उठाया जाता है। उससे उद्देश्य पर भी प्रकाश पड़ता है। लेखक महोदय ने भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही दृष्टिकोणों से इस प्रश्न को देखा है। उन्होंने बतलाया है कि भारतीय मनीषी बाहरी उद्देश्य (यश और अर्थ) की ओर अधिक झुके हैं और पाश्चात्य अंतर की ओर गये हैं। यह बात सर्वथा ठीक नहीं है। तुलसीदासजी ने स्वान्तः सुखाय उद्देश्य माना ही है। 'सद्यः परनिर्वृतये' यद्यपि पाठक के लिए है, लेकिन वह कवि पर भी लागू होता है। लेखक ने किसी एक प्रवृत्ति को महत्व न देकर उनका परिगणन किया है और यह भी कहा है कि उनमें से सब या कुछ काव्य-प्रेरणा के मूल में मानी जा सकती हैं। लेखक ने काव्य को कवि के अतिरिक्त पाठक-सापेक्ष भी माना है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामायण को स्वान्तः सुखाय मान कर भी बुधजनों को महत्व दिया है। देखिये—

"जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो स्रम बादि बाल-कवि करहीं ॥".

—सम्पादक]

कवि कविताएँ क्यों लिखते हैं ? उन्हें काव्य-रचना की प्रेरणा कहाँ से आती है ? जहाँ भारतीय काव्य-शास्त्र में कविता के अन्य सभी अङ्गों पर अत्यन्त सूक्ष्म विचार करने की चेष्टा की गयी है, वहाँ काव्य-सिद्धान्त का यह पहलू उपेक्षित ही रहा है[1]। बात यह है कि काव्य-शास्त्र के सिद्धांत वास्तविक काव्य-ग्रन्थों के अवलोकन परीक्षण के उपरान्त ही निर्णीत किए जाते हैं। फलतः जिन अंशों में काव्य-कला की श्री-वृद्धि एवं उत्कर्ष तथा अधिक से अधिक काव्य-ग्रन्थों का प्रणयन होता जाता है उसी अनुपात में काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को भी संशोधित-परिवर्द्धित कर लेने की आवश्यकता हो जाती है। आज युग आ गया है कि हम आज तक की काव्य-कला द्वारा प्रस्तुत अनुभवों के आलोक

[1] कविता के हेतु पर विचार हुआ है पर कविता की मूल-प्रेरणा पर नहीं।

में अपने काव्य-सिद्धान्तों का विश्लेषण एवं पुनर्गठन कर लें। इस दिशा में सबसे प्राथमिक कार्य है काव्य-रचना की प्रेरणा पर सूक्ष्म और सम्यक् रीति से विचार कर लेना।

पाश्चात्य मनीषियों के कुछ विचार हमें इस विषय पर उपलब्ध अवश्य हैं। विश्व के साहित्य-शास्त्र के इतिहास में इस दृष्टि से पहला नाम अरस्तू (Aristotle) का आता है। इनके अनुसार कविता की मूल-प्रेरणा मानव की अनुकरण-वृत्ति में है। प्राकृतिक और मानव-व्यापारों से अत्यन्त प्रभावित हो कर जब हम उनके अनुकरण का प्रयास करते हैं तो साहित्य और कला के बीज अङ्कुरित होते हैं।

इसके बाद हीगेल का सिद्धान्त आता है जिसके अनुसार मानव की अनुकरण वृत्ति के अतिरिक्त उसके स्वभाव में सौन्दर्य-प्रियता और आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्तियाँ भी हुआ करती हैं जिन्हें हम साहित्य-रचना के मूल में देख सकते हैं। अपने जीवन की विशिष्ट घड़ियों में कोई विशिष्ट प्रतिभा-शाली व्यक्ति (कवि या कलाकार) अपने अन्तःकरण में विश्व सौन्दर्य का साक्षात् करता है और उसी की अभिव्यक्ति का प्रयास कविता आदि के रूप में करता है।

तृतीय मत बेनिडिटो क्रोचे का है। इसका सिद्धान्त 'अभिव्यञ्जनावाद' के नाम से अभिहित हुआ है। इसके अनुसार आत्मा की अभिव्यक्ति या अभिव्यञ्जना ही कविता है। आत्मा के अन्दर इस अभिव्यक्ति की प्रेरणा बाह्य-विश्व के संसर्ग से उत्पन्न प्रतिक्रिया के रूप में उद्भूत होती है जिसका प्रकाशन कवि कहलाने वाले व्यक्ति-विशेष के लिए अनिवार्य होता है। अतः महत्व काव्य-विषय का उतना नहीं, जितना इस अभिव्यक्ति मात्र का है। (क्रोचे अभिव्यक्ति को मानसिक ही मानता है।)

चतुर्थ आचार्य जिसके सिद्धान्तों में हम काव्य-प्रेरणा के मूल का विवेचन पाते हैं फ्रायड है। फ्रायड के मत में कविता (या कोई भी कला) अतृप्त (या दमित) वासनाओं की मानसिक तृप्ति का प्रयास मात्र है। हमारी अपूर्ण या अतृप्त (या दमित) आकांक्षाएँ-अभिलाषाएँ मर नहीं जातीं—वे अचेतन या उपचेतन मन के कोष में संचित रहती हैं और चेतन मन द्वारा अभिव्यक्ति का अवसर ढूँढती रहती हैं। प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा इन्हीं की व्यवस्थित अभिव्यक्ति कविता या कला का रूप धारण करती है।

पाँचवा मत आडलर का है जिसके अनुसार कविता अन्य कलाओं की ही भाँति अपूर्ण मानव की पूर्णता का प्रयास है। कुछ विशिष्ट मनुष्य अपनी निसर्ग-गत हीनता को सहन नहीं कर सकने के कारण पूर्णता का कल्पनात्मक सृजन कर उस हीनता से छुटकारा पाने का सन्तोष-लाभ करते हैं। अमरों की सृष्टि, पूर्ण अवतारों की कल्पना और वीर-पूजा आदि इसी प्रवृत्ति के प्रतिफलन हैं। साहित्य में आनन्द और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा इसीलिए है कि जीवन में इच्छित सुख और सौन्दर्य हमें नहीं मिलता।

काव्य की मूल-प्रेरणा के सम्बन्ध में यह तो पाश्चात्य सिद्धान्तों की रूप-रेखा हुई। भारतीय वाङ्मय के अवलोकन से भी हम इस सम्बन्ध में कुछ तत्त्व पा सकते हैं। यद्यपि काव्य-शास्त्र ने स्पष्ट विवेचन इस विषय पर नहीं किया फिर भी अन्य विषयों पर जो विचार हुए हैं उनके तथा कुछ कविता ग्रन्थों के सहारे हम प्राचीन मनीषियों एवं नवीन कवियों की धारणाओं का कुछ पता लगा सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

प्राचीन काव्य-शास्त्र में काव्य का उद्देश्य (=काव्य से लाभ) इस प्रकार बताया गया है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये;
सद्यः परिनिर्वृतये कांतासम्मित तयोपदेश युजे।

—काव्य-प्रकाश : मम्मट

काव्य के निर्माण होने में हेतु—कारण—इस प्रकार कथित हुआ है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्;
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।

—काव्य-प्रकाश : मम्मट

शक्ति (प्रतिभा), निपुणता (अध्ययन) और अभ्यास—ये तीनों मिल कर काव्य-रचना के आधार हैं।

लेकिन प्रश्न यह नहीं है कि काव्य से लाभ क्या है अथवा किन उपकरणों की सहायता या सहयोग से कवि काव्य-रचना में सफल होता है। प्रश्न तो यह है कि कविता-लिखने की इच्छा उसे होती ही क्यों है?

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन आचार्यों ने कवि को कविता लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिलती है। इस विषय पर सोचने की आवश्यकता ही नहीं महसूस की क्योंकि कविता को मानव की उन नैसर्गिक प्रवृत्तियों के बीच वे स्थान नहीं देते थे जिनकी परितृप्ति मानव-स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हो। जैसे भूख-प्यास सभी को लगती है उसी प्रकार कविता लिखने की इच्छा सभी को नहीं होती। काव्य रचना एक नैसर्गिक मानव-व्यापार नहीं, वरन् एक चेतन-पद्धति (Conscious process) है जिसके लिए केवल प्रतिभा ही नहीं, शास्त्र और काव्य-ग्रन्थों का अध्ययन और अभ्यास भी चाहिए। अतः काव्य-रचना की इच्छा भी कवि (समर्थ व्यक्ति) के मन में कुछ वैसे ही कारणों से होगी जैसे कारणों से जीवन के अन्य चेतन उपादेय व्यापारों की अभिलाषा। अर्थात् जो काव्य के लाभ बतलाए गए हैं—यश, द्रव्य-लाभ, सुखोपभोग, लोक-व्यवहार-ज्ञान, कान्ता के समान मधुर उपदेश—इन्हीं लाभों की इच्छा से कवि कविता लिखेगा। अर्थात् काव्य-रचना निरुद्देश्य अभिव्यक्ति नहीं, जान-बूझ कर किया गया एक उपयोगी कार्य-विशेष है।

अतः प्राचीन आचार्यों के अनुसार काव्य रचना की प्रेरणा के मूल में हम उसकी उपयोगिता ही पाते हैं। और यह एक इतनी सीधी चीज है कि इसकी विवेचना उन्हें अनावश्यक जान पड़ी।

अब आधुनिक युग में आइए। पश्चिम की हवा जब तक इधर नहीं आई थी तब तक 'कला कला के लिए' वाला सिद्धान्त यहाँ सुनाई नहीं देता था। कला या कविता का भी एक निश्चित उपयोग था और जैसे अपने उपयोग को दृष्टि में रखकर मकान बनाए जाते हैं, नगर बसाए जाते हैं, वैसे ही अपनी उपयोगिता के कारण कविताओं की रचना होनी चाहिए—ऐसा समझा जाता था। लेकिन पाश्चात्य सिद्धान्तों के सम्पर्क ने ही यह सोचने की प्रेरणा दी कि उपयोगिता के सिवा भी काव्य-रचना की कोई प्रेरणा हो सकती है या नहीं।

फलतः हम इन धारणाओं को पाते हैं। प्रथम—कविता का मूल दुःख है—दुःख से ही काव्य कला का जन्म इसलिए हो सकता है कि दुःख मानव की गम्भीरतम संवेदनाओं में से है और तत्काल आत्माभिव्यक्ति की याचना करता है, क्योंकि यह मानव-स्वभाव है कि मनुष्य दुःख बाँट कर भोगना चाहता है। इसी हमदर्दी, सहानुभूति की प्यास के कारण कवि (एक अत्यन्त संवेदनशील और परदुःखकातर कोमल हृदय वाला व्यक्ति) को कविता करने (संगीत के स्वरों में अर्थ पूर्ण शब्दों के सहारे दुःख की अभिव्यञ्जना करने की) इच्छा होती है। यही काव्य-रचना की प्रेरणा है।

इन पंक्तियों को देखिए—

वियोगी होगा पहला कवि
आह से निकला होगा गान।
निकल कर आहों से चुपचाप
वहीं होगी कविता अनजान।
—पन्त।

—और सचमुच जिन्हें हम आदि-कवि के रूप में जानते हैं उनकी (वाल्मीकि की) प्रथम पंक्तियाँ दुःख की अत्यन्त तीव्र अनुभूति की ही प्रतिक्रिया थी—

मा निषादप्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समा।
यत्क्रौंच मिथुनादकेमवधीः काम मोहितम्॥

द्वितीय धारणा—काव्य की मूल प्रेरणा है निरुद्देश्य आनन्द की प्रवृत्ति। विश्व के सौन्दर्य (आलंबन) की जो आनन्दमय प्रतिक्रिया (भाव-रस) कवि के हृदय में होती है उसे वह अपने ही मन के अन्दर रखने में असमर्थ हो जाता है। कवि स्वभावतः, अनिवार्यतः, उससे दूसरों को भी अभिषिक्त करना चाहता है। वह जो स्वप्न देखता है,

दूसरों को भी दिखाना चाहता है। इसी में काव्य-रचना की मूल-प्रेरणा है।

इन दोनों धारणाओं को हम पाश्चात्य सिद्धान्तों के प्रकाश में देखें।

प्रथम का सम्बन्ध क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद से और कारणरूप में फ्रायड के अभुक्त-कामवाले सिद्धान्त से है। द्वितीय का सम्बन्ध हीगेल के सौंदर्य प्रियता वाले सिद्धान्त, क्रोचे के अभिव्यञ्जना-वाद और आडलर के मत से है। अतः ये धारणाएँ पाश्चात्य सिद्धान्तों से स्वतन्त्र महत्व नहीं रखतीं और उन्हीं की तरह कविता का मूल उक्त मानव की किसी नैसर्गिक प्रवृत्ति में खोजने का प्रयास करती हैं, किसी उपयोगिता के विचार में नहीं।

अब पाश्चात्य सिद्धान्तों का परीक्षण कीजिए।

अनुकरण-मात्र की प्रवृत्ति कला की जननी नहीं हो सकती क्योंकि कला मौलिक सृष्टि भी है, केवल प्रतिकृति नहीं। हां, आरम्भिक अवस्था की कला में अनुकरणात्मकता अधिक रही हो, तो आश्चर्य नहीं। लेकिन कला (कविता भी) सृजनात्मक तत्त्व का मूल हमें अन्यत्र ही ढूँढना होगा। सौन्दर्य-प्रियता एवं आत्म-प्रदर्शन का सिद्धांत भी खरा नहीं उतरता क्योंकि जिस सौन्दर्य को देख कर कवि का हृदय हर्षित होता है उसकी केवल बाहरी रूपरेखा वह नहीं उपस्थित करता—वह बहुत गहरे जाकर जीवन का रस ग्रहण करता—कराता है। यह प्रक्रिया आत्मप्रदर्शन-मात्र नहीं, आत्मदान भी है। केवल आत्माभिव्यक्ति के सिद्धान्त को भी हम नहीं मान सकते। हम यह नहीं मान सकते कि अपनी मनोगत भावनाओं की अभिव्यञ्जनामात्र से वह सन्तुष्ट है, लोग उसकी वाणी पढ़ें—चाहे समझें अथवा नहीं। यदि ऐसा होता तो बोधगम्य अर्थपूर्ण शब्द-संकेतों की अपेक्षा ही क्यों रहती। कवि की आत्माभिव्यञ्जना अपने आप में पूर्ण नहीं होकर पाठकों या श्रोताओं की ओर से भी कुछ अपेक्षा रखती है। फ्रायड और आडलर के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी हम यह तर्क उपस्थित कर सकते हैं। अतः अपने आप में इनमें से कोई सिद्धान्त पूर्ण और सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता।

स्थिति यों है:—

प्राचीन भारतीय आचार्य काव्य-रचना को एक कृत्रिम, चेतन व्यापार के रूप में मानते हैं जिसकी प्रेरणा उसकी उपयोगिता है। काव्यरचना सोद्देश्य है। पाश्चात्य विद्वान् काव्य-रचना को मानव की किसी न किसी नैसर्गिक प्रवृति का प्रतिफलन मानते हैं जो उपयोगिता-निरपेक्ष है। वस्तुतः दोनों आत्यन्तिक सीमाओं पर हैं। यदि हम इन विचारों के सन्तुलित अध्ययन के आधार पर काव्य प्रेरणा के मूल की खोज करें तो निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं—

(क) कविता की मूल-प्रेरणा मानव की कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों में ही निहित है, लेकिन इनमें से सभी प्रवृत्तियाँ उद्देश्य-निरपेक्ष नहीं हैं।

(ख) ये प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) बाह्य विश्व (विभाव) से अन्तःकरण के प्रभावित (भावोद्रेक) होने की प्रवृत्ति।

[इस दृष्टि से कवि जन-साधारण से अधिक संवेदनशील होता है। और न केवल वाह्य विश्व का सौन्दर्य, वरन् कुरूपता और विषमताएं, दुःख-दारिद्र्य, अस्थिरता क्षणभंगुरता सभी कुछ उसे प्रभावित कर सकती है।]

(२) अन्तरात्मा पर पड़े प्रभावों की अभिव्यञ्जना की प्रवृत्ति। इसी में आत्म-प्रसार का तत्त्व निहित है। यह अभिव्यञ्जना सोद्देश्य एवं पाठक सापेक्ष्य है।

[हमारी आत्मा अन्य आत्माओं को भावयोग से छूने का प्रयास करती है। विश्व से न केवल हम प्रभाव और संवेदनाएँ ग्रहण करते हैं। वरन् निसर्गतः विश्व को भी अपने प्रभाव और संवेदना की परिधि में लाने के अभिलाषी रहते हैं। हृदय-हृदय के इसी तादात्म्य में, जब कि भावभूमि पर कवि पाठकों के हृदय का आलिंगन करना चाहता है, जब कि अपने सुखदुःख में विश्व के हिस्सा बटाने की वह अपेक्षा रखता है, साहित्य की सार्थकता है। अतः कविता पाठक-निरपेक्ष तो हो ही नहीं सकती। विशुद्ध निरुद्देश्य आत्माभिव्यक्ति उसकी प्रेरणा नहीं है।]

(३) अभुक्त-काम की मानसिक तृप्ति के प्रयास की प्रवृत्ति।

फ़ारसी और हिन्दी

[ले०—श्री० राममूर्ति मेहरोत्रा, एम. ए., बी. एड.]

[यद्यपि यह विवादास्पद है कि भारतीय आर्य और फारसी ईरानी (आर्यन) पंजाब या मध्य एशिया में साथ थे तथापि यह निर्विवाद है कि संस्कृत और फारसी के शब्द-भण्डार में बहुत कुछ साम्य है इस लेख के अध्ययन से यह पता चलेगा कि भाषा की दृष्टि से हम फारसि वालों से बहुत दूर नहीं हैं। इसी आधार पर कुछ लोगों का (जैसे माननीय पुरुषोत्तमदास टण्डन का) विचार है कि हिन्दुस्तानी में यदि अरबी शब्दों की अपेक्षा फारसी शब्दों का मिश्रण रहे तो हिन्दू-मुसलिम एकता के प्रचार में कुछ सहायता मिले। मानवता की दृष्टि से तो सब जातियाँ एक हैं किन्तु वैज्ञानिक आधार पर भी जितनी एकता स्थापित हो सके उतना अच्छा है।—सम्पादक]

ईरान तथा भारतवर्ष की भाषाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि भारतवासियों तथा ईरानियों के पूर्वज एक ही थे। 'ईरान' शब्द स्वयं 'आर्यन' शब्द से निष्क्रमित प्रतीत होता है और ईरान देश का नामकरण 'आर्यन' के अनुसार ही हुआ है। जब आर्यन ने मध्य-एशिया से भारतवर्ष में आकर यहाँ के मूल निवासी कोल-द्रविड़ों को उनके निवास-स्थान से जंगल-पहाड़ों आदि में भगा दिया और स्वयं वहाँ नगरों में बस गए, तो बाहर से आने वाले आर्यन और भारतवर्ष के मूल निवासी कोल-द्रविड़ों में कोई सम्बन्ध न रह गया और उनकी भाषाएँ आर्यन की भाषाओं से नितान्त भिन्न रहीं। ठीक यही दशा ईरान में दिखाई देती है। ईरान की प्रमुख प्राचीन भाषा जन्द थी जिसका प्रधान ग्रन्थ 'अवेस्ता' है। पहलवी, पारसी अथवा फारसी आदि भाषाएँ इसी से निष्क्रमित हुई हैं। यद्यपि इस समय ईरान की प्रमुख भाषा 'पारसी' या 'फारसी' है, तदपि आज भी ईरान के जंगलों पहाड़ों तथा घाटियों में लाखों ऐसे आदमी हैं जो अपना घर सिर पर ढोए ढोए फिरते हैं और कुर्द, लक, लुज, लुजको आदि ऐसी भाषाएँ बोलते हैं। जिनका ईरानियों की फारसी पहलवी, जंद आदि भाषाओं से कोई भी सबंधं नहीं हैं। संभवतः भारतवर्ष की भाँति ही ईरान में भी ईरानी लोग कहीं से आकर यहाँ बस गए होंगे और उन्होंने यहाँ के मूल निवासियों को जिनकी भाषा आज तक उनसे भिन्न है उनके निवास स्थान से निकाल कर जंगलों-पहाड़ों में भगा दिया होगा। अब प्रश्न यह है कि ये ईरानी आए कहाँ से ?

मिस्टर ब्राउन (Mr. Brown) का मत है कि 'The Indians and Persians were once united in a common Indo—Iranian race located some where in the Punjab.'[1] अर्थात् भारतवर्ष तथा ईरान के

१. मि० ब्राउन कृत 'लिटरेरी हिस्ट्री आव पर्शिया' भाग १ पृष्ठ ३३

(४) अपनी अपूर्णता के दर्शन से छुटकारा पाने के लिए मानसिक कल्पित पूर्ण मूर्तियों के सृजन की प्रवृत्ति जिसमें अभुक्त काम का भी योग रहता है।

(५) अपनी क्षणिक अनुभूतियों को चिरन्तन रूप देने का मोह। [क्योंकि, मनुष्य जिन अनुभूतियों को महत्वशील समझता है उन्हें खोने देना नहीं चाहता और ऐसे एक एक पल का इतिहास लिख रखना चाहता है।]

(६) कुछ अन्य प्रवृत्तियाँ जो अस्पष्ट हैं।

(ग) प्रत्येक कविता की रचना के मूल में ये समस्त प्रवृत्तियाँ हों, यह आवश्यक नहीं। इनमें से एक, या अनेक भी हो सकती हैं।

(घ) निष्कर्ष सं० (ख) (२) से यह स्पष्ट ही है कि कविता-रचना को पाठक भी प्रेरणा देते हैं। लिखते समय कवि के मन में पाठकों के साँस्कृतिक स्तर, शिक्षा-दीक्षा, अर्थ-ग्रहण या रसग्रहण की क्षमता आदि के सम्बन्ध में जो सम्मिलित उपचेतन धारणा होगी उसका प्रभाव कविता के स्वरूप पर पड़े बिना नहीं रह सकता।

लोग किसी समय पंजाब में कहीं पर रहते थे। इसकी पुष्टि मौलवी मुहम्मद हुसैन 'आजाद' ने भी अपने 'सखुंदाने फारस' में की है। वह कहते हैं कि, 'इन दोनों खांदानों—फारस और हिन्दुस्तान के निवासियों का कुर्सीनामा एक है और 'आर्य' कौम के नाम से देश का नाम भी ईरान पड़ गया।'

अब हम उक्त मत की विवेचना भाषा की वैज्ञानिक दृष्टि से करेंगे। जब एक जाति एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती है, तो विजातीय सम्मिश्रण, जलवायु, राजनैतिक परिस्थिति, मुख-सुख अथवा सारल्य आदि अनेक कारणों से उसकी भाषा तथा उच्चारण में बहुत कुछ भेद हो जाता है, तदपि अनेकों शब्द जैसे निकट सम्बन्धियों, जानवरों, प्राकृतिक वस्तुओं, खाद्य-पदार्थों, शरीरांगों के नामों तथा पुरुषवाचक सर्वनामों और शब्दांकों (संख्या सूचक शब्द) में प्रथम तो परिवर्तन होता ही नहीं और यदि होता भी है तो इतना कम कि वे सरलता से पहचाने जा सकते हैं कि ये किस वंश के हैं और उनमें उस भाषा में गृहीत होने तक क्या क्या परिवर्तन हुए हैं। अतः हम इसी प्रकार के संस्कृत-फारसी शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

(अ) निकट सम्बन्धियों के नाम:—

संस्कृत	फारसी	हिन्दी
पितृ	پدر (पिदर)	पिता
मातृ	مادر (मादर)	माता
भ्रातृ	برادر (ब्रादर)	भाई
दुहितृ	دختر (दुख्तर)	बेटी
श्वश्रू	خسر (खुसर)	ससुर
जमातृ	داماد (दामाद)	दमाद या जमाई
विधवा	بیوه (बेवा)	विधवा

(आ) जानवरों के नाम—

अश्व	اسپ (अस्प)	घोड़ा
गो	گاو (गाव)	गाय
खर	خر (खर)	गधा
उष्ट्र	شتر (शुतर) اشتر (उश्तर)	ऊंट
मेष	میش (मेश)	भेड़
मूष	موش (मूश)	चूहा
शृगाल	شغال (शिगाल)	गीदड़
अहि	اژ (अज)	सांप
कृमि	کرم (किरम)	कीड़ा

(इ) शरीराङ्गों के नाम—

तनु	تن (तन)	बदन
जानु	زانو (जानू)	घुटना
शिर	سر (सर)	सिर
बाहु	بازو (बाजू)	बाँह
हस्त	دست (दस्त)	हाथ
पृष्ठ	پشت (पुश्त)	पीठ
पाद	پا (पा)	पैर
अंगुष्ठ	انگشت (अंगुश्त)	अंगूठा, अंगुली
दंत	دندان (दंदान)	दाँत
नाभि	ناف (नाफ़)	नाभी
गल	گلو (गुलू)	गला
भ्रू	ابرو (अब्रू)	भौं
बदन	بدن (बदन)	मुख, शरीर
चर्म	چرم (चिरम)	चमड़ा

(ई) प्राकृतिक वस्तुओं के नाम—

सूर्य	هور (हूर)	सूरज
अपताप	آفتاب (आफ़ताब)	सूरज
तारा	تارا (तारा)	तारा
शरद	سرد (सर्द)	सर्दी
याम	یوم (यौम)	दिन
क्षपा	شب (शब)	रात
वात	باد (बाद)	हवा
मास	ماه (माह)	महीना
सायं	شام (शाम)	सन्ध्या

(उ) खाद्य-पदार्थों के नाम —

अप	آب (आब)	पानी
क्षीर	شیر (शीर)	दूध
गोधूम	گندم (गंदुम)	गेहूँ

यव	جو (जौ)	जौ
माष	ماش (माश)	मूग
(ऊ) शब्दांक—		
द्वि	دو (दो)	दो
त्रि	سه (से)	तीन
चत्वारि	چهار (चहार)	चार
पंच	پنج (पंज)	पाँच
षट	شش (शश)	छः
सप्त	هفت (हफ़्त)	सात
अष्ठ	هشت (हश्त)	आठ
नव	نو (नौ)	नौ
दश	ده (दह)	दस
(ए) पुरुषवाचक सर्वनाम—		
अहम्	ام (अम)	मैं
त्वं	تو (तो)	तुम
(ऐ) अन्य—		
असुर	اهور (अहुर)	असुर
सोम	هوم (होम)	वनस्पति
सेना	هینه (हेना)	फौज
होता	جوتا (जोता)	हवनकर्ता
आहुति	اجتی (अजुति)	आहुति
गृभ	گرفت (ग्रिफ्त)	पकड़ना
हर्म्यम्	حرم (हरम)	महल
अन्तकाल	انتقال (इन्तकाल)	मरना
अजहार	اظهار (इजहार)	कहना
लोहित	لهو (लहू)	खून
भ्रम	وهم (वहम)	भ्रम
धनी	غنی (अ० ग़नी)	धनी
गोशाला	گوساله (गोसाला) = गाय का बच्चा	गायों के रहने का स्थान

उक्त अध्ययन के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) संस्कृत ङ वर्ग तथा छ ध भ का फारसी में अभाव है।

(२) संस्कृत 'स' के स्थान में फारसी में 'ह' पाया जाता है जैसे संस्कृत मास तथा फारसी ماه (माह), सं० सप्त तथा फा० هفت (हफ़्त), सं० अष्ट तथा फा० هشت (हश्त), सं० दश् तथा फा० ده (दह), सं० असुर तथा फा० اهور (अहुर), सं० सोम तथा फा० هوم (होम), इत्यादि।

(३) संस्कृत 'ह' के स्थान में फारसी में प्रायः भ ज ज़ ख पाए जाते हैं जैसे सं० होता तथा फा० جوتا (जोता), सं० आहुति तथा फा० اجتی (अजुती), सं० बाहु तथा फा० بازو (बाज़ू), सं० दुहिता तथा फा० دختر (दुख़्तर) इत्यादि।

(४) संस्कृत 'क्ष' के स्थान में प्रायः श आता है जैसे सं० क्षीर तथा फा० شیر (शीर) आदि।

(५) संस्कृत 'भ' के स्थान में फारसी में प्रायः ब व आता है जैसे सं० भ्रू तथा फा० ابرو (अबरू), सं० भ्रम तथा अ० وهم (वहम) इत्यादि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत के अनेकों शब्द फारसी में विकृत रूप में पाए जाते हैं। संभवतः ईरानियों ने संस्कृत के अनुकरण पर ही फारसी का निर्माण किया होगा। संस्कृत शब्दों के फारसी में आने में केवल उनके रूप के अनुसार ही परिवर्तन नहीं हुए अपितु ध्वनि तथा भाव के अनुसार भी परिवर्तन हुए हैं। एक दो उदाहरणों से यह विषय स्पष्ट हो जायगा। उदाहरणार्थ 'नमः' शब्द के विसर्ग का उच्चारण हवर्ण के समान मानकर पहिले 'नमह' हो गया, फिर जन्द के नियमानुसार हवर्ण का जवर्ण होने से 'नमह' का 'नमज' हो गया और अन्त में सरलता लाने के लिए 'नमज' का 'नमाज़' हो गया। यह परिवर्तन ध्वनि के अनुसार हुआ। इसी प्रकार जन्द के नियम से—सकार के हकार होने और हकार के जकार में परिवर्तन होने से 'सहस्र' का 'हज्रह' हो गया। तत्पश्चात् अन्तिम हवर्ण की ध्वनि अकार की भांति मान ली गई और उसे 'जवर्ण' से मिला कर रवर्ण का पृथक्करण कर लिया गया और 'हज्रह' से 'हजार' बन गया। अब एक परिवर्तन भावानुसार लीजाए। उदाहरणार्थ वेद में अग्नि को देवताओं का पुरोहित तथा दूत माना है, 'अग्निमीळे पुरोहितम्', 'अग्निर्वै

इस्लाम और मध्ययुग का हिन्दी-साहित्य

(कमल कुलश्रेष्ठ एम० ए०)

[दो जातियों के सम्पर्क में आने से विशेषकर विजेता का प्रभाव विजित जाति के ऊपर पड़ता है। इसका उलटा भी असम्भव नहीं यूनान का प्रभाव रोम पर पड़ा था। इस लेख में लेखक महोदय ने मुसलमान सूफी कवियों को लेकर दिखाया है कि उनके ग्रन्थों में मुस्लिम धर्म की कितनी प्रशंसा है। जायसी द्वारा जो मूर्ति पूजा के खण्डन का उल्लेख हुआ है उसमें मुसलमानी धर्म का प्रभाव अवश्य है किन्तु उसमें रत्नसेन के हृदय की खीज और निराशा भी शामिल है। जायसी हिन्दू धर्म का विशेष विरोधी न था। उसके प्रति उनके हृदय में आदर भावना अधिक थी। लेखक ने गोरखनाथ में मुसलमानी धर्म का विरोध भी दिखाया है किन्तु वह भी कबीर की भांति मुसलमानों की पार्थक्य भावना को दूर करने के लिए है। इस बात की ओर स्वयं लेखक महोदय ने भी संकेत किया है। इस्लाम का कबीर और भक्त-काव्य पर जो अव्यक्त या अर्ध व्यक्ति प्रभाव है उस पर यदि कोई महाशय लिखें तो हम उसका स्वागत करेंगे—सम्पादक]

इस्लाम, हर दुनियावी चीज को जीत कर उपभोग करने की लालसा पूरी करने का साधन खून में डूबी तलवार और हर दुनियावी चीज को सपने के समान झूठा कहने वाले और गुदड़ियों को अपनाने वाले सूफी धर्म को लेकर हिन्दुस्तान की भौगोलिक और सांस्कृतिक सरहद में ईसा की आठवीं सदी में घुसा। साधारण बोलचाल की भाषा लगभग इसी समय परिवर्तन की राह में गुजरती हुई उस रूप के निकट आ रही थी जिसे हिन्दी कहा जाता है। लगभग तीन-चार सौ साल तक इस्लाम अपने दोनों रूपों को यहाँ टिकाने में लगा रहा। उसके बाद उसने ताकत पा ली और उसके सामने दो सवाल उठ खड़े हुए—

१—वह इस्लामी संस्कृति हिन्दुस्तान पर लाद दे।

या

२—वह एक नई संस्कृति को अपना ले जो हिन्दुस्तानी तथा इस्लामी संस्कृतियों के मेल से बनी हो।

देवानां मुख दूतः'। फारसी में यही आग्नेय दूत देवांतिकगामी मानकर फरिश्ता (ﻪﺘﺷﺮﻓ) बना लिया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि फारसी का निर्माण संस्कृत से रूप, ध्वनि तथा भावा संबंधी तीनों प्रकार के परिवर्तनों द्वारा हुआ है। अब प्रश्न यह है कि यह हुआ कैसे,

'म्लेच्छा हवै सेऽपंशब्दं भाषन्ते' अर्थात् म्लेच्छ वे हैं जो भाषा के रूप को बिगाड़ कर बोलते हैं। भाष्यकार पातञ्जलि के मतानुसार इन्हें 'असुर' भी कह सकते हैं। जन्द से उत्पादित पारसी अथवा फारसी भाषा म्लेच्छ अथवा आसुरी भाषा कहलाती है। वेद को छन्द प्रधान होने के कारण छन्द भी कहते हैं। संभवतः म्लेच्छों ने छन्द के साम्य पर 'जन्द' का निर्माण किया। इस प्रकार जन्द का निर्माण वेद अथवा संस्कृत के आधार पर हुआ। अतः 'अवेस्ता' नामक जन्द के ग्रन्थ में यद्यपि वेद की ध्वनियाँ अनुकृत हुईं, वैदिक सिद्धान्तों का स्थान-स्थान पर अनुलेखन अथवा अनुमोदन हुआ, परन्तु उसके समस्त वर्ण गृहीत न हुए, ह्रस्व तथा च छ आदि का सर्वथा अभाव है और संस्कृत के अधिकांश शब्द सरलता लाने के लिए विकृत रूप में फारसी में आए।

अतः यह निश्चित है कि ईरानी भाषा का निर्माण संस्कृत के आधार पर हुआ और इसके निर्माता आर्यन ही थे, और चूंकि उत्तरी भारत की भाषा संस्कृत का ईरानी फारसी भाषा से अधिक साम्य है, अतः संभव है ये ईरानी पञ्जाब से ही ईरान गए हों। यही कारण है कि फारसी तथा पञ्जाब की तरफ की भाषाएँ एक ही प्राचीन भाषा वंश की मानी जाती हैं।

पहली कोशिश वह फारस में कर चुका था और बहुत दूर तक सफल हो चुका था। फारस में जो इस्लामी संस्कृति थी उसमें इस्लाम और फारस दोनों के तत्व थे जरूर परन्तु इस्लाम के तत्व ज्यादा थे। इस्लाम फारस का राष्ट्रीय धर्म बन गया था। हिन्दुस्तान में भी इस्लाम ने कोशिशें तो कुछ ऐसी ही कीं लेकिन कामयाब न हो सका। फिर भी इस्लाम की इस कोशिश का असर हिन्दुस्तान पर पड़ा और हिन्दी-साहित्य में उसकी प्रतिध्वनि हुई।

मध्ययुग के हिन्दी-साहित्य में यह प्रतिध्वनि दो तरह की है।

१—इस्लाम का पोषण

२—इस्लाम का विरोध

मलिक मुहम्मद जायसी आदि कवियों ने इस्लाम का पोषण किया। जायसी ने अखरावट में कहा—

विधना के मारग हैं तेते।
सरग नखत तन रोवां जेते॥
तिन महँ पंथ कहौं भल गाई।
जेहि दूनौं जग छाज बड़ाई॥
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा।
है सुन्दर कविलास बसेरा॥

अर्थात् हालांकि धर्म तो बहुत से हैं लेकिन दोनों जगतों में प्रसिद्ध और प्रशंसित मजहब मुहम्मद का है। उसको मानना स्वर्ग में रहने के समान है। आगे वह और साफ ढंग से कहता है—

वह मारग जो पावै सो पहुँचे भव पार।
जो भूला होइ अनतहि तेहि लूटा बटपार॥

अर्थात् जो इस्लाम को मानता है वह संसार सागर के पार पहुँच जाता है और जो और धर्मों को मानता है उसे माया ठग लेती है। इसलिये मलिक मुहम्मद ने समझाया कि—

साठि बरस जो लपई झपई।
छन एक गुपुत जाप जो करई॥
जानहु दुवौ बराबर सेवा।
ऐसन चलै मुहमदी खेवा॥
साँची राह सरीअत जेहि बिसवास न होइ।
पाँव राखि तेहि सीढ़ी निभरम पहुँचै सोइ॥

वह यह भी कहता है—

ना—नमाज है दीनक थूनी।
पढ़ै नमाज सोइ बड़ गूनी॥

मुहम्मद साहब का नाम भी अत्यन्त पवित्र है। इसी कारण—

जेहि नहिं लीन्ह जनम भरनाऊँ।
ताकहँ दीन्ह सरग महँ ठाऊँ॥

नूर मुहम्मद ने अपनी नायिका इंद्रावती के मुख से भी एक बार कहलाया था—

साहस देत परान हमारा।
अहै रसूल निबाहन हारा॥

मुहम्मद के नाम स्मरण का उपदेश इन्द्रावती भी दे रही है—

निसि दिन सुमिर मुहम्मद नाऊँ।
जा सौं मिलै सरग महँ ठाऊँ॥

नमाज में उस खुदा को खोजने की सलाह कासिमशाह दरियाबादी ने भी 'हंस जवाहिर' में दी है—

कासिम खोजौ ताहि कौं नाम नित्त जग पाँच।

और मलिक मुहम्मद जायसी के शब्दों में तो मुहम्मद साहब ने—

दीपक लेसि जगत कहँ दीन्हा।
भा निरमल जग मारग चीन्हा॥

वह यह भी कहता है—

जौ न होत अस पुरुष उजियारा।
सूझि न परत पंथ अँधियारा॥

मुहम्मद साहब के नाम स्मरण के बिना तो उसमान का विचार है कि खुदा का नाम लेना भी बेकार है—

जो अस जनम करै विधि जापा॥
बिनु ओहि नाम होहि सब पापा॥

इस्लामी विश्वासों को इन कवियों ने अपनी कविताओं और कथाओं में मिलाकर फैलाया। मूर्ति-पूजा का खण्डन करते हुए मलिक मुहम्मद जायसी ने अपनी पद्मावत में लिखा है—

पाहन चढ़ि जो चहै भा पारा।

सो ऐसे बूढ़ै मँझधारा ॥
पाहन सेवा कहाँ पसीजा।
जनम न ओर होइ जो भीजा ॥

इसीलिए वह इस निष्कर्ष पर आता है—

बाउर सोइ जो पाहन पूजा।
सकत को भार लेइ सिर दूजा ॥

अखरावट में 'गेहूँ खाने' वाला प्रचलित विश्वास जायसी ने लिखा है—

का-करतार चहिय अस कीन्हा।
आपन दोष आन सिर दीन्हा ॥
खाएनि गेहूँ कुमति भुलाने।
परे आइ जग महँ पछिताने ॥
छोड़ि जमाल-जलालहिं रोवा।
कौन ठाँव तें देउ बिछोवा ॥

जायसी तो इस्लाम के चश्मे से ही हर एक चीज को देखते थे। 'आदम' के नाम को लेकर कवि उसके अक्षरों की व्याख्या करता है।

अलिफ—एक अल्ला बड़ सोई।
दाल—दीन दुनिया सब कोई॥
मीम—मुहम्मद प्रीति पियारा।
तिनि आखर यह अरथ बिचारा ॥

सारे अखरावट में कवि ने इस्लामी विश्वासों का प्रतिपादन किया है। पद्मावती में भी मौके बेमौके कवि ने इसी तरह की बातें जोड़ी हैं। आखिरी कलाम में तो कहानी ही कुरान तथा इस्लाम की है। उसमें इस्लीम का पूरी तरह पोषण किया गया है। जायसी से बहुत पहले लगभग १३५० ई० में मुल्ला दाऊद ने एक मसनवी हिन्दी में चन्दावत नामक लिखी थी। हालांकि वह किताब आज खो गयी है लेकिन अलबदाउनी ने उसके बारे में लिखा है—

'........मखदूम शेख तकीउद्दीन वाइज रब्बानी मुल्ला दाऊद की कुछ कविताएं जिनमें चन्दावत भी था पुलपिट पर से पढ़ा करते थे और जनता उससे बहुत प्रभावित हुआ करती थी। एक बार शेख से लोगों ने पूछा कि आपने इस मसनवी को ही क्यों चुना है? शेख ने जवाब दिया कि यह सारी कहानी एक ईश्वरीय सत्य है, पढ़ने में मनोरंजक है, प्रेमियों को आनन्द भरे चिंतन की सामग्री देने वाला है, कुरान की कुछ आयतों का उपदेश देने वाला है और हिन्दुस्तानी भाटों जैसा है। लोगों के बीच में इसे गाने से लोगों के दिल पर इसका बड़ा ही गहरा असर पड़ता है।'

इससे मालूम होता है कि मुल्ला दाऊद की मसनवी को भी मुसलमान इस्लाम के पोषण के ही काम में लाते थे अर्थात् उसमें भी इस्लाम का पोषण ही किया गया था।

जैसा सवाल शेख से लोगों ने किया था, ऐसा ही सवाल नूरमुहम्मद से एकबार किया गया था। उन्होंने अपनी 'अनुराग बाँसुरी' में इसका जवाब दिया है—

जानत है वह सिरजन हारा।
जो किछु है मन मरम हमारा ॥
हिन्दू मग पै पाँव न राखेउँ।
काजौ बहुतै हिन्दी भाखेउँ ॥
मन इस्लाम मिस्किलैं माँजेउँ।
दीन जेंवरी करकस भाँजेउँ ॥
जहँ रसूल अल्लाह पियारा।
उम्मत को मुक्तावन हारा ॥
तहाँ दूसरो कैसे भावै।
जच्छ असुर सुर काम न आवै॥

'अनुराग बाँसुरी' में कवि ने अन्त में ग्रन्थ की तारीफ करते हुए कहा है—

यह बाँसुरी सुनै सो कोई।
हिरदय स्रोत सुना जेहि होई ॥

यही नहीं बल्कि—

सुनतै जो यह सबद मनोहर।
होत अचेत कृष्ण मुरलीधर ॥

क्योंकि—

यह मुहम्मदी जन की बोली।

कवि अत्यन्त आत्म-विश्वास एवं गर्व के साथ इसका कारण बतलाता है—

जहँ इसलामी मुख सों निसरी बात।
तहाँ सकल सुख मंगल; कष्ट नसात ॥

नूरमुहम्मद का इतना दृढ़ विश्वास इस्लाम पर था। इस तरह हिन्दी के कुछ मध्ययुगी कवियों ने अपनी

कविताओं और काव्यों में इस्लाम का पोषण किया है। ये सारे कवि मुसलमान हैं। एक बात यह भी गौर करने के काबिल है कि ये सारे कवि उन सूफी दरवेशों के चेले थे जो हिन्दुस्तान में इस्लाम फैलाने की गरज से आए थे। पं० रामचन्द्र-शुक्ल स्कूल ने जिस विचार-धारा को हिन्दी में जन्म दिया है उसके अनुसार ये कवि हिन्दू और इस्लाम दोनों मजहबों को बराबर मानते थे। डा० रामकुमार वर्मा जैसे विद्वान का ख्याल है कि इन कवियों के दिलों में हिन्दू धर्म के लिए न तो अश्रद्धा है और न अपमान की भावना। उनके लिए जैसा तीर्थव्रत था, वैसा रोजा और नमाज। लेकिन रामचन्द्र शुक्ल स्कूल की यह विचार-धारा गलत है। हमें अपने पनपते हुए दिमागों से यह विचार-धारा सदा के लिए निकाल देनी चाहिए कि ये कवि हिन्दू मजहब और इस्लाम को बराबर मानने को तैयार थे। इन कवियों ने जैसा कि ऊपर की पंक्तियों से स्पष्ट है, इस्लाम का सदा पोषण ही किया है और हिन्दू धर्म को उससे बहुत नीचा माना है। इस्लाम के प्रचारकों के चेलों से इस्लाम पोषण की तो उम्मीद करनी ही चाहिए। इनसे और कुछ उम्मेद करना ही गलत है।

हिन्दी में इस्लाम का विरोध भी काफी हुआ। गोरखनाथ ने डाँट-फटकार के स्वर में कहा—

महमंद महमंद ना करि काजी,
महमंद का बौहोत विचारं।
महमंद साथि पैकंबर सीधा,
ये लख असी हजारं॥

और दरवेश की परिभाषा बतलाते हुए उस समय के मुसलमान दरवेशों का विरोध किया—

दरवेस सोइ जो दर की जांणैं।
पंचे पवन अपूठा आंणैं॥
सदा सुचेत रहै दिन राति।
सो दरवेस अलह की जाति॥

वे मुहम्मद और खुदा दोनों को साधारणजनों के लिए वैसे ही बेकार समझते थे जैसे सोने और चाँदी के गहने। सर्वसाधारण के लिए तो लोहा, ताँबा, सोने, चाँदी से ज्यादा उपयोगी है। वे इन्हीं धातुओं का रूपक खड़ा करते हुए कहते हैं—

लोहा पीर,
ताँबा तकबीर।
रुपा महंमद,
सोना खुदाई॥
दुहुँ बिचि दुनिया गोता खाई॥

इस्लाम की मजहबी पाक किताब कुरआन का भी वे विरोध करते थे—

काजी मुला कुरांण लगाया
ब्रह्म लगाया वेदं।
कापड़ी संन्यासी तीरथ भ्रमाया
नृबांण पद का भेवं॥

मसजिद की नमाज भी उन्हें नामंजूर थी—

हिन्दू ध्यावै देहुरा, मुसलमान मसीत।
जोगी ध्यावै परमपद जहाँ देहुरा न मसीत॥

मुहम्मद का नाम स्मरण बेकार है। उसके ख्यालों को समझना और पाना इन्सान की पहुँच के बहुत परे है। गोरखनाथ ने इसीलिए मुसलमानों को अत्याचार करने और खून बहाने से रोका है—

महंमद महंमद न करि काजी
महंमद का विषम विचारं।
महंमद के हाथ करद जे होती
लोहै घड़ी न सारं॥

मुहम्मद के हाथ में छुरी थी, वह लोहे और इस्पात की बनी न थी वरन् शब्दों की बनी थी। काजी के बदन में इतनी ताक़त नहीं है कि उसे चला सके—

सबदैं मारी सबदैं जिलाई
ऐसा महंमद पीरं।
ताकै भरमि न भूलौं काजी
सो बल नहीं सरीरं॥

लेकिन फिर भी उनके मन में मुसलमानों के लिए कुछ इज्जत थी। वे एक जगह पर कहते हैं—

उतपति हिन्दू जरणां जोगी
अकलि पीर मुसलमानी।

ते राह चीन्हो हो काजी मुलां
अह्मा बिस्नु महादेव मानीं ।

इस प्रकार गुरु गोरखनाथ ने इस्लाम का इस्लाम से अधिक इस्लाम को मानने वालों का विरोध किया है। लेकिन उनके विरोध में किसी तरह की कटुता या घृणा का भाव न था। वे मुसलमानों को सभ्य तरके से स्नेह-पूर्वक समझाते थे। उनकी नजर उनकी खामियों की तरफ खिंचवाते थे। कबीर ने भी विरोध किया। लेकिन उनका विरोध कुछ ज्यादा असंयत शैली का था। उन्होंने नमाज का विरोध करते हुए कहा—

कांकर पाथर जोरि कै
मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे
क्या बहिरा हुआ खोदाय ?

रोजा रखने का कबीर यों साधारण विरोध नहीं करते थे लेकिन—

दिन में रोजा रखत हैं रात हनत हैं गाय।

इस्लाम मजहब को मानने वाले, इस्लाम न मानने वालों को काफिर कहते हैं और उन्हें हीन समझते हैं। कबीर ने इनका जमकर विरोध किया—

अल्ला एकै नूर उपाया ताकी कैसी निन्दा।
ता नूर थैं सब जग कीया कौन भला कौन मंदा ?

वे अपने खुदा को इस्लाम के खुदा से विभिन्न मानते थे—

मुसलमान का एक खुदाई।
कबीर का स्वामी रह्या समाई।

इस प्रकार इस्लाम के बाह्याचार का रूप ही कबीर ने बदलने का प्रयत्न किया है। वे गोरखनाथ की अपेक्षा इस्लाम को अधिक समझते थे और उसको गहरी चोट मारते थे।

संक्षेप में इस्लाम के विरोध की यही रूप रेखा है। इस विरोध में कहीं पर वैमनस्य की तनिक भी दुर्भावना नहीं है। इन विरोध करने वालों के मन में कोई साम्प्रदायिक राग-द्वेष नहीं था। किसी चीज को उन्होंने जब गलत समझा तो उसका विरोध किया। इनके विरोध का लक्ष्य न तो विरोध था और न इस्लाम का विनाश। साम्प्रदायिक कट्टरता इनमें न थी। परन्तु धर्म और समाज को सुधारने की चाहना इनमें थी।

इन इस्लाम के पोषण करने वालों और विरोध करने वालों का साहित्य हिन्दी के पण्डित वर्ग के समाज से विभिन्नता रखता है। इस साहित्य का प्रचार ऊँचे वर्ग में न हो सका। परन्तु, यदि किसी साहित्य का प्रचार ऊँचे वर्ग में नहीं हो सका तो वह महत्वपूर्ण साहित्य ही नहीं है, यह तो एक बेमानी दलील है। हिन्दी का यह साहित्य भी अपना महत्व रखता है। इससे हमें पता चलता है कि सूबा हिन्द की संस्कृति ने मध्ययुग में इस्लाम को साम्प्रदायिक घृणा से नहीं देखा और उसके प्रचार और पोषण को सहन किया। इस्लाम ने अपनी संस्कृति को लादने की जो कोशिश यहाँ पर की वह, हिन्दी के इस्लाम-पोषक कवियों से हमें पता चलता है, बहुत दबी-छुपी हुई थी। इस्लाम का स्वागत हिन्दी ने नहीं किया और इस्लामी संस्कृति से सूबा हिन्द को बचाने की चेष्टा की। अपनी इस चेष्टा में उसने कोई विद्वेष या कटुता नहीं आने दी। लेकिन फिर भी सूबा हिन्द की संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव पड़ा और एक मिली-जुली संस्कृति बनी जो आज तक चली आ रही है और दिन-दिन साफ होती जा रही है।

'हिन्दी-साहित्य में प्रबन्ध-काव्य का विकास'

(लेखक—हरिनारायण वर्मा साहित्य रत्न)

[इस लेख में लेखक ने बतलाया है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास में किन किन परिस्थितियों में प्रबन्ध-काव्य का प्राधान्य रहा है। उन सब परिस्थितियों में अपने व्यक्तित्व को मिटा कर अपने आराध्य में, चाहे वह राजा हो और चाहे अवतारी पुरुष हो, युग महापुरुष में समर्पित कर देने की भावना सामान्य रूप से वर्तमान है। यह बात वीर गाथा काव्य, भक्ति काव्य और द्विवेदी युग में अधिक थी। लेखक ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि निर्गुण वादियों में कबीर क्यों मुक्तक की ओर और जायसी क्यों प्रबन्ध की ओर गये। इस युग में व्यक्तिवाद के आधिक्य के कारण प्रगीत काव्य की ओर अधिक झुकाव है। इस युग के प्रबन्ध-काव्य, जैसे साकेत, में भी प्रगीत-तत्व अधिक है। —सम्पादक]

हिन्दी-साहित्य में शृंगारकाल में कविता रूढ़ि की शृङ्खलाओं में आबद्ध करदी गयी है। कोरा पांडित्य-प्रदर्शन ही काव्य-कला की चरम सीमा समझा गया, नायक-नायिका के चित्रणों द्वारा रसोद्भूत कर अपने आश्रयदाताओं को शृङ्गारिक-भावना के घूंट पिला उन्मत्त बनाए रखना यही इन शृङ्गार-कालीन कविगणों का उद्देश्य रह गया था। और सत्य कहा जावे तो कला को जीवन की आवश्यकता-पूर्ति का साधन बना व्यवसायी रूप प्रदान किया गया था। अतः उन्मुक्त कला श्रेयस्कर न हो, रूढ़िवाद के आवरण में आच्छादित हो एकाकी हो गयी थी। कला वासना-तृप्ति-मात्र का साधन-मात्र नहीं है, उसके मूल में मानवता के कल्याण की जो भावना समाविष्ट रहती है, वह युग के क्रन्दनों का गान कर उत्सर्ग-पथ प्रदर्शक होती है। वह तो जीवन की सभी अवस्थाओं से लगाव रखती है, अतः उसके सभी रूपों का समावेश होना ही कला का सापेक्ष्यरूप है। मेरे कहने का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि वासना का जीवन में स्थान ही नहीं। ऐसा कहना थोथापन होगा। वासना मानव-जीवन में अपना स्थान और अस्तित्व रखती अवश्य है किन्तु उसका यह भी तो तात्पर्य नहीं कि जीवन में वासना के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। अतः जब इन कवियों ने वासनोत्तेजक शृंगार की उद्दाम-तरङ्गों को उद्भूत करने वाली पंक्तियों का कृत्रिम-सृजन किया तो वह जीवन का (पूर्ण) चित्रण नहीं था, वह तो भुलावा था, समाज की कल्याण-भावना से ओत-प्रोत न हो कर स्वार्थमय था, उसमें युग के जन-साधारण की गूँज न होकर उन क्षत्रियों की लोलुपता की पूर्ति करने का प्रयास था जो उनके आश्रयदाता थे।

तो शृङ्गार-काल (रीतिकाल) में जीवन की पूर्णता के विविध चित्र नहीं खींचे गए। ऐसा क्यों हुआ? इसकी गति-विधि से पूर्णतया परिचित होने के हेतु हमको पूर्व-युगीन कलाकारों के पदचिह्नों का अनुगमन करना होगा। वीर गाथा-काल की वीररस (ओजस) की पंक्तियों में यथार्थतः तत्कालीन समाज की भावनाओं के चित्रण थे। बाह्य-आक्रमणों के प्रति चेतावनी दे उत्साहित कर राज्य पर आने वाली आपत्तियों से परिचित करा उस खतरे से जीवन को बचाना कलाकार का उद्देश्य रहा होगा (जो भी हो इस ओजस के मूल में काम करने वाली भावना किसी कुमारी का अपहरण करना ही था) यदि ऐसा मान लें तो वीर गाथा काल की कृतियाँ असफल नहीं उतरेंगीं। कहा जा सकता है यह तो जीवन के पूर्ण चित्र नहीं हैं। जो भी हो यह बात सत्य है और यह भी सत्य है कि यह स्वार्थ के वशीभूत हो किया गया होगा (यहाँ एक अभूत भावना काम कर रही थी। किन्तु यह तो जीवन मरण का सवाल था। फिर उस समय चारणकाल की जो पंक्तियाँ निर्मित हो रही थीं, वे चापलूसी के झीने आवरण में प्रशंसात्मक हो उद्भासित थीं। अतः

अपने आश्रयदाता को जन्म से ही महानता के प्रतीक रूप रख उसके कृत्यों (गौरवों) को बढ़ा-चढ़ाकर गान करना ही उनका कार्य था। उनके लिए आवश्यक था कि वे जीवन के समग्र चित्रों का चित्रण करें। उनके जन्म को उनके वीर कृत्य को चाहे वे हों या न हों अलौकिकता का जामा पहिनावें। यही कारण है कि वीर गाथा-काल में प्रबन्ध-काव्यों की इतनी अतिशयता दिखाई देती है। जीवन के निखिल चित्रणों से समाविष्ट हिन्दी-साहित्य का यह बाल्य-काल था, उसका विकास तो हुआ भक्ति-काल में।

यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि जो भी हो वीर-गाथा-काल एवम् श्रृङ्गार-काल में कलाकार प्रायः एक ही अवस्था में गुजर रहे थे, कम से कम उनकी स्थिति वही थी। फिर भी एक में जीवन की पूर्ण अवस्थाओं का चित्रण हो सका जबकि दूसरा उसके एकांगी रूप पर मुग्ध हो भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उसे मन भावन रूप देता हुआ, आकर्षक करने का प्रयास करता था। जीवन की विविध रूपता में से एक के प्रति अनुरक्ति या कलात्मक विकास कह कर इसे टाला नहीं जा सकता। यह कहना कि जीवन जटिल हो गया था, कलाकार को रूप निखारने का अवसर ही कहाँ रखा था, कोरी छलना होगी। इस भिन्नता की प्राप्ति का कारण हमें भक्तिकाल की सगुण-निर्गुण धाराओं की अभिव्यक्ति में मिलेगा। निर्गुणशाखा के शिला-स्तम्भ कबीर एवं जायसी, सगुणशाखा के महारथी तुलसी एवं सूर जिन संप्रदायों या वातावरणों में दीक्षित हुए थे, उसी की रेखाएँ ही तो उनकी लेखनी से बिखरी है। कबीर तो साम्य के जिस भाव के पोषक थे उससे खण्डन के स्वर ही गूँजे और वे धर्म के रूप पर ही अन्तिम प्रहार करते रहे। इसके हेतु उन्होंने स्पष्ट शब्दों में जहाँ डाट-फटकार लगाई, वहाँ रहस्य के रूप पर स्वयमेव न्यौछावर हो उसी में गूढ़ हो गए। 'उसी' में आत्मसात होने की भावना, ब्रह्म और अहं के एकाकीकरण की भावना, उनके मूल में कार्य कर रही थी। अतः वे तो सिर्फ धर्म की फिलासफी पर लिखते रहे। माया की चूनरी के अवगुण्ठन को हटाने में ही वे स्वयमेव आत्मसात् हो गए। किसी आदर्श विशेष की अनुपस्थिति में वे आदर्श की घटिकाओं का रम्य निरूपण न कर सके। अतः उनसे किसी प्रबन्ध-काव्य की आशा की भी नहीं जा सकती थी। और जायसी तो सूफीमत की जिस प्रेममार्गी-शाखा द्वारा साहित्य-क्षेत्र में उतरे उसमें पद्मावती और अखरावट के संश्लिष्ट चित्रणों को ही लेते आए। पद्मावत हिन्दी-साहित्य की अनूठी (प्रबन्ध-काव्य-रूपिणी) निधि है। प्रबन्ध-काव्य के इतिहास में भी उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। निर्गुणशाखा के कवियों द्वारा लिखित यह अकेला ही प्रबंध-काव्य है जिसमें अन्य भक्त-हृदयों के असमान कोरे उपदेशों का भान नहीं हुआ। अपितु रूपक के सुन्दर आवरण में फिलासफी 'प्रेम का पीर' का चित्रण हुआ। प्रश्न उठता है कि कबीर और जायसी में से एक मुक्तक की ओर और दूसरा प्रबन्ध की ओर क्यों झुका ? कबीर जीवन की धार्मिक आस्थाओं को डिगाने में रहे। परमात्मा की 'बहुरिया' के रूप में उन्होंने स्वयं को ही देखा, फिर उन्हें क्या आवश्यकता थी कि वे और किसी दुलहिन या बहुरिया को पकड़ते ? उनकी प्रकृति तो अन्तर्मुखी न होने पर भी अन्तर्मुखी थी। अतः जहाँ सामाजिक, धार्मिक या किसी भी अन्य प्रवृत्ति के विश्लेषण का अवसर आया वहाँ उन्होंने उसे उसी रूप में लिखा, कथा का आवरण चढ़ा कर वर्णन करना उन्हें पसन्द नहीं था। उनकी कथा लौकिकता से परे 'परम्' के प्रति थी। अतः वहाँ इस बात की गुञ्जाइश ही नहीं थी कि जीवन की विविध अवस्थाओं की झाँकी देकर प्रबन्ध का रूप दिया जावे। खण्डन की विविध क्रियाओं को पृथकतः ही सुचारु रूप से लपेटा जा सकता है। इस कारण से भी शायद मुक्तक का रूप कबीर ने अपनाया। रामानन्दी (?) सम्प्रदाय में से होने पर भी वे अलौकिकता का आभास किसी प्राणी में नहीं पा सके, हाँ ऊँचा उठाने वाली हठयोग की क्रियाएँ उन्हें उचित प्रतीत हुईं जिससे उन्हें भी पंक्तियों में यत्र-तत्र स्थान मिल सका। उन्हें किसी राजा की गुलामी भी नहीं बजानी थी और न उनके देव ही ऐसे थे जिनकी समग्र जीवन की क्रियाएँ अलौकिकता का जामा पहिने हों। इसके विरुद्ध जायसी को अपनी 'प्रेम की पीर' के लिए रूपक के आवरण में कथा ही समुचित दीखी। इन्हें माया की चुनरिया को नहीं हटाना था। हाँ, पद्मावति की प्राप्ति के प्रति जिज्ञासु-प्रवृत्ति का उल्लेख अवश्य ही करना था। सूफी

मत के सिद्धान्तों का अनुकरण करने के कारण उन्हें अपने पूर्ववर्ती कवियों के सदृश ही कथा को अपनाना पड़ा। कुछ ऐतिहासिकता कुछ काल्पनिकता के रंग में रँग कर उनके रत्न और पद्मावती जीवन के प्रथम प्रभात से ही हीरामन के द्वारा परिचित हुए और तमाम बाधाओं के बावजूद भी संयोग की अवस्था आ पहुँची। लुब्ध बादशाह का असंयत मन ललचा गया। जीवन की इतनी तमाम बातों का विश्लेषण प्रबन्ध के रूप में ही सम्भव था।

सगुण कवियों की भी राममार्गी एवं कृष्णमार्गी शाखाओं की प्रवृत्ति पृथक्-पृथक् रही। कृष्णमार्गी शाखा के कवि वल्लभ-सम्प्रदाय के जिस सूत्र से प्रभावित थे उसमें कृष्ण का बाल्यकाल ही उन्हें मुग्ध कर सका था। उनकी बाल चेष्टाएँ ही उन्हें आकर्षक हुईं। जो भी श्री भागवत् में कृष्ण की समग्र लीलाओं का वर्णन था, फिर भी इन कृष्णमार्गी कवियों का भावुक हृदय उनकी बाल-लीलाओं के प्रति जितना रस सका उतना इनके पश्चात् के कृत्यों में नहीं। उन्हें तो दधि-माखन की ऐसी चाट लगी थी कि वे उसी में रत हो गए थे। बाह्य संसार का उन्हें ज्ञान ही नहीं था। सूर अपने कृष्ण की उन बाल-क्रीड़ाओं में रस मग्न हो गए, उनके पद उसी माधुर्य या सख्य भाव से ओतप्रोत रहे। नन्ददास को उपालंभ (उलाहना) ही अच्छा लगता था। और भी अष्टछाप के कवि इसी दधि-माखन की लूट में गलियों में भटकते रहे, और जब इनकी परम्परा रीति-कालीन कवियों में हस्तान्तरित हुई तो उनकी आँखें ही छवि से चौंध गयीं। अतः कृष्ण-मार्गी कवियों ने उनके सम्पूर्ण जीवन पर दृष्टि नहीं डाली और प्रबन्ध का रूप रह ही गया।

राम के इतिवृत्ति से सम्बन्ध रखने वाले भक्तिकाल के तुलसी प्रणीत मानस और केशव की रामचन्द्रिका अवश्यमेव उल्लेखनीय हैं। रामचन्द्रिका का कवि तो केवल कला-प्रदर्शन हेतु छन्दों का अजायबघर बना डालता है और अलंकारों की ऐसी ठूँसठाँस करता है कि साधारण व्यक्ति बरबस कहने लगता है 'कवि को चहै न देन विदाई, पूछै केशव की कविताई'। वास्तव में अलंकारों की भरमार से पुस्तक रूह-सी हो गया है और उसके प्रबन्ध काव्यत्व में इससे आघात पहुँचता है जिससे पठन का सारा रस नष्ट-प्रायः हो जाता है। प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से, कहना पड़ेगा, रामचन्द्रिका असफल ग्रन्थ है। कथाओं के निर्वाचन में प्रमुखता अप्रमुखता का कोई खयाल ही नहीं रखा गया। फिर भी उसका महत्व है। एक ही रात में (जैसा कि प्रचलित है) लिखित ग्रन्थ से इससे ज्यादा की आशा रखना भी व्यर्थ है, कारण कि 'जल्द काम शैतान का' हुआ करता है। श्री तुलसी की रामचरितमानस की जोड़ी का प्रबन्ध-काव्य तो हिन्दी संसार में कोई है ही नहीं। जीवन की विभिन्न जितनी दशाओं का चित्रण संभव हो सकता था उनका सूक्ष्म विश्लेषणात्मक प्रणाली पर ब्यौरा गोस्वामीजी ने दिया है, वह अनन्य है। वास्तव में कला की दृष्टि से भी मानस न केवल हिन्दी साहित्य की ही वस्तु है अपितु विश्व-साहित्य में भी उसका प्रमुख स्थान है। रामायण के प्रबन्ध-काव्यत्व का विवेचन तो एक पृथक् लेख का विषय है, यहाँ हम उस पर प्रकाश डालने का प्रयास नहीं करेंगे।

कृष्णमार्गी कवियों ने कृष्ण की जिन क्रीड़ाओं को आनन्दानुभव का हेतु समझा था वही शृंगार-काल के कवियों के लिए नायक-नायिकाओं का रूप देने पर आमोद प्रमोद और मनबहलाव की वस्तुएँ हो गयीं। कोई भी नायिका राधा हो सकती थी और उसका प्रेमी कृष्ण। दधि कहीं भी लूट लिया जाता था। नायिकाओं की तो राज-दरबारों के कारण ऐसी बाढ़ आ गयी थी कि उनके अपार भेद हो गए। दूतियाँ भी तैयार की गईं, विलास की कोई भी सामग्री एकत्रित करने से न उठा रखी गयी। जीवन विलासमय हो गया था या विलास ही जीवन था। अतः जहाँ जीवन के चित्रण का सवाल उठता था वहीं विलास का चित्रण आपोआप हो जाया करता था। इसके लिए शैली भी निर्धारित हो गयी और विषय निर्धारित था ही। रूढ़ि की रेखाएँ सघन होती गयीं। चित्र अधूरे ही रहे। प्रबन्ध-काव्य की गति अवरुद्ध हो गयीं, विकासोन्मुख कदापि नहीं। इतना सब कह देने पर विदित हो गया होगा कि किस तरह वीरगाथा काल एवं भक्तिकाल की आगत परम्परा से रीतिकालीन कवियों को मुक्तक ही विशेष

आकर्षक प्रतीत हुआ। (किन्तु आश्चर्य है कि रासो, पद्माकर और मानस की आगत परम्परा एकदम ही लुप्त प्राय हो गयी। किन्तु शृंगारकाल के इन नृपों की लोलुपताओं की पूर्ति का साधन होने से यदि काव्य की प्रबन्ध की ओर प्रगति अवरुद्ध हो गयी हो तो असंभव नहीं।) प्रबन्धकाव्य की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया और जहाँ प्रयास किया भी वहाँ सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। मुक्तक की पंक्तियों में ही उन्होंने रसधारा का निमन्त्रण किया।

किन्तु वर्तमान काल तो संघर्ष का युग था। यहाँ मेल अनमेल का संयोग था। आधुनिक-काल जिसे गद्य-काल के नाम से सम्बोधित किया गया विद्रोह का युग था। यह विद्रोह जीवन-जगत में सभी जगह हुआ। साहित्य इस भावना से अछूता न रह सका। साहित्यिक भाषा में ही प्रथमतः परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है जबक माधुर्यमयी ब्रजभाषा का स्थानान्तर खड़ी बोली करती है। भारतेन्दु उसमें भाव-विकृति का प्रयास करते हैं। राष्ट्रीयता की भावना का चित्रण करना प्रथमतः उन्हीं का कार्य था। 'आओ सब मिलि रोवहु भाई, न भारत दुर्दशा हा! हा! देखो जाई'—यह पंक्ति प्रथमतः उन्हीं की लेखनी से उद्भावित हो पथ-प्रदर्शिका बनी। गद्य का आविर्भाव भी कहानी के रूप में छायावहि। मुखरित हो उठा फिर द्विवेदी युग में जीवन के सर्वमेव क्षेत्रों पर ध्यान दिया गया और यह विकास उन रूढ़ियों को, उन शृंखलाओं को जिनमें साहित्य लम्बे समय से जकड़ा हुआ था, तोड़ अलग हटा साहित्य में लहलहा उठा। आदर्शवादी द्विवेदी-युग ने अपनी पूर्व-संस्कृति का अध्ययन किया, पाश्चात्य-सभ्यता तथा संस्कृति के संसर्ग एवम् साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप अपनी हीनता का आभास हुआ। इसके साथ ही द्विवेदी-युग नव-निर्माण का युग भी था। कलाकारों की चेतना से विभिन्न साहित्य-रूप पैदा हो रहे थे। प्राचीन भारत की संस्कृति के गायकों ने पीछे मुड़कर देखा। इसी संस्कृति के सुन्दर चित्रणों के प्रति आकर्षित करना इस श्रेणी के कलाकार ने अच्छा समझा। उन्होंने फिर भी प्रतिगामी होना पसन्द नहीं किया। अतः जहाँ उन्होंने वस्तु को प्राचीन-साहित्य के खँडहरों में खोजने का प्रयास किया वहीं उन्होंने शैली को भिन्नरूपेण ग्रहण किया। अतुकान्त, तुकान्त छन्द आदि का महत्व स्पष्टतः झलका। इस काल के कलाकारों में श्री गुप्तजी एवम् श्री हरिऔधजी का प्रमुख स्थान है। द्विवेदी युग के कलाकारों ने जहाँ अपनी हीनता के गीत गाए, राष्ट्रीय एकता-हेतु राष्ट्रीय गानों का निर्माण किया, वहीं निर्गुण सगुण शाखा के कृष्ण राम के सार्वजनीन सार्वहितैषी कृत्यों का आकर्षण मिला। श्री हरिऔध तो कृष्ण की लीलाओं की ओर आकर्षित हुए और सनातन वैष्णव श्री गुप्तजी उपेक्षितों की दशा की अवमानना सहन न कर राम के वृत्त में से उपेक्षित उर्मिला को खींच लाए और इस तरह से प्रियप्रवास एवं साकेत का निर्माण हुआ। प्रियप्रवास का कवि राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत हो राधा के मुँह से उसे ही कहला देता है और साकेत का कलाकार युग प्रचलित भावनाओं को ग्रहण कर गीतों का सृजन करता है। नवम सर्ग इन्हीं गीतों का संग्रह है, उस पर पड़ी हुई यह युग की छाप है जो छायावादी कवियों की प्रतीकात्मक शैली का अनुकरण-मात्र है। उनकी 'यशोधरा' में तो इन गीतों का प्राचुर्य ही है। उनका 'द्वापर' एक नया सन्धान था जिसमें चरित्र की रेखाओं को रागों में आबद्ध कर पात्रों का चित्रण किया गया था।

'नूरजहाँ' भी इसी युग की एक प्रबन्ध-काव्य कृति है। वे सब काव्य ग्रन्थ इतिवृत्तात्मक थे। श्री प्रसादजी ने रहस्यवाद की एक असम्भव समझी जाने वाली बात को सम्भव सिद्ध कर दिखाया और उनका नवीन प्रयोग था 'कामायनी'।

छायावाद के काल से हिन्दी में गीतिकाव्य शैली की बाढ़ आ गयी है। यह पाश्चात्य-शैली का अनुकरण लिए हुए है। कविता का विषय भी अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों का विश्लेषण बन गया है। जीवन की दुरूहता, अस्तव्यस्तता आज के भौतिकवादी युग में समय का अभाव आदि भी इस दिशा में गति का कारण बतलाते हैं। छायावाद से प्रगतिवाद की ओर जाने पर भी गीतिकाव्य ही प्रमुख स्थान लिए है। युग की माँग भी इससे पूर्ण हो रही है। इस दिशा में प्रबन्धकाव्य का स्रोत प्रायः अवरुद्ध सा दीखता है।

पञ्चवटी-प्रसङ्ग

(प्रो० शिवबालकराय एम० ए०)

[कवि अपनी कल्पना से इतिहास प्रसिद्ध या परम्परागत आख्यानों में हेर-फेर कर किस प्रकार काव्य-सौष्ठव को बढ़ा घटा सकता है, इस बात को हम तभी समझ सकते हैं जब हमारे सामने एक ही प्रसङ्ग का भिन्न-भिन्न कवियों का चित्रण हो। इसी दृष्टि से पञ्चवटी-प्रसङ्ग में वाल्मीकीय रामायण, रघुवंश और गुप्तजी की पञ्चवटी का तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया गया है। यह लेख गुप्तजी की पञ्चवटी नाम का खण्ड काव्य समझने में विशेष सहायक होगा। ऐसा ही एक अध्ययन महाभारत और कालिदास की शकुन्तला का हम अगले अङ्क में उपस्थित करेंगे। —सम्पादक]

रामकाव्य का आदिस्रोत 'आदिकवि' की अमर रचना रामायण से प्रवाहित हुआ है। इस महाकाव्य की उदात्त कल्पना, महत् चरित एवं गम्भीर अनुभूतियों ने विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनेकानेक काव्यों को जन्म दिया। इसमें श्री रामचन्द्रजी की आधिकारिक कथा के साथ बहुतेरी प्रासङ्गिक कथाएँ भी वर्णित हुई हैं। रामचन्द्र की वनवास-कालीन घटनाओं में शूर्पणखा-आख्यान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। अपमानिता शूर्पणखा के कारण रावण द्वारा सीता का हरण किया जाता है। शूर्पणखा विरूपा क्या हुई मानो राक्षस-संस्कृति की ही नाक कट गयी। इसी अति प्रसिद्ध शूर्पणखा आख्यान को लेकर महाकवि मैथिलीशरण गुप्त ने पंचवटी की रचना की है।

कामातुरा शूर्पणखा के प्रेम-प्रस्ताव को ठुकराकर क्रुद्ध लक्ष्मण ने उसके नाक कान काट डाले—एक वाक्य में पंचवटी की यही कथावस्तु है। इस कथा में रूप, रंग और रस का संचार करना कवि का ही कौशल है। यों तो इस विषय पर काफी रचनाएँ उपलब्ध हैं लेकिन यहाँ हम कुछ चुनी हुई रचनाओं की चर्चा कर यह दिखलाना चाहते हैं कि और कवियों की अपेक्षा गुप्तजी की पंचवटी में कौनसी मौलिक उद्भावना है।

रामायण

वाल्मीकि-युग में जनता का जीवन प्रकृति के अत्यन्त निकट था। उसमें कृत्रिमता, वाह्य शिष्टाचार, बौद्धिक विलासिता, तर्क-प्रियता का अपेक्षाकृत अभाव था। उस युग की सभ्यता सरिता की कल-कल ध्वनि को श्रवण करती हुई एवं वन्य हरीतिमा को अवलोकती हुई पल्लवित हो रही थी। विज्ञान के अभिनव आविष्कारों ने हमें इन दिनों, प्रकृति की गोद से उठाकर नगर के कन्धों पर बैठा दिया है। साम्राज्यवाद एवं पूँजीवाद ने हमारे हृदय की आर्द्र भावनाओं को सुखाकर कर्कश बना दिया है। हमारा आधुनिक जीवन अन्तर्राष्ट्रीय होते हुए भी अधिकतर वैयक्तिक ही है। इसलिए आधुनिक युग की कविता में तर्क का आग्रह एवं वैयक्तिकता का प्रदर्शन स्वाभाविक ही है। वाल्मीकि-युग में सामाजिक जीवन के सामुदायिक सुख-दुख का हम अच्छा चित्र पाते हैं। वाल्मीकि का काव्य हमारे हृदय पर प्रत्यक्ष प्रभाव उपस्थित करता है, किसी भूल-भुलैया में नहीं डालता।

रामायण के अरण्यकाण्ड के दो सर्गों (१७, १८) में शूर्पणखा-आख्यान का वर्णन हुआ है। १७ वें सर्ग में पहले कवि की ओर से शूर्पणखा का परिचय हमें इस प्रकार मिलता है—

सा तु शूर्पणखा नाम दशग्रीवस्य रक्षसः।
भगिनी राममासाद्य ददर्श त्रिदशोपमम् ॥६॥

इसके बाद शूर्पणखा और रामचन्द्र के रूप का तुलनात्मक वर्णन अत्यन्त उत्कृष्टता के साथ किया गया है। राम सुमुख, वृत्तमध्य, विशालाक्ष और सुकेशी हैं, इसके विपरीत शूर्पणखा दुर्मुखी, महोदरी, विरूपाक्षी और ताम्रमूर्द्धजा है। राम प्रियदर्शन, सुस्वर, तरुण और दक्षिण

हैं, शूर्पणखा विरूपा, भैरवस्वना, दारुण वृद्धा और वाम-भाषिणी है। इसी प्रकार अनेक विशेषणों द्वारा महाकवि ने दोनों के रूप का वर्णन किया है। इस वर्णन से पाठकों को पहले ही स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों में प्रेम-प्रसंग चल नहीं सकता। एक अधम राक्षसी है और दूसरे नर-चन्द्रमा रामचन्द्र हैं। शूर्पणखा के पूछने पर रामचन्द्र अपना परिचय इस प्रकार देते हैं—

आसीद् दशरथो नाम राजा त्रिदिश विक्रमः।
तस्याहमग्रजः पुत्रो रामो नाम जनैः श्रुतः ॥१५॥
भ्रातायं लक्ष्मणो नाम ······ इयं भार्या च वैदेही।
······आदि।

शूर्पणखा भी अपना परिचय भोलेभाले ढंग से इस प्रकार दे रही है—

अहं शूर्पणखा नाम राक्षसी कामरूपिणी।
रावणो नाम मे भ्राता यदि ते श्रोत्रमागतः ॥

शूर्पणखा और राम के परस्पर परिचय में कवि ने सीधीसादी और भोली-भाली भाषा का प्रयोग किया है। मालूम होता है, इन वनवासियों के पास काफी अवकाश है, तभी तो ये निश्चिन्तता के साथ अपना परिचय दे रहे हैं। और इस युग के तथाकथित 'भद्रपुरुष' एक वाक्य से अधिक बोलना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। और बोलने के लिए 'टाइम' भी रहे तब तो! शूर्पणखा बात ही बात में रामचन्द्र से अपनी अभिलाषा बिना किसी हिचकिचाहट के प्रकट कर देती है—

अहं प्रभाव संम्पन्ना स्वछन्द बल गामिनी।
चिराय भव भर्ता मे सीतया किं करिष्यसि ॥२५॥

तब दो-चार श्लोकों में शूर्पणखा द्वारा सीता की रूप-निन्दा के बाद यह सर्ग समाप्त हो जाता है।

१८ वें सर्ग में रामचन्द्र शूर्पणखा से कहते हैं—

एनं भज विशालाक्षि, भर्तारं भ्रातरं मम।
असंपत्ना वरारोहे, मेरुमर्क प्रभा यथा ॥५॥

अर्थात्, हे सुन्दरी, मेरे इस भाई (लक्ष्मण) को ही पति रूप में वरण करलो। बिना सौत के तुम सानन्द उसी प्रकार विचरण करोगी जैसे सूर्य-किरण मेरु-पर्वत पर। इस पर लक्ष्मण ने शूर्पणखा के साथ परिहास करते हुए कहा कि हे सुन्दरी मैं तो दास हूँ, तू दासी भला क्यों बनने चली? तुम आर्य रामचन्द्र की ही भार्या बनो। कुरूपा, कुलटा, विकराल वदना, वृद्धा सीता को छोड़कर वह निश्चय ही तुम्हारा पाणिग्रहण करेंगे—

आर्यस्य विशालाक्षि, भार्या भव यवीयसी······
एतां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम्
भार्यां वृद्धां परित्यज्य त्वामेवैष भजिष्यति।

शूर्पणखा दोनों ओर से निराश होकर अत्यन्त क्रोध के साथ मुँह बा कर सीता को खाने दौड़ती है। इस पर राम को क्रुद्ध देखकर लक्ष्मण ने खड्ग निकाल कर उसके नाक-कान काट डाले।

अध्यात्म रामायण

अध्यात्म रामायण के अरण्यकाण्ड के पंचम सर्ग में शूर्पणखा-आख्यान का वर्णन किया गया है। रामचन्द्र सीता के साथ समाविष्ट हैं। तभी शूर्पणखा 'कन्दर्प सदृश राम' को देखकर कामार्थमोहिता हो जाती है। शूर्पणखा राम से उनका परिचय पूछती है और उनसे उत्तर सुनने के पूर्व ही वह अपना परिचय इस प्रकार देती है—

अहं शूर्पणखा नाम राक्षसी कामरूपिणी।
भगिनी राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य महात्मनः॥

राम ने अपना, सीता और लक्ष्मण का संक्षिप्त परिचय देते हुए शूर्पणखा से उसका मन्तव्य पूछा। शूर्पणखा अविलम्ब उत्तर देती है—

एहि राम मया सार्धं रमस्व गिरि कानने।
कामार्त्ताहं न शक्नोमि त्यक्तुं त्वां कमलेक्षणम् ॥

अर्थात् हे राम, मेरे साथ वन पर्वत में चल कर विहार करो। मैं काम से अत्यन्त व्याकुल हूँ। तुम्हारे जैसे कमलनयन को मैं कैसे छोड़ सकती हूँ? अध्यात्म का राम-लक्ष्मण-शूर्पणखा संवाद रामायण से बहुत अंशों में प्रभावित है। यहाँ भी लक्ष्मण शूर्पणखा से कहते हैं कि हे साध्वि, मैं तो उनका दास हूँ, इसलिए—

दासी भविष्यसि त्वं तु ततो दुःखतरं नु किम्।

रमणी दोनों ओर से निराश होकर सीता पर दूट

पड़ती है। तब राम की आज्ञा से लक्ष्मण खड्ग लेकर उसके नासा-कर्ण का छेदन करते हैं।

रघुवंश

रघुवंश में कालिदास ने सम्पूर्ण रघुकुल के प्रमुख राजाओं का चरित एक विशेष दृष्टिकोण से चित्रित किया है। यह विशेष दृष्टिकोण है "रघुवंशियों की गौरवगरिमा, वीरत्व एवं कुल-मर्यादा"। बहुत स्थलों पर इतिवृत्तात्मक वर्णन ही आया है लेकिन जहाँ कहीं भी हृदय के मर्म को स्पर्श करने वाली भावना उदित हुई है वहाँ कालिदास की लेखनी बिना रस-वर्णन किए आगे नहीं बढ़ी। एक-एक वाक्य में उपमा आदि के सहारे अनेकानेक भाव खिंचे चले आते हैं। कालिदास के समय में आर्यों की विलासिता, सौन्दर्य-प्रियता और शिष्टाचार पर्याप्त सुसंस्कृत हो चुके थे। सुख-शान्तिकाल में सभ्यता के साथ विलासिता का भी विकास होता है। दुख-दारिद्र्य काल में कामुकता भले ही उभर आये शृङ्गारिकता नहीं आ सकती। कालिदास ने सामन्त-कालीन सभ्यता के सौन्दर्य और विलास का ही अङ्कन नहीं किया है बल्कि उन्होंने भारत की सनातन-धर्मप्रियता और हिमाचलोच्च आदर्श का भी चित्रण किया है।

रघुवंश के द्वादश सर्ग में ३० वें श्लोक के बाद शूर्पणखा-प्रसंग का उल्लेख किया गया है। कालिदास ने इस घटना का वर्णन आठ-दस श्लोकों में ही किया है. क्योंकि उनका लक्ष्य तो विराट रघु-परिवार का चित्रण करना है।

सीता रामचन्द्र के समीप ही थीं फिर भी शूर्पणखा ने राम से प्रेम-प्रस्ताव कर ही डाला।

प्रिय के निकट उसकी प्रेमिका को देखते हुए भी किसी काम-मोहिता युवती का प्रिय से प्रेम प्रस्ताव कर बैठना अत्यन्त अस्वाभाविक है। प्रेम, स्वतन्त्रता, स्वाधीनता और स्वच्छन्दता चाहता है। प्रिय के ऊपर प्रेमिका सोलहों आना अधिकार चाहती है। किसी दूसरी प्रेमिका द्वारा प्रेम-व्यापार में खलल पड़ने से ही वह भूखी बाघिन हो जाती है। कामवासना सभी वासनाओं से अधिक बलवती, वेगवती (इसलिए) नेत्रविहीन होती है। इस आवेश में मानव की सारी पशुता का प्रकाण्ड प्रदर्शन होता है। धर्म और कानून की कड़ियाँ तड़तड़ा कर टूट जाती हैं। काम-पीड़ा से कम्पिता शूर्पणखा रामचन्द्र के पास उसी प्रकार चली आई जिस प्रकार गर्मी से व्याकुल सर्पिणी चन्दन-वृक्ष के पास चली जाती है।

रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा।
अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीव मलयद्रुमम्॥

शूर्पणखा पर काम का भूत सवार हो गया था; इसलिए उसे वक्त-बेवक्त का तनिक भी ध्यान न रहा। काम अन्धा होता है—

अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः॥

वाल्मीकि के आधार पर ही कालिदास ने दो-चार श्लोकों में शूर्पणखा-प्रसङ्ग को इतिवृत्तात्मक ढङ्ग से समाप्त कर दिया है लेकिन इन्हीं दो-चार श्लोकों में दो-चार ऐसी अनमोल उपमाएँ आई हैं कि इस प्रसङ्ग का सौन्दर्य निखर गया है। उपमा कालिदासस्य……… ।

रामचरितमानस

रामचरितमानस में रामचरित की आधिकारिक कथा का ही सांगोपांग वर्णन करना, रामभक्ति का उपदेश करना गोस्वामीजी का उद्देश्य है। 'मति-अनुरूप राम गुन गावउँ' यही उनकी हार्दिक अभिलाषा है। शूर्पणखा की कथा एक प्रासंगिक वस्तु है। इसलिए कालिदास की तरह इन्होंने भी अत्यन्त संक्षेप में, केवल २० पंक्तियों में ही, इसका वर्णन समाप्त कर डाला है। फिर भी गोस्वामीजी का यह प्रसंग प्रवाहपूर्ण संवाद, कुलटा-हृदय के सूक्ष्म विश्लेषण, एवं अनमोल उपदेश-रत्न से जगमगा रहा है। गोस्वामीजी ने अपनी मर्मवेधिनी प्रतिभा द्वारा राम, लक्ष्मण और शूर्पणखा का इतना सुन्दर स्वाभाविक और मँजा हुआ संवाद दिया है कि उसके सामने सभी कवियों के प्रयास बासी मालूम पड़ते हैं। गोस्वामीजी ने भी सपत्नीक रामचन्द्र से शूर्पणखा द्वारा प्रेम-प्रस्ताव कराया है। कुलटा नारी की प्रेमान्धता का समर्थन उनने निम्नाङ्कित पंक्तियों द्वारा किया है—

भ्राता पिता पुत्र उरगारी।
पुरुष मनोहर निरखत नारी ॥
होइ विकल सक मनहि न रोकी।
जिमि रविमनि द्रव रविहि बिलोकी ॥

अत्यन्त रूपवान पुरुष को देखते ही, चाहे वह भाई, पिता या पुत्र ही क्यों न हो, नारी का मन विचलित हो जाता है। वह काम-पीड़ा से विकल होकर सूर्यकान्त मणि के समान द्रवीभूत होने लगती है। गोस्वामीजी के इस प्रचण्ड सत्य के सामने आधुनिक आलोचकों की आँखें चौंधियाँ जाती हैं। 'तुलसीदास' के दीन आलोचक उपर्युक्त पंक्तियों को नारी-जाति के लिए घोर अपमानजनक बताकर गोस्वामीजी को 'नारी' का प्रत्यक्ष दुश्मन और अपने को अप्रत्यक्ष मित्र साबित करना चाहते हैं।

इन दिनों दुर्बल पुरुष जाति के लिए सबला अबलाओं का गुणानुवाद करना एक फैशन हो गया है और इस फैशन से बेचारे गोसाईंजी की अच्छी हजामत हो रही है।

प्रबन्ध-काव्य की किसी उक्ति की आलोचना के लिए पात्र, प्रसंग और परिस्थिति इन तीन बातों का विवेचन आवश्यक है। इस अवसर पर उन्होंने कुलटा की ही अदम्य-वासना का चित्रण किया है, सती-साध्वी नारी का नहीं। कुलटा विमाता अब भी युवक पुत्र को वासनात्मक दृष्टि से देखती है। यदि इस नग्न सत्य को दुनिया न माने तो बेचारे गोस्वामीजी का कौन कसूर है। केवल नारी ही नहीं, पुरुष भी कामांध होने पर पवित्र-सम्बन्ध को भूल जाता है। ऐसे कामान्ध पुरुष के लिए उत्तरकाण्ड में एक पंक्ति आयी है :—

"कलिकाल बिहाल किए मनुजा,
नहिं मानत क्वौ अनुजा तनुजा"

काम-काल ही कलिकाल है। कामान्ध आदमी अनुजा-तनुजा में फर्क नहीं समझता। गोस्वामीजी ने कलिकाल के ब्राह्मणों को भी निरच्छर, लोलुप, कामी जैसे विशेषणों से विभूषित किया है। पुरुषों को खुश करने के लिए कोई आधुनिका समालोचका कह सकती है कि गोस्वामीजी ने पुरुष-जाति के लिए अत्यन्त भ्रष्ट पंक्तियाँ लिखी हैं।

सती के प्रति, माता के प्रति गोस्वामीजी का मस्तक हमेशा झुका हुआ है। सती नारी का मन स्वप्न में भी तिलमात्र विचलित नहीं होता :—

"डिगै न शम्भु सरासन कैसे।
कामी वचन सती मन जैसे ॥"

माता प्राची-दिशा के समान शुभ्र, निर्मल और पवित्र है, वहीं तो पुत्र-चन्द्रमा का उदय होता है:—

बन्दौं कौशिल्या दिसि प्राची।
कीरति जासु सकल जगमाची ॥
प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू।
विश्व सुखद खल-कमल तुषारू ॥

गोस्वामीजी की इन पंक्तियों से नारी-जाति की महिमा का जितना मंगलगान हो रहा है उतना आधुनिक किसी कवि द्वारा नहीं। सुमित्रानन्दन पंत ने भी आधुनिक विलासी रमणियों को देख कर कहा है :—

तुम सब कुछ हो फूल, लहर,
तितली, विहगी, मार्जारी।
आधुनिक, तुम सभी, अगर
कुछ नहीं सिर्फ तुम नारी।

—ग्राम्या; आधुनिका।

पंचवटी

उपर्युक्त महाकाव्यों के शूर्पणखा-आख्यान में निम्नलिखित बातें समान रूप से पाई जाती हैं :—

(१) शूर्पणखा का रामचन्द्र के साथ प्रेम-प्रस्ताव करने का समय दिन है।

(२) उस समय रामचन्द्र अपनी पत्नी सीता के साथ सुशोभित हैं।

सीतहिं चितै कही प्रभु बाता
अहै कुमार मोर लघुभ्राता—मानस।

(३) शूर्पणखा पहले रामचन्द्र के निकट अपनी अभिलाषा प्रकट करती है। मानस में वह दोनों कुमारों को देखकर आसक्त हुई है :—

"देखि विकल भई जुगुल कुमारा"—मानस।

(४) उपर्युक्त कवि स्वयं शूर्पणखा का पूरा परिचय

पाठकों को दे देते हैं :—

"सूपनखा रावण कै बहिनी।
दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी॥"—मानस।

(५) इस प्रसंग में शूर्पणखा और सीता का परस्पर संभाषण प्रायः हुआ ही नहीं है।

(१) मैथिलीशरण गुप्तजी की मौलिकता इसी में है कि इन्होंने इस प्राचीन प्रसंग को, बुरी तरह विख्यात कहानी को, इस युग के अनुकूल बनाकर पाठकों के सामने प्रस्तुत कर दिया है। शूर्पणखा रात्रि में भ्रमण करने वाली निशिचरी थी; इसलिए गुप्तजी ने शूर्पणखा को रात्रि के पिछले पहर में ही पञ्चवटी के कुटी-द्वार पर उपस्थित किया है। अन्यान्य कार्यों में संलग्न रहने के कारण दिवाकाल में मनुष्य की भावनाएँ वहिर्मुखी रहा करती हैं। एकान्त, अन्धकार, निश्चिन्तता आदि उद्दीपन विभावों के कारण काम भावना विशेष रूप से जागरित होती है। दैनिक-जीवन के संघर्ष से जो थोड़ी-सी शक्ति बची रहती है वही रात्रि में तरह तरह के सोच-विचार किया करती है। इसलिए पंचवटी में शूर्पणखा का निशा-निमंत्रण अत्यन्त स्वाभाविक और आकर्षक दीख पड़ता है। आनंद में उमगाती हुई नैश प्रकृति भी उसे उत्तेजित करती होगी:—

चारुचंद्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल-थल में
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है, अवनि और अंबरतल में।
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से;
मानो झूम रहे हैं तरु भी, मन्द पवन के झोकों से

(२) किसी पुरुष को उसकी पत्नी के साथ देखकर अन्य कामिनी के मन में दो प्रकार की प्रतिक्रिया हो सकती हैं:—

(क) निष्क्रिय या निश्चेष्ट काम-वासना [पुरुष को देखकर] या मन में संमिलन की अभिलाषा का उदय होना।

(ख) स्पर्द्धा या ईर्ष्या की भावना (पत्नी को देखकर) पत्नी की उपस्थिति से कामिनी की वासना की तीव्रता मंद पड़ जाती है और उसके मन में रूप का आकर्षण-मात्र रह जाता है। वह अपने कल्पना-लोक में ही उस पुरुष की रूप-सुधा का पान करती है। पत्नी उसके प्रेमालाप में बाधक हो जाती है, सौतिया डाह का बीजारोपण यहां हो जाता है। सौत से पिंड छुड़ाने के लिए ही शूर्पणखा सीता पर झपटती है।

यदि पत्नी के वस्त्राभूषण और रूप-सौन्दर्य पर कामिनी का ध्यान टिकेगा तो वह अपने को उससे हीन समझ कर ईर्ष्या करेगी, या अपने को तत्काल प्रेम-वंचिता समझकर प्रेम-क्षेत्र में उससे स्पर्द्धा करेगी। शूर्पणखा की काम-वासना चरम सीमा तक पहुँच चुकी है। वह असाधारण रमणी है, कामांध होगयी है। ऐसी ही नारियों के लिए कालिदास को कहना पड़ा कि—

—"अत्यारूढोहि नारीणां अकलाज्ञो मनोभवः।"

गुप्त जी की शूर्पणखा साधारण स्वच्छंद रमणी की तरह रात्रि के पिछले प्रहर में एकांत लक्ष्मण को देखकर विमुग्ध हो जाती है। इस अवस्था में लक्ष्मण जैसे रूपवान युवक से शूर्पणखा का प्रेम-प्रस्ताव करना अनुचित नहीं है। लेकिन प्रातःकाल जब इसकी नजर एकाएक सीतापर पड़ती है तो—

"चौंक पड़ी प्रमदा भी सहसा, देख सामने सीताको।
कुमुद्वती-सी दबी देख वह उन पद्मिनी पुनीता को।"

इसलिए रात्रिकाल में एकांत-स्थल में लक्ष्मण-शूर्पणखा मिलन गुप्त जी की मौलिक सूझ है।

३—उपर्युक्त कवियों ने शूर्पणखा को पहले रामचन्द्र के सम्मुख ही उपस्थित किया है। लेकिन गुप्तजी ने अपनी मौलिक कल्पना का उपयोग करते हुए उसे पहले लक्ष्मण के सामने खड़ा किया है। शूर्पणखा के मंच पर आने के पूर्व कवि ने संस्मरण के मानस लोक में पल-पल परिवर्तित होने वाले भावों का चल-चित्रात्मक वर्णन किया है। राम और सीता कुटी में विश्राम कर रहे हैं। कुटी-द्वार पर लक्ष्मण प्रहरी के रूप में:—

जाग रहा यह कौन धनुर्धर जबकि भुवन भर सोता है
योगी कुसुमायुध योगीसा बना दृष्टिगत होता है।'

वनवास के तेरह वर्ष बीत गये। लक्ष्मण सारी घटनाओं का मन ही मन सिंहावलोकन कर रहे हैं। पहले तो वन्य प्रकृति के रूप-लावण्य, 'नगन माधुरी' की ओर उनकी दृष्टि जाती है; फिर वनवास की समाप्ति के बाद राम के राजतिलक का सलोना चित्र सामने आता है। 'राजतिलक' से संबंधित मंझली मां कैकेयी, भरत और अयोध्या की

प्रजा और न जाने कौन कौन सी बातें उनके मन में आने लगती हैं। फिर पंचवटी में भाभी सीता के सुखमय जीवन की झांकी आती है। इसके बादः—

"बेचारी उर्मिला हमारे लिए व्यर्थ रोती होगी,
क्या जाने वह, हम सब वन में होंगे इतने सुखभोगी
" मग्न हुए सौमित्र चित्र-सम नेत्र,
निमीलित एक निमेष,
फिर आखें खोलें तो यह क्या,
अनुपम रूप अलौकिक वेश।

लक्ष्मण के आँख खोलते ही एक हास्यवदनी बाला सामने निःसंकोच खड़ी दिखाई पड़ी। उसके दीर्घ दृगों से अत्यन्त अतृप्त वासना झलक रही थी। उसके अंगों में रत्न इस प्रकार चमक रहे थे जैसे प्रफुल्ल वल्ली पर सौ-सौ जुगनू जगमग करते हों। 'पंचवटी' में शूर्पणखा का इस प्रकार रंगमंच पर प्रकट होना अत्यन्त नाटकीय हुआ है। पाठक का कुतूहल जग जाता है कि आखिर यह अनुपम रूपवती रमणी है कौन!

४ उपर्युक्त कवियों की तरह गुप्त जी ने शूर्पणखा का परिचय प्रारंभ में ही नहीं देदिया है। वाल्मीकि ने परिचय के बाद राम और शूर्पणखा के रूप का विरोधात्मक वर्णन किया है। रमणी का प्रथम-प्रथम पूर्ण परिचय हो जाने से पाठक का कुतूहल दुबक जाता है। गुप्त जी ने अत्यन्त कलात्मक ढंग से शूर्पणखा का परिचय काफी दूर तक अप्रकट रखा है। वह अनुपम रूप अलौकिक वेशवाली रमणी पाठकों की जिज्ञासा को खींचती चली जाती है। जिस प्रकार आधुनिक कहानी लेखक जिज्ञासा और कौतूहल की अभिवृद्धि के लिए पात्रों का परिचय पाठकों को धीरे-धीरे खोलता है, उसी प्रकार पंचवटी में शूर्पणखा धीरे-धीरे अपने असली रूप में एकाएक प्रकट होती है। इस रमणी का अन्तः सौन्दर्य संवाद के घूँघट से उद्घाटित होता है। पंचवटी की यह रमणी नीहार की धूमिल कणिकाओं से परिवेष्टित है, कला की कोमल सुनहली किरणें रह-रह कर इस पर आलोक फेंकती हैं और यह हमारे निकट से निकटतर आती जाती है। लक्ष्मण के साथ पाठक भी पूछना चाहता हैः—

'कहूँ मानवी यदि मैं तुमको,
तो वैसा संकोच कहाँ?
कहूँ दानवी तो उसमें है,
यह लावण्य की लोच कहाँ?
बनदेवी समझूँ तो वह,
तो होती है भोली-भाली;
तुम्हीं बताओ कि तुम कौन हो,
हे रंजित रहस्य वाली।'

यह रंजित रहस्य वाली कोमल कलेवरा कामिनी जब अपना कठोर भयंकर रूप धारण करती है तो पाठक यह विकृत विपर्यय देख कर आतंकित-स्तंभित हो जाता है। उर्वशी के समान स्वर्गीय मुस्कान वाली सुन्दरी चटपट चुड़ैल की चाची बन जाय, यह कितना रोमांचक दृश्य हैः—

'गोल कपोल पलट कर सहसा,
बने भिड़ों के छत्तों से।
हिलने लगे उष्ण साँसों से,
ओंठ लपालप लत्तों से॥
कुन्द कली से दाँत हो गए,
बढ़ बराह की डाढ़ों से।
विकृत भयानक और रौद्र रस,
प्रकटे पूरी बाढ़ों से॥
हो सकते थे दो द्रुमाद्रि ही
उसके दीर्घ शरीर-सखा।
देख नखों को ही जँचती थी,
वह विलक्षिणी शूर्पणखा।'

पंचवटी में १२७ पद हैं। शूर्पणखा का परिचय हमें ११२ वें पद में मिलता है। कुशल कलाकार ने रमणी की रहस्यमयता अंत तक कायम रखी है। बिना बताए ही पाठक उसके नख देखकर समझ जाते हैं कि यह शूर्पणखा ही थी। कुतूहल का सुंदर विवर्द्धन और रहस्य का हठात् उद्घाटन पंचवटी की मौलिक विशेषताओं में से एक है।

५—वाल्मीकि आदि कवियों ने शूर्पणखा-आख्यान में सीता का चरित प्रायः स्थितिशील ही रखा है। दिन में, राम-लक्ष्मण के बीच में कोई अज्ञात रमणी सीता को

[शेष २०० पृष्ठ पर]

'इरावती'–एक अध्ययन

(ले० चन्द्रकुमार जैन)

'इरावती' प्रसाद जी का तीसरा अधूरा ऐतिहासिक उपन्यास है। 'कंकाल' और 'तितली' से यह सर्वथा भिन्न है। कंकाल और तितली में वर्तमान कालीन समाज के उत्थान और पतन का चित्र खींचा गया है। किन्तु इरावती में आज से दो हजार वर्ष पूर्व मौर्य साम्राज्य के क्षय तथा शुंग-वंश की प्रारम्भ कालीन नष्ट भ्रष्ट संस्कृति तथा सामाजिक वातावरण का चित्र अंकित किया गया है।

'इरावती' ऐतिहासिक उपन्यास है। अतः उपन्यास की समीक्षा करते समय सर्व प्रथम इसके ऐतिसाहिक तथ्य की ओर दृष्टिपात कर लेना अनिवार्य होगा। किंतु इतिहास का अवलोकन करने पर इरावती की अधिकांश घटनायें असंगत प्रतीत होने लगती है। अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि प्रसाद जी इतने बड़े इतिहासज्ञ होते हुए भी इरावती में ऐसी असंगत एवं भद्दी भूलें कर बैठे। उपन्यास के अनुसार मौर्य के सम्राट शतधनुष की मृत्यु के पश्चात् मौर्य सिंहासन पर बृहस्पति मित्र मौर्य आरूढ़ होते हैं। जो कि इतिहास के सर्वथा प्रतिकूल बैठते हैं। इतिहास के अनुसार मौर्य वंश में बृहस्पति मित्र नामका कोई भी मौर्य सम्राट नहीं हुआ है। सम्राट संप्रति के अनंतर केवल चार हो अन्य राजा मौर्य सिंहासन पर बैठे थे। और अन्तिम राजा बृहद्रथ को उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने १८४ ईसवी पूर्व में मार कर शुंग-साम्राज्य की नींव डाली। संप्रति के बाद जिन चार राजाओं की सूची उपलब्ध होती है वह निम्न प्रकार है। १

संप्रति (२१६—२०७ ई० पू०)
|
शालिशूक (२०७—२०६ ई० पू०)
|
देववर्मा (२०६—१९९ ई० पू०)
|
शतधनुष (१९९-१९१ ई०पू०) बृहद्रथ (१९१-१८४ई०पू०)

पुराणों द्वारा भी बृहस्पतिमित्र का मौर्य सम्राट होना प्रमाणित नहीं होता। वायु पुराण में तो समस्त मौर्यवंशी राजाओं के नाम भी गिनाये हैं। २ इसमें नौ ही राजा बतलाये गये हैं। मत्स्यपुराण तथा विष्णुपुराण में दस राजाओं का उल्लेख है, वायु पुराण में शालिशूक का नाम छूट गया है। किंतु 'गर्ग संहिता' में संप्रति के बाद शालिशूक को ही उसका उत्तराधिकारी बतलाया गया है। ३ इस प्रकार बृहस्पतिमित्र का कहीं मौर्य सम्राट होने का उल्लेख नहीं है। अतः यह प्रमाणित होता है कि शतधनुष के पश्चात् बृहस्पति मित्र नाम का कोई भी राजा मौर्य सिंहासन पर नहीं बैठा। 'इरावती' में शतधनुष के बाद बृहस्पतिमित्र को मौर्यवंशी राजा बतलाकर मौर्य-सिंहासन पर बैठाना लेखक की भूल है।

यदि किसी प्रकार शतधनुष के अनंतर बृहस्पतिमित्र का मौर्य वंशी राजा होना स्वीकार भी कर लिया जाय,

---

१ प्राचीन भारत—गंगा प्रसाद मेहता एम०, ए० पृष्ठ-१५५।

२ चन्द्रगुप्तं नृपं राज्ये कौटिल्यः स्थापयिष्यति।
चतुर्विंशत्समा राजा चन्द्रगुप्तो भविष्यति ॥३३१॥
भविता भद्रसारस्तु पंचविंशत्समा नृपः।
षड्विंशत्तु समाराजा अशोको भविता नृषु ॥३२॥
तस्य पुत्र कुनालस्तु वर्षाण्यष्टौ भविष्यति।
कुनाल सूनुरष्टौ च भोक्ता वै बन्धु पालितः॥३३॥
बन्धु पालित दायादो दशमानीन्द्र पालितः।
भविता सप्त वर्षाणि देववर्मा नराधिपः ॥३४॥
राजा शतधरश्चाष्टौ तस्य पुत्रो भविष्यति।
बृहदश्वश्चवर्षाणि सप्त वै भविता नृपः ॥३५॥
इत्येते नव भूपा ये भोक्ष्यन्ति च वसुन्धराम्।
सप्तत्रिंशत् शतं पूर्णं तेभ्यः शुंगान गमिष्यति ॥३६॥
(वायु पुराण—अध्याय ९९)

३ तस्मिन पुष्पपुरे रम्ये जनाराम शताकुले।
ऋतुकर्मसुयाकृतः शालिशूको भविष्यति॥
स्वं ज्येष्ठं भ्रातरं साधु संप्रति प्रथमन गणैः।
(गर्ग संहिता—युगपुराण)

तब तो 'इरावती' की अन्य ऐतिहासिक घटनायें असंगत ही प्रमाणित होने लग जायँगी। मौर्य-सम्राट बृहस्पतिमित्र के समक्ष दिमित्र या डिमित तथा कलिंग-सम्राट खारवेल जैन के मगध पर आक्रमण और अग्रजिन की प्रतिमा आदि के चले जाने की घटनायें इतिहास असम्मत हैं। शतधनुष का राज्यकाल १९८ से १९१ ई० पू० के बाद माना गया है। अतः बृहस्पतिमित्र का राज्यकाल १९१ ई० पू० के बाद माना जायगा। 'इरावती' के लेखक के मतानुसार बृहस्पतिमित्र मौर्य के समय में ही डिमित्र तथा खारवेल के मगध पर आक्रमण हुए थे। किन्तु यवन सम्राट् दिमित्र तथा सम्राट् खारवेल जैन का आक्रमण काल १७५ ई० पूर्व माना जाता है। जबकि मगध के सिंहासन पर शुंग वंश का अधिकार होचुका था।

खण्डगिरि पर्वत की हाथीगुफा में उपलब्ध खारवेल के एक शिलालेख द्वारा यह ज्ञात होता है कि जब सम्राट खारवेल ने पहला आक्रमण मगध पर किया तो यवन सम्राट डिमित जो विजय प्राप्त करता हुआ पाटलिपुत्र तक पहुँच गया था, डरकर मथुरा की ओर भाग गया।*

डिमित या डिमित्र का आक्रमण काल १७५ ई० पू० माना गया है।† यही पतंजलि का भी समय है। पतंजलि के महाभाष्य में यवन-राज के आक्रमण की चर्चा उपलब्ध होती है—'अरुणद् यवनः साकेत' 'अरुणद्यवनो माध्यमिका' (यवनों ने साकेत को घेरा, यवनों ने माध्यमिका—चित्तौड़ के किले के पास तांबावती नगरी—को घेरा)।

बृहस्पतिमित्र का काल १९२–१ ई० पू० था। और दिमित्र तथा खारवेल का मगध पर आक्रमण १७५ ई० पू० था। पुनः यह कैसे माना जा सकता है कि बृहस्पतिमित्र के काल में ही उपर्युक्त मगध पर आक्रमण हुए।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि

* अष्टमे च वर्षे महता सेना''''''गोरथागिरिं घातयित्वा राजगृहमुपपीडयति, ऐतेषां च कर्मावदान संनादेन संवीत सैन्य-वाहनो विप्रमोक्तुं मथुरामपयातो यवनराजः डिमित'''। (आठवीं पंक्ति)

† नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ८ अंक ३ पृष्ठ ३०७–८। संक्षिप्त जैन इतिहास, द्वितीय भाग, द्वितीय खण्ड पृष्ठ ५६।

बृहस्पतिमित्र मौर्यवंश का राजा नहीं था। और न वह शतधनुष के बाद मौर्य सिंहासन पर बैठा ही था।

तब यह स्वभावतः ही प्रश्न उठता है कि बृहस्पतिमित्र कौन था? तथा इतिहास में उसका क्या समय माना गया है?

इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री काशीप्रसाद जायसवाल का यह मत पठनीय है—"मैंने पुष्यमित्र और बृहस्पतिमित्र का एक होना बतलाया है। क्योंकि अग्निमित्र के सिक्के की तरह ठीक उसी कोटि और उसी रूप का सिक्का बहसातीमित्र—बृहस्पतिमित्र—का मिलता है। बहसतिमित्र के सिक्के अग्निमित्र के सिक्कों से पहले के माने जाते हैं।"*

दूसरे प्रसिद्ध इतिहासज्ञ बाबू कामताप्रसाद जैन ने इस सम्बन्ध में अपना दूसरा ही मत स्थापित किया है—

"अपने लड़कों द्वारा उन्होंने—पुष्यमित्र ने—वैराज्य स्थापित किया; अर्थात् स्वयं वे राजा न हुए उपराजाओं या गवर्नरों द्वारा मुल्क और धर्म के नाम से स्वयं अपने को सिर्फ सेनापति कहते हुए राज्य करने लगे। मगध का प्रान्तिक शासक पुष्यमित्र के आठ बेटों में से एक अर्थात् बृहस्पतिमित्र नियुक्त हुआ।१

श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने भी बाद में उपर्युक्त जैन जी के मत को स्वीकार कर लिया था।२ पुष्यमित्र द्वारा वैराज्य स्थापित किये जाने की बात वायुपुराण तथा कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक द्वारा भी पुष्ट होती है।३

* नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ८ अंक ३, पृष्ठ ३०८।
१ संक्षिप्त जैन इतिहास, द्वितीय भाग, द्वितीय खंड, पृ० ४०।
२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १० अंक ३, पृ० ५००।
३ पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य वै बृहद्रथम।
कारयिष्यंति वैराज्य समा षष्ठिं सदैव तु ॥३३७॥
पुष्यमित्रसुताश्चाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपाः।
(वायुपुराण अध्याय ९९)
"महाराज के (अग्निमित्र के) सेनापति पुष्यमित्र के पास से उत्तरीय आदि भेंट की सामग्रियों के साथ एक पत्र भी आया है।" (मालविकाग्निमित्र, पंचम अंक)।

उपर्युक्त विवेचनों से यह तात्पर्य निकलता है कि बृहस्पतिमित्र पुष्यमित्र के आठ बेटों में एक था। जो मगध का प्रान्तिक शासक रहा। वह शुंग-वंशी राजा था। और ऐसा मान लेने पर कलिंग सम्राट खारवेल तथा दिमित्र के आक्रमण युक्ति संगत प्रमाणित होते हैं। अतः 'इरावती' के लेखक की यह बात नहीं मानी जा सकती कि बृहस्पतिमित्र, शतधनुष के पश्चात् मौर्य-सिंहासन पर बैठने वाला मौर्य-वंशी राजा था।

इसके सिवाय 'इरावती में कुछ और भी फुटकल ऐतिहासिक त्रुटियां हैं।

खंडगिरि के शिला लेख द्वारा यह ज्ञात होता है कि सम्राट खारवेल ने दो बार मगध पर आक्रमण किये। प्रथम आक्रमण में उन्होंने गोरथगिरि को जीतकर, राजगृह को घेर लिया। इसी समय यवन सम्राट दिमित्र खारवेल के पराक्रम से डर कर भागा है। दूसरा आक्रमण मगध पर खारवेल ने चार वर्ष बाद फिर किया। इसमें वे मगध के सुगाँग प्रासाद तक पहुँच गये। तथा बृहस्पतिमित्र से अपने पैरों की बन्दना करवाई। अग्रजिन की मूर्ति भी अन्यान्य सामग्रियों के साथ कलिंग ले गये।१

किंतु 'इरावती' के लेखक ने दोनों ही घटनाओं का एक साथ होना बतलाया है। यद्यपि दोनों घटनाओं के बीच में चार वर्ष का अंतर था।

दूसरे, शिलालेख द्वारा "कलिंग से अग्रजिन की मूर्ति नंदवंश के सम्राट नंदवर्द्धन ले गये थे" यह प्रमाणित होता है। किंतु 'इरावती' में कलिंग-विजय में अशोक द्वारा मूर्ति के लाये जाने का उल्लेख है—"स्वर्ण की जिनमूर्ति, जो कलिंग की पूज्य प्रतिमा है, जिसे स्वर्गीय सम्राट अशोक ले आये थे, उसी के लिये मन्दिर का निर्माण हो चुका है, प्रतिमा को देने की कृपा अब होनी चाहिये, सम्राट! — दूत ने कहा।"

१ मगधानाञ्च विपुलंभयं जनयन हस्तिनः सुगांगेयं प्रापयन्ति, मागधञ्च राजानं बृहस्पतिमित्रं पादावभिवादयते, नन्दराजनीतञ्च कालिङ्ग जिन-सन्निवेशं गृह रत्नानांप्रतिहारैराङ्गमागध-वसूनि च नापयति। (बारहवीं पंक्ति)

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से इरावती त्रुटिपूर्ण उपन्यास है। अब हम उसे साहित्यिक दृष्टि से देखने का प्रयास करेंगे।

उपन्यास की नायिका इरावती तथा नायक अग्निमित्र दोनों का ही चरित्र प्रेम की मार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत होने के कारण अधिक उज्ज्वल होगया है।

लेखक ने उपन्यास लिखने के पूर्व अपने कुछ संकेत उसके संबंध में बना लिये थे। उनका यहां उल्लेख कर देना मैं अनुचित न समझूंगा। क्योंकि वे संकेत पात्रों के चरित्र-चित्रणों में अधिक सहायक प्रतीत होंगे।

(१) मणिमाला में वेश्याभाव और इरावती में कुलवधू प्रवृत्ति, दोनों का अंतर।

लेखक ने यहां दोनों की मनोभावनाओं के चित्रण की ओर संकेत किया है। इरावती महाकाल के मन्दिर की नर्तकी थी, किंतु फिर भी उसमें कुलवधू की ही प्रवृत्तियां लक्षित होती हैं, बृहस्पतिमित्र के प्रेम को वह घृणा की दृष्टि से देखती है। अग्निमित्र को ही एक मात्र अपना प्रेमी समझती है। मणिमाला धनदत्त श्रेष्ठी की कुलवधू थी किन्तु फिर भी उसकी प्रवृत्तियां वेश्यापन का रूप धारण कर लेती हैं। यद्यपि मणिमाला के चरित्र में अधूरे उपन्यास द्वारा ही वेश्याभाव प्रकट नहीं हो जाता है। किंतु फिर भी वहां तक उसके चरित्र पर संदेह होने लगता है। लेखक शायद् आगे चलकर उसमें वेश्याभाव का स्पष्टीकरण कर देता।

(२) खारवेल का रत्न खरीदने आना और कालिन्दी के चक्र में फंस जाना।

धनदत्त श्रेष्ठी के यहां खारवेल अग्रजिन की प्रतिमा के लिये रत्न खरीदने को उपन्यास के अंतिम परिच्छेद में आता है। वहीं कालिन्दी से उसका सामना होता है। यद्यपि उस के कालिन्दी के चक्र में फंस जाने का वहां स्पष्टीकरण नहीं होता है, किन्तु कालिन्दी और स्वस्तिक दल के षडयन्त्रों को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह आगे चलकर अवश्य ही उनके चक्र में फँस गया होगा। उपन्यास के अंतिम परिच्छेद में धनदत्त श्रेष्ठी के घर पर खारवेल, कालिन्दी की ओर आकर्षित होता दिखाई देता है

तथा कालिन्दी उसकी ओर। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि संभवतः लेखक आगे चलकर दोनों का विवाह भी करा देता। क्योंकि कालिन्दी नंदवंश की राजकुमारी थी। नंदवंश जैन था इस तथ्य को कई इतिहासज्ञों ने स्वीकार किया है।[1] खारवेल भी जैन था। अतः दोनों का परस्पर विवाह यदि लेखक कराना भी चाहता रहा हो, तो कोई आश्चर्य नहीं था।

(३) ब्रह्मचारी और आजीवक का विवाद—आनंद के संबंध में।

लेखक शैव—आनंद वादी-था। उसने प्रायः संपूर्ण अपने साहित्य में स्थान स्थान पर शैवमत का प्रतिपादन किया है। और यही कारण है कि इरावती में भी इसके लिये एक पात्र नियुक्त किया गया। वह है ब्रह्मचारी। कहना न होगा कि ब्रह्मचारी के एक एक तर्क में शैव लेखक का बौद्धिक व्यक्तित्व अन्तर्निहित है। आनंदवाद में संसार की साम्राज्य लिप्साओं या अन्य किसी भी भयानक से भी भयानक विभीषिकाओं का कोई मूल्य नहीं है। यही कारण है कि ब्रह्मचारी मगध पर छाई हुई प्रलय घटाओं से भी किंचित भीत नहीं होता। उसका मार्ग ही दूसरा है।

(४) बौद्ध स्थविर की आज्ञा, युद्ध न होना चाहिये, छल से सब पराभूत किये जासकते हैं। लड़ें भी तो जैन खारवेल और यवन। मगध के धार्मिक बौद्ध तटस्थ।

यह एक ऐसा संकेत है, जिससे स्पष्ट होता है कि संभवतः लेखक आगे चल कर उपन्यास में पुनः ऐतिहासिक उलट-फेर करता, और इस प्रकार मनगढ़न्त कल्पनाओं द्वारा घटनाओं का आयोजन करता। ऊपर मैं सिद्ध कर चुका हूँ कि यह उपन्यास मौर्यकालीन नहीं किन्तु शुंगकालीन है। बृहस्पतिमित्र शुंगवंशी राजा था, और शुंगवंश ब्राह्मण-धर्म का कट्टर अनुयायी था। कहते हैं कि पुष्यमित्र ने ब्रहद्रथ को मारने के पश्चात् बौद्ध धर्म पर अधिक अत्याचार किये थे। तिब्बत के बौद्ध लेखक तारानाथ ने लिखा है—'पुष्यमित्र ने मध्यदेश से लेकर जालन्धर तक के बौद्ध मठ जलवा दिये और कई विद्वान् भिक्षुओं को मरवा डाला।' कहा जाता है कि उसने पाटलिपुत्र के कुक्कुटाराम को भी जलवा दिया था। शाकल प्रदेश में 'पंजाब में' रहने वाले बौद्ध भिक्षुओं को मरवा डाला था[1]।

[1] नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ८ अंक ३ पृष्ठ ३०६

यद्यपि उपर्युक्त कथन अत्युक्ति भी कहा जा सकता है किन्तु फिर भी कुछ न कुछ तथ्य उसमें अनिवार्य ही रहा होगा। धर्म-द्वेष के कारण ऐसा अत्याचार करना असंभव नहीं कहा जा सकता।

पुष्यमित्रादि शुंग वंश का बौद्धों के प्रति ऐसा बर्ताव रहने पर यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि शुंग राज्य में बौद्धस्थविर चाणक्य जैसा एकाधिपत्य अपना रख सका होगा, और पुष्यमित्रादि उसकी आज्ञा शिरोधार्य करते रहे होंगे।

(५) कालिन्दी किसी तरह खारवेल से इरावती का सामना करा देती है। वह गन्धर्व वेद का ज्ञाता इरावती का नृत्य देखने का हठ करता है।

इरावती भावपूर्ण कलात्मक नृत्य करनेवाली नर्तकी थी। खारवेल भी कुशल गन्धर्व वेद का ज्ञाता था। इन दोनों ही बातों की पुष्टि क्रमशः मालविकाग्निमित्र नाटक तथा खण्डगिरि के शिलालेख द्वारा होती है। उपन्यास के अन्तिम परिच्छेद में उपर्युक्त संकेत का स्पष्टीकरण भी हो जाता है। इस प्रकार यह लेखक के पाँच संकेत थे।

नारी पात्रों में मानसिक द्वन्द्व, तथा प्रतिहिंसा की भावना द्वारा नारी के कोमल हृदय में कठोरता ला उपस्थित करना लेखक की प्रधान विशेषता थी। कहानियों में मधूलिका, लैला, तथा चम्पा आदि के चरित्रों में उसका काफी उज्ज्वल रूप भी स्पष्ट हो चुका है। 'इरावती' में इरावती और कालिन्दी का मानसिक द्वन्द्व लेखक की उत्कृष्ट कला की अभिव्यक्ति का परिचायक है। उनके हृदय में एक प्रतिहिंसा की ज्वाला धधकती रहती है। किन्तु एक अज्ञात प्रेम का उन्माद उसे आच्छादित रखता है। कालिन्दी का मानसिक द्वन्द्व देखिये—

"हाँ! मैं सावधान हूँ अग्निमित्र! नन्द की निधि मेरी सम्पत्ति है, और होगी। किन्तु तुम न जाने कहाँ से बीच में

[1]—नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ५, अङ्क २, पृष्ठ २०५।

आ पड़े। मैं स्त्री हूँ! आह! तुम अग्निमित्र! अब तक जीवित न रहते। परन्तु मैं अपने हृदय से हारी हूँ। मैं राज-प्रेयसी! राजनन्दिनी! अनुग्रह की क्षमता नहीं खो सकी हूँ।"

लेखक इतिहास को लेकर इस उपन्यास के पूर्व साहित्यिक क्षेत्र में नाटककार के रूप में उपस्थित हुआ था। उसकी ऐतिहासिकता नाटकीय शैली द्वारा ही अधिक परिमार्जित हुई थी। यही कारण है कि इरावती भाषा भाव तथा शैली की दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' के जितनी सन्निकट है उतनी 'कंकाल' और 'तितली' के नहीं। उसका अधिकांश भाग कथोपकथन द्वारा ही आगे बढ़ा है। किन्तु इरावती की भाषा चन्द्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्त की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट एवं संस्कृतमयी हो गई है। 'प्रतिश्रुति, उपोसथागार, प्रवारणा, आन्तर्वंशिक इत्यादि कई ऐसे शब्द आये हैं जिनके अर्थ साधारणतया शीघ्र ही नहीं जाने जा सकते। कहना अनुचित न होगा कि इरावती की भाषा चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त जैसी मधुर एवं सरल नहीं है। भाषा का जो ओज चन्द्रगुप्त में उपलब्ध होता है वह इसमें दुर्लभ है। फिर भी साधारणतया भाषा अच्छी ही है।

कथानक की दृष्टि से इसमें कंकालादि की अपेक्षा एक विशेषता है। वह है घटनाबाहुल्य का अभाव। उसका एक कारण भी है। कंकालादि में वर्णनात्मक शैली की प्रधानता है, और इरावती में नाटकीय 'कथोपकथनात्मक' शैली की। इसीलिये कंकालादि में घटनाबाहुल्य है तथा इसमें उसका अभाव।

दूसरे कंकाल और तितली में कई स्थानों पर कथानक छोटी-छोटी घटनाओं का शृंखलात्मक रूप धारण करता हुआ आगे बढ़ता है। इरावती में इस बात का अभाव है। उसमें कथानक कहीं भी जुड़ा हुआ सा नहीं प्रतीत होता। किन्तु एक ही ठोस रूप में आदि से अन्त तक चलता है।

संक्षेप में, यद्यपि 'इरावती' ऐतिहासिक दृष्टि से अवश्य ही त्रुटि-पूर्ण उपन्यास है, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से वह एक कलापूर्ण उपन्यास है। यदि उपन्यास पूरा होता तो शायद उसका साहित्यिक मूल्य अधिक बढ़ जाता।

[पृष्ठ १६४ का शेषांश]

देखते हुए भी उसके पति से प्रेम की याचना करे—यह तो सचमुच एक आश्चर्यजनक दृश्य है। निर्निमेष दृष्टि से देखने के सिवा और सीता कर ही क्या सकती हैं। निर्जन वन प्रांतर, निशाचरी माया, भावी सपत्नी की आशंका आदि ने सीता को अवाक् कर दिया। बाल्मीकि की सीता राजभवन में निवास करने वाली कुलवधू की तरह घबड़ाई ही रह गईं। लेकिन पंचवटी का पृष्ठाधार कुछ और ही है। प्रभात हो रहा है। सीता कुटी-द्वार खोलकर बाहर निकल रही हैं—देखती हैं क्या कि कर में वरमाला लिए एक रमणी उनके देवर से प्रेमालाप कर रही है। सीता का भाभी-हृदय परिहास के लिए मचल उठता है। गुप्तजी की सीता गोस्वामीजी की सीता के समान गम्भीर नहीं हैं बल्कि वह अपने देवर से छेड़खानी किया करती हैं—सीताजी आधुनिक हिन्दू परिवार की भाभी हैं। रमणी का चेहरा उदास देख कर सीता झट बोल उठीं।

'देवर तुम कैसे निर्दय हो,
घर आये जन का अपमान।'

लक्ष्मण के प्रणाम करने पर सीता की आशीष 'हों सब सुफल तुम्हारे काम' कितनी लगती-सी है। और कहा—

'सब बातें मैंने सुनी नहीं रखना तुम याद,
कबसे चलता है बोलो यह नूतन शुकरंभा संवाद।'

देवर के रूखे व्यवहार से चिढ़कर सीता डाँट रही हैं—

जो वरमाला लिए आप ही,
तुमको वरने आई हो।
अपना तन, मन, धन सब,
तुमको अर्पण करने आई हो॥
मज्जागत लज्जा तज कर भी,
तिस पर करे स्वयं प्रस्ताव।
कर सकते हो तुम किस मनसे,
उससे भी ऐसा बर्त्ताव॥'

समस्या सुलझती-सी न देखकर सीता तुरत दौड़ कर कुटी में से श्रीराम को जगा लाती हैं और काफी देर तक चारों के बीच संवाद का सोता प्रवाहित होता रहता है।

पंचवटी के अभिनव पृष्ठाधार सप्राण प्रकृति-चित्रण और प्रवाहपूर्ण संवाद पाठकों को एकाएक आकर्षित कर लेते हैं। पंचवटी में मौलिकता का पूर्ण परिचय मिलता है।

विचार-विमर्श

सूफ़ियों की ब्रह्म-भावना

[श्री द्विजेन्द्रजी ने सूफियों के ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया है कि वह प्रियतम के रूप में माना गया है, या प्रियतमा के रूप में? उन्होंने जो मत दिये हैं और साधारण धारणा भी यही है कि मुसलमानों में वह स्त्री रूप से माना गया है और हिन्दुओं में पुरुष रूप है। इस धारणा के विपरीत उन्होंने एक मुसलमान सज्जन और आचार्य शुक्लजी का मत दिया है कि मुसलमानों के यहाँ उसको प्रियतम के रूप में माना है। वास्तव में मुसलमान सज्जन का कहना है लिङ्गातीता (beyond any sex) है। मुसलमानों का प्रियतम शब्द कुछ भ्रामक है। उनके साहित्य में समलिङ्गी प्रेम को कम नहीं। प्रश्न यह है कि जीव अपने को क्या मानता है—पुरुष या स्त्री। हिन्दुओं में अधिकांश में जीव अपने को स्त्री मानता है 'योषितां जारमिव प्रिये' उपनिषदों में उसकी 'प्रिया' से भी तुलना की गयी है।

मेरा ख्याल यह है कि अधिकांश सूफियों ने अपने को पुरुष माना है जैसे पद्मावत में। अपने को स्त्री मानने से स्वामित्व, शरणागति, निर्भरता और समर्पण के भाव अधिक संगति के साथ निभ जाते हैं। कुछ लोग माशूक को मुसलमानी सभ्यता में मान्य पुरुष ही मानते हैं। कुछ उस बात को छिपाने के लिए माशूक को प्रेमपात्र का प्रतीक उभयलिङ्गी या लिङ्गातीत मानते हैं। जयशङ्कर प्रसादजी ने भी इसी प्रतीक पद्धति से काम लिया है। इस सम्बन्ध में पण्डित चन्द्रबली पाँडे अच्छा प्रकाश डाल सकेंगे। —सम्पादक]

अभी तक यही विश्वास था कि सूफी परमात्मा को प्रियतमा के रूप में देखते हैं। इतना ही नहीं प्रत्युत यह भी कि भारतीय माधुर्य भाव और सूफी ब्रह्म-भावना की भिन्नता का यही मूलतत्व है। इसी के बल पर सूफी रहस्यवाद के प्रेम-तत्व से प्रभावित होते हुए भी हम कबीर के रहस्यवाद को अभारतीय नहीं समझते। पर उस दिन जब किसी एक मुसलमान विद्वान् सज्जन से इस सम्बन्ध में बातें हुईं, तो उन्होंने बड़े जोरदार शब्दों में कहा—यह बात गलत है, बिलकुल गलत है। उनकी बातों को सुनकर मैं अवाक् रह गया। हृदय में भावों का द्वन्द्व छिड़ गया। मैं न तो उनके कथन की उपेक्षा ही कर सकता था, और न अपनी स्मरण-शक्ति पर अविश्वास ही। मेरी स्मरण-शक्ति मुझे धोखा दे रही है! इस तरह के प्रश्न कभी मस्तिष्क में उठते ही नहीं थे। निदान मैंने उन मान्य आलोचकों और पण्डितों के ग्रन्थों को खोला, जिनके बल पर मैंने यह बात कही थी। देखा, मेरी स्मृति मुझे धोखा नहीं दे रही है। वह सचा सोलह आने ठीक है।

रायबहादुर श्यामसुन्दरदास बी० ए० ने अपने 'कबीर ग्रन्थावली' नामक ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है :—

'सूफी परमात्मा को प्रियतमा के रूप में देखते हैं। उनके 'मजनूँ को अल्लाह भी लैला नजर आता है' परन्तु कबीर ने परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखा है, जो भारतीय माधुर्य भाव के सर्वथा मेल में हैं।' —पृष्ठ ४१

डाक्टर रामकुमार वर्मा एम० ए० 'कबीर के रहस्य-वाद' में लिखते हैं :—'सूफी मत में ईश्वर की भावना स्त्री-रूप में मानी गयी है। वहाँ भक्त पुरुष बनकर ईश्वररूपी स्त्री की प्रसन्नता के लिए सौ जान से निसार होता है।'

—पृष्ठ २०

'फलतः उन्होंने (कबीर ने) अद्वैतवाद से माया और चिन्तन तथा सूफी मत से प्रेम लेकर अपने रहस्यवाद की सृष्टि की है। सूफी मत के स्त्री-रूप भगवान् की भावना ने अद्वैतवाद के पुरुष-रूप भगवान् के सामने सिर झुका लिया है।' —पृष्ठ २१

फिर उसी ग्रन्थ में निकल्सन-कृत फारसी कविता का जो अनुवाद दिया गया है, वह इस प्रकार है :—

'If she be called,' tis I who answer, and I am summoned she answers him who calls me and cries Labbayak (At thy service).

And if she speak, 'tis I who converse. Likewise if I tell a story, tis she that tells it, . पृष्ठ २४

इस उद्धरण से तथा डाक्टर वर्मा कृत इसके अनुवाद से यह स्पष्टतया विदित होता है कि सूफी लोग ईश्वर को स्त्री-रूप में ही देखा करते हैं।

बाबू श्यामसुन्दर दासजी के मत से ही मिलता-जुलता मत डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का भी है। अपने The Nirgun School of Hindi Poetry नामक ग्रन्थ में आपने लिखा है :—

It is, therefore, in the fitness of things that the Sufi with persian traditions behind him, conceives of the Lord as the wife and Kabir in conformity with Indi an traditions as the husband, because the individuals' love for Gods, is an offering, while God love for his creature is naturally a fervour. page 233.

इन तीन विद्वान् साहित्यालोचकों के उपर्युक्त अवतरणों को पढ़ लेने के बाद इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि सूफियों की ब्रह्म-भावना स्त्री-रूप में ही है। जब मैंने उक्त मुसलमान सज्जन के सामने अपने कथन के प्रमाण-स्वरूप तीनों ग्रन्थ रक्खे और अपने कथन की सत्यता दिखलायी, तो उन्होंने उसी जोरदार शब्दों में कहा—'बिलकुल गलत है। मालूम होता है, आपके हिन्दी-लेखकों ने फारसी नहीं जानने की वजह से निकल्सन को ही सब कुछ मान लिया है। और निकल्सन की गलती को बराबर दुहराते गये हैं। फारसी साहित्य में ईश्वर को माशूक ज़रूर माना गया है। पर माशूक वहाँ लिंगातीत (beyond any sex) है। फारसी साहित्य में लिंग का कोई बखेड़ा ही नहीं है। उर्दू में जब फारसी शेरों का अनुवाद किया जाता है, तो माशूक को पुलिंग में ही लिखते हैं। असल में माशूक पुलिंग है ही। जब स्त्रीलिंग बनाना होता है, तो माशूका शब्द का प्रयोग किया जाता है।'

उनकी इन बातों ने मुझे और भी अवाक् कर दिया। मैंने सोचा, यदि हमारे हिन्दी के लेखक फारसी-साहित्य से अनभिज्ञ हैं, तो उस साहित्य के सम्बन्ध में अपनी भ्रान्त-धारणाओं से हमें भ्रम में क्यों डालते हैं? इसी सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत भी उनके 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में दृष्टिगोचर हुआ। आपने लिखा है :—

'जिस प्रकार कुछ वैष्णवों में 'माधुर्य' भाव से उपासना प्रचलित थी उसी प्रकार सूफियों में भी ब्रह्म को सर्वव्यापी प्रियतम या माशूक मान कर हृदय के उद्‌गार प्रदर्शित करने की प्रथा थी।' —हिं० सा० का इतिहास। पृ० ६४

(संस्करण संवत् १९९३)

आचार्य शुक्ल का यह कथन उक्त मुसलमान सज्जन के कथन से साम्य रखता है, यह देखकर मुझे जितना कौतूहल हुआ, इस सम्बन्ध में जानने की उतनी ही जिज्ञासा बढ़ी। हिन्दी के तीन मान्य आचार्य जहाँ इस सम्बन्ध में एकमत हैं, वहाँ शुक्लजी अपना भिन्न मत रखते हैं। संयोग की बात यह है कि उक्त सज्जन के अनुसार शुक्लजी का ही मत निर्भ्रान्त है। तो क्या उन तीनों के मत सर्वथा भ्रमात्मक हैं? इस प्रकार तर्क-वितर्क कर इस बात को मैंने साहित्य-संसार के सम्मुख रखना चाहा। आज इन पंक्तियों के द्वारा साहित्य के विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया जाता है, और इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालने के लिए उनसे बारबार अनुरोध किया जाता है। यह विषय यों टाल देने का नहीं है, इसलिये मैं आशा करता हूँ कि सम्पादकजी इसे अपने पत्र में स्थान देंगे, और साथ ही इस सम्बन्ध में ऐसे विद्वानों के लेख 'साहित्य-सन्देश' में प्रकाशित करेंगे, जिन्होंने उर्दू-फारसी साहित्य का काफी अध्ययन किया है, क्योंकि, जहाँ तक मैं समझता हूँ ऐसे विद्वानों के कथन का ही इस विषय में विशेष मूल्य होगा।

—गौरीशङ्कर मिश्र द्विजेन्द्र बी० ए०।

कल्पना

'व्योम कुञ्जों की परी अयि कल्पने !' —(दिनकर)

प्रगतिशील संगीत (?) : विशुद्ध कल्पना का प्रश्न

सुविख्यात नृत्यकार उदयशङ्कर की नवीन फिल्म-कृति का नाम है 'कल्पना'; परन्तु यह लेख उसके सम्बन्ध में नहीं है। क्या क्लासिकल नृत्य और क्या शुद्ध संगीत, क्या परियों की कहानियाँ और क्या सुन्दर भव्य दृश्याङ्कन के चित्र (यथा कान्स्टेबल तथा टर्नर के लैंडस्केप्स)—इनकी, मैंने अपने कई प्रगतिशील मित्रों, लेखकों, कलाकारों तथा आलोचकों से चर्चा कर, प्रगतिशील हेतु-निदान जानने का प्रयत्न किया परन्तु मैं असफल रहा। यह मैं मान सकता हूँ कि आर्थिक उत्पादन के साधनों पर जिस वर्ग का स्वामित्व हो उसकी रुचि के अनुसार हमारी सौन्दर्य-वृत्ति में भी परिष्कार आते जाते हैं। यथा एक गुहावासी मानव की आदिम कला की सादगी और आज अमरीका आदि पूँजी-सम्पन्न देशों में पुनः उसी बोर्जुवायी सरलता की ओर लौट पड़ने की प्रवृत्ति में समानता मैं चीन्ह सकता हूँ; परन्तु सौन्दर्यमात्र के लिये जो सार्वजनीन समान आकर्षण है; कल्पना-प्रियता, जोकि वर्गातीत है और सब समयों और सब देशों में पाई जाती है—उसका कोई मार्क्सीय या वर्गीय विश्लेषण खोजे नहीं मिलता। न मेरा विश्वास है कि मिल भी सकेगा। यह समस्या मेरे मन में चार वर्ष से चक्कर काट रही है। घटना साधारण है; परन्तु यहाँ आरम्भ में उसे देना अनुपयुक्त न होगा। सन् ४२ की जून में दिल्ली में एक अखिल भारतीय एँटी-फासिस्ट लेखक-परिषद् बुलाई गयी थी। बुलाने वालों में प्रमुख थे श्री अज्ञेय। मैं भी उसमें शरीक हुआ था। शिवदानसिंह ने एक प्रस्ताव रखते हुए यह कहा कि सब कलाकारों को—चित्रकारों, संगीतज्ञों, नर्तकों आदि को, आज के देश के इस नाजुक संकटकाल में, देश की संरक्षा के लिए सन्नद्ध हो जाना चाहिए इत्यादि इत्यादि। उस पर बोलते हुए किसी दूसरे प्रगतिशील सज्जन ने कहा (नाम उनका भूल रहा हूँ) कि अब हमें प्रगतिशील चित्र, प्रगतिशील नृत्य, प्रगतिशील कविता, प्रगतिशील संगीत ... (और यहीं मेरे विचारों को एक ठेस लगी) निर्माण करने चाहिए। क्या कलाकार किसी के हुक्म से, या किसी के दबाव से कोई चीज निर्माण कर सकता है ? और करेगा भी तो वह क्या उसके मनकी चीज होगी और अगर वह उसके मन की चीज नहीं है तो वह कहाँ तक उच्च कलाकृति होगी—आदि बातें अलहदा छोड़िये; फिर भी एक चीज जो मेरे मन में उस समय उठी कि प्रगतिशील कविता-चित्र आदि तो ठीक; परन्तु नृत्य और संगीत में प्रगति के क्या माने। शायद हमारे पास ही जैनेन्द्रजी और एकांकी बैठे थे; उनमें बात भी चली। उन्होंने उठकर प्रश्न पूछा, "कृपया इस शब्द को समझाइये—'प्रगतिशील सङ्गीत' का क्या अर्थ है ?" अध्यक्ष महोदय कोई उर्दू लेखक थे, उन्होंने कहा—"प्रोग्रेसिव गाना' वह कि जिस गाने के जल्से वगैरह से जो आमदनी हो वह प्रगतिशील कार्यों को दी जाय।" यह तो बिलकुल ही भाकाफा स्पष्टीकरण हुआ। यह प्रश्न व्यवस्था का है; एक बहुत भोंड़े, सीनिमाई गाने और स्टेज पर रूबरू नाच का कलाहीन प्रदर्शन कर बहुत आमदनी इकट्ठा कर ली जा सकती है और उसे प्रगतिशील कार्यों में सर्फ किया जा सकता है और उसमें बिलकुल उल्टे पक्के गाने का जलसा कर बंगाल के अकाल को अच्छी रकम आय में से भेजी जा सकती है; परन्तु यह सब उस कलाकृति पर तो कोई प्रभाव डालने वाली बात नहीं हुई न ? शायद शिवदानसिंहजी को ही यह स्पष्टीकरण कुछ अच्छा न लगा; अतः उन्होंने मिसाल दी—जैसे चीनी गुरिल्ला दस्तों ने चलते-फिरते थियेटरों, संघ-गानों का उपयोग किया। वह घटना हुए आज कई वर्ष बीत चुके।.......

मैंने जननाट्य संघ के कार्यक्रम देखे हैं। और 'नया साहित्य' (चौथा भाग) में शान्ता गान्धी का 'समाज और नृत्य' पर लेख भी पढ़ा है। चित्ताप्रसाद के और जैनुल अबेदीन के चित्र भी देखे हैं—और अब मैं यहाँ तक मानने को तैयार हूँ कि कला का कुछ भाग प्रगतिशील प्रचार के काम में भी बहुत अच्छी तरह लगाया जा सकता है। सोवियत् पोस्टर या चीनी लाम पर के 'बैले' बहुत कलात्मक और साथ ही साथ प्रगतिशील भी अवश्य हैं।

परन्तु यह सब तो सामयिक आवश्यकताओं से प्रेरित चीजें हैं और ये समूची कला तो नहीं हो सकते न? प्रगति यदि कला का प्राण है, और जैसे कविता में वह स्पष्ट है तो वह इन दूसरी कलाओं में किस प्रकार अभिव्यक्त होती है, यह मुझे अभी समझना है। पाब्लो पिकासो के चित्र कल तक (यानी पिकासो के कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य होने से पहिले तक) प्रगतिशील आलोचकों ने बुरी तरह लताड़े; कहा कि—यह तो घोर व्यक्तिवादी, एबस्ट्रैक्टिस्ट, 'हाथी दाँत की मीनार' वाली फ्रायडियन अवचेतन को चित्रित करने वाली इत्यादि इत्यादि कला के नमूने हैं। आज पिकासो प्रगतिशील है। यह आखिर क्या धाँधली है? कला की समालोचना में, किसी राजनैतिक दलविशेष की सदस्यता तो कोई प्रधान अर्थ नहीं रखनी चाहिये।—तो, विषयान्तर छोड़कर, मैं कविता में पूर्णांश में, चित्र और नृत्य में कुछ अंशों में प्रगति को समझ सकता हूँ। परन्तु संगीत और स्थापत्य-शिल्प आदि में प्रगति के मानी ही मेरी समझ में नहीं आते। अब्दुलकरीमखाँ, अल्लादिया खाँ या फैयाजखाँ साहेब जिस संगीत की साधना करते थे या करते हैं, वह विशुद्ध कला, जिसमें परम्परागत संगीत की रक्षा है और साथ ही मौलिक सृजन भी है, वह किसी अर्थ में प्रगतिशील है या नहीं है? क्या ताजमहल प्रगतिशील है या नहीं है? रोदें की शिल्पकृतियाँ प्रगतिशील हैं या नहीं हैं? आप किसी भी पक्ष से बोलेंगे तो मैं पूछूँगा—क्यों? मेरे मत से शुद्ध स्वर-साधना, शुद्ध कल्पनाप्रसूत कलाकृतियाँ—इन विशेषणों से परांकित नहीं हो सकतीं। वे प्रगति-अगति से अतीत हैं।

प्रकृति के उत्तम दृश्यांकन (जिसमें एक भी मनुष्य प्राणी तक न हो), शुद्ध स्वर-विस्तार और संगीत की धुन, परियों की कहानियाँ या वैसा ही लोकसाहित्य (जो बच्चों से लेकर बूढ़ों तक सबका मनोरंजन करता है), क्लासिकल नृत्य के कई प्रकार आदि कलाकृतियों से प्राप्त आनन्द, उनके निर्माण में प्रयुक्त होने वाली कल्पना, दोनों का प्रगतिशील विश्लेषण कोई करे, तो मैं उसे जानना चाहूँगा। मेरी अल्पमति में आब्जेक्टिव विश्लेषण की पकड़ से ये चीजें छूट जाती हैं. बल्कि वे उस विश्लेषण को चुनौती देती हैं।

—प्रो० प्रभाकर माचवे एम० ए० (दर्शन, एम० ए० (अंग्रेजी), साहित्य-रत्न।

बहत्तर कोठे

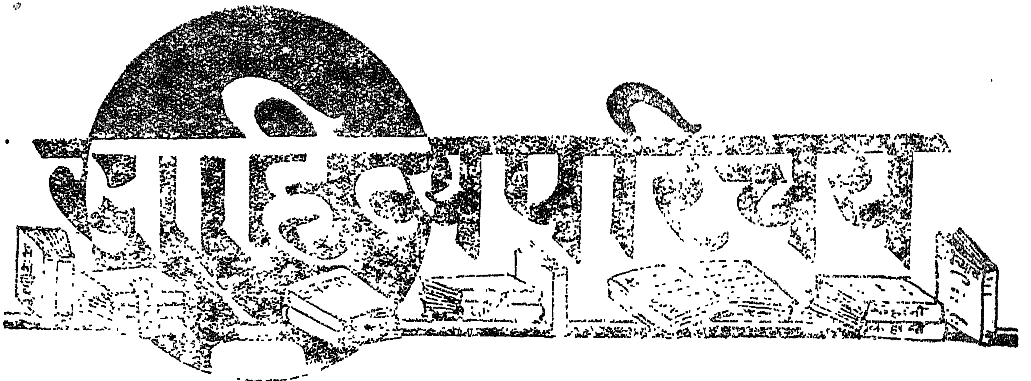
राजस्थान में निम्नलिखित पंक्तियाँ बहुधा सुनने में आती है:—

"बहत्तर कोठा नौ हैं नाड़ी दस दरवाजा
जड़ी किंवाड़ी।
पाँच मोहल्ला एक गुवाड़ी *
काया में करार अन्न के हैं मिजमान चार
दिन के हैं।"

एक बार मुकुन्दगढ़ ठाकुर साहब श्रीमान् बाघसिंह जी के साथ मैं साहित्यिक चर्चा कर रहा था। उसी सिलसिले में आपने ऊपर की पंक्तियाँ विचारार्थ रखीं। मैंने यथाशक्ति अपना मन्तव्य प्रकट कर समाधान का प्रयत्न किया किन्तु ७२ कोठे कौन कौन हैं—यह फिर भी विवाद का विषय बना रहा। उक्त पंक्तियाँ जब काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री गोपीनाथ कविराज के सामने रखी गयीं तो उनके द्वारा इस प्रकार व्याख्या की गयी—

"यहाँ पर आध्यात्मिक दृष्टिकोण से शरीर का रूपक बाँधा गया है। आत्मा के अस्थायी उपयोग के लिये शरीर की एक निवास स्थान के रूप में कल्पना की गयी है। पाँच मोहल्ले हैं शरीर के पाँच रूप (१) स्थूल (२) सूक्ष्म (३) कारण (४) महाकारण और (५) कारणातीत जिनका संबंध क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत—इन पाँच अवस्थाओं से है। दस दरवाजों से तात्पर्य है आँख, कान, नाक, मुँह आदि इन्द्रियों के ६ प्रसिद्ध मार्ग या छिद्र तथा दसवाँ ब्रह्मरन्ध्र। योगी लोगों के प्राण छोड़ने का मार्ग ब्रह्मरन्ध्र ही है (यद्यपि कुछ

*'गुवाड़ी' सं० गोवाट गोवाटी (गायों अथवा पशुओं के निवास स्थान) के लिए प्रयुक्त होता होगा। बाद में छोटी जनबस्ती के अर्थ में लिया जाने लगा।



कविता

आहुति—लेखक-श्री तन्मय बुखारीया। प्रकाशक-एस० एन० अग्रवाल, ५६ जीरो रोड इलाहाबाद। मू० १) पृ० सं० ६४

नेताजी श्री सुभाषचन्द्र बोस के सम्बन्ध में इधर कई कविता पुस्तकें निकल चुकी हैं। इस पुस्तक में सिंगापुर में मनाई गई सुभाष जयन्ती के भावों को लेकर लेखक ने छन्द रचना की है। मातृभूमि को स्वतन्त्र कराने के लिये श्री सुभाषचन्द्र बोस ने आजाद हिन्द फौज के जरिये जो प्रयत्न किये उनका सादा ढँग का वर्णन भी हृदय में उथल पुथल कर देता है। फिर कवि की वाणी से वह और भी भावोत्तेजक बन जाता है। बुखारियाजी की भावुकता का इस कविता में अच्छा असर हुआ है। पुस्तक का वाह्य कलेवर भी आकर्षक बनाया गया है।

पाकिस्तान—लेखक-श्री तन्मय बुखारिया। प्रकाशक साहित्य मण्डल दिल्ली। मूल्य २) पृ० सं० १४४

इस पुस्तक में लेखक ने "पाकिस्तान" विषय पर रचना की है। पाकिस्तान आजकल राजनैतिक अखाड़े का विषय हो रहा है। परन्तु श्रेष्ठ कलाकारों ने अभी तक इस विषय को नहीं अपनाया। कलाकार अपने साम्य स्वस्थ और सबल जीवन को भावुकता के प्रवाह से ऊँचा रखता है। वह प्रचारक नहीं, स्थायी तत्वों का स्रष्टा है। इस कसौटी पर यह पुस्तक खरी नहीं उतरती। लेखक भावुकता में बह जाता है। पूरी रचना में कई सवाल उनकी स्वस्थ राष्ट्रीय प्रवृति का परिचय देते हैं, कविता और उद्देश्य की दृष्टि से भी वे पग सुन्दर और पठनीय हैं। पर उनमें कहीं कहीं कट्टर साम्प्रदायिकता आ जाती है। कवि की आलोचनात्मक बुद्धि का स्तर निम्न हो जाता है। हाँ, सामयिकता की दृष्टि से पुस्तक ऐसी है जिस का बहुत स्वागत होगा।

विशिष्ट योगी अँगूठे से भी प्राण छोड़ते सुने गये हैं)। ७२ कोठे हैं ७२ तत्व (२४ वर्तमान काल के, २४ भूतकाल के तथा २४ भविष्यत् काल के) एक गुवाड़ी है महाविन्दु—यह वह महा आसन है जहाँ परम आत्मा के रूप का प्रत्यक्षीकरण होता है। यह परमात्मा के निवास का अंतरतम प्रदेश है। ६ नाड़ियाँ हैं—सुषुम्ना, इड़ा, वज्रा, चित्रा, ब्रह्मनाड़ी, अलम्बुषा, पुषा और शंखिनी। ये सब अन्न से निर्मित हैं।"

कासीदास के 'पारख बोध' में कहा गया है "कि देह ७२ कोठा हैं जहाँ नाड़ियों की गाँठ बँधी हुई है। ब्रह्मरन्ध्र के सम्बन्ध में कहा गया है कि "वहाँ परमात्मा का निवास है। योगी लोग वहाँ प्राण चढ़ा कर वायु का प्रकाश देखते हैं, उसी समय वह द्वार खुलता है अथवा स्त्री-भोग करने में बिंद करते समय वह द्वार खुलता है।" उक्त पद्य कबीर पंथी परम्परा का जान पड़ता है। विश्वविद्यालयों की हिन्दी परीक्षाओं के लिये भी कबीर का अध्ययन-अध्यापन होता है। शरीर-विज्ञान में प्रसिद्ध ७२ कोठे कौन हैं? आदि प्रश्नों पर यदि पं० हजारी प्रसाद जी जैसे विद्वान जिन्होंने कबीर का विशेष अध्ययन किया है सविस्तार प्रकाश डालें तो बड़ा उपकार हो।

—प्रो० कन्हैयालाल सहल एम० ए०

हलाहल—रचयिता-श्रीयुत 'बच्चन' प्रकाशक-भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग। मूल्य २॥), पृष्ठ संख्या ?

आखिर 'हाला' और 'प्याला' का मोह एक दिन बच्चनजी को 'हलाहल' तक ले पहुँचा। उनकी कविताधारा जिस दिशा की ओर उद्दामगति से प्रवाहित होती रही है उसमें ऐसी ही वस्तु की उपलब्धि स्वाभाविक थी। अपने काव्य-मन्थन में बच्चनजी ने 'हलाहल' को ही पसन्द किया। 'मधुशाला' रचकर उन्होंने जो ख्याति और लोकप्रियता अर्जन की, 'हलाहल' उसको और आगे बढ़ायेगा। इसमें एक सौ अड़तालीस पद हैं, उनमें रचनाकार ने अपने विगत पाँच-छः वर्ष के जीवन के हृदय और मस्तिष्क के मन्थन का निचोड़ रख दिया है। बच्चनजी की शैली और उनका कविता पाठ निराला है। इसलिये उसका पूरा आनन्द कवि की वाणी द्वारा प्रस्फुटित शब्दों से ही आता है किन्तु कविता रसिक उनके पदों को गुनगुनाने में कम आनन्द का अनुभव नहीं करेंगे—

रहा जब मधुबाला के साथ,
किया जब निशादिन मधु का पान,
मुझे भूला कब अपना होश,
मुझे भूला कब अपना ज्ञान;
हलाहल बन धारा के बीच,
नहीं डर डूबेगा अस्तित्व,
गगन से होता है संकेत,
उठेगा और अभी व्यक्तित्व;

'मधुबाला' से 'हलाहल' में बच्चनजी का व्यक्तित्व और उठा है, इसकी साक्षी स्वयं कवि के पद दे रहे हैं। पुस्तक की छपाई सफाई सुन्दर है। हाँ मूल्य कुछ अधिक रक्खा गया है। —रमेश वर्मा

उपन्यास

पृथ्वीवल्लभ—लेखक, श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, प्रकाशक—किताब महल इलाहाबाद। मूल्य २॥) पृष्ठ संख्या २८४

श्री कन्हैयालाल मुंशी राजनैतिक जगत में जितने प्रसिद्ध हैं उससे अधिक वे साहित्य संसार में गौरवास्पद हैं। उनके उपन्यास, नाटक, निबंध तथा कहानियां गुजराती साहित्य की अमूल्य निधि हैं। एक उच्च कलाकार के रूप में श्रीयुत मुंशी न केवल गुजराती भाषा के वरन् साहित्य-जगत के आदरणीय नेता हैं। उनके साहित्य में भारतीय संस्कृति के उच्च आदर्श का प्रकाश है। "पृथ्वी वल्लभ" उनका उच्च कोटि का उपन्यास है, जिसका किताब महल ने गुजराती से हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित किया है। इस उपन्यास का काल विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी है, जब भारत में चोल, चालुक्य, पाँचाल आदि वंशों की रियासतें थी। इनमें आपस में संघर्ष रहते थे और अपनी अपनी विजय की कामना में वे एक दूसरे को पद दलित तथा नष्ट करके अपने को चक्रवर्ती महाराजाधिराज पृथ्वीवल्लभ आदि उपाधियों से विभूषित करते थे। साहित्य और काव्य रसिक राजा भोज के कथानकों के साथ मुंज का भी नाम आता है। यद्यपि काव्य ग्रंथों में मुंज को कोई प्रधानता नहीं दी गई, फिर भी मुंज एक ऐतिहासिक पुरुष है। मालवा के परमार वंशीय राज्य शासन में उसका स्थान ऊंचा है। उस में और चालुक्य वंशीय राजा तैलप में महान युद्ध हुये। दोनों ही महान विजयी राजा थे। मुंज ने सोलह बार तैलप को हराया पर अंत में तैलप की विजय हुई। मुंज तैलप का बंदी बना और उसे हाथी के पैर के नीचे कुचलवा कर मार डाला गया। इस घटना पर इस उपन्यास का क्रम और सृष्टि होती है। उसमें मुंज का साहस उसका चरित्र, तत्कालीन हिन्दू राजा और एक नर अधिपति के अभिमान नुकूल है तैलप की बड़ी विधवा बहिन मृणालवती जिसकी स्थिति इस उपन्यास में दूसरे प्रधान नायक की हो जाती है अपने तापसी और कठोर जीवन में मुंज के साथ उसी निष्ठुरता का परिचय देती है जो एक मध्य कालीन सामन्ती पुरुष का चरित्र होता है। पर अंत में मुंज के पौरुष और उसके मृणाल के प्रति अटूट आकर्षण के आगे उसकी नारी सुलभ कोमल हृदयता फूट आती है। उपन्यास से संबंधित अन्य पात्रों के चरित्रों में भी हम सामयिक सम्यक विचारों का यथा तथ्य रूप देखते हैं। लेखक के चित्रण में यही बड़ा गुण है कि वह जिस काल का वर्णन कर रहा है, उसमें उसी काल की रीति, नीति और कथन का परिचय हो। इस कसौटी पर उपन्यास खरा उतरा है। 'पृथ्वीवल्लभ'' की सफलता का एक सबूत

यह भी है कि उसका फिल्म तैयार होकर जन साधारण के लिये भी वह एक सुलभ और लोकप्रिय वस्तु बन गया है।

नवाब लटकन—लेखक-श्रीयुत अरुण बी० ए०, प्रकाशक-गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ। मूल्य २) पृष्ठ संख्या १६८।

यह हास्यरस का उपन्यास है। उपन्यास की भूमि स्वयं लखनऊ और उसका चरित्र 'बिगड़ी नबावी' है। नबाव पुत्रों की लीलाएँ विचित्र रही हैं, उनकी खानगी जिन्दगी, उनके नौकर और सम्बन्धी तथा आसामी और इधर उधर के लोग और फिर खुद नबाव साहब एक से एक बढ़कर स्वाँग खेलते हैं। इसका परिचय इस उपन्यास से मिलेगा। उपन्यास के कई स्थल अभद्ररूप से अश्लील हैं। विशेषकर मानवीय चरित्र की कमजोरियों का इजहार जिन शब्दों में और मुहावरों में किया गया है, वे लखनऊ के असंस्कृत लोगों में ही प्रचलित हैं। इस सम्बन्ध में मिर्जा रुसवा का 'गुरुघण्टाल' (जातरा शरीफ) उपन्यास भी है, यही भूमि यही चरित्र। किन्तु इस उपन्यास और 'गुरुघण्टाल' में वही अन्तर है जो सोने और पीतल में। उपन्यास की एक तारतम्यता कहीं-कहीं माला के टूटे हुये मनियों को जोड़ कर बाँध देने के समान लगती है। हाँ औसत दर्जे के पढ़े-लिखे आदमी के लिये उपन्यास में मनोरंजन की काफी सामग्री है।

एकसूत्र—लेखक-श्री गोविन्दवल्लभ पन्त, प्रकाशक-गंगा पुस्तकमाला लखनऊ। पृष्ठ संख्या २५८, मूल्य ३)

श्री गोविन्दवल्लभ पन्त हिन्दी के सुप्रसिद्ध 'नाटककार' और उपन्यासकार हैं। प्रस्तुत उपन्यास उनकी उच्च कला का एक नमूना है इसका काल अकबरकालीन भारत है। बड़ी-बड़ी साम्राज्यी विजयों द्वारा सारे भारत को एक राष्ट्र में गूँथने तथा एक भाषा और भिन्न धर्मों का समन्वय कर के एक रूप और एक आत्मा में भारत की अखण्डता का दर्शन करने वाला अकबर अपने प्रयत्न में कितना कृतकार्य हुआ? उसके ये स्वप्न ऐसे ही थे जैसे चित्रकार दसवंत की कला उपासना। दोनों का अन्त एक नैराश्यपूर्ण स्मृति बन जाता है। किन्तु जो प्रयत्न उन्होने किये उनमें मानव बन्धुत्व, धार्मिक सहिष्णुता तथा कला के विविध रूपों की जो उन्नति और विकास हुआ वह स्वयं एक उद्देश्य की पूर्ति है। दस पंत और रागिनी के सम्बन्ध का चित्रण करते हुये लेखक सचमुच बड़ी नाजुक जगहों से गुजरता है। पर एक यही नहीं उसके सभी पात्रों की स्थिति सर्वाङ्गीण सुन्दर चित्र के अवयवों की भांति यथा तथ्य और यथा रूप रहती है। उपन्यास पढ़ते समय लगता है, मानो हम मुगलकालीन भारत में विचरण कर रहे हैं। इस उपन्यास का विषय भारत के आज के प्रश्नों से सर्वथा अलग नहीं है। कला का सुन्दर परिधान पहिनाकर लेखक ने एक अतीत घटना को हमारे आज के प्रश्न के रूप में सामने रख दिया है। पर वह एक कला ही रह गया है, किसी लक्ष्य तक हमें नहीं ले जाता। शायद कलाकार के लिये यह अभीष्ट भी नहीं।

—रमेश वर्मा

कहानी

धरोहर—लेखिका-श्रीमती होमवती, प्रकाशक—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा। पृष्ठ २१२, मूल्य १॥)

यद्यपि कवि अपनी कल्पना के सहारे अपने को प्रत्येक स्थिति में रख सकता है, तथापि पारिवारिक जीवन के चित्रण में जितना कौशल स्त्रियों को स्वभावतः प्राप्त होता है उतना साधारणतया पुरुषों को नहीं होता क्योंकि कहने को तो हमारा समाज पुरुष केन्द्रिय है किन्तु वास्तव में वह स्त्री केन्द्रिय ही है। होमवती जी पारिवारिक जीवन की तह में जा सकी है और अपनी करुणा-कलित कल्पना का भली प्रकार चित्रण कर सकी है। इन कहानियों के विषयों में काफी विविधता है और इस कारण पाठक का जी नहीं ऊबने पाता है। धरोहर जिसके नाम पर इस संग्रह का नामकरण हुआ चरित्र प्रधान कहानी है। पंडित दुर्गाप्रसाद जैसे भगवतभक्त के हृदय में भी नारी के प्रति एक रहस्यमयी कोमल भावना रह सकती थी और वे उसे आजीवन छिपाये रख सके। पीतल की चूड़ियों में पुत्र की माता के प्रति कृतघ्नता का चित्र है। स्पेशल परमिट में समय की अन्न-वस्त्र की कठिनाई की कलामय छाप है। यद्यपि होमवतीजी की कहानियाँ प्रगतिवादी नहीं कही जा सकती (सब कहानियों के लिए जरूरी भी नहीं है) तथापि उनमें से कुछ में जैसे

'कहानी का अन्त' और 'अन्तिम सहारा' नाम की कहानियों में हिन्दू समाज की विधवाओं का बड़ा दयनीय चित्र खींचा गया है। क्रिसमसकार्ड शीर्षक में भी करुणा है किन्तु वह सुखान्त है। प्रायः सभी कहानियों में नारी हृदय की कोमल भावनाओं के साथ करुणा और प्रेम के चित्र हैं। 'एप्रिलफूल' में थोड़ा रहस्य का पुट है लेकिन वह भी एक प्रकार से करुणाजनक ही है। कहानियों में कहीं-कहीं बड़े सुन्दर अन्तर्द्वन्द्व आये हैं देखिए कहानी का अन्त शीर्षक कहानी में वे लिखती है—'आदर्श कहता था संसार तेरे लिए शून्य है, हृदय कहता था नहीं उसमें हलकी-सी प्रकाश की रेखा है। बुद्धि कहती उससे दूर रहो, कहीं भस्म न हो जाओ। प्रेम कहता मैं उसको छूता थोड़े ही हूँ, दूर से देख रहा हूँ।' कहानियों के वार्तालाप में वाकपटुता और चटपटापन भी काफी है।

(क) 'फिर तो घर-द्वार छोड़कर जङ्गल में रहना चाहिए। जहाँ कोई पानी देने वाला न हो।'

'पानी देने वाले तो हर जगह मिल जाते हैं पर ताने देने वालों की कमी हर जगह रहती है।'

(ख) क्या तुम्हारा यह शरीर धूल में मिलने के लिए था?'

'धूल में मिलकर भी कुछ मिल ही जाता है विनोद।'

वार्तालाप में कहीं-कहीं रीतिकालीन कवित्व की भी झलक दिखाई पड़ जाती है।

इसी समय बादलों में से थोड़ी प्रकाश की रेखा दिखाई दी, शीला ने उत्सुक होकर कहा 'प्रकट होने लगे देव! हैं; फिर मुँह छिपाते हो?' 'इस चन्द्रमुखी के सामने वह अपना कलंकित मुँह लेकर कैसे आ सकता है।'

होमवतीजी के कुछ वाक्यों में जीवन सम्बन्धी बड़े सुन्दर तथ्य आये हैं जो सूक्तियों का स्थान ले सकते हैं, देखिए:—'हृदय का आवेश मनुष्य की बुद्धि पर भी प्रकाश डाल देता है।' 'हृदय का रस और मन का उत्साह जिन कामों में साथ मिल जाती है वे लोकोत्तर हो ही जाते हैं।

लेखिका ने मानवी घटनाओं का प्राकृतिक सामञ्जस्य भी दिखलाया है। 'अन्तिम साध' की अन्तिम पंक्तियाँ देखिए:—

इसी समय पपीहे की दर्द भरी पुकार सुन पड़ी, पिउ कहाँ, पिउ वहाँ, पता नहीं उस वक्त उसका पिउ कहाँ था। मृत्यु का अशुभ संकेत किस कलापूर्ण ढङ्ग से किया गया है? इन कहानियों में स्वाभाविकता के साथ कला का अपूर्व सामञ्जस्य है। मानव स्वभाव के मनोवैज्ञानिक परिचय, वार्तालाप की शिष्टता और चतुराई तथा शैली की व्यञ्जनात्मकता के लिए ये कहानियाँ बहुत उत्तम हैं।

—गुलाबराय

मुर्दों का गाँव—लेखक, श्री धर्मवीर भारती। प्रका०—किताब महल इलाहाबाद। मूल्य ।।।) पृ० ५२।

भूख, बीमारी और मौत का नग्न नृत्य एक कलाकार को किस प्रकार प्रभावित करता है, यह इस पुस्तक की कहानियों में मिलेगा। वह कल्पना नहीं, दूरकी वस्तु नहीं; आँखों देखा सत्य है। एक एक कहानी दिल कँपा देने वाली है। वर्णन-शैली, भाषा व भाव तथा अवसर अनुकूल उपमाएँ सभी बातों में कहानियाँ सुन्दर तथा कलापूर्ण बन पड़ी हैं क्योंकि उनका आधार एक ऐसा तथ्य है जिसने जन साधारण से लेकर कलाकारों के हृदय हिला दिये। इसीलिये विषय एक ही होने पर भी ये अलग अलग कहानियाँ अपने ढँग की अनूठी चीज हैं। पुस्तक का मूल्य यद्यपि अधिक रक्खा गया है, फिर भी पाठक इस पुस्तक को पढ़ने बारह आनों को ऐसे ही समझेंगे, जैसे उन्होंने 'बंगाल के काल' में सहायता देने की जरूरत को समझा था।

ऊर्मि—लेखक, अखिलेशचन्द्र कानूनगो, पुस्तक—कलाकार प्रकाशन मन्दिर लैटिन, चेम्बर्स दलाल स्ट्रीट फोर्ट बम्बई। मूल्य ॥) पृ० ३१

पुस्तक कई छोटी छोटी कहानियों का संग्रह है? कहानियाँ भावुकता पूर्ण हैं। और उनमें नारी-हृदय का स्पर्श है। पहली कहानी 'ऊर्मि' एक हताश प्रणयी का हृदयोच्छ्वास है। इस प्रकार की और कितनी हो, निस्सन्देह कुछ उच्चकोटि की कहानियाँ पहले लिखी जा चुकी हैं। कई कहानियाँ भाव और चित्रण की दृष्टि से अच्छी बन गई हैं। अच्छा हो लेखक इस विश्व नाटक के नारी कक्ष से इतर कुछ और प्रकोष्ठों का परिभ्रमण करें। —र

जीवनी

अशोक—लेखक, श्री भगवती प्रसाद पाँथरी। प्रका० किताब महल इलाहाबाद। मूल्य ४) पृ० सं० ३५२

सम्राट अशोक का चरित्र एक साधारण मध्यकालीन राजा के चरित्र से कितना ही भिन्न, महत्वपूर्ण तथा विशेष अध्ययन की चीज है। अशोक की महानता उसकी बड़ी बड़ी दिक्विजयों में नहीं बल्कि कलिंग विजय के बाद उसके जीवन में परिवर्तन तथा परिवर्तित अवस्था में उसके द्वारा किये गये शासन और लोक कल्याणकारी कार्यों के द्वारा है। प्रस्तुत पुस्तक में अशोक की सांगोपांग जीवनी लिखी गई हैं जो प्रामाणिक ढँग और ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर लिखी गई है। अशोक के जीवन में एक आकर्षण है। हिंसा के उपायों का अवलम्बन कर अपनी साम्राज्य लिप्सा की पूर्ति करना छोड़ कर अशोक ने लोक-कल्याणकारी कार्यों द्वारा महान विजय प्राप्त की। पहले उपायों से वह जितने जन समूह को अपने वश में कर सका, अहिंसा और सत्य धर्म के प्रचार द्वारा वह तत्कालीन अधिक बड़े जन समूह एवं उसके बाद कोटानिकोटि व्यक्तियों के हृदय पर अपने धनित्व का प्रभाव डालने में समर्थ हुआ। इसीलिये अशोक महान है। बौद्धधर्म ही उस काल की सामाजिक प्रगति थी—अतः इस धर्म को राजधर्म घोषित कर अशोक ने प्रचार के तत्कालीन प्रवल साधन अपनाये जिससे भारतीय संस्कृति की प्रकाशमयी किरणों का आलोक अन्य देशों की सीमाओं तक जा पहुँचा। राजकीय बन्धनों को तोड़ कर भिन्न भिन्न जाति और देशों में संस्कृति के एकता का सम्बन्ध स्थापित हुआ, जिस का असर अब तक कायम है। इस प्रकार अशोक ने केवल भारत का गौरव ही नहीं बढ़ाया बल्कि उसके प्रचार के फलस्वरूप चीन, तिब्बत, ब्रह्मा तथा दक्षिण पश्चिम एशिया खण्ड के साथ भारत का सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। इस जीवनी का एक और भी बड़ा महत्व है। संसार बीसवीं सदी के महान युद्धों की लपट में जल भुन चुका है। क्या इससे दुनियाँ के राष्ट्र वह सबक लेंगे जो मध्ययुग में अशोक ने लिया था? क्या इसके बाद शान्ति और मानवधर्म का प्रचार होगा? निस्सन्देह भारत की ओर से एक काल से इस तरह की आवाज उठी है। वह महान अशोक की ही परम्परा है। अशोक की जीवनी में यह सबसे बड़ा आकर्षण है जिससे प्रभावित होकर लेखक ने बड़े श्रम, प्रयत्न, खोज तथा मनोयोग के साथ यह ग्रन्थ लिखा है। पुस्तक की अन्तरंग परीक्षा इसी विषय के विद्वान करेंगे।

विविध

हमारे घर—लेखक-श्री निरञ्जनलाल गौतम, प्रकाशक-माथुर सेवक, श्रद्धानन्द बाजार, दिल्ली। मूल्य ॥✓) पृष्ठ संख्या ७२।

गृहस्थ जीवन सुखी कैसे बन सकता है, स्त्री-पुरुष तथा स्त्री का अन्यजनों के साथ किस प्रकार का व्यवहार होना चाहिये, ये बातें पुस्तक में दी गई हैं। गृहस्थियों के लिये पुस्तक उपादेय है।

जादूगर—लेखक-प्रो० नार्मन, प्रकाशक-प्रकाश-मंदिर काशी। मू० १॥), पृष्ठ ६२

मनुष्यों के हाथों द्वारा जब हम कोई अनहोनी बात या कार्य होता देखते हैं, तब उसे जादू का चमत्कार कहने लगते हैं। साधारण पात्रों में बाजीगर के खेल ऐसे ही होते हैं। शिव पात्रों में भी ऐसे खेल दिखाये जाते हैं—ताश का खेल, अङ्कगणित के कई तरह के खेल, किसी चीज के टुकड़े-टुकड़े कर फिर उसे जोड़ देना आदि इन खेलों में 'दिशा विभ्रम या 'हाथ की सफाई' होती है। यह किस तरह? कई खेलों के उदाहरण देते हुये इन बातों को इस पुस्तक में बतलाया गया है। साथ में चित्र भी दिये गये हैं। शरीरधारी जादूगर को समझाने के लिए इस कागजी जादूगर को पढ़ना चाहिये। पुस्तक का मूल्य अधिक रखा गया है।

अग्रवाल जाति का विकास—लेखक-श्री परमेश्वरीलालजी गुप्त, प्रकाशक-श्रीकमलनाथ अग्रवाल, २१ बुलानाला, काशी। पृष्ठ २०२, मूल्य १

प्रस्तुत पुस्तक में अग्रवाल जाति की उत्पत्ति और विकास पर ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन किया है जो महत्वपूर्ण है। पुस्तक सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से उपादेय है।

—र

सम्पादकीय

डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप का स्वर्गवास—

लाहौर के डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप का स्वर्गवास हाल ही में हृदय की गति अवरोध के कारण होगया वे नागपुर विश्व-विद्यालय में आमंत्रित होकर गये थे। वहाँ से व्याख्यान देकर लौटने पर हृदय की गति बन्द होगई। ऑक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय के लिये लिखी हुई आप की निरुक्त पर थीसिस जो कि चार जिल्दों में प्रकाशित हो चुकी है उस विषय पर बड़ी प्रामाणिक पुस्तक मानी जाती है। हिन्दी में भी आपने प्रसिद्ध फरासीसी नाटककार मोलियर के दो नाटकों का अनुवाद किया था और नल दमयन्ती नाम का एक मौलिक नाटक भी लिखा था। आप बड़े विद्वान और हिन्दी प्रेमी थे। ईश्वर आपकी आत्मा को शान्ति प्रदान करें और आपके परिवार के लोगों को इस महान क्षति के सहन करने के लिए धैर्य और शक्ति दे।

श्री पोद्दार हीरक जयन्ती—

श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार की हीरक-जयन्ती मथुरा में इसी नवम्बर में मनायी जाने वाली है। पोद्दारजी ने साहित्य-शास्त्र पर रसमञ्जरी और अलङ्कार-मञ्जरी नाम के दो ग्रन्थ तथा दो जिल्दों में संस्कृत-साहित्य का इतिहास लिखा है वे ग्रन्थ तथा उनके अन्य ग्रन्थ हिन्दी के लिए गौरव की वस्तुएँ हैं। इस अवसर पर ब्रज-साहित्य-मण्डल की ओर से आपको ताम्रपत्र भेट किया जायगा और दो या तीन दिन का बड़ा मनोरञ्जक साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम रहेगा। हम पोद्दारजी को बधाई देते हैं और ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वे शतायु हों। ब्रज-साहित्य-मण्डल में उनको एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेट करने का भी निश्चय किया है। इसमें हिन्दी के प्रमुख विद्वानों का सहयोग रहेगा। यह पीछे से भेट किया जायगा।

संग्रह-ग्रन्थों में लेख—

आजकल स्कूल और कालेजों के लिए बहुत से संग्रह-ग्रन्थ निकला करते हैं। उनमें देखा जाता है कि लेखकों के अच्छे से अच्छे निबन्ध या कविताएँ संग्रहीत कर दी जाती हैं। उन संग्रह ग्रन्थों का लाभ प्रायः संग्रहकर्ता—जो अपने स्थान या पद के प्रभाव से अथवा साहित्यिक प्रभाव से पुस्तकें पाठ्य-क्रम से स्वीकृत करा लेते हैं—को मिलता है। उन लेखों से वे लोग लाभ उठाते हैं और बेचारे लेखक 'काव्य यशसे' से सन्तोष करते हैं। अब कुछ संग्रहकर्ता देने भी लगे हैं किन्तु यह नियम व्यापक नहीं हुआ है। लेखक के अच्छे लेख का मूल्य केवल उतना ही नहीं है जो उसे एक बार किसी अखबार वाले या प्रकाशक से मिल जाय। यदि वह अपने प्रकाशकों से रॉयल्टी का हकदार रहता है तो दूसरे प्रकाशकों से भी जो उसका लेख अपने संग्रह में रखते हैं क्यों न हकदार समझा जाय। इसके लिए ऐसा नियम हो जाय कि जो साधारण रायल्टी दी जाती है उससे संग्रह ग्रन्थों को कुछ अधिक दी जाय क्योंकि उनसे प्रकाशक भी अधिक लाभ उठाते हैं। उस रायल्टी में से आधी संग्रहकर्ता को मिले और आधी अनुपात से लेखकों को मिलती रहे। सरस्वती देवी के मन्दिर में उपासना का कुछ तो प्रसाद बेचारे लेखकों को भी मिलना चाहिए। आशा है कि लेखकगण संग्रहकर्ता और प्रकाशक इस विषय में सचेत रहेंगे।



भाग ८] आगरा—दिसम्बर १९४९ [अङ्क ६

साहित्य की परख

आलोचना के मान

(श्री शिवदानसिंह चौहान)

[१]

साहित्य या कला के मूल्यांकन के लिए एक वैज्ञानिक समीक्षा-शास्त्र और पद्धति के निर्माण का प्रश्न केवल साहित्यालोचकों के लिए ही नहीं, वरन् प्रत्येक पाठक, द्रष्टा या श्रोता के लिए प्रासंगिक और सारपूर्ण है। परन्तु वत्सराज भणौत ने अपने निबन्ध 'कला-समीक्षा और पूर्व-ग्रह'* में जो सापेक्षतामूलक स्थापना की है, उसे यदि सत्य और विश्वसनीय मानलें तो पाठक, द्रष्टा या श्रोता को निर्विकल्प भाव से पूर्वाग्रही (प्रेजुडिस्ड) होना चाहिए और उसे कला के समीक्षकों द्वारा निरूपित मान-मूल्यों से अवगत होने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः वत्सराज भणौत के अनुसार कला या साहित्य के सामान्य मान-मूल्य निर्धारित करने का कार्य आलोचक का भी नहीं है, प्रत्युत कलाकार, आलोचक, पाठक (द्रष्टा या श्रोता) इन सभी को अनिवार्यतः पूर्वाग्रही होना चाहिए, अतः यह ईप्सित नहीं होना चाहिए कि किसी कलाकृति में सन्निहित अनुभव की पूर्ण अनुभूति के लिए आलोचक अपनी समीक्षा द्वारा उस अनुभव की पुनर्दृष्टि करे और पाठक अपने व्यक्तिगत अनुभव की अपेक्षा में आलोचक द्वारा उद्घाटित कलाकृति के गूढ़ मन्तव्यों, सौन्दर्य-तत्वों और जीवन-सत्यों का चेतना-प्रेरक और स्वास्थ्यदायक अनुभव ग्रहण करे। मात्र सापेक्षतामूलक समालोचना-दृष्टि ऐसे ही एकांगी प्रवादों को जन्म देती है।

परन्तु 'पूर्वग्रह' साहित्य या कला के मूल्य का आधार नहीं बन सकता। साहित्य या कला मनुष्य की संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट सार-भार है। केवल इतना ही नहीं, युग-युगान्तर से व्यष्टि और समष्टि, आत्म और परिवृत्ति में जो मौलिक प्रगतिमूलक क्रिया-प्रतिक्रियात्मक संघर्ष अनवरत् चलता आया है और चलता जायगा और जिसके परिणाम-स्वरूप ही मनुष्य का सामाजिक जीवन वर्धमान है, और मनुष्य का पूर्ण आत्म-विकास सम्भाव्य बना है—इस महान संघर्ष का मनुष्य ने किस प्रकार सामना किया है, कैसे निरन्तर घटित होने वाले असामञ्जस्य और वैषम्य का विरोध करके उसने नित नूतन जीवनप्रद सन्तुलन प्राप्त किया है और करता जा रहा है—इस समस्त मानवीय

* देखिये, 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' भाग १।

कृतित्व और तज्जनित मानव मूल्यों के निर्माण का इतिहास, मनुष्य की समस्त विकासोन्मुखी सचेतन और अवचेतन प्रचेष्टा और परिणाम का विविध भाव, वर्ण, रूप, रस, गन्धमय अनुभव, कला और साहित्य में अपनी विशिष्ट मूर्तिमत्ता के साथ प्रतिबिम्बित है। निरपवाद रूप से व्यक्ति और समाज दोनों की भावी प्रगति के योग-क्षेम की दृष्टि से जैसे कला और साहित्य का नव-नव निर्माण प्रयोजनीय है, वैसे ही उसके व्यापक मानव-मूल्यों का निर्धारण भी उतना ही प्रयोजनीय है।

फ्रॉयड के मनस्तत्व विश्लेषण-शास्त्र की दृष्टि से 'संस्कृति और साहित्य' की समस्या पर विचार करने वाले अज्ञेय भी इस बात के समर्थक हैं कि मनुष्य की 'चेतना का संस्कार' करने के लिए 'एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण होना चाहिए। यद्यपि मनुष्य के भौतिक जीवन की उन्नति और यन्त्र-साधनों के अपरिसीमित विकास से चिंतित त्रस्त होकर वे एल्डुस हक्सले के 'नूतन रहस्यवाद' के रूप में 'चेतना का संस्कार' करना चाहते हैं, और 'संस्कृति की रक्षा' के लिए जिस 'आलोचक राष्ट्र का निर्माण' करना चाहते हैं, उसके निश्चित साध्य और साधन, उद्देश्य और कार्यक्रम का सिर-पैर अज्ञात है, परन्तु उनकी तर्क-प्रणाली और विचार-धारा चाहे कितनी निरर्थक और सारहीन क्यों न हो, उनका 'चेतना के संस्कार' का आग्रह कोरा आवेगपूर्ण उच्छ्वास नहीं है। वह व्यक्ति और समाज के एक मूलभूत असामञ्जस्य की ओर संकेत करता है, जिसका निराकरण करने की विधि, संभव है, अज्ञेय के अनुमान से कहीं अधिक व्यापक व्यक्ति-समाज की संयुक्त चेष्टा का आह्वान करेगी।

अतः आज कला या साहित्य के समीक्षक का दायित्व बहुत बढ़ गया है। प्रश्न केवल 'संस्कृति की रक्षा' का ही नहीं है, बल्कि प्रश्न नयी संस्कृति के निर्माण का भी है। भौतिक उन्नति और यन्त्र-साधनों के विकास को मनुष्य या मनुष्यत्व, आत्म या व्यक्तित्व के प्रतिपक्षी के रूप में देखना-गतवर्षों के भयंकर विध्वंस और नैतिक अधःपतन से चाहे उदारचेता चिन्तकों और दार्शनिकों के समस्त आशामय स्वप्न छिन्न-भिन्न क्यों न होगये हों—मनुष्य के अब तक के कृतित्व, उसकी रक्त-स्वेद बहाकर अर्जित सफलताओं को नकारना है और संस्कृति के वास्तविक प्रश्न से विमुख होना है। क्योंकि मनुष्य की भौतिक [वैज्ञानिक] उन्नति को मिटाकर संस्कृति की रक्षा या उसके निर्माण का प्रश्न हल नहीं किया जा सकता। 'नूतन रहस्यवाद' अपनी अन्तिम परिणति में 'अबुद्धिवाद' और 'अन्धविश्वास' का ही पर्याय बन जाता है, इतना तो साधारणतया अनुमेय है। वास्तव में संस्कृति का प्रश्न नये जनवादी समाज के निर्माण का प्रश्न है जिसमें केवल आर्थिक शोषण और विज्ञान और यंत्र-साधनों के मानव-संहारी प्रयोग [या दुरुपयोग] का बंद कराना ही चरम लक्ष्य नहीं है। अलंकारिक भाषा में हम कह सकते हैं कि आर्थिक-शोषण और साम्राज्यवाद को मिटाकर जो जनवादी समाज निर्मित होगा उसके समाजवादी आर्थिक संबंध उस पीठिका का कार्य करेंगे जिस पर नये मानव की मूर्ति का संस्थापन किया जायगा, अर्थात वह ऐसी संस्कृति होगी जो व्यक्ति के पूर्ण आत्म-विकास या आत्म-सिद्धि का सहज साधन-उपकरण बन सके और इस प्रकार व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन को समृद्ध बना सके। व्यक्ति की दृष्टि से नये जनवाद या समाजवाद का यही अन्तिम लक्ष्य है। हम आज संक्रान्ति-काल में रहते हों या अज्ञेय द्वारा निर्दिष्ट 'बढ़ते हुए संघर्ष के युग' में, इस सूक्ष्म विभेद से, अन्ततः, हमारी सांस्कृतिक समस्या में कोई मौलिक अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि यह 'बढ़ता हुआ संघर्ष' अहेतुक और निरुद्देश्य नहीं है। यदि इतना प्रत्यक्ष है तो यह भी स्पष्ट है कि आज का बढ़ता हुआ संघर्ष किसी विशिष्ट संक्रान्ति युग की परिकल्पना करके ही होरहा है। इससे वर्तमान और निकटवर्ती भविष्य की सांस्कृतिक समस्याएँ परस्पर सम्बद्ध हैं।

इस बात को और स्पष्ट करके यों कह सकते हैं कि आज के संघर्ष-युग से नये जनवाद या समाजवाद के निर्माण युग तक के अन्तरावकाश की सांस्कृतिक समस्याएं एक-सूत्र में बँधी हुई हैं। वर्तमान के संघर्ष में जनवादी शक्तियों को अपना समर्थन और सहयोग देने के अतिरिक्त प्रत्येक सृजनकर्त्ता और विशेषकर साहित्यकार और आलोचक के लिए यह काम उन मानव-मूल्यों के निरूपण और

समन्वय का है जो एक व्यापक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण (social aesthetic) का सूत्राधार बनसकें। व्यक्ति की चेतना के संस्कार, उसकी प्रतिभा के सर्वांगीण विकास और उसके व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए एक ऐसे व्यापक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण की अनिवार्य आवश्यकता है, अन्यथा नये आर्थिक-संबंधों का तात्पर्य मनुष्य की क्षुधा-काम की वृत्तियों को ऊपर-से-सन्तुष्ट करना ही समझा जायगा और समाज सूलतः आज की ही तरह असंस्कृत और हिंस्र बना रहेगा—व्यक्ति को आत्मा को परितोष और प्रेरणा न देसकेगा। इस वैज्ञानिक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण (Scientific Social aesthetic) का अवधारणा कला और साहित्य द्वारा निरूपित मानव-मूल्यों से ही हो सकेगी। अतः कला और साहित्य को जन-सुलभ बनाने वाली शिक्षण-नीति का प्रश्न भी इससे संबद्ध है, यह भी प्रत्यक्ष है। कला-समीक्षा का कार्य-क्षेत्र अब 'नीर-क्षीर विवेचन' तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। उसे कला के मूलोद्भव की प्रक्रिया की पड़-ताल करनी है कला और जीवन के परस्पर संबंध का निर्णय करना है, उसके सौन्दर्य-मूल्यों का निरूपण करना है और कला और साहित्य—इन विषयों की ऐसी शिक्षण नीति निर्दिष्ट करनी है कि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए उनमें व्यक्त मानव-मूल्य अनुभाव्य बन सकें जिससे प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र समाज के निर्माण-संघर्ष में स्वयं को भी मुक्त कर सके अर्थात् स्वयं अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास भी कर सके।

वर्तमान हिन्दी आलोचना का दृष्टिकोण क्या इतना व्यापक है?

प्रारंभ में ही यह बता देना आवश्यक है कि हिन्दी आलोचना नगण्य नहीं है। और न उसमें उच्चकोटि के आलोचकों का अभाव है। फिर भी अभी तक उसकी स्थिति विचित्र रही है। उसकी तुलना गवैयों की ऐसी मंडली से की जासकती है जो स्वर-सामंजस्य की अवहेलना करके 'अपनी डफली, अपना राग' अलापने में ही मस्त रहती हो। तात्पर्य यह है कि अभी तक कला-साहित्य के ऐसे सामान्य मान-मूल्य सर्व-स्वीकृत नहीं हो पाये हैं, जिन का प्रयोग मूल्यांकन करते समय अधिकांश आलोचक करते हों। परन्तु यदि देखा जाय तो ऐसी स्थिति हर भाषा के साहित्य में मिलेगी। यद्यपि इधर अंग्रेजी, अमरीकी और फरांसीसी साहित्य में ऐसी व्यापक समन्विति की ओर सचेत चेष्टा का आरंभ हो गया है हिन्दी में भी वर्तमान अराजकता से ऊब कर बाबू गुलाबराय, अज्ञेय और दो एक अन्य समालोचकों ने कई बार विभिन्न प्रवृत्तियों के समन्वय की मांग की है और इस दिशा में थोड़ा सा प्रयत्न भी किया है। परन्तु यह क्षेत्र अभी तक अछूता ही पड़ा है, क्योंकि समन्वय भी किसी वैज्ञानिक जीवन दर्शन के आधार पर ही किया जा सकता है। दुर्भाग्य से ऐसे जीवन-दर्शन की उपलब्धि इन महानुभावों को नहीं होसकी है।

[२]

हिन्दी आलोचना की जिन विभिन्न प्रवृत्तियों की ओर मैंने अभी संकेत किया है, उनको हम चार दृष्टि-साम्य-मूलक वर्गों या प्रवृत्तियों में बाँट सकते हैं। पहला वर्ग उन आचार्यों और अध्यापकों का है जो पुराने ढर्रे की शास्त्रीय आलोचना की लकीर अभी तक पीटते जारहे हैं। एक बड़ी सीमा तक आचार्य शुक्ल ने भी ऐसा ही किया। निस्संदेह उनकी गणना सदा युगप्रवर्तक आलोचक में की जायेगी। उन्होंने प्राचीन लक्षण ग्रन्थों की परंपरा को पुनः खोज निकाला और उसके आधार पर साहित्य सिद्धान्तों की सांगोपांग व्याख्या की। अपने आलोचन-सिद्धान्तों को आधुनिकता की पुट देने के लिए शुक्लजी ने प्रवृत्ति-निरूपक मनोविज्ञान [Faculty Psychology) का आश्रय लिया, परन्तु इसी से उनके आलोचना-सिद्धांतों की संकुचित सीमाएं भी निर्दिष्ट होगयीं। शुक्लजी द्वारा की गयी परिष्कृति के अनन्तर भी आधुनिक दृष्टि प्राप्त आलोचकों को यह स्वीकार नहीं होरहा कि आलोचना को केवल शब्द-शक्ति, रस, रीति, अलंकार की पद्धतियों तक ही सीमित रखा जाय। इसका मुख्य कारण यह है कि शुक्ल जी एक अवैज्ञानिक आस्थामूलक नीतिमत्ता और वर्णाश्रम धर्म की आदर्शवादिता की अपेक्षा में साहित्य-सिद्धान्तों की मीमांसा कर गये हैं। आधुनिक मनोविज्ञान (Psychology), मानव-शास्त्र (Anthropology) और

द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन (Dialectical Materialism) के कला-संबंधी अन्वेषणों-स्थापनाओं का उन्होंने सार ग्रहण नहीं किया।

इसके विपरीत, प्रत्येक मानव-क्रिया, भाव-दशा, और रुचि के मूल में एक एक स्थायी प्रेरक प्रवृत्ति को बिठाकर उन्होंने साहित्य की परिकल्पना को एक स्थिर (Static) विचारधारा में जकड़ दिया। वर्गीकरण, व्यक्त रूप-सौन्दर्य, रूढ़ि के निर्वाह और साम्प्रदायिक दर्शन के प्रति उनका विशेष आग्रह रहा। यहां तक कि वे अपने साधारणीकरण के सिद्धान्त द्वारा प्रत्येक अनुभव में अन्तर्भूत अथवा व्यक्त विशिष्ट और सामान्य, सापेक्ष और निरपेक्ष, सत्य और सौन्दर्य की द्वन्द्वात्मक अन्विति का आकलन करने का कोई व्यापक प्रतिमान स्थिर न कर सके। प्रवृत्ति और निवृत्ति, केवल इन दो परस्पर-विरोधी मूल वृत्तियों की यंत्रवत् कल्पना करके उन्होंने सत्-असत्, सुन्दर-असुन्दर धर्म-अधर्म के ढाँचों में मनुष्य के अनुभव और कर्म को रागात्मिका वृत्ति की मध्यस्थता से ढालने का मूलमंत्र खोज निकाला, और इससे एक का लोक-मंगलकारी, दूसरे का लोक-अमंगलकारी रूप निश्चित कर दिया। 'साधारणीकरण' और 'लोक-मंगल', शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित साहित्य के इन दोनों आदर्शों या लक्ष्यों की कल्पना अत्यंत संकुचित और अवास्तविक है। प्रचलित रूढ़ धारणाओं में प्रकट सत्याभास ही उनके आधार हैं, क्योंकि धार्मिक शब्दाडंबर को त्यागकर 'साधारणीकरण' का तात्पर्य यदि केवल साहित्य के प्रेषणीय गुण से है तो इस पर इतना जोर देना एक स्वयंसिद्धि को ही सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयत्न करना है, और विशेष करके तब जब कि प्रेषणीयता के आधार पर एकांगी-मूल्यांकन ही संभव है, अन्यथा द्विवेदी-काल का इतिवृत्तात्मक काव्य छायावाद के काव्य से श्रेष्ठ माना जाय और निराला की तुलना में सोहनलाल द्विवेदी को श्रेष्ठतर कवि घोषित किया जाय। साहित्य या कला, रचनाकार की भावनाओं का 'साधारणीकरण' ही नहीं करती, बल्कि वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करती है और यदि वास्तविकता संश्लिष्ट और जटिल है—जैसी कि वह सर्वदा से है—तो उसका प्रतिबिम्ब भी सीधी, समानान्तर रेखाओं से अंकित नहीं किया जा सकता। जो प्रत्यक्ष (obvious) और बोधगम्य है, वह कला या कविता नहीं हो सकती। कला इसी कारण एक सीमा तक दुरूह और जटिल अनुभव है और उसकी सार्थकता इसी में निहित है कि वह मनुष्य-मात्र की चेतना को अधिक संश्लिष्ट और समृद्ध बनाती है जिससे वास्तविकता के गूढ़ रहस्य उत्तरोत्तर स्पष्ट होते जाते हैं और मनुष्य सत्य के निकट पहुँचता जाता है। शुक्ल जी का 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त, इस दृष्टि से अत्यन्त सरल सिद्धान्त हैं, एकांगी और सत्य की छाया मात्र। इसी प्रकार यदि धर्म और अन्धविश्वास का आवरण हटाकर उनके 'लोक मंगल' के सिद्धान्त की परीक्षा करें तो एक वैज्ञानिक समाज का 'लोक मंगल' शुक्लजी की दृष्टि से अमंगल और अधर्म का पर्यायवाची न बन जायगा, इससे इन्कार कैसे किया जा सकता है। शब्दों की ध्वनि से हमारी आसक्ति नहीं है, और यदि 'लोक-मंगल' शब्द में अत्यन्त अबोध और पुनीत ध्वनि मिलती है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि शुक्लजी द्वारा की गयी उसकी व्याख्या एक त्रिकालवर्ती सत्य है। शुक्ल जी के स्थूल, भावुक और रूढ़िवादी सिद्धान्तों का अनुगमन करने वाले आचार्य और अध्यापक अब कला और साहित्य के मूलोद्गम, प्रयोजन और मूल्य इन सभी व्यापक प्रश्नों की अवहेलना करके, केवल वर्गीकरण को ही आलोचक धर्म की इतिकर्त्तव्यता मान बैठे हैं।

उनकी तर्क प्रणाली उन धर्मान्ध रूढ़िवादियों की कोटि की है जो किसी नये सत्य का विरोध करते समय कहते हैं 'हमारे यहां ऐसा नहीं है', और यदि नया सत्य अपनी आन्तरिक शक्ति के कारण सर्वमान्य हो गया है और उसका मानना आपद्धर्म बन गया है तो कहते हैं 'तभी तो हमारे यहाँ अमुक ने ऐसा कहा है'—पर दोनों अवस्थाओं में जिन्हें नया सत्य व्यावहारिक रूप से अमान्य ही होता है। 'लोक-मंगल' जैसे शब्द ऐसी ही अनयाचित परिस्थितियों में ढाल का काम देते हैं। इसमें किंचित आश्चर्य की बात नहीं कि स्वयं शुक्ल जी ने इस हठवादी तर्क-प्रणाली

को अपनाया था। प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार चौंसठ कलाओं में साहित्य या काव्य की गणना नहीं करायी गयी है। केवल इतनी सी बात भारतीय-अभारतीय का अवैज्ञानिक, भावनाजन्य भेद खड़ा करके उन्होंने साहित्य से कला का संयोग अनर्थहेतुक घोषित करके साहित्य-समीक्षा से उस के बहिष्कार का आदेश दिया था। और इतालवी दार्शनिक क्रोचे के सौन्दर्य-सिद्धान्तों की मनोनुकूल विकृति करके उन्होंने आई. ए. रिचार्ड्स जैसे मनोवैज्ञानिक समीक्षक की पुस्तकों में से पूर्व-प्रकरण से हटाये वाक्यों द्वारा भारतीयलाक्षणिक ग्रन्थों की स्थापनाओं और वर्गीकरण का पिष्टपेषण करवाया था। इस प्रकार अपने मत की प्रशस्ति करके उन्होंने अभिव्यंजनावाद, स्वछंदतावाद, प्रभाववाद, मूर्तिविधानवाद, परावस्तुवाद आदि साहित्य-कला की आधुनिक प्रवृत्तियों को प्रवाद और वितंडावाद कहकर उनकी निंदा की थी। परंतु उनकी तर्क-शून्यता इसी बात से सिद्ध है कि उन्हें आर्य-समाजियों की तरह भारतीय-अभारतीय के भेद को वैज्ञानिक बहस का निर्णेता स्वीकार करना पड़ा। आइन्स्टीन का 'सापेक्षतावाद' का सिद्धान्त अभारतीय है अतः असत्य और अग्राह्य है—ऐसा कहने वाले व्यक्ति में आत्म-प्रवंचना की कितनी शक्ति न होनी चाहिए। कविता भारतीय-अभारतीय हो सकती है, परन्तु भौतिक-विज्ञान, रसायन-शास्त्र बीजगणित या समाज-विज्ञान और साहित्यालोचना को किसी देश की भौगोलिक सीमा में नहीं बांधा जा सकता। अधिक से अधिक इन विज्ञानों का संबंध सांस्कृतिक-युगों से जोड़ा जा सकता है, परन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में ऐसे युगों का युगान्तरकारी चित्र कभी नहीं बन सका। फलतः अपनी तर्क-शून्यता और दुराग्रह को ढाँकने के लिए उन्होंने अनपेक्षित पाण्डित्य-प्रदर्शन का रूपक रचा।

शुक्ल जी के अनुगामी, पाण्डित्य का इतना विशाल घटाटोप खड़ा करने में अपने को असमर्थ पाकर और यह देखकर कि प्राचीन आचार्यों ने शब्दशक्ति, रस, रीति, अलंकार के भेदोपभेदों की संख्या पहले ही समाप्त करदी है, कभी शुक्लजी के ही तर्कों की आवृत्ति करते हैं, कभी आधुनिक रचनाओं में इन भेदोपभेदों के दृष्टान्त सूचित करके मूल्यांकन के प्रश्न से छुट्टी पा लेते हैं, तो कभी साहित्य के आधुनिक रूप-विधानों—जैसे उपन्यास, कहानी और गीत-काव्य का क्षेत्र सपाट पाकर उन्हें भी कोष्ठबद्ध करने लगते हैं। अर्थात् उनका वर्गीकरण करने में संलग्न हो जाते हैं। अध्यापक श्रीकृष्णलाल की 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास' नाम की पुस्तक इस प्रवृत्ति का साधारण उदाहरण है। उन्होंने गीति-काव्य के पाँच भेद किये हैं—व्यंग्य गीति, पत्र-गीति, शोक-गीति, वर्ग भावना से प्रेरित गीत और आध्यान्तरित-गीति; और फिर इनके भी उपभेद कर डाले हैं। इसी प्रकार उपन्यासों के भी एक दर्जन भेद आप को यहाँ मिलेंगे। प्रत्येक नयी रचना अपनी शैली गत विशेषता के कारण इन अध्यापकों को एक नये भेद का खाना खोलने के लिए विवश कर देती है। फिर भी, कविता उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध आदि के तीन या तेरह भेद होते हैं—उनके इस 'होते हैं' के निश्चयात्मक स्वर में शिथिलता नहीं आती। साहित्य के गंभीर मर्मज्ञ पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और यदाकदा मनोविज्ञान से प्रेरणा लेने वाले डा० रामकुमार वर्मा तक इस मनोवृत्ति से छुटकारा नहीं पासके हैं।

[३]

साहित्यालोचन की दूसरी विचारधारा आधुनिक मनोविज्ञान—वस्तुतः फ्रायड-एडलर-युंग के मनोविश्लेषण-शास्त्र से प्रभावित है। अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी, इस प्रसङ्ग में केवल ये दो नाम ही उल्लेखनीय हैं। दोनों उपन्यासकार कवि, और आलोचक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अज्ञेय ने अपने निबन्धों में कला के मूल्याङ्कन का प्रश्न पूरी गम्भीरता के साथ उठाया है। और जो लोग मनोविज्ञान की आधुनिक प्रवृत्तियों से अनभिज्ञ हैं, उन्हें इन निबन्धों में नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी मिलेगा। मूल्याङ्कन करते समय कला-सृजन में व्यक्ति के अहं और अवचेतन का और समाज का परिस्थिति या परिवृत्ति का क्या महत्व है? प्रश्नों का निर्देश करके उन्होंने कला-साहित्य विषयक रूढ धारणाओं को नयी अन्तर्दृष्टि दी है। परन्तु इन तत्वों की उन्होंने जो व्याख्या की है वह अत्यन्त एकांगी और यन्त्रवत् है। वैसे उनके समूचे दृष्टिकोण में एक आन्तरिक विसंगति है जो एक समन्वित

दृष्टिकोण के अभाव की सूचक है।* एक ओर वे कलाकार और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति को ऐसा 'विद्रोहसत्व' मानते हैं जो पुरानी लीक पर न चलकर अपनी नयी लीक बनाता है; अपने व्यक्तित्व की पूर्ण स्वीकृति पाने के लिए अपनी परम्परा स्वयं गढ़ता है; दूसरी ओर, रूढ़ि के अर्थ को परिवर्धित करके वे कलाकार से यह अपेक्षा भी रखते हैं कि वह रूढ़ि के प्रति अपना विद्रोह प्रकट करने के लिए रेल के ऐंजिन की तरह अपने को परम्परा के आगे जोड़ दे। एक स्थान पर अंग्रेजी कवि और समालोचक टी० एस० ईलियट के निबन्ध (The Sacred Wood) में से 'कविता व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना नहीं, बल्कि व्यक्तित्व से मोक्ष है', इस वाक्य को उद्धृत करके कलाकार से 'निर्व्यक्तिकता' की माँग करते हैं तो दूसरे स्थान पर एक 'बृहत्तर व्यक्तित्व' के निर्माण का प्रश्न भी उठाते हैं। उनके दृष्टिकोण में ऐसी विसंगतियों की निरी भरमार है। और यह भी सन्दिग्ध है कि ईलियट, एरलड, फ्रायड, हक्सले, हर्बर्ट रीड आदि के मतों को ज्यों का त्यों प्रतिपादन करते समय वे उनके परस्पर सम्बन्ध को या उनके पूरे अर्थारोप को भी समझते हैं।

उदाहरण के लिए कला की परिभाषा के रूप में यह सूत्र बना कर कि, 'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह—है' जब वे इस स्थापना को सिद्ध करने के लिए सांस्कृतिक प्रागजीवन में कला को जन्म देने वाले प्रथम पुरुष की, जो 'किसी कारण कमजोर प्राणी है' और सामाजिक कार्य में भाग लेने में असमर्थ है, कल्पना करते हैं तो यह कल्पना आधुनिक मानवशास्त्र (Anthropology) की गवेषणाओं के प्रतिकूल यान्त्रिकता से आबद्ध और शिशुवत् लगती है। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि कला कुछ ऐसे बीमार, पंगु, विकलांग और संभव है विक्षिप्त व्यक्तियों की ही सृष्टि है जो अपने असामाजिक ठलुआ जीवन के अभाव की पूर्ति के लिए अपनी कुतूहल और कौतुक वृत्ति और हीन-भावना से प्रेरित होकर कुछ टेढ़ी-मेढ़ी आकृतियाँ खींचते रहते हैं या शब्दों का इन्द्रजाल बुनते रहते हैं। यही कला कृतियाँ बन जाती हैं। उनमें दूसरों को सौन्दर्य-बोध होने लगता है और इस प्रकार उन 'बेचारे कलाकारों' का व्यक्तित्व या उनकी सत्ता प्रमाणित हो जाती है।

अज्ञेय की इस परिभाषा से अनेक विचित्र परिणाम निकलते हैं। कला यदि 'सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न है'—तो निश्चय ही कला समाज पर बाहर से (प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों द्वारा ही सही) आरोपित वस्तु है, स्वयं सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं से, सामाजिक जीवन की सूक्ष्मतर सौन्दर्यमयी जीवनानुभूति, मनुष्यमात्र की उत्तरोत्तर मुक्त और संस्कृत जीवन निर्माण करने की आकांक्षा से प्रेरित व्यक्ति की प्रतिक्रिया से उत्पन्न वस्तु नहीं है। ऐसी स्थिति में कला या साहित्य की प्रवृत्तियों, विचारधाराओं, मान-मूल्यों का जिक्र ही निरर्थक हो जाता है। फिर किस चमत्कारी तिलिस्म के घटित होने से कलाकारनामधारी विक्षिप्त जन्तु की कौतुक-कृतियों में पाठक या द्रष्टा को सौन्दर्य (व्यवस्था, नियम, उपयोगिता, सहानुभूति, प्रेरणा) का बोध होने लगता है, यह एक गुप्त रहस्य है। निस्सन्देह, अज्ञेय की स्थापना हास्यास्पद है।

इसी प्रकार ईलियट के इस उद्धरण में कि 'कवि एक विशेष माध्यम को व्यक्त करता है, व्यक्तित्व को नहीं'; 'माध्यम' का अर्थ 'कवि मानस' नहीं लगाया जा सकता जैसा कि अज्ञेय ने किया है, बल्कि हर्बर्ट रीड के अनुसार उसका आशय शब्द-ध्वनि सम्बन्धी स्नायविक संवेदनीयता से ही लिया जा सकता है, अन्यथा यह स्थापना निरर्थक है। इन संगत-असंगत उक्तियों को छोड़ कर यदि अज्ञेय के कला-मूल्य निरूपक जीवन-दर्शन की परीक्षा करें तो उसकी एकांगिता और यन्त्रवत्ता और भी मुखर लगती है।

वस्तुतः उनके निकट कला का मूल्य उसके चमत्कार में है। चमत्कार उसका साध्य भी है। कला के मानव-मूल्य या उसकी सामाजिक उपयोगिता आदि प्रश्न केवल प्रासंगिक महत्व रखते हैं। चमत्कार-सृजन हो जाने के पश्चात् समाज उससे जैसी प्रेरणा चाहे लेने को स्वतन्त्र है। [यदि नात्सियों को यह फार्मूला ज्ञात होता तो कलाकारों के

* देखिए अज्ञेय का निबन्ध-संग्रह 'त्रिशंकु'।

चमत्कार-विधान से वे भी लाभ उठाते; उनकी कलाकृतियों की होली जलाने और जीवित कलाकारों को निर्वासित करने या प्राणदण्ड देने की क्या आवश्यकता थी ?] उसके पूर्व कला या कलाकार से प्रगतिशील अथवा नैतिक होने न होने का आग्रह करना अथवा उनसे यह अपेक्षा रखना कि वे कला में वास्तविकता का गत्यात्मक प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की चेष्टा करें, अथवा केवल इतना सोचना भी कि कलाकार स्वभावतः ऐसा करता है, कला को अनवांछित बाध्यताओं और पूर्वधारणाओं में बाँध कर उससे 'ऐच्छिक प्रेरणा' पाने का दुराग्रह करना है। आलोचक का कर्तव्य केवल इतना है कि वह "पैर की छाप" पढ़ कर बताये कि कलाकार नामधारी जन्तु किस दिशा की ओर निकल गया। इस प्रकार अज्ञेय के अनुसार 'आलोचना' न वैज्ञानिक क्रिया है, न सृजनात्मक। अपनी विसंगतियों के कारण अज्ञेय, अन्ततोगत्वा, उसी मात्र सापेक्षता मूलक सौन्दर्य-दृष्टि पर आकर ठहर जाते हैं, जिससे आगे बढ़ कर, चाहे मनोविश्लेषण शास्त्र के एकांगी दृष्टिकोण से ही क्यों न हो, वे कला के मान-मूल्य निर्धारित करने का बीड़ा उठाते हैं और केवल "पैर की छाप" पढ़ कर बूझने वाले 'लाल बुझक्कड़' ही नहीं बने रहना चाहते।

इस स्थिति में पड़ कर प्रगतिवाद का विरोध करके 'नूतन रहस्यवाद' की ओर आकृष्ट होना; कला की परख के लिए एक प्रबुद्ध अभिजातवर्ग की कल्पना करना; और यदि कलाकार साधन हीन होने के कारण उपजीवी नहीं बन सकता तो 'जीने के लिए' उसे पत्र-जगत या राजनीति में प्रविष्ट होकर अपधर्म की अवसरवादिता स्वीकार करके अपने व्यक्तित्व का एक अंश बेचने के लिए प्रोत्साहित करना, यह सब अज्ञेय के लिए स्वाभाविक हो जाता है। 'सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति' कलाकार को सामाजिक प्राणी के अधिकारों से वंचित रखती है, और वह केवल उपजीवी या अवसरवादी ही हो सकता है। एक कलाकार के रूप में उसे जीने का अधिकार है, और यदि इस अधिकार का अपहरण किया जा चुका है या किया जा रहा है तो उसे प्राप्त करने के लिए लड़ना उसका कर्तव्य है, अज्ञेय की विचारधारा इस कठोर सत्य की शिक्षा से टक्कर नहीं लेना चाहती। वे पौराणिक 'त्रिशंकु' ही बने रहना चाहते हैं, और कलाकार और समाज के बीच किसी सक्रिय सामंजस्य का अनुमान नहीं कर पाते।

उनकी विचार-शैली यह है कि पहले वे किसी पाश्चात्य लेखक से ली गयी उक्ति का एक सूत्र के रूप में उपस्थित करते हैं, फिर उसकी मनगढ़न्त व्याख्या जोड़ते हैं। उनका यह अनुमान है कि उनके ये सूत्र पाठकों को 'चौंका' करके सतर्क बना देते हैं। कदाचित् अपने विलक्षण और अभूतपूर्व चमत्कार के कारण! यह बात सच न हो, परन्तु उनका यह दिखावटी भय वस्तुतः सच है कि उनकी स्थापनाओं में 'अतिव्याप्ति' दोष रहता है। यदि ऐसा नहीं है तो इस विनयशील के उपक्रम को क्या आत्मश्लाघा की ही प्रच्छन्न व्यंजना नहीं कहेंगे ?

अज्ञेय और उनकी विचारधारा के आलोचक हिन्दी में 'फूहड़ अथवा कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' (Vulgar Psychology] का प्रतिपादन कर रहे हैं। 'फूहड़ या कुत्सित मनोवैज्ञानिता' से मेरा तात्पर्य उस प्रवृत्ति से है जो मनोविज्ञान की मान्यताओं को साहित्य पर ज्यों का त्यों घटित करती है। इसका परिणाम यह होता है कि इससे साहित्य का मूल्य मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के दृष्टान्त रूप में ही अवशेष रह जाता है। और साहित्य या कला अपनी मानव-मूल्य निरूपिणी इयत्ता खो देती है। अज्ञेय के अनुसार जिस 'मन' से साहित्य उद्भूत होता है उसकी धातु [Quality] की 'परख' करना आलोचक का प्रमुख कर्तव्य है। परन्तु यह कार्य एक मनोवैज्ञानिक का है आलोचक का नहीं। आलोचक अधिक से अधिक कला की 'सृजनात्मक प्रक्रिया' [Creative Process] का अध्ययन-निर्धारण करता है, और यह कार्य कोरा मनोवैज्ञानिक नहीं है।

इलाचन्द्र जोशी इस 'फूहड़ या कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' को पराकाष्ठा तक पहुँचाने में कटिबद्ध दीखते हैं। उनके सारे उपन्यासों में, विशेषकर 'प्रेत और छाया' में इस प्रवृत्ति की अश्लील झाँकी देखने को मिलती है। इलाचन्द्र जोशी में अज्ञेय के समान एक सुसंस्कृत कला-मर्मज्ञ का आत्म-संयम और परिष्कार नहीं है। अतः वे प्रगतिवाद के विरुद्ध

जिस उतावलेपन के साथ अपने 'अन्तर्प्रगतिवाद' (?) का प्रचार कर रहे हैं, वह साहित्य में मन-विश्लेषकों द्वारा सिद्ध 'अवचेतन' मन में स्थित काम और हिंसा सम्बन्धी पशु-प्रवृत्तियों की नग्न और अनियंत्रित अभिव्यंजना के आग्रह के अतिरिक्त और कोई सौन्दर्य-मूल्य (!!) नहीं रखता।

क्रमशः

नोट—साहित्य की परख की कसौटियाँ भिन्न-भिन्न हैं। लेखक ने अपनी कसौटी का संक्षिप्त परिचय देकर दो प्रमुख स्कूलों के प्रतिनिधि आलोचकों अर्थात् आचार्य शुक्लजी तथा श्री अज्ञेयजी की समीक्षा की है। लेखक के ही शब्दों में उसका दृष्टिकोण इस प्रकार है—'अतः आज कला या साहित्य के समीक्षक का दायित्व बहुत बढ़ गया है, प्रश्न केवल संस्कृति की रक्षा का ही नहीं बल्कि प्रश्न नई संस्कृति के निर्माण का भी है। भौतिक उन्नति या यन्त्र साधनों के विकास को मनुष्य या मनुष्यत्व के प्रतिपक्षी के रूप में देखना मनुष्य के अब तक के कृतित्व, उसके रक्त स्वेद बहाकर उसकी अर्जित सफलताओं को नकारना है क्योंकि मनुष्य को भौतिक (वैज्ञानिक) उन्नति को मिटाकर संस्कृति की रक्षा या उसके निर्माण का प्रश्न हल नहीं हो सकता।' इस भौतिक उन्नति में विस्फोटकों और कम से कम एटम बम्ब को (चाहे एटोमिक इनर्जी को न करते) अपवाद कर देते तो अच्छा होता। हम को हर्ष है कि लेखक ने सौन्दर्य के मूल्यों का भी उल्लेख किया है (चाहे एटम बम्ब की भौतिक उन्नति के साथ उनका समन्वय हो सके।) 'कला-समीक्षा का कार्यक्षेत्र अब 'नीर-क्षीर-विवेचन' नहीं रखा जा सकता। उसे कला के मूलोद्भव की प्रक्रिया की पड़ताल करनी है, उसके सौन्दर्य मूल्यों का निरूपण करना है। और कला और साहित्य इन विषयों की ऐसी शिक्षण नीति निर्दिष्ट करनी है कि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए उनके व्यक्त मानव मूल्य अनुभाव्य बन सकें, जिससे प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र-समाज के निर्माण-संघर्ष में स्वयं को भी युक्त कर सके अर्थात् स्वयं अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। हम यह चाहेंगे कि चौहानजी साम्यवादी समाज में रुचि और स्वभाव के वैचित्र्य के साथ व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की सम्भावना और बिना मानव मूल्यों के मानदण्ड को कुछ नीचा किये प्रत्येक विद्यार्थी के लिए उनको अनुभाव्य बनाने के व्यावहारिक पक्ष पर भी प्रकाश डाल दें। आदर्श बहुत अच्छा है।

यद्यपि मैं शुक्लजी के साहित्य और कला के विच्छेद के पक्ष में नहीं हूँ। (मैंने तो अपने सिद्धान्त और अध्ययन में यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि भारत में भी इनका विच्छेद नहीं रहा है) और यह भी मान सकता हूँ कि उनका लोक-मङ्गल का बोध वर्णभेद पर अवलम्बित होने से कुछ संकुचित था (वर्णभेद के प्रतिपादन में उनका असली मतलब यह था कि समाज में वैयक्तिक विच्छृंखलता नहीं चल सकती है), फिर भी यह मुक्तकण्ठ से मानना पड़ेगा कि इस युग में वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने कोरे शाब्दिक चमत्कार और छायावाद के वायवी सौन्दर्य के खिलाफ आवाज उठाकर प्रगतिवाद के लिए रास्ता साफ किया। और मूल्यों की ओर ध्यान आकर्षित किया। अज्ञेयजी की सफाई वे खुद दे दें तो अच्छा होगा। हमको इस लेख के आगे के अंश में प्रगतिवाद की कसौटी का प्रामाणिक रूप मालूम हो सकेगा इसलिए इस लेख का हम हृदय से स्वागत करते हैं।

—सम्पादक

हिन्दी के क्रियापदों का मूल

[लेखक—श्री सत्येन्द्र]

[भाषा में संज्ञाएँ नो दूसरी भाषाओं से भी आ सकती हैं। हिन्दी में तो संस्कृत की बहुत-सी संज्ञाएँ अपने तत्समरूप में व्यवहृत होती हैं। क्रियाएँ भाषा की निजी सम्पत्ति होती हैं। इस दृष्टि से क्रियाओं का विशेष महत्व है। लेखक ने दिखलाया है कि हिन्दी की क्रियाएँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के मूलस्रोतों से आकर किस प्रकार हिन्दी की सम्पत्ति बनीं। —सम्पादक]

किसी भाषा का भेद उसके व्याकरण पर आश्रित होता है, और व्याकरण में सबसे अधिक प्राधान्य क्रियाओं का है। वही विधान करता है—उसी की विशेषता भाषा की विशेषता है : Grierson महोदय लिखते हैं—

The differentiation of a language does not necessarily depend on non-inter communicability with another form of speech. There are also other powerful factors to be considered, if we are to look at the subject from a scientific point of view. First and foremost, there is what I have already referred to,—grammatical structure.

इसी दृष्टि से किसी भाषा की विशेषता समझने के लिए हमें उसकी क्रियाओं का अध्ययन करना आवश्यक है।

हिन्दी में, विशेषतः पुरानी हिन्दी में, क्रियाओं के कुछ ऐसे रूप मिलते हैं जो उसने अपनी जननी से पाये हैं, इसके अतिरिक्त उसने कुछ अपने रूप भी बना रक्खे हैं। हम पहले क्रिया के उन रूपों पर विचार करेंगे जो उसने प्राकृत अथवा अपभ्रंश से लेकर उन्हें उसी प्रकार, केवल ध्वन्यात्मक परिवर्तन करके, अपना बनाये रखा है।

वर्तमान काल—

प्राकृत में जो वर्त्तमान काल था वह हिन्दी में Potential अर्थवाला होगया है, वर्तमान काल की अभिव्यक्ति के लिए तो substantive verb के रूप को पुराने के साथ जोड़ना पड़ता है जैसे, 'मैं करों हौं'।

अब हिन्दी में वर्त्तमान काल के रूप निम्न प्रकार हैं :

मैं करूं	हम करें
तू करे	तुम करो
वह करे	वे करें

इनमें मध्यम और प्रथम (अन्य) पुरुष के रूप सीधे अपभ्रंश से आये हैं। वहाँ

म० ए० व०—करहि	म० व० व०—करहु
अ० ए० व०—करहि	अ० व० व०—करहिं

होता है। 'ह' के लोप हो जाने से करइ, -उ, -इ, -ईं रह जाते हैं जिनके समीकरण द्वारा करे, करो, करे, करें रूप बन जाते हैं। उत्तम पुरुष एक वचन का करूं अपभ्रंश के 'करउं' से आया है। पर इसके बहुवचन 'करें' 'एं' सीधा अपभ्रंश से नहीं आया। भाण्डारकर कहते हैं :

The एं of the Hindi 1st per. pl. is brought over from the 3rd person and this transference was facilitated by the nasal of the original termination; or since in the Ap. both मि and उं exist, when in a later stage of the language the latter was appropriated and fixed for the sing., the former was adopted for the pl. and changed to इं which became एं by amalgamation.

फिर भी पुराने अपभ्रंश का 'वर्त्तमान काल' पुराने हिन्दी कवियों में मिलता है : यथा :

अन्य० एक०—

शंभु गिरा पुनि मृषा न होई। शिव सर्वज्ञ जान सब कोई

होई = है ; जान = जानता है।

निशिचर एक सिंधुमँह रहई। करि माया नभ के खग गहई

रहई = रहता है ; गहई = पकड़ता है।

अन्य० बहु०—

संत हंस गुण गहहिं पै परिहरि वारि विकार।

गहहिं = ग्रहण करते हैं।

नारद सिख जु सुनहिं नरनारी। अवसि भवन तजि होहिं भिखारी

सुनहिं = सुनते हैं; होहिं = हो जाते हैं।

मध्यम० बहु०—

करहु कवन कारण तप भारी

करहु = करते हो।

उत्तम पु० एक०—

नारद वचन न मैं परिहरऊँ। बसौ भवन उजरो नहि डरऊँ

परिहरऊं = छोड़ती हूँ; डरऊं = डरती हूँ।

उत्तम पु० बहु०—

तात सुनहु सादर मन लाई। कहहुँ राम की कथा सहाई॥

कहहुँ = कहता हूँ।

पुराना मध्यम पुरुष एक वचन का 'सि' वाला रूप भी मिलता है:

भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराइ।
हरष समय बिसमय करसि कारन मोहि सुनाइ॥

करसि = करती है।

'सि' से अन्त होने वाले मध्यम पुरुष एक वचन का तुलसीदासजी ने बहुत प्रयोग किया है।

पुरानी हिन्दी में आत्मनेपद भी मिलते हैं:

देखे जहँ तहँ रघुपति

देखे = sees

जो अब करौं सती सन प्रीती।
मिटै भक्ति-पथ होइ अनीती॥

मिटै = मिटता है।

चले बसह चढ़ि

चले = goes.

'विधि' 'Imperative mood'

हिन्दी में एक वचन की विधि 'कर' है और बहु वचन की 'करो' जो कि अपभ्रंश के 'करहु' से उद्भूत है। यद्यपि पुरानी हिन्दी में तो उत्तम पुरुष और प्रथम पुरुष के विधि के रूप भी मिलते हैं जो नीचे के कुछ उदाहरणों से विदित हो जायँगे, फिर भी आधुनिक हिन्दी में केवल मध्यम पुरुष की 'विधि' रह गयी है।

मध्यम पुरुष एक वचन पुरानी हिन्दी का रूप:

प्रभु हनुमन्तहि कहा बुझाई
धरि बटुरूप अवधपुर जाई

विधि—जाइ यह 'इ' अपभ्रंश से आई है।

मध्यम पुरुष बहुवचनः—

पारवती पहँ जाइ तुम प्रेम परीक्षा लेहु।

विधि—लेहु

प्रथम पुरुष एकवचन 'ओ' अथवा 'औ' से समाप्त होता है:

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोइ

हरौ

करौ अनुग्रह सोइ

करौ

प्रथम पुरुष बहुवचन के रूप में 'हु' होता है: यह रूप हेम चन्द्र के दिए हुए अपभ्रंश के उदाहरणों में भी मिलता है। इसमें 'ह' केवल एक वचन से भेद समझाने के लिए रखा गया है:

चरण कमल बन्दौं सब केरे
पुरवहु सकल मनोरथ मेरे

उत्तम पुरुष एक० की विधि में और वर्त्तमान काल में कोई अन्तर नहीं, अतः उनका भेद करना कठिन ही है, नीचे का विन्यास कुछ-कुछ उत्तमपुरुष की 'विधि' क्रिया का प्रयोग बतलाता है:

चली सती शिव आयसु पाई
करहि विचार करौं का माई।

हिन्दी में मध्यपुरुष का विधि का एक और भी रूप है। यह ई कारान्त और ऊ कारान्त धातुओं में 'जे' और 'जो' के साथ तथा अन्य में इये और इयो के साथ मिलते हैं

'जे', 'जो', 'इये' और 'इयो' वाले आज्ञा और विधि के रूप की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भाण्डारकर लिखते हैं:

(a) These forms have been traced by Dr. Trump to the Pr. base in इज्ज used in the Present. Imperative and Future,

(b) by Lassen from the Present and

(c) by me from the Potential., and

so far as the form in the S. and G. is concerned there is used no objection. But these forms are used in the vernaculars when respect for the person spoken to is intended and the potential as distinguished from the Imperative is by no means more respectful in Skr. The H. forms are not assigned each to each number, but both of them are used in the sing. or pl. and its 'य' can by no means be derived from 'ज'; for though the contrary process, namely, the changing of य to ज is common there is, so far as I am aware, no single well established instance of the other ..... अन्ततः वह इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि·············
.... the most respectful construction is the Passive as it does not point to the agent at all, but to the thing done by him. Thus the 'ज' in these forms is from the 'य' of the passive and the Hindi ईय form ईअ, which is the other corruption of this termination in Prakrit
फिर

The agent may, if the forms are passive, be any person and any number since it does not agree with the verb: and this explains the Hindi usage

इस इज्ज, इज्जा के सम्बन्ध में रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—

"खड़ी बोली में कीजिए, दीजिए, करिए, धरिए आदि रूप आज्ञा और विधि के हैं। इज्ज और इज्जा प्राकृत में भी मिलते हैं, जैसे—प्रा० पढ़िजहे पढीयहि=हिं० पढ़ीजै, पढ़िये। ब्रजभाषा में आज्ञा और विधि के अतिरिक्त वर्तमान और भविष्यत में भी चाहे कोई पुरुष हो इनका प्रयोग मिलता है। यह स्वच्छन्दता प्राकृत में भी थी। हेमचन्द्र ने (३-१७८) 'हो' धातु तथा और धातुओं में भी सब कालों के लिए इन रूपों का प्रयोग लिखा है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(क)—पुंज कुंजर शुभ्र स्यंदन,
शोभिजै सुठि सूर। —केशव

(ख)—रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस,
बिसास में यों बिष घोरिये जू।
—घनानन्द

(ग)—जो कछु है सुख संपति सौंज सो,
नैसुक ही हँसि देन में पैये।
—घनानन्द

'ए' निकाल कर और वर्तमान का चिन्ह 'त' लगा कर भी इसका प्रयोग हुआ है—

कहा चतुराई ठानियत प्राणप्यारी,
तेरो मान जानियत रूखे मुँह मुसकान सों।
—मतिराम

उत्तम पुरुष के साथ संभाव्य भविष्यत काल का उदाहरण—

(क)—ज्ञान निराश कहा लै कीजै? —सूर

(ख)—नेकु निहारे कलंक लगै,
यहि गाँव बसे कहु कैसेक जीजै।
है बनमाल हिये लगिये,
अरु है मुरली अधरारस पीजै॥
—मतिराम

इस प्रकार शुक्लजी का मत लासेँ (Lassen) महोदय के मत से मिलता है, जिन्होंने Present, Imperative and Future में प्रयोग में आने वाले 'इज्ज' से हिन्दी की इए, इआ और जे, जो की व्युत्पत्ति मानी है। वास्तव में यह सन्तोषप्रद नहीं। कारण कि 'ज' का 'य' हो जाना ध्वन्यात्मक विकार के किसी भी नियम के अनुकूल नहीं।

भविष्यतकाल (The Future)—

ब्रजभाषा में भविष्यतकाल के ये रूप हैं—

	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	करिहौं	करिहैं
म० पु०	करिहै	करिहौ
अ० पु०	करिहै	करिहैं

ये रूप वास्तव में प्राकृत से आये हैं।

प्राकृत में संस्कृत का स्य 'स्स' हो जाता है वह 'स' शौरसेनी में होकर ब्रज में 'ह' रह जाता है। प्राकृत में भविष्यतकाल के रूप ये हैं—

१ पुच्छिस्सम (अ० मा०—पुच्छिस्सामि)—पुच्छिस्सामो

२ पुच्छिस्ससि (म०, अ० मा०—पुच्छिहिसि,—पुच्छिस्सध (म० पुच्छिस्सह)

३ पुच्छिस्सदि, (म० पुच्छिस्सई या पुच्छिहिइ)—पुच्छिस्सन्ति (अ०-मा० पुच्छिहिन्ति)

अब हिन्दी में पूछना क्रिया के भविष्यत रूप—

पूछिहौं	पूछिहैं
पूछिहै	पूछिहो
पूछिहै	पूछिहैं

होंगे।

ये रूप स्पष्ट स्स से 'ह' बन कर हुए हैं। भाण्डारकर कहते हैं—From the Skr. downward the terminations of the present in each of the languages are appended, as formerly observed to this tense. गुजराती में उत्तम पुरुष के भविष्यत के रूप इसके अनुकूल नहीं होते परन्तु हिन्दी में ऐसा नहीं।

Here in the 1st prs. sing. we have the औं of pres. Braj as in करौं, unlike G. and in conformity with the ancient practice........also observe that the old augment 'इ' is preserved. यह रूप प्राकृत से "ह" वाले रूपों से सीधे नहीं आये क्योंकि वहाँ 'ह' के स्थान पर 'हि' है, जो ऊपर के प्राकृत अवतरण से स्पष्ट हो सकता है। यह तो अपभ्रंश में 'स' हो जाने पर 'ह' हुआ है।

इस पुराने भविष्य के रूप तुलसीदासजी की रामायण में मिलते हैं।

अन्य पु० एक ब० पारवती जिन निर्मयउ सोइ करिहहिं कल्यान

करिहहिं = करेंगे।

अ० पु० ब० छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई।
सुनिहहिं बाल बचन मन लाई।

म० पु० ब० हंसिहहु सुनि हमारि जड़ताई।

उपरोक्त उदाहरणों में तो अपभ्रंश वर्तमान का प्रत्यय लगाया गया है। यहाँ ब्रज का रूप ही है:—

उ० पु० ब० तव तव बदन पैठिहौं आई।
पैठिहौं—बैठूंगा, घुसूंगा।

अ० पु० ब० ममकृत सेतु जो दरशन करिहैं।
करिहैं = करेंगे।

Mr. Beams ने भविष्यत का यह रूप संस्कृत के चलितास्मि-मि आदि के periphrastic future से माना है। परन्तु यह ठीक नहीं, इसके दो कारण हैं।

१—यह Periphrastic Future संस्कृत में बहुत कम काम में आता है और पाली भी इसकी बिल्कुल अवहेलना करती है।

२—यदि भविष्यत Periphrastic Future उत्पन्न हुए होते तो अन्यपुरुष के लिए चलिआ—चलिया तथा चलियार रूप होने चाहिए। परन्तु तुलसीदास में पुराना रूप 'चलिहहिं' है।

अतः Beams की व्युत्पत्ति ठीक नहीं।

भूतकाल—

सभी देशी भाषाओं में भूतकाल की अभिव्यक्ति भूत कृदन्त से होती है। यही दशा प्राकृत की भी है। उसमें भी संस्कृत की भूतकालिक क्रियाएँ लुप्त हो चुकी थीं, यों एक-आध उदाहरण मिल गया तो क्या हुआ।

पुरानी भाषाओं में यह भूत कृदन्त सकर्मक क्रिया होने की दशाओं में "कर्मणि प्रयोग" से काम आता था और जब क्रिया अकर्मक होती थी तब 'कर्त्तरि' की तरह प्रयोग किया जाता था। आजकल की देशी भाषाओं में यही नियम काम में आता दिखाई पड़ता है। उनमें भूतकाल में एक प्रकार की सकर्मक क्रियाओं की दशा में कभी कर्त्तरि प्रयोग होता ही नहीं, कर्मणि ही होता है और 'कर्त्ता' करण कारक का चिन्ह ग्रहण कर लेता है। यथा—

'लेखक ने पोथी पढ़ी'—

हिन्दी के भूत कृदन्त 'अ'-कारान्त होते हैं और यह प्राकृत के अनुकूल ही है। गत Skr. > pr. गअ। यही गय होजाता है और "क" से सम्बर्द्धित होकर 'गया' हो जाता है। इसी सम्बर्द्धक 'क' के रूप आ० को जोड़ देने से हिन्दी के अधिकांश भूत कृदन्त बनते हैं जैसे लिखा, पढ़ा और जब क्रिया स्वरान्त होती है तो आ का सम्बन्ध 'य' से होता है। यथा दिया, पिया,

मराठी में भूतकाल के लिए 'ला-ली-लें' कारान्त क्रियाओं का प्रयोग होता है। यह 'ल' पूर्व की ओर की ग्राम्य भाषा में मिलता है। कबीरदास आदि में इनका कुछ प्रयोग मिलता है।

तब ब्रह्मा पूछल महतारी।
चहु जुग भगतन बांधल बाटी
समुझि न परै मोटरी फाटी॥

संस्कृत में बहुत सी धातुओं का भूत कृदन्त 'ल' के स्थान पर 'न' जोड़कर बनता था। हिन्दी में इसी के अनुकूल बने हुए रूप तुलसी, कबीर, चन्द आदि में मिलते हैं, वे रूप ये हैं कीन्ह, लीन्ह, चीन्ह, दीन्ह।

नानाविधि मुनि पूजा कीन्ही।
अस्तुति करि पुनि आशिष दीन्ही॥

वर्तमान कालिक कृदन्त—

वर्तमान कालिक कृदन्तों का हिन्दी रूप प्राकृत का ही है परन्तु उसका 'न' उड़ गया है: यथा

प्राकृत का रूप 'पुच्छन्तो' हिन्दी में होगया 'पूछता'

Absolutive पूर्वकालिक—

गुजराती में पूर्वकालिक में संस्कृत 'य' से उत्पन्न 'इ' धातु में लगाकर पूर्वकालिक कृदन्त बनता है। परन्तु हिन्दी में इस "इ" का लोप होगया है, केवल धातु ही पूर्वकालिक क्रिया का काम दे जाती है: यथा बोल, जा

'उसने उसे बोल कहा कि तुम जाओ'

'वहां जा श्री राम ने सुग्रीव को मित्र बनाया'—परन्तु पूर्व काल के भाव की अभिव्यक्ति केवल धातु से कभी कभी स्पष्टता पूर्वक नहीं होती इस कारण उसके साथ 'के' अथवा 'कर' और लगा देते हैं। बोल के, बोलकर।

यह 'के' अथवा 'कर' के भी वास्तव में पूर्वकालिक रूप हैं। जो 'बोल' है वही 'कर' है। ऐसा हुआ करता है कि भाषा का एक शब्द जब अपने भाव को प्रकट करने में असमर्थ होता है तो उसी तरह का दूसरा जोड़ दिया जाता है। पूर्व कालिक क्रिया के रूप इसी नियम के अनुकूल हैं। कभी कभी तो उसी एक धातु को दुहरा देने में ही पूर्व-कालिक क्रिया बन जाती हैं। वह उसे बोल बोल वहां से चला गया।

पुरानी हिन्दी में, फिर भी, यह 'इ' स्पष्ट मिलती है। उसका पूर्वकाल सदा इ कारान्त ही होता है यथा—करि, मारि, इसमें 'कै' जोड़ देने पर भी इ कार बना रहता है, घटि कै, करि कै आदि।

Potential participle

Potential participle जो संस्कृत 'तव्य' से प्राकृत में 'अव्व' होकर आधुनिक भाषाओं में आता है प्रचलित हिन्दी में नहीं मिलता। हां, ब्रज भाषा में अवश्य मिलता है यथा; 'करवौं'।

हिन्दी की क्रियार्थक संज्ञा 'करना'* से, संस्कृत के verbal noun जो 'अन' से अन्त होते हैं, निकला हुआ नया रूप प्रतीत होता है।

हिन्दी में तो प्राकृत के कर्मणि धातु मिलते नहीं, पुरानी हिन्दी में फिर भी कुछ-एक उदाहरण पाये जाते हैं। प्राकृत में कर्मणि 'ईअ' और 'इज्ज' से बनता है। तुलसी और बिहारी के एक दो उदाहरणों में यह रूप मिलता है:

महिमा जासु जान गनराऊ
प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ —तु०

*इस सम्बन्ध में Bopp. लिखते हैं; The Hindustani infinitive also has dropped the first vovel of the Sanscrit suffix ana; and on the other hand lengthened the final a, in case we are not to suppose that it is derived from the feminine form of the suffix 'अन' ana, which is used in Sanscrit for the formation of abstract substantives much more rarely than the

चहियत युगलकिशोर लखि, लोचन युगल अनेक—बिहारी

आधुनिक हिन्दी में 'चाहिये' भी इसी प्राकृत 'ईअ' का उदाहरण है।

Causal प्रेरणार्थक

प्राकृत में प्रेरणार्थक के लिए तीन रूपों में से एक आव अथवा अव लगाकर बनती है। हिन्दी के द्वितीय प्रेरणार्थक क्रियाओं के रूप भी इसी 'आव' से युक्त होकर बनते हैं :

यथा— उठ-ना से उठवाना
चल-ना से चलवाना और

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुरानी ब्रजभाषा में और हिन्दी में बहुत से पुराने प्राकृत के व्याकरण के रूप मिलते हैं :

अपभ्रंश के वर्त्तमान के रूप ज्यों के त्यों हैं। इसीसे और वर्त्तमानकाल के रूप निकले हैं।

अपभ्रंश का भविष्यत भी मिलता है। यद्यपि 'स' 'ह' हो जाता है।

अब हम हिन्दी के उन क्रियारूपों पर विचार करेंगे जो उसने अपने लिए नए बना लिए हैं। हिन्दी में काल की अभिव्यक्ति के लिए कृदन्तों के साथ है, था अथवा गा का प्रयोग होता है। यह सर्वथा प्राकृत अथवा संस्कृत के अनुकूल नहीं। यह उनका नया रूप है। अब यह है, था, और गा कहाँ से आये इस पर श्यामसुन्दरदासजी ने विचार किया है और वह पर्याप्त है ('हिन्दी-भाषा और साहित्य') उनके अनुसार 'है' 'भू' अथवा 'अस्' से, 'था' 'स्था' से है, अस् धातु के 'स्थ' रूप से, नहीं है।

गा : गम् के कृदन्त गतः से प्राकृत में गओ व गअ होकर तब 'गा' हुआ है।

neuter. The following are the examples आसना, "the sitting;" याचना yachna, "the request," वन्दना Vandana, "the praising" ..... It does not, however, appear probable to me that the Hindustani infinitives are based on these feminine abstracts; but I regard their a as the lengthening of the Sanscrit short a which in general, in Hindustani, when final, is either entirely suppressed or lengthened; the latter, among other words, in the names of male animals, while those of females terminates in इ.........as the Hindustani has lost its neuter, the Sanscrit neuter which in their theme are not to be distinguished from masculine bases, have in the said langnage become masculines, and therefore unhesitatingly compare the Hindustani infinitives in ना with the Sanscrit abstracts in ana; thus, e g., jvlana' 'to burn'" Sanscrit jvalanam "the burning" or rather =ज्वलन-स, as the Sanscrit neuters in the Hindustani have become masculines. The oblique case in e ए of the Hindustani infinitive 'points to a Sanscrit base in a, in which we easily recognise the sansk-locative of bases in a; therefore, e. g., in jolne जलने "to burn" we perceive the Sanscrit ज्वलने' in the burning."

हिन्दी में हास्य-रस क्यों कम है ?

Dec 1947

[नगेन्द्र]

नगेन्द्रः—आइए प्रो० साहब नमस्ते !

प्रो०:—नमस्ते, नगेन्द्रजी। कहिये क्या होरहा है ?

नगेन्द्रः—कुछ नहीं—हास्य पर फ्रांसीसी लेखक बर्गसाँ की यह पुस्तक पढ़ रहा था। इन फ्रांसीसी लेखकों की दृष्टि कितनी पैनी और साफ़ होती है। मैं समझता हूँ साहित्यिक हास्य का इतना निर्मल विवेचन और किसी दार्शनिक या आलोचक ने नहीं किया।

प्रो०:—वास्तव में फ्रांस का आलोचना-साहित्य अत्यंत समृद्ध है। अच्छा-क्या कहते हैं आपके बर्गसाँ ?

नगेन्द्रः—बर्गसाँ ने हास्य को परिभाषा में बाँधने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने 'हम क्यों हँसते हैं ?' इसी प्रश्न को हल करने की चेष्टा करते हुए हास्य की परिस्थिति और प्रकृति का विश्लेषण किया है। उनके कुछ निष्कर्ष अत्यंत रोचक और सटीक हैं—उदाहरण के लिए (१) हास्य सर्वथा मानवीय वृत्ति है—मानव-जीवन से बाहर उसकी गति नहीं है (२) हास्य के लिए भावुकता और उद्वेग का सर्वथा अभाव अनिवार्य है—हास्य और भावुकता एक दूसरे के शत्रु हैं। (३) हास्य एक समाजिक वृत्ति है—किसी प्रकार की भी असमाजिक कठोरता हास्य को जन्म देसकती है। इत्यादि ! इस विवेचन के फल-स्वरुप वास्तव में बर्गसाँ भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं जिस पर विदेश के अन्य आलोचक पहुँचे हैं।

प्रो०:—अर्थात्

नगेन्द्रः—अर्थात् कि हास्य की मूलात्मा असंगति है।

प्रो०:—यह तो हमारे आचार्यों का भी मत है। उनके अनुसार विकृत आकार, वाणी, वेश और चेष्टा आदि से हास्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार वे विकृति को हास्य का मूल तत्व मानते हैं। और यह विकृति आपकी असंगति ही तो है। वेश, आकार आदि की हमारे मन में जो धारणा बनी हुई हैं उसमें और किसी व्यक्ति या वस्तु के वेश, आकार आदि में असंगति देखकर हमारे मन में गुदगुदी पैदा हो जाती है। यही बात वाणी, व्यवहार आदि सूक्ष्मतर वस्तुओं के लिए भी कही जा सकती है।

नगेन्द्रः—हाँ, खींचतान कर बात तो ठीक बैठ ही जाती है। पर प्रोफ़ेसर साहब हमारे यहाँ हास्य का कितना अभाव है। विशेष कर हिन्दी में तो उसका घोर दुष्काल है। मैं प्रायः सोचता हूँ कि इसका कारण क्या है ? हमारा साहित्य कितना प्राचीन है—उसके प्रायः अन्य सभी अंग काफी समृद्ध हैं—परन्तु हास्य तो एक है ही बहुत कम, और जो है भी वह बड़ा स्थूल है।

प्रो०:—नगेन्द्र जी, कुछ तो लोगों का प्रोपेगैण्डा भी है—हिन्दी का सभी हास्य स्थूल नहीं है। उदाहरण के लिए सूर में जितना सूक्ष्म हास्य मिलता है, उतना आपके अच्छे अच्छे हास्य-लेखकों में नहीं मिलेगा। फिर इसमें सन्देह नहीं कि हमारे यहाँ उत्कृष्ट हास्य का अत्यन्त अभाव है। पुराने कवि पुरस्कार-दाताओं की कृपणता आदि का मजाक उड़ाकर—या फिर हास्य रस के उदाहरण-स्वरूप कुछ निर्जीव छंद लिख कर अपना कर्तव्य पूरा कर बैठे हैं—नए लेखक प्रायः हिन्दी में हास्य रस की कमी को पूरा करने के लिए लिखने बैठते हैं, और जो मोटा मजाक वे अपने नित्य प्रति के जीवन में करते हैं उसी का साहित्य में समावेश कर देते हैं।

नगेन्द्रः—बात तो आपकी ठीक है—वास्तव में जो थोड़ा बहुत हास्य हमारे यहाँ है भी वह अत्यंत कृत्रिम है—स्वस्थ जीवन का सहज प्रोद्भास न होकर ऐसा मालूम पड़ता है कि वह दूसरों के हँसाने के उद्देश्य से लिखा गया है। योरोप में व्यंग्य, (satire), वक्रोक्ति (irony), विदग्धता (wit), और हास्य (humour) चारों में सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट अन्तर माना गया है,—हास्य शेष तीनों से अपनी निर्मलता के कारण पृथक है। व्यंग्य सदा सोद्देश्य होता है—'उपहास के द्वारा ताड़ना' उसका अभिप्राय होता है। वक्रोक्ति में चुभने वाली

कटुता होती है, विदग्धता बुद्धि के चमत्कार पर आश्रित रहती है—परन्तु हास्य स्वस्थ मन का सहज उच्छलन होता है—उद्देश्य, कटुता आदि से पूर्णतः मुक्त। हिन्दी में इन चारों को उलझा दिया गया है—हास्य के अन्तर्गत ये सभी खप जाते हैं। वैसे हिन्दी में हास्य के नाम पर प्रायः व्यंग्य ही अधिक चलता है : हँसने का उद्देश्य किसी न किसी प्रकार की सुधार-भावना लिए रहता है। इसके अतिरिक्त कुछ सूक्ष्म-चेता लेखकों ने वक्रोक्ति (irony) का भी सुन्दर प्रयोग किया है। परन्तु जिसे हास्य, निर्मल और शुद्ध, कहा गया है उसके तो शायद दो चार उदाहरण ही ढूंढने को मिलें। —मैं प्राय सोचा करता हूँ कि हास्य का यह दुष्काल क्यों है—आखिर इसका कारण क्या है?

प्रो०:—कारण स्पष्ट है। हिन्दी को जो साहित्यिक परम्पराएँ मिली हैं, उनमें ही हास्य का दैन्य रहा है। हिन्दी ने प्रायः अपनी सभी साहित्यिक परम्परायें संस्कृत से प्राप्त की हैं—और संस्कृत में स्वयं हास्य का अभाव है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में हास्य को हीनतर रसों में माना है : शृंगार, करुण, वीर और शान्त को जो महत्व मिला है, उसका एक अंश भी हास्य को नहीं मिला। रचनात्मक साहित्य में भी हास्य का अत्यन्त अभाव है—गम्भीर कवियों ने तो उसका स्पर्श ही नहीं किया, और जिन्होंने किया भी है उनका हास्य सर्वथा रूढ़ और स्थूल है। कालिदास जैसे परिष्कृत-रुचि और सूक्ष्म चेता कवि का हास्य भी इसी कोटि का है। शाकुन्तलम् जैसे नाटक विदूषक भी भोजन अथवा भीरुता आदि की बातें कह कर हँसने हँसाने का प्रयत्न करता है। प्रारम्भिक नाटकों में तब भी हास्य का थोड़ा बहुत स्पर्श था—बाद में वह भी लुप्त होगया। संस्कृत के उत्तरकाल में आकर अलंकार की जकड़बन्दी और शृंगार के नग्न नृत्य के बीच साहित्य के अन्य महत्व-पूर्ण तत्व और रस भी तिरोहित होगए-हास्य तो पहले से ही उपेक्षित था। साहित्य के विकास का प्राकृत और अपभ्रंश में भी यही क्रम रहा। हिन्दी-साहित्य का विकास सीधा इसी परम्परा से हुआ—अतएव उसमें हास्य का जन्म से ही अभाव रहा।

नगेन्द्र:—लेकिन संस्कृत में भी हास्य का ऐसा अभाव क्यों है—इसका भी तो कारण होना चाहिए। आपके कहने का शायद तात्पर्य यह है कि भारतीय साहित्य-परम्पराएँ हास्य के अनुकूल नहीं हैं। पर क्यों?

प्रो०:– प्रत्येक देश और जाति की अपनी प्रकृति और प्रतिभा होती है—भारतीय प्रकृति और प्रतिभा स्वभाव से गम्भीर है।

नगेन्द्र:—नहीं साहब, यह भी स्वयं कार्य है, कारण नहीं है। कारण ढूंढने के लिए हमें भारतीय जीवन-दर्शन का विश्लेषण करना पड़ेगा। भारतीय दृष्टि सदैव भेद में अभेद देखती रही है—द्वैत को मिटाकर अद्वैत की स्थिति को प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य रहा है। यों तो समय-समय पर यहाँ अनेक दर्शनों की सृष्टि हुई है जो एक-दूसरे के विरोधी रहे हैं, फिर भी गहरे में जाकर देखने से अद्वैत भावना प्रायः सभी में मूल रूप से अनुस्यूत मिलती है। वास्तव में अनेकता में एकता की प्रतीति—भेद में अभेद की प्रतीति के बिना पूर्ण आस्तिकता की स्थिति सम्भव नहीं है। परन्तु आप देखें कि यह जीवन-दृष्टि हास्य के एकान्त प्रतिकूल पड़ती है। हास्य के लिए भेद की प्रतीति अनिवार्य है। अभी मैंने योरुप के आचार्यों का उल्लेख करते हुए कहा था कि वे प्रायः सभी असंगति को हास्य की आत्मा मानते हैं। और आपने संस्कृत आचार्यों का मत देते हुए 'विकृति' को हास्य का मूल तत्व माना है। ये दोनों ही भेद की अपेक्षा करते हैं। असंगति के लिए औचित्य और अनौचित्य का भेद अनिवार्य्य है और विकृति के लिए कृति और उसके विकार का। कहने का तात्पर्य यह है कि हास्य की उद्‌बुद्धि के लिए असंगति अथवा भेद की सूक्ष्म और तीव्र चेतना अनिवार्य है, और चूंकि भारतीय प्रतिभा अपने दार्शनिक संस्कारों के कारण अभेद-द्रष्टा रही है। इसलिए वह हास्य के अधिक अनुकूल नहीं पड़ी।

प्रो०:—हाँ, भारतीय जीवन-दृष्टि सदा से ही गंभीर रही है, हास्य उसके अनुकूल कम ही पड़ता है।

नगेन्द्र:—हमारे यहां मानव-जीवन की दो मौलिक वृत्तियां मानी गई हैं राग और द्वेष। उन्हीं के अनुसार हमारे साहित्य में शृंगार और करुण को महत्व मिलता है। भारतीय मन या तो पूर्ण रूप से रागी रहा है और या फिर

एकदम वैरागी हो गया है। दोनों के बीच में समझौता करना उसे अधिक नहीं भाया है। इसीलिए उसने हर्ष को ही महत्व दिया है। हास्य से उसे संतोष नहीं हुआ। जीवन में उसने हर्ष को ही लक्ष्य बनाया है—और यदि उसमें व्याघात पड़ा है तो वह उससे विरक्त होकर उसे त्याग ही बैठा है। गंभीर प्रकृति का मनुष्य विकल या कुण्ठित होने पर ठोकर मारना पसन्द करेगा—हँसेगा नहीं।

कोचर:—आपका कहना ठीक है, हँसने के लिए रुक्ष और व्यवहारिक प्रकृति की आवश्यकता होती है—गंभीर भावुक प्रकृति उसके प्रतिकूल पड़ती है। अंग्रेज—विशेषकर स्कॉच जितने सहज भाव से और खुलकर हंस सकता है उतना अन्य देश वासी नहीं। और ठीक इसी कारण जर्मन और भारतीय जातियों में हास्य-वृत्ति अपेक्षाकृत बहुत ही क्षीण है। परन्तु अब तक हम केवल मौलिक कारणों का विश्लेषण करते रहे हैं—इनके अतिरिक्त प्रासंगिक कारण भी तो अनेक हैं।

अंगरेज कवि शेक्सपियर जीवन की यातनाओं और विफलताओं का आघात पाकर, सघन से सघन वातावरण में भी हँस सकता था। आप उसके दुखान्त नाटकों को ही लीजिये—उस व्यक्ति में इतनी शक्ति है कि वह गहन से गहन परिस्थितियों में भी हँस सकता है—उसका दृष्टिकोण इतना प्रकृतिस्थ और स्वस्थ-दृढ़ है कि न शोक की सघनता, और न हर्ष की उत्फुल्लता ही उसको चञ्चल कर सकती है। वह जीवन की व्यवहारिकता अथवा गतिशीलता के प्रति इतना आश्वस्त है कि उसके मार्ग में आने वाली प्रत्येक बाधा का वह उपहास करता है—यह बाधा चाहे भावात्मक हो या अभावात्मक—प्रेम की अतिशय गम्भीरता पर भी वह उसी प्रकार हँसता है जिस प्रकार शोक की जड़ता पर। परन्तु भारतीय कवि भवभूति या जर्मन कवि गेटे के लिए इन परिस्थितियों में चित्त की पूर्ण विद्रुति या आत्मा का घोर आक्रोश ही सम्भव है।

नगेन्द्र:—प्रासंगिक कारणों से क्या मतलब?

प्रो०:—अर्थात् वे कारण जिनका हिन्दी भाषा और और साहित्य से सीधा सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए हिन्दी के जन्म और विकास की परिस्थितियों को ही लीजिए; जिन सघन और निविड़ परिस्थितियों में उसका जन्म और विकास हुआ है, उनमें हँसने हँसाने का अवकाश नहीं रहा—उनमें केवल गंभीर साहित्य की सृष्टि ही सहज और सरल थी। प्रसाद जी ने हिन्दी में हास्य के अभाव का यही मुख्य कारण बताया है। वे कहते हैं कि हास्य मनोरंजिनी वृत्ति का विकास है—परन्तु हमारी जाति शताब्दियों से पराधीन और पद-दलित है इसलिए हमें हँसने का अवकाश ही नहीं है। वास्तव में वीरगाथा और भक्ति युगों में तो उसके लिए स्थान ही कहाँ था—पहले में परिस्थिति की सघनता और दूसरे में भावना का अतिशय उद्रेक दोनों ही हास्य के प्रतिकूल पड़ते थे।

प्रो०—हाँ रीतियुग में आकर जब कविता का दरबार से सम्बन्ध स्थापित होगया था, यह आशा की जा सकती थी कि आश्रयदाताओं के मनोरंजन के लिए कवि-जन हास्य की भी उद्‌बुद्धि करते। परन्तु आप देखें कि इस युग में हास्य का और भी अधिक अभाव है। इसका कारण यह है कि निर्मल हास्य सदैव स्वस्थ दशा में ही सम्भव हो सकता है—मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के अभाव में उसकी सृष्टि सम्भव नहीं है। रीतियुग में हमारा समाज मन और शरीर दोनों से ही रुग्ण था—उस समय अस्वस्थ शृंगार की ही सृष्टि सम्भव थी—राजा लोगों का सम्पन्न समाजिकों का उसी से मनोरंजन हो सकता था। स्वस्थ हास्य की अपेक्षा शृंगार की चुहल ही उन्हें अधिक प्रिय थी। आधुनिक युग में आकर परिस्थिति फिर गम्भीर और सघन हो गई। इस प्रकार हमारे साहित्य की परिस्थितियाँ भी हास्य के प्रतिकूल रही हैं।

नगेन्द्र:—परन्तु यहाँ एक आपत्ति हो सकती है। वह यह कि उर्दू साहित्य का विकास भी तो प्रायः इन्हीं परिस्थितियों में हुआ है। फिर क्या कारण है कि उसका हास्य काफी समृद्ध है।

प्रो०:—इसके मेरे पास दो उत्तर हैं—एक तो यह कि परिस्थिति एक मात्र कारण नहीं होती—वह अनेक कारणों में से एक हो सकती है, दूसरे उर्दू और हिन्दी की परिस्थितियाँ बाहर से एक-सी लगती हैं, अन्दर से उनमें काफी अन्तर है। उर्दू विजेताओं की भाषा थी—

हिन्दी विजितों की। उर्दू बाजार और मजलिस की भाषा रही है, हिन्दी जनता के हृदय की। स्वभावतः उर्दू में शोखी और चटख ज्यादा है—और ये दोनों हास्य के अनिवार्य तत्व हैं। इसके अतिरिक्त दोनों की पृष्ठ-भूमियाँ तथा परम्पराएँ कितनी भिन्न हैं। उर्दू को फ़ारसी की परम्पराएँ प्राप्त हुई हैं, और फ़ारसी में सूक्ष्म और परिष्कृत हास्य की कमी नहीं है। और फिर हमारे और उर्दू वालों के सामाजिक जीवन में कितना अंतर है—जब लाइफ जितनी अच्छी उर्दू वालों की रही है, उतनी हम लोगों की आज भी नहीं है।

नगेन्द्रः—यानी, आपका निष्कर्ष यह है कि हिन्दी की प्रकृति ही गंभीर है इसलिए उसमें हास्य का अभाव है।

प्रो० कोचर—हां उसकी प्रकृति ही नहीं वरन उसकी परम्परायें उसकी परिस्थितियाँ, उसके बोलनेवालों की जीवन दृष्टि आदि सभी गंभीर है। लेकिन अब प्रश्न यह है कि यह कमी पूरी कैसे हो?

नगेन्द्रः—साहित्य के अभाव प्रयत्न करके पूरे नहीं होते। उनकी जड़ें गहरी होती हैं—उनका सम्बन्ध जाति के संस्कारों से होता है। सामाजिक परिस्थियों के परिवर्तन से जाति के संस्कारों में परिवर्तन होने पर ही वह सम्भव हो सकता है। जीवन की विषमताओं से रगड़ खाकर भारतीयों का दृष्टिकोण जब आध्यात्मिक कम और व्यावहारिक अधिक हो जाएगा—आदर्श के भावमय स्वप्न न देखकर जब हम व्यवहार की रचना के अभ्यस्त हो जाएंगे। तो स्वभावतः ही हमारे अन्दर हास्य-वृत्ति का विकास हो जाएगा। तभी हमारे साहित्य से भी हास्य का वह अभाव दूर हो जाएगा।

(आल इण्डिया रेडियो, दिल्ली के सौजन्य से)

आल इण्डिया रेडियो से ब्राडकास्ट किया हुआ प्रोफेसर नगेन्द्र और प्रोफेसर कोचर का रोचक वार्तालाप (यद्यपि हम इसके निष्कर्षों से सहमत नहीं हैं) हास्य की दार्शनिक समस्या पर प्रकाश डालता है। हिन्दी में हास्यरस के अभाव (१) यह कारण बतलाया गया है कि हास्य के लिए द्वैत और भेद अपेक्षित हैं और भारतीय जीवन-दृष्टि अद्वैत परक है। किन्हीं आचार्यों ने तो हास्य के पीछे दूसरे को नीचा दिखाने और अपने को श्रेष्ठ साबित करने की प्रवृत्ति बतलाई है। यह भी अद्वैतवाद के विरुद्ध है किन्तु वह द्वैत भावना (यदि है तो) नगेन्द्र जी के बताये हुए व्यङ्गम (satire) और वक्रोक्ति (Irony) के मूल में अधिक है। शुद्ध हास्य के मूल में तो फालतू उमंग जो खेल में भी देखी जाती है और लीला एवं आनन्द की प्रवृत्ति अधिक है। तथा कथित द्वैत भावना भी विषमता, विकृति और असंगति को न सह सकने तथा भेद में अभेद और विषमता में साम्य खोजने की, अद्वैत परक प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति केवल हास्य में नहीं है विज्ञान और दर्शन सभी में है। वैज्ञानिक नियम भी इसी के फल हैं। हास्य द्वारा वैषम्य और विलक्षणता को दूर कर समानता लाने की चेष्टा की जाती है। यह सर्वथा भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल है।

हिन्दी में शुद्ध हास्य चाहे कुछ हो किन्तु व्यङ्गय और वक्रोक्ति की कमी नहीं है। सूर और नन्द की गोपियों में फालतू उमंग भी काफी है और व्यङ्गय की कमी नहीं है।

हास्य के लिए जो परिस्थिति की विषमता और व्यवहार की रुक्षता अपेक्षित है वह भारत में भूषण के समय से नहीं तो हरिश्चन्द्र के समय से अवश्य चली आई है। हिन्दू समाज अब कठोर वास्तविकता के निकट है। यद्यपि हास्य के सम्बन्ध में वीर विहीन नहीं मैं जानो की बात नहीं है तथापि हमें आशा है कि इस लेख से हिन्दी में हास्य-रस का विकास कुछ अधिक मात्रा में और नई दिशाओं में हो सकेगा—शुद्ध हास्य की ओर अधिक ध्यान देने की जरूरत है। व्यङ्गम और वक्रोक्ति की कमी नहीं है।

आचार्य दण्डी का महत्व इसमें है कि अलङ्कार-वर्णन में प्रथम स्थान उन्होंने 'स्वभाव' को दिया है; उसके अनन्तर उपमा, रूपक इत्यादि आए हैं। कालान्तर में उपमा ने प्रथम स्थान ले लिया और 'स्वभावोक्ति' एक निम्नश्रेणी का अलङ्कार समझकर पीछे डाल दिया गया। विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में उपमा को प्रथम स्थान देकर 'स्वभावोक्ति' को ५६ वीं श्रेणी में पीछे फेंका !!

इससे यह विचार हो जाना स्वाभाविक ही है कि रस के संयोजक विषयों में से कुछ भाव क्षेत्र से निकाले जाकर "अलङ्कार के हाते में हाँक दिए गए !!"

श्री सहलजी ने लिखा है कि "स्वभावोक्ति अलङ्कार में कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति की परीक्षा हो जाती है।' क्या सविनय उनसे मैं पूछ सकता हूँ कि स्वभावोक्ति अलङ्कार में ही क्यों—क्या स्वतः कविता में ही कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति की परीक्षा नहीं हो जाती ? क्या कवि से प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास अपेक्षित नहीं है ? क्या प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास का यह तकाजा नहीं है कि कवि किसी भी वर्णन में सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति दिखलावे ? और क्या कवित्व-शक्ति में सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति निहित नहीं है ?

यदि कवित्व-शक्ति में सूक्ष्म पर्यवेक्षण भी निहित है तो सूक्ष्म पर्यवेक्षण कविता का एक मुख्य अङ्ग है और प्रत्येक वर्णनात्मक कविता के लिए यह आवश्यक है। जब तक सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि का अभाव है तब तक कविता—कविता कहलाने योग्य नहीं है। तात्पर्य केवल यह है कि बिना 'स्वभावोक्ति' के—सारा अलङ्कार शास्त्र कोरा रह जायगा। अलङ्कार-शास्त्र में 'स्वभावोक्ति' का स्थान बहुत ही ऊँचा है। और आचार्य दण्डी ने बहुत सोच-विचार कर ही इसको प्रथम स्थान दिया था। वास्तव में यह काव्य-शास्त्र की प्रथम सीढ़ी है। जो कवि सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा सम्यक् वर्णन करने में असफल रह जाता है वह कवि कहला ही कैसे सकता है ?

यह बहस कि 'वस्तु-स्वभाव स्वयं ही अलङ्कार्य है तो वह अलंकृत किसे करेगा ?' ठीक नहीं है। अलङ्कारों को आभूषण न मानकर उन्हें 'कविता की शोभा' मानना समीचीन जान पड़ता है। जिससे कविता शोभायमान हो जाय, उसमें चमक-दमक बढ़ जाय, जिसके सहारे कविता अधिक आकर्षक हो सके—वही 'अलंकार' कहलाता है। यदि वस्तु-स्वभाव का सूक्ष्म वर्णन कविता की शोभा बढ़ा सकता है तो वह 'अलंकार' कैसे नहीं हो सकता ?

कुन्तक के 'वक्रोक्ति-जीवित' के कतिपय अंश उद्धृत करके यह लिख देना कि कुन्तक ने 'स्वभावोक्ति' का अलङ्कारत्व स्वीकार नहीं किया—ठीक नहीं है। इस संबंध में समूचे 'वक्रोक्ति-जीवित' पर ही एक दृष्टि डालनी उचित होगी।

कवि-स्वभाव के आधार पर, कुन्तक ने तीन मार्ग (कवि-प्रस्थान-हेतवः) बताए हैं—(१) स्वभाव सुकुमार (२) विचित्र (३) उभयात्मक। उसने तीनों मार्गों का सुन्दर वर्णन किया है और अपने अपने स्वभाव के अनुसार तीनों ही मार्ग कविता के लिए उपयुक्त बताए हैं। 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार 'सुकुमार-मार्ग' का एक आवश्यक अङ्ग है। कुन्तक ने यहाँ तक लिखा है कि स्वाभाविक वर्णन में कवि-कौशल अधिक दिखलाया जा सकता है। 'जिस प्रकार बिना किसी सहायता के कानन में कुसुम फूल उठते हैं और मधु-मक्षिकाओं को मधु प्रदान करने में वे सफल हो जाते हैं उसी प्रकार बिना बाहरी सहायता लिये हुए प्रतिभावान कवि सुकुमार मार्ग का अवलम्बन करके स्वाभाविक वर्णन द्वारा कविता में जान डाला करते हैं।'

(वक्रोक्तिजीवित १, २८)

'वक्रोक्ति जीवित' के अनुसार जो 'स्वभावोक्ति' अलंकार नहीं माना गया है वह किसी वस्तु-स्वभाव का साधारण स्थूल वर्णन है जिसमें कोई चमत्कार नहीं आ सकता। परन्तु "लोकोत्तर-चमत्कार-कारी-वैचित्र्य" की कसौटी पर 'सूक्ष्म वर्णन' अवश्य खरा उतरेगा और कुन्तक के अनुसार भी 'चमत्कारी सूक्ष्म वर्णन' 'सुकुमार मार्ग' का एक अंग समझा जायगा। कुन्तक के 'अलङ्कार' और सामान्य अलङ्कार-शास्त्र में भेद है इसका विचार रखना उचित है।

अन्त में आचार्य दण्डी के इस कथन पर हम पाठकों का ध्यान फिर दिलाना उचित समझते हैं कि "स्वभावोक्ति का शास्त्रों में तो साम्राज्य है ही। काव्य-शास्त्र में भी यह ईप्सित है।"

———

विचार-विमर्श

गुप्तजी की यशोधरा और उर्मिला

भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों द्वारा भिन्न भिन्न चरित्रों का निर्माण होता है। साकेत की उर्मिला और यशोधरा दोनों की परिस्थितियाँ अलग-अलग हैं। दोनों का व्यक्तित्व भी अलग-अलग है। अपने-अपने क्षेत्र में दोनों महान हैं। फिर आपस में दोनों की तुलना कैसे हो सकती ?

फिर भी श्री वासुदेव नन्दन बी० ए०, ने जो अपने 'गुप्तजी की उर्मिला और यशोधरा' लेख में यशोधरा और उर्मिला की तुलना कर, भारतीय नारी का आदर्श उर्मिला को बता कर, यशोधरा के ऊपर मिथ्या दोषारोपण किये हैं, उनका परिहार करने के लिए मैं यह प्रयास कर रहा हूँ।

जो आरोप श्री वासुदेव नन्दन बी० ए० ने किया है "कि यदि सिद्धार्थ लक्ष्मण की तरह अनुमति लेकर वन-गमन करते तो क्या यशोधरा अपने स्वामी की बात सहज ही में स्वीकार कर लेती ?" यशोधरा में तर्क की प्रधानता है, इसलिये वासुदेवजी के विचार से यशोधरा सिद्धार्थ के 'सिद्धि-मार्ग की बाधा नारी' अवश्य बन जाती। यदि वे उसे जगाते तो वह उनके पथ की बाधा अवश्य बन जाती। फिर वह सीता की तरह साथ चलने को जिद् अवश्य करती। वासुदेवजी की यह उक्ति और विचार सर्वथा निर्मूल हैं। वह सिर्फ इतना ही चाहती थी कि—"सखि, वे मुझसे कह कर जाते" और कुछ नहीं, वे "सिद्धि हेतु गये", यह बात तो वह गौरव की बात समझती है, फिर सीता की भाँति सिद्धार्थ से वन-गमन के लिए जिद् क्यों करती ? नहीं करती। फिर सीता की भाँति वह सिर्फ स्त्री ही नहीं थी जो साथ चलने को जिद् करती ? वह राहुल की माता भी बन गयी थी, और फिर राम की भाँति सिद्धार्थ को चौदह वर्ष का बनवास तो था नहीं कि जहाँ कहीं अपना समय व्यतीत करते, सिद्धार्थ तो "सिद्धि हेतु" गये थे—तपस्या करने गये थे, यह यशोधरा भली भाँति जानती थी, वह साथ तपस्या करने को, साथ चलने की जिद् कैसे करती ?

और भी देखिए—

मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर क्या पूरा पहचाना ?
मैंने मुख्य उसी को माना,
जो वे मन में लाते।

इससे यह स्पष्ट है कि वह कहती है कि मुझे तो वही मुख्य था जो "वे मन में लाते।" फिर वह साथ चलने की जिद् कभी भी नहीं करती।

दूसरी बात वासुदेवजी ने यह भी कही है कि यशोधरा सांसारिक बन्धनों में अधिक जकड़ गयी है—माता बन चुकी है, ऐसी अवस्था में सांसारिक सुखों का त्याग सहज नहीं कर सकेगी। इसलिए चुपके से रात में यशोधरा को छोड़ कर भागना सिद्धार्थ जैसे विरागी के लिए उपयुक्त था' यह बात भी असत्य है। जब यशोधरा माता बन चुकी है, वह सांसारिक बन्धनों में अधिक जकड़ी है, तब तो चुपके से जाने की आवश्यकता ही नहीं थी, वह स्वयं अपना उत्तरदायित्व समझती थी, फिर स्वयं साथ चलने की जिद् नहीं करती।

इसलिए सिद्धार्थ का चोरी चोरी जाना सर्वथा अनुचित है।

यशोधरा को उन्मादिनी बनाना, कि वह उपालम्भ देती है—

मैं अबला पर वे तो विश्रुत वीर बली थे मेरे।
मैं इंद्रियासक्त पर वे कब थे विषयों के चेरे॥

यह उपालम्भ नहीं है, यह अपने स्वामी के प्रति पूज्यत्व की भावना है। साधारण पत्नियाँ भी अपने पति

की बड़ाई करती हैं और उससे अपने को हीन व्यक्त करती हैं, अपने को 'इन्द्रियासक्त' मानना और अपने स्वामी को 'विश्रुत वीर बली' मानना भारतीय नारी को शोभनीय है, और यह नारी का आदर्श है।

यह कहना भी भूल है कि यशोधरा का अपने ऊपर से विश्वास उठ गया था—वह कहती है—

यदि मैं पतिव्रता तो मुझको कौन भार भय भारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।।
आओ नाथ! अमृत लाओ तुम मुझमें मेरा पानी।
मेरी ही मैं बहुत तुम्हारी मुक्ति तुम्हारी रानी।।
प्रिय तुम तपो सहूँ मैं भरसक देखूँ बस हे दानी।
कहाँ तुम्हारी गुण गाथा में मेरी करुण कहानी।।

इस प्रकार उसे अपने ऊपर पूरा-पूरा विश्वास है, और वह दुःख सहने के लिए भरसक प्रयत्न करने को तैयार है। और यह आरोप भी मिथ्या है कि 'यशोधरा पर आधुनिक गर्वीली स्त्रियों जैसा हलका सा रंग है—क्योंकि वह अपने पति के जीवन-सिद्धान्त के लिए मान करती है'। यह बात नहीं—उर्मिला से लक्ष्मण अनुमति लेकर गये, लेकिन बेचारी यशोधरा को छोड़ कर उसके स्वामी चोरी-चोरी गये, वह उपेक्षिता है, तिरस्कृता है, इससे उसे अधिक वेदना है। उसे पति का वियोग तो है ही, किन्तु उसे वह सह्य बना लेती; यदि वे चुपके से न जाकर कह कर जाते। इससे उस परित्यक्ता गृहिणी को सन्तोष तो होता, और अपने पति को जन-कल्याण के मार्ग की खोज करने के लिए विदा करने का गौरव तो प्राप्त होता। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। वह साधारण नारी नहीं, जो साथ जाने की जिद् करती, और सिद्धि-मार्ग की बाधा बन जाती। और यदि उसे साथ जाना होता तो वह गोविन्दवल्लभ पंत कृत 'वरमाला' में 'वैशालिनी' की भाँति जंगलों की खाक छानती फिर सकती थी। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। वह असाधारण नारी थी। वह कहती है—

मिला न हा! इतना भी योग,
मैं हँस लेती तुझे वियोग।
देती उन्हें विदा मैं गाकर,
भार झेलती गौरव पाकर।
यह निःश्वास न उठता हा: कर।
× × ×
पहुँचाती मैं उन्हें सजा कर।
गये स्वयं वे मुझे लजाकर।।

इसमें आधुनिक नारी का गर्वीला मान नहीं, इसमें आत्म-विश्वास की कमी नहीं, इसमें साथ चलने की जिद् नहीं। सिद्धार्थ को रात का भागना ऐसी अवस्था में कहाँ उपयुक्त था?

यदि सिद्धार्थ लक्ष्मण की भाँति अनुमति माँगते तो उन्हें अधिक सरलता के साथ मिल सकती थी, वह जन-कल्याण के लिए अपने स्वामी की विदा का गौरव तो प्राप्त करती, और अपने वियोग-दुःख का भार सहर्ष झेलती।

उर्मिला को काव्य-उपेक्षिता समझ कर कवि ने उसकी अपेक्षा करनी चाही। लेकिन उनके इस प्रयत्न में जितनी भावुकता है, उतना संयम नहीं। उपेक्षिता उर्मिला की आँखों से कवि ने अपने हृदय की सारी सहानुभूति को बहा दिया। परन्तु उसे वे लोक-कल्याणी नहीं बना सके। उसमें कवि की असमर्थता और अनिच्छा दोनों हैं। राम और सीता के प्रति कवि के हृदय में पूजा-भाव है। वह इतना कुछ गम्भीर है कि उसकी रक्षा के लिए उनसे पक्षपात करते ही बना। इस अभियोग को स्वयं गुप्तजी ने महात्मा गाँधी को लिखे गये पत्र में स्वीकार भी किया है। ("सख्य भाव की उपासना में दीक्षित होते हुए भी 'मानस' के राम के समीप मुझे बहुत सावधान रहना पड़ा। उनकी मित्रता मानो राजा की मित्रता है जो हाथी पर चढ़ाते-चढ़ाते शूली पर भी चढ़ा सकती है। इसलिए मुझे उनसे डर लगा रहता है। वह अभ्यस्त भय 'साकेत' में भी नहीं छूटा। और मुझे उन्हें प्रभु कहते ही बना।")

इस प्रकार उर्मिला और लक्ष्मण के चरित्र का सार-सर्वस्व सीता और राम ने खींच लिया। कवि ने साकेत में अपनी निरपेक्ष प्रकृति का परिचय न देकर उर्मिला के प्रति अपनी संचित समस्त भाव सम्पत्ति को खोल दिया है।

जिस भावना ने उन्हें काव्य की प्रेरणा दी, उसने अन्त तक उनका साथ नहीं दिया। इसी कारण कवि ने साकेत में उर्मिला को स्थान देने की भावुकता तो दिखाई, किन्तु उसके महत्व की प्रतिष्ठा वे न कर सके। रामायणकार ने रामायण की जो रूप-रेखा रखी और उसके भीतर उर्मिला को जो स्थान दिया वह स्थान गुप्त जी उसे न दे सके। इसलिये इस काव्य का नाम "साकेत" ही रहा "उर्मिला" न हो सका।

रामायण की मौन-व्यथा को उन्होंने अपने साकेत में व्यक्त करना चाही। किन्तु यह मौन जो अर्थ-गर्भित तथा मार्मिक भाव समेटे था उसको विदग्ध-विलाप से भरी साकेत की सैकड़ों पंक्तियाँ भी व्यक्त न कर सकीं। साकेत की उर्मिला जीती है पर जीवन के लिए नहीं, विलाप के लिए। उनके हृदय में, उर्मिला के महत्व के लिए नहीं, करुणा के लिए स्थान है। इसी कारण साकेत की सृष्टि हुई। पाठक या श्रोता भी उर्मिला के लिये करुणा-जन्य सहानुभूति के सिवाय और कुछ प्रदर्शित नहीं कर सकते।

उर्मिला की भाँति यशोधरा की विरह-वेदना ने भी कवि के हृदय को व्यथित किया। उर्मिला के विषाद का मूल्य केवल लक्ष्मण ही आँके, पर यशोधरा के आँसुओं का मूल्य केवल गौतम बुद्ध ही न आँके, लोक को बहुत कुछ मिला। किसी किसी स्थान पर जहाँ कहीं यशोधरा ने अपनी सीमा से बाहर आकर अपनी दृष्टि का विस्तार किया है वहाँ उसके महत्व की प्रतिष्ठा अधिक हुई है—

जांय सिद्धि पावे वे सुख से
दुखी न हों इस जन के दुख से
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से
आज अधिक वे भाते।
सखि, वे मुझसे...

यशोधरा ने अपनी पति-परायणता तथा त्याग-वृत्ति का सर्वोच्च महत्व पुत्र राहुल को बुद्ध की सेवा में समर्पित कर स्थापित किया है। इस दान ने उसकी नारी-सुलभ निर्वलताओं को दबा दिया।

मानवता दुर्बलताओं से बनी होती है। गुप्तजी उर्मिला को एक साधारण मानवी के रूप में ही उपस्थित कर पाये हों ऐसा नहीं, उर्मिला के आँसुओं की बहुलता ने उसकी दुर्बलता को बहुत अधिक स्पष्ट कर दिया है, किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं। कहीं कहीं उर्मिला के इस उद्गार ने उसके विषाद को त्यागमय बना दिया है—

तुम व्रती रहो।
मैं सती रहूँ।

इस प्रकार उर्मिला का चरित्र भी बहुत उज्ज्वल है परन्तु यशोधरा की भाँति नहीं। यदि 'साकेत' काव्य अपनी कला की चरम सीमा पर है तो 'यशोधरा' उससे एक कदम आगे की वस्तु है। निस्सन्देह उर्मिला और यशोधरा दोनों ही श्रेष्ठ नारियाँ हैं। लोक-सेवा के लिये यशोधरा ने अपना पुत्र राहुल समर्पित किया, यह महान उच्च आदर्श है। वर्तमान समय में हमें ऐसी नारियों की आवश्यकता है। इस प्रकार भारतीय नारी का आदर्श जितना यशोधरा में है उतना उर्मिला में नहीं। वर्तमान भारत की नारी का प्रतीक जितनी यशोधरा बन सकती है उतनी उर्मिला नहीं।

—दरबारी लाल जैन।

जिज्ञासा

श्री अम्बाप्रसाद 'सुमन' सासनी अलीगढ़ ने नीचे लिखे प्रश्न पूछे हैं।

१—रस और भाव में प्रधान अन्तर क्या है? क्या भक्ति रस भी है?

उत्तर—रस और भाव में प्रधान अन्तर यही है कि रस पूर्ण चीज है और भाव उसका एक अङ्ग है। वह अपूर्ण है। यदि सञ्चारी भाव को ही प्रधानता दे दी जाय तो वह भाव ही होगा रस नहीं। शास्त्रीय दृष्टि से दाम्पत्य रति के अतिरिक्त और कोई रति चाहे वह देव विषयक हो या राजा विषयक या पुत्र विषयक भाव होगी। उसमें वे रस का पूर्ण परिपाक नहीं मानते। (स्थायी भाव में यदि कोई शङ्का की बात लग जाय तो उसका भी रस में परिपाक नहीं होता) शास्त्रीय दृष्टि से वात्सल्य भी भाव ही रहेगा किन्तु व्यापकता और तीव्रता के कारण उसे रस

मान लिया है। स्थायी भाव और सञ्चारी भाव में यही अन्तर है कि स्थायी भावों का सम्बन्ध हमारी प्राथमिक वृत्तियों (Original Instincts) से है। वात्सल्य का सम्बन्ध ऐसी ही वृत्ति से है। भक्ति को भी करीब-करीब इन्हीं कारणों से रस मान लिया जाता है। वैष्णवों ने तो भक्ति को प्रधान रस मान कर और रसों को इसके अन्तर्गत माना है।

२—कल्पना, अनुभूति और चिन्तन की काव्यमयी अभिव्यञ्जना कला में अलग-अलग रहती है या तीनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है?

उत्तर—वस्तु-पदार्थ-यथार्थ का प्रत्यक्षीकरण अनुभूति है। यह प्रत्यक्षीकरण मनतः या शरीरतः हो सकता है। शरीरतः तो स्थूल-दर्शन (प्रत्यक्ष-दर्शन, चित्र-दर्शन आदि) से प्रत्यक्षीकरण होता है। मनतः स्मृति के द्वारा विगत प्रत्यक्ष की पुनरुद्भावना करके अथवा कल्पना से विविध विगत-प्रत्यक्षों की मानस-चित्र (Image) में प्रस्तुत करके। पर यह तो प्रत्यक्षीकरण अनुभूति का आधार है, इस वस्तु-पदार्थ-यथार्थ के प्रत्यक्षीकरण से जो व्यक्ति में उससे वस्तु से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित 'भाव-समूह' जागृत होता है, जिससे उस वस्तु का प्रत्यक्षीकरण सार्थक होता है, वह वस्तु-पदार्थ-यथार्थ का व्यक्ति-प्रति जाने में उद्भावित हुआ समस्त रूप (वस्तु व भाव संयुक्त) जिसमें से किसी को भी एक दूसरे से अलग करके नहीं ग्रहण किया जा सकता, अनुभूति है।

'कल्पना'* मन की उस क्रिया का फल है जो विविध परिज्ञानों और प्रत्यक्षीकरणों के आधार पर मानस-चित्र प्रस्तुत करती है जो नये-नये भी हो सकते हैं अथवा पुनः निर्मित हो सकते हैं। नूतनता साधारणतः व्यक्ति-परक (Subjective) होती है और जितनी ही यह साधारणीकरण के आधार पर साधारण को त्याग कर असाधारण का रूप प्रस्तुत करती है, उतनी ही ऊँची होती चली जाती है।

'चिन्तन' मन की वह क्रिया है और उसका फल भी है जो किसी वस्तु अथवा विषय पर बुद्धि की सुसम्बद्ध क्रमबद्ध तर्क-संगत (Logical) विचार-परम्परा को प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए प्रसादजी का यह गीत ले सकते हैं—

बीती विभावरी जागरी
अम्बर पनघट में डुबा रही
तारा घट ऊँचा नागरी
खगकुल कुल कुल सो बोल रहा
किसलय का अञ्चल डोल रहा
लो यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल रस गागरी
अधरों में राग अमन्द किये
अलकों में मलयज बन्द किये
तू अब तक सोई है आली
आँखों में भरे विहाग री।

इसमें रात्रि के व्यतीत होने का समय, ताराओं का डूबना, पक्षियों का कलरव, किसलयों का चाञ्चल्य, लतिकाओं का मुकुलित होना आदि उषाकालीन सौन्दर्य अथवा उषा-सौन्दर्य का दर्शन कवि की अनुभूति है। इस अनुभूति का प्रधान अङ्ग है उषा की सप्राणता कल्पना ने उषा को नागरी बना दिया है, अम्बर को पनघट, तारा को घट, किसलय को अञ्चल आदि बना कर अनुभूति को तीव्र और प्रभावशाली बना दिया है। 'रात्रि बीत गयी है, पर तू अभी सो रही है' जाग, ऐसी पंक्तियाँ 'चिन्तन' का परिणाम है। साधारणतः तीनों ही काव्य की कलात्मक अभिव्यञ्जना में घुली-मिली मिलती हैं, एक-दूसरी के सहायक पर कवि की प्रकृति के अनुसार किसी में अनुभूति प्रधान होती है, किसी में कल्पना, किसी में चिन्तन। शैली के साथ अनुभूति भाव-तत्व है, कल्पना स्वयं एक तत्व है, चिन्तन बुद्धि-तत्व है। ये चारों काव्य के अङ्ग माने गये हैं।

३—दरभङ्गा से श्री केदारनाथ प्रसाद का एक प्रश्न है—"यह कथन कहाँ तक सत्य है कि रसखान की रचनाओं में जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं पाया जाता।

* कल्पना के सम्बन्ध में देखिए 'सिद्धान्त और अध्ययन' पृ० ७८-७९ का विचार और अनुभूति पृ० १६-१४

उत्तर—प्रश्नकर्ता ने जो बात रसखान के सम्बन्ध में पूछी है वही प्रायः सभी रीतिकालीन कवियों और भक्त-कवियों के एक विशेष वर्ग के सम्बन्ध में पूछी जा सकती है। 'रसखान' एक विशेष वर्ग के कवि थे, उनका स्थान अपने रूप में स्वतन्त्र नहीं है। उनका वर्ग भक्त-कवियों के मध्य खेवे का वर्ग है। कृष्ण-भक्ति के प्रथम खेवे के कवियों में लीला, रूप, सौन्दर्य और भक्ति-सिद्धान्त तीनों का समन्वय था, भक्ति के हृदय-द्रावी तत्व में उनका उक्ति-वैभव और चमत्कार'उल्लास दबा हुआ रहा और कथा के प्रवाह में अपने विशेष स्थान पर ही आया। मध्य खेवे के कृष्ण-भक्तों में हृदय का द्रावक तत्व उतना विशेष स्फुट नहीं होता जितना रमणीयता का तत्व। इस रमणीयता में लीला का तारतम्य कथा-प्रवाह-संयुक्त नहीं रहा, लीलाओं के विविध आकर्षक स्फुट स्थल उक्ति-वैभव और चमत्कार उल्लास के आधार बनकर आये हैं। उल्लास के लिए आधार बन कर लीलायें आयी हैं, लीला के साथ उल्लास नहीं आया है। भक्ति की भावना ने रमणीयता और लीला-सौन्दर्य को दिव्य तो बना दिया है पर उतना तादात्म्यकर नहीं बनाया। जीवन का समस्त वैविध्य इस भक्ति में विलीन हो गया है, जीवन के किसी अन्य रूप की कल्पना यथार्थ भक्त कर ही नहीं सकता। भक्ति ही उसके लिए 'जीवन' का पर्याय हो जाती है, वह यही गाता है, 'भक्ति बिनु बैल बिराने ह्वै हौं।' जिसे आज जीवन (Life) कहा जाता है और जिसकी विविध समस्याएँ हमें तथा साहित्यकारों को आकर्षित करती हैं, वह जीवन भक्ति से बाहर है, वह मनुष्य का विरानापन है। ऐसे जीवन की समस्याओं की ओर भक्तों का ध्यान जा ही नहीं सकता। 'मिथ्या' को वे महत्व नहीं दे सकते हैं। उनके लिए 'काव्य' जीवन की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति है, उसमें जीवन के विकारों का प्रदर्शन नहीं हो सकता, जो अपना अभीष्ट नहीं जो अपना यथार्थ जीवन ही नहीं उसे 'काव्य' कैसे ग्रहण कर सकता है। वस्तुतः उनकी रचनायें काव्य के लिए नहीं, उन्होंने जो लिखा है वह काव्य भले ही हो गया है। फलतः जिस जीवन की समस्याओं का समाधान हम रसखान में अथवा अन्य कृष्णभक्त कवियों में देखना चाहते हैं, वह नहीं मिल सकता। फिर भी सूर या तुलसी जैसे भक्त कवियों में जीवन के सम्पर्क का अभाव नहीं है। सूर ने जीवन के सौन्दर्य पक्ष को दिखाया है जिससे मनुष्य को जीवन और उसके सौन्दर्य में आस्था हो और वह वैराग्य वृत्ति के चक्र में न पड़े। तुलसी ने उसके आदर्श को जीवन में चरितार्थ कर दिखाया है।

प्रेमचंद : उनकी कहानी कला

सत्येन्द्र

सत्येन्द्र जी हिन्दी-साहित्य के प्रमुख आलोचकों में हैं। उनकी सभी रचनाएँ बड़े आदर के साथ पढ़ी जाती हैं। उन्होंने बहुधा उन्हीं विषयों पर लिखा है जिन पर हिन्दी पर आवश्यक ध्यान नहीं दिया गया। प्रेमचंद की कहानियों पर भी अभी समुचित विचार नहीं हुआ। यह पुस्तक प्रेमचंद की २००–२५० कहानियों की एक संक्षिप्त विश्लेषणात्मक संश्लिष्ट समीक्षा है। इसमें प्रेमचंद का संक्षिप्त परिचय; उनके काल की प्रवृत्तियाँ, उनकी कहानी की परिभाषा, विविध कहानियों के विविध वर्गीकरण, उनकी विविध टेकनीक, तथा उनकी कला का क्रमिक विकास-अत्यंत सुलझे हुए रूप में अधिकार पूर्वक प्रति पादित हुआ है। आलोचना-प्रणाली में भी सत्येन्द्र जी ने एक नवीनता अपनायी है। यह पुस्तक अवश्य ही एक आवश्यक दिशा में हिन्दी-क्षेत्र की विचार-धारा को प्रेरित करने में सफल होगी।



आलोचना

सूर सौरभ २ भाग—लेखक-पण्डित मुन्शीराम शर्मा 'सोम' एम० ए०, प्रकाशक-आचार्य शुक्ल साधना मंदिर, पटकापुर, कानपुर। मूल्य प्रथम भाग २) द्वितीय भाग ४=)--पृष्ठ सख्या प्रथम भाग १२२, द्वितीय भाग १६६+१३७=३०३

तुलसी की भाँति अब सूर का अध्ययन भी विधिवत वैज्ञानिक ढङ्ग से होने लगा है। सूर पर कई अच्छे-अच्छे ग्रन्थ निकल चुके हैं उनमें यह ग्रन्थ अपना विशेष स्थान रखता है। इसकी सर्वाङ्गपूर्णता इसकी एक बड़ी विशेषता है। प्रथम भाग में तो केवल अन्तर्साक्ष्य और वहिसाक्ष्य पर लिखी हुई सूर की जीवनी तथा वैष्णवधर्म का इतिहास है। दूसरे में सूर के ग्रन्थों की परस्परान्विति, सूर के सिद्धान्तों की पुष्टि-मार्गी वैष्णव सम्प्रदाय के आधार पर-विवेचना है। सूरसागरकाविषयगत परिचय तथा काव्य समीक्षा, जिसमें सूर के भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों की विस्तृत आलोचना है, इन विषयों पर चार स्तम्भहै।

इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता यह है कि लेखक ने आर्यसमाजी होते हुए भी पूर्ण वैष्णवी सहृदयता से सूर का अध्ययन किया है। उनका आर्यसमाजी दृष्टिकोण केवल एक जगह परिलक्षित होता है जहाँ पर कि वे यह कहते हैं कि वेद में कृष्ण राधा आदि ऐतिहासिक रूप से नहीं आये हैं वरन् उनका दूसरा अर्थ है, पीछे से पौराणिक साहित्य में वे अपनाये गये हैं। वैसे घोर अंगिरिस के शिष्य के रूप में शर्माजी ने कृष्ण का ऐतिहासिक अस्तित्व भी स्वीकार किया है।

लेखक ने सूर के जीवन-चरित्र को देते हुए साहित्य-लहरी के पद को अधिक प्रमाणिक माना है और उसीके आधार पर उन्होंने उनको सारस्वत ब्राह्मण न मान कर चन्द्र का वंशज माना है। शर्माजी ने उस छन्द के सम्बन्ध में कतिपय आपत्तियों को दूर करने का प्रयास किया है जैसे 'प्रबल दच्छिण विप्र कुल तें सत्रु ह्वै है नास से उन्होंने वल्लभाचार्य द्वारा आध्यात्मिक शत्रुओं के नाश' का अर्थ लगाया है। किन्तु वहाँ प्रसङ्ग यवनों का है जिनके द्वारा उनके भाई मारे गये थे। पृथु जाग (यज्ञ) से उत्पन्न होने की उन्होंने जो कल्पना की है उसमें कुछ सार हो सकता है किन्तु उन्होंने चन्द्र के वशांनुक्रम में जो शुक्लजी आदि ने अन्तर दिखा दिया है उसकी पर्याप्त व्याख्या नहीं की है। सूर के सारस्वत ब्राह्मण होने के सम्बन्ध में हरिराय जी की जिस टीका का मिश्रबन्धुओं ने उल्लेख किया है वह विद्या-विभाग कांकरोली से प्रकाशित हो गई है। उसमें उनको सारस्वत ही लिखा है। 'सो ता गाम में एक सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ प्रगटे' सूर के सारस्वत ब्राह्मण या ब्रह्मभट्ट होने से उनके कवित्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

'पुनि पुनि रसन के रस लेख' के अर्थ लगाने में भी कुछ नवीनता की गई है। रसन का अर्थ साधारणतया रस न शून्य लिया जाता है, किन्तु शर्मा जी के मत से रस न का अर्थ रसना लेना अधिक ठीक होगा और उससे उसका

उत्तर—प्रश्नकर्ता ने जो बात रसखान के सम्बन्ध में पूछी है वही प्रायः सभी रीतिकालीन कवियों और भक्त-कवियो के एक विशेष वर्ग के सम्बन्ध में पूछी जा सकती है। 'रसखान' एक विशेष वर्ग के कवि थे, उनका स्थान अपने रूप में स्वतन्त्र नहीं है। उनका वर्ग भक्त-कवियो के मध्य खेवे का वर्ग है। कृष्ण-भक्ति के प्रथम खेवे के कवियों में लीला, रूप, सौन्दर्य और भक्ति-सिद्धान्त तीनों का समन्वय था, भक्ति के हृदय-द्रावी तत्व में उनका उक्ति-वैभव और चमत्कार उल्लास दबा हुआ रहा और कथा के प्रवाह में अपने विशेष स्थान पर ही आया। मध्य खेवे के कृष्ण-भक्तों में हृदय का द्रावक तत्व उतना विशेष स्फुट नहीं होता जितना रमणीयता का तत्व। इस रमणीयता में लीला का तारतम्य कथा-प्रवाह-संयुक्त नहीं रहा, लीलाओं के विविध आकर्षक स्फुट स्थल उक्ति-वैभव और चमत्कार उल्लास के आधार बनकर आये हैं। उल्लास के लिए आधार बन कर लीलायें आयी हैं, लीला के साथ उल्लास नहीं आया है। भक्ति की भावना ने रमणीयता और लीला-सौन्दर्य को दिव्य तो बना दिया है पर उतना तादात्म्यकर नहीं बनाया। जीवन का समस्त वैविध्य इस भक्ति में विलीन हो गया है, जीवन के किसी अन्य रूप की कल्पना यथार्थ भक्त कर ही नहीं सकता। भक्ति ही उसके लिए 'जीवन' का पर्याय हो जाती है, वह यही गाता है, 'भक्ति बिनु बैल बिराने ह्वै हौं।' जिसे आज जीवन (Life) कहा जाता है और जिसकी विविध समस्याएँ हमें तथा साहित्यकारों को आकर्षित करती हैं, वह जीवन भक्ति से बाहर है, वह मनुष्य का विरानापन है। ऐसे जीवन की समस्याओं की ओर भक्तों का ध्यान जा ही नहीं सकता। 'मिथ्या' को वे महत्व नहीं दे सकते हैं। उनके लिए 'काव्य' जीवन की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति है, उसमें जीवन के विकारों का प्रदर्शन नहीं हो सकता, जो अपना अभीष्ट नहीं जो अपना यथार्थ जीवन ही नहीं उसे 'काव्य' कैसे ग्रहण कर सकता है। वस्तुतः उनकी रचनायें काव्य के लिए नहीं, उन्होंने जो लिखा है वह काव्य भले ही हो गया है। फलतः जिस जीवन की समस्याओं का समाधान हम रसखान में अथवा अन्य कृष्णभक्त कवियों में देखना चाहते हैं, वह नहीं मिल सकता। फिर भी सूर या तुलसी जैसे भक्त कवियों में जीवन के सम्पर्क का अभाव नहीं है। सूर ने जीवन के सौन्दर्य पक्ष को दिखाया है जिससे मनुष्य को जीवन और उसके सौन्दर्य में आस्था हो और वह वैराग्य वृत्ति के चक्र में न पड़े। तुलसी ने उसके आदर्श को जीवन में चरितार्थ कर दिखाया है।

प्रेमचंद : उनकी कहानी कला

सत्येन्द्र

सत्येन्द्र जी हिन्दी-साहित्य के प्रमुख आलोचकों में हैं। उनकी सभी रचनाएँ बड़े आदर के साथ पढ़ी जाती हैं। उन्होंने बहुधा उन्हीं विषयों पर लिखा है जिन पर हिन्दी पर आवश्यक ध्यान नहीं दिया गया। प्रेमचंद की कहानियों पर भी अभी समुचित विचार नहीं हुआ। यह पुस्तक प्रेमचंद की २००–२५० कहानियों की एक संक्षिप्त विश्लेषणात्मक संश्लिष्ट समीक्षा है। इसमें प्रेमचंद का संक्षिप्त परिचय; उनके काल की प्रवृत्तियाँ, उनकी कहानी की परिभाषा, विविध कहानियों के विविध वर्गीकरण, उनकी विविध टेकनीक, तथा उनकी कला का क्रमिक विकास-अत्यंत सुलझे हुए रूप में अधिकार पूर्वक प्रति पादित हुआ है। आलोचना-प्रणाली में भी सत्येन्द्र जी ने एक नवीनता अपनायी है। यह पुस्तक अवश्य ही एक आवश्यक दिशा में हिन्दी-क्षेत्र की विचार- धारा को प्रेरित करने में सफल होगी।



आलोचना

सूर सौरभ २ भाग—लेखक-पण्डित मुन्शीराम शर्मा 'सोम' एम० ए०, प्रकाशक-आचार्य शुक्ल साधना मंदिर, पटकापुर, कानपुर। मूल्य प्रथम भाग २) द्वितीय भाग ४।)-पृष्ठ सख्या प्रथम भाग १२२, द्वितीय भाग १६६+१३७=३०३

तुलसी की भाँति अब सूर का अध्ययन भी विधिवत वैज्ञानिक ढङ्ग से होने लगा है। सूर पर कई अच्छे-अच्छे ग्रन्थ निकल चुके हैं उनमें यह ग्रन्थ अपना विशेष स्थान रखता है। इसकी सर्वाङ्गपूर्णता इसकी एक बड़ी विशेषता है। प्रथम भाग में तो केवल अन्तर्साक्ष्य और वहिसाक्ष्य पर लिखी हुई सूर की जीवनी तथा वैष्णवधर्म का इतिहास है। दूसरे में सूर के ग्रन्थों की परस्परान्विति, सूर के सिद्धान्तों की पुष्टि-मार्गी वैष्णव सम्प्रदाय के आधार पर-विवेचना है। सूरसागरकाविषयगत परिचय तथा काव्य समीक्षा, जिसमें सूर के भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों की विस्तृत आलोचना है, इन विषयों पर चार स्तम्भहै।

इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता यह है कि लेखक ने आर्यसमाजी होते हुए भी पूर्ण वैष्णवी सहृदयता से सूर का अध्ययन किया है। उनका आर्यसमाजी दृष्टिकोण केवल एक जगह परिलक्षित होता है जहाँ पर कि वे यह कहते हैं कि वेद में कृष्ण राधा आदि ऐतिहासिक रूप से नहीं आये हैं वरन् उनका दूसरा अर्थ है, पीछे से पौराणिक साहित्य में वे अपनाये गये हैं। वैसे घोर अंगिरिस के शिष्य के रूप में शर्माजी ने कृष्ण का ऐतिहासिक अस्तित्व भी स्वीकार किया है।

लेखक ने सूर के जीवन-चरित्र को देते हुए साहित्य-लहरी के पद को अधिक प्रमाणिक माना है और उसीके आधार पर उन्होंने उनको सारस्वत ब्राह्मण न मान कर चन्द्र का वंशज माना है। शर्माजी ने उस छन्द के सम्बन्ध में कतिपय आपत्तियों को दूर करने का प्रयास किया है जैसे 'प्रबल दच्छिण विप्र कुल तें सत्रु ह्वै है नास से उन्होंने वल्लभाचार्य द्वारा आध्यात्मिक शत्रुओं के नाश' का अर्थ लगाया है। किन्तु वहाँ प्रसङ्ग यवनों का है जिनके द्वारा उनके भाई मारे गये थे। पृथु जाग (यज्ञ) से उत्पन्न होने की उन्होंने जो कल्पना की है उसमें कुछ सार हो सकता है किन्तु उन्होंने चन्द्र के वशांनुक्रम में जो शुक्लजी आदि ने अन्तर दिखा दिया है उसकी पर्याप्त व्याख्या नहीं की है। सूर के सारस्वत ब्राह्मण होने के सम्बन्ध में हरिराय जी की जिस टीका का मिश्रबन्धुओं ने उल्लेख किया है वह विद्या-विभाग कांकरोली से प्रकाशित हो गई है। उसमें उनको सारस्वत ही लिखा है। 'सो ता गाम में एक सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ प्रगटे' सूर के सारस्वत ब्राह्मण या ब्रह्मभट्ट होने से उनके कवित्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

'पुनि पुनि रसन के रस लेख' के अर्थ लगाने में भी कुछ नवीनता की गई है। रसन का अर्थ साधारणतया रस न शून्य लिया जाता है, किन्तु शर्मा जी के मत से रस न का अर्थ रसना लेना अधिक ठीक होगा और उससे उसका

अर्थ १ लिया जायगा। यहाँ तक तो बात ठीक समझ में आती है। रसना के दो कार्य लेकर उसका अर्थ दो लेना कुछ खींचतान मालूम होती है। सुवल का अर्थ वृषभ संवत् लगाने में भी कल्पना का आधिक्य प्रतीत होता है।

शर्माजी ने साहित्यलहरी के पद के आधार पर वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने से पूर्व सूरदासजी को शैव माना है। उस पद में शिव-साधना का उल्लेख है। पहले तो इस पद की प्रामाणिकता में बहुत संदेह है दूसरे उनके विनय के पदों में जो दीक्षा लेने के पूर्व के कहे जाते हैं शैव सम्प्रदाय की झलक नहीं है, इस सम्बन्ध में दूसरा पक्ष उनको हरिदासी सम्प्रदाय का साधू बतलाता है। वैज्ञानिक अध्ययन के लिए दूसरे पक्ष का भी विवेचन और उल्लेख वांछनीय था। यह बातें गौण है।

शर्माजी ने राधा कृष्ण लीला का लौकिक पक्ष कम लिया है। उसके आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक बल दिया है और राधा को ब्रह्म की प्रकृति का रूपान्तर माना है। यद्यपि लौकिक और आध्यात्मिक पक्षों का एकीकरण बड़ा कठिन है तथापि यह उनकी सहृदयता का परिचायक है। रासलीला को भी उन्होंने विश्व के कण-कण में व्याप्त समय और संगीत का प्रतीक ही माना है। लेखक की सहृदयता इससे स्पष्ट है कि जहाँ साधारण लोग राधाकृष्ण की विलास वैभव पूर्ण मन्दिरों में अभिनीत दिनचर्या की निन्दा करते हैं वहाँ उन्होंने उसका सदाशय पूर्ण अर्थ लगाया है। वे कहते हैं :—"संभव है इस चहल-पहल में मुगलों के वैभव का भी कुछ प्रभाव हो। पर इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की उपासना-पद्धति ने हिन्दुत्व को स्थिर रखने में बड़ी सहायता दी। इस वैभव के समक्ष हमने यवन-वैभव को भी तुच्छ समझा और अपने स्वाभिमान को ठेस न लगने दी, इसी हेतु हमने सूर की भक्ति को प्रवृत्ति-मूलक माना है। उसमें निराशा नहीं, निवृत्ति नहीं, जीवन से ज्वलन्त राग का, आशा का स्रोत है।"

लेखक महोदय ने सूर पर निर्गुण प्रभाव भी माना है जो भगवान को हृदय के अन्तरपट में ही देखता चाहता है। यद्यपि उन्होंने यह लिख दिया है कि यह प्रभाव वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षा के पहले का है तथापि उन्होंने सूर के बाह्य पक्ष पर इतना बल नहीं दिया है जितना अन्तरमुखी पक्ष पर। जहाँ उन्होंने तुलसी के सम्बन्ध में कहा है कि "इस बात पर खीज कर तुलसी ने कहा था—'अन्तर्जामिहुते बड़ बाहरिजामि है, राम के नाम लिये ते। पैज परे प्रहलादहु की, प्रकटे प्रभु पाहन ते न हियेते' पर सूर आन्तरिक साधना से अधिक प्रभावित हैं" वहाँ यह कहा जा सकता है कि सूर ने भी ऐसी बात गोपियों से कहलाई है 'उर से क्यों न करत शीतल जो पै कान्ह यहाँ है 'जो पै हिरदै माँझ हरी, तो पै इतनी अवज्ञा उन पै कैसे सही परी' और लीजिये :—

दूर नही दयालु सब घर रहत एक समान।
निकस क्यों न गोपाल बोधत दुखिन के दुख जान।

सारा भ्रमरगीत ही आन्तरिक पक्ष के विरोध में है उसमें शैव जोगियों की हँसी भी उड़ाई गई है—'इख दंडहि डारि डारि गुन, गहत पानि विषान' और देखिये :—

जोग-मोट सिर बोझ आनि कै,
कत तुम घोष उतारी।
इतनी दूरि जाहु चलि काशी,
जहाँ बिकत हैं प्यारी॥

काशी पर व्यंग के कारण भी हमको सूर के दीक्षा के पूर्व शैव होने में सन्देह होता है। यद्यपि यह ठीक है कि मत-परिवर्तन में कुछ अधिक उत्साह आजाता है (नया मुसलमान अल्लाह अल्लाह पुकारे) और अपने पूर्वमत का खण्डन भी कर सकता है किन्तु सूर के लिए हम ऐसा नहीं सोच सकते, यह तो असङ्गगत बात है। उनका शैव होना न होना उनकी दीक्षा-पूर्व की विचार धारा पर निर्भर है) सूर के सगुण के प्रति आस्था की बात सभी जानते हैं। शर्मा जी ने सूर पर निर्गुण के प्रभाव के भी उदाहरण दे दिये, उसके लिए हम उनके अनुगृही हैं, लेकिन उसी स्थल पर सूर का सगुण और वाह्यपक्ष ओझल न कर देना चाहिए था। वैसे भ्रमरगीत के प्रसंग में उनके सगुणवाद का भी उद्घाटन कर दिया गया है। शर्माजी ने सूर के भाव-पक्ष के उद्घाटन में काफी सावधानी, विस्तार (और गहराई से भी) काम लिया है। भाव-पक्ष

में सञ्चारियों का अच्छा विश्लेषण किया है। प्रेम की दशाओं और नायिका-भेद के उदाहरण दिये हैं। सूर में शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों के भी उदाहरण उपस्थित किए हैं किन्तु खेद है वात्सल्य का उतना विशद वर्णन नहीं है जितना शृंगार का। सूर के प्रकृति-वर्णन में उन्होंने प्रकृति का चित्रण उद्दीपन रूप से तथा अलङ्कार रूप से नहीं वरन् उसके कोमल और भयङ्कर रूप में भी किया है तथा उसका विषयात्मक चित्रण भी दिखाया है।

साहित्यिक

हिन्दी कलाकार। (भावार्थ रूप में) लेखक—श्री इन्द्रनाथ मदान एम० ए०, पी० एच-डी०, प्रकाशक—हिन्दी भवन, लाहौर। पृ० संख्या ३७८, मूल्य ५)

इस पुस्तक में हिन्दी के दस कवि तथा लेखकों की रचनाओं का परिचय, उनका आलोचनात्मक वर्णन है। कवियों में कबीर, जायसी, सूरदास, तुलसीदास, मैथिलीशरण गुप्त, जयशङ्कर प्रसाद, निराला, सुमित्रानन्दन पन्त और महादेवी वर्मा हैं। प्रसादजी को प्रथक नाटककार के रूप में तथा अन्त में श्री प्रेमचन्दजी को उपन्यासकार के रूप में चित्रित किया गया है। लेखक का उद्देश्य प्रत्येक कलाकार की रचना का उसके कला के रूप में विवेचन करना है। प्रत्येक कलाकार अपने युग की वाणी का प्रवक्ता होता रहा है। उसकी पचनाओं पर जहाँ युग-प्रवृत्तियों की छाप होती है सामाजिक अवस्था और तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव होता है, वहाँ उनकी वैयक्तिक भावनाओं, स्वतन्त्र प्रवृत्तियों का अभाव नहीं हो जाता। इस रूप में कबीर, जायसी, सूर और तुलसी भक्तिकाल के कवि हैं, साथ ही कबीरजी उसको संत मार्गी शाखा के प्रवर्तक, जायसीजी प्रेम मार्गी तथा सूरदास और तुलसीदास क्रमशः कृष्ण और रामोपासक भक्त-समूह की भावनाओं के प्रतिनिधि हैं। आधुनिक कलाकारों में लेखक ने श्री मैथिलीशरण को भारतीय संस्कृति के वर्तमान प्रतिनिधि के रूप में, श्री प्रसादजी को छायावाद के प्रवर्तक तथा पन्त और निरालाजी को छायावाद के यौवन शृङ्गार-कर्ता और महादेवी वर्मा को उसमें मार्दव तथा सुकुमारता लाना वाला व्यक्त किया हैं। इसी प्रकार श्री प्रेमचन्दजी को आधुनिक उपन्यासकारों का प्रतिनिधि माना है। लेखक का यह मत और विश्वास है कि हिन्दी साहित्य का स्वतन्त्र–विकास केवल भक्तिकाल और आधुनिक काल में ही उक्त कलाकारों द्वारा हुआ है। अतः वीरगाथा काल के साहित्य और उसके साहित्यकारों को लेखक आश्रयदाताओं का दास मान उन्हें कला के स्वतन्त्र विकास की चीज नहीं समझता। इसी प्रकार रीति काल के कवि को भी वह विस्मृत करने योग्य ही समझता है। इस बात में बहुतों को आपत्ति हो सकती है। आधुनिक साहित्यकारों में कितने ही और भी कलाकार हैं जो श्रेष्ठ नाटककार, कवि या उपन्यासकार की श्रेणी में रक्खे जाने चाहिये। लेखक ने अपने मत की पुष्टि में सफाई भी दे दी है।

—रमेशवर्मा

कविता

सारन्धा—रचयिता–श्री राजेन्द्र देव सेंगर, प्रकाशक–विनोद पुस्तक मन्दिर, हास्पिटल रोड, आगरा। पृष्ठ ११७, सजिल्द मूल्य ४)

यह एक ऐतिहासिक वीर काव्य है। सती सारंधा की कथा लोगों ने पढ़ी है। पर न साहित्य में और न वीर-पूजा में इस महान आत्मा को वह स्थान मिला है, जिसकी अपेक्षा इमसे की जानी चाहिए। वास्तव में यह उपेक्षा सारंधा की नहीं, हमारी गुण-ग्राहक बुद्धि, ऐतिहासिक ज्ञान और आत्म–गौरव की उपेक्षा है। सारंधा का साचरित्र भारत के इतिहास में बेजोड़ है। उसका जौहर पद्मिनी के जौहर से भी ऊंचा, उसकी वीरता लक्ष्मीबाई की वीरता से भी ऊंची है।

ऐसी वीर बाला के प्रसिद्ध कथानक पर कवि ने अपनी काव्य रचना की है। विषय का महत्व स्वतः प्रगट है। अतः यह दोषी कवि समाज और कविता पाठक तथा देश और जाति के गौरव पर अभिमान करने वाले प्रत्येक भारतीय के लिए आदर की चीज होगी। नमूने के लिए यहाँ पुस्तक में से कुछ पंक्तियाँ हम उद्धृत करते हैं—

सारंधा के पति को लताड़—

राणा भी तो हो सकता था,
भारत का वैभव भोगी

फिर क्यों फिरा अरे बन-बन में,
अलख जगाता वह योगी।
टुकड़े टुकड़े रोटी को ही,
दुखिया बच्चे तरस गये।
हरी घास की रोटी पर ही,
उनके आंसु बरस गये।
मन था क्षत्री किन्तु राणा था,
थान तुम्हारा सा सोभी।
क्षत्रिय क्या हैं ? पता चल गया,
था इसका अकबर को भी।
उसके चेतक की टापों से,
धन्य राजपूताना था।
एक वीर था वह हिन्दू पति,
एक आपका बाना था।

पुत्र की बलि देते समय—

दयानिधे ! यह तरुण तनय,
यह होनहार सुत प्यारा।
बुंदेलों के गौरव पर,
करती हूँ भेंट दुलारा।

पति का बलिदान करते समय—

जिस पर करती रहीं हास्य थी अभिलाषायें,
जिस पर छाई रहीं अमित उसकी आशायें।
जो उसके आत्माभिमान का केन्द्र बना था।
जिस पर उसके सुख सुहाग का शिखर तना था।
उस रानी ने निज खंग से उसी हृदय का वधकिया
किस स्त्री की तलवार ने है ऐसा जौहर किया।

काव्य इतिहास नहीं है। इतिहास के आधार पर कवि की कल्पना समीचीन है। कहीं कहीं छन्द शिथिल होगये हैं और शब्दों का चयन भी अटपटा सा लगता है। प्रूफ की गलतियाँ भी खटकती हैं। मूल्य में बेशी की गई है। पुस्तक लाभप्रद और पठनीय है।

अरुणिमा—रचयिता— श्री युगलकिशोर पटैरिया 'युग', प्रकाशक—बुंदेलखण्ड साहित्य परिषद, महोबा। पृष्ठ ६०, मूल्य १।)

'अरुणिमा' के अन्दर कवि की २६ कविताओं का संग्रह है। अधिकतर कवि प्रकृति का सहारा लेकर उस पर कल्पना का सुन्दर आवरण चढ़ाते हैं, अरुणिमा के कवि ने भी यह आधार ढूँढ़ा है, इस आधार के अभाव की कविताएँ फिर वही नैराश्य जीवन का एक रोदन (भले ही वह स्वर और गति के साथ हो) बन जाती हैं। कई राष्ट्रीय कविताएँ इस संग्रह में स्थान पा गई हैं जो कवि के विकासशील जीवन का परिचय देती हैं।

अवसाद—रचयिता-श्री 'मानव', प्रकाशक-श्री विश्वम्भर 'मानव' बनवटा मुरादाबाद पृष्ठ सं० ५१, मूल्य ॥।)

इस पुस्तक में श्री मानवजी की इक्यावन कविताएँ संग्रहीत हैं। कविताएँ भावमयी, कवित्व के गुण से पूर्ण तथा हृदय स्पर्श करने वाली हैं किन्तु हैं वे कवि की अपनी अकेली दुनिया की चीज है।

स्वातः सुखाय अथवा कविता की प्यास की तृप्ति के लिए की गई रचना में कवित्व के गुण आ सकते हैं, समाज के काम की चीज वह नहीं बन सकती। मानवजी की इन कविताओं में रूप, रस, गंध की ही भावना का प्रस्फुरण है। मानस-तरंगे कभी वियोग कभी भेंट और तज्जनित अनेकों आवेगों के बीच में होकर अपना पात्र बनाती हैं। कवि उन्हें छंद में गूँथ लेता है। पढ़ने वाले को उसमें यथा स्थान प्रसाद और माधुर्य गुण का आनन्द आ जाता है।

पृष्ठ २५० का शेषांश

देव-पुरस्कार—इस वर्ष का देव पुरस्कार खड़ी बोली के काव्य पर था। हमको यह सूचित करते बड़ा हर्ष होता है कि यह पुरस्कार आगरे के सुप्रसिद्ध कवि पंडित हरिशङ्करजी शर्मा को उनकी 'घास-पात' नाम की पुस्तक पर मिला है। घास-पात नाम पंडितजी की निरभिमानता और शील-संकोच का द्योतक है किन्तु हमको यह न भूलना चाहिए कि इस घास-पात में भी घास-पात की भाँति राष्ट्रीय जीवन के तत्व वर्तमान हैं। पण्डितजी की एकान्त साहित्य-साधना का मूल्य रुपयों में नहीं आँका जा सकता फिर भी उनकी साधना को पुरस्कृत देखकर हमको हर्ष होता है और हम उनको हृदय से बधाई देते हैं।

सम्पादकीय

विक्रम द्विसहस्राब्दी के स्मृति-ग्रन्थ—

विक्रम की द्विसहस्राब्दी हमारे इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी। उसके स्मारक स्वरूप तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, दो उद्योग सार्वजनिक संस्थाओं के द्वारा हुए हैं, एक श्री नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा। नागरी प्रचारिणी पत्रिका के विशेषाङ्क के रूप में। यह पत्रिका का 'विक्रमाङ्क' डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा सम्पादित है। इसमें छब्बीस शीर्षक हैं, जिनमें चार संकलित हैं, ११ स्वयं डा० वासुदेवशरणजी के हैं, शेष श्री रामदत्त शुक्ल भारद्वाज, श्री पृथिवपुत्र (?), डा० अनन्त सदाशिव अलङ्कार, डा० राजबली पांडेय, श्री भगवद्दत्त, श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, डा० मोतीचन्द, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री चन्द्रगुप्त वेदालङ्कार के हैं। इस अङ्क की सामग्री जुटाने में सम्पादक का दृष्टिकोण भारतीय इतिहास और संस्कृति के उन विषयों को प्रमुखता देने का रहा है, जिन पर साधारणतः कम चर्चा हुई है और जिधर कम ध्यान गया है। इसका प्रत्येक निबन्ध तत्वज्ञों के लिऐ महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं। यह तो पत्रिका का अङ्क ही है, २४० पृष्ठों का और इसका खोज-विषयक महत्व है। दूसरा उद्योग मथुरा के ब्रज-साहित्य मण्डल के द्वारा हुआ। यह 'विक्रम महोत्सव ग्रन्थ' कहलाता है। इसमें विविध विद्वानों के लेख हैं, और विक्रम-संवत् तथा विक्रम के २००० वर्ष की संस्कृति से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा हो इसमें हो गयी है। निस्सन्देह इसमें मथुरा के विषय में भी विशेष ज्ञातव्य ऐतिहासिक सामग्री है। इसके सम्पादक श्री मदनमोहन नागर हैं। पर यह काया में विशेष विशाल नहीं हो सकी है। अतः विषयों के विस्तार और लेखकों की लम्बी सूची से रहित है। तीसरा उद्योग भारत के एक प्रमुख देशी राज्य ग्वालियर की ओर से हुआ है। यह उद्योग अत्यन्त विशद और विशाल है और दर्शनीय तथा अभिनन्दनीय है। इसका नाम 'विक्रम स्मृति ग्रन्थ' है। इसके तीन भाग हैं—१. विक्रम-चक्र, २ विक्रम-प्रदेश और ३ विक्रमार्दन। दो खंडों में ऐतिहासिक विषय हैं, पहले में स्वयं विक्रमादित्य, उनके परिकर और दरबार के विषय में, और दूसरे में विक्रम से सम्बन्धित उज्जैनी-महाकाल मन्दिर आदि के विषय में ऐतिहासिक महत्व की चर्चा हुई है। तीसरे खण्ड में विक्रम के दो सहस्र वर्षों में जो सांस्कृतिक उन्नति हुई है उसका दिग्दर्शन करने का उद्योग हुआ है। पहले खण्ड का नामकरण विशेष बधाई देने योग्य नहीं है। आजकल की भाषा में चक्र के सम्बन्ध में कुभावनाएँ सी प्रचलित हैं। हमको दूसरे खण्ड की ऐतिहासिक सामग्री पहले से भी अधिक महत्वपूर्ण मालूम पड़ती है क्योंकि उसमें अनुमान की अपेक्षा प्रामाणिकता अधिक है। महाकाल के मन्दिर और उज्जैनी के सम्बन्ध में जो सामग्री दी गयी है वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें आलमगीर औरङ्गजेब की भी एक सनद संग्रहीत है जिसके द्वारा महाकाल के मन्दिर को चार सेर घी नित्य-प्रति दान मिलता था। यह पुस्तक ग्वालियर राज्य से सम्बन्धित है। इसमें उज्जैन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण खोज रहना उपयुक्त ही है। संस्कृति सम्बन्धी खण्ड का उद्देश्य तो अवश्य सराहनीय है किन्तु उसकी महत्ता के अनुकूल उसकी पूर्ति नहीं हो सकी है। यह ग्रन्थ चित्रों से सुसज्जित है, इसमें से अधिकांश चित्र विक्रम से सम्बन्धित हैं और यह बात उपयुक्त ही है, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से यदि दो हजार वर्ष की चित्र-कला का उन्नति-क्रम दिया जाता तो विशेष महत्व की बात होती। इन अभावों के होते हुए भी इस ग्रन्थ में जो ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सामग्री उपस्थित की गयी है और देश के विभिन्न प्रान्तों के लेखकों और कलाकारों का सहयोग प्राप्त किया गया है उसके लिए ग्वालियर राज्य बधाई का पात्र है और इससे भी अधिक बधाई का पात्र वह तब होता जब विक्रम की स्मृति में प्रस्तावित हिन्दी-विश्व विद्यालय की स्थापना हो जाती।

पं० सीताराम चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में निकली हुई कालिदास ग्रन्थावली भी इसी अवसर से सम्बन्धित एक प्रशंसनीय योजना है। उसमें कालिदास के सभी ग्रन्थ मूल और हिन्दी अनुवाद सहित संग्रहीत हैं। ग्रन्थावली का भाग बृहदाकार हो जाने के कारण आलोचना भाग

कुछ संकुचित रहा है। फिर भी कालिदास की कला का रसास्वाद कराने के लिए काशी की विक्रम परिषद् और पं० सीताराम चतुर्वेदी धन्यवाद के पात्र हैं।

महामना मालवीयजी का निधन

देश के दुर्भाग्य से १२ नवम्बर के मध्यान्होत्तर राष्ट्र के प्राण, हिन्दू संस्कृति के संरक्षक तथा हिन्दी प्रचार आन्दोलन के अग्रदूत और उन्नायक महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय का स्वर्गवास हो गया। उन्होंने अपने जीवन में हिन्दुत्व और राष्ट्रीयता का बड़ा अपूर्व समन्वय किया था। वे राष्ट्र और हिन्दू जाति के हित-चिन्तन में मरण पर्यन्त संलग्न रहे। शिक्षा और संस्कृति के वे प्रकाश-केन्द्र थे।

हिन्दी को अदालतों में स्थान दिलाने में उनका प्रमुख स्थान था। जिस संलग्नता से उन्होंने हिन्दी के आन्दोलन को अग्रसर किया था वह प्रत्येक देश-सेवक के लिए गर्व की बात हो सकती है। वे साहित्य-सम्मेलन के सभापति के आसन को दो बार सुशोभित कर चुके थे। उनके द्वारा संस्थापित हिन्दू विद्यालय ने भी हिन्दी का मान बढ़ाने में बड़ा सहयोग दिया है। आचार्य प्रवर डाक्टर श्यामसुन्दर दास तथा पण्डित रामचन्द्र शुक्ल उसी विश्व-विद्यालय से सम्बद्ध रहे। यद्यपि वे आप्तकाम थे और उनका स्वर्गवास शोक का विषय न होना चाहिए तथापि वे राष्ट्र-सेवा और हिन्दू संस्कृति के जीवित प्रतीक थे। उनके निधन से राष्ट्र को ऐसी क्षति पहुँची है जिसकी पूर्ति सहज में नहीं हो सकती है। उन्होंने सैद्धान्तिक रूप से हिन्दी को वह प्रतिष्ठा दिलादी थी जो आज उर्दू को प्राप्त है। उसको कार्य रूप में परिणत करना जनता और वकीलों के हाथ में था किन्तु इस उत्तरदायित्व को न जनता ने निभाया और न वकीलों ने। दोनों ही अपने स्वार्थ की साधना में मातृ-भाषा के हित को भूले हुए हैं। हिन्दू-विश्व-विद्यालय ने भी सैद्धान्तिक रूप से हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने का निश्चय कर लिया है। यदि अदालतों में हिन्दी का प्रचार व्यवहारिक-रूप से अग्रसर हो और विश्व-विद्यालय हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने में क्रियात्मक प्रयत्न करें तो हम समझेंगे कि पूज्य मालवीयजी की अभिलाषाएँ उनके शरीरान्त होने पर भी फलवान हो रही हैं।

करांची सम्मेलन—

करांची में साहित्य सम्मेलन का चौंतीसवाँ अधिवेशन दिसम्बर की २६, २७, २८, २९, ३० तारीखों में मनाया जायगा। उसके लिए सभापतियों का चुनाव इस प्रकार हुआ है

प्रधान सभापति—श्री वियोगी हरि
साहित्य परिषद्—श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी
राष्ट्र-भाषा परिषद—डाक्टर सुनीत कुमार चटर्जी
दर्शन परिषद—पं० क्षितीशचन्द्र चटोपाध्याय
विज्ञान परिषद—पं० चन्द्रशेखर वाजपेयी
समाज परिषद—पं० वासुदेव उपाध्याय

सिन्धी शब्द हिन्दी का ही रूपान्तर है वरन् यह कहना ठीक होगा कि हिन्दी शब्द सिन्धी से बना है तथापि अब सिन्धी भाषा हिन्दी से बहुत दूर होती जाती है। उससे संस्कृत के तत्सम शब्दों का बहिष्कार हो रहा है और उसकी लिपि भी अरबी लिपि हो गई है। उसकी लिपि के नागरी लिपि में परिवर्तित होने की बड़ी आवश्यक समस्या है। यदि साहित्य-सम्मेलन के कर्णधार धन और जन के सहयोग से उसकी लिपि देवनागरी कराने में प्रयत्नशील हों तो वे सिन्ध की संस्कृति और साहित्य को भारतवर्ष के अन्य साहित्यों के निकट लाने में सहायक होंगे। हम सिन्ध में नागरी लिपि इसलिए नहीं चाहते कि हमको अरबी लिपि से कोई साम्प्रदायिक विरोध है वरन् यह कि नागरी लिपि अधिक वैज्ञानिक और ध्वनि-शास्त्र (Phonetics) के अनुकूल है। सिन्ध की लिपि सुधार के अतिरिक्त साहित्य-सम्मेलन हिन्दी में उच्च शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकों को लिखवा कर विश्व-विद्यालयों के इस निश्चय को कि शिक्षा का मध्यम हिन्दी हो क्रियात्मक रूप देने में सहयोग दे सकता है। अभी तो स्वयं साहित्य-सम्मेलन के पाठ्य-क्रम में हिन्दी पुस्तकों के अभाव में अँग्रेजी की पुस्तकों का व्यवहार होता है। थोड़े साहस और अध्यवसाय की आवश्यकता है पुस्तकों के तैयार हो जाने पर पढ़ने वालों की कमी न रहेगी।

शेष २४८ पृष्ठ में



भाग ८] आगरा—जनवरी १९४७ [अङ्क ७

कल्पना और वास्तविकता

डाक्टर देवराज जी

[प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने यह सिद्ध करना चाहा है कि सौन्दर्य कोरे कल्पना-प्रसूत अलङ्कार-विधान में नहीं है वरन् वास्तविकता पर आश्रित अनुभूति में है। जहाँ पर सन्देह आदि अलङ्कारों में सौन्दर्य देखा जाता है वहाँ भी सन्देह के विकल्पों में स्वयं अनुभवगत सौन्दर्य होता है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत को एक सूत्र में बाँधने की सफलता कवि की सफलता है। फिर भी वास्तविक अनुभूति की तुलना में कोई चीज नहीं ठहरती। अलङ्कार-विधान में यदि कोई वस्तु मूल्यवान है तो कवि का उत्साह। यद्यपि लेखक महोदय कल्पना की सुकुमारता को महत्व नहीं देते तथापि यदि प्रस्तुत और अप्रस्तुत का सामञ्जस्य हो जाय तो उसका भी महत्व है जैसा कि रवि बाबू की कविता के उद्धरण में।]

—सम्पादक

पटना से प्रकाशित 'हिमालय' की चौथी पुस्तक में 'पंडितराज जगन्नाथ' शीर्षक लेख में उनका निम्न श्लोक उद्धृत किया गया है।

तीरे तरुण्या वदनं सहासं
नीरे सरोजं च मिलद्विकासम्
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा
मरन्द लुब्धालि किशोर माला।

अर्थात् 'तीर पर तरुणी का हास-गर्भित मुख है, और जल में खिलता हुआ कमल; मकरन्द-लोभी अलिमालाएँ शिशुओं की भाँति उन्हें देखती हुई कातलो-सी होकर कभी इधर दौड़ती हैं, कभी उधर।'

ऊपर का पद्य सुन्दर है, इसे संभवतः सब रसज्ञ पाठक स्वीकार करेंगे; किन्तु यह अथवा इस कोटि के पद्य प्रथम श्रेणी का काव्य कहे जा सकते हैं, इसमें सन्देह किया जा सकता है और यह प्रश्न वैयक्तिक रुचि मात्र का नहीं है। अपितु मूल्याङ्कन के मानों से सम्बन्ध रखता है।

उक्त पद्य के सौन्दर्य का उपादान क्या है? और अन्ततः वह किस कोटि का काव्य है? यह दोनों प्रश्न

प्रश्न हैं। श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री (उक्त लेख के लेखक) ने पहले प्रश्न के समाधान में दो तीन बातें कहीं हैं प्रथमतः उक्त पद्य में 'सन्देह' अलङ्कार है; 'कमल और मुखड़े में कौन-सा सही कमल है, इसे भौंरा झटपट भाँप नहीं पा रहा है।' दूसरे, पद्य में कमल और मुख की समानता व्यंग्य है, अतः श्रेष्ठ काव्य की ध्वनिवादी परिभाषा के अनुसार भी उक्त पद्य सुन्दर है।

यहाँ प्रश्न उठता है, क्या यह सत्य है कि 'अलिकिशोर माला' को तरुणी के मुख और कमल में भ्रान्ति या सन्देह होता है? इससे भी समुचित प्रश्न यह है—क्या पाठकों को भौंरों की इस भ्रान्ति का विश्वास हो जाता है? यदि वस्तुतः पाठकों को ऐसा विश्वास नहीं होता, तो उनकी रसानुभूति के हेतु 'सन्देह' के अभाव में मुख और कमल के सादृश्य की व्यञ्जना भी निरर्थक या प्रभाव-शून्य हो जायगी।

अलङ्कार-संकेत के बाद शास्त्रीजी ने लिखा है—'किन्तु इससे अधिक अनुभूति भरी तन्मयता के कारण भाव-चित्र की जो बिम्बवत् सजीवता आँखों के आगे छा जाती है, रूप-कल्पना पर जो रस-रंग की तरंग विजयिनी हो उठी है, उसका अनुभव आनन्द का उत्स सिद्ध होगा।' शास्त्रीजी का आशय कम स्पष्ट है। हमने संकेत किया कि पाठकों को भौंरों की भ्रांति का विश्वास नहीं होता, ऐसी दशा में, जब भौंरों की भ्रान्ति ही कल्पित है, 'अनुभूतिभरी तन्मयता' की कल्पना भी निराधार है, इसके अलावा तन्मयता और सन्देह दो विरोधी स्थितियाँ हैं; तन्मयता का अर्थ है, एक विषय में लीन होना; सन्देह दो वस्तुओं की चेतना की अपेक्षा रखता है।

उक्त पद्य के सौन्दर्य के उपादानों का परम्परागत विवेचन पढ़ते समय एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है—क्या काव्य-साहित्य में मिथ्या-तत्त्व किसी प्रकार ग्राह्य हो जाता है? कहा जाता है कि साहित्यकार में भावनात्मक सचाई (Sincerity) होनी चाहिए। हमारा विचार है कि पंडितराज को स्वयं भी यह विश्वास नहीं था—उन्होंने कभी ऐसा नहीं देखा था कि भौंरों को इस प्रकार की भ्रान्ति होती है; अतः मानना चाहिए कि ऊपर के पद्य में वे जानबूझ कर झूठ बोल रहे हैं। और इस झूठ द्वारा न केवल वे अपनी कोई हानि नहीं करते, बल्कि अलङ्कारशास्त्र के अनुसार श्रेष्ठ काव्य का सृजन करते हुए प्रशंसापात्र बन जाते हैं। इससे साफ निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में भावनात्मक सचाई अपेक्षित नहीं है, और वहाँ मिथ्या-तत्त्व भी कथञ्चित ग्राह्य बन जाता है।

शायद आपको यह निष्कर्ष प्रिय नहीं लगता; हमें भी वह प्रिय नहीं है। हम उसे अग्राह्य या भ्रान्त भी समझते हैं। यहाँ हम स्पष्ट करदें कि हमारा विवाद पंडितराज के पद्य-विशेष तक सीमित नहीं है, उसका क्षेत्र बहुत व्यापक है और उसके निपटारे के साथ संसार के आधे से अधिक अच्छे समझे जानेवाले साहित्य के मूल्याङ्कन का प्रश्न जुड़ा है। हमारे इस कथन की आंशिक परीक्षा के लिए आप संस्कृत अलङ्कार-शास्त्र के दर्जनों ग्रन्थों को उलट जाइए; आप पायेंगे कि उनमें शतशः पद्यों की इसी प्रकार मिथ्या-मूलक प्रशंसा की गयी है। स्वयं पंडितराज को मिथ्या-कल्पनाओं से विशेष प्रेम है। एक जगह गङ्गाजी के जलस्पर्श का महिमागान करते हुए वे कहते हैं—'प्रभात में नहाती हुई नृपांगनाओं के कुच-प्रदेश में लगी हुई कस्तूरी (मृगमद) जब तक तेरे जल से छूती है, तब तक शतशः वैमानिकों से घिरे हुए (वे) मृग (जिनकी कस्तूरी लगायी गयी थी) विमल वपु होकर स्वच्छन्द स्वर्ग में प्रवेश कर जाते हैं!' (मृग गण यदि गङ्गा-जल का साक्षात् स्पर्श करते तो शायद इन्द्र से भी ऊँचे उठ जाते!)

तो क्या पंडितराज की कृतियाँ नितान्त मूल्य हीन हैं? और क्या उनका उद्धृत पद्य सुन्दर नहीं है? हमारा उत्तर कुछ इस प्रकार होगा—पंडितराज के पद्य में सौन्दर्य अवश्य है, पर उसका उपादान मिथ्या-तत्त्व नहीं है। यह मिथ्यांश (अलङ्कार) हलके चमत्कार का, जो प्रकृत रसानुभूति से भिन्न है, कारण अवश्य है। मिथ्यांश के समावेश के कारण उक्त पद्य की गणना प्रथम श्रेणी के काव्य में नहीं हो सकती। हमारी यह दूसरी मान्यता अधिक स्पष्ट हो जायगी यदि—हम कह दें कि सामान्यतः पंडितराज की कृतियां 'भामिनीविलास' और

'गङ्गालहरी'—उतनी महनीय नहीं हैं जितना कि कालिदास, का 'मेघदूत'।

जहाँ 'मेघदूत' उच्चतम अथवा प्रथम श्रेणी का काव्य है वहां पंडितराज की कृतियाँ द्वितीय कोटि के काव्य में भी कठिनता से परिगणित हो सकती हैं।

हमारी धारणा है कि काव्य-साहित्य की शक्ति और श्रेष्ठता का एकमात्र उपादान जीवन एवं जगत की मार्मिक छवियाँ हैं। उद्धृत पद्य सुन्दर क्यों है? क्योंकि इसमें तीन ऐसे चित्र अथवा छवियाँ शब्दों द्वारा अंकित की गयी हैं जो मानव-हृदय में न्यूनाधिक रागात्मक स्फुरण उत्थित करती हैं, ये तीन चित्र 'तरुणी का हास-गर्भित मुख', 'खिलता हुआ कमल' और 'मकरन्द लोलुप प्रधावित अलि-किशोर माला' हैं। तीनों ही चित्र आकर्षक हैं, उनमें पहला संभवत: सब से अधिक आकर्षक है। पद्य की कलात्मक सफलता इसमें है कि वह हमारी चित्तवृत्ति को इन तीन चित्रों में रमाए रखता है। *

'चित्र' शब्द के प्रयोग से पाठक यह न समझें कि मार्मिक छवि कोई दृश्य-वस्तु ही हो सकती है; मार्मिक मनोभाव का अंकन भी उतना ही प्रभावशाली होता है, जैसे तुलसी की इन पंक्तियों में—

ते पितु मात कहौ सखि कैसे।
जिन पठए बन बालक ऐसे॥

अब पंडितराज के अनूदित पद्य को लीजिए। वहाँ नृपति-रमणियों की कुच-तटी का संकेत आकस्मिक नहीं है, पंडितराज महसूस करते थे कि इस आकर्षक चित्र के बिना गङ्गाजल का स्तवन श्री-हीन हो जायगा।

हमने ऊपर कहा कि काव्य-साहित्य में जीवन और जगत की मार्मिक छवियों का प्रकाशन होता है। हमें यह जोड़ना है कि इन छवियों को परस्पर सम्बद्ध कर देना भी आवश्यक होता है। किसी भी दशा में चित्रों का जमघट खड़ा कर देना पर्याप्त नहीं हो सकता। मनुष्य क्यों विश्व की छवियों को सम्बन्धित करके देखना चाहता है, मालूम नहीं; शायद यह उसका स्वभाव है। इस स्वभाव की सबसे प्रबल अभिव्यक्ति संसार को विभिन्न दार्शनिक व्याख्याओं में मिलती है। काव्य-साहित्य में भी रसज्ञ पाठक विश्व-जीवन के मर्म-चित्रों को सम्बन्ध-सूत्र में पिरोये हुए देखना चाहता है। संसार के श्रेष्ठतम कलाकार इन चित्रों या छवियों का जो सम्बद्ध रूप प्रस्तुत करते हैं वह पाठकों को यथार्थ ही मालूम पड़ता है। महाकवियों को पढ़ते समय हमें लगता है मानों वे जगत का यथार्थ चित्र उतार रहे हैं; जैसे वे अपनी तरफ से कुछ न कह कर, सहृदयों की अनुभूति को ही शब्दों द्वारा मूर्त बनाकर रख देते हैं। यह नहीं कि श्रेष्ठ कवि या कलाकार नव-निर्माण नहीं करते, किन्तु वह निर्माण यथार्थ के नियमों से नियन्त्रित होता है और यथार्थ जीवन का चित्र-सा मालूम पड़ता है। रघुवंश के अज का विलाप, रामायण के भरत, लक्ष्मण, राम आदि के व्यापार हमें ऐसी ही यथार्थ घटनायें मालूम पड़ती हैं। इन काव्यों में पौराणिक गाथायें भले ही रहें, किन्तु कवि-कल्पित मिथ्या का अंश बहुत कम दिखाई पड़ता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि श्रेष्ठ काव्य में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का विधान नहीं होता; पर वहाँ यह विधान मिथ्या-तत्व को बलपूर्वक सत्य घोषित करने की धृष्टता नहीं करता। जब तुलसीदास कहते हैं—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी।
मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी॥

तब वे हमसे यह झूठी बात मानने को नहीं कहते कि रोष-भरी कैकेयी तरंगित नदी है; वे 'मानहु' शब्द से उसके साम्य का संकेतमात्र करते हैं। दूसरी देखने की बात यह है कि तुलसी की यह उपमा (या उत्प्रेक्षा) यत्नपूर्वक उपजाई हुई, अथवा कृत्रिम, अविश्वासनीय सम्बन्ध की स्थापना करती हुई, नहीं मालूम पड़ती। इसके विपरीत पंडितराज के पद्यों में जबर्दस्ती कतिपय घटनाओं पर सम्बन्धारोपण करने की चेष्टा की गयी है।

यह कृत्रिम सम्बन्ध-स्थापन भी हमें बुरा नहीं लगता, बल्कि कुछ अच्छा ही लगता है, इसका कारण हमारी वह चिरन्तन कमजोरी है जो हमें सम्बन्धों की खोज में प्रवृत्त

* चौथा चित्र 'शिशुओं की चञ्चलता' का भी आकर्षण का कारण हो सकता है—सम्पादक

करती है। यथार्थ सम्बन्ध-सूत्र के अभाव में पाठकगण जो स्वयं निष्क्रिय अथवा अकर्मण्य गृहीता की स्थिति में होते हैं, कृत्रिम लगाव की स्थापना से ही सन्तुष्ट होने की चेष्टा करते हैं। अवश्य ही कृत्रिमता और यथार्थ के दर्जे हैं; 'चन्द्रकान्ता' की अपेक्षा 'रङ्गभूमि' और उसकी अपेक्षा 'गोदान' अधिक यथार्थ हैं। किन्तु कुछ काल के लिये 'चन्द्रकान्ता' भी हमारा मनोविनोद करती ही है। अवश्य ही यह मनोविनोद नीची कोटि का होता है।

लोक में उस व्यक्ति को जो सभा-समाज में बैठकर तुरन्त किसी बात का उत्तर सोच लेता है, हाज़िर-जवाब अथवा विदग्ध (Witty) कहते हैं। यह विदग्धता प्रायः कृत्रिम सम्बन्धों के दर्शन या स्थापन द्वारा सम्पन्न होती है। जीवन की भाँति काव्य में भी विदग्धता पसन्द की जाती है; पर न जीवन में, न साहित्य में विदग्ध व्यक्ति की गणना मानवता के श्रेष्ठतम नेताओं में की जा सकती है। बीरबल कभी अकबर का समकक्ष नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह है कि श्रेष्ठतम काव्य की सृष्टि के लिए विदग्ध अथवा निपुण कल्पना पर निर्भर नहीं किया जा सकता।

हमने कहा कि ऊपर के श्लोक में अनुभव-जगत की वस्तुतः मार्मिक छवियों को कल्पित सम्बन्ध द्वारा जोड़ने की चेष्टा की गयी है। यदि सम्बद्ध छवियाँ स्वतः मार्मिक (अर्थात् हृदय में रागात्मक स्पन्दन जगानेवाली) न होतीं तो यह पद इतना सुन्दर भी न होता। पद्य में रसोद्रेक की जितनी भी क्षमता है वह वस्तुतः मार्मिक चित्रों के समावेश से आयी है; उसमें पाया जाने वाला कृत्रिम सम्बन्ध-सूत्र मात्र बुद्धि को चमत्कृत कर सकता है।

अवश्य ही कालिदास, सूर, तुलसी आदि में उस शक्ति की कमी है जिसे हम विदग्ध कल्पना कह आये हैं; अथवा यों कहिये कि वे इस प्रकार की कल्पना का उपयोग नहीं करते या बहुत कम करते हैं। इसका तीव्र अनुभव आप 'रघुवंश' और 'शिशुपाल बध' के प्रथम सर्गों तथा रामायण के 'अयोध्याकाण्ड' को पढ़कर कर सकते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उक्त कवियों में वांछनीय कल्पनाशक्ति का अभाव है। तथ्य यह है कि 'उनकी कल्पना कृत्रिम संबंधों और आरोपों की सृष्टि में न लगकर अनुभव-जगत से उठायी हुई वस्तुतः मार्मिक छवियों के मार्मिक संगठन में प्रवृत्त होती है। मर्म छवियों का ऐसा संगठन 'सिर उछाल उछाल कर' अपना अस्तित्व घोषित नहीं करता; वह पाठकों को यथार्थ जगत का अंग या चित्र ही मालूम पड़ता है। अज-विलाप के उद्धृत पद्य में कालिदास ने प्रेमी पति के दृष्टि-बिंदु पर खड़े होकर, उन अनेक गहरे अभावों को एकत्र चित्रित कर दिया है जो प्रियतमा के मरने से जीवन को घेर लेते हैं, और पद्य के अन्तिम चित्र

परिशून्यं शयनीयमद्य में

'अब मेरी शय्या सूनी हो गयी' तब आते-आते हम गहनतम करुण अनुभूति में लीन हो जाते हैं। इसी प्रकार 'आँसुओं से तट के जल को कुछ खारा बनाती हुई राधिका' का चित्र हममें कोमलतम संवेदना का उद्रेक करता है।

मर्म छवियों का मार्मिक संगठन उच्चतम काव्य को जन्म देता है; उनके निपुण अथच कृत्रिम संगठन से द्वितीय श्रेणी की कला-सृष्टि होती है; तृतीय श्रेणी का काव्य वह है जिसमें विदग्ध कल्पना अमार्मिक चित्रों का निपुण संगठन प्रस्तुत करती है। जब रवीन्द्रनाथ प्रश्न करते हैं—The sleep that flits on baby's eyes—does any body know from where it comes ? (अर्थात् 'शिशु की आँखों पर मँडराती हुई नींद—कोई जानता है वह कहाँ से आती है ?) तब वे एक प्रथम श्रेणी के कलाकार हैं, क्योंकि वे हमारा ध्यान एक सर्वानुभूत सौन्दर्य की ओर आकृष्ट कर रहे हैं—सोते बालक की मुखच्छवि प्रत्येक सहृदय को प्यारी लगती है; पर जब वे इस नींद के एक कृत्रिम, निराले उद्गम का निर्देश करने लगते हैं तो उनकी कला दूसरे धरातल पर उतर आती है—

Yes, there is a rumour that it has its dwelling where, in the fairy village among shadows of the forest dimly lit with glow-worms, there hang too timid buds of enchantment.

From these it comes to kiss baby's eyes.

विदग्ध कल्पना का यह उत्कृष्ट उदाहरण है, पर यह उच्चतम काव्य से उतना ही, और उसी लिए, निकृष्ट है जितना कि, और जिस लिए, स्वप्न से जागरण, कल्पना से उपभोग। आगे शिशु की मुस्कान के सम्बन्ध में वैसा ही प्रश्न करके रवि बाबू कहते हैं—

Yes, there is a rumour that a young pale beam of a crescent moon touched the edge of a vanishing autumn cloud, and there the smile was first born in the dream of a dew-washed morning—the smile that flickers on baby's lips when he sleeps.

इस काव्य-खण्ड की अन्तिम पंक्ति ही—मुस्कुराहट जो सोते हुये शिशु के अधरों पर खेलती है—हमें सब से सुन्दर लगती है। संभवतः संसार के सब माता-पिताओं ने इसका मूक-मधुर अनुभव किया होगा। किन्तु कवि ने जो इस मुस्कुराहट का शरदभ्र-कोर को छूने वाली चन्द्र-किरण तथा हिम-क्लिन्न प्रभात के स्वप्न से सम्बन्ध जोड़ा है, वह सामान्य अनुभव से बाहर की वस्तु है। प्रश्न यह है कि कल्पना से इतना आयास कराने पर भी क्या रवि बाबू उससे अधिक सुन्दर चित्र उपस्थित कर पाए हैं। जो कि सूर की इन सीधी सादी पंक्तियों से सामने आ जाता है।

सोभित सु कपोल अधर अल्प-अल्प दसना
किलकि-किलकि बैन कहत मोहन मृदु रसना

सूर की पंक्तियों में सौन्दर्य पुंजीभूत और सुलभ है; रवीन्द्र की कविता में वह बिखरा हुआ है और उसे देखने के लिए कल्पना का व्यायाम अपेक्षित है। सूर की पंक्तियाँ हमारा ध्यान सीधे सौन्दर्य के मुख्य केन्द्र तक ले आती हैं, इसके विपरीत रवीन्द्र की कविता हमें इधर उधर घुमाने के बाद फिर केन्द्र पर वापिस लाती है। इस यात्रा द्वारा हम कुछ अन्य सुन्दर चीजों को भी देख लेते हैं; पर वे मूल चित्र का सौन्दर्य बढ़ाने में—उस सौन्दर्य को अधिक आकर्षक बनाने में—सहायक होती हैं, इसमें सन्देह है। सूर की पंक्तियों का हम चुपचाप रस लेते हैं—वे हमारे अन्तस् को अनिर्वचनीय रूप-माधुरी में लीन कर देती हैं, इसके विपरीत रवीन्द्र की कल्पनाएँ हमसे दाद माँगती प्रतीत होती हैं। दोनों का एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि जहाँ सूर की दो पंक्तियाँ शिशु की अनेक यथार्थ छवियों से रागात्मक संबंध जोड़ने में समर्थ होती हैं वहाँ रवीन्द्र का काव्य-खण्ड केवल एक ही छवि हमारे सामने लाता है अर्थात् सोते शिशु के अधरों पर खेलती मुस्कराहट। सूर ने सचमुच दो पंक्तियों में शिशु का संश्लिष्ट चित्र उपस्थित कर दिया है—सु कपोल अधर अल्प-अल्प दसना, किलकि किलकि बैन कहत मोहन मृदु रसना। रवीन्द्र ने भी अनेक चित्र खड़े किये हैं, पर वे सब बालक से सम्बन्ध नहीं रखते। जहाँ सूर के विभिन्न चित्र स्वभावतः संबद्ध हैं, वहाँ रवि बाबू के चन्द्र-किरण, शरदभ्र आदि चित्र प्रगल्भ कल्पना द्वारा एकत्रित एवं संबद्ध कर दिये गये हैं।

यहाँ पाठक यह न समझें कि हम रवीन्द्र के अलङ्कार-विधान अथवा मुस्कराहट के कारण-निर्देश की शिकायत कर रहे हैं। शिकायत हमें इस बात से है कि उनकी कल्पना प्रकृत-अनुभूति का कुछ अधिक अतिक्रम कर गयी है। अवश्य ही रवीन्द्र की चमत्कारोक्ति के मूल में प्रकृत-प्रत्यय या अनुभूति है; उस अनुभूति का विषय अनुभव जगत की दो सुन्दर व्यष्टियों (Entities) (अवस्था-विशेष में दीखनेवाली चन्द्रकिरण और सोते शिशु की स्मिति) का सादृश्य है। इस सादृश्यानुभूति को एक सीधी, सहज उपमा द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता था; यह भी कहा जा सकता था कि वह किरण ही स्मिति रूप में परिणत हो गयी है। उस दशा में, शायद, पाठक का चित्त रसानुभूति से हट कर आलङ्कारिक नूतनता में इतना नहीं फँसता। किन्तु ऐसा न करके रवि बाबू अपनी प्रेरणात्मक (Inspired) प्रतीति को बड़े सचेतन भाव से सजा कर रखने के लोभ में पड़ गये हैं। इसीलिए उनकी उक्ति प्रयास-गठित मालूम पड़ती है और उसमें स्वतः स्फूर्त काव्य की अनिवार्यता का अभाव है। इसके विपरीत सूर की पंक्तियाँ सहज-उत्सृष्ट मालूम

पड़ती हैं। ऐसा ही तुलसी का निम्न अवतरण भी है; उसकी उपमायें हमें भावानुभूति से अलग हो कर आकर्षित नहीं करतीं —

सुनि मृदु वचन भूप हिय सोकू
ससि कर छुअत विकल जनु कोकू।
गयउ सहम नहिं कछु कह आवा
जनु सचान बन झपटेउ लावा।
बिवरन भयउ निपट नरपालू
दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू।

दशरथ का वर्णन करने वाली ये पंक्तियाँ हमसे उर्दू-काव्य की भाँति दाद नहीं माँगतीं; वे केवल हमारे हृदय में एक मर्म-चित्र उतार देती हैं। हमारा विश्वास है कि ऐसा ही काव्य उच्चतम कला कहलाने का अधिकारी है। ऐसे काव्य को गठित करने वाली कल्पना को हम यथार्थ कल्पना कह सकते हैं। महाकवियों की वाणी अपने अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग के निर्माण के लिए मानवता के वास्तविक अनुभव-जगत से उपादान ग्रहण करती है; इसी लिए वह जीवन की भाँति सर्व-ग्राह्य और गम्भीर होती है। काव्य-साहित्य का उद्देश्य मानव-हृदय में जीवन के मूल्यों के प्रति गहरी प्रतिक्रिया जगा कर उसे अधिक गम्भीर रूप में जीवंत बनाना है; मात्र-मनोरंजन करना नहीं।

विश्व-साहित्य में सदैव से वे ही लेखक महान् कलाकार कहलाते रहे हैं जिनका जीवन के राग-विरागों एवं उनकी परिस्थितियों से विस्तृत तथा गहरा परिचय था। वाल्मीकि और होमर, तुलसी और दान्ते, कालिदास और शेक्सपियर तथा आधुनिक काल में टॉल्स्टॉय और दास्ता-ईव्स्की ऐसे ही कलाकार हैं। किन्तु जीवन का विस्तृत परिचय गहरी समवेदना और व्यापक अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा रखता है, और उन्हें प्राप्त करने के लिए जिस दीर्घ-साधना की जरूरत है उसे विरले ही अनुष्ठित कर सकते हैं। इसके विपरीत कल्पना की कलाबाजी को साधना की अपेक्षा नहीं; थोड़ी-सी विदग्धता उसके लिए पर्याप्त संबल है।

दुःख की बात है कि गत दो दशाब्दों में हिन्दी कविता सूर और तुलसी के दिखाये हुए जीवनानुमोदित राजमार्ग को छोड़कर कल्पना की कुटिल पग-डंडियों में बहती उलझती रही है। यही कारण है कि उसमें उष्णता और प्राणवत्ता की इतनी कमी है। जन-जागृति के इस युग में अब यह और भी आवश्यक हो गया है कि हमारे कविगण जीवन और साहित्य के निकट सम्बन्ध को समझें और अपनी वाणी को चित्र-विचित्र कल्पनाओं की क्रीड़ास्थली न बन जाने दें। इस सम्बन्ध में वे आलोचक भी कम दोषी नहीं हैं जो युग-युग में अतिशयोक्तियों और वक्रोक्तियों की प्रशंसा करते हुए हवाई कल्पना-सृष्टि को पनपने का अवसर देते रहे हैं।

हमारी तुच्छ सम्मति में साहित्यकारों की सहायता का सबसे सम्मानपूर्ण मार्ग यह होना चाहिए कि इस देश की जैसी अवस्था है—यहाँ के साहित्यिकों और प्रकाशकों में जैसा रूखा सम्बन्ध है—उसे देखते हुए 'कापी राइट-एक्ट' में ऐसे सुधार किये जायँ जिनके बल से लेखक अपनी रचना की आय का स्वच्छन्दतापूर्वक उपयोग करते हुए प्रकाशक का सम्मान-भाजन बना रह सके। जिस प्रकार बढ़ई के द्वारा बनाई हुई एक कुर्सी और जुलाहे के द्वारा बुना हुआ एक गज कपड़ा उसकी अपनी सम्पत्ति होती है, उसी प्रकार यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि लेखक के द्वारा लिखी गयी एक कहानी उसकी निजी सम्पत्ति है, जिस पर आजीवन उसका स्वामित्व कायम रहेगा तथा मरने के बाद उसके बाल-बच्चे उस कहानी की आय, सचमुच हो, पचास वर्षों तक भोगते रहेंगे। पेन्शन, खिराज और पुरस्कार—ये तो शृंगारमात्र हैं। कोई भी सरकार न तो इतनी धनी हो सकती है और न इतनी उदार कि साहित्य के सभी सेवकों को कुछ-न-कुछ पेन्शन और पुरस्कार दे सके। लिखना एक पेशा है, और लेखकों को इस सत्य के स्वीकार करने में आनाकानी न करनी चाहिए। हम सरकार नहीं, जनता के लिए लिखते हैं और अगर हम अभाव-ग्रस्त हैं, तो इसका दायित्व उस जनता पर है जो हमारा ग्राहक और पाठक है। ज्यों-ज्यों साक्षरता का प्रसार होगा जनता अपने दायित्व को पहचानती जायगी; किन्तु प्रकाशकों की वर्तमान नीति अगर संयत न की गयी तो लेखक और कवि जनता के दायित्व ज्ञान से भी लाभ न उठा सकेंगे।

—'हिमालय'

साहित्य की परख

(श्री शिवदानसिंह चौहान)

[गतांक से आगे]

[यह श्री शिवदानसिंह चौहान के लेख की दूसरी किश्त है। इसमें विद्वान लेखक ने प्रगतिवाद को एक व्यापक और समन्वयात्मक रूप देकर उसके सम्बन्ध में यह धारणा प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया है कि वह कुत्सित समाज शास्त्रीयता से परे है और उसके मानदण्ड गत्यात्मक होकर अपने में सजीव और सक्रिय जीवन सम्बन्धी सौन्दर्य के लिए स्थान रखते हैं। लेखक महोदय समन्वय को सारग्रहण से भिन्न मानकर उसे किसी एक जीवन-दर्शन के व्यापकसूत्र में प्रस्तुत करना चाहते हैं। यह जीवन-दर्शन भौतिक रहेगा या आध्यात्मिक इस पर मतभेद की फिर भी गुञ्जाइश रह जाती है। यदि दोनों का समन्वय है तो उस समन्वय में किसको प्रधानता रहेगी। हम चौहानजी के समन्वयात्मक दृष्टिकोण का स्वागत करते हैं। इसको प्रगतिवाद का विकास कहा जाय या व्याख्यामात्र, इसका निर्णय प्रगतिवादी ही करेंगे। —सम्पादक]

(४)

साहित्यालोचन की तीसरी विचारधारा प्रगतिवाद है। गत दस वर्षों से यह विचारधारा न केवल अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय रही है, वरन् उसने हिन्दी के रचनात्मक साहित्य को भी नयी अभिव्यक्ति और विचार-वस्तु दी है। मुझे यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं है कि प्रगतिवाद की विचारधारा मूलतः मार्क्सवादी दर्शन 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' और मार्क्सवादी समाज-विज्ञान 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' से प्रभावित है। प्रगतिवाद से जिनका दृष्टि-साम्य नहीं है, ऐसे विचारक भी बहुधा इतना तो स्वीकार करते ही हैं कि प्रगतिवाद ने साहित्य में एक नयी जागरूकता उत्पन्न की है और साहित्य और कला को जन-जीवन की वास्तविकता की अभिव्यक्ति का सचेत साधन बनने की प्रेरणा दी है।

प्रगतिवाद और उससे प्रेरित साहित्य यदि कोरा सामयिक साहित्यिक आन्दोलन है तो साहित्य की दृष्टि से उसका मूल्य नगण्य है, वह अधिक से अधिक एक फैशन है अन्यथा जिसप्रकार राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संकट या संघर्ष-काल में जनता की किसी जागरूक पार्टी या सरकार की ओर से अपील सम्बन्धी प्रचार-साहित्य लिखाया जाता है जिसे 'War time Literature' के समान ही किसी परिस्थिति, घटना या संघर्ष से सम्बद्ध किये बिना सहज रूप से 'साहित्य' की संज्ञा देना असम्भव होता है उसी प्रकार प्रगतिवाद की विचारधारा भी उन्हीं परिस्थिति जन्य अपीलों के समान है। ये अपीलें हमारे लिए साहित्य की प्राचीन परम्पराओं और प्रभावों का वैज्ञानिक मूल्यांकन नहीं करतीं कि हमें नयी अन्तर्दृष्टि मिले। उदाहरण के लिए रूसो और वालतेयर ने अथवा आधुनिक काल में ही गोर्की ने फ्रान्स और रूस की क्रान्तियों के अवसर पर तत्कालीन प्रश्नों को लेकर जो रचनाएँ कीं या आयर्लैण्ड की क्रान्ति के अवसर पर शेली ने जो अपीलें छपा करके बाँटीं उनका आज कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा। इतिहास से और भी कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। परन्तु इन अपीलों और रचनाओं को सामयिक आवश्यकता और उनका महत्व स्वीकार करने के पश्चात् भी इस निर्णय से छुटकारा नहीं मिल सकता कि यदि प्रगतिवाद और उससे प्रेरित साहित्य केवल परिस्थिति-जन्य आन्दोलन है तो उसका साहित्यिक-मूल्य नगण्य है और यहाँ पर यह विचारधारा विचारणीय नहीं हो सकती। विचारणीय वह तभी हो सकती है। जब साहित्य के मूल्यांकन में उसकी स्थापनाएँ न्यूनाधिक मात्रा में उपयोगी हों। अर्थात जब प्रगतिवाद में कोई सौन्दर्य-निरूपक दृष्टिकोण उपलक्षित भी हो और वह प्रयोग-सिद्ध भी हो सके।

प्रगतिवादी समीक्षकों में साहित्य के 'कला-पक्ष' और 'सामाजिक-पक्ष' के सम्बन्ध में एक द्वैतभावना बनी हुई थी और वे इस बात का निर्णय न कर पाते थे कि किसी रचना में इन दोनों तत्वों का समावेश किस मात्रा और अनुपात में होता है, अथवा उनमें किसका आत्यंतिक महत्व है। इस विकृत यांत्रिकता का ही परिणाम था कि प्रगतिवादी आलोचना ने व्यवहारतः किसी रचना में व्यक्त विचारों को ही उस रचना के साहित्यिक मूल्य की कसौटी मान लिया। और स्वयं कवि पंत ने भी—

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार

प्रश्न करके इस द्वैत-भावना को अपनी एक कविता में उदात्त अभिव्यक्ति दे दी थी।

गत वर्षों में जिन लोगों ने प्रगतिवाद की विचारधारा को सामयिकता और राजनीतिक-प्रचार की सीमा में बाँध कर साहित्य की कसौटी को अवसरवादी बनाने की चेष्टा की है, वह अनायास और अकारण ही नहीं। ये लोग वास्तव में उस द्वैत-भावना से आक्रान्त हैं जिसका उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ और चूँकि वे साहित्य के प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक सोचने में अक्षम हैं अत सरल समाधानों की ओर बेतहाशा दौड़ते हैं। ऐसी स्थिति में यह आश्चर्य-जनक नहीं है कि इन कथित प्रगतिवादियों की आलोचना-दृष्टि पथ-भ्रष्ट होकर मात्र सापेक्षता-मूलक सामाजिक दृष्टि (Relativist Sociology) या 'क्षुद्र और कुत्सित समाजशास्त्रीयता (Vulgar Sociology) की सीमा में ही सिमट-सिकुड़ कर रह गयी है। और अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करने के लिए (अर्थात् अपने उद्धार के लिए) वह सार-संचय की भावना (eclecticism) का दामन पकड़कर प्रभाववाद, रुचि-वैचित्र्यवाद, रसवाद, व्यंजनावाद, यहाँ तक कि राष्ट्रीय अवसरवाद (chauvinism) जैसी हीन प्रवृत्ति तक का आधार खोजती फिरती है।

उदाहरण के लिए : डा० रामविलास शर्मा ने शरत-चन्द्र चट्टोपाध्याय, यशपाल के उपन्यास 'देश द्रोही' नगेन्द्र के निबंध-संग्रह 'विचार और अनुभूति' आदि पर जो आलोचनाएँ लिखी हैं, उनमें व्यक्तिगत राजनीतिक रुचि और सामंती संस्कार-गत पूर्वाग्रह के साथ कटूक्तियों, विद्रूपों और उपदेशों को ही मूल्य-निरूपण का साधन बनाया है। उनकी 'तुलसीदास,' 'आदि-काव्य' और 'भारतेन्दु-कालीन साहित्य' की आलोचनाएँ 'वे अपने काल में प्रगतिशील थे' इस सापेक्षता-मूलक तर्क-प्रणाली का उदाहरण हैं। अमृतराय ने अपने निबंध 'मार्क्सवादी आलोचना का आधार' में अपने दृष्टिकोण की विसंगतियों और अधकचरे-पन के कारण आश्रय की खोज में साम-दाम दंड-भेद की पौराणिक नीति के अनुसार आग्रह-दुराग्रह, उपदेश, आदेश और फटकारों की असंयत झड़ी भी लगा दी है और अन्त में मार्क्सवाद की अज्ञानता के कारण कोई समन्वित साहित्य-सिद्धान्त प्रतिपादित करने में अपने को असमर्थ पाकर "विजयी विश्व तिरंगा प्यारा ······ को श्रेष्ठ साहित्य न कहने की धृष्टता कौन करेगा ?" इस प्रकार की कटोक्तियों द्वारा राष्ट्रीय अवसरवादिता [Chauvinism] को ही साहित्य के मूल्य-निरूपण का चरम-सिद्धान्त मान लिया है। इन लेखकों और 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के दल के अनेक कथित प्रगतिवादी लेखकों की आलोचनाओं में से ऐसे अगणित उदाहरण दिये जा सकते हैं क्योंकि वे जब प्रवीन लेखकों के सम्बन्ध में लिखते हैं तब उनके माप-दण्ड कुछ होते हैं, जब जीवित लेखकों के संबंध में लिखते हैं तब कुछ और, और फिर लेखक-दर-लेखक ये मापदंड बदलते जाते हैं। इसके अतिरिक्त देश की तीव्रगति से बदलती हुई राजनीतिक परिस्थिति के साथ साथ भी इन माप-दंडों को बदलना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि एक लेखक कल तक प्रतिक्रियावादी था, आज किसी विशेष घटना के बारे में एक तुच्छ रचना करके तुरंत प्रगतिशील बन जाता है, दूसरा लेखक जो कल तक युग-प्रवर्तक और प्रगतिशील था, इनकी दृष्टि से एक प्रतिकूल रचना करके या केवल बात चीत में ही प्रतिकूल विचार प्रकट करके युग-विध्वंसक और प्रतिक्रियावादी बन जाता है।

कुत्सित समाज शास्त्रीयता का दृष्टिकोण प्रगतिवाद का दृष्टिकोण नहीं है, इस सम्बन्ध में मैं स्वयं सन् १९४१ के एक निबन्ध 'प्रगतिवाद'* में अपने विचार प्रकट कर चुका

* देखिए लेखक का निबन्ध-संग्रह 'प्रगतिवाद', पृष्ठ ५-५

हूँ। इस स्थल पर पाठकों की सुविधा के लिए उक्त निबंध में से प्रासंगिक उद्धरण देना सामयिक महत्व का होगा। साहित्य के मूल्यांकन में सामाजिक प्रभावों के विवेचन की अनिवार्यता क्यों है इसका विवेचन करते हुए मैंने लिखा था:

"अतः प्रगतिवाद यदि किसी लेखक के सामाजिक सूत्रों को प्रकाश में लाता है अर्थात् उन सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करता है जिन्होंने लेखक को एक विशेष प्रकार से प्रभावित करके अपनी रचना के लिए प्रेरित किया तो वह उस रचना द्वारा समाज की बदलती परिस्थितियों पर पड़े प्रभावों का भी मूल्यांकन करता है। सामाजिक परिस्थितियों का विवेचन जिस प्रकार लेखक की रचना, उसकी अभिव्यक्ति के विशेष उपकरणों—व्यंग, प्रतीक, उपमाएँ, रूपक और शैली आदि—की सामाजिक पृष्ठ-भूमि का दिग्दर्शन कराता है, अर्थात् इस तथ्य का स्पष्टीकरण करता है कि लेखक की रचना में समाज की वास्तविकता किस प्रकार प्रतिबिम्बित हुई है, उसी प्रकार वह परिवर्तित सामाजिक वास्तविकता को अपेक्षा में रख कर उसकी सौन्दर्य-शक्ति का भी मूल्यांकन करता है। साहित्य या कला की कोई कृति अपने समय की वास्तविकता का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब-मात्र नहीं होती, जिस प्रकार आईने में पड़ा प्रतिबिम्ब होता है, बल्कि वह समाज या मनुष्य के अहं (भावचेतना) का परिवर्तित परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रभाव डाल कर परिष्कार भी करती रहती है, अर्थात् उसे बदलती रहती है। इसी कारण उस रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। इस सिद्धान्त को हृदयंगम करना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा एकांगी दृष्टिकोण अन्त में आदर्शवाद का, जिसके अनुसार साहित्य या कला का सौन्दर्य तत्व एक निरपेक्ष गुण बन जाता है, अथवा कुत्सित समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण (यांत्रिक भौतिकवाद) का, जिसके अनुसार किसी रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक वास्तविकता के सीधे स्पष्ट चित्रण पर ही निर्भर करता है आखेट बन जाता है—और न यह प्रगतिवाद है, न वैज्ञानिक भौतिकवाद। मार्क्स ने भी इन दोनों दृष्टियों से एक साथ ही किसी रचना का विवेचन करने की आवश्यकता पर जोर दिया था। प्रगतिवादी समीक्षा के सामने केवल यही प्रश्न नहीं रहता कि अमुक रचना किस युग की उपज है, सामंती या पूंजीवादी,—मार्क्स ने ग्रीक साहित्य पर विचार करते हुए स्पष्ट कहा है कि यह तो अपेक्षाकृत सरल कार्य है—बल्कि उसके सम्मुख यह प्रश्न भी रहता है कि अमुक रचना की सौन्दर्य-शक्ति का क्या कारण है, अर्थात् वह रचना आज भी क्यों सौन्दर्य-बोध कराने में सफल है, आज भी वह हमारे रागों को जगाने में, हमारे संवेदनों को झंकृत करने में क्यों उतनी ही सशक्त है जितनी शताब्दियों पूर्व थी। प्रगतिवाद इन दोनों मौलिक प्रश्नों का उत्तर किसी रचना की सामाजिक पृष्ठ-भूमि और सामाजिक जीवन पर पड़े उसके प्रभाव के इतिहास का विवेचन करके देता है।

साहित्यालोचन को प्रथम बार प्रगतिवाद ने एक वैज्ञानिक जीवन-दर्शन का आधार दिया है, जिससे हमें साहित्य को सामाजिक-क्रिया का एक विशिष्ट पर अभिन्न अंग समझने में सुविधा हुई है। दूसरे 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है', या 'काव्य रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करता है' या 'साहित्य समाज का दर्पण है' या 'साहित्य जीवन की आलोचना है' आदि भारतीय तथा पाश्चात्य मात्र कलावादी और यथार्थवादी व्याख्याओं से कहीं अधिक व्यापक साहित्य की व्याख्या प्रगतिवाद ने की है। प्रगतिवादी व्याख्या के अनुसार कला या साहित्य वस्तु-सत्य (जिसमें व्यक्तिगत और समाजगत, भौतिक और मानसिक, अन्तर और बाह्य सत्य के दोनों अङ्ग द्वन्द्वात्मक रूप से विभिन्न अनुपातों में सम्मिलित रहते हैं) के किसी अंग को अनुभव के रूप में प्रतिबिम्बित करता है और यह प्रतिबिम्ब सक्रिय और गत्यात्मक होता है। साहित्य की प्रेषणीयता का प्रश्न तो आनुषंगिक है अर्थात् इस रूप में विचारणीय है कि वस्तुगत के किसी अंग का अनुभव कला में किस प्रकार प्रतिबिम्बित होता है कि वह प्रेषणीय बन जाता है। प्रगतिवाद अपनी द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार ही इसकी अवधारणा करता है और यह सिद्ध करता है कि विशेष या सापेक्ष सत्य—जो व्यक्तिगत, समाजगत, वर्गगत या परम्परागत हो सकता है—और

निरपेक्ष सत्य—जो सम्पूर्ण जीवन की चिरन्तनता का सत्य है—दोनों की द्वन्द्वजनित परस्परिता और अन्विति के द्वारा ही विशेष सामान्य बनता है और सामान्य एक नूतन सामञ्जस्य पाकर विशेष बनता है। इसी विशेष और सामान्य की द्वन्द्वात्मक अन्विति से सौन्दर्य और जीवन के मूल्य बनते हैं, जिसके कारण मनुष्य के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कला और साहित्य का इतना आत्यन्तिक और स्थायी महत्व है। कला और साहित्य का यह महत्व नष्ट हो जाय यदि अपनी सीमा के अन्दर उसके विकास-क्रम की गति स्वतन्त्र न हो, अर्थात् साहित्य का अपना इतिहास न हो और वह केवल बाह्य परिस्थितियों (या कहें सामयिक रुचियों) के अनुसार ही प्रतिक्षण अपना रूप-रङ्ग बदलता रहे। जहाँ यह सत्य है कि बाह्य-परिस्थितियों से साहित्य अनेक स्वस्थ और अस्वस्थ प्रभाव ग्रहण करता है, वहाँ यह भी उतना ही सत्य है कि ये प्रभाव साहित्य की ऐतिहासिक परम्पराओं के माध्यम से जीवन के अगणित सम्बन्धों को ग्रहण करके ही व्यक्त होते हैं और इस प्रकार एक ओर वे साहित्य की परम्परा को बदलते हैं तो दूसरी ओर साहित्य के इतिहास की तारतम्यता और सम्बद्धता को पुष्ट करते हैं। कलावादी यदि पहले सत्य से इन्कार करते हैं तो कुत्सित समाजशास्त्रीयता का दल सत्य के दूसरे पहलू से आँखें मींच लेता है। प्रगतिवाद दोनों के दृष्टिकोण को एकपक्षीय और एकाङ्गी समझता है। प्रगतिवाद की ये कतिपय स्थापनाएँ महत्वपूर्ण हैं।

किसी समीक्षा-सिद्धान्त और पद्धति की सार्थकता मुख्यतः दो प्रश्नों के उत्तर पर निर्भर करती है। पहला प्रश्न यह कि क्या वह आधुनिक-साहित्य (जिसमें समकालीन साहित्य भी सम्मिलित है) का सही मूल्यांकन कर सकती है, अर्थात् क्या वह आधुनिक और समकालीन साहित्य में जो सामयिक रुचि और फैशन (राजनीतिक अथवा अन्य) के अनुसार वास्तविकता का स्थूल और उथला परन्तु महत्वपूर्ण चित्रण है और वह जिसमें आधुनिक जीवन की वास्तविकता का इतना गहरा और व्यापक चित्रण हुआ है कि उसमें स्थायित्व के तत्व मौजूद हैं, इन दोनों को अलग करके बता सकती है और साहित्य कृति के विवेचन से उसमें उठायी समस्या का उथला और गहरा रूप सिद्ध कर सकती है। यह कार्य अत्यन्त कठिन है, क्योंकि वर्तमान में हमारी दृष्टि बहुत संकुचित और सीमित रहती है—वस्तुएँ, घटनाएँ, भावनाएँ, राग-द्वेष अपनी अति-निकटता के कारण सारे दृष्टि पट पर छा जाते हैं और निर्णेता स्वयं व्यक्तिगत या सामाजिक रूप से इन घटनाओं या भावनाओं से अपने को निर्लिप्त और निस्संग नहीं रख सकता; अतः जो उसे महत्व पूर्ण लगता है वही स्थायी और सुन्दर भी लग सकता है। परन्तु इस कठिनाई के बावजूद समालोचक, पाठक या द्रष्टा केवल अपने जीवन-काल के साहित्य के ही उन समस्त व्यक्तिगत और सामाजिक कारणों, प्रभावों और प्रेरणाओं से पूरी तरह अवगत हो सकता है जिन्होंने उस साहित्य के सृजन में योग दिया है और उनका सही मूल्यांकन करके साहित्य की गति-विधि को प्रगति और सौन्दर्य देने में सहायक बन सकता है। अतः कोई भी समीक्षा-सिद्धान्त आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन के प्रश्न की उपेक्षा नहीं कर सकता।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या वह प्राचीन साहित्य [बीते काल में रचे गये साहित्य] का सही मूल्यांकन कर सकती है? प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में यह प्रश्न गौण है कि अमुक रचना में स्थायित्व के गुण हैं अथवा नहीं हैं। इस प्रश्न का उत्तर तो समय ही दे चुका होता है। कालिदास को महान लेखक और उनकी रचनाओं को स्थायी साहित्य सिद्ध करने की चेष्टा निरर्थक है। परन्तु इस रहस्य का उद्‌घाटन करना अथवा उन तत्वों की व्याख्या करना अवश्य सार्थक प्रयत्न है, जिनके कारण कालिदास की रचनाएँ आज भी हमें सौंदर्य-बोध कराने में समर्थ हैं। 'आज भी हमें' से तात्पर्य आधुनिक काल की भाव-चेतना, संस्कार और परिस्थिति की अपेक्षा से है। इन तत्वों की व्याख्या का परिणाम निश्चय ही यह होगा कि आलोचक आधुनिक-चेतना के अनुरूप कालिदास की सर्वांग पुनर्सृष्टि करे। प्राचीन इसी प्रकार वर्तमान में अपने को पुनर्जीवित करता चलता है! इसी कारण इस मूल्यांकन में कालिदास के समकालीन समाज और उनके साहित्य पर पड़े अन्य

प्रभावों के साथ साथ उनकी कृतियों द्वारा परवर्ती समाज और साहित्य पर पड़े प्रभावों का विश्लेषण भी उतना ही आवश्यक है। तभी हम इन अगणित प्रभावों के सम्बन्ध सूत्रों को एकत्र कर उनकी शृंखला को ऐतिहासिक-क्रम में सँजोकर कालिदास को आधुनिक वस्तु-सत्य की शृंखला से जोड़कर उनको सम्पूर्ण रूप से अपने लिये बोध गम्य बना सकते हैं, अर्थात् उनके कार्य के पूरे मूल्य प्राप्त कर सकते हैं। अन्यथा कालिदास की महत्ता की स्वीकारोक्ति मौखिक ही बनी रहेगी। अतः कोई भी समीक्षा सिद्धांत प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन के प्रश्न की उपेक्षा नहीं कर सकता।

निस्संदेह मनोवैज्ञानिक विचार धारा या कुत्सित समाज-शास्त्रीयता, दोनों ही इस दृष्टि से एकांगी हैं। मनोवैज्ञानिक विचारधारा की समीक्षा की अन्तर्दृष्टि केवल आधुनिक और सामयिक साहित्य तक ही सीमित है, क्योंकि अधिक से अधिक आधुनिक लेखकों का ही मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है, यद्यपि उसमें सामाजिक जीवन (बाह्य) के प्रभाव एक प्रकार से फिर भी छूट जाते हैं। प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में उसकी गति नहीं के बराबर है, और यदि कभी इसका प्रयत्न किया गया है तो हास्यास्पद परिणाम निकलते हैं। इसी प्रकार कुत्सित समाजशास्त्रीयता केवल प्राचीन लेखकों का ही एक सीमा तक सही मूल्यांकन कर पाती है, यद्यपि इसमें भी अपने दृष्टिकोण की यान्त्रिकता के कारण वह लेखकों को इस वर्ग या उस वर्ग का लेखक सिद्ध करने की समस्या से ही अधिक जूझती है और अवसर के अनुकूल कतिपय पंक्तियों के आधार पर ही उन्हें प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी सिद्ध करती रहती है। आधुनिक साहित्य का मूल्यांकन करने में वह नितान्त असमर्थ है, क्यों कि वह किसी रचना के सामयिक महत्व को ही उसके स्थायी सौन्दर्य का पर्यायवाची स्वीकार करती आयी है। वस्तुतः मनो-वैज्ञानिक विचारधारा की रुचि उस उत्सुक अधेड़ स्त्री के समान है जो दरवाजे के सूराख में से झाँक कर किसी दम्पति के एकान्त व्यवहार को ही उनका सार्वजनिक और सामान्य व्यवहार घोषित करती फिरती है और कुत्सित समाज-शास्त्रीयता का दृष्टिकोण उस जासूस का सा है जो किसी व्यक्ति के पीछे छाया की तरह लग कर यह नोट करता जाये कि वह किससे मिला, किसके यहाँ खाना खाया, किससे रुपये माँग कर लाया और बाजार से क्या खरीद कर लाया और फिर इसके आधार पर उस व्यक्ति के चरित्र पर एक रिपोर्ट तैयार करदे और फिर उसे इस तरह या उस तरह व्यवहार करने का आदेश दे। लेखकों के व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन के बारे में दोनों विचारधाराओं की जिज्ञासा एक ही धरातल की है, यद्यपि उनकी मात्रा और दिशाओं में भेद है।

प्रगतिवाद यदि साहित्य का नया दृष्टिकोण है तो इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि समीक्षक साहित्यकार को कला-वस्तु या कला-रूप सम्बन्धी निर्देश दे। कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, उसकी सृजन-चेष्टा बाह्य-जीवन के अनुभव और सौन्दर्य-मूलक प्रवृत्ति अर्थात व्यवस्था, सामञ्जस्य और मुक्तिकामी निसर्ग-चेष्टा से उत्प्रेरित होती है। कलाकृति मनुष्य के अनुभव और चेतना को अधिक व्यापक और गहरा बनाती है और इस प्रकार अधिक समन्वित मानव-मूल्यों का निर्माण करती है। अपने संस्कृति-विधायक रूप में कला या साहित्य भी स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अतः एक कलाकार या उसकी कृति को 'प्रगतिवादी' होना जरूरी नहीं है, अर्थात् यह जरूरी नहीं है कि कलाकार प्रगतिवाद के सिद्धान्त को सामने रखकर रचना करे और अपनी रचना को उनका दृष्टान्त बनादे। ऐसा करना 'प्रेत और छाया' की प्रगतिवादी प्रतिकृति तैयार करना होगा।

(५)

चौथी आलोचना-पद्धति को हम व्यञ्जनावादी या प्रभाववादी कह सकते हैं। यह केवल एक पद्धति है विचार-धारा नहीं, अतः साहित्य-समीक्षा के व्यापक सिद्धान्तों का निरूपण करना इस पद्धति की कार्य-सीमा के बाहर की वस्तु है। इस पद्धति में आलोचक-विशेष की रुचि के अनुसार प्रायः पूर्वोक्त तीनों विचारधाराओं के मिले-जुले सिद्धान्त प्रयोग में आते हैं। यह पद्धति आलोचना को विज्ञान की सीमा से हटाकर उसे कलात्मक अभिव्यक्ति का रूप देने का प्रयत्न करती है और इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की आलोचनाएँ सुपाठ्य और चमत्कारपूर्ण

होती हैं। उनमें भाषा का सौष्ठव, अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता और कोमलता भी रहती है और यत्र-तत्र साहित्य और कला के सम्बन्ध में विलक्षण रूप से मार्मिक सुभाव और निष्कर्ष भी रहते हैं। परन्तु यह सब अन्य विचारधाराओं के असम्बद्ध प्रभावों के रूप में ही यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। मूल्याङ्कन के कोई मौलिक प्रतिमान इस पद्धति के आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र या शान्तिप्रिय द्विवेदी ने निर्दिष्ट नहीं किये। वे यदा-कदा सार-सञ्चय की भावना से (eclectically) विभिन्न विचारधाराओं के समन्वय की ओर उन्मुख हुए हैं, परन्तु इसका मूल्य अधिक नहीं है। अतः इस पद्धति का विस्तृत विवेचन अनावश्यक है।

(६)

हिन्दी-आलोचना की विभिन्न विचारधाराओं और पद्धतियों के विश्लेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि वे सभी किसी न किसी रूप में एकांगी हैं। अपनी संकुचित दृष्टि को लेकर प्राचीन समीक्षा-शास्त्र को ही एक सीमा तक सम्पूर्ण कहा जासकता है, परन्तु साहित्य के मूल्यांकन का व्यापक प्रश्न उससे अछूता ही रह जाता है। हमारे लिए इस दृष्टि से मनोविज्ञान और कुत्सित-समाजशास्त्रीयता-रहित प्रगतिवाद के दृष्टिकोण ही महत्वपूर्ण हैं। मनोविज्ञान ने व्यक्तिगत दृष्टि से साहित्य के मूल्यों का निरूपण करने की चेष्टा की है। और प्रगतिवाद, जिसे यद्यपि निसर्गतः मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टिकोणों का समन्वित दृष्टिकोण उपस्थित करना चाहिए था, अनेक कारणों से अभी तक साहित्य के संविधायक पक्ष पर जोर देकर उसके केवल सामाजिक मूल्यों का ही निर्धारण कर पाया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण साहित्य की प्रतीकवादी धारा का प्रतिनिधित्व कर रहा है तो प्रगतिवाद यथार्थवादी धारा का। समालोचक इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दे रहे कि वस्तुतः दोनों धाराएँ एक दूसरे की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुई हैं और इसी कारण एक दूसरे की पूरक भी हैं। वे वस्तु-सत्य की एकांगी अभिव्यक्ति ही करती हैं। और वे मनुष्य के सम्पूर्ण—अन्तर और बाह्य—जीवन की अभिव्यक्ति में दोनों अलग-अलग से योग दे रही हैं। और जिस प्रकार अधिक व्यापक चेतना प्राप्त रचनाकार यथार्थवाद की स्थूल, फोटोग्राफिक, यान्त्रिक भौतिकवाद की कठोर कार्य-कारण पद्धति त्याग कर आधुनिक ज्ञान के आधार पर जीवन को एक तरंग-प्रवाह (Process) के रूप में ग्रहण करके साहित्य में मनुष्य के सामाजिक जीवन के संघर्षमय अनुभव के साथ साथ उसके व्यक्तिगत (मनोवैज्ञानिक) संघर्ष की अनुभूतियों का सामंजस्य 'सामाजिक यथार्थवाद' अथवा 'रोमान्टिक यथार्थवाद' की शैली के रूप में करने की चेष्टा कर रहे हैं, अर्थात् मनुष्य के सम्पूर्ण-जीवन को साहित्य में प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न कर रहे हैं, उसी प्रकार क्लासिसिज्म या रोमान्टिसिज्म या यथार्थवाद और प्रतीकवाद के समीक्षा सिद्धान्तों की तरह ही प्रगतिवाद को केवल मूल्यांकन का एकांगी दृष्टिकोण ही बन कर नहीं रह जाना चाहिए बल्कि अपने प्रारम्भिक दावे के अनुसार इन दोनों दृष्टिकोणों का समन्वित रूप उपस्थित करना चाहिए, अन्यथा वह एक विशेष प्रकार के साहित्य का ही मूल्यांकन करने में समर्थ हो सकेगा, और दूसरी प्रकार के उच्चकोटि के और महत्वपूर्ण साहित्य की अवहेलना करता जायगा। परन्तु इन का समन्वय इस रूप में असंभव होगा कि दोनों के सार-भाग का एक समुच्चय तैयार कर दिया जाय, जैसा कि कई लेखकों ने यदाकदा सुझाया है। समुच्चय समन्विति नहीं है। समन्विति किसी दार्शनिक विचार—संयोजक-सूत्र में गुँथ कर ही संभव है। प्रगतिवाद की विशेषता यही है कि उसने साहित्यालोचन को एक व्यापक जीवन-दर्शन का आधार दिया है।

हर प्रकार की आलोचनात्मक क्रिया मूलतः दार्शनिक होती है, क्योंकि वह वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध-सूत्रों का उद्घाटन और निरूपण करती है। साहित्यालोचक भी किसी कलाकृति और सम्पूर्ण मानव-जीवन के परस्पर सम्बन्ध का निर्णय करता है और सम्बन्ध का स्वरूप ही उस कलाकृति के मूल्य का स्वभाव, गुण और अनुपात निश्चित करता है।

आलोचना और दर्शन का सम्बन्ध इस स्थूल बात से भी प्रकट है कि पाश्चात्य दार्शनिक अफलातून से लेकर

अरस्तू, संत टामस, स्पिनोज़ा, कांट, हीगल, शोपनहॉवर, मार्क्स, ह्यूम, मिल, नीत्शे, क्रोचे, ऑन डीवी आदि प्राचीन और आधुनिक दर्शनिकों की कला-साहित्य विषयक स्थापनाएँ साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्तों का प्रायः आधार बनती आयी हैं, केवल इधर स्वच्छन्दतावादी [रोमान्टिसिज्म] की धारा के युग में आलोचना और दर्शन का सम्बन्ध एक प्रकार से टूट-सा गया था, परन्तु इस सम्बन्ध को पुनः स्थापित करने की अनिवार्यता प्रतीत हुई है। कारण स्पष्ट है। आलोचक एक निर्णेता है, उसका निर्णय उस समय तक एकांगी और त्रुटिपूर्ण रहेगा जब तक कि वह निर्णय उन सभी निर्णयों से प्रसंगत नहीं रखता जो जीवन की अन्य क्रियाओं द्वारा निर्दिष्ट हुए हैं। अर्थात् जो सम्पूर्ण जीवन की अपेक्षा में प्रसंगत नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति और समाज के लिए कला और साहित्य का क्या प्रयोजन, उपयोग और मूल्य है—एक विशिष्ट, स्थायी और महत्वपूर्ण मानव क्रिया के रूप में इसके प्रतिमानों का निर्धारण किया जाय जिससे प्राचीन और आधुनिक साहित्य के ऐतिहासिक और विशेष रचनागत मूल्यों का आकलन हो सके। तभी साहित्य-समीक्षा एक विज्ञान—स्वतन्त्रविज्ञान—बन सकेगी। परन्तु यह तभी संभव है, इस तथ्य की पुनरावृत्ति आवश्यक है, जब साहित्य के मूल्यों का निर्णय अन्य सभी निर्णयों से प्रसंगत तथा सम्बद्ध हो। अर्थात् जब एक विज्ञान के रूप में आलोचना अपने सजातीय अन्य विज्ञानों की उन गवेषणाओं और तथ्य-निरूपणों सामान्य स्थापनाओं से परिचित हो जो कम से कम संस्कृति, साहित्य और कला के प्रश्नों से सम्बन्ध रखती हैं। तभी अपनी नयी द्वन्द्वात्मक विचार-पद्धति के अनुसार वह उनके निष्कर्षों की अपेक्षा में अपने निष्कर्षों की निष्पत्ति कर सकती हैं। ये सजातीय विज्ञान, आधुनिक मनोविज्ञान, सांस्कृतिक मानव-शास्त्र और इतिहास हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान से तात्पर्य केवल मनस्तत्व-विश्लेषण शास्त्र (Psycho-Analysis) से ही नहीं है और अधिकांश में उसकी वैज्ञानिकता भी सन्दिग्ध है। साहित्यालोचन की दृष्टि से 'व्यवहार-मूलक मनोविज्ञान' (Behaviorism), 'सामाजिक मनोविज्ञान' (Social Psychology) और 'आकृति-मूलक' या 'रूप-समष्टिगत मनोविज्ञान' (Gestalt Psychology) आदि के अध्ययनों और निष्कर्षों का यथेष्ट मूल्य है। विशेषकर लुई रोजनब्लात्, लीविस मम्फोर्ड, मूलर फ्रयनफेल्स और लीवियू रसू आदि विद्वानों ने साहित्यालोचन के लिए रचनात्मक प्रक्रिया' (Creative Process) और आलोचनात्मक प्रक्रिया (Critical Process] की विवेचनात्मक समन्विति करके इन प्रक्रियाओं में 'अवचेतन', 'प्रेरणा', 'कल्पना', 'चेतना', 'सहानुभूति' आदि की क्रमानुगत भूमिका का जो निरूपण किया है और 'प्रेषणीयता' तथा अन्य आनुषंगिक प्रश्नों की जो पड़ताल की है, वह अत्यन्त उपयोगी है। निश्चय ही मनोविज्ञान ने व्यक्ति-सापेक्ष दृष्टि से कला के मूल्य स्थापित किये हैं, परन्तु इस कारण ही वे उपेक्षणीय नहीं हैं। विशेषकर 'रचनात्मक प्रक्रिया' का गहरा विवेचन करके मनोविज्ञान ने इस बात की संभावना उत्पन्न कर दी है कि पाठक और आलोचक एक कलाकार को अपनी अज्ञानतावश सर्वथा निराला, विशिष्ट अतः असामाजिक और विलक्षण व्यक्ति समझ कर उसे निरंतर अपनी उपेक्षा और विरुचि का शिकार नहीं बनाता जाये, बल्कि उसे अपनी व्यापक सहानुभूति प्रदान करे। इसके अतिरिक्त "कला व्यक्ति की आत्म-सिद्धि [Self-realization] की मौलिक प्रवृत्ति का परिणाम है"—इस स्थापना में निर्देशित 'आत्म-सिद्धि' सामाजिक-जीवन से क्रिया-प्रतिक्रियात्मक संबंध द्वारा नूतन संतुलन स्थापित करके ही प्राप्त हो सकती है—यह बात भी इन समन्वय चाहने वाले आलोचकों ने स्वीकार की है। और इसके लिए उन्होंने सांस्कृतिक मानव-शास्त्र [Cultural Anthropology] से मनोविज्ञान के संयोजक-सूत्र खोजे हैं।

सांस्कृतिक मानव शास्त्र, मेलिनोवस्की* के अनुसार, मनुष्य के प्रागजीवन काल से लेकर अब तक के सम्पूर्ण सांस्कृतिक जीवन, संस्कृति के भौतिक उपकरणों, उसकी पूंजीभूत ज्ञान-राशि, उसकी रूढ़ि प्रथाओं जिनके

* Bronislaw Molinowski : Culture [Encyclopaedia of Social Sciences]

द्वारा आध्यात्मिक और आर्थिक मूल्य निरूपित होकर मनुष्य के सामाजिक जीवन का नियमन और निर्देशन करते हैं, और उसकी भाषा जो उन प्रतीकों और मूल्यों का अन्तःकोष है जिनके द्वारा मनुष्य के अनुभव को अनुक्रम और तारतम्यता मिलती है जिसके कारण व्यक्ति अपने को अन्य व्यक्तियों के उस समूह के साथ सम्बन्धित करता है जो उसकी संस्कृति या परिवृत्ति का विधान रचते हैं, इन सब बातों का विशद अध्ययन करता है। इस प्रकार साहित्य और कला के मूल्य भी इस अध्ययन के अन्तर्गत आ जाते हैं। सांस्कृतिक मानव शास्त्र ने सांस्कृतिक युगों और उनके सांस्कृतिक प्रतीकों का गहरा अध्ययन करके साहित्य या कला की परम्परा और उसमें युग सापेक्ष अथवा सामयिक-प्रतीकों के प्रयोग का ऊहापोह विवेचन किया है।

अनेक विद्वानों ने मनोविज्ञान और सांस्कृतिक मानव-शास्त्र दोनों की गवेषणाओं के आधार पर साहित्य के मूल्यांकन के प्रश्न को लेकर अपनी अपनी दृष्टि से समन्वितियाँ की हैं। इनमें से अमरीकी दार्शनिक जॉन डिवी[1], हर्बर्ट रीड[2] और डा० आई० ए० रिचर्ड्स[3] से तो हिन्दी पाठक भी थोड़ा-बहुत परिचित हैं। इनके अतिरिक्त सी० जैकीज बारज़ुन[4] एलिस केलिहर[5], और लुई रोज़नब्लत्[6], ये तीन नाम और उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों की स्थापनाओं का विवेचन करने का यह अवसर नहीं है। यहाँ केवल इतना निर्देश ही किया जा सकता है कि इन विद्वानों का दृष्टिकोण pragmatic दर्शन पर आधारित है, परन्तु साहित्य के मूल्यांकन के प्रश्न को उन्होंने अत्यन्त गम्भीरता से उठाया है और वैज्ञानिक समीक्षा-शास्त्र के लिए मार्ग प्रशस्त किया है।

एक साधारण चेतावनी देकर इस निबन्ध को समाप्त करना आवश्यक है। किसी एक विचारक के विचारों को हिन्दी पाठकों के सामने पटक करके यह दुराग्रह करना कि साहित्य यह है या वह है; उसका लक्ष्य, प्रयोजन, संविधायक कर्म या सौन्दर्य-मूल्य यह है या वह है, वैज्ञानिक आलोचना का दृष्टिकोण नहीं हो सकता। और न सारसंचयन की भावना से किया गया विभिन्न दृष्टिकोणों का बलात् संयोग ही समन्वय कहा जा सकता। इस चेतावनी की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि हिन्दी में इन दोनों प्रवृत्तियों का जोर है। इससे किसी लेखक की अहंकार-तुष्टि भले हो जाय, साहित्य को अपेक्षाकृत हानि ही अधिक होती है। समन्वय अवश्य होना चाहिए—और मेरा विचार है कि प्रगतिवाद ने समन्वय के लिए व्यापक क्षेत्र तैयार किया है और उसमें समन्वित दृष्टिकोण के रूप में विकास करने की संभावनाएँ भी मौजूद हैं—परन्तु यह तभी संभव है जब विभिन्न विचारधाराओं द्वारा निरूपित तथ्यों को कोई वैज्ञानिक जीवन दर्शन की पद्धति एक सूत्र में बाँधे—अर्थात् द्वन्द्वात्मक पद्धति से ऐसा किया जाय। तभी एक सौन्दर्य-मूलक सामाजिक दृष्टिकोण [Social Aesthetic] का विकास किया जा सकेगा और साहित्य के मूल्यांकन की वैज्ञानिक पद्धति निर्धारित की जा सकेगी।

१ John Dewey : Art as Experience and Freedom and Culture.

२ Herbert Read : Art and Society

३ I. A. Richards : Principles of Literary Criticism, Practical Critiism, and Science and poetry.

४ C. Jaqques Barzun : Of Human Freedom, and Darwin, Marx, Wagner—Critique of a Heritage.

५ Alice Keliher : Life and Growth

६ Luise Rosenblatt : Literature as Exploration.

'आँसू' का भाव-पक्ष

प्रो० बी० बी० मोहन, एम० ए०

[प्रस्तुत लेख में आँसू काव्य की विवेचना का आश्रय लेकर उस जीवन मीमांसा का उद्घाटन किया है जिसमें वेदना को महत्व दिया जाता है। —सम्पादक]

हिन्दी-साहित्य के वर्तमान युग के इतिहास की पृष्ठ-भूमि जिस एक मुख्य बात से अवगत कराती है वह यह है कि बुद्धि के आधुनिककालीन युग में मानव-जीवन की नवीन आवश्यकताओं ने जिन नए साधनों को जन्म दिया है, उनमें से एक प्रधान साधन साहित्यिक गद्य है जो मानव-विचारों और भावों के व्यक्तीकरण का एक प्रधान स्रोत है तथा जिसमें कविता की बाह्य सज्जा की आवश्यकता मिट जाती है। फिर भी मानवता के अन्तस्तल की गहराई को मापने के लिए, उसके गम्भीरतम और तीव्रतम विचारों और भावों को व्यक्त करने के लिए, संगीत और नाद-सौन्दर्य तथा अलङ्कारों की समस्त सज्जा सहित कविता का महत्व पूर्ववत् स्थिर है, क्योंकि उसका लक्ष्य केवल दूसरों को अपने विचारों से परिचित कराना नहीं, भाव-विभोर बनाना है, विचारों की अभिव्यक्ति नहीं, भावों की जागृति तथा मानव-मन को तरङ्गित करना है, ज्ञान-वितरण नहीं (यद्यपि यह भी एक प्रधान लक्ष्य है), रस की सृष्टि है।

भाव साहित्य की आत्मा है तथा कला उसका बाह्य दृश्यमान रूप अथवा शरीर। भाव जहाँ साहित्यिक सत्य का बोध कराता है वहाँ कला उसे सुषमा प्रदान कर सुख-ग्राह्य बनाती है। प्रतिभा मन में नये भावों को तरङ्गित करती है और कला उन्हें नवीन रूप प्रदान कर उन्हें इस योग्य करती है कि मानव-हृदय को आन्दोलित कर सके। इसलिए यद्यपि भाव का एकान्त महत्व नहीं तथापि साहित्य में भाव ही प्रधान है। मनुष्य का सौन्दर्य-प्रेम उसे रूप प्रदान करता है। कला से कवि के कौशल का तथा भावों से कवि के व्यक्तित्व तथा उसके मानसिक विकास का बोध होता है। इसीलिए काव्य में मौलिक महत्ता भाव-पक्ष की ही है।

दार्शनिक कवि जयशङ्करप्रसाद के 'आँसू' एक भावुक हृदय की गम्भीर चिन्तना-जन्य वेदना के परिणाम-स्वरूप हैं, वह वेदना जो उनके जीवनाकाश में मेघ-सदृश छा गई है और वायु के एक अन्तिम झोंके के साथ प्रचण्ड वेग से बरस पड़ती है। 'आँसू' के आरम्भिक पदों में स्तम्भित वातावरण की सृष्टि उसी प्रकार की है जैसे सूनी, शान्त सन्ध्या में मेघाच्छन्न आकाश के नीचे अन्धकारपूर्ण पृथ्वी। यह सन्नाटा अथवा वातावरण का स्तम्भन अल्पकालीन है। वेदनाभिभूत हृदय के विकल चीत्कार कर उठने में विलम्ब नहीं। वेदना की सीमा का अनुमान तो प्रथम छन्द से ही हो जाता है—

'इस करुणा-कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती ?'

प्रतिकूल परिस्थितियों से प्रसूत दुःख की भावना चिन्तना द्वारा प्रसारित होती है और चिन्ता की लोल लहरें पूर्व स्मृतियों को उभाड़कर हृदय को विषादमय बनाती हैं। चिन्तनाशील जागरूक कवि का मन अभाव की अनुभूति से अति अस्थिर हो उठता है और वस्तुस्थिति तथा लक्ष्य अथवा इष्ट प्राप्ति के संघर्ष के कारण कवि की अवस्था एक असहाय, दयनीय व्यक्ति की सी हो जाती है जिसकी चकित पुकारों की प्रतिध्वनि क्षितिज से टकराकर लौट आती है। कवि की विशाल आत्मा का क्रन्दन, चीत्कार तथा क्षोभ एक साधारण और सर्वप्राप्य वस्तु के लिए कदापि नहीं। रहस्योन्मुख कवि की उक्तियाँ वेदना की आध्यात्मिकता की ओर स्पष्ट संकेत करती हैं—

ये सब स्फुलिंग हैं मेरी उस ज्वालामयी जलन के,
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल मेरे उस महामिलन के।

इसमें कवि का प्रिय के साथ अभिन्नत्व का धुँधला आभास मिलता है। आत्मा का अलौकिक तत्व से संयोग एक साधारण घटना अथवा सुलभ मिलन नहीं, 'महा-मिलन' ही होगा। अलौकिक प्रियतम के वियोग से उत्पन्न वेदनारूपी ज्वालामयी प्रचण्ड अग्नि की ये चिनगारियाँ हो सकती हैं, जो हृदय-निलय में तारों के समान फैली हुई हैं। वियोग में कवि ही नहीं समस्त सृष्टि विकल और हृतसर्वस्वा सी जान पड़ती है। आध्यात्मिकता के प्रमाणों में कदाचित सबसे प्रबल प्रमाण निम्न पद है जिसमें धरणी का मानवीकरण करके उसे एक वियोगिनी का रूप प्रदान किया गया है और इस प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी को कवि के इष्ट उस अलौकिक प्रियतम की खोज में विक्षिप्त तथा उसके विरह में लीन बतलाया गया है। वियोगिनी के निर्बन्ध लम्बे केश समस्त आकाश में बिखरे हुए हैं। विरह का कैसा सजीव, सच्चा और स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया गया है—

बुलबुले सिन्धु के टूटे नक्षत्र-मालिका टूटी,
नभ-मुक्त-कुन्तला धरणी दिखलाई देती लूटी।

यहाँ रहस्यवादी कवि प्रसाद जायसी प्रभृति कवियों की पंक्ति में आ गए हैं जो प्रकृति को प्रियतम के विरह में पीड़ित देखते हैं। 'पद्मावत' में स्थान-स्थान पर ऐसे वर्णन आए हैं। हेतूत्प्रेक्षा के आधार पर ऐसी उक्तियों की कमी नहीं। उदाहरणार्थ—

विरह के आगि सूर जरि कापा।
रातिउ दिवस जरै ओहि तापा॥

कवि आध्यात्मिकता के मार्ग में प्रथम अवस्था को ही प्राप्त हुआ है। आत्मा सजग हो चुकी है तथापि चेतना अबोध और अकिञ्चन है। प्रिय-मिलन की अनुभूति का अस्पष्ट ही अनुभव हुआ था कि वियोग हो गया, अतएव विरह-वेदना नई है—

'छुआ क्या था उनको मेरा जो सुख लेकर यों भागे
सोते में चुम्बन लेकर जब रोम तनिक सा जागे।'

प्रियतम विरह-दुख प्रदान कर तथा प्रेमी का सारा पूर्व सुख समेट अचानक बिना बतलाये अथवा संकेत दिये खिसक गये। यही तो मन को और विषादमय बना रहा है। विरहाग्नि में प्रिय का चुपचाप चले जाना मानो अग्नि में घृत का काम कर रहा है। प्रेमी को यह अनुभव कितना कटु, असत्य और हृदय-विदारक जान पड़ता है—

'इतना सुख ले पल भर में जीवन के अंतस्तल से
तुम खिसक गये धीरे से रोते अब प्राण विकल से।'

विवश प्रेमी की दीन और असहाय अवस्था का चित्रण, निराश प्रेमी के विडम्बनापूर्ण जीवन की समता, नीरस जीवन का रूपक एक मदिरा-विहीन पात्र या खाली भँवर-पात्र ही हो सकता है। प्रियतम द्वारा जब जीवन का सारा रस (सुख) पान कर लिया गया है तब रस-हीन प्याला मानो सूखा लुढ़का हुआ पड़ा है—

'लहरों में प्यास भरी है
है भँवर पात्र भी खाली
मानस का सब रस पीकर
लुढ़का दी तुमने प्याली।'

आध्यात्मिक विरह की वेदना कवि के जीवन का सुख अपहृत कर लेती है। कवि को यद्यपि सुख की प्राप्ति नहीं होती तथापि वह न केवल दुःख में ही सन्तोष का प्रयत्न करता है वरंच उसमें सुख-प्राप्ति का प्रयत्न करता है। महादेवी इस क्षेत्र में अग्रगामिनी हैं। वे जिस प्रकार पीड़ा में प्रिय का तथा प्रिय में पीड़ा का अन्वेषण करती हैं, उस प्रकार प्रसाद नहीं। वेदना कवयित्री की चिरसङ्गिनी है और उसमें उसे सुख ही मिलता है—'तुमको पीड़ा में ढूंढा, तुममें ढूँढूंगी पीड़ा।' कवि पीड़ा में सन्तोष तो कर लेता है पर साथ ही आंतरिक वेदना का तीव्र अनुभव करते हुए—

'सुख मान लिया करता था
जिसका था दुख जीवन में
जीवन में मृत्यु बसी है
जैसे बिजली हो घन में।'

प्रेमी के दुख-प्रदर्शन के विस्तार के साथ प्रियतम के आत्म-सुख अथवा सन्तोष की वृद्धि होती है। अपने विरह में लीन देख प्रिय का सुख सीमा पार कर जाता है, किन्तु प्रेमी को वेदना के तथा आँसू-प्रवाह के अतिरिक्त और क्या मिलता है?—

'उनका सुख नाच उठा है यह दुख-द्रुम-दल हिलने से
श्रृङ्गार चमकता उनका मेरी करुणा मिलने से।'

प्रातःकाल प्रेमी और प्रियतम का वियोग स्वाभाविक ही है, अतएव कवि को विरह-पीड़ा होती है। इसके विपरीत संध्याकाल मिलन का समय है इसलिए संयोग की आशा होती है—

'क्यों छलक रहा दुख मेरा
ऊषा की मृदु अलकों में
हाँ उलझ रहा सुख मेरा
संध्या की घन अलकों में।'

महादेवी की कविता में प्रियतम का प्रेमिका को व्याकुल कर लुप्त हो जाना बताया गया है। उनको अपनी निकटता में रखने के प्रयत्न निष्फल प्रमाणित होते हैं—

'अलि कैसे उनको पाऊँ ?
वे आँसू बन कर मेरे
इस कारण ढुल ढुल जाते,
इन पलकों के बन्धन में,
मैं बाँध बाँध पछताऊँ।
मेघों में विद्युत सी छबि............इत्यादि।'

उपर्युक्त गीत में जहाँ कवयित्री के प्रयत्न की असफलता प्रधान है, वहाँ प्रसाद के 'आँसू' में वेदनाभिव्यंजना प्रधान है। एक में प्राप्ति की अभिलाषा तथा वेदना का आवरण है और दूसरे में वेदना की विकलता तथा क्रंदन का स्वर। निम्न पद, जो कि समस्त काव्य-पुस्तक 'आँसू' की वेदना-व्यञ्जना की अभिव्यक्ति के लिए तथा वेदना की भूमि (परमात्मा की प्राप्ति के लिए सजग आत्मा की आकुलता) को निश्चित करने के लिए पर्याप्त है, परम तत्व से मिलन की तीव्र अभिलाषा तथा असफलता दोनों को ही व्यक्त करता है। सिद्ध कवियों में जहाँ प्रथम विशेषता ही प्रधान होती है वहाँ प्रसाद में साथ ही असफलता का योग होने से वे एक भिन्न कोटि के कवि ठहरते हैं तथा इसी दृष्टि से 'आँसू' इस प्रकार की रचनाओं से भिन्न कृति ठहरती है—

'देखा बौने जलनिधि का
शशि छूने को ललचाना,
वह हाहाकार मचाना
फिर उठ-उठ कर गिर जाना।'

फिर भी कवि की पीड़ा उसे जीवन के स्थिर लक्ष्य से विमुख नहीं करती और न उसे सत्य से अलग कर विनाश और प्रलय की ओर ले जाती है। जीवन के तत्व में विश्वास अथवा प्राप्ति की तत्परता का अभाव नहीं। यथार्थ वर्णित है तो उसका परिवर्तित रूप आदर्श भी, एवं प्राप्त वर्णित है तो प्राप्य का भी गान है। परिस्थितियों से विद्रोह है, जीवन से नहीं; अतएव 'आँसू' केवल वेदना और अश्रु का स्रोत नहीं, जीवन का निर्मल स्रोत प्रवाह है। इसी आधार पर कवि का अनुरोध है—

'मत कहो कि यही सफलता
कलियों के लघु जीवन की,
मकरन्द भरी खिल जायें
तोड़ी जायें वे मन की।'

जीवन के सम्बन्ध में सुमित्रानन्दन पन्त के इस दृष्टिकोण का इससे कितना साम्य है—

'क्या यह जीवन सागर में
जल-भार मुखर भर देना
कुसुमित पुलिनों की क्रीड़ा
व्रीड़ा से तनिक न लेना ?'
सागर-सङ्गम में है सुख जीवन की गति में भी लय।

प्रसाद को जीवन में सुख-दुःख का सामंजस्य अभीष्ट है। विरह-मिलन, सुख-दुःख का मेल मानवता के लिए कल्याणकारी है—

'मानव-जीवन-वेदी पर
परिणय हो विरह-मिलन का
दुख सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।'

पन्त में भी यही समन्वय की भावना पाई जाती है—

'सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन।
फिर घन में ओझल हो शशि
फिर शशि से ओझल हो घन।
× × ×

यह साँझ उषा का आँगन
आलिङ्गन विरह मिलन का
चिर हास-अश्रुमय आनन
रे इस मानव जीवन का।

ज्वाला तथा समस्त विरह-गान के अनन्तर कवि को जो प्राप्त हुआ वह है वेदना की मङ्गलकारिता का आत्म-विश्वास। वेदना त्याज्य नहीं, मानवता के लिए गौरव का कारण है—

'इस व्यथित विश्व-पतझड़ की
तुम जलती हो मृदु होली
हे अरुणे! सदा सुहागिनि
मानवता सिर की रोली!'

जीवन-सागर में बड़वाग्नि सी अनल-बाला वेदना सारे कालुष्य को भस्म कर मन को तपे हुए सुवर्ण के समान शुद्ध और निर्मल कर देती है—

'जीवन सागर में पावन
बड़वानल की ज्वाला सी
यह सारा कलुष जलाकर
तुम जलो अनल-बाला सी।'

इसी प्रकार पन्त चिन्तना के ताप में गलने के द्वारा जीवन की पूर्णतम मूर्ति की रचना करने का मन को आत्मोपदेश देते हैं। सुवर्ण के रूपक का आश्रय ले वेदना की कल्याणसाधकता दर्शाई गई है—

'तप रे मधुर मधुर मन!'···इत्यादि।
'अपने सजल स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम
स्थापित कर जग में अपनापन
ढल रे, ढल आतुर मन'···इत्यादि।

उपर्युक्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट हो गई होंगी। प्रथम वेदना जो कि आकुलता की जननी है अन्त में मङ्गलकारिणी प्रमाणित होती है तथा द्वितीय विरह-वेदना का प्रसार भौतिकता से आध्यात्मिकता तक है और कवि की दृष्टि लौकिक से अलौकिक अथवा ईश्वरोन्मुख हुई है। अन्य कवियों तथा सन्तों के सम्बन्ध में हम इस प्रवृत्ति से अनभिज्ञ नहीं। 'आँसू' में इस क्रम के रहते हुए भी गति द्विविध है तथापि इससे हमारे पूर्वकथन में कोई व्याघात नहीं पहुँचता। अपने प्रियतम की सुन्दरता को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए कवि की दृष्टि अलौकिक से लौकिक की ओर भी हुई है। 'आँसू' में रूप के स्थूल वर्णन का यही कारण है।

'बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से?'···इत्यादि।

प्रिय का सौन्दर्य इतना अनुपम तथा अलौकिक है कि प्रेमी मुग्ध हो जाता है। केवल पारस्परिक आलङ्कारिक रूप-वर्णन नहीं पाया जाता। सुन्दरता की पराकाष्ठा तथा मूल-भावना एवं आदर्श दर्शनीय हैं। इष्ट में नारी की स्वाभाविक सुन्दरता तथा शिशु की निर्दोषता का सामंजस्य है—

'जिसमें इतराई फिरती
नारी—निसर्ग—सुन्दरता
छलकी पड़ती हो जिसमें
शिशु की उर्मिल निर्मलता।'

सौन्दर्य की अनुभूति ने बहुत ही सुन्दर काव्य को जन्म दिया है। साथ ही शुद्ध स्थूल शारीरिक वर्णन नहीं, प्रिय की ओर स्पष्ट संकेत भी है। कानों के वर्णन में उपमा द्वारा किस कौशल के साथ कवि स्वयं का करुण प्रलाप तथा प्रिय की निष्ठुरता को व्यञ्जित कर रहा है। किसलय पर जल-बिन्दु के सदृश ही प्रिय के कानों में किसी के दुख नहीं ठहरते, कोई प्रभाव नहीं पड़ता—

'मुख-कमल समीप सजे थे
दो किसलय से पुरइन के
जल-बिन्दु-सदृश ठहरे कब
उन कानों में दुख किनके?'

एक बात और विचारणीय है। अलौकिक से लौकिक क्षेत्र में अवतीर्ण होने पर कवि यहाँ का प्राणी होकर इह-लोक में सदा विचरण नहीं करने लगता और न अङ्ग-प्रत्यङ्ग (नख-शिख) वर्णन के साथ रूप-वर्णन की ही समाप्ति होती है। इस पार्थिव लोक से फिर उसकी वेदना

पूर्व प्रतिष्ठित क्षेत्र में ले आती है तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग के वर्णन के अनंतर स्वतन्त्र रूप से प्रिय की शोभा एक साथ एक ही पद में वर्णित की गई है। यहाँ कवि चित्रकार के स्थान से ऊपर उठकर सच्चे कवि का स्थान प्राप्त करता है। कला-विशेष के सच्चे हृदय से कवि पूर्णतया अभिज्ञ है। वह अपने मानस-पट पर चित्रित प्रिय की शोभा का प्रतिबिम्ब अङ्कित कर उसका प्रभाव व्यंजित करता है—

'चंचला स्नान कर आवे
चन्द्रिका पर्व में जैसी
उस पावन सन थी शोभा
आलोक मधुर की ऐसी।'

अलौकिक प्रियतम की शोभा अलौकिक ही है। निम्न छंद द्वारा कवि फिर आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाता है—

'छलना की तब भी मेरा
उसमें विश्वास छला था
उस माया की छाया में
कुछ सच्चा स्वयं बना था।'

उक्त छन्द में छलना और माया शब्दों की ध्वनि उसी क्षेत्र की ओर इंगित करती है जो कवि का निज का क्षेत्र है। इन संकेतों की ओर से ही 'आँसू' के भाव-पक्ष का हमारा अध्ययन पुष्ट और गम्भीर होगा, इनकी ओर से आँखें बन्द करने से नहीं। छलना के द्वारा कवि ने अपने जीवन में एक लम्बी और त्यागपूर्ण साधना की है। इसी तपस्या के परिणाम-स्वरूप 'आँसू' जैसी उच्चकोटि की कविता का जन्म हुआ है। वह केवल शारीरिक अथवा भौतिक वेदना का फल नहीं, चिंतना की इसी साधना का परिणाम है, और इष्ट की प्राप्ति कष्ट-पूर्ण अर्चना के पश्चात् ही सम्भव है, यह हमें भली-भाँति विदित है।

पृष्ठ २७४ से आगे

लगभग हो गया है। इसका उद्धार आमेर के सुप्रसिद्ध महाराजा मानसिंह के भतीजे चन्द्रसिंह ने किया था।

(३) मध्यम—अबोहर और ओरियंटल कालेज (पंजाब) की प्रतियाँ इस रूपान्तर की हैं। एक और प्रति भी नाहटाजी के भण्डार में है। इसकी प्राचीनतम उपलब्ध प्रति सं० १२७३ की है। इसमें लघु रूपान्तर की अपेक्षा लगभग १० प्रसंग अधिक हैं और वर्णन भी अपेक्षाकृत बहुत विस्तार से हैं।

(४) बृहत् रूपान्तर—इसकी प्रतियाँ उदयपुर में हैं। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण भी इसी रूपान्तर का है। इसमें कथा प्रसंग मध्यम की अपेक्षा भी अधिक हैं। वर्णन का विस्तार भी अपेक्षाकृत अधिक है। इसकी प्राचीनतम प्रति वही सं० १७६० की प्रति है जिसे मेणारियाजी रासो की सबसे प्राचीन प्रति बताते हैं।

हमारी सम्मति में लघुतम रूपान्तर मूल रासो के अधिक निकट है। इन रूपान्तरों के सम्बन्ध में ये दो बातें ध्यान में रखने की हैं। पहली यह कि इनकी भाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। वह बहुत कुछ एकसी है। दूसरे, ये रूपान्तर विभिन्न ग्रन्थ नहीं, बड़े रूपान्तर छोटे रूपान्तरों के परिवर्धित संस्करणमात्र हैं—लघुतम रूपान्तर का प्रायः सारा-का-सारा अंश लघु रूपान्तर में विद्यमान है (जो दो-चार छन्द नहीं हैं वे अन्य रूपान्तरों में मिल जाते हैं)। लघु रूपान्तर का प्रायः सारा अंश मध्यम रूपान्तर में मिलता है और इसी प्रकार प्रायः सारा मध्यम रूपान्तर बृहद् रूपान्तर के अन्तर्भूत है। अन्तर है केवल कुछ कथा-प्रसंगों की कमी-बेशी का और वर्णन के विस्तार का। यह वृद्धि और यह विस्तार परवर्ती भाटों की करतूत है।

पृथ्वीराज-रासो का निर्माण-काल

नरोत्तमदास स्वामी

[पृथ्वीराज रासो का निर्माण-काल विद्वानों में विवाद का विषय रहा है। प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने मनेरिया जी की धारणाओं का खण्डन करते हुए रासो की विभिन्न प्रतियों के और उनके लिपि-काल का परिचय दिया है। लेखक महोदय के मत से रासो का लघुतम रूपान्तर मूल रासो के निकटतम है किन्तु उन्होंने उसके समय का निर्देश नहीं किया है।] —सम्पादक

'विशाल भारत' के गत अक्टूबर के अङ्क में उदयपुर के श्री मोतीलालजी मेणारिया का 'पृथ्वीराज रासों का निर्माण-काल' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें विद्वान लेखक ने नीचे लिखे अभिप्राय प्रकट किये हैं—

(१) रासो का सर्वप्रथम उल्लेख महाराणा राजसिंह (१७०६–१७३७) के समय में निर्मित राजप्रशस्ति काव्य में मिलता है, इसके पूर्व का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

(२) रासो की अभी तक जितनी भी प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं वे राजप्रशस्ति काव्य के निर्माण-काल (सं० १७३२) के पीछे की हैं।

(३) रासो की सबसे प्राचीन प्रति सं० १७६० की लिखित है जो उदयपुर के राजकीय पुस्तकालय सरस्वती-भण्डार में रक्षित है।

(४) इन सब बातों को देखते हुए रासों का निर्माण काल महाराणा राजसिंह के समय के पूर्व किसी प्रकार नहीं हो सकता।

(५) श्री गौरीशङ्कर हीराचन्दजी ओझा का यह कथन माननीय नहीं कि रासो का निर्माण विक्रम संवत १६०० के आस पास हुआ होगा।

श्री मेणारियाजी द्वारा प्रतिपादित ये सभी अभिप्राय भ्रमपूर्ण हैं।

(१) रासो का उल्लेख

राज-प्रशस्ति काव्य के पूर्व भी पृथ्वीराज रासो का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ दलपति कवि के जसवंत उदपोत काव्य में, जिसमें जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह का चरित्र विस्तार से वर्णित है, रासो का उल्लेख है१। इस काव्य की रचना राजप्रशस्ति के रचना-काल से १८ वर्ष पूर्व सं० १७०४ में हुई थी। इसके अतिरिक्त रासो की अनेक ऐसी प्रतियां विद्यमान हैं जिनका लिपि काल राज-प्रशस्ति काव्य के निर्माण काल से पहले का है और जिनमें ग्रन्थ को स्पष्टत: प्रिथीराज रासौ या पृथीराज रासौ या पृथ्वीराज रासौ लिखा गया है।

(२) रासो की प्राचीन प्रतियां

सं० १७६० की लिखी हुई उदयपुर वाली प्रति रासो की सबसे प्राचीन प्रति नहीं। इसके समर्थन में हम आगे लगभग एक दर्जन प्रतियों का परिचय देते हैं जो सभी सं० १७६० के पूर्व की लिखित हैं। इनमें से कई राजप्रशस्ति काव्य के रचना काल से भी पहले की हैं और कम से कम दो प्रतियाँ ऐसी हैं जो निश्चित रूप से सं० १७०६ से भी प्राचीन हैं, जब कि महाराणा राजसिंह का राज्य-काल आरम्भ होता है२। जैन-भण्डारों में शोध करने से ऐसी और भी प्रतियाँ सहज ही मिल जायँगी। श्रीयुत अगरचन्द नाहटा ने कुछ प्रतियों का पता लगाया भी है जिनका विवरण आशा है, शीघ्र ही हमारे सामने आवेगा३।

---

१ 'रासो पृथ्वीराज की तहां बहुत विस्तार।' यह सूचना श्री अगरचन्दजी नाहटा से प्राप्त हुई है।

२ नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) की प्रति सं० १६४२ की बतायी गयी है पर वह १६४२ की नहीं है, बहुत पीछे की है जैसा श्री मेणारियाजीने अपने लेख में सिद्ध किया है।

३ श्री मेणारियाजी नाहटाजी को लिखे गये एक पत्र में लिखते हैं कि वे उसी ग्रन्थ को पृथ्वीराज रासो मानते हैं जिसका प्रकाशन नागरी-प्रचारिणी सभा ने किया है। अन्यान्य रचनाएँ, जिनकी प्राचीनतर प्रतियाँ उपलब्ध हैं, चन्द कृत पृथ्वीराज रासो नहीं किन्तु भिन्न काव्य हैं जिनको पृथ्वीराज चरित्र आदि कहा गया है। भाव यह है कि मेणारियाजी रासो के वृहत रूपान्तर को ही रासो मानते हैं,

(१) गुजरात के धारणोज गाँव के बारोट पथु वजा की प्रति जिसकी प्रतिलिपि श्री अगरचन्द नाहटा के भण्डार में है—इस प्रति का लिपि-काल सं० १६६७ है। यह बीकानेर-नरेश महाराजा कल्याणमल्ल के पौत्र, और महाराजा रामसिंह के भतीजे, राजा भगवानदास के लिए लिखी गयी थी। इसका पुष्पिका-लेख इस प्रकार है—

इति श्री कवि भट्ट चन्द बरदाइ कृत राजा श्री प्रिथीराज चहूआँण रासउ रसाल संपूर्ण··· ··· ··सं० १६६७ वर्षे साके १५३२ प्रवर्तमाने आस(ा)ढ माँसे शुक्लपक्षे पञ्चमी तिथौ महाराजाधिराज महाराज श्री कल्याणमल्लजी तत्पुत्र राजा श्री भाँणजी तत्पुत्र राजा श्री भगवानदासजी पठनार्थ। श्रेय कल्याण श्री शुभम् भवतु।

(२) बीकानेर के अनूप-संस्कृत-पुस्तकालय की प्रति-यह प्रति उल्लिखित बीकानेर-नरेश-महाराजा रामसिंह जी के दीवान कर्मचंद बच्छावत के पुत्र भागचंद के लिये लिखी गयी थी। कर्मचंद बच्छावत की मृत्यु सं० १६५६ में हुई थी और उसका पुत्र भागचँद सं० १६७६ में मारा गया था। अतः यह प्रति निश्चित रूप से सं० १६७६ के पूर्व की है, इसके अंत में लिखा है—

मंत्रीश्वर मंडन तिलक बच्छा वंश भर भाण
करमचंद सुत करमवड़ भागचंद सब जाण
तसु कारण लिखियो सही पृथ्वीराज-चरित्र
पढताँ सुख संपति सकल मन सुख होवे मित्र

(३) और (४) बीकानेर के अनूप-संस्कृत-पुस्तकालय में दो और प्राचीन प्रतियाँ हैं जिनमें से एक ऊपर बतायी (२) नंबर की प्रति से भी प्राचीन जान पड़ती है। किसी भी अवस्था में ये प्रतियां सं० १७३२ (राजप्रशस्ति के निर्माणकाल) के पीछे की नहीं होसकतीं। इनका पाठ नं० (२) की प्रति से मिलता हुआ है, इनकी पुष्पिकाऐं इस प्रकार हैं—

नं० (३)–इति श्रीपृथ्वीराजरासो समापता शुभंभवतु साहश्रीनरसिंहसुत नरहरदासपुस्तकलिखा-वतं लिखतं मथेन उदा आह्मापुर मध्ये।

नं० ४–महाराज नृप सूर सुख कूरम चंद उदार
रासौ पृथ्वीराज कौ राख्यौ लगि संसार
शुभं भवतुः कल्याणमस्तुः

इन प्रतियों में कई स्थानों पर रिक्त स्थान हैं जिनसे सूचित होता है कि ये किसी प्राचीनतर प्रति से नकल की हुई हैं। जो अक्षर पढ़े नहीं गये या मूल प्रति में नहीं थे उनके स्थान पर·······इस प्रकार रिक्तता सूचक चिह्न बना दिये गये हैं।

(५) पंजाब के ओरियंटल कालेज की प्रति-यह प्रति अत्यंत जर्जर अवस्था में है, सं० १७०६ के पीछे की नहीं हो सकती।

(६) अबोहर के साहित्य-सदन की प्रति—इसका लेखनकाल सं० १७२३ है, पुष्पिका इस प्रकार है—

इतिश्री कविचँद विरचिते पृथ्वीराजरासे डिल्लीतः कविचँद गज्जनपुरआगतं गोरी-साहिचंद कविनां उभयपरस्पर वार्ता कथनं राजा पृथीराज हस्तेन

दूसरे रूपान्तरों को रासो नहीं मानते। पर उन्हीं के मानने न मानने से प्रश्न का निर्णय नहीं हो सकता। ये रचनाएँ भिन्न रचनाएँ नहीं हैं, पृथ्वीराज रासो ही हैं क्योंकि—

(१) पुष्पिकाओं में इन्हें स्पष्ट रूप से पृथ्वीराज रासो कहा गया है।

(२) केवल एक प्रति (प्रति नम्बर २) के अतिरिक्त किसी में इन्हें पृथ्वराज-चरित्र आदि नाम नहीं दिये गये हैं, प्रति नं० २ में पुष्पिका नहीं है अतः ग्रन्थ का नाम नहीं मिलता। अन्तिम दोहे में पृथ्वीराज-चरित्र विषय बताने वाला पद-मात्र है, ग्रन्थ का नाम नहीं। यह प्रति (३), (४) और (७) नम्बर की प्रतियों से प्रायः सर्वांश में मिलती है। इन तीनों प्रतियों में रचना का नाम पृथ्वीराजरासो दिया है।

(३) इनके प्रायः सभी छंद (नगण्य अपवादों के साथ) बृहद् रूपान्तर वाले रासो में मिलते हैं। अब चाहे बृहद् रूपांतर को इनका परिवर्धित संस्करण कहिये चाहे इनको बृहद् रूपांतर का संक्षिप्त संस्करण पर भिन्न रचनाऐं किसी प्रकार नहीं कह सकते। हैं ये पृथ्वीराजरासो ही।

गोरी साहाबदीन वहनोनाम त्रयश्चत्वारिंशत्तमः खंडः समाप्तः ४३ संवत १७२३ वर्षे कार्तिक मासे कृष्णपक्षे प्रतिपदाया तिथौ सुरगुरु वासरे लिखितं श्री रतलाम नगरे । ३२५ रूपग

(७) फतहपुर की प्रति जो इस समय श्री अगरचंद नाहटा के पास है— यह सं० १७२८ में लिखी गयी थी। पुष्पिका यों है—

इति श्री कविचंद विरुचिते पृथीराज रासो....
चंदवरदाईमरुनं,श्रीचंदकविकृतिरासौपृथीराजकी संपूर्ण समाप्तः मिति शुभंभवतु..................
सं० १७२८ मार्ग सिरसुदि १ बुधवासरे फतेपुर मध्ये लिखतं अमरा आत्मार्थे।

(८) बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय की प्रति– इसका लेखनकाल सं० १७३८ है।

पुष्पिका–सं०१७३८ वर्षे जेष्ठ वदि १२ तिथौ लिखितमिदं पुस्तकं,स्वस्ति श्रीखरतरगच्छे मथेन नारायणजी शिष्य लालचंदलिपी-कृतं श्री चूरू स्थाने श्री ५ भींवजी राज्ये-

इस प्रति के विविध अंश अलग-अलग समयों और अलग-अलग स्थानों में लिखे गये थे। अंतिम अंश का लेखन १७३८ है।

(९) बीकानेर के वृहद्-ज्ञान-भंडार की प्रति—यह प्रति सं० १७३६ और १७४० में लिखी गयी थी। इस का लेखक खरतरगच्छीय जैन यति सकलहर्ष का शिष्य भागचँद था।

पुष्पिका—सं० १७४० वर्षे वैसाख सुदि १ दिने पूनत्वसर मध्ये पूर्णीकृतं।

इसके अंत में यह पद्य है—

सत्त सहस रासौ रसिक कह्यौ चंद विरुदाइ
पठत सुनत श्रीपति जयौ भट्ट जपत्तति माय

आक्सफोर्ड के बोडलियन पुस्तकालय में सं० १७४२ की लिखी रासौकी एक प्रति का होना सूचीपत्रसे पाया जाता है।

(३) रासो के निर्माणकाल के सम्बन्ध में निष्कर्ष—उल्लिखित प्रतियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि रासो और राजप्रशस्ति काव्य के रचना-काल समानान्तर नहीं, रासो की रचना राजप्रशस्ति के निर्माण के बहुत पूर्व हो चुकी थी। रासो का रचना काल किसी भी प्रकार सं० १६५० के आगे नहीं ले जाया सकता। अतः जब मेणारियाजी ओझाजी के इस कथन को कि रासो का रचना काल सं० १६०० के आसपास अनुमान किया जा सकता है अमान्य ठहराते हैं तो हम उनसे सहमत नहीं हो सकते। रासो की भाषा को देखते हुये उसका समय सं० १६०० के आसपास ही हो सकता है*।

* इससे यह न समझा जाय कि हम मूल रासो का रचनाकाल सं० १६००० के आसपास मानते हैं। मूल रासो प्राचीन ग्रन्थ हो सकता है पर इस समय उपलब्ध भाषा-रूप वाला रासो सं० १६०० के बहुत पहले का नहीं हो सकता। हमारा अनुमान है कि मूल रासो बहुत छोटा ग्रन्थ था जैसे प्राचीन राजस्थानी के अन्यान्य रास या रासो हैं। मौखिक होने के कारण उसकी भाषा समय के साथ बदलती गयीं। सं० १६०० तक वह बहुत विकृत और अस्तव्यस्त हो गया होगा। उस समय के लगभग उसके उद्धार का प्रयत्न हुआ और हस्तलिखित प्रतियाँ तैयार की गयीं। लिखाने वालों ने जैसा उनको याद था वैसा लिखाया और बहुत कुछ अपनी ओर से भी जोड़ दिया होगा। पहले की प्रतियाँ आकार में प्रायः छोटी हैं और पीछे वाली बड़ी। रासो इस समय चार रूपान्तरों में मिलता है—

(१) लघुतम—इसकी केवल एक ही प्रति मिली है, गुजरात के धारणोज गाँव से। प्रति का सम्बन्ध बीकानेर के राजवंश से है। तिथि वाली प्रतियों में वह सबसे प्राचीन है।

(२) लघु—इसकी प्रतियाँ बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में हैं। फतहपुर की प्रति भी इसी रूपान्तर की है। श्री नाहटाजी ने इसकी एक और पुरानी प्रति हाल में ही खोज निकाली है। इसमें लघुतम रूपान्तरों की अपेक्षा दो-चार प्रसङ्ग अधिक हैं पर वर्णन बहुत विस्तार से हैं जिससे आकार में यह लघुतम रूपान्तर के तिगुने के

शेष पृष्ठ २७१ पर

स्वभावोक्ति का तारतम्य

(प्रो० कन्हैयालाल सहल एम० ए०)

[स्वभावोक्ति के सम्बन्ध में मूल प्रश्न यह है कि वह अलङ्कार्य माना जावे या अलङ्कार। आचार्य शुक्लजी ने इसको रस का रूप देकर अलङ्कार्य ही माना है। विद्वान् लेखक ने इस प्रश्न के सम्बन्ध से विभिन्न आचार्यों के मत दिये हैं। इस मूल समस्या को हल इसलिए और भी कठिन है कि अलङ्कार्य और अलङ्कार के सम्बन्ध में आचार्यों का मतैक्य नहीं है। यद्यपि अलङ्कार बाहर की वस्तु नहीं है जो अलङ्कार्य पर जड़ी जा सकती है तथापि उनमें विचार का भेद अवश्य है। अलङ्कार के व्यापक अर्थ में जिस अर्थ में वामन ने माना है (सौन्दर्य अलङ्कारः) स्वभावोक्ति अलङ्कार है ही, किन्तु साधारण अर्थ, में भी जिसको स्वभावोक्ति कहते हैं उसमें साधारण उक्ति से कुछ अधिक चमत्कार होता है। सरलता में भी विशेष सौन्दर्य होता है। इस अर्थ में भी वह अलङ्कार है। स्वभावोक्ति में अलङ्कार और अलङ्कार्य एक दूसरे के अत्यन्त निकट आ जाते हैं फिर दृष्टिकोण का भेद रह जाता है। वस्तु और भाव की दृष्टि से उसे रस के अन्तर्गत समझ सकते हैं और शोभा और चमत्कार की दृष्टि से उसे अलङ्कार कह सकते हैं।]

स्वभावोक्ति अन्वर्थ शब्द है। केवल षष्ठी तत्पुरुष ही नहीं, इसमें तृतीया तत्पुरुष तथा मध्यमपदलोपी समास मान कर भी आचार्यों ने इस शब्द की व्युत्पत्ति की है।* और मध्यमपदलोपी समास तो कर्मधारय के ही अन्तर्गत है। इस प्रकार व्युत्पत्ति की दृष्टि से स्वभावोक्ति के तीन अर्थ हुए (१) बच्चों आदि के स्वभाव की उक्ति (२) अकृतिम रूप से वस्तु-कथन और (३) स्वभाव रूपा अथवा स्वाभाविक उक्ति। दूसरे और तीसरे अर्थ में कोई मौलिक भेद नहीं है।

स्वभावोक्ति का पुराना नाम है जाति। जन् धातु के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को लेकर जिससे 'जाति' शब्द निष्पन्न हुआ है, वस्तुओं के सहजात गुणवर्णन के कारण संभवतः जाति शब्द प्रचलित हुआ हो अथवा वस्तुओं की जातिगत विशेषताओं का वर्णन इसमें होता है, इसलिए इसका नाम 'जाति' पड़ गया हो। दण्डी ने तो जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया—चार प्रकार की स्वभावोक्ति का वर्णन किया है किन्तु जाति-स्वभावोक्ति का उदाहरण जो उन्होंने दिया है, उसमें उनकी दृष्टि शुकों की जाति-गत विशेषताओं की ओर ही रही है—

शुण्डैराताम्रकुटिलैः पक्षैर्हरितकोमलैः।
त्रिवर्णराजिभिः कण्ठैः एते मंजुगिरः शुकाः॥

अग्निपुराण में स्वभावोक्ति को 'स्वरूप' के नाम से अभिहित किया गया है। काव्य-प्रकाशकार ने भी अपनी परिभाषा में शायद जानबूझकर ही स्वभावोक्ति के नामान्तर (स्व-रूप) का समावेश किया है।

"स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्"

'स्व' शब्द यहाँ साभिप्राय है। स्वभावोक्ति में जिन वस्तुओं के रूप का वर्णन होता है, वह उन्हीं वस्तुओं का विशिष्ट रूप होता है क्योंकि स्वभाव अथवा स्वरूप अपना निजी होता है, किसी से उधार नहीं लिया जाता। इस बात को समझ लेने पर भामह द्वारा दिये गये 'स्वभाव' नाम की सार्थकता भी सहज ही सिद्ध हो जाती है। भोज ने भी 'सरस्वतीकंठाभरण' में जाति की परिभाषा देते हुए इस

---

* अत्र डिम्भादीनां स्वभावस्य उक्तिः वर्णनमस्ति इति अन्वर्थाभिधानमलंकारस्य (षष्ठी तत्पुरुषः)। अथवा स्वभावेन अकृत्रिमप्रकारेण याथातथ्येन उक्तिः वर्णनमत्र इति स्वभावोक्तिः (तृतीया तत्पुरुषः) अथवा स्वभावरूपा उक्तिः स्वभावोक्तिः (मध्यम)

बात पर जोर दिया है—

नानावस्थासु जायंते यानि रूपाणि वस्तुनः।
स्वेभ्यः स्वेभ्यो निसर्गेभ्यः तानि जाति प्रचक्षते॥

इस प्रकार स्वभावोक्ति के तीनों ही नामान्तर (जाति, स्वरूप और स्वभाव) इस अलङ्कार के तथ्य को हृदयंगम कराने में सहायक होते हैं। यही इनके नामकरण का रहस्य है।

स्वभावोक्ति के सम्बन्ध में 'शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यम्' (शास्त्रों में तो इसका साम्राज्य है ही) कह कर आचार्य दण्डी ने अपरिपक्व पाठकों को भ्रम में डाल दिया है। स्वयं दण्डी के ही शब्दों में 'स्वभावोक्ति पदार्थों के नानावस्था वाले रूपों को साक्षात् खोलकर रख देती है।'† दण्डी ने स्वभावोक्ति की जो परिभाषा दी है अथवा अन्य आचार्यों ने स्वभावोक्ति का जो लक्षण स्थिर किया है, उसका साम्राज्य निश्चय ही शास्त्रों में नहीं है। शास्त्र केवल अर्थग्रहण करवा कर अपने व्यापार से छुट्टी पा लेता है किन्तु काव्य में केवल अर्थग्रहण से काम नहीं चलता, वहाँ बिम्बग्रहण अपेक्षित है। दण्डी ने वार्ता और स्वभावोक्ति को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करके विचार-विभ्रम उपस्थित कर दिया है। आचार्यों के विवेचन में भी जहां वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव हो उसकी ओर निर्देश करना भी आवश्यक है, यद्यपि व्युत्पन्न पाठक के लिए आपाततः असंगत प्रतीत होती हुई उक्तियों में भी संगति बिठला लेना कोई मुश्किल कार्य नहीं। वार्ता और स्वभावोक्ति के अन्तर को यदि दृष्टि में रखा जाय तो सहज ही विषय का स्पष्टीकरण हो सकता है। 'भयभीत होकर हरिण दौड़ रहा है' यह तो वार्ता-कथन मात्र हुआ किन्तु कविकुलगुरु ने स्वभावोक्ति द्वारा इसी का क्या ही सुन्दर बिम्ब ग्रहण करवाया है—'सुन्दर लगने वाला हरिण बार-बार पीछे मुड़कर इस रथ को एकटक देखता जाता है; बाण लगने के डर से अपने पिछले आधे शरीर को सिकोड़ कर आगे के भाग से मिलाता हुआ दौड़ता जा रहा है। थकावट के कारण इसके खुले हुए मुँह से आधी चबाई हुई कुशा मार्ग में गिरती जा रही है और यह इतनी लम्बी छलाँगें भर रहा है कि इसके पांव पृथ्वी पर पड़ते हुये उतने नहीं दिखलाई देते जितना यह आसमान में उड़ता हुआ जान पड़ता है।" इस वर्णन को पढ़कर भयभीत होकर भागते हुए हरिण का चित्र हमारी आंखों के सामने आ उपस्थित होता है। इसे ही बिम्ब ग्रहण कहते हैं जो कवियों का लक्ष्य है। शास्त्र इस प्रकार के व्यापार में प्रवृत्त नहीं होता।

†नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती (दण्डिन्)

स्वभावोक्ति का सौन्दर्य कवि की पर्यवेक्षण शक्ति पर निर्भर है। यह सच है कि कवि में कल्पना, पर्यवेक्षण और अभिव्यक्ति तीनों ही आवश्यक हैं किन्तु सभी कवियों में ये तीनों शक्तियाँ एक परिमाण में नहीं मिलतीं। कुछ कवियों के काव्यों में कल्पना तथा अभिव्यक्ति का वैचित्र्य विशेष है तो अन्य कवियों के काव्यों में परिवेक्षण का वैशिष्ट्य देखने को मिलता है। किसी कवि को कल्पना-प्रधान तथा किसी को अनुभूति-प्रधान कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि कल्पना-प्रधान कवि में अनुभूति का एकान्त अभाव है अथवा अनुभूति-प्रधान कवि में कल्पना का किंचित् भी अस्तित्व नहीं है। "प्राधान्येन व्यपदेशाभवन्ति" यह सिद्धान्त तो बहुश्रुत है। स्वभावोक्ति में भी निरीक्षण की प्राधान्यता का यह अर्थ नहीं है कि अन्य काव्याङ्गों में निरीक्षण नितान्त अप्रयोज्य है किन्तु स्वभावोक्ति की सफलता निरीक्षण की कसौटी पर ही परखी जा सकती है, इस सम्बन्ध में दो मत न होंगे।

यहाँ अलंकार के स्वरूप पर भी विचार कर लेना अवांछनीय न होगा। शरीर को जब आभूषणों से अलंकृत किया जाता है अथवा साड़ी पर जब बेल-बूटे का काम किया जाता है तो शरीर और साड़ी अलंकार्य हैं, आभूषण और बेल-बूटे का काम है अलंकार। यदि शोभा के बाह्य उपकरणों का नाम अलंकार है तो स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं माना जा सकता क्योंकि स्वभावोक्ति में बाह्य अथवा अप्रस्तुत का प्रश्न ही नहीं उठता। रूपक का विवेचन करते हुये अरस्तू ने भी इस अलंकार में आनुषंगिकता के उपादान के कारण ही आनन्द की सत्ता स्वीकार

की है।* कुंतक के मत में शब्द और अर्थ अलंकार्य हैं और वक्रोक्ति है अलंकार। × इससे जान पड़ता है कि कुंतक आचार्यों द्वारा परिगणित अलंकारों तक ही अपने 'अलंकार' को सीमित नहीं रखते; उनका अलंकार सौन्दर्य के सभी उपकरणों को अपनी परिधि में समाविष्ट किये हुए है। कुंतक की दृष्टि में कवि-कर्म का ही दूसरा नाम काव्य है और बिना वक्रोक्ति के कवि-व्यापार निष्पन्न नहीं हो सकता। इस दृष्टि से विवेचना करने पर वक्रोक्ति के क्षेत्र की व्यापकता आसानी से समझ में आ सकती है। एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक जान पड़ता है। व्यवहार में यह कभी देखने में नहीं आता कि काव्य पहले लिख लिया जाय और अलंकार बाद में सजा दिये जायँ। होम (Home) ने कहा है कि भावावेश की अवस्था में अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक है।[१] Blair का कथन है कि कल्पना और भावावेश द्वारा निर्दिष्ट वाणी अलंकृत रूप धारण कर लेती है।

प्रश्न यह है कि स्वभावोक्ति में जो सौन्दर्य है क्या कुंतक की सूक्ष्म दृष्टि उसकी ओर से पराङ्मुख रही? दूसरे आलंकारिकों ने जिन पद्यों में स्वभावोक्ति अलङ्कार माना है, कुंतक उन्हीं पद्यों में वस्तु-वक्रता स्वीकार करते हैं। तो क्या कारण है कि इस वक्रता को अलंकार का नाम न दिया जाय? हो सकता है कि वक्रोक्ति के अन्य प्रकारों की तरह वस्तु-वक्रता में इतना सौन्दर्य न हो किन्तु फिर भी वह वक्रता है, इसलिए इसमें सौन्दर्य अथवा अलंकार की सत्ता अवश्य स्वीकार करनी होगी। अपने 'वक्रोक्ति-जीवित' में कुंतक इस समस्या का इस प्रकार समाधान कर रहे हैं:—

"यदि वा प्रस्तुतौचित्यमहात्म्यान्मुख्यतया भावस्वभावः सातिशयत्वेन वर्ण्यमानः स्वमहिम्ना भूषणान्तरासहिष्णुः स्वयमेव शोभातिशयशालित्वात् अलंकार्योऽपि अलङ्करणमित्यभिधीयते, तदयमस्माकीन एव पक्षः।"

सामान्यतया अलंकार्य अलंकार नहीं बन सकता किन्तु किसी में यदि स्वाभाविक सुन्दरता इतनी हो कि दूसरे अलंकार को वह सहन ही न कर सके और ऐसे अवसर पर यदि अलंकार्य ही अलंकार बन जाय (स्वभावोक्ति ही अलंकार कहलाने लगे) तो कुंतक कहते हैं, यह तो हमारे ही पक्ष का समर्थन करना हुआ। क्योंकि कुन्तक की दृष्टि में तो, जैसा ऊपर कहा गया है, वक्रता या सौन्दर्य को ही अलंकार माना है। वामन ने तो "सौन्दर्यमलङ्कारः।" कह कर अलंकार की परिधि को बहुत कुछ विस्तृत कर दिया है। कुंतक से तो इस प्रकार स्वभावोक्ति के सम्बन्ध में समझौता किया भी जा सकता है किन्तु आचार्य शुक्ल किसी भी प्रकार स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानने के पक्ष में नहीं थे। वे रस को ही स्वभावोक्ति का प्रकृत क्षेत्र मानते थे। भोज भी स्वाभाविक वर्णन का जब रस से सम्बन्ध हो तब उसे रसोक्ति का नाम देते हैं किन्तु किसी अन्य वस्तु अथवा प्रकृति का जहाँ सुन्दर यथावत् वर्णन हो वहाँ वे स्वाभावोक्ति ही स्वीकार करते हैं।

एक प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है। छायावादी कवियों ने अपनी भावनाओं का आरोप करके प्रायः प्रकृति का वर्णन किया है, ऐसे वर्णन भावानुप्राणित माने जा सकते हैं किन्तु अपनी भावनाओं का आरोप न करके विशुद्ध प्रकृति-वर्णन द्वारा जहाँ बिम्ब ग्रहण करवाया जाता है वहाँ स्वभावोक्ति अलंकार माना जाय या कोई रस-विशेष? भोज का मत ऊपर दिया जा चुका है और आचार्य शुक्ल का दृष्टिकोण हमारे सामने प्रस्तुत है। ऐसी स्थिति में कवि या पाठक को ही आश्रय मानकर क्या रस के अन्य संयोजकों की कल्पना करके ऐसे वर्णनों को अलंकार के क्षेत्र से हटा कर रस के क्षेत्र में घसीट लिया जाय अथवा प्रकृति का सुन्दर चित्रण करने वाले ऐसे स्थलों को स्वभावोक्ति में शामिल कर लिया जाय? इस विषय में 'साहित्य-सन्देश' के सम्पादक महोदय अपने विचार प्रकट करेंगे तो विषय का स्पष्टीकरण हो सकेगा।

---

* Aesthetic by Croce p. 427.

× उभौ एतौ अलंकार्यौ। तयोः पुनरलंकृतिर्वक्रोक्तिरेव।

[१] Figures consist in the passional element.

[२] Language suggested by imagination or passion (Blair)

दो नये उपन्यास

श्री गोपाल प्रसाद व्यास

अभी-अभी हिन्दी में दो नये उपन्यास निकले हैं। पहला श्री यशपाल का "पार्टी कामरेड" और दूसरा श्री भगवतीचरण वर्मा का "टेढ़े-मेढ़े रास्ते"। दोनों के लेखक हिन्दी के सिद्धहस्त, अनुभवी और जाने-पहचाने कलाकार हैं। दोनों ही के "दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'दिव्या', 'चित्रलेखा' और 'तीन वर्ष' आदि ने हिन्दी-जगत की नूतन औपन्यासिक प्रवृत्ति में अपना विशिष्ट योगदान दिया है।

आज की चर्चा में अनायास ये दो पुस्तकें ऐसी आ गई हैं जो हिन्दी-कथा की अत्याधुनिक भावधारा को व्यक्त करने वाली ही नहीं, वरन् एक प्रकार से हम उन्हें प्रतिनिधित्व करने वाली भी कह सकते हैं। इसलिए इन पर विचार करने से पहले हमें हिन्दी उपन्यास के पिछले पृष्ठों पर एक सरसरी निगाह डाल लेनी आवश्यक है।

आप जानते हैं कि तिलिस्म, ऐयारी और जासूसी के फन्दे से हिन्दी उपन्यास को मुन्शी प्रेमचन्द ने उबारा है। पहलेपहल उन्होंने सस्ती प्रेमकथाओं के विरुद्ध विस्तृत मानव-जीवन पर अपनी लेखनी उठाई है और अपने उपन्यासों द्वारा कुछ ऐसे धीर गम्भीर पात्र हमें दिये हैं जो आत्मा के उदात्त भावों से परिपूर्ण सदैव सोचने और विचारने की सामग्री है। हम कह सकते हैं मुन्शी प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा को चरित्रस्थापन की सीढ़ी तक पहुँचाकर उसके लिए नवयुग का द्वार खोल दिया।

प्रेमचन्दजी के पश्चात हिन्दी में जो नवीन प्रवृतियाँ विकसित हुईं वे इस प्रकार हैं—

श्रीवृन्दावनलाल वर्मा की रोमांटिक ऐतिहासिक प्रवृत्ति, श्री जैनेन्द्रकुमार की दार्शनिक मनोवैज्ञानिक प्रवृति, श्री इलाचन्द्र जोशी की फ्राइडियन कामप्रवृति और श्री यशपाल की समाजवादी विचार प्रवृति।

पर इधर हिन्दी में पहली दो प्रवृतियों का जोर थम गया है। इन दिनों अधिकतर पिछली दो प्रवृतियाँ ही विशेष रूप से पनप रही हैं। श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने इधर कोई ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिखा और श्री जैनेन्द्रकुमार की लेखनी भी इस समय बन्द सी ही है। इन महानुभावों के अतिरिक्त वैसे भी ऐतिहासिक या दार्शनिक उपन्यास हिन्दी में नहीं लिखे जा रहे हैं। आजकल जो भी उपन्यास बाजार में आ रहे हैं वे अधिकतर समाजवादी विचारधारा के प्रतिपादन के लिए लिखे जाते हैं या उनकी शुरूआत किसी मनोवैज्ञानिक कामचेतना के आधार पर होती है।

हिन्दी के उपन्यासों में, वास्तव में, आजकल बुद्धिपक्ष का जोर है। भावपक्ष या कलापक्ष सम्बन्धी परीक्षण इन दिनों एक प्रकार से शिथिल हो गये हैं। अच्छी कहानी कहने, अपूर्व पात्र उपस्थित करने और शैलियों में नवीन से नवीन प्रयोग करने की ओर से हमारे लेखकों की रुचि जाती रही है।

इस 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' उपन्यास को ही लीजिए। बड़ी अनगढ़ कहानी है। घटनाओं के सूत्र उठते हैं और टूट जाते हैं, पात्र आते हैं और बीच में छूट जाते हैं, उपकथाएँ बनती हैं और बिगड़ जाती हैं, कहना चाहिए कि उपन्यास का सारा टेकनीक विश्रृंखलित है।

पर यह सब देख कर क्या हम यह कहें कि वर्माजी को उपन्यास की टेकनीक नहीं आती, या कि यहाँ उसके प्रयोग में उनसे असावधानी हुई है? नहीं। चित्रलेखा उनके रचना-कौशल का ज्वलन्त उदाहरण है और वर्माजी अपनी रचनाओं के प्रति असावधान रहने वाले नहीं। जहाँ तक मुझे ज्ञात है यह उपन्यास ६-७ वर्ष की तैयारी के बाद प्रकाशित हुआ है। तब?

बात यह है कि—अच्छी हो या बुरी—आजकल हिन्दी में कुछ ऐसी लहर चली है कि कला के फोर्म पर कम ध्यान दिया जाता है, उसके सब्जेक्ट पर अधिक। कैसे कहना है यह बात आजकल गौण हो गई है, क्या कहना

है, इस पर अधिक ज़ोर दिया जाता है।

इसलिए यदि हमें वर्माजी के उपन्यास के साथ न्याय करना है तो उनके उपन्यास के टेढ़े-मेढ़े रास्तों को न देख कर उस मंजिल को देखना है, जिस पर कि लेखक पहुँचना चाहता है, और कहें कि जिस पर कि उनके उपन्यास की नींव खड़ी है।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की कथा संक्षेप में इस तरह है कि यू० पी० के एक दबंग ताल्लुकेदार और आनरेरी मजिस्ट्रेट हैं, ऐसे कि उनसे गाँव, परिवार थर-थर काँपता है। अपने न्याय में आश्वस्त उस अहमन्य व्यक्ति के तीन लड़के अपने पिता की मान्यताओं से विद्रोह करके तीन अलग रास्ते अख्त्यार करते हैं। एक उनमें से कांग्रेसी बनता है, दूसरा कम्यूनिस्ट और तीसरा आतङ्कवादी। अपने अहंकार की सन्तुष्टि के लिए अधिक और देश की आजादी के लिए प्रसंगवश ये लोग अपने-अपने क्षेत्रों पर काम करते हैं और तीनों का ही बुरी तरह अन्त होता है। कांग्रेसी लड़का बड़ी कुर्बानी के साथ सन् ३० के आन्दोलन में काम करता है, पर आन्दोलन की समाप्ति के पश्चात् जब कांग्रेस के चुनाव होते हैं तो उनमें हार जाता है और उसकी साधना डगमगा जाती है।

कम्यूनिस्ट लड़का जर्मनी से बड़े-बड़े प्रोग्राम लेकर लौटा है, पर जब यहाँ आकर कार्यकर्ताओं से पाला पड़ता है और पुलिस उसके पीछे लगती है तो वह फिर भाग खड़ा होता है। तीसरा सबसे छोटा लड़का एक बंगाली लड़की के चक्कर में आकर आतङ्कवाद को अपनाता है और एक ट्रेनडकैती में पकड़ा जाकर मर जाता है।

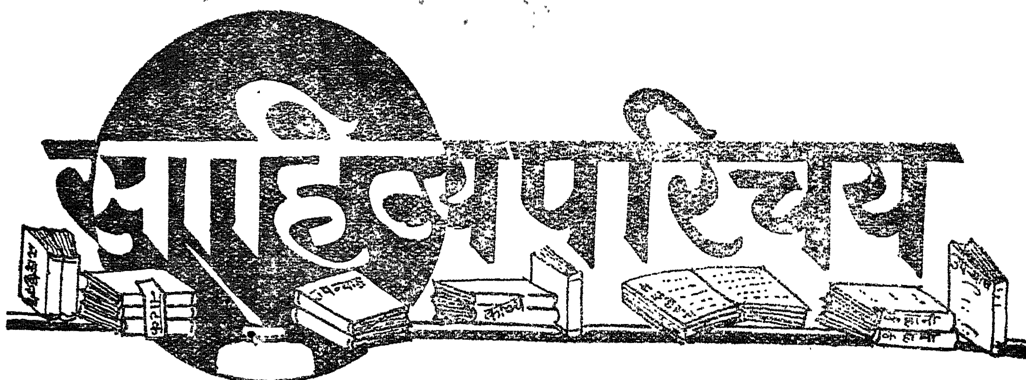
ताल्लुकेदार इन नई दुनिया के नये-नये वादों और तरीकों को देखते हैं, समझने और सोचने की कोशिश भी करते हैं, पर अपने पुरातन संस्कार युग-युग से पोसी हुई कुलीन अहमन्यता और व्यावहारिक ज्ञान उन्हें किसी राह पर चलने से इन्कार कर देता है और अन्त में कटे हुए वृक्ष की तरह सब कुछ खोकर वे असहाय होकर रह जाते हैं।

अब ढूँढ़िए कि इस उपन्यास की सेन्ट्रल थीम क्या है? वह कौनसा विचार विन्दु है जो इन घटनाओं की तह में समाया हुआ है? इस उपन्यास में पिछले १२ बरस की भारतीय राजनैतिक चेतना व्याप्त है। आजादी के लिए उठाये गये भारतीय आन्दोलनों की झलक भी इसमें है। विभिन्न मतवादों और व्यक्तियों पर इसमें टीका-टिप्पणी भी है। कम्यूनिस्ट कांग्रेसी को कोसता है, कांग्रेसी कम्यूनिस्ट को, आतङ्कवादी इन दोनों को हल्की नजर से देखता है। यह सब है पर राजनैतिक गुत्थी की सुलझन इस उपन्यास में नहीं है। सभी रास्ते टेढ़े हैं, पर सीधी राह क्या है इसका निर्देश उपन्यास में कहीं नहीं है और यह राजनैतिक उपन्यास की बड़ी जबरदस्त कमी है। वास्तव में टेढ़े-मेढ़े रास्ते राजनैतिक उपन्यास नहीं हैं। यह एक संस्कारी अहमन्य व्यक्ति की कहानी है, जिसका सब कुछ लुट-उजड़ जाता है। आँखों के सामने उसकी दुनिया मिटती चली जाती है, पर वह अपने अहं को अन्त तक नहीं छोड़ता। बाबू रामनाथ की इसी अहमन्यता के विविधरूप उपन्यास में कुल की प्रतिष्ठा, वचन की प्रतिष्ठा और जाति की प्रतिष्ठा के नाम से प्रकट हुए हैं।

भगवतीचरण वर्मा व्यक्तिवादी कलाकार हैं। इस उपन्यास में भी व्यक्तित्वों का निर्माण हुआ है, व्यक्तित्व में टक्कर हुई है और व्यक्ति की समस्या ने समाज की समस्या का रूप धारण किया है।

इसके विपरीत यशपाल का पार्टी कामरेड है जहाँ पार्टी व्यक्ति के निजत्व का कोई मूल्य नहीं समझती। पार्टी का सेक्रेटरी गीता से कहता है, "देखो कामरेड, देश की जनता की स्वतन्त्रता, उनके लिए आत्मनिर्णय का अधिकार यह सब क्या तुम्हारे लिए दिल बहलावे का काम है? मन चाहा, फुर्सत हुई, कर लिया; न हुई, न सही? पार्टी है क्या? मेरा और तुम्हारा सङ्गठित रूप से कर्तव्य को पहचान कर उसके लिए प्रयत्न करना ही पार्टी का अस्तित्व है। ऐसी अवस्था में पार्टी के काम को पसन्द करना या न करना, उससे सङ्कोच या अपमान अनुभव करने का अर्थ क्या? तुम्हारी व्यक्तिगत पसन्द और जनहित में विरोध है? इसका अर्थ केवल यह है कि तुम्हारी पसन्द या समझ गलत है? समझती हो?"

भगवतीचरण वर्मा और यशपाल यहाँ ६३ बने हुए एक दूसरे को चुनौती दे रहे हैं। दोनों के आदर्श, मान्य-



आलोचना

गोदान : एक अध्ययन—लेखक-श्रीप्रेमनारायण टण्डन एम० ए०। प्रकाशक-विद्यामन्दिर, रानीकटरा, लखनऊ। पृष्ठ २२० मू० १॥)

उपन्यास सम्राट स्व० प्रेमचन्दजी के सुप्रसिद्ध 'गोदान' उपन्यास की समालोचना इस पुस्तक में की गई है। 'गोदान' की लोकप्रियता, उसकी उपन्यासकला तथा सामयिकता निर्विवाद है। लेखक ने गम्भीर अध्ययन और चिन्तन के साथ उस पर अपने विचार प्रगट किये हैं। भाषा, भाव, टैकनिक, कला हर दृष्टि से उस पर विचार किया है। प्रेमचन्दजी की पहली कृतियों के उद्धरण देते हुए लेखक ने सिद्ध किया है कि उनकी कला का क्रमशः विकास कैसे होता गया और उनकी इस अन्तिम रचना 'गोदान' में किस प्रकार उनकी कला के सम्पूर्ण अङ्ग परिपुष्ट हो जाते हैं। उपन्यास के तत्व—कथावस्तु, देश काल का प्रतिबिम्ब—चरित्र-चित्रण और पात्र, रेखाचित्र, उपन्यास का उद्देश्य और उसका सन्देश तथा इनसे अधिक शीर्षकों में लेखक ने हर पहलू से 'गोदान' पर विस्तृत टीका की है।

—र०

ताएँ भिन्न हैं। एक राजनैतिक मतवादों का जिक्र करके, उन्हें तोल और नाप करके भी अपने को तटस्थ रखता है, अपने व्यक्तित्व को बचालेता है वहाँ दूसरा यशपाल राजनैतिक मान्यताओं में घुस कर अपने विचारों के प्रचार से नहीं चूकता।

यशपाल का पार्टी कामरेड "व्यक्ति के निजी द्वन्द्व और उनकी समाज में अन्विति" विषय को लेकर चला है। गीता के निजी द्वन्द्व समाज कार्य में आड़े आते हैं, पर वह उन्हें दिल में दबाये बढ़े चलती है। यह गति वर्माजी के पात्रों में नहीं है। वे बहस अधिक करते हैं काम कम। वे सोचने से अधिक महत्व चाय पर जुट जाने को देते हैं। वर्माजी के चरित्र स्वयं अपने बारे में अधिक-से-अधिक बता देते हैं, रामनाथ बार-बार अपने को स्वामी और न्यायी कहते हैं। इसके विपरीत यशपाल के पात्रों के चरित्र की कल्पना उनकी गति और कर्म से होती है। "पार्टी कमारेड" छोटी एक तार की कहानी है, इसके विपरीत टेढ़े मेढ़े रास्ते कई तारों पर बुना हुआ सतलड़ा है। स्वभावतः ही वर्माजी के उपन्यास में जीवन की विभिन्न समस्याएँ, विभिन्न व्यक्तित्व और उनकी ऊँचाई नीचाई है जो पार्टी कामरेड में नहीं मिलती, पर पार्टी कामरेड में जो रोचकता, भाषा की चुस्ती और वर्णनों की दुरुस्ती है वह टेढ़े-मेढ़े रास्ते में नहीं है।

यह तो हुईं स्फुट बातें, मैंने प्रारम्भ में कहा था कि ये दोनों पुस्तकें हिन्दी उपन्यास की अत्याधुनिक धारा का प्रतिनिधित्व करने वाली हैं, वह इस प्रकार कि युग का संघर्ष इन पुस्तकों में बोल रहा है। मध्यकालीन रोमान्स और पद्य की उच्छ्वास मयी भाषा से परे ये दोनों उपन्यास युग की, भारत की बौद्धिक और सामाजिक समस्या पर तीव्र कशाघात करने वाले हैं। आज हमारे साहित्य में, आज हमारे समाज में, आज हमारी राजनीति में व्यक्ति और समाज का द्वन्द्व बहुत ऊपर निखर आया है। दोनों ही कलाकार एक व्यंग के द्वारा, दूसरा तर्क के द्वारा व्यक्ति के प्रभाव को समाज या साहित्य में अस्वीकार करते हुए, दोनों ही लेखक हिन्दी के पाठकों के बौद्धिक स्तर को ऊँचा उठाने में योग दे रहे हैं।

राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग)—लेखक—पं० मोतीलाल मेनारिया। मूल्य ३) पृष्ठ सं० १८२

शोध के कार्य का महत्व सभीको विदित है। मेनारिया जी ने अनेकों कष्ट उठाकर राजस्थान में यह शोध का कार्य किया है। मेनारिया जी को इस सम्बन्ध में एक सुविधा थी वह यह कि उन्हें एक साथ ही मेवाड़ राज्य के तीन बड़े पुस्तकालयों का सहयोग मिल गया। और उन्हीं के शब्दों में "प्रस्तुत पुस्तक में दिये हुए विवरण अधिकतः इन्हीं पुस्तकालयों के ग्रन्थों के हैं। कोई दस के करीब ग्रन्थों के विवरण उदयपुर की अन्य प्राइवेट लाइब्रेरियों के भी हैं।"

इस प्रकार इस खोज में १७५ ग्रन्थों के नोटिस लिये गये हैं। "इन १७५ ग्रन्थों में २६ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनके रचयिताओं के नाम पहले से ज्ञात थे, पर ये ग्रन्थ उनके नये मिले हैं। ४४ ग्रन्थकारों के रचे हुए ५० ऐसे ग्रन्थों का पता लगा है जिनके नाम मिश्रबन्धु विनोद में नहीं हैं। इनमें चार-पाँच ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो कर्नल टॉड, डा० टैसीटरी, मोहनलाल, दुलीचन्द देसाई आदि अन्य विद्वानों को भी मिले हैं। इनके अतिरिक्त २३ ग्रन्थों के रचयिताओं के नाम अज्ञात हैं। इस प्रकार कुल मिला कर ८० के लगभग ग्रन्थ इस खोज में नये मिले हैं।"

मेनारियाजी ने इन सब ग्रन्थों के नोटिस लेने में पर्याप्त सावधानी से काम लिया है। उन्होंने ग्रन्थ, उसके रचयिता का नाम, साइज, पत्र-संख्या, लिपिकाल, पृष्ठगत अक्षर तथा पंक्ति का पूरा-पूरा विवरण दिया है। फिर विषय का संक्षिप्त उल्लेख करके आदि और अन्त के उद्धरण दे दिये हैं। भाषा पर भी सामान्य विचार किया है।

यह पुस्तक हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों और शोध कर्ताओं के उपयोग की है। —गुलाबराय

कविता

धूपछाँह—रचयिता—श्रीयुत 'दिनकर'। प्रकाशक—उदयाचल पटना। मूल्य १।) पृष्ठ सं० ६८

श्रीयुत दिनकर जी हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ (?) उदीयमान कवि हैं। आपकी उच्चकोटि की कविताएँ हिन्दी पाठकों के सम्मुख आती रहती हैं। "धूपछाँह" में आपकी ऐसी कविताएँ संग्रहीत हैं जो विशेषकर नवीन-संतति (अल्पवयस्क) के लिए पठनीय हैं। ये कवितायें अन्य भाषाओं के लेखकों की रचनाओं के आधार पर लिखी गई हैं। उनमें स्व० रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्रीमती सरोजिनी नायडू, नगूची, लांगफेलो तथा बँगला और उर्दू के नामी कवि भी हैं। किन्तु पढ़ने में प्रायः सभी रचनाएँ मौलिक जान पड़ती हैं। कविता के विषय तथा शीर्षक हृदयग्राही हैं। कविता-प्रेमी नवयुवक पाठक इनके पढ़ने में अपूर्व आनन्द तथा जीवन के अनुभव प्राप्त करेंगे। "शक्ति या सौन्दर्य" में कवि समाज की नई पौद को सम्बोधन करते हुए कहता है—

तुम रजनी का चांद बनोगे ?
या दिन का मार्तण्ड प्रखर ?
एक बात है मुझे पूछनी,
फूल बनोगे या पत्थर ?
......"जीवन का वन नहीं सजा
जाता कागज के फूलों से,
अच्छा है दो पाट इसे,
जीवित बलवान बबूलों से।

इसी प्रकार कई ऐतिहासिक घटनाओं पर रचे गये छन्द हृदय में ओज और वीरत्व के भाव भरने वाले हैं। "दो बीघा जमीन", "पुरातन भृत्य" में पीड़ित समाज की आवाज तथा 'तीन दर्द' में हृदय की कसक जाग उठती है। "कैंची तलवार" तथा "कलम और तलवार" अपनी अपनी आवाज में कवि के भाव तथा उद्बोधन का सुन्दर परिचय देती हैं।

क्रान्तिदीप—लेखक-श्री कमल साहित्यालंकार। प्रकाशक-सी० डी० ढोडी एण्ड सन्स, क्वेटा। मूल्य, पुस्तक पर लिखा नहीं, पृष्ठ ४४।

श्रीयुत कमलजी की भावुकतापूर्ण स्फुट कविताओं का इस पुस्तिका में संग्रह है। कवितायें साधारण कोटि की हैं। उनमें हृदय की तड़पन अधिक है भावों की गम्भीरता कम। किन्तु उनकी दशा उन कवियों से भिन्न है जो वेदना और निराशा के राग अलापते रहते हैं। इन कविताओं में नव-जीवन का संदेश है। मानव को उठने, जागने और अपने कर्तव्य को पहचानने का उद्बोधन है।

मनुज जीवन अग्नि पथ है,
चल न डर मेरे मुसाफिर,
नित नये तूफान होंगे।
कुचलते अरमान होंगे।
झुलसते प्रिय प्राण होंगे,
पर न डर मेरे मुसाफिर।

तथा दीपक की पुकार—

ऊंचे टीलों पर हमको भी,
अब तो जलने दो हे आली,
कब्र, मंदिरों, मस्जिद, गिरजों में
जल हमने उम्र बिताली।

इस प्रकार की कई कवितायें सुन्दर हैं। बिलोचिस्तान के बीहड़ में बैठ कर हिन्दी के सरस साहित्य की धारा प्रवाहित करने के लिए लेखक बधाई के पात्र हैं।

हृदय ध्वनि—लेखक-श्री लक्ष्मीनारायण टण्डन 'प्रमी'। प्रकाशक-विद्यामन्दिर, लखनऊ। मूल्य १।)

पुस्तक में कवि की स्फुट कविताएँ संग्रहीत हैं। कवि के हृदय में समय-समय पर उठे भावों का कविता में गुम्फन है, किन्तु उनकी दिशा प्रायः एक ही रही है। वे स्मृतियों के चित्र हैं। लेखक ने अपनी कई कविताओं में जीवन के प्रति नैराश्य प्रगट किया है। अतीत की स्मृति सुखद होती है। इस नींव पर सत्य (वर्तमान) और आशा (भविष्य) की सुन्दर रचना खड़ी हो सकती है, किन्तु लेखक ने भ्रमण के लिये वेदना का खण्डहर ही चुना है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह 'मानव' जीवन के 'सित विहान' को देखते ही नहीं। कविता की दृष्टि से कई कवितएँ सुन्दर बनपड़ी हैं।

महापुरुष—लेखक-श्री रघुवीरशरण। प्रकाशक-राष्ट्रीय साहित्य प्रकाशन परिषद, मेरठ। पृ. ३६ मूल्य १)

इस पुस्तिका में हमारे आज के राष्ट्रीय नेताओं के ऊपर एक-एक कविता है। कई कवितायें अच्छी कही जा सकती हैं जैसे 'सरदार पटेल' तथा 'आसफअली' किन्तु कई तुकबन्दी से ऊपर नहीं उठ पाई हैं। यों इन कविताओं का प्रचारात्मक मूल्य अधिक है तथा उद्देश्य की पवित्रता स्पष्ट ही है। अवसर विशेष पर पाठ करने के लिये इन कविताओं का उपयोग हो सकता है।

उपन्यास

आँधी पानी—लेखक-श्री सर्वदानन्द वर्मा, प्रकाशक-हिन्दुस्तानी बुकडिपो, लखनऊ। पृष्ठ ११९, मूल्य १॥)

इस उपन्यास में नारी-जीवन के तीन पहलुओं का परिचय कराया गया है। लखनलाल की पत्नी का परिचय एक मध्य वर्गीय गृहस्थ के घरेलू जीवन का परिचय देता है। लखनलाल मजदूरों में काम करता है। लखनलाल की पत्नी पति-परायणा और ममत्व मयी माँ होते हुए भी पति के विचारों से सहमत नहीं। इसीलिए घर में कलह रहता है। हमारे समाज के साधारण नारी-जीवन की यही अवस्था है। लेखक के चित्रण में लखनलाल की ओर से कहीं ऐसा प्रयत्न होते दिखाई नहीं देता जिसमें उन्होंने अपनी पत्नी को उसकी यथा-तथ्य अवस्था से ऊँचा उठाने का प्रयास किया हो। राजे के रूप में मजदूर वर्ग की औरत के चरित्र की झाँकी होती है। राजे एक आततायी से अपने को बचा लेती हैं, लेकिन दूसरे के चक्कर में आजाती है और उसके क्षोभ और सन्ताप में प्राण विसर्जन कर देती है। बदमाश हीरालाल से एक दृढ़ मजदूर औरत की तरह, साहसी रामचरन की पत्नी के रूप में लोहा लेने में असमर्थ हो जाती है। यहाँ माधो के प्रसङ्ग का उसका अनुभव भी खो जाता है।

तरुलता का प्रणय भौतिक जीवन की एक आवश्यकता के रूप में आता है। वह इसे वैयक्तिक जीवन की चीज समझती है, अपने सामाजिक या सार्वजनिक जीवन में इसे कोई महत्व नहीं देती। तरु का चरित्र लेखक ने एक ऐसी नारी के रूप में अङ्कित किया है जो सामाजिक प्रगति की अगुआ है। किन्तु वह हद से आगे बढ़ गये हैं। अभी समाज, जिसमें रह कर हर संस्था के कार्यकर्त्ताओं को काम करना है, इस तरह के प्रेम-प्रसङ्ग को सहन नही कर सकता है और न पार्टी के अंदर यह विषय वैभक्तिक चीज समझ कर उपेक्षणीय समझा जाता है। दूसरी ओर राजे के मातृत्व हैं, उसकी आशाओं का केन्द्र प्राण-प्रिय पति है, फिर लेखक के प्रगतिशील दृष्टि-कोण का सूचक ऐहिक जीवन का महत्व भी भूलने की चीज नहीं है, वह इन सब का परित्याग एक बलात्कार की चोट खाकर कर देती है? यह बात उपन्यास के प्रगतिशील दृष्टिकोण से असङ्गत मालूम होती है।

उपन्यास में राजनैतिक घटनाओं और मजदूर हलचल की चर्चा प्रसङ्ग वश आई हैं। लेखक का उद्देश्य, जैसा कि वह मानते है साहित्य रचना और अपने समीप के मानव-जीवन का चित्रण करना है, जिसमें वह काफी हद तक सफल हुये हैं।

अधूरीनारी-लेखक-श्रीउदयराजसिंह, प्रकाशक-श्री राजराजेश्वरी साहित्य-मंदिर, सूर्यपुरा, शाहाबाद (बिहार)। पृष्ठ संख्या २६८, मूल्य २॥)

नारीजीवन की पूर्णता उसके मातृत्व में निहित है, यह इस उपन्यास का उद्देश्य है। करुणा पति का संभोग नहीं पाती, तब भी एक अनजान बालक को पुत्र रूप में पाकर वह अपने जीवन को सुखी-पूर्ण-समझलेती है। नीना कई पति बनाकर भी मातृत्व से वञ्चित अधूरी नारी रहती है। नीना का चरित्र पश्चात्य ढङ्ग में रँगी नारी का चरित्र है। पहले वह स्वच्छन्द प्रेम करती है। करुणा एक वेश्या पुत्री है। राजेश-नीना का भाई उसे आतताई के हाथ से निकाल कर घर रख देता है। राजेश और उसमें प्रेम पैदा होता है किन्तु समाज के प प से वे दोनों पति पत्नी नहीं बन पाते। राजेश देश-सेवा का व्रत ले लेता है। करुणा घर से अलग हो कर एक महात्मा के आश्रम में हरिजन सेवा करने लगती है। जहाँ राजेश की स्मृति उसे शान्ति लाभ नहीं होने देती। यहाँ नारी हृदय की स्वाभाविक वृत्तियों का प्रश्न खड़ा हो जाता है। नीना का यौवन सूर्य ढलने लगता है तब वह प्रेमियों से प्रताड़िता असली नारीत्व की चाह करने लगता है। उसे माता बनने की चाह होती है। करुणा से उसकी भेंट भी हो जाती है और उसके पुत्र को प्यार कर वह एक ओर चली जाती है।

उपन्यास का यही कथानक है। उसमें धनी व्यक्ति की विलास लीलाओं क्रीड़ाओं का खूब परिचय दिया है। अपनी साहित्यिक, प्रवाह युक्त भाषा में एक अश्लील जीवन का चित्र अंकित करने में लेखक ने कोई कसर नहीं छोड़ी है। वासना का वेग समाप्त होने पर नीना का प्रायश्चित करना तो स्वाभाविक है किन्तु करुणा का आजन्म सन्यासिनी (ब्रह्मचारिणी) रहना न नारी जीवन की पूर्णता है न यह स्वाभाविक है। नारी जीवन की पूर्णता जहाँ उसके मातृत्व में है वहाँ पत्नीत्व उसकी एक भावनामय, स्वाभाविक पहली मंजिल है। इस रूपमें पुत्र की ममता पाकर भी करुणा अधूरी नारी ही रहती है।

ईश्वरःऐतिहासिक विकास—लेखक-श्री नरसिंह चन्द्र जोशी, प्रकाशक सरस्वती सदन जोधपुर। पृष्ठ १००, मूल्य १)

इस पुस्तक में नये ढङ्ग की कहानियां हैं। आज कल जिस रूप में कहानियाँ लिखी जाती हैं, लेखक ने उनसे एक भिन्न शैली और विषय अपनाया है। उद्देश्य मनुष्य के सामाजिक जीवन के क्रमिक विकास का चित्रण करना है, जिसको वह उपनिषद जैसे ग्रन्थों की तरह आख्यायिकाओं की सृष्टि करके बतलाते हैं। आरंभ में मनुष्य शिकारी के रूपमें था, फिर वह खेती करने वाला पशु पालक और व्यक्तिगत सम्पति वाला प्राणी बना। उसके सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक जीवन में विकास और परिवर्तन होते गये, विश्वास और विचार बदलते गये। इन बातों को लेखक ने छोटी छोटी कहानियों द्वारा प्रगट किया है। उसी में दैवी शक्ति के प्रति विश्वास की बात आती है। पुस्तक का यह नामकरण इसीलिये किया गया है जो विषय को देखते हुये कुछ अटपटा सा मालूम होता है। सैद्धांतिक बातों को इस रोचक ढङ्ग से बतलाने में ऐसी कहानियों का महत्व है।

रामलीला—लेखक-श्रीराधाकृष्ण, प्रकाशक—पुस्तक-भण्डार, लहेरिया सराय पटना। पृष्ठ सं० १६५ मू० १॥)

प्रस्तुत पुस्तक लेखक की १८ कहानियों का संग्रह है। कहानियाँ छोटी-छोटी और जनरुचि के अनुकूल हैं। इन कहानियों में खूबी यह है कि उनमें कितनी ही कहानियाँ आज के ऐसे विषयों पर लिखी गई हैं जिनका सम्बन्ध जनसाधारण के दैनिक जीवन से है। उदाहरण के लिये 'लैला की शादी' और 'राजाराम' में राशनिंग की कठिनाई और धाँधली तथा 'क्या जाने आगे' में मँहगाई का दृश्य है। 'आदमी आदमी' और 'मनुष्य और पशु' में एक ओर मानवी क्रूरता और दूसरी ओर दयनीय दशा का चित्रण है, कई एक और कहानियाँ भी बड़ी भावपूर्ण और कला की दृष्टि से भी अच्छी लिखी गई हैं। लेकिन सभी कहानियों के सम्बन्ध में यह बात नहीं। साधारणतः कहानी संग्रह अच्छा है।

अमरों की बस्ती में—लेखक-श्री मुरलीधर सारस्वत साहित्य-रत्न, प्रकाशक—हिन्दी विद्यापीठ, चूरू (बीकानेर)। पृष्ठ संख्या ११६, मूल्य १।)

गद्य-काव्य की शैली पर लिखित लेखक की तेरह कहानियाँ इस पुस्तक में संग्रहीत हैं। कहानियों की पृष्ठभूमि राजस्थान की वीरगाथाएँ हैं। लेखक ने उन पर अपनी भावना का कलेवर चढ़ाकर साहित्यिक ओजपूर्ण भाषा द्वारा भावुक पाठकों के हृदय स्पंदन की वस्तु बना दिया है। इस प्रकार ये निरी कहानियाँ नहीं रह गई हैं, उन्हें भाव-चित्र ही कहना चाहिये जिसका उद्देश्य भारत की मध्यकालीन सभ्यता के एक अङ्ग की झाँकी पाठकों को कराना है। इस उद्देश्य में इस संग्रह की उपयोगिता सन्निहित है। —र.

नाटक

रूपक-रत्नावली—लेखक—श्री रामचन्द्र वर्मा। प्रकाशक—साहित्य-रत्नमाला काशी। पृष्ठ ३२४ मूल्य ३॥)

संस्कृत का दृश्य काव्य विशेष महत्व रखता है। संस्कृत-साहित्य में महाकाव्यों की अपेक्षा नाटकों की संख्या अधिक है। शकुन्तला जैसे नाटकों के कारण ही संस्कृत-साहित्य पाश्चात्य विद्वानों की प्रशंसा का भाजन बना है।

एक व्यक्ति जैसे नट के ऊपर दूसरे व्यक्ति (जैसे दुष्यन्त) के रूप के आरोप के कारण रूपक का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में नाटक के लिए होता है। संस्कृत के प्रधान रूपकों में से बारह रूपकों का (भास का स्वप्न वासवदत्ता, कालिदास के मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी और शकुन्तला, श्री हर्ष के प्रियदर्शिका, नागानन्द, रत्नावली, भवभूति के उत्तररामचरित और मालती माधव, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, राजशेखर का कर्पूरमंजरी और क्षेमीश्वर का चंडकौशिक जिसमें हरिश्चन्द्र का वृतान्त है) कवियों के परिचय के साथ दिया गया है। नाटकों के कथानक के इस संक्षिप्त विवरण में मार्मिक स्थलों को, जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में शकुन्तला की बिदा का दृश्य उत्तररामचरित मे अष्टावकजी के भेजे हुए गुरु वशिष्ठजी आदि के संवाद जिनसे कथा में सजीवता और रोचकता आ गई है कायम रखे गये हैं। कवियों का परिचय इससे कुछ अधिक दिया जाता तो अच्छा होता।

सांस्कृतिक दृष्टि से प्रत्येक स्त्री-पुरुष को भारतीय-साहित्य की इस अतुल सम्पत्ति से जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। आशा है कि इस आवश्यकता की पूर्ति में यह पुस्तक बहुत सहायक होगी। —गुलाबराय।

मुकुट—लेखक-श्री नित्यानन्द हीरानन्द वात्सायन। प्रकाशक—हिन्दी-भवन, लाहौर। पृष्ठसंख्या १०० मूल्य १)

श्री वात्स्यायनजी का यह द्विअङ्की नाटक है। तीन या अधिक अङ्कों के नाटकों के साथ अब तक एकाङ्की नाटक लिखने की प्रथा प्रचलित रही है पर द्विअङ्की के लिये निषेध ही क्या है? नाटक की सफलता उसके लालित्य, कलापूर्ण होने में है। इन गुणों के साथ इस नाटक की विशेषता उसका आधुनिक विषय प्रसंग है। कारखानों के अन्दर मजदूर का जीवन कैसा होता है? मालिक लोग क्या-क्या खेल खेलते हैं? अच्छे और बुरे हृदय की पहिचान, प्रेम और आदर्श इन बातों का सुन्दर चित्रण इस नाटक में हुआ है। अन्त में साहस और कष्टों का तप दुष्ट प्रकृति पर विजय पाता है। शोषक वर्ग के व्यक्ति का हृदय

पिघल उठता है, उसमें मजदूरों की विजय होती है, उनकी माँगें पूरी होती हैं। पर उसका श्रेय उनकी शक्ति को ही नहीं, मालिक के हृदयपरिवर्तन को भी है। यह लेखक का अपना दृष्टिकोण है। शेष रचना के खयाल से नाटक उच्च कोटि का है। वह बड़ी आसानी से सुन्दर ढङ्ग पर 'स्टेज' भी किया जा सकता है। —र

सोहागदान—लेखक-श्री शिवकुमार ओझा 'सुकुमार' बी० ए०। प्रकाशक—विद्यामन्दिर रानीकटरा लखनऊ। पृष्ठ संख्या ७६, मूल्य ॥≈)

प्रस्तुत पुस्तक में तीन एकाङ्की हैं। (१) रक्तदान, (२) सोहागदान, (३) सर्वस्व दान। घटना आजादहिन्द सेना के कामों से सम्बन्ध रखती है। पहले अङ्क में नेताजी सुभाष बोस द्वारा रंगून में अमर शहीद यतीन्द्रनाथ के चित्र का उद्‌घाटन करने का दृश्य दिखलाया गया है। दूसरे में नेताजी को स्वर्ण-तुला में तोलने के समय एक भारतीय रमणी के सोहागदान का दृश्य तथा माँ का स्वतन्त्रता के लिये दान—करुणा वोहित—वीररस का दृश्य है। इसी प्रकार तीसरे अङ्क में नेताजी के आह्वान पर दो भाई बहिन अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को आजादी के संग्राम के लिये भेंट कर, स्वयं आजादहिन्द सेना में शामिल हो जाते हैं, इसका भावुकतापूर्ण चित्रण है। आजादहिन्द सेना के कार्यकलापों पर अब तक हिन्दी में काफी पुस्तकें निकल चुकी हैं—गद्य में और पद्य में भी। इस पुस्तक में उन बातों को कला के एक दूसरे रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

सङ्कल्प—लेखक-श्री प्रेमनारायण टंडन। प्रकाशक-विद्यामन्दिर, लखनऊ। पृष्ठ संख्या १०४, मूल्य १।)

इस पुस्तक में तीन एकाङ्की हैं। पहले में गृहस्थ लेखक की व्यावहारिक कठिनाई तथा लेखन-कला और गृहस्थी की असंगति का एक दृश्य है। साहित्यिक रुचि के पाठकों का इससे अच्छा मनोरंजन होगा। दूसरे एकाङ्की 'सङ्कल्प' में एक देशभक्त अध्यापक की प्रेरणा से उनके छात्रों का राष्ट्रीय-क्षेत्र में पदार्पण करने का दृश्य है। तीसरे अंक 'गान्धार पतन' की रचना का आधार एक ऐतिहासिक घटना है, जिसमें लेखक ने अपनी स्वतन्त्र कल्पना का प्रयोग किया है। पात्रों के कथन पद्यात्मक गद्य में हैं। कला की दृष्टि से ये दो अङ्क कुछ शिथिल से रह गये हैं।

राजनैतिक

अगस्त क्रान्ति के विद्रोही नेता—लेखक-श्री कैलाशचन्द्र जैन "पुष्प", प्रकाशक-कुमारेश प्रकाशन दिल्ली। मूल्य २।) पृ० सं० ११४

इस पुस्तक में कांग्रेस समाजवादी दल के चार नेताओं—श्री जयप्रकाश, डा० राममनोहर लोहिया, श्री अच्युतपटवर्धन तथा श्रीमती अरुणा आसफअली—की जीवनी और उनके व्यक्तित्व तथा कार्यों पर लेखक ने अपने भाव और विचार व्यक्त किये हैं। अगस्त १९४२ को भारतीय राजनैतिक हलचल में कई व्यक्तित्व असाधारण रूप से जनता की दृष्टि में ऊँचे उठे। उनमें श्री जयप्रकाशनारायण तथा अरुणा आसफअली मुख्य हैं। श्रीयुत अच्युत पटवर्धन और डा० लोहिया इन दिनों में उनके साथी तथा सैद्धान्तिक दृष्टि से उनके सहयोगी और एकही दल के व्यक्ति हैं। लेखक ने हिन्दी पाठकों के सम्मुख उनकी जीवनी प्रस्तुत करके एक अभाव की पूर्ति की है। इस तरह की जीवनियाँ और भी लिखी जानी चाहिये। अभी कितने ही ऐसे व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने देश की राजनैतिक प्रगति को अपने विचारों और कार्यों से प्रभावित किया है—क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा है। पुस्तक की छपाई भद्दी हुई है। प्रूफ की गलतियाँ अखरती हैं। मूल्य में व्यावसायिक बुद्धि से काम लिया गया है। सवा दो रुपया अधिक मूल्य है।

नेताजी सुभासचन्द्र बोस—सम्पादक-श्री प्रह्लाद ब्रह्मभट्ट, हिन्दी अनुवादक—श्री सुधाकर द्विवेदी, प्रकाशक-वोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स, लिमिटेड, कालबा देवी रोड बम्बई। मूल्य ३) पृ० सं० १९२

मूल पुस्तक गुजराती में लिखी गई और वह बहुत प्रसिद्ध हुई। हिन्दी अनुवाद सुन्दर हुआ है। छपाई-सफाई भी अच्छी है। नेताजी के नाम से अब तक कितनी ही पुस्तकें छप चुकी हैं। उन सब में अभी तक यह

पुस्तक अधिक प्रमाणयुक्त और अच्छे ढँग पर लिखी गई हैं। नेताजी की लोकप्रियता और उनके ज्वलंत जीवन पर अखबारों में छपी घटनाओं के कटिंग और अटकल पच्चू बातों को लेकर कई प्रकाशकों ने पोथे रच डाले और धन कमालिया। सुभाषबोस के देश परित्याग की सभी घटनाएँ और प्रमाणित मसाला अभी तक अप्राप्त है। इस पुस्तक में जो कुछ लिखा गया है, उसका आधार भी अब तक की प्रकशित रिपोर्टें ही हैं पर उनके संकलन और संग्रह में काफी सावधानी और संयमित बुद्धि का आश्रय लिया गया है। मतों की बातें नहीं रक्खी गई हैं। और न सुभाष बाबू की पूरी जीवन कथा लिख कर पुस्तक के कलेवर को बढ़ाया गया है। इसमें नेताजी के प्रवास-काल, आजाद हिन्द आन्दोलन की पूरी हलचलों का ब्यौरा तथा भारत में इस सम्बन्ध में घटी हुई घटनाओं का वर्णन है। इस सम्बन्ध की एक सर्वाङ्ग पूर्ण पुस्तक के अभाव में इस पुस्तक को पाठक सब से अधिक पसंद करेंगे, ऐसी हमें आशा है।

अगस्त १९४२ का महान विप्लव—लेखक-श्री दीनानाथ व्यास, प्रकाशक-विनोद प्रकाशन मन्दिर, आगरा। मूल्य ४॥), पृष्ठ सं० २९८

अगस्त सन् १९४२ का भारतीय राजनैतिक विप्लव-हमारे देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन के इतिहास का शोणित तर्पण अध्याय है। अग्रणी नेताओं के अभाव में, बिना किसी देश-व्यापी संगठित व्यवस्था और इस प्रकार के युद्ध की ट्रेनिङ्ग पाये, जनता के दल ने विदेशी शक्ति पर प्रत्याक्रमण किया और एक बार यह युद्ध रक्षात्मक न होकर आक्रमणात्मक बन गया। जनता का यह रोष उसकी स्व-तन्त्र होने की भावना का क्रियात्मक रौद्र रूप था।

अगस्त सन् १९४२ के इस भारतीय महान् विप्लव की कथा इस पुस्तक में सविस्तार दी गई है। नौकरशाही की ओर से जो दमन काण्ड हुए उनका भी विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। अधिकांश बातें अखबारों में प्रकाशित भी हो चुकी हैं। बलिया, गोरखपुर, बिहार तथा यू. पी. के पूर्वी जिले और बम्बई के सतारा जिले के कारडों की चर्चा समाचार पत्रों ने की है। कई जगह की लम्बी रिपोर्टें भी निकली हैं। इस किताब में लेखक ने उन समाचारों को क्रम पूर्वक दिया है और प्रत्येक प्रान्त की हलचल का अलग-अलग वर्णन किया है। इसमें पाठकों को कितनी ही ऐसी बातों का पता भी चलेगा जो अब तक उनके पढ़ने और सुनने में नहीं आई होंगी। देश-प्रेमियों को इस पुस्तक को एक बार पढ़ जाना चाहिये।

फरार की डायरी—लेखक-श्री दुर्गाशङ्करप्रसादसिंह, प्रकाशक-हिमालय प्रकाशन प्रेस, पटना। पृष्ठ संख्या २६२ मूल्य ३॥)

सन् १९४२ की भारतीय राजक्रान्ति की घटनाएँ पाठकों के लिये अभी तक नई चीज है। लेखक ने उन घटनाओं में सक्रिय भाग लिया है और उन्हीं को उन्होंने अपनी डायरी के रूप में लिपि बद्ध कर लिया है। इसमें उनकी आपबीती की चर्चा भी है और जिन व्यक्ति, व्यक्तिसमूह अथवा वर्ग-विशेष के लोगों के साथ उनका सम्बन्ध और सम्पर्क रहा, उसकी कहानी, अपने विचार, शैली तथा कुछ हद तक कल्पना की कलई चढ़ा कर रुचिपूर्ण ढङ्ग से लिखी है। जेल-जीवन की विशद चर्चा है। साथ ही गरीब परिवार तथा आततायी और शोषित वर्ग के रवैये और उनके संघर्ष का भी वर्णन है। पूँजीवाद और जमींदार वर्ग के अत्याचारों की लेखक, लेखनी के प्रहार से खासी खबर लेता है। यह डायरी केवल घटनाओं का चित्रण ही नहीं रह जाती उसमें लेखक के विचारों की पूरी छाप है। साथ ही सन् १९४३ के राज-नैतिक आन्दोलन की एक झलक भी सामने आजाती है। भाषा के सम्बन्ध में लेखक ने ग्रामीण मुहावरे और यथ प्रसंग ग्राम्य-वाक्यों का प्रयोग किया है जो ठीक जँचता है। पुस्तक का मूल्य अधिक रक्खा गया है। छपाई भी अधिक अच्छी नहीं है।

विविध

नारी समस्या—लेखिका-श्रीमती राधादेवी गोइनका, प्रकाशक-मारवाड़ी सेवा सदन अकोला (बरार), मूल्य ४), पृष्ठ संख्या ११६

श्रीमती राधादेवी ख्याति प्राप्त समाज सेविका हैं। इस पुस्तक में आपके उन लेखों का संग्रह है जो समय-

समय पर स्त्री-सुधार के सम्बन्ध में लिखे गये हैं। आपके विचारों में प्रगतिशीलता है और वे स्त्री-समाज को उसकी वर्तमान दशा से आगे बढ़ा कर समय और परिस्थिति के अनुकूल उसमें आवश्यक सुधार कराना चाहते हैं। उस सुधार का अर्थ रूढ़ियों का परित्याग, शिक्षा का प्रचार तथा रहन-सहन, वेश-भूषा, आचार और व्यवहार में स्थानीय अवस्था का खयाल करते हुए ऐसा परिवर्तन करना है जो एक सभ्य और सुसंस्कृत समाज का रूप हो सकता है। श्रीमती गोइनका ने भारतीय स्त्री-समाज की वर्तमान दशा का भी चित्र खींचा है और इस सम्बन्ध में कितनी ही परिचयात्मक बातें बतलाई हैं। स्त्रियों के लिए और साथ ही स्त्री-समाज सुधार से प्रेम रखने वालों के लिये पुस्तक विशेषतः उपयोगी है। पुस्तक की छपाई सफाई स्तुत्य है। मूल्य ज्यादा है।

ब्राह्मण सावधान—लेखक-श्री किशोरीलाल वाजपेयी शास्त्री, प्रकाशक-हिमालय एजेंसी, कनखल (हरिद्वार)

इस पुस्तक का नामकरण अपने पहले लेख के नाम पर हुआ है। पहले लेख में ब्राह्मणों की नैतिक श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। प्राचीनकाल के ब्राह्मणों का त्याग और तप अवश्य सराहनीय था किन्तु आजकल के ब्राह्मण उनका बहुत क्षीण अंश में ही प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। यह ब्राह्मणों की उदारता थी कि रावण ब्राह्मण होते हुए भी नैतिक पतन के कारण राक्षस समझा गया और हिन्दू-समाज प्रतिवर्ष उसका पुतला जलाती है। किन्तु यह बात रावण में ही सीमित नहीं रही कंसवध के भी नाटक लिखे गये और कहीं-कहीं इसका अभिनय भी आज तक होता है। शास्त्रीजी ने दो-चार उदाहरण देकर यह सिद्ध करना चाहा है कि ब्राह्मणों में कभी भी अपने वर्ग के प्रति पक्षपात नहीं रहा है। 'पूजिए विप्र ज्ञान गुण हीना' यह तुलसीदासजी का ही वाक्य है। ब्राह्मणों के गुण ही नहीं वरन् उनको प्राचीन आदर्शों तक पहुँचाने की अपील भी की है। यही चाहिए भी। वैष्णव-धर्म और आर्य-समाज के सम्बन्ध में जो लिखा है वह आर्य-समाज को वैष्णव के प्रति अधिक सहृदय बनाने में योग देगा। तीसरा लेख है राष्ट्रीय युद्ध का सिंहावलोकन। इस लेख में सफल आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास है। वह राजनीति के विद्यार्थी के लिए लाभदायक होगा।

न नर न नारी—लेखक-श्रीयुत 'वैरिस्टर', प्रकाशक-साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा। मूल्य ।॥), पृष्ठ सं० १०० अ

संसार विचित्रताओं से भरा हुआ है। पुरुष और नारी विषय की विचित्रताएँ भी कम नहीं है। पुरुष का नारी और नारी का पुरुष होजाना—उनका लिंग भेद मिट जाना—नारी में पुरुषत्व और पुरुष में नारीत्व के दर्शन होना तथा उनके शारीरिक भेद और बनावट में परिवर्तन होजाना आदि घटनाएँ हम जब कभी समाचार पत्रों में पढ़ा करते हैं। प्रकृति की इस विचित्र लीला को देख कर हमें आश्चर्य और कौतूहल होता है। इस पुस्तक में ऐसी कितनी ही घटना का सङ्कलन किया गया है। पढ़ने में पुस्तक दिलचस्प ही नहीं, उसकी कितनी ही घटनाएँ आश्चर्य में डाल देने वाली तथा नई जानकारी करने वाली हैं। पाठकों को इस पुस्तकों को देखना चाहिये।

मानव जीवन की सफलता—लेखक-श्री रामस्वरूप जैन विशारद, प्रकाशक-संगीत कार्यालय हाथरस मूल्य १।), पृष्ठ संख्या १३२

मानव जीवन को सफल बनाने के प्रयत्न शुरू काल से ही होते रहे हैं। धार्मिक विधियां इसीलिये प्रचलित हुईं। अलग अलग धर्मों में अपने प्रकार से मानव जीवन को सफल बनाने की विधियां बतलाई गई हैं। कुछ सिद्धान्त शाश्वत और सब धर्मों में समान है। जहाँ भेद है, वहाँ भी मनुष्य जिस कुल और धर्म में पैदा होता है वैसे ही आचार-विचारों का आदी हो जाता है। उस कुल में स्वधर्मपालन ही श्रेय है। इस पुस्तक में इसी भावना से लेखक ने अपने भाव प्रकट किये हैं। उनके विचार जैन धर्म से प्रभावित है। साधारणजन पुस्तक को पढ़ कर, उसके अनुकूल आचरण करके लाभ उठावेंगे। जीवन को सफल बनाने में उन्हें सहायता मिलेगी। —र

सम्पादकीय

साहित्य सम्मेलन के सभापति का अभिभाषण—

करॉची-सम्मेलन के सभापति श्री वियोगी हरि का अभिभाषण कई दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण रहा है। इस भाषण की विशेषता यह है कि यह प्रचारात्मक भी है और साहित्यिक भी। वह साहित्यिक दोनों अर्थ में है—भाषा और शैली में भी तथा विषय में भी। आपके भाषण की खास बातें इस प्रकार हैं आप भाषा का स्वाभाविक विकास चाहते हैं किसी समझौते या बटवारे के आधार पर कृत्रिम निर्माण नहीं चाहते। उसमें वे देश और भाषा की प्रकृति और संस्कृति की रक्षा के साथ ही विदेशी शब्दों का समावेश चाहते हैं। ब्रजभाषा के अनन्य उपासक होते हुए भी वे ब्रजभाषा के सभी प्रकार के साहित्य के समर्थक नहीं है। वैसे वे रीतिकाल के साहित्य में भी सामाजिक और मनोवैज्ञानिक तत्व देखते हैं। लाक्षणिकता के लोभ और अभिव्यञ्जना के चमत्कार से भाषा को दुरुह बनाने के पक्ष में आप नहीं हैं। और न आप ऐसे यथार्थवाद के पक्ष में हैं जो मानव की पशुता का ही उद्घाटन कर सके। भाषा को दुरुह बनाने के पक्ष में हम भी नहीं हैं। भाषा की सार्थकता उसके समझे जाने में है। किन्तु कुछ सीमित क्षेत्रों में तो उच्चकला के लिए स्थान चाहिए ही।

हमें आशा है कि श्री वियोगीहरिजी हरिजन सेवा में उपार्जित की हुई कर्मण्यता को सम्मेलन में साहित्य-निर्माण और प्राचीन ग्रन्थों के अनुवाद के कार्य में लगा कर सम्मेलन के साहित्य-सम्मेलन नाम को और सार्थक करेंगे।

श्री महादेवीजी को मङ्गला प्रसाद पुरस्कार—

संवत् २००१ का मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक श्रीमती महादेवी वर्मा को उनकी रचनाओं पर दिया गया है। इस वर्ष की प्रतियोगिता में कुल ११ पुस्तकें आई थीं। इनमें तीन पुस्तकें प्रतियोगिता में रखने के योग्य नहीं समझी गई। शेष चार कवियों की रचनाओं पर विचार हुआ। इनमें तीन कवियों की एक से अधिक रचनायें प्रतियोगिता के लिये प्राप्त हुई थीं अतः उनकी रचनाओं पर सामूहिक रूप से ही विचार किया गया। निर्णायकों में से चार ने श्रीमती महादेवी वर्मा की रचनाओं को प्रथम स्थान दिया, तीन ने निरालाजी की रचनाएँ प्रथम श्रेणी में रक्खी तथा दो ने पंतजी को और एक ने श्री माखनलाल चतुर्वेदी को प्रथम स्थान दिया। इस प्रकार बहुमत श्रीमती महादेवी वर्मा की रचनाओं को सर्वोपरि रखने के पक्ष में रहा।

श्रीमती महादेवीजी की एकान्त साहित्यिक साधना को पुरस्कृत होते हुए देखकर हमको हर्ष होता है और हम उनको हार्दिक बधाई देते हैं। साहित्य में महादेवीजी के महत्व को सवासोलह आने स्वीकार करते हुए भी हमको खेद होता है कि सम्मेलन के पास कविता का एक ही पुरस्कार है और वह भी ६ वर्ष बाद आता है। शेष तीन कवियों को इस गौरव से वञ्चित रहते हुए देख कर थोड़ी कसक होती है। निर्णायकों से हमको पूर्ण सहानुभूति है। ऐसे चोटी के कवियों में किसको शीर्ष स्थान दिया जाय यह निर्णय करना कठिन है। फिर भी श्रीमती महादेवीजी को यह पुरस्कार मिलने से हमें पूर्ण प्रसन्नता है।

डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी का दीक्षान्त भाषण—

हमको यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि अँगरेजी शिक्षा देने वाले विश्वविद्यालयों के इतिहास में पहलीबार दीक्षान्त भाषण हिन्दी में हुआ और उसका श्रीगणेश हिन्दू विश्वविद्यालय से हुआ। डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद जी उच्चकोटि के वकील हैं किन्तु वे उन वकीलों में से नहीं हैं जो हिन्दी की वकालत अँग्रेजी में करें। डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी ने हिन्दी को उच्च-शिक्षा का माध्यम बनाने की सद्भावना मात्र प्रकट नहीं की है वरन् उसके व्यावहारिक और कानूनी पक्ष पर भी प्रकाश डाला है।

विश्व-विद्यालय के विधान से उद्धरण देते हुए उन्होंने बतलाया—"अँगरेजी के माध्यम द्वारा शिक्षा दी जायगी। पर जैसे-जैसे देशी भाषायें उन्नत होती जायेंगी, अधिका-

रियों को अधिकार होगा कि उनमें से एक या अधिक को उन विषयों में शिक्षा देने का माध्यम मान ले जिसमें वह समझें कि ऐसी शिक्षा दी जा सकती है और देना लाभकर होगा। अँगरेजी एक दूसरी भाषा की तरह सिखायी जायगी।''

आगे चलकर कहा—''पिछले तीस बरसों में हिन्दी-साहित्य की अभूतपूर्व वृद्धि हुई है और आज यह निर्विवाद है कि उसके भण्डार में प्रायः सभी विषयों के उच्चकोटि के ग्रन्थ पाये जा सकते है। जो कठिनाई पाठ्य-पुस्तकों के सम्बन्ध में अनुभव की गयी थी, वह बहुत हद तक दूर हो चुकी है, और जो कमी अभी है, वह आसानी से और शीघ्र दूर की जा सकती है।

''उर्दू का साहित्य हिन्दी के साहित्य से अधिक उन्नत या प्रौढ़ नहीं कहा जा सकता है। तो भी उसमानिया यूनिवर्सिटी में उर्दू को कई वर्षों से माध्यम मान लिया गया है और जिन विषयों में मौलिक ग्रन्थ नहीं हैं, उन विषयों के मौलिक ग्रन्थों को अनुवादित कर सहज और सुलभ बना दिया गया है। कोई कारण नहीं कि हिन्दी में भी वैसा ही क्यों न किया जाय।''

हम आशा करते हैं कि हिन्दू-विद्यालय तथा अन्य विश्व-विद्यालय डाक्टर साहब के इस प्रोत्साहन और परामर्श से लाभ उठायेंगे।

विक्रम स्मृति ग्रन्थ—

विक्रमी संवत दो हजार की समाप्ति पर ग्वालियर-राज्य-विक्रम-समारोह समिति की ओर से यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसका सम्पादन सर्व श्री डा० रमाशंकर त्रिपाठी, पं० सूर्यनारायण व्यास, युधिष्ठिर भार्गव रामचन्द्र श्रीवास्तव तथा हरिहर निवास द्विवेदी द्वारा हुआ है। ग्रन्थ की सामिग्री तीन भागों में विभाजित है। पहले खंड में विक्रमादित्य तथा उनके नवरत्नों पर लेख हैं। विक्रम-कालीन संस्कृति का परिचय, कालिदास विषयक निबंध तथा तत्सम्बन्धित अन्य कितनी ही बातों पर विवेचन युक्त, गम्भीर, गवेषणा पूर्ण रचनायें हैं। दूसरे खंड में विक्रम राजधानी—उज्जयिनी, मालवा प्रदेश तथा ग्वालियर राज्य सम्बन्धी लेख हैं। इन लेखों में विक्रमादित्य और उनके उत्तराधिकारियों के काल में—अठारवीं शताब्दी तक—सांस्कृतिक विकास की गतियों का पता दिया गया है, तथा विक्रम संवत्सर के अन्तर्गत भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में इस 'विक्रम-प्रदेश' ने जैसा गौरवपूर्ण योग दिया है, उसका विवेचन है। तीसरे खंड में भारतीय संस्कृति के विकास से सम्बन्धित लेख हैं। नौ सौ नौ पृष्ठों में कुल एक सौ बाईस लेख और कवितायें संग्रहीत हैं। भारत के सभी प्रान्तों, तथा शिक्षा संस्थाओं के माने हुए विद्वानों की रचनायें तथा कितने ही विदेशी विद्वानों के लेखों का सुन्दर चयन ग्रन्थ में हुआ है। सोलह रंगीन तथा पचास सादे चित्र दिये गये हैं। हिन्दी के वर्तमान लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों की कवितायें स्थान स्थान पर ग्रन्थ की सर्वाङ्ग पूर्णता का परिचय देती हैं। लेखों का चयन और ग्रन्थ में यथा स्थान उन्हें गूँथने का प्रयत्न इस ढँग से किया गया है जिसमें प्रति लेख में पाठकों को नई पाठ्य सामिग्री प्राप्त हो। इस प्रकार की पुस्तक तैयार करने में अक्सर यह भय रहता है कि उसमें एक ही प्रसंग अथवा विषय पर विभिन्न लेखकों के कथन समान हो जाते हैं और पाठकों को कई लेखों में प्रायः एक-सी बातें पढ़ने को मिलती हैं। इस पुस्तक में जो सामिग्री एकत्रित की गई है उसकी पहले से ही आयोजना तैयार की गई है और विभिन्न विद्वानों से उसी प्रकार लेख तैयार कराये गये हैं। ग्रन्थ को रोचक और सरस बनाने का प्रयत्न छोड़ा नहीं गया है। उसमें जहाँ गम्भीर लेखों का संग्रह है वहाँ सरस तथा सुरुचिपूर्ण लेख कहानी आदि भी हैं। इस ऐतिहासिक संग्रह के लिए हम ग्वालियर दरबार, विक्रम समारोह समिति तथा उसके उत्साहमना लगनशील कार्यवाहक तथा सम्पादक महोदयों को बधाई देते हैं। ग्रन्थ का मू० १०) है।



भाग ८] आगरा—फ़रवरी १९४७ [अङ्क ८

निरालाजी की स्वर्ण-जयन्ती

निरालाजी उन 'सायर-सिंह-सपूतों' में से हैं जो लीक छोड़ कर चलने का साहस रखते हैं। वे उनमें से हैं जो दूसरों के पीछे न चल कर औरों को अपने पीछे चलाते हैं इसीलिए उनको युग-प्रवर्तकों में स्थान मिला है और इसी लिए आज उनकी स्वर्ण-जयन्ती मनायी जा रही है। वास्तव में यह स्वर्ण-जयन्ती उनके सार्वजनिक आदर और सम्मान का पहला अवसर है। यह हिन्दी जगत के सुबह के भूले को शाम तक घर लौट आने की बात है। निरालाजी अपने उचित सम्मान से वञ्चित ही रहे हैं। आज उनकी यह स्वर्ण-जयन्ती स्थान स्थान पर मनाई जाते हुए देख कर हमको बड़ा हर्ष होता है और हम उनको इस अवसर पर हार्दिक बधाई देते हैं।

निरालाजी का व्यक्तित्व—

निरालाजी हिन्दी-कवियों में अपना विशेष व्यक्तित्व रखते हैं। जो बात महाराज दिलीप के सम्बन्ध में कालिदास ने कही है 'व्यूढोरस्कः वृषस्कन्धः शालप्रांशुरिव महाभुजः' अर्थात् चौड़ी छाती, बैल के से कन्धे (पहले लोग भी सौन्दर्य में उपयोगिता देखा करते थे), शालवृक्ष की भाँति लम्बी बाहें, वह निरालाजी के आकार-प्रकार पर भी फब जाती है। वे वास्तव में आकारसदृशःप्रज्ञः हैं; जैसा उनका शरीर विशाल है वैसी ही उनकी बुद्धि और हृदय भी। उनके मुख मण्डल की रेखाएँ किसी रोमन या यूनानी मूर्ति की भाँति पूर्णतया व्यक्त, सुस्पष्ट और साथ ही सजीव भी हैं। उनके लहराते बाल अनन्त और जाने वाले कवित्व के परिचायक हैं। उनकी आँखों में हृदय की प्रकाश और उष्णतामयी ज्वाला झाँकती हुई दिखायी देती है। जब वे कविता पढ़ने खड़े होते हैं तो मेघदूत के विरही यक्ष के आकार प्रकार के से परिलक्षित होते हैं। किन्तु वे उसकी भाँति दीन नहीं हैं। उनकी वाणी में सिंह का सा गर्जन और ओज है जिसके सम्हालने के लिए कभी कभी उनका विशाल शरीर भी छोटा सा मालूम होता है। वे साक्षात् वीर रस की मूर्ति बन जाते हैं। उसकी तुलना में उनके संगीत की माधुर्यमयी स्वरलहरी को देख कर 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' की उक्ति याद आती

है। वे गाने की कला के साथ पढ़ने की भी कला जानते हैं। वही उनकी कविताओं में अपेक्षित रहती है। पढ़ने की कला के अभाव में असहृदय लोगों को उनकी कविता गद्य सी लगती है। जब वे अपनी कविता का शिल्प-विधान समझाने बैठते हैं तब वे अपने श्रोता की अंगुलियों को पकड़ लेते हैं और जिस तरह कोई गाय भैंस को दुहता है उसी तरह वे कविता का उतार चढ़ाव बताते हुए एक दो तीन की ताल का स्पन्दन उनमें उत्पन्न कर देते हैं। उनकी उक्तियों में सार रहता है। उनमें अकाण्ड ताण्डव नहीं रहता है। अपनी कविता के विषय में उनको थोड़ी अहंमन्यता अवश्य है। यह शायद उचित मान न मिलने की प्रतिक्रिया है।

निरालाजी में समाज की उपेक्षा उनका गुण भी है और दोष भी है। समाज ने उनकी उपेक्षा की है। शायद उसी का यह बदला है। निरालाजी में अक्खड़पन अवश्य है किन्तु जिनका वे आदर करते हैं उनके सामने वे पूर्ण शिष्टता की मूर्ति बने रहते हैं। वे आदर सत्कार और स्वागत करने में बड़े उदार हैं। उन्होंने कुछ-कुछ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की सी प्रकृति पायी है।

कवि-दर्शन में श्री बेनीमाधव शर्मा उनके विषय में इस प्रकार लिखते हैं—

"आप मेरा बड़ा अपमान कर रहे हैं। आप मुझे क्या समझते हैं? क्या मैं इतना गरीब हूँ कि दो पैसे के पान से किसी का स्वागत नहीं कर सकता? आपको खाकर ही जाना पड़ेगा' लाल-लाल आँखें निकाले हुए निरालाजी ने कहा—निरालाजी के सब ढंग ही निराले हैं। छन्द के बन्धन से ही वे मुक्त हों यह बात नहीं वे संसार के सभी बन्धनों से मुक्त हैं।

× × × ×

पाँच-पाँच छः-छः हजार की मोटरों पर चढ़ कर चलने वाले अपने को देश सेवक कहने वाले लोग हिन्दी के साहित्यिकों की अवस्था क्या समझ सकते हैं? क्या हिन्दी है और क्या हिन्दोस्तानी है और किसको स्वीकार करना चाहिए इसका निर्णय वे क्यों करना चाहते हैं? इसका तो अधिकार उन साहित्यिकों को है जो रूखी-सूखी खाकर, यहाँ तक कि चने चबाकर, अपना दिन गुजारते हैं। जिनके टूटे-फूटे मकानों में, फटी दरी और फूटे बर्तनों के सिवा और कुछ न मिलेगा। आवे जिसे इच्छा हो, उसे मैं समझा दूँ कि क्या हिन्दी है और क्या हिन्दुस्तानी और हमें किसे स्वीकार करना चाहिए।

रेखाङ्कित शब्दों में निरालाजी ने अपनी ही कथा कह डाली है। इस अव्यवस्था में निरालाजी का दोष है किन्तु समाज का भी उतना ही दोष है। यदि उनका जीवन अस्त-व्यस्त है, यदि उनकी वाणी में विद्रोह है, यदि वे आवेश में आजाते हैं तो इसके लिए समाज ही उत्तरदायी है। इस जयन्ती को मनाकर समाज ने अपनी भूल का थोड़ा-सा प्रायश्चित किया है किन्तु आशा है इतने ही से इतिश्री न हो जायगी।

—गुलाबराय

निरालाजी की रचनाएँ—

काव्य—परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अनामिका (नवीन), कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते।

उपन्यास—अप्सरा, अलका, प्रभावती, निरुपमा, चोटी की पकड़, काले कारनामे।

कहानी—लिली, चतुरी चमार, सुकुल की बीबी।

रेखा-चित्र—कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरिहा।

निबन्ध—प्रबन्ध पद्म, प्रबन्ध प्रतिमा।

अनुवाद—महाभारत।

निराला जी की देन

प्रो० 'सत्येन्द्र'

निराला जी का व्यक्तित्व ही शक्तिशाली नहीं है, उनकी साहित्यिक सर्जना भी शक्ति-वैविध्य से परिपूर्ण है। द्विवेदी-युग के आरम्भ के द्वितीय खेवे के साहित्यकार होकर ये आज तक हिन्दी साहित्य की बागडोर थामे रहे हैं, कहीं नेतृत्व करते हुए, कहीं शक्ति और ओज भरते हुए। आज इनकी स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर इनके साहित्य-कर्म पर कुछ विचार कर लेना, उनकी साहित्यिक देन की चर्चा कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। निराला साहित्यकार का व्यक्तित्व अत्यन्त जटिल है, और यों कुछ पंक्तियों में उनकी देन का निर्देश ठीक ठीक कभी हो नहीं सकता, पर अवकाश, सुविधा और अवसर की दृष्टि से अपनी सीमा बाँधनी ही पड़ेगी।

निराला जी का साहित्यिक जीवन १६१६ से आरम्भ हुआ माना जाता है। आरम्भ में ये 'समन्वय' नामक दर्शन और धर्म के पत्र के सम्पादक नियुक्त हुए, ऐसा आचार्य पं० महाबीर प्रसाद द्विवेदी के परामर्श से हुआ। द्विवेदी जी की आप पर अत्यन्त कृपा थी। 'मतवाला' पत्र में काम करते हुए इन्होंने उसे चमका दिया। 'मतवाला' के उपरान्त इन्होंने कहीं साहित्यिक वृत्ति स्वीकार नहीं की। आकाशवृत्ति के भरोसे साहित्य-निर्माण पर ही यह निर्भर करने लगे। किन्तु निराला जी की यथार्थ साहित्यिक देन उनके विविध ग्रन्थों में है। उन्होंने ५० वर्ष में अब तक ५४ प्रकाशित तथा अप्रकाशित ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें से १० काव्य हैं, ६ उपन्यास हैं, ४ कहानी-संग्रह है, २ रेखा-चित्र हैं, ३ निबंध-संग्रह हैं, १ समीक्षा संबंधी है, २ अप्रकाशित नाटक हैं, ३ जीवनियाँ हैं। शेष कुछ बंकिम के अनुवाद हैं, कुछ रामकृष्ण-विवेकानन्द से संबंधित हैं, और कामसूत्र पर भी एक पुस्तक आपने लिखी है।

यों तो इस प्रतिभाशाली युगान्तरकारी निराला की सभी क्षेत्रों में, जिसमें इसने लिखा है, देन निराली है। फिर भी काव्य-क्षेत्र, रेखा-चित्र और निबंधों में इसने नेतृत्व किया है।

निराला जी ने द्विवेदी-युग में साहित्य-सर्जन आरम्भ किया था। द्विवेदी-युग साहित्यकार की दृष्टि से संग्राहक युग था। इतिवृत्तात्मक शैली की प्रधानता थी, भाषा में परिष्कार की पुकार थी। अधिकांश कवि स्थूल के चित्रों के अंकन में प्रवृत्त थे, अथवा समाज-सुधारक वृत्ति के चरित्र-निर्माण को ही प्रधानता देते थे। समस्या-पूर्ति की प्रणाली भी प्रबलता से प्रवाहित थी। विषय बहुधा भारतीय-गौरव को लिए हुए होते थे, जिनमें भारतीय इतिहास तथा पुराण से कथायें लेली जाती थीं अथवा उसी कोटि के राष्ट्रीय पुरुषों के वृत्त होते थे, और उन पर एक बँधे-बँधाये ढर्रे में रचना हो लेती थी। बँधे छन्द, बँधे भाव; केवल एक ओज उद्दीप्ति और परिष्कार से सस्फूर्त। कुछ व्यक्ति अवश्य इस इतिवृत्तात्मक जड़ता में कल्पना का रंग और हृदय का वेग भरना चाहते थे। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार ये थे मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय तथा बद्रीनाथ भट्ट। द्विवेदी युग के परिपुष्ट कवियों को ही उस युग के काव्य के मूर्त्त अभाव खटकने लगे थे, और वे उसके परिहार के लिए भी उत्सुक थे, पर उनका निर्माण क्रान्तिकारी व्यक्तित्व से नहीं हुआ था। फलतः युग-परिवर्तन की दिशा तो उनमें दीखी, कला नहीं प्रकट हुई।

ऐसे समय में ही पन्त-निराला की ध्वनि गूँजी। नया युग नयी प्रतिभाओं के साथ आ धमका। 'पन्त-निराला' जैसे एक ही व्यक्तित्व बनकर, एक ही व्यक्ति बनकर हिन्दी-काव्य की नयी प्रवृत्ति के चेतक बन गये। युग का नामकरण भी हुआ : छायावादी युग। पन्त और निराला का नाम साथ साथ चला; वह कुछ अयोग्य नहीं हुआ। छायावादी युग के व्यक्तित्व के ये दोनों दो छोर थे। एक दृष्टि से, एक कोमल-मधुरिमा वाला, दूसरा परुष-सुषमा वाला। दूसरी दृष्टि से देखने पर निराला, युग के हृदय के अवचेतन मानस

और पन्त उसकी चेतन अभिव्यक्ति। एक वैविध्य:—जिसमें भरा हुआ था वह सब जो अन्यथा अग्राह्य रहता पर स्वास्थ्य के लिए आवश्यक था। दूसरा वह जो चुन चुन कर प्रियतम भेंट ही दे। एक में शैव-वैविध्य, दूसरे में वैष्णवी विलास। ये दोनों उभरे, इन्होंने जहाँ कदम मिलाया वहां भी साहित्य को अपूर्व देन दी, जहाँ दोनों में संघर्ष हुआ वहाँ भी अद्भुत देन दी, जहाँ मार्ग बदला वहाँ भी प्रबल देन दी। ये दोनों हिन्दी के महान कवि हुए। निराला जी के 'तुम और मैं' के दो पहलुओं की भाँति।

निराला यथार्थ में निराला हैं। उनमें वैविध्य और वैषम्य में ऐक्य और साम्य है, और इतनी शक्ति है कि यह सब विषमता विविध प्रशाखाओं के साथ ठीक रूप में सधी और ऊर्जस्वित रहती है। उनकी मनोभूमि का निर्माण दार्शनिक है, जिसमें रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द की तात्विक चिन्तना भरी हुई है; उनमें भारतीय संस्कृति के मूल की ओर आग्रह विद्यमान है, उनके लिए इनमें शक्ति भी इनके प्राच्य-पांडित्य से आई है। उस मनोभूमि पर कवि की प्रखर प्रतिभा की सहज लहरियाँ क्रीड़ाएँ कर जाती हैं, और उसे सरस-हरा-भरा-सुरीला और विचित्र बना जाती हैं। इस काव्यानुभूति के स्रोत तो भारतीय संस्कारों में हैं, पर उनमें गति और विस्तार यथार्थ की ऊँची-नीची भूमि पर ही प्रकट हुआ है। इस कवि का मूल-मंत्र स्वच्छन्दतावादी जन-सहानुभूति है।

यह वह पहला कवि है जिसने छन्द-बन्धों को मुक्त किया। यद्यपि निरालाजी ने 'गीत' भी गाये हैं और हिन्दी के नये गीतों का श्रेय उन्होंने स्वयं प्रसादजी को दिया है: 'खड़ी बोली में नये गीतों के भी प्रथम सृष्टिकर्ता 'प्रसाद' जी हैं।' (गीतिका) पर मुक्त रचनाओं और गीतों में शक्ति-सौन्दर्य निरालाजी ने ही भरा है। छन्द-बन्धों के मुक्त करने की टेकनीक का मूल 'कवित्त' किस प्रकार हो सकता है यह सबसे पहले निरालाजी ने ही प्रकट किया, और प्राचीन को नवीन रूप देकर सामयिक आवश्यकता के अनुकूल बना दिया। उन्होंने एक वर्ग के गीतों का आधार भी 'कवित्त' ही सिद्ध किया था। निरालाजी ने काव्य के साथ संगीत का संयोजन बड़े चैतन्य के साथ किया है, उस संगीत में उन्होंने नये प्रयोग किये हैं। विशेषतः 'गजल' के साथ। इस प्रकार निरालाजी ने काव्य के रूप के सम्बन्ध में साथ-साथ दो देनें दी हैं। उन्मुक्त छन्द और संगीत-परकता। यहाँ भी हमें कवि की वैचित्र्य-प्रियता स्पष्ट दिखायी पड़ती है। कहीं उन्मुक्त छन्दों का स्वच्छन्द अनमिल प्रवाह, कहीं स्वर के संगीतमय सधे रूप में लहरित भाव।

भाव-क्षेत्र में कवि की देन और भी अनूठी है। यही वह कवि है जिसने सौन्दर्यानुभूति की विस्तृत-भूमि में अद्वैत-सहानुभूति की जड़ जमाकर आधुनिक रहस्यवाद को रीति-काल का विलोम-मात्र नहीं हो जाने दिया। इसके स्वच्छन्दतावाद में मांसल सौन्दर्य की रूप-रेखा छल से नहीं आयी, स्पष्ट आयी है :

"खुले केश अशेष शोभा भर रहे,
पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु-उर पर तर रहे।"

अथवा

"प्रिय-कर-कठिन-उरोज-परस
कस कसक मसक गई चोली"

किन्तु जैसा पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है :

"आनन्द की सार्वत्रिक खोज और अभेद भाव से इन्द्रियों की परितृप्ति का पथ स्वीकार करते हुए भी वे मन-बुद्धि की सात्विक प्रेरणाओं से अधिक परिचालित हुए हैं।" इसके लिए कारण यही है कि—"कहीं शुद्ध अमूर्त प्रकाश मात्र और कहीं मूर्त्त कामिनी या मा आदि रूप है। निरालाजी की विशेषता इसी अमूर्त्त प्रकाश की अभिव्यक्ति-कला का अनुलेखन है।...वह विशेषता यही है कि रूप-रंगों में प्रकट होकर भी वे अमूर्त्त का ही अभि-व्यञ्जन करते हैं।"

"विजन की श्री, सुहाग आलान,
जाग फिर कर प्रभात-सर-स्नान,
रेणु के राग किये शृङ्गार,
सहज जगमग जग रही निहार,
मौन पिक-प्रिय-उर में आह्वान,
खोल देती द्रुत परिचय, प्राण।"

इस सौन्दर्यानुभूति की भाव भूमि में 'अमूर्त्त प्रकाश' की छटा होने से सात्विकभावावलम्बिनी कला का विकास

हुआ, जिससे उल्लासमय आश्चर्य का माधुर्य झलक उठा है, क्या यह वैषम्य नहीं ?—सौन्दर्य-श्रृङ्गार के मांसल चित्रण उनके गहरे रंग, उनमें अमूर्त प्रकाश सात्विक भाव और एक सहज आश्चर्य-उल्लास, उसमें माधुर्य। कवि की यही काव्य-सम्पूर्ण-रहस्यवादी अनुभूति 'तुलसीदास' के खण्ड-काव्य में चरम पर पहुँची है। राय कृष्णदास के शब्दों में "रहस्यवाद को उनके पुरुषत्व ने उसके अन्तर्द्वन्द्व के साथ कथारूप में यहाँ चित्रित किया है।" और यह इस कवि की हिन्दी साहित्य को महान देन है। पर, यह कवि इससे भी अधिक विलक्षण, शक्ति-काव्य की भाव-भूमि में है। यथार्थ में शक्ति का ऊर्जस्वित अदम्य प्रवाह इस कवि के मुक्त छन्दों में प्रवल रक्त की भाँति जब प्रधावित हो उठता है तब वीर-रस अकिंचन-सा लगने लगता है। कवि का प्रत्येक शब्द उत्साहित करता है, आगे धकेलता है, और ललकारता चलता है। इनके काव्य का प्रधान-धर्म ओज यहां बाँध तोड़ कर उफन उठता है। छायावादी युग में परुषत्व की ही नहीं शौर्य की भी यह प्रतिष्ठा एक अद्भुत वस्तु है। 'राम की शक्ति पूजा' में वह अपनी पराकाष्ठा पर है, पर मात्र वहीं सिमिट कर नहीं रह गयी—वह शब्दों में सर्वत्र फैली हुई है, पर भाव में भो सदा सब काल में प्राणों की भांति आती जाती रही है। इस भावभूमि में कवि में उग्रता है, दर्प है, त्याग और समर्पण है। प्राचीन शौर्य का स्मरण है और उसके लिए आदर है: आत्माभिमान की अनवरुद्ध वाणी कवि में यहीं अवतीर्ण हुई है।

इस कठोर शौर्य और ओज के गतिमय प्रवाह को संतुलित करती हुई तुंग हिमालय में से 'चंचल गति सुरसरिता' की भाँति पावनता की स्रोत सहानुभूति-साधारण के प्रति सहानुभूति-यथार्थ की कटुभूमि पर पीड़ित के प्रति सहानुभूति की भावना भी कवि में मिलती है। 'तोड़ती पत्थर इलाहाबाद की सड़क पर' जैसी रचनाएँ यहीं मिलती हैं—छायावादी युग के इस प्रमुख कर्णधार में यह क्या है?—जन—साधारण-जन की दुःख गाथा उसके लिए सहानुभूति में तो स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति है, पर है छायावाद की प्रतिक्रिया है। प्रकृति के सजीव-सुन्दर-कोमल साहचर्य ने एक ओर करुणा को विलास में परिणत किया, अयथार्थ के स्वर्ग में पहुँचा दिया, जहाँ करुणा स्वयं तड़प उठी है जैसे महादेवी में, पर वही करुणा निराला के काव्य में यथार्थ की कठोर-भूमि पर चल पड़ी है, और छायावादी विमोहक मुग्धता को त्यागकर, तथा दुःख-सुख की पन्तवादी दार्शनिकता से तटस्थ होकर पीड़ा की वस्तुगत स्थूल गहराई को स्पष्ट करने लगी है। निराला ने यहीं तो यह सिद्ध किया है कि वह प्रवृत्ति और प्रगति दोनों का कवि साथ साथ है, और यही कारण है कि उसे पन्तजी की भाँति एक दम आकाश से पृथ्वी पर आकर अपनी चोटों को सहलाना नहीं पड़ा है।

जब कवि छायावादी भावावरण में छेद करके प्रगति करने के लिए और भी अधिक आगे बढ़ा तो व्यंग भी विशेष प्राणवान हो उठा। सहानुभूति के पात्र के विरोध करनेवाले जीवन की जड़ता को जमानेवाले पात्रों को उसने गूढ़ व्यङ्गों को विषय बनाया है। 'कुकुरमुत्ता' इसी भावना से एक चित्र बन गया है। इस व्यङ्ग की भावना ने विनोद का रूप भी ग्रहण कर लिया है: कवि को भाषा के प्रयोग का भी शौक रहा है—इस क्षेत्र में भी उसमें वैविध्य है—अतः विनोद-भावना में भाषा के प्रयोग की भावना ने भी सहायता दी है।

'छला गया, किरनों का प्रकाश कैसे करे?
विरज नहीं, रज से रजत-हास कैसे करे?
सरोरुहों के उरोजों की चाल बल खाया
धवल-पुरी-पुर-परिसर विलस कैसे करे?
(बेला)

भाषा की दृष्टि से जब इस कवि का मूल्याङ्कन होगा तो विदित होगा कि यह एक महान शब्द-रसायनिक है। अभी तक इस दिशा में विशेष अध्ययन नहीं हुआ है। समस्त पद का प्रयोग तो इसके लिए साधारण-सी बात है, पर कैसे यह एक शब्द को उठाकर दूसरे स्थान पर समस्त पद का अङ्ग बना कर रख देता है, इस पर ध्यान देने से इस कवि की भाषा-देन का महत्व सिद्ध होगा।

इस कवि ने अपने वैविध्य के व्यक्तित्व को काव्य-कला की विविध टेकनीकों में भी अक्षुण्ण रखा है। एक कोमल

निरालाजी का जीवन-परिचय

आज वसन्त पञ्चमी है। सम्बत् २००३ है। इसी दिन आज से ५०वर्ष पूर्व सम्बत् १९५३ में हमारे इस प्रतिभाशाली कलाकार श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जन्म हुआ था। निराला जी के पिता श्री रामसहाय त्रिपाठी उन्नाव जिले के गढ़कोला नामक गाँव के रहने वाले थे। उनकी नौकरी मेदनीपुर (बङ्गाल) के महिषादल राज्य में लग गयी तो वे वहीं रहने लगे थे। वहीं निरालाजी का जन्म हुआ और वहीं निरालाजी की शिक्षा-दीक्षा हुई। राज-दरबार इन पर विशेष कृपालु था, फलतः उसीने निरालाजी की शिक्षा का प्रबन्ध कराया। पाठशाला और विद्यालय के पाठ्य-क्रम मात्र से बँधकर यह बालक नहीं रह सका। उसने विविध दिशाओं में विविध कलाओं का ज्ञान और अभ्यास करना आरम्भ कर दिया। उन्हें कुश्ती लड़ने और अश्वारोहण में आनन्द मिलता था। इन दोनों में उन्होंने दक्षता प्राप्त करली। उधर सङ्गीत भी सीखा। राजकीय कृपा के कारण आप राज्य के सङ्गीताचार्यों से सङ्गीत-कला पा सके। बङ्गला तो दैनिक सम्पर्क में आती थी, जिससे आपको उसे विधिपूर्वक सीखने को प्रोत्साहन मिला। संस्कृत में भी रुचि हुई, उसका अध्ययन किया और उसी के साथ दर्शन भी सीखा। इस प्रकार क्या शरीर, क्या स्वर, और क्या मानस— सभी दिशाओं में इनका व्यक्तित्व विकसित हुआ और परिपुष्ट हुआ। इनका शरीर १५ वर्ष की अवस्था में ही बड़े डील-डौल का अत्यन्त दर्शनीय हो गया था। विशाल शरीर, सुन्दर नखशिख, संस्कृत आचार, सुखी परिवार इन सबके निराला जी धनी थे। उनका विवाह भी हो चुका था, उनकी भार्या विदुषी मनोहरा देवी भी संगीत प्रिय थीं। वे भी निरालाजी की हिन्दी-संगीत साधना के लिए एक प्रेरणा थीं। जब यह

सौन्दर्य के विकासवादी रूप की कला 'जुही की कली' में है, विरल-सघन धूप-छाँह की प्रणाली गीतिका में, पार्वतीय प्रबल जलधारा का प्रपात शक्ति काव्य में है। इन सबसे भी विलक्षण वैषम्य-योजना की प्रभाववादी प्रणाली ने व्यङ्ग-रचनाओं को चमत्कारक बना दिया है। 'कुत्ता भौंकने लगा' 'झींगुर उठकर बोला' आदि में यही प्रणाली है। 'छलाँग मारता चला गया' में आरम्भ है :

जमींदार के सिपाही की
लाठी का गूला, लोहाबँधा,
दरवाजे गढ़ा कर जाता है।

और बड़ी स्थूलता के साथ आतङ्क और भय के स्थूल प्रतीकों का व्यंग्य वर्णन कर, जमींदार के आदमी का रूप-निदर्शन कर अन्त में कवि लिखता है—

"राक्षस विशालकाय
आध्यात्मिक नसों का
खून चूसता हुआ।
पासका मेढ़क थाले के पानी से उठ कर
मूत-मूतकर छलाँग मारता चला गया।"

यह प्रभाववादी शैली जितनी निरालाजी में बाद की रचनाओं में परिपुष्ट हुई है उतनी हिन्दी के किसी अन्य कवि में नहीं। देखना यह है कि क्या इस प्रणाली का भी सफल अनुकरण हिन्दी में आगे हो सकता है ?

यह तो निराला कवि की देन है। निराला तो उपन्यासकार भी हैं, कहानीकार भी हैं, रेखा-चित्रकार भी हैं और निबन्धकार तथा आलोचक भी। इन सबमें से वह रेखा-चित्रों में सबसे अधिक सफल हुए हैं। 'कुल्लीभाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' ये दो नये युग के इस पुराने कलाकार की दो अमर रचनायें हैं। गद्य में शक्ति और ओज के साथ व्यंगशीलता, चुटकियाँ और एक अक्खड़पन और रसिकता एक साथ इन रचनाओं में मिलेंगी।

'वर्तमानधर्म' शीर्षक से इस महापुरुष ने एक 'सान्ध्यभाषी' कृति भी हिन्दी को दी थी।

इस प्रकार महाकवि महामति निराला का व्यक्तित्व और देन में एक महानता है और निरालापन भी है।

सब ठीक ठीक चल रहा था तभी निरालाजी पर आपत्तियों के पहाड़ ढह पड़े। १६१६ में यूरोप के महायुद्ध के समाप्त होने पर देश में स्थान स्थान पर भयङ्कर बीमारियाँ फैलीं। उनका प्रभाव निराला जी के परिवार पर भी पड़ा, और उनका पारिवारिक जीवन ध्वस्त हो गया। उन्हें अब विविध संघर्षों का सामना करना पड़ा। २२–२३ वर्ष की अवस्था में इनकी संगिनी मनोहरादेवी भी इन्हें अकेला छोड़ गयीं। निरालाजी के इस समय तक मानसिक संस्कार एक विशेष रूप ग्रहण कर चुके थे। उनमें कवि जागृत हो चुका था, बँगला में भी उन्होंने काव्य रचना की थी; संगीत के मर्म को यह कवि हृदयंगम कर चुका था; उधर इन सबको कवि की दार्शनिकता तरंगित किये हुए थी और शारीरिक विशालता के साथ वर्चस्वता अपने संपूर्ण ओज से भाव और स्वर के सौन्दर्य की कोमलता को एक पृष्ठ-भूमि प्रदान कर चुकी थी। व्यक्तित्व के निर्माण के इन विविध-तत्वों में संघर्ष भी था और मैत्री भी, पर इनकी आन्तरिक मूलभित्ति सुदृढ़ थी—अतः यह व्यक्ति समस्त संघर्षों को सहने के लिए प्रस्तुत था। उसके व्यक्तित्व का रूप उसे राजकीय बन्धनों में सुख से नहीं रहने दे सकता था। उसमें आन्तरिक विषण्णता उत्पन्न हुई, और उन्होंने आर्थिक असुविधाओं की चिन्ता किये बिना ही राज की नौकरी त्याग दी। आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी की निरालाजी पर अत्यन्त कृपा थी। उन्होंने इन्हें 'श्री राम-कृष्ण मिशन' के प्रधान केन्द्र बैलूर मठ में 'समन्वय' का संपादन करने के लिए भेज दिया। इस दार्शनिक कवि के लिए यह एक अपूर्व सुयोग था। भारतीय दर्शन की नवीन-तम व्याख्या को निकट से अध्ययन करने का अवसर हाथ लग गया। परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्दजी के जीवन-दर्शन और सिद्धान्तों का यहाँ गम्भीर अध्ययन इन्होंने किया। हृदय का द्वन्द्व इस दार्शनिक द्वन्द्व से बढ़ा ही होगा। वह कलाकर क्या केवल दार्शनिक और साम्प्र-दायिक हो कर रह सकता था!

वहीं कलकत्ते में हिन्दी का एक नवीन आयोजन हुआ 'मतवाला' नाम का साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया गया। निराला जी इसके संपादकीय विभाग में काम करने लगे। 'मतवाला' चमक उठा। इस प्रकार निराला जी बत्तीस वर्ष के हुए। अब उन्होंने बंगाल छोड़ दिया। वे लखनऊ आ गये। कुछ दिन लखनऊ रहकर गाँव चले गये। गाँव से आकर लखनऊ में रहने का स्थायी प्रबन्ध किया। इधर कुछ दिनों से प्रयाग में रहते हैं। यों इस युग-निर्माता के पचास वर्ष बीत चुके हैं और इतने काल में ही इसने कितनी विलक्षण देन साहित्य को दी है। इनका समस्त साहित्य एक आन्तरिक प्रबल संघर्ष का परिचायक है। यह संघर्ष जीवन का यथार्थ-संघर्ष रहा है, यह निराला जी के लिए अत्यन्त महँगा पड़ा है। यह बलिष्ठ शरीरी कलाकार आज श्रान्त दिखायी पड़ने लगा है।

साहित्यिक जीवन में इन्होंने काव्य, कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि विविध रूपों में मौलिक निर्माण किया है। काव्य में छायावाद को दार्शनिक और संगीतमय भूमि देने में इनका प्रथम योग हुआ। उसे यथार्थ के धरातल पर प्रवाहित करते हुए आपने करुणा, सहानुभूति और वर्चस्व से परिपूर्ण कर दिया तथा प्रगतिवाद के साहित्यिक विकास के बीज बोये। उसमें व्यंग्य और विनोद का जो पुट दिया वह अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। रहस्यमय शैली में 'वर्त्तमान-धर्म' जैसा निबन्ध एक अनोखी वस्तु थी। उसके कारण आपको साहित्यिकों का भी संघर्ष झेलना पड़ा।

यह वह कवि और लेखक है जो शुद्ध साहित्य-कर्मी कहा जा सकता है। व्यवसाय कुशल यह है नहीं, धन को इसने कभी महत्व नहीं दिया। जो प्राप्त हुआ वह दूसरी ओर बहा दिया। अपने सुख की चिन्ता न कर दूसरों को सुख देने में निराला जी ने कब संकोच किया है। आज इतना अवकाश कहाँ है कि इनके जीवन की विविध विलक्षण घटनाओं का वर्णन किया जा सके। यहाँ तो इस संक्षिप्त रूप-रेखा से ही संतोष करना पड़ेगा। इस महापुरुष की पचासवीं वर्षगांठ पर हम यह हार्दिक कामना करते हैं कि यह युग-निर्माता दीर्घजीवी हो और साहित्य-सर्जना के लिए समर्थ रहे।

रस सामग्री

गुलाबराय एम० ए०

काव्य की आत्मा —

शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना गया है। किन्तु इसकी आत्मा के सम्बन्ध में आचार्य लोग एकमत नहीं है। वामनादि आचार्यों ने रीति (माधुर्य, ओज आदि गुणों के अनुकूल रचना शैली) को आत्मा माना है, 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। ध्वनिकार ने उसे ध्वनि के रूप में देखा 'काव्यस्यात्माध्वनिः'। कुन्तल ने वक्रोक्ति (बात को अनूठे ढङ्ग से कहने को) काव्य का जीवन बतलाया 'वक्रोक्ति काव्यस्य जीवितम्'। दण्डी आदि आचार्यों ने अलङ्कारों को मुख्यता दी। किन्तु रस-सिद्धान्त के अनुयायी विश्वनाथ का मत अधिक मान्य हुआ। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' अर्थात् रसपूर्ण वाक्य ही काव्य है। इस सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक हैं भरत मुनि।

परिभाषा —

अब प्रश्न यह होता है कि रस है क्या बला? क्या खाने के मधुर कटु-तिक्त आदि रसों से इसका अभिप्राय है? हां कुछ-कुछ ऐसा ही है। काव्य के आस्वादन से उत्पन्न हुए आनन्द को रस कहते हैं। इसी बात को पारिभाषिक शब्दावली में इस प्रकार कहेंगे: स्थायी भाव 'विभाव'-अनुभाव और सञ्चारी भावों द्वारा व्यक्त हो कर सहृदय लोगों के मन में जो आनन्द उत्पन्न करता है उसे रस कहते हैं।

जो विभाव अनुभाव अरु विभिचारिन करहोय।*
थिति की पूरन वासना सुकवि कहत रस सोय॥

स्थायी भाव—

इस परिभाषा में स्थायी भाव, विभाव और अनुभाव की व्यख्या कर देना आवश्यक है। मन में जो विकार (परिवर्तन) उत्पन्न होते हैं वे भाव कहलाते हैं (विकारो मनसो भावः) जो भाव आदि से अन्त तक रहे वह स्थायी भाव कहलाता है। स्थायी भाव और भावों से पुष्ट तो होते हैं किन्तु उनसे दबते नहीं है। वे तो माला में सूत्र की भाँति व्याप्त रहते हैं।

माला मधि ज्यों सूत्र त्यों विभावादि में आनि।
आदि अन्त रस माँहि थिर, थाई भाव बखानि॥

जैसे शकुन्तला नाटक में रौद्र, इन्द्र के दूत मातलि द्वारा विदूषक के पीटे जाने पर दुष्यन्त का क्रोध; वीर, दुष्यन्त का इन्द्र की सहायता को जाना और उसके शत्रुओं को परास्त करना, वात्सल्य, दुष्यन्त का उसके लड़के सर्वदमन के साथ साक्षात्कार होने पर धन्य धन्य वे हैं नर जो मैलो करत गात कनिया लगाय गात धूरि ऐसे सुअनान की' अद्भुत जैसे सर्वदमन का शेर के बच्चे के साथ खेलना आदि रस के अङ्ग हो कर आये हैं किन्तु एक रति का भाव आदि से अन्त तक व्याप्त है। यही स्थायी भाव है। यह रस का मूल है।

संचारी भाव

स्थायी भाव के साथ और जो आते-जाते हैं वे सञ्चारी कहलाते हैं। एक स्थायी भाव के साथ कई सञ्चारी भाव हो सकते हैं और एक सञ्चारी कई रसों में आ सकता है। इसी आने-जाने के कारण ये सञ्चारी या व्यभिचारी कहलाते हैं। निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, दीनतादि ये तेंतीस हैं। भारतीय आचार्यों ने विच्छेद-बुद्धि से काम नहीं लिया है। कोई स्थायी भाव अकेला रह कर रस नहीं बन सकता है। कोई भाव चाहे जितना मुख्य क्यों न हो नितान्त पृथक नहीं रह सकता है। उसके साथ छोटे-छोटे भाव लगे रहते हैं। दूसरे रसों के स्थायी भाव भी जब वे अङ्ग होकर आते हैं सञ्चारी बन जाते हैं। जैसे शृङ्गार के साथ हास्य, वीर के साथ अद्भुत। रस की सम्पन्नता उसके स्थायी भावों में ही रहती है। शृङ्गार की रसराजता भी उसके सञ्चारियों के बाहुल्य में हैं। वीर, और रौद्र जैसे मिल-जुले रस भी अपने सञ्चारियों के कारण पहचाने जाते हैं। दोनों का आलम्बन एक ही होता है। सञ्चारियों में अन्तर है

* स्थायी भाव—'विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा, रसतामेति रत्यादिः स्थायीभाव सचेतसाम्'—साहित्य-दर्पण

वीर में धैर्य और हर्ष सञ्चारी होते हैं, रौद्र में उद्वेग, विषाद, चाँचल्य आदि होते हैं।

विभाव

भावों को विशेष रूप से उत्पन्न करने वाले बाह्य कारण विभाव कहलाते हैं। इनमें जो मुख्य होते हैं वे आलम्बन कहलाते हैं और जो सहायक या गौण होते हैं वे उद्दीपन कहलाते हैं।

रस उपजै आलम्ब जेहि, सो आलम्बन होय।
रसहि जगावै दीप ज्यों, उद्दीपन कह सोय।

जैसे बालकाण्ड में परशुराम लक्ष्मण को देख कर क्रोध करते हैं, लक्ष्मणजी आलम्बन हुए, परशुरामजी आश्रय। जिससे भाव की उत्पति हो वह आलम्बन और जिसमें भाव की उत्पत्ति हो वह आश्रय कहलाता है। जो भाव को तीव्रता दे वह उद्दीपन है, जैसे—परशुरामजी के क्रोध को उद्दीप्त करने में टूटा हुआ धनुष, लक्ष्मणजी की गर्वोक्तियाँ आदि। आलम्बन उद्दीपन मानवी भी होते हैं, प्राकृत भी। आलम्बन की चेष्टाएँ मानवी उद्दीपन हैं। श्रीकृष्णजी का घुटनों चलना, रूठना, किलकिलाना आदि यशोदा के वात्सल्य के उद्दीपन होते हैं। इसी प्रकार लक्ष्मण की गर्वोक्तियाँ परशुराम के लिए रौद्र का उद्दीपन बनती है। प्राकृत उद्दीपन एक प्रकार से मानव-व्यापारों के लिए पृष्ठभूमि का काम करते हैं। अँधेरी रात, निर्जन बन भय के उद्दीपन हैं। चन्द्रज्योत्स्ना, मलय समीर यमुना पुलिन शृङ्गार के उद्दीपक हैं। इन उद्दीपनों को मतिराम ने इस प्रकार गिनाया है—

चन्द्र कमल चन्दन अगर ऋतु बन बाग बिहार।
उद्दीपन शृङ्गार के ये उज्ज्वल शृङ्गार॥

जिसमें भाव की उत्पत्ति होती है उसे आश्रय कहते हैं।

अनुभाव

भावों के सूचक बाह्य शारीरिक विकार अनुभाव कहलाते हैं। 'अनुभावः विकारस्तु भाव सूचनात्मकः' आन्तरिक भाव के पीछे आने के कारण अथवा उसका अनुभव कराने के कारण ये अनुभाव कहलाते हैं (अनुभाव आश्रय के होते हैं) जैसे—क्रोध में मुँह लाल हो जाना, नथुने फूल जाना, दाँत बाहर निकल आना, शरीर काँपने लगना इत्यादि। सात्विक भाव भी विशेष प्रकार के अनुभाव हैं। इनका सम्बन्ध हमारे सत्व या जीवन से है। ये आठ हैं। स्तम्भ, स्वेद (पसीना आना), रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथुः (कम्प), विवर्णता (चेहरे का रङ्ग उतरना) अश्रु और प्रलय। विभाव भावों के कारण होते हैं अनुभाव कार्य होते हैं।

लेकिन रस की उत्पत्ति में ये सब कारण होते हैं। रस इन सबका सामूहिक प्रभाव है। हम रस और उसकी सामग्री का सांकेतिक निरूपण इस प्रकार कर सकते हैं:—

विभावों द्वारा आश्रय के हृदय में भावों की उत्पत्ति होती है। भीतरी भाव बाहरी अनुभावों द्वारा प्रकट होते हैं। सहृदय के हृदय में जो स्थायी भाव के संस्कार हैं इन सब का वर्णन उनसे मिलकर उनको रस रूप बना देता है। जिस प्रकार दूध थोड़ा सा जामन मिल कर सब दही बन जाता है उसी प्रकार सहृदयगत स्थायी भाव के संस्कार जब काव्य के विभाव अनुभावों से मिलते हैं तब वे व्यक्त और परिपक्व होकर रस बनजाते हैं। इस बात को जगद्विनोद में इस प्रकार कहा है:—

मिलि विभाव अनुभाव पुनि, सञ्चारिन के वृन्द।
परिपूरन फिर भाव यों, सुरस्वरूप आनन्द॥
जो पय पाय विचार कछु, ह्वै दधि होत अनूप।
तैसेई चिर भाव को, बरनित कवि रस रूप॥

जिस प्रकार दूध में थोड़ा दही मिल कर दूध का दही हो जाता है वैसे ही वासनागत स्थायी भाव में काव्य वर्णित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के जामन लगने से वह रस रूप में परिणत हो जाता है।

उदाहरण

लषण कहा हँसि हमरे जाना,
सुनहु देव सब धनुष समाना।
का छति लाभ जीर्ण धनु तोरे,
देखा राम नये के भोरे।
छुवत टूट रघुपतिहि न दोषू,
मुनि बिन काज करिय कत रोषू।
बोले चितय परशु की ओरा,

रे शठ सुनेसि स्वभाव न मोरा ।।
बालक जानि बधौं नहिं तोहीं,
केवल मुनि जड़ जानिसि मोही ।
बाल ब्रह्मचारी अति कोही,
विश्व विदित क्षत्रिय कुल द्रोही ।।
भुज बल भूमि भूप बिनु कीन्हीं,
बिपुल बार महि देवन दीन्ही ।
सहसबाहु-भुज छेदन हारा,
परशु बिलोकु महीप कुमारा ।।

यहाँ पर राम-लक्ष्मण आलम्बन हैं। टूटा हुआ धनुष, उससे बढ़ कर लक्ष्मणजी की उक्तियों द्वारा उसका तिरस्कार (उसको और धनुषों के बराबर समझना, जीर्ण पुराना और छूते ही टूटजाने वाला कहना) तथा उनके रोष को अकारण बतलाना ये सब उद्दीपन हैं। परशुरामजी का गर्व (केवल मुनि जड़ जानेसि मोही), स्मृति (भुज-बल भूमि भूप बिनु कीन्हो), आदि सञ्चारी हैं। क्रोध का भाव शुरू से आखीर तक वर्तमान है, यही स्थायी भाव है। परशुराम की आत्मप्रशंसा, (बाल ब्रह्मचारी अति-कोही, विश्व विदित क्षत्रिय कुल द्रोही) परशु की ओर देखना और उसे दिखाना, मारडालने की धमकी देना, ये सब अनुभाव हैं । इस प्रकार इसमें रौद्र रस की पूर्ण सामग्री है ।

नवरस

रस नौ माने गये हैं। प्रत्येक का एक-एक स्थायी भाव है । शृङ्गार का रति, हास्य का हास, करुणा का शोक, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, भयानक का भय, वीभत्स का घृणा, अद्भुत का विस्मय और शान्त का शम या निर्वेद । नाटक के सम्बन्ध में भरत मुनि ने शान्त रस को नहीं माना था। शान्त-रस को रसों में स्थान देने के विरोध में यह कहा गया है कि नट तो स्वभाव से ही चञ्चल होते हैं। वे शान्त का अभिनय किस प्रकार कर सकते हैं ? किन्तु बात ऐसी नहीं है। शान्तरस का भी उनके अनुभावों द्वारा (जैसे पद्म-आसन लगा कर बैठना, नासाग्र दृष्टि करना, प्रसन्न मुद्रा) अभिनय हो सकता है। इसलिए शान्त को रसों में स्थान दिया गया है। कुछ आचार्यों ने वात्सल्य को भी स्वतन्त्र रस माना है। शृङ्गार संयोग और वियोग रूप से दो प्रकार का होता है ।

वियोग के भेद

वियोग शृङ्गार को विप्रलम्भ शृङ्गार भी कहते हैं। इसके चार भेद हैं। (१) पूर्वानुराग-मिलन से पूर्व जो विरह होता है उसे पूर्वानुराग कहते हैं। कभी यह स्वप्न दर्शन से होता है, जैसा ऊषा के सम्बन्ध से हुआ था, कभी गुण-श्रवण मात्र से होता है , जैसा पद्मावती और रत्नसेन को हुआ था, कभी चित्र दर्शन से और कभी प्रत्यक्ष दर्शन से जैसा वाटिका में राम के दर्शन के पश्चात् सीताजी को (२) प्रवास-शापवश या कार्यवश कहीं बाहर चले जाने पर (३) मान-मान भी दो प्रकार का होता है—ईर्ष्यामान जो एक दूसरे के अपराध देखने पर थोड़े काल के लिए वियोग होता है और प्रणय मान जो अपराध न होने पर भी विरह का आनन्द लेने के लिए होता है। (४) करुणात्मक जब वियोग पराकाष्ठा को पहुँच जाता है तब करुणात्मक कहलाता है। करुणारस और करुणात्मक वियोग में यही अन्तर है कि करुणारस में आशा नहीं रहती । उसमें एक पक्ष का मरण ही हो जाता है और करुणात्मक वियोग में मिलन की आशा रहती है। और साथ ही उसमें रति भाव भी लगा रहता है जो करुणा में नहीं रहता। करुणात्मक वियोग में, शृङ्गार का भेद होने के कारण, उसके स्थायी भाव रति का रहना आवश्यक है। साकेत में उर्मिला का विरह इसी प्रकार का है। वीर के भी तीन भेद होते हैं—युद्धवीर, जैसे अर्जुन, दयावीर जैसे भगवान बुद्ध और दानवीर जैसे सत्यहरिश्चन्द ।

भाव और रसाभास—

जहाँ सामग्री पूर्ण होती है वहाँ तो रस होता है। जहाँ देवता गुरु आदि के प्रति रति हो, अथवा और भावों से अपुष्ट स्थायी भाव हो अथवा सञ्चारी को ही मुख्यता दी गई हो वहाँ भाव होगा। दाम्पत्य रति को ही शृङ्गार का मूल माना है।

रसाभास—

जहाँ पर रस में अनौचित्य हो वहाँ रसाभास होता है।

जैसे—स्त्री या शरणागत के प्रति वीरता दिखाना अथवा गुरु-पत्नी के प्रति रति-भाव रखना, पूज्य वृद्धजनों का उपहास करना, ये वीर, शृंगार और हास्य के रसाभास होंगे। स्थायी भाव को खोज कर रस की पहचान की जा सकती है।

रसराजत्व—

नव रसों में किसको शीर्षस्थान दिया जाय, इस सम्बन्ध में भी आचार्यों का मतभेद है। कोई, जैसे भवभूति करुण को सब रसों का मूल मानते हैं। 'एको रसः करुण एव'। करुण में सहानुभूति की व्यापकता हो जाने के कारण आश्रय अपने व्यक्तित्व के बन्धनों से परे होकर उस सामान्य भाव-भूमि में पहुँच जाता है जो रसानुभूति के लिए आवश्यक है। इसलिए करुण को प्रधानता दी जाती है। कुछ लोग अद्भुत रस को प्रधानता देते हैं क्योंकि रस में आनन्द देने के लिए एक प्रकार का चमत्कार आवश्यक रहता है और अद्भुत रस में सब से अधिक चमत्कार रहता है। किन्तु अधिकाँश लोग शृंगार रस को ही रसराज की पदवी देते हैं। इसके कई कारण हैं। इसका प्रभाव बहुत व्यापक है। इसमें संयोग और वियोग दो पक्ष हो जाने के कारण सभी प्रकार के सुखद और दुखद अनुभवों का समावेश हो जाता है। इसका स्थायी भाव रति भी बहुत व्यापक है। व्यापक अर्थ में जो कुछ मन के अनुकूल है, जिससे चित्त को प्रसन्नता मिलती है, वह सब रति का आलम्बन बन जाता है। इस अर्थ में वात्सल्य भी शृङ्गार के अन्तर्गत मान लिया जाता है। इसमें ३३ में से २६ सञ्चारी भाव आ जाते हैं और वीभत्स को छोड़ कर इसका सब रसों के साथ मेल हो जाता है।

दुख से सुख क्यों?

रस जब आनन्द रूप है तो उसमें दुखात्मक अनुभवों से सम्बन्ध रखने वाले करुण, वीभत्स, रौद्र रसों को क्यों स्थान दिया जाता है, इस समस्या को सुलझाने के लिए हम को लौकिक और काव्यगत अनुभव में अन्तर जान लेना चाहिए। लौकिक अनुभव तो दुखद होता है किन्तु उसका काव्यगत अनुभव आनन्दमय ही होता है। कोई अपने इष्टजन का वियोग नहीं चाहता किन्तु फिर भी लोग रघुवंश में अज-विलाप पढ़ते हैं, पैसे खर्च करके दुखान्त नाटक देखने जाते हैं। इसका कारण यह है कि जब तक आलम्बन के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध रहता है तब तक दुख होगा। जो ज्ञानी अपने व्यक्तित्व को भूल जाते हैं उन्हें लौकिक अनुभव में भी दुख नहीं होता। काव्य में जिन आलम्बनों का वर्णन रहता है उनका साधारणीकरण हो जाता है। वे न मेरे रहते हैं और न पराये। शकुन्तला की विदा बेटी मात्र की विदा हो जाती है। आश्रय भी रसानुभूति में अपना व्यक्तित्व छोड़ बैठता है। इसकी सहानुभूति व्यापक हो जाती है। उसकी आत्मा का विस्तार हो जाता है, उसमें सतोगुण का उद्रेक होने लगता है और वर्णन के सौष्ठव के कारण उसके चित्त में एकाग्रता आ जाती है। उस एकाग्रता के कारण आत्मा का स्वाभाविक आनन्द प्रकाशित हो उठता है।

करुणा में हृदय की विशेष कोमलता आ ही जाती है और उसमें सतोगुण की प्रधानता रहती ही है। इसके अतिरिक्त बड़े आदमियों को दुख सहते हुए देख कर उनकी कष्ट-सहिष्णुता की सराहना में प्रसन्नता का भाव लगा रहता है। घृणा में भी एक प्रकार की सात्विकता आ जाती है जब कि वह करुणा का आश्रय ले लेती है। वीर का सहारा लेकर उसमें ओज बढ़ जाता है। क्रोध या तो सात्विक ही होता है जैसे किसी अत्याचारी के प्रति और यदि स्वयं सात्विक नहीं होता तो उसके आलम्बन के साथ सहानुभूति जाग्रत होकर उसमें सात्विकता आ जाती है। प्रायः सभी रसों में साधारणीकरण द्वारा व्यक्तित्व की क्षुद्रता जाती रहती है और दर्शक या पाठक के हृदय की उदात्त वृत्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं और उससे उसको आनन्द मिलता है।

काव्य में दोष

प्रो० सत्येन्द्र एम० ए०

[दोष रस के अपकर्षक होते हैं। दोषों से बचना गुणों के समावेश से भी आवश्यक है। इसलिए आचार्य मम्मट ने अपनी काव्य की परिभाषा में 'तददोषौ' को सबसे पहले लिखा है। दोषों का जानलेना काव्य मर्मज्ञ के लिए नितान्त आवश्यक है। श्री सत्येन्द्र ने इस लेख में मुख्य मुख्य दोषों का निरूपण किया है। —सम्पादक]

इतिहास—

काव्य-शास्त्र की रचना के समय से ही काव्य के दोषों की ओर आचार्यों की दृष्टि गयी है। संस्कृत में भरत-मुनि ही काव्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने काव्य में दस दोष माने हैं:—अर्थ हीन, एकार्थ, गूढार्थ, अर्थान्तर, विसन्धि, शब्दच्युत (शब्द हीन), विषम, भिन्नार्थ, अभिप्लुतार्थ और न्यायादपेत। अग्निपुराण, में भी 'साहित्य-शास्त्र' का समावेश हुआ है, किन्तु उसमें कई विलक्षणताएँ हैं। दोष भी विलक्षण हैं—उसमें केवल तीन दोष माने हैं: वक्तृ, वाचक और वाच्य। दण्डी ने दस दोष माने हैं, भामह ने ग्यारह। दण्डी से भामह के दस दोष तो समान हैं, एक उसने और अधिक दिया है। भरत मुनि से दोषों के सम्बन्ध में इस प्रकार तुलना हो सकती है:

भरत—	भामह तथा दण्डी—
१—अर्थहीन	१—अपार्थ १० व्यर्थ
२—एकार्थ	२—एकार्थ
३—गूढार्थ	३—ससंशय
४—अर्थान्तर	४—अपक्रम
५—विसन्धि	५—विसन्धि
६—शब्दच्युत	६—शब्द हीन
७—विषम	७—भिन्नवृत्त ६ यतिभ्रष्ट दोष
८—भिन्नार्थ	८—असभ्य (ग्राम्य)
९—अभिप्लुतार्थ	
१०—न्यायादपेत	

इस तुलना से विदित होगा कि दण्डी ने प्रायः भरत के ८ दोष सम्मिलित किये हैं। व्यर्थ और यतिभ्रष्ट भरत के अन्य दो विस्तृत दोषों में समा जा सकते हैं। भामह ने दण्डी से अधिक 'प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्त हानि' नामक दोष और बताया है। किन्तु यहाँ तक दोषों की विवेचना वैज्ञानिक प्रणाली पर नहीं थी। वामन ने इन सब दोषों को विधिवत् वर्गों में विभाजित कर दिया—उसने पद दोष, वाक्य दोष, पदार्थ दोष और वाक्यार्थ दोष नाम से दोषों के चार वर्ग बना दिये। मम्मट ने पद, वाक्य और अर्थ के दोषों का विवेचन करते हुए रस दोषों का एक चौथा वर्ग और माना है। ध्वन्यालोक ने दोषों का उल्लेख दोष नाम से किया है, रस वर्णन में औचित्य विचार पर जोर दिया है, अतः अनौचित्य दोष के अन्तर्गत माना जायगा। 'अनौचित्यादृते न्यायद्रसभङ्गस्य कारणम्'—ध्वन्यालोक पृष्ठ १४५। इस प्रकार जब दोषों का अनुसन्धान शुरू हुआ तो उनकी गिनती बढ़ती गयी। मम्मट ने ही १६ पद दोष तथा १३ वाक्य दोष माने हैं। आगे चल कर काव्य दोष ७० से अधिक हो गये। पद दोष १६, वाक्य दोष ३१, अर्थ दोष २३ और रस दोष १०। यहाँ पर इन पर इतने विस्तार और सूक्ष्मता से विचार नहीं किया जा सकता। यह तो दोषों की परम्परा और इतिहास है।

दोष की परिभाषा—

सभी आचार्यों ने यह माना है कि काव्य में दोषों का अभाव होना चाहिये। मम्मट की काव्य-परिभाषा प्रसिद्ध है "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि" जिसमें काव्य का 'अदोष' होना सबसे पहले आवश्यक बताया गया है। प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य के लिए निर्दोषिता पर जोर दिया है। दोष क्या है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। "मुख्यार्थ हतिर्दोषो" जिसमें मुख्यार्थ अथवा उद्देश्य प्रतीत का अपकर्ष हो, हानि हो, अथवा घात हो, वही दोष है। फलतः काव्य के अर्थ को उज्ज्वल और स्पष्ट रखने

के लिए दोष-ज्ञान आवश्यक है। दोष होने से काव्य अपना अर्थ भली प्रकार प्रकट नहीं कर सकता। कुछ लोगों का विचार रहा है कि गुणों की विपरीतता ही दोष हैं। दोष इस दृष्टि से अभावात्मक होजाते हैं। पर यह स्पष्ट है कि 'दोष' अपना प्रथक अस्तित्व रखते हैं, वे केवल गुण-विपरीत नहीं हैं। किसी कवि ने दोषों के सम्बन्ध में कहा है;

"कहूँ दोष है उचित कर, कहूँ दोष गुण होइ।
कहूँ दोष नहिं गुण नहीं, ऐसो कै तू जोइ"

जहाँ दोष औचित्य पोषक हैं, अथवा गुण होजाते हैं, वहाँ उनका परिहार हो जाता है, अतः दोषों के विवेचन में उनके प्रयोग पर भी ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है। दोष गुण की भाँति नित्य पदार्थ नहीं कि वे सब अवस्थाओं में विद्यमान रहें और एक से रहें। किन्तु दोष से बचना सरल नहीं, किसी न किसी प्रकार का दोष कहीं न कहीं काव्य में मिल ही जायगा। मम्मट 'अदोष' होना काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं, पर सर्वथा 'अदोष'—काव्य बहुधा संभव नहीं। और जब 'दोषों' को शास्त्रीय अर्थ में ग्रहण किया जाय, तब तो कैसे भी निस्तार नहीं होता। इस दृष्टि से दोष को केवल उसकी परिभाषा की दृष्टि के मूल-भाव से ही ग्रहण करना उचित है। यदि काव्य के अर्थ और सौन्दर्य का उत्कर्ष निरन्तर होता रहता है, किसी प्रकार का उसमें व्याघात पैदा नहीं होता तो वहाँ दोषान्वेषण के लिए व्यग्र होने की आवश्यकता नहीं।

दोष के भेद—

दोष के अगणित भेदों की बात ऊपर हो चुकी है। उन सब पर विचार करना अनावश्यक है। वह तो भिखारीदास के काव्य-निर्णय से, संस्कृत के अन्य शास्त्रग्रन्थों से—उदाहरण के लिए मम्मट के काव्य-प्रकाश से अथवा विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण से पढ़ा और समझा जा सकता है। यहाँ तो कुछ प्रमुख दोषों पर विचार कर लेना ही पर्याप्त होगा।

दोषों को प्रधानतः चार भागों में ही बाँटना समुचित होता है: एक—पद-दोष, दूसरा—वाक्य-दोष, तीसरा—अर्थ-दोष, और चौथा—रस-दोष। यह स्वाभाविक और वैज्ञानिक वर्गीकरण माना जा सकता है। पहले दो दोष काव्य के रूप से सम्बधित हैं। 'शब्द' और शब्द से वाक्य तक पहुँचते हैं। वाक्य अर्थ का माध्यम है, और अर्थ 'रस' का है।

पद-दोष वहाँ होता है जहाँ अनुचित और व्याघात करने वाले शब्दों का अथवा पदों का प्रयोग होगया हो। पद-दोष में पहला है श्रुति-कटुत्व। शब्द से ही इसका लक्षण स्पष्ट है। जिस काव्य में कर्णकटु शब्दों का प्रयोग हुआ हो, उसमें कर्णकटु दोष अथवा श्रुति कटुत्व माना जायगा। श्रुति की कटुता तीन प्रकार से सम्भव है, एक तो कठोर अक्षरों के अथवा संयुक्त वर्णों के प्रयोग से, किन्तु यदि इन अक्षरों का प्रयोग परुषावृत्ति के अनुकूल हो तो यह दोष वहां नहीं होगा। कारण स्पष्ट है: ऐसे स्थान पर कर्ण-कटुत्व अर्थ की प्राप्ति में साधक ही होता है। यथार्थ में हम ऐसे स्थल पर कर्णकटुता का आरोप ही नहीं कर सकते। दूसरे वृत्ति के विरोध में कोई शब्द आजाय। मधुर उपनागरिका वृत्ति का चरण हो उसमें परुषा-वृत्ति का वर्ण-विन्यास आजाय तो भी वह श्रुति-कटु विदित होगा। जहाँ किसी शब्द के उच्चारण में भी कठिनाई हो वहाँ भी यह दोष रहता है।

च्युत-संस्कार दूसरा दोष है। व्याकरण के विरुद्ध किसी पद का प्रयोग हुआ हो तो वहाँ यही दोष माना जायगा। भाषा का 'संस्कार' व्याकरण से ही होता है। अतः व्याकरण विरुद्ध पद का रूप अथवा प्रयोग च्युत-संस्कार कहलायेगा। इसी को 'भाषाहीन' भी कह सकते हैं। उदाहरण के लिए कहीं 'स्थायी' भाव के लिए 'अस्थाई' शब्द का प्रयोग किया जाय तो यह दोष हो सकता है। कारण स्पष्ट है 'स्थायी' का व्रज रूप 'थायी' होगा। थायी का ही अर्थ स्थायी है। अस्थायी तो अ-स्थायी का भ्रामक अर्थ प्रदान करेगा।

'भाषा-हीन' की परिभाषा हिन्दी-आचार्य यह करते हैं कि जहाँ बिना किसी रीति के ही मात्रा अथवा वर्ण अदल-बदल जायँ या घट-बढ़ जायँ, वहाँ यह दोष होता है, 'कृष्ण' के लिए कान्ह के स्थान पर 'कान' का प्रयोग ऐसा ही दोष है।

तीसरा दोष 'अप्रयुक्त दोष' है। अप्रयुक्त दोष वहाँ

होता है जहाँ अप्रचलित शब्द का प्रयोग कर दिया जाय। 'स्पर्श' का अर्थ कोष में 'दान' भी है, किन्तु इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नहीं होता। फिर यदि उसी अर्थ में इसका प्रयोग किया जाय तो यह दोष होगा। यदि चन्द्र-ग्रहण के दिन माँगनेवाले 'दान करो, दान करो' की जगह 'स्पर्श करो, स्पर्श करो' कहें तो क्या परिणाम निकले।

इसी से मिलते-जुलते कुछ दोष और हैं, यथा 'असमर्थ' 'निहतार्थ' 'अप्रतीतार्थ', 'प्रसिद्धि त्याग' आदि; इनमें परस्पर सूक्ष्म अन्तर है। अप्रयुक्त तो जैसा शब्द से प्रकट होता है 'प्रयोग' के आधार पर है। जो शब्द प्रयोग बाहर हो गया है उसे प्रयोग में लाना उचित नहीं होता। 'अतिथि' के लिए 'गोघ्न' अब अप्रयुक्त हो चुका है। इसका प्रयोग दोष होगा। 'असमर्थ' दोष शब्द की अपनी समर्थता पर निर्भर है। कभी-कभी शब्द आवश्यक अर्थ देने में समर्थ नहीं होते। यहाँ प्रयोग का क्षेत्र नहीं, शब्द की सामर्थ्य देखी जाती है। किसी-किसी ने इसे 'वाचल' बताया है और परिभाषा में कहा है कि जहाँ लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त किसी दूसरे अर्थ के लिए भी मन दौड़े—जैसे 'प्रति राम हरी चुरियाँ खनकें।' पर इस वाक्य में 'समास' का दोष विशेष है, उतना सामर्थ्य का नहीं। निहतार्थ में शब्दों के ऐसे प्रयोग पर आपत्ति होती है जहाँ उसके कई अर्थ होते हों, पर प्रयोग उसका ऐसे अर्थ में हुआ हो जो प्रसिद्ध न हो। यहाँ पर शब्द प्रयोग के बाहर नहीं हुआ, पर उसमें जो दूसरा अर्थ है, जिसके लिए उसका प्रयोग किया गया है वह अप्रसिद्ध है, उससे लोग कम परिचित हैं उदाहरण के लिए शम्बर का अर्थ जल भी है और एक राक्षस का भी नाम है। यह शब्द 'असुर' के नाम के रूप में ही प्रसिद्ध है जल के रूप में नहीं, किन्तु इसे जल के लिए काम में लाया जाय तो, यह दोष होगा। अप्रयुक्त में तो वह अर्थ प्रयोग के बाहर हो चुका होता है, यहाँ वह प्रयोग में तो रहता है, पर कम। इसी से मिलता हुआ 'अप्रतीतार्थ' है। लोक-व्यवहार में शब्द प्रयोग में नहीं आरहा किन्तु उसका प्रयोग कर दिया जाय। यह शब्द अन्यत्र प्रचलित हो सकता है, विज्ञान, दर्शन अथवा अन्यत्र कहीं यह पारिभाषिक अथवा विशेषार्थक शब्द हो सकता है, पर लोक-व्यवहार में प्रचलित नहीं। जहाँ ऐसे शब्द का प्रयोग होगा, वहाँ अर्थ की प्रतीति में बाधा होगी ही। यह दोष प्रयोग के सीमित-और-विशेष-क्षेत्र के कारण होता है। उदाहरण के लिए 'आशय' शब्द 'मिथ्या-ज्ञान' के अर्थ में केवल योग-शास्त्र में आता है; साधारण काव्य में यह दोष हो जायगा। 'प्रसिद्ध त्याग' में शब्द अपना प्रसिद्ध अर्थ त्याग देता है, तब प्रयोग में आता है। यह प्रसिद्धि सापेक्षिक होती है, और अन्य किसी शब्द के अर्थ से संबंधित होती है। चिड़ियों के लिए चहकना उपयुक्त शब्द है, प्रसिद्ध है, कूजना मोरों के लिए उचित है, पर यदि चिड़ियों के लिए 'कूजना' कह दिया जाय तो शब्द प्रसिद्ध अर्थ को त्याग कर प्रसंग का अर्थ दे सकेगें, ऐसे स्थल पर ही यह दोष होगा।

अश्लीलत्व भी एक प्रधान दोष है। यह तीन प्रकार का हो सकता है, १ व्रीड़ा व्यंजक, २ घृणा व्यंजक और ३ अमंगल व्यंजक। व्रीड़ा व्यंजक अश्लीलता ऐसे शब्दों के प्रयोग से होती है जिनसे लज्जा हो। उदाहरणार्थ कहीं बादलों के लिए 'जीमूत' शब्द का प्रयोग किया गया हो तो व्रीड़ा का भाव उदय होता है। 'घृणा व्यंजक' वहाँ होगा जहाँ घृणा होगी 'मिचीं आँख पिय की निरखि वायु दीन तत्काल' इसमें 'वायु' से अधोवायु का भाव झलकने से घृणा होती है। इसी प्रकार कहीं अमंगल सूचक शब्द आ जाय तो वहाँ अमंगल व्यंजक अश्लीलता होती है। हतवृत्त में भी ध्यान देने योग्य दोष है। यह दोष वहाँ होता है जहाँ पिंगल आदि के नियमों का पालन होते हुए भी छन्द अथवा काव्य के पढ़ने में अथवा सुनने में कुछ खटक प्रतीत हो। यह दोष कभी-कभी कवियों को बहुत परेशान करता है, पिंगल की दृष्टि से उन्हें कोई दोष नहीं दीखता किन्तु उन्हें उसके समुचित प्रवाह में अवरोध और कठिनता प्रतीत होती है।

अच्छे कवि को 'अधिक पद' का दोष भी बचाना चाहिए। जहाँ एक शब्द से ही पूर्ण अर्थ प्रतीत हो जाता हो वहाँ उसका अथवा उसके अंश का उल्लेख व्यर्थ है, और दोष है। कहीं पर 'पुष्प पराग' कहा जाय तो दोष होगा, क्योंकि 'पुष्प' शब्द अधिक है। पराग से ह

गद्य-शैलियाँ

श्री मोहनलाल चेजारा बी० ए०

[प्रस्तुत लेख में शैली तथा शैलियों के विभाजन के साथ प्रमुख गद्य लेखकों की शैलियों का विवेचन किया गया है ।

—सम्पादक]

शैली—

साहित्य-सृजन के मूल में कलाकार के भावों और विचारों की प्रेरक शक्ति काम किया करती है । साहित्यकार युगद्रष्टा ऋषि की तरह इन भावों और विचारों को साध लेता है, पर उन्हें अपने तक ही सीमित नहीं रखता । वस्तुतः साहित्य इन भावों और विचारों का प्रतिफलन है । एक ओर वह व्यक्ति का आत्मबोध है और दूसरी ओर उसका आत्म-दान । उसके अन्दर कलाकार की प्रवृत्ति, प्रगति और अभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं । शैली वास्तव में कलाकार की इस प्रवृत्ति, प्रगति और अभिव्यक्ति की चेतना है । वह कलाकार के व्यक्तित्व (Personality) की परिचायक है । एक फ्रेंच विद्वान के शब्दों में शैली स्वयं व्यक्ति है—"Le Style c'est lhomme". (Style is the man) संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शैली कलाकार की अभिव्यंजनात्मक पद्धति है ।

शैली का भाषा और भाव दोनों से घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

उसका ज्ञान हो जाता है । अधिक पद दोष के समान ही 'अपुष्ट' दोष होता है । इसमें ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जाता है जिनके न होने से भी अर्थ में कोई बाधा नहीं पड़ती । 'अधिक पद' में तो प्रायः वह पद अपने अर्थ के साथ किसी दूसरे पद में विद्यमान रहता है, अपनी अनिवार्यता के कारण, जैसे 'पराग' में 'पुष्प' का 'अर्जुन' में 'पाण्डव' का । किन्तु 'अपुष्ट' में वह इस प्रकार गर्भित नहीं होता, फिर भी अर्थ के लिए आवश्यक नहीं होता । "उदित विपुल नभ मांहि ससि अरी ! छोड़ अब मान ।" मान छुड़ाने में चन्द्रमा ही सहायक है 'विपुल नभ' व्यर्थ है । इसी प्रकार कहीं कोई आवश्यक पद छूट जाने से न्यून पद दोष हो जाता है । "राज तिहारे खड्गते, प्रगट भयो यश फूल ।" खड्ग से फूल कैसे पैदा होगा, यश में फूल के रूपक के लिए खड्ग को लता मानना होगा । 'लता' के अभाव से दोष आ गया है । इसी प्रकार किसी शब्द की 'पुनरावृत्ति' भी काव्य में शैथिल्य पैदा करती है, 'जो तिय मोमन लै गई, कहाँ गई वह तीय ।' यहाँ 'तीय' की पुनरावृत्ति से कोई सौन्दर्य नहीं बढ़ता अतः 'कथितपद' या पुनरुक्ति दोष है ।

भग्न-प्रक्रम भी दोष है । इसे तीन प्रकार का माना जा सकता है : एक विधि अनुकूल प्रयोग न होना : विधि से जहाँ शब्द का एक रूप आना आवश्यक हो वहाँ दूसरा प्रयोग किया जाय—"जहाँ मीन तुम बसत है, ताही पै किन जात", यहाँ 'जहाँ' के लिए नित्य सम्बन्धी 'तहाँ' का प्रयोग विधि अनुकूल होगा, स्थान का ही बोध यहाँ उचित है, अतः सर्वनाम 'ता' विधि प्रतिकूल है । 'तहाँ क्यों न तू जात' ऐसा चरण ठीक होगा । दूसरा जहाँ यथाक्रम वर्णन नहीं यह 'अक्रम' दोष भी कहा जाता है । तीसरे जहाँ 'समान वचन' नहीं—"तू हरि की अँखियाँ बसी, कान्ह बसे तुम नैन" यहाँ 'अँखियाँ' के समान 'नैन' नहीं, या तो दोनों स्थानों पर 'नैन' होना चाहिए, या 'आँखें' ही ; तभी अर्थ का सौन्दर्य प्रतीत होता है ।

उपसंहार—

इस प्रकार इस दोष-विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि काव्य में दोष से बचने में सचेत रहना चाहिये । दोषों की संख्या बँधी हुई नहीं हो सकती; जहाँ भी अर्थ ग्रहण में शब्द के अनुचित अथवा व्यर्थ प्रयोग से, अथवा जटिल, व्याकरण विरुद्ध अथवा संदिग्ध वाक्य रचना से, या अर्थ के उत्कर्षापकर्ष या विधि-विहितत्व से, अथवा 'रस' के यथार्थ परिपाक में बाधा या विरोध से काव्य और उसके सौन्दर्य को भली प्रकार हृदयंगम न किया जा सके वहाँ दोष होंगे, और ये दोष अगणित हो सकते हैं ।

यदि भाषा को भावों और विचारों का शरीर कहें तो शैली को उस शरीर का संगठन कहा जा सकता है। इसलिए शैली पर विचार करते समय लेखक के भावों और विचारों का अध्ययन करने के साथ, उसकी भाषा से सम्बन्धित शब्द-योजना, वाक्य-विन्यास एवं अलंकार-विधान पर भी विचार कर लेना चाहिए।

शैली का विधान—

सजीव शब्द-योजना से लेखन-शक्ति की पुष्टता का परिचय मिलता है। शास्त्रीय आचार्यों ने शब्दों के विवेचन में उनकी शक्ति, गुण और वृत्ति की ओर ध्यान रखना आवश्यक माना है। शब्दों की तीन शक्तियाँ अभिधा, लक्षणा और व्यंजना मानी गई हैं। माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन शब्दों के गुण माने गए हैं। इन गुणों की उत्पत्ति के लिए शब्दों की बनावट के भी तीन प्रकार कहे गए हैं, जिन्हें वृत्तियाँ कहते हैं—मधुरा, परुषा और प्रौढ़ा। इन गुणों को प्रगट करने वाली तीन रीतियाँ भी मानी गई हैं—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली।

वाक्य-योजना का महत्व भाषा की प्रौढ़ता के कारण है। वाक्य विन्यास जितना सुन्दर, सबल और क्रमपूर्ण होता है, भाषा उतनी ही पुष्ट और प्रौढ़ होती जाती है। शैली की दृष्टि से साहित्य के अन्दर वाक्यों के व्यास-प्रधान और समास-प्रधान दो भेद किए जा सकते हैं। समास-शैली में संक्षिप्तता और व्यास-शैली में व्यापकता को—अभीष्ट अर्थ को संक्षेप या विस्तार में कहने को, मान्यता दी जाती है।

अलंकार विधान में भाषा को अलंकारों से सजाने की ओर ध्यान दिया जाता है। आवश्यकतानुसार भाषा के लिए अलंकार लिए जाने चाहिए, पर भाषा केवल अलंकारों का अजायबघर न बने, इस ओर लेखक को समुचित ध्यान रखना आवश्यक है।

शैली और युग—

शैली युग की विचार-धाराओं से भी प्रभावित होती है। भारतेन्दु-युग के लेखकों की शैली में सामाजिक और सांस्कृतिक सुधार की भावनाएँ हिलोरें मार रही हैं। जीवन के प्रति विनोदमय दृष्टि और पाश्चात्य सभ्यता के प्रति व्यंग की भावना भी उसमें मिलती है। इस प्रकार शैली में युग-विशेष की परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ, लेखक के व्यक्तित्व के साथ ही साथ मुखरित हो उठती है। (भारत-वर्ष में शैलियों का विभाजन देश के अनुकूल किया गया है किन्तु वे वास्तव में रचना के ही भेद हैं।)

शैली के प्रकार—

भाव-प्रकाशन की दृष्टि से शैली के हम कई भेद कर सकते हैं। यथा—

१—परिचयात्मक

२—विवेचनात्मक

३—भावात्मक

४—विचारात्मक

५—आलोचनात्मक

६—गवेषणात्मक

वास्तव में यह शैलियों का कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं है। एक ही लेखक की शैली कई रूपों को आत्मसात् किए रहती है, पर अधिकतर विषय का प्रतिपादन या भावों का प्रकाशन करते समय लेखक इन शैलियों में से किसी न किसी रूप को अपनाता अवश्य है। परिचयात्मक शैली वह है जिसमें लेखक अपने विषय पर सरल और सुबोध ढङ्ग से प्रकाश डालता है। यहाँ न तो भावों में ही क्लिष्टता आती है और न विषय ही दुरूह होने पाता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी का वह गद्य-साहित्य, जिसके अन्दर उन्होंने उन विषयों पर प्रकाश डाला है, जिस पर पहले हिन्दी के लेखक और पाठक ध्यान नहीं देते थे, इसी सुबोध परिचयात्मक शैली में लिखा गया है।

विवेचनात्मक शैली परिचयात्मक शैली से कहीं अधिक गम्भीर होती है। यहाँ लेखक अपने विषय का केवल परिचय ही नहीं देता, वरन् उसका विवेचन भी करता है। विवेचना की प्रणाली में वह व्यास-प्रधान शैली को अपना लेता है। इस प्रकार अर्थ का विस्तार के साथ उद्घाटन किया जाता है। बाबू गुलाबराय और सरदार पूर्णसिंह की शैलियाँ जहाँ एक ओर काव्य की स्निग्ध सुषमा से मंडित हैं, वहाँ दूसरी ओर तर्क की मंजिल पर विवेचना भी करती जाती हैं, यद्यपि पूर्णसिंह में भावुकता

प्रधान एवं तीव्रता गौण है, और बाबूजी में भावुकता गौण तथा तार्किकता प्रधान है।

हृदयपक्ष और मस्तिष्क पक्ष की प्रधानता के आधार पर शैलियों के दो भेद भावात्मक और विचारात्मक किए गए हैं। भावात्मक शैली का सम्बन्ध व्यक्ति के रागात्मक तत्वों से हैं और विचारात्मक शैली का सम्बन्ध उसके प्रज्ञात्मक तत्वों से है। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' के निबन्ध मूलतः और पूर्णतः भावात्मक हैं। वहाँ काव्यात्मक भाषा में कल्पना के रङ्ग विरङ्गे स्वप्न संजोए गए हैं। महाराजकुमार रघुवीरसिंह की शैली में भी भावात्मकता का वह स्वरूप मिलता है, जिसे विक्षेप-शैली कह सकते हैं। भाव एक दूसरे को झटके देते हुए चलते हैं; वीणा की स्वर-लहरी की तरह सारे भाव वहाँ झंकृत हो उठते हैं। भाषा में माधुर्य आ जाता है, और स्वर में सुकुमारता।

विचारात्मक शैली विवेचनात्मक शैली से अपेक्षाकृत गम्भीर होती है। मस्तिष्क प्रधान होने के कारण यहाँ बुद्धि-तत्व को प्रधानता दी जाती है। भाषा में ओज आ जाता है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्ध अधिकतर विचारात्मक शैली में लिखे गए हैं। उनकी शैली में बौद्धिक चिंतन और शास्त्रीय विवेचन मिलता है, भावुकता का पल्ला वहाँ पीछे छूट गया है। शुक्लजी की शैली में जहाँ गुम्फन है, वहाँ द्विवेदीजी की शैली में विशद व्यापकता।

आलोचनात्मक और गवेषणात्मक शैलीकारों में महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास और पं० रामचन्द्र शुक्ल के नाम उल्लेखनीय हैं। इस शैली में भाषा दुरूह और गम्भीर हो जाती है। रेखागणित की तरह शैली का तार्किक रूप उभर कर सामने आता है। इस शैली में वैज्ञानिकता के दर्शन होते हैं। नवीन वर्ग के लेखकों में इस शैली को अपनाने वालों में मुख्य हैं सत्येन्द्रजी, नगेन्द्रजी, डा० रामविलास, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त और पं० नन्ददुलारे वाजपेयी।

हिन्दी गद्य में शैली का विकास—

भारतेन्दु युग आधुनिक हिन्दी का निर्माण-काल है। पर भारतेन्दुजी से पहले ही गद्य की विभिन्न शैलियों के रूप-निर्माण होने लगे थे, पर उनमें अभी बल नहीं आ पाया था। गद्य और शैली के विकास की दृष्टि से भारतेन्दु जी का पूर्व-युग अव्यवस्था का युग है। किसी भी साहित्य का आरम्भिक युग संक्राँति-काल होता है। नवीन और प्राचीन विचार-सरणियाँ यहाँ आकर मिलती हैं और उनकी प्रतिक्रिया साहित्य में होती है। गद्य शैली के विकाश-क्रम के नाते इस आरंभिक युग के चार लेखक हमारे सामने आते हैं—मुन्शी सदासुखलाल, इंशाअल्लाखाँ, लल्लूजीलाल और सदल मिश्र।

मुन्शीजी के नाम से 'सुखसागर' नाम की कृति प्रसिद्ध है। पर यह सन्देह किया जाता है कि वास्तव में यह पुस्तक उनकी ही रचना है या अन्य किसी की। मुन्शीजी दिल्ली के रहने वाले थे और उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों को विशेष रूप से अपनाया गया है। भाषा में कथावाचकों के ढङ्ग का पंडिताऊपन मिलता है। मुन्शीजी एक भगवद्भक्त प्राणी थे—सरल और शाँत।

इंशाअल्लाखाँ की भाषा सदासुखलालजी की भाषा से अधिक सजीव है। मुन्शीजी कथा का रूप लेकर चले थे, खाँसाहब कहानी का रूप। 'रानी केतकी की कहानी' खाँसाहब की जबर्दस्त जिन्दादिली का परिणाम है। नबाब सआदतअली खाँ की दरबारी शान-शौकत और नजाकत-नफ़ासत में पली यह कहानी अपने लखनवी ओज से हिन्दी-पाठकों का मन आज भी मोह लेती है। मुन्शीजी की रचना में जहाँ संस्कृत के तत्सम शब्द मिलते हैं, वहाँ खाँ साहेब की कहानी में हिन्दी के तद्भव शब्द। अपनी कहानी के प्रारम्भ में ही इंशाअल्ला खाँ ने स्पष्ट कर दिया था कि 'हिन्दवी छूट और किसी बोली का पुट' वे अपनी रचना में नहीं देना चाहते। बड़ी सतर्कता से उन्होंने अपनी बात रखी।

वाक्य-विलास उर्दू के ढङ्ग पर भी कहीं कहीं हुआ है—"सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनाने वाले के सामने जिसने हम सबको बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया जिसका भेद किसी ने न पाया।"

सारी पुस्तक में 'घरेलू भाषा की सी एक मिठास

मिलती है। ब्रज भाषा की विभक्तियों और क्रियापदों का प्रयोग भी लेखक ने किया है। भाषा चमत्कार पूर्ण है। विषय की उद्‌भाविनी-शक्ति की दृष्टि से यह हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी है—प्रथम गद्य-रचना है।

लल्लूजीलाल आगरे के निवासी थे और 'प्रेमसागर' के रचयिता। इनकी भाषा में ब्रजभाषापन मिलता है। भाषा शिथिल और कथावार्ताओं की कोटि में ही आने योग्य है। लल्लूजी लाल ने ब्रजभाषा की ओकारान्त पद्धति को तो नहीं अपनाया पर पूर्वकालिक क्रियाओं के रूप, संकेतवाचक सर्वनामों के रूप, संज्ञाओं के बहुवचन ब्रजभाषा के नियमों से ही शासित हैं। उदाहरणतः—

"ऐसे वे दोनों प्रिय प्यारी बतराय पुनि प्रीति बढ़ाय अनेक प्रकार से काम कलोल करने लगे और बिरही की पीर हरते।"

लल्लूजीलाल और सदल मिश्र फोर्ट विलियम कॉलेज, कलकत्ता में हिन्दी के अध्यापक थे। पर दोनों की भाषा शैलियों में गहन अन्तर है। मिश्रजी की शैली अधिक व्यावहारिक और चलती हुई है। ये आरा (बिहार) के रहने वाले थे, अतः स्वभावतः इनकी भाषा पर पूर्वीपन का प्रभाव परिलक्षित होता है। शब्द भंडार इनका लल्लूजी लालसे अधिक विशद है। अरबी-फारसी के चलते शब्दों को भी अपना लिया गया है। भाषा यद्यपि इनकी भी व्यवस्थित नहीं, पर विकास-क्रम में गद्य शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से इंशा के बाद इनका ही नम्बर आता है और इसके वे उचित अधिकारी भी हैं। इनका 'नासिकेतोपाख्यान' आख्यायिका के कौतूहल और रोचकता को अन्तर तक बनाए रखता है।

भारतेन्दुजी से पहले इसी विकास-क्रम में दो नाम और आते हैं। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' और राजा लक्ष्मणसिंह का। सितारे हिन्द शिक्षा-विभाग में निरीक्षक (Inspector) के पद पर नियुक्त थे। शिक्षण पद्धति अत्यन्त ही अनियंत्रित थी। उनके सामने प्रश्न था, किस प्रकार की भाषा में पाठ्य पुस्तकें तैयार करायी जावें। इसलिए उन्होंने यह उद्योग किया कि लिपि नागरी रहे और भाषा बोलचाल की। हिन्दी और उर्दू का सामान्य स्वरूप। लोकनीति को अपनाने के कारण उनकी स्वयं की भाषा भी उर्दू की ओर झुक गई। इस शैली में और उनकी उस आरंभिक शैली में, जिसके ऊपर उनका 'राजा भोज का सपना' सुरक्षित है, बड़ा अन्तर है। सपने की शैली संस्कृत के तत्सम शब्दों से अलंकृत है, पर यह शैली आगे चलकर एक सपना ही बन गई।

इस शैली की प्रतिक्रिया हुई राजा लक्ष्मण सिंह में, जो भाषा के सम्बन्ध में संस्कृत की विशुद्ध परिपाटी के समर्थकों में से थे। उनके 'शकुन्तला' और 'रघुवंश' के अनुवाद इस शैली के परिचायक हैं। सितारे हिन्द के 'बनारस अखबार' की प्रतिद्वंद्विता में उनका पत्र 'प्रजा हितैषी' भी इसी उद्देश्य से हिन्दी जगत के सामने आया। उनके विचार से 'हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी' हैं, और दोनों का सम्बन्ध इस प्रकार या किसी भी प्रकार नहीं हो सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु युग के प्रस्तावना-काल के लेखकों की गद्य-शैलियाँ पुष्ट नहीं हो पाई थीं। गद्य के क्षेत्र में सर्वत्र एक विचित्र प्रकार की अराजकता थी। भाषा का परिमार्जन अभी अपेक्षित था, व्याकरण के अनुशासन की आवश्यकता थी। शब्दों और क्रियाओं के रूप व्यवस्थित नहीं हो पाए थे। भारतेन्दु-युग ने गद्य के इस अभाव की पूर्ति करने का प्रयत्न किया।

भारतेन्दुजी के विषय में कहा जाता है—'भारतेन्दु कर गए भारत की वीणा निर्माण'। उनके समय तक गद्य में दो प्रधान शैलियाँ थीं—एक सितारे हिन्द की, दूसरी राजा लक्ष्मणसिंह की। भारतेन्दु बाबू ने मध्य का मार्ग ग्रहण किया। 'भाषा का यह निखरा हुआ शिष्ट सम्मान रूप भारतेन्दु की कला के साथ प्रकट हुआ'। इस मध्यस्थ मार्ग का अनुकरण करने के कारण जहाँ उनकी शैली में एक ओर उर्दू के चलते हुए शब्द आ गए हैं, वहाँ दूसरी ओर संस्कृत के कठिन और क्लिस्ट शब्दों का भी बहिष्कार हो गया है। हिन्दी के तद्भव शब्दों का प्रयोग उन्होंने प्रचुर मात्रा में किया। भाषा के इस परिमार्जन में सदासुखलाल का पंडिताऊपन, इंशाअल्ला का चुलबुलापन, लल्लूलाल का ब्रजभाषापन और सदल-

मिश्र का पूर्वीपन भी संशोधित हो गए हैं।

भारतेन्दु जी की गद्य शैली इस प्रकार सामंजस्य की भावना से स्नात हो उठी। उसकी गति तीव्र हो उठी। मुहाविरों और लोकोक्तियों से उनकी भाषा रंगी पड़ी है। भाव-अभिव्यंजना में उनसे शक्ति और प्रवाह आगया है। प्रताप नारायण मिश्र की शैली में तो ग्रामीणता की झलक भी मिलती है, पर भारतेन्दु जी की शैली विशिष्ट नागरिक रुचि का परिचय देती है।

भारतेन्दु जी की भाषा में कहीं कहीं पंडिताऊपन के भी चिन्ह दृष्टि में आजाते हैं। व्याकरण की त्रुटियाँ भी रह गई हैं। भाषा का स्वरूप स्थिर उन्होंने अवश्य किया, पर वह गतिशील आगे चलकर ही हुआ।

भारतेन्दुजी के विषयों का चयन अत्यन्त व्यापक था उन्होंने साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, आदि सभी विषयों पर अपनी लेखनी दौड़ाई है। अतः इनके गद्य में विषयानुसार परिचयात्मक, भावात्मक, विवेचनात्मक तीनों प्रकार की शैलियाँ मिलती हैं। परिचयात्मक शैली में लेखक की विनोदी और सक्रिय साहित्यिक मनोवृत्ति प्रतिबिम्बित हो उठी है। यहाँ हास्य और व्यंग्य का पुट वे सर्वत्र देते चलते हैं। भावात्मक गद्य-खण्डों में भारतेन्दु जी के हृदय की कोमलता तरल हो उठी है। भारत-दुर्दशा या प्रेम के उल्लास पर भावों का जो उफान उठा है, वह शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण बन सका है। विवेचनात्मक शैली में गंभीरता लाने का प्रयत्न लेखक ने किया है, पर व्यक्तित्व की बिनोदी छाप वहाँ से हट सकने में असमर्थ है। विवेचना के इतिवृत्त पर लेखक ने सजीवता को स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

भारतेन्दु बाबू ने गद्य शैली को 'अनिश्चितता के कर्दम से निकाल कर एक निश्चित दशा में रखा।' गद्य को प्रेरक शक्ति मिल चुकी थी, उसका विकास अबाध्य गति से होने लगा। पं० बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, पं० बदरी नारायण चौधरी, ठा० जगमोहन सिंह, श्री निवास दास आदि लेखकों ने गद्य-निर्माण का कार्य स्फूर्ति से करना आरम्भ कर दिया। शैली का स्वरूप अभी स्थिर नहीं हो पाया था। भावात्मक शैली को कृत्रिमता कुंठित किए हुए थी। मानसिक विभ्रमता पर भावना के आदर्श खड़े किए गए। भाषा का परिष्कार-कार्य द्विवेदी युग में हुआ। भारतेन्दु-काल की भाषा में शब्दों के अशुद्ध रूप, जैसे मुझै, जिस्से, इन्हें मिलते हैं। ब्रजभाषा के प्रयोगों ने भी खड़ी बोली को आक्रान्त कर रखा था। इस युग के लेखकों ने प्रान्तीय बोलियों से भी शब्दों का चयन किया। यह शब्द चयन कहीं-कहीं ग्रामीणता की कोटि तक भी पहुँच गया है। क्रियाओं के रूपों में भी परिमार्जन की आवश्यकता बनी रही। लेखकों ने कई स्थलों पर अँग्रेजी में ही विचार किया है और फिर अपने भावों तथा विचारों को हिन्दी में रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया है। यह क्रिया कहीं-कहीं अत्यन्त अस्वाभाविक हो गई है। 'छवि और चित्रों की झांकियाँ' [illegible] Touch के लिए एक शब्द '[illegible]' [illegible] अनुपयुक्त है पर शैली के [illegible] इस प्रभावशालिता [illegible] तीव्र अभिव्यक्ति हुई है। Intuitive Perception के लिए 'स्वाभाविक बोध' का प्रयोग सहज और सुन्दर है। शब्दों के चयन में स्वच्छंदता दिखाई पड़ती है। शब्द ग्रहण में संस्कृत के प्रति श्रद्धा का भाव 'अंग्रेजी' के प्रति आवश्यकता का और उर्दू के प्रति व्यंग्य और विनोद के भाव दिखाई पड़ते हैं।

द्विवेदी-युग में आकर भारतेन्दु-युग की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ अपने चरम विकास में मुखरित हो उठीं। भारतेन्दु काल के लेखकों का लक्ष्य हिन्दी और हिन्दी साहित्य का अस्तित्व स्थापित करना था, दूसरे जनता को साहित्य की ओर आकृष्ट करना। इसलिए इनकी शैली में परिचयात्मक सुबोधता परिलक्षित होती है। द्विवेदी युग में इस शैली की अभिव्यंजनात्मकता को तीव्रता मिली। भाषा, भाव और विचारों को इस युग में आकर परिष्कार मिला। परिमार्जन का यह श्रेय आचार्य द्विवेदीजी को मिलता है।

इस युग की चार प्रधान शैलियाँ मिलती हैं—परिचयात्मक, भावात्मक, आलोचनात्मक और गवेषणात्मक। द्विवेदीजी की कई रचनाओं में परिचयात्मक शैली का स्वरूप सुरक्षित है। साधारण जनता को हिन्दी की ओर उन्मुख करने के लिए उन्होंने हास्य और व्यंग्य से स्मित

[शेष ३१३ पृष्ठ पर]

3148

साकेत

श्री प्रेमनारायन टण्डन एम० ए०

कथानक की मौलिकता—

श्रीरामचन्द्र की कथा वाल्मीकि, तुलसीदास आदि कवियों द्वारा महाकाव्यों के लिए पूर्णतः तथा अन्य अनेक साहित्यकारों द्वारा नाटकों अथवा खण्डकाव्यों के लिए अंशतः अपनाई जा चुकी है। इसी पिष्टपेषित विषय को 'साकेत' के लिए अपनाते समय इसके कवि को विशेष रूप से सतर्क रहना पड़ा। मौलिकता, विषय की नवीनता में नहीं, उसे नवीन दृष्टिकोण से देखने तथा उसके प्रतिपादन में है। इस दृष्टि से गुप्तजी 'साकेत'-कथा-संगठन में कई अंशों में मौलिक कहे जा सकते हैं। इस महाकाव्य की रचना करते समय वाल्मीकि का तो नहीं, परन्तु तुलसी का ख्याति-प्राप्त ग्रन्थ बराबर कवि की अन्तर्दृष्टि के सामने इस उद्देश्य से रहा है कि इस नवीन कृति में रामकथा के पूर्वप्रतिपादित अंश न आ सकें। यही कारण है कि 'साकेत' में कवि ने प्रायः वे ही स्थल चुने हैं जिनका वर्णन तुलसी ने 'मानस' में बड़े चलताऊ ढङ्ग से—कारण इसका कुछ भी हो—किया है। तुलसी-द्वारा वर्णित कथा भी जहाँ साकेतकार ने अपनाई है, वहाँ भी उन्होंने प्रसङ्ग को नये दृष्टिकोण से देखा—समझा है। इस महाकाव्य के सभी सर्गों में कवि की मौलिक उद्भावनाएँ देखने को मिलती हैं। प्रथम सर्ग का उर्मिला-लक्ष्मण-प्रेम-सम्वाद, षष्ठ सर्ग का उर्मिला-चिन्तन, नवम का उर्मिला-विरह-वर्णन, दशम का उर्मिला का सर्व स्मृति-चित्रण, एकादश का भरत-माण्डवी-सम्वाद आदि प्रसङ्ग तुलसी के पाठकों के लिए नितान्त नवीन हैं। इनके अतिरिक्त, द्वितीय सर्ग का कैकयी-मन्थरा संवाद, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम का राम-वन-गमन-प्रसङ्ग, सप्तम का भरतागमन, अष्टम की चित्रकूट-सभा का दृश्य, द्वादश का युद्ध-वर्णन आदि ऐसे विषय हैं जिन्हें कवि ने नए ढङ्ग से देखा और चित्रित किया है।

कथा-वस्तु-सम्बन्धी यह विशेषता या नवीनता हम प्रायः तीन बातों में देखते हैं। कभी तो गुप्तजी ने कथा में कुछ नये प्रसङ्गों की उद्भावना की है, कभी कथा के उपेक्षित प्रसङ्गों का सविस्तार वर्णन किया है और कभी पूर्व कवियों द्वारा वर्णित विषयों को मनोवैज्ञानिकता, स्वाभाविकता और सामायिकता के आधार पर नए दृष्टिकोण से देखा है। पूर्व कवियों द्वारा उपेक्षित अथवा लांछित पात्रों—उर्मिला, कैकेयी, मांडवी, श्रुतिकीर्ति, शत्रुघ्न आदि—के साथ गहरी सहानुभूति रखने के फलस्वरूप उसने नये प्रसङ्गों की कल्पना की है और अनेक कवियों द्वारा पूर्वप्रतिपादित विषय को नया रूप देने के लिए कथा को निजी दृष्टिकोण से देखा है। इसी कारण 'साकेत' की प्रायः सारी कथा को बिलकुल नए रूप में पाठकों के सामने रख सकने में कवि पूर्णतः सफल हुआ है और यही विशेषता काव्य-कला-विषयक अन्य अंगों की सफलता के मूल में है।

दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखनी चाहिए कि साकेतकार ने वाल्मीकि अथवा तुलसी—जैसे महाकवियों का अनुकरण करके राम की सीधी-सादी जीवन-कथा न लेकर गीतकाव्योपयोगी मार्मिक और हृदयस्पर्शी स्थल ही चुन लिए हैं तथा उनका प्रतिपादन प्रायः सर्वत्र स्वतंत्र और मौलिक रूप में किया है।

नामकरण—

प्रस्तुत महाकाव्य का नाम इस दृष्टि से सार्थक और उपयुक्त है कि कथानक का जन्म, विकास, उतार और अन्त साकेत में ही होता है। केवल मध्य भाग का सम्बन्ध चित्रकूट से है; परन्तु 'संप्रति साकेत—समाज वहीं पर सारा' कह कर कवि ने इस कमी की पूर्ति करली है। जितनी कथा का सम्बन्ध उर्मिला से है वह तो हमें साकेत में ज्ञात होती ही है, शेष प्रसङ्ग भी जिनका सम्बन्ध सीधा उर्मिला से नहीं है—यथा सूर्यवंश की कीर्ति, राम-जन्म, बाल-लीला, ताड़का-वध, वाटिका में प्रथम दर्शन, धनुष-यज्ञ, विवाह, अभिषेक-सूचना, कैकेयी-मन्थरा सम्वाद, राम-वन-गमन, शूर्पणखा-प्रसंग, खर दूषण-वध, सीता-हरण

सेतु-बन्धन, युद्धारम्भ, लक्ष्मण-शक्ति, मेघनाद-रावण-वध और युद्धांत आदि—साकेत में रह कर ही हमें विस्तृत अथवा संकेत रूप में ज्ञात हो जाते है। वनगमन के पूर्व की घटनाएँ दशम सर्ग में ऊर्मिला द्वारा और पश्चात की एकादश में शत्रुघ्न तथा हनूमान द्वारा ज्ञात होती हैं और युद्धांत का दृश्य अन्तिम सर्ग में मुनिवर वशिष्ठ की कृपा से प्राप्त योगदृष्टि से हमें देखने को मिल जाता है।

'साकेत' नाम को अनुपयुक्त इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'साकेत' शब्द से महाकाव्य की कथा के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। महाराज दशरथ अथवा श्रीरामचन्द्रजी के राजकाल में साकेत के सुख-सौभाग्य को यदि कवि ने महाकाव्य का विषय बनाया होता, तो भी यह नाम उपयुक्त कहा जा सकता था, परन्तु कवि इसकी रचना में प्रवृत्त हुआ था वस्तुतः उर्मिला-विरह-वर्णन की चाह से। अतः यदि नामकरण इसी रुचि का द्योतक किया गया होता—जैसा 'उर्मिला-उत्ताप' शीर्षक देकर आरम्भ में कवि ने विचारा भी था—तो उसकी एकांगिता रचयिता की मनोरथ-सिद्धि में बाधक सिद्ध हो सकती थी।

'साकेत' नाम रखने की प्रेरणा गुप्तजी को सम्भवतः बङ्गकवि श्री नवीनचन्द सेन से मिली जिन्होंने घटना-स्थान को ही अपनी रचनाओं के शीर्षक-रूप में चुना है, यथा 'पलाशी का युद्ध', 'कुरुक्षेत्र' प्रथम रचना का गुप्त जी अनुवाद भी कर चुके थे। अतएव अपने महाकाव्य को 'साकेत' संज्ञा देकर गुप्त जी ने इसको सार्थक बनाने का कविजनोचित प्रयास किया है और इसमें वे सफल भी हुए हैं।

छन्द—

महाकाव्य के लक्षणों ने एक सर्ग में एक ही छन्द रखने और अन्त में छन्द-परिवर्तन कर देने का आदेश दिया है। अष्टम और नवम सर्गों को छोड़ कर प्रायः सभी में गुप्तजी ने इस नियम का पालन किया है। इस सम्बन्ध

(पृष्ठ ३११ का शेषांश)

परिचयात्मक शैली को अपनाया।

भावात्मक शैली हरिऔध, बाबू गुलाबराय, सरदार पूर्णसिंह, प्रभृति लेखकों में मिलती है। आलोचनात्मक और गवेषणात्मक शैली का विकास इस युग में अत्यन्त गति से हुआ। भाषा यहाँ अधिक व्यवस्थित और गम्भीर हो गई है। वाक्यों के गठन में बल आ गया है। भाषा-व्यंजना भी दुरूह और गुम्फित हो गई है। द्विवेदीजी की रचनाओं में इन शैलियों का सबसे पहले दर्शन होता है आगे चलकर बाबू श्यामसुन्दरदास और पंडित रामचन्द्र शुक्ल में इन शैलियों ने अधिक-विकास पाया। बाबू श्यामसुन्दर की शैली में अध्ययन और अभ्यास का मेल है। हिन्दी को कालिजीय शिक्षा के योग्य लाने के लिए उन्होंने विवेचना के स्तर को ऊँचा उठाने का परिश्रम किया। शुक्लजी की गहराई तो उनमें नहीं है, पर आत्म-उल्लास और आत्म-विश्वास के भाव दृढ़ता के साथ उनमें व्यक्त होते हैं। द्विवेदी-काल के वर्ग में शुक्लजी ही ऐसे व्यक्ति थे, जिनका व्यक्तित्व मौलिक, अध्ययनशील और स्वतन्त्र कहा जा सकता है। इनकी रमणीयता कम, यथार्थता अधिक है। आलोच्य विषयों का प्रतिपादन बड़े ही वैज्ञानिक ढङ्ग से हुआ है। क्लिष्ट विषयों की विवेचना करते समय वे 'सारांश यह है', 'तात्पर्य यह है' कह कर समझाते चलते हैं। इस प्रकार शैली के विश्लेषणात्मक और व्याख्यात्मक दोनों रूप देखने को मिलते हैं। शुक्लजी की भाषा कसी हुई है। 'पर भाषा का परिष्कार शुक्लजी' का बाबू साहब जितना नहीं। द्विवेदीजी के लेखकों की शैली की एक सामान्य विशेषता उसकी इति वृत्तात्मकता है। लेखक का व्यक्तित्व इसकी रचनाओं में प्रतिध्वनित नहीं हो पाता। शुक्लजी ही एक ऐसे अपवाद हैं, जिनकी शैली में उनका व्यक्तित्व झाँकता है।

भारतेन्दु युग ने हिन्दी की गद्य-शैलियों को दिशा दी, द्विवेदी युग ने गति और वर्तमान युग ने शक्ति और विकास। इस युग में आकर गद्य की शक्ति अपनी तीव्रता के साथ व्यक्त हो उठी। आवश्यकतानुसार साहित्य के अङ्गों और उपाङ्गों का विकास स्वतः होने लगता है। हमारा साहित्य इसी आवश्यकता के भाव को लेकर आज व्यापक और विशाद होने का प्रयत्न कर रहा है।

में खटकने वाली बात है छन्द-चयन। विषय और स्थिति के अनुकूल छन्द अपनाने का निर्देश भी साहित्य-शास्त्र में हैं; परन्तु साकेतकार ने एकादश और द्वादश के अतिरिक्त प्रायः सभी सर्गों में ऐसे छोटे छन्द चुने हैं जो कभी-कभी, विशेष रूप से करुण-रस-वर्णन में कथा की गति के साथ नहीं चल पाते—अपनी चपलता प्रदर्शित करते हुए कभी आगे बढ़ जाते हैं और कभी पीछे रह जाते हैं। अन्य स्थलों पर भी भाव-गांभीर्य वहन करने में ये असमर्थ-से रहते हैं। 'साकेत' का सबसे बड़ा सर्ग है नवाँ और इसके प्रायः प्रत्येक पृष्ठ में तीन-तीन चार-चार छन्द हैं। इस सर्ग में छन्दों की अधिकता सोद्देश्य है। विरहिणी उर्मिला की भाव-व्यञ्जना इस सर्ग का विषय है: परन्तु मानसिक स्थिति पर जब उसका अधिकार ही नहीं है तब विचारों की तारतम्यता की कैसे आशा की जा सकती है? अतः प्रति क्षण भावों और तदनुरूप विषयों की परिवर्तनशीलता के फलस्वरूप इस सर्ग में छन्द-परिवर्तन भी उचित माना जा सकता है; यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि विभिन्न छन्दों में अनेकानेक उक्तियों के संग्रह मात्र से कहीं कहीं इस सर्ग से मुक्तक काव्य होने का भी भ्रम हो जाता है।

रस—

शृङ्गार, करुण और वीर तीन रस ही इस काव्य में प्रधान हैं, रौद्र बीभत्स आदि अप्रधान। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों अङ्गों का वर्णन कवि ने किया है और दोनों में उसे सफलता मिली है। उपेक्षिता उर्मिला की मनोव्यथा व्यक्त करना रचना का प्रधान उद्देश्य रहने के कारण कवि ने अपना समस्त काव्य-कौशल इसी विषय की व्यञ्जना में लगा दिया है और इसके लिए महाकाव्य के लगभग एक तिहाई भाग की कवि को आवश्यकता हुई है। विरह-वर्णन की नवीनतम लोकप्रिय प्रणाली पर दृष्टि रखते हुए भी गुप्तजी ने प्राचीन ऊहात्मक पद्धति ही प्रधानतः अपनायी है। विरहजनित शारीरिक कृशता से आरम्भ करके पूर्व घटनाओं की स्मृति; प्रियतम के हार्दिक और मानसिक सुख-दुख की चिन्ता, तथा प्रिय-गुण-कथन का सुचाव चर्चा करते करते विरहिणी का क्रमशः उन्मादिनी होते जाना और अनेक प्रकार से, कभी सचेत और कभी अचेत-सी रह कर उद्विग्नता और व्यथा की व्यञ्जना करना 'साकेत' में विप्रलंभ शृङ्गार के अन्तर्गत ये ही प्रधान विषय हैं।

संयोग शृंगार के सुरुचिपूर्ण वर्णन प्रथम, अष्टम और अन्तिम तीन सर्गों में मिलते हैं। अष्टम सर्ग के आरम्भ में राम-सीता के वन्य जीवन के संयोग-पक्ष का एक दृश्य दिखाया गया है जिसमें विनोदपूर्ण एकान्त वार्तालाप दोनों को रसमय कर देता है। राम सीता कवि के आराध्य देव-देवी हैं। अतः उनकी प्रेम-चर्चा करते समय उसे मर्यादा का सर्वत्र ध्यान रखना पड़ा है। पूर्ण स्वतन्त्र वह है लक्ष्मण-उर्मिला-प्रेम-वर्णन में; क्योंकि इन्हें वह काव्य के नायक-नायिका के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता है। प्रथम सर्ग में उर्मिला पूर्ण युवती है और लक्ष्मण स्वस्थ-सुन्दर युवक। प्रगाढ़ परिरंभण और तीक्ष्ण अपांगों से अपने उल्लसित और आवेगपूर्ण प्रेम का परिचय देते और अपना-अपना प्राप्य लेते हुए जीवन के मधुर और सुनहरे दिन वे बिता रहे हैं। ऐसी मादक प्रमलीला का कवि चित्रण कर ही रहा था कि सहसा निष्ठुर बाधा पहुँचना, और वह बाधा भी कैसी कि प्रेम-मदमाती युवावस्था का सारा अमूल्य समय व्यतीत हो जाने पर ही जिससे छुटकारा मिलता है, विधाता का कठोर अभिशाप ही है! अष्टम सर्ग में इन दोनों का मिलन क्षणिक है; अतः 'न जाने कहना था क्या क्या' की चाह मन में रखते हुए भी दोनों कुछ कह नहीं पाते। अन्तिम दृश्य में बनवासी की भेंट के लिए फूलों की भेंट का प्रस्ताव सखी से करती-करती उर्मिला को प्राणपति के निकटतम पाकर 'कहाँ वे साँझ-सबेरे' की बात भूल, उस विरहिणी की चिरसाधना को सफल होते देख, पुलकित होकर पाठक भी अपने नेत्र मूँद लेता है।

करुण रस के मुख्य तीन स्थल इस काव्य में हैं—राम-बन-गवन, दशरथ-मरण और लक्ष्मण-शक्ति। प्रथम और द्वितीय प्रसंग तो राजपरिवार के साथ-साथ पुरजन-परिजन सभी को करुणा प्रवाह में निमग्न कर देते हैं; क्योंकि सभी का प्रत्यक्ष सम्बन्ध इस घटना से है। तृतीय

प्रसंग घटित तो होता है केवल राम के सामने ; परन्तु कवि ने कौशल से राज-परिवार और प्रजा-वर्ग सभी को यह अप्रिय घटना सूचित करके उनकी, विशेषकर माता कौशल्या की, करुण दशा का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। लक्ष्मण-शक्ति की सूचना पाकर राम की सहायताहेतु जाने के लिए शत्रुघ्न को प्रस्तुत देख बिलखती हुई माता कौशल्या का 'देखूँ, तुझको कौन छीनने मुझसे आता' कहते हुए पुत्र से लिपट जाना, और सुमित्रा का उसे छुड़ाकर जाने का आदेश देते हुए कहना—

जिस विधि ने सविशेष दिया था मुझको जैसा,
लौटाती हूँ आज उसे मैं वैसा वैसा।

कितना करुण है !

तीसरा स्थान इस काव्य में वीर रस का है, जिसके सुन्दर उदाहरण युद्ध-स्थल से अलग अयोध्या में रण के लिए प्रस्तुत होते नागरिकों की वीरोक्तियों के रूप में भी मिलते हैं। रौद्र, बीभत्स तथा हास्य के कुछ नमूने भी इस काव्य में हैं।

चरित्र-चित्रण

'साकेत' में चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी प्रथम ध्यान देने की बात यह है कि मर्यादा पुरुषोत्तम के भक्त कवि की मर्यादा-भावना ने सभी पात्रों पर एक प्रकार का नियंत्रण रखा है; कवि ने पात्र-विशेष की व्यक्तिगत वासना-मानव की स्वार्थमयी वृत्ति को इतना प्रबल नहीं होने दिया है कि अमर्यादित होकर कथा और आदर्श का सामंजस्य विकृत कर दे। वैयक्तिक स्वातंत्र्य का विचार भारतीय आदर्श के पूर्णत: अनुकूल नहीं है और हमारे गुप्तजी भारतीयता के कट्टर पुजारी हैं, यद्यपि उनकी यह कट्टरता सहनशील सहिष्णुता से भी अधिक उदार है। वस्तुतः व्यक्ति समाज का एक अङ्ग मात्र है; उसके किसी भी आवेगयुक्त अमर्यादित कार्य से सामाजिक सन्तुलन पर बाधा पहुँचने की सम्भावना है। फलतः सशान्ति जीवन-यापन के लिए सामाजिक मर्यादा का पालन नितान्त आवश्यक है।

दूसरी बात यह कि कवि के संस्कार राम के ईश्वरत्व को तो स्वीकार करते हैं; परन्तु उनके पारिवारिक व्यक्तियों को साधारण मनुष्य के रूप में ही उन्होंने देखा है, अवतार-रूप में नहीं। यद्यपि साकेत के किसी-किसी पात्र में सद्-गुणों की इतनी प्रचुरता है कि वे साधारण जन-समाज से बहुत ऊँचे उठे हुए दिखाई देते हैं, तथापि हैं वे इसी पार्थिव जगत के प्राणी जिनके लिए सुख-दुख, हर्ष-शोक, निन्दा-प्रशंसा, गुण-अवगुण, विरह-मिलन आदि सभी का मूल्य है।

गुप्तजी के चरित्र-चित्रण पर सामयिक स्थिति और समस्याओं का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। राम-वन-गमन के समय अयोध्यावासियों का 'विनम्र सत्याग्रह' करते हुए लोकमत की दुहाई देना और 'कछोटा मारे हुए' देवी सीता का 'पंचवटी में पर्णकुटी के बिरछे' सींचना; तथा कोल-भील बालाओं को कातने-बुनने का उपदेश देना, किसी सीमा तक स्वाभाविक होते हुए भी आधुनिकता के प्रभाव से रहित नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार लक्ष्मण का क्रोधावेश भी आदि कवि के सवेग और सावेश चरित्र-चित्रण से मेल खाता हुआ होने पर भी स्वत्व-प्राप्ति के वर्तमान आन्दोलन के प्रभाव से रहित कदाचित ही हो।

इसी सम्बन्ध में एक बात यह भी ध्यान में रखनी चाहिए कि साकेतकार की दृष्टि प्रायः सभी पात्रों के चरित्र में 'मानस' से भिन्न कुछ विशेषता लाने की ओर रही है। कथा-प्रसंग में भी 'साकेत' में जैसा पहिले कहा जा चुका है, प्रायः उन्हीं स्थलों को विस्तार देने का प्रयत्न रहा है, 'मानस' में जिनकी ओर स्पष्ट अस्पष्ट संकेतमात्र से काम चलाया गया है अथवा 'मानस' के रचयिता, राम के अनन्य भक्त कवि ने उद्देश्य-विशेष से जिनकी उपेक्षा करदी है। ऐसे स्थलों को, यदि वे मर्मस्थल छूने की क्षमता रखते हैं तो साकेतकार ने विस्तार देकर उनसे सम्बन्धित पात्रों के चरित्र का मौलिक चित्रण किया है। यों तो नवीनता मौलिकता का अपने काव्य में समावेश करने के कविसुलभ उद्देश्य के फलस्वरूप 'साकेत' के चरित्र-चित्रण में विशेषता आना स्वाभाविक ही था, तथापि भक्त- कवि तुलसी से सर्वथा भिन्न आदर्श रखने और परिवर्तित परिस्थिति में नवीन दृष्टिकोण लेकर काव्य-रचना में प्रवृत्त होने वाले गुप्तजी के चरित्र और भी अधिक चमत्कार पूर्ण और आकर्षक हैं। पूर्ववर्ती कवियों की आलोचना-प्रत्यालोचना तथा अन्य प्रांतीय कलाकारों की रचना-कुशलता से भी

नहुष

श्री भारत-भूषण अग्रवाल, एम० ए०

मैथिलीशरण गुप्त के 'नहुष' नामक खण्ड काव्य की कहानी का आधार पौराणिक है जैसा कि पुस्तक की भूमिका में भी लिखा है अनेक प्राचीन ग्रन्थों में इस कहानी का उल्लेख मिलता है। मूल कहानी बहुत छोटी-सी है और उसमें प्रधानता इसी एक बात को दी गई है कि काम के वशीभूत होकर नहुष ने अपने पद का अनुचित लाभ उठाना चाहा जिसके कारण उसे मुनियों के शाप का भागी बनना पड़ा। काम के वश में होकर ऐसे कार्य करना जो कर्तव्य के पथ से गिरा दें और पतन की ओर ले जायें ये बातें अनेक पौराणिक कहानियों में पाई जाती हैं उसमें कोई विशेषता या नवीनता नहीं है। इसलिये साधारणतः ऐसा लग सकता है कि गुप्तजी ने कहानी का चुनाव अच्छा नहीं किया। लेकिन 'नहुष' को एक बार पढ़ते ही यह धारणा एकदम निर्मूल सिद्ध होती है। यह तो ठीक ही है कि गुप्तजी भारतवर्ष के अतीत के प्रति अत्यन्त श्रद्धा-सजल भाव रखते हैं और उसकी स्मृतियाँ भी उन्हें बहुत प्रिय हैं। लेकिन 'नहुष' की कहानी को आधार बनाकर गुप्तजी ने जो काव्य उपस्थित किया है उसका उद्देश्य एकदम नवीन है और वह सारी मानवता को एक अनुपम सन्देश देता है।

जिस समय गुप्त जी ने यह काव्य लिखा, उस समय वे कुछ दुःख भरी घटनाओं के कारण अत्यन्त व्यथित और दुखी थे और उनके मन में एक प्रकार की निराशा छा गई थी। यह स्वाभाविक था कि ऐसे समय में वे जीवन में आशा की खोज करते और इसी का यह परिणाम है कि हमें 'नहुष' में ऐसी उच्चकोटि का आशावाद मिलता है जो विपत्तियों में घबड़ाना नहीं जानता और जिसकी दृष्टि सदा भविष्य पर ही केन्द्रित है। गुप्तजी ने 'नहुष' का जो चरित्र उपस्थित किया है उसमें नहुष एक कामी और विलासी राजा के रूप में नहीं, वरन् एक अत्यन्त उच्च हृदय और विचार वाले दृढ़ और वीर व्यक्ति के रूप में हमारे सामने आता है। इस प्रकार नहुष के द्वारा गुप्तजी उस आदर्श मानव का चित्रण करते हैं जो जीवन को सफल और उन्नत बनाने के लिये कटिबद्ध है और जिसमें उसी मात्रा में अभिमान है जिस मात्रा में गुण। मूल कहानी में नहुष को जैसा माना गया है, वह हमारे हृदय को स्पर्श नहीं करता और उसके प्रति हमें कोई भी श्रद्धा नहीं होती। उल्टे हमें यही लगता है कि जो व्यक्ति अपने मन को वश में नहीं रख सकता उसको यदि दुःख भोगना पड़े तो उचित ही है। लेकिन गुप्तजी के काव्य का नहुष ऐसा व्यक्ति नहीं है। उसमें वे सब गुण मौजूद हैं जो मनुष्य को ऊँचा उठाते हैं और जिनको पाकर जीवन अवश्य ही सफल बनता है। गुप्तजी का नहुष कर्मठ व्यक्ति है और अपने गुण, कर्म और अपनी योग्यता के कारण ही उसे इन्द्र पद दिया जाता है। नारद से जब नहुष यह कहते हैं कि उन्हें जो स्वर्ग मिला उसका कारण उनका भाग्य है, तब नारद तुरन्त उनसे यह कहते हैं कि भाग्य नहीं बल्कि उनकी वास्तविक योग्यता, उनका पुरुषार्थ

गुप्तजी ने लाभ उठाया है साकेत के पात्रों पर इनका प्रभाव भी स्पष्ट है।

सारांश यह कि गुप्तजी ने कथा और चरित्र की प्राचीन रूपरेखा को स्वाभाविकता और औचित्य की कसौटी पर कसने के पश्चात अपना तो अवश्य लिया है पर इस नींव पर भव्य प्रासाद का निर्माण करते समय कुशल कलाकार की तरह अब तक सुलभ सभी उपकरणों और साधनों का प्रयोग करने में वे सर्वत्र प्रस्तुत रहे हैं। इसी से इनके चरित्र-चित्रण में भक्त कवि की एकांत और स्वांतः सुखाय मुग्धता कम, वर्तमान आलोचक युग की गवेषणात्मक परंतु काव्यमयी सरस विवेचना अधिक है।

है; इतना ही नहीं, यह सिद्ध है कि नहुष की योग्यता और किसी भी देव में न थी। खुली सभा में इन्द्राणी ने देवताओं से यह कहा—

कोई न था तुममें जो भार धरे तबलों।
स्वामी निज प्रायश्चित पूरा करें जबलों॥

और इस क्रूर प्रश्न का देवताओं के पास कोई उत्तर न था। उर्वशी से वार्तालाप में भी यह बात कही गई है कि यह नहुष की योग्यता ही थी, देवताओं की कृपा नहीं, जो उसको इन्द्र का पद मिला।

और जितनी नहुष में योग्यता थी ठीक उतनी ही कार्य की लगन भी थी। इसी लगन के कारण उन्होंने पृथ्वी पर शान्ति और सुख स्थापित किया था और प्रजा के प्रिय बनने में सफल हुये थे। स्वर्ग में आकर भी वे यह नहीं भूले कि उन्हें अपने जीवन में सदैव ऐसा करते रहना है, जिससे उनको तथा उनकी आत्मा की निरन्तर उन्नति होती रहे। एक बार नारद से उन्होंने कहा है:—

'फल से क्या? उत्सुक मैं, कुछ कर जाने को'

यह विचार नहुष जैसे महान व्यक्ति के मन में ही आ सकता है। देवताओं के स्वर्ग का जो चित्र साधारणतः मनुष्य की कल्पना में आता है और जिसका वर्णन 'नहुष' में भी है, उसमें राग-रंग और भोग-विलास की ही प्रधानता है। देवता न मरते हैं, न बूढ़े होते हैं और उनका स्वर्ग अपने आप में सम्पूर्ण बन्द एक ऐसा लोक हैं जहाँ जीवन में कोई भी समस्यायें नहीं हैं। ऐसे स्थल में पहुँच कर यह बात आश्चर्य की नहीं होती, यदि कोई व्यक्ति सुख भोग में पड़ जाये और उसी में रम जाये। सच पूछिये तो मूल कहानी का नहुष ऐसा ही है। लेकिन गुप्तजी का नहुष आदर्श व्यक्ति है। स्वर्ग की सुख-सामग्री भी उसे अपने कर्त्तव्य से दूर नहीं कर पाई है; दूर करने की तो बात ही क्या, नहुष अपने कर्तव्य को एक क्षण भर के लिये भी नहीं भुलाता है। इसका कारण भी है और इस कारण को पुस्तक में बहुत ही स्पष्ट ढङ्ग से बताया गया है। नहुष जिस पृथ्वी से आया है वहाँ का जीवन स्वर्ग के देवताओं की भाँति सरल और एक रस नहीं है। पृथ्वी के जीवन में अनेकों समस्यायें है, पग-पग पर कठिनाइयों और विपत्तियों का सामना करना पड़ता है, नाना प्रकार की बाधाओं को काट कर आगे बढ़ना पड़ता है। नहुष का जीवन इसी लिये घोर संघर्ष का जीवन रहा है जिसमें उसे अपनी योग्यता, लगन और साहस के कारण ही सफलता मिली और उसके कारण ही वह ऊँचा बैठ पाया है वह बड़े गर्व से कहता है:—

मार्ग सीधा सरल नहीं है हम लोगों का।
रंग स्थल सा है वह गति के प्रयोगों का॥

मानव जीवन स्वर्ग लोक के जीवन की भांति पहले से ही निश्चित और कटा बंधा नहीं है बल्कि वह सभी प्रकार की सम्भावनाओं से भरा हुआ है और उसमें सफल होने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। इसी लगन और इसी शक्ति के फलस्वरूप जब नहुष स्वर्ग में सबसे ऊँचा पद पा जाता है तो भी वह उस सफलता में डूब नहीं जाता, वह यह नहीं भूलता कि उसे ऊँचा उठना है, और भी ऊँचा उठना है। वह लगतार इस एक इच्छा से बेचैन है कि वह ऐसा कार्य करे जिससे दूसरों का लाभ हो और दूसरों की उन्नति हो। साथ ही और आनन्दों से भरे हुये स्थान में पहुँच कर भी वह अपनी मातृभूमि को नहीं भूलता है, वह यह चाहता है कि अपने इस उत्थान के द्वारा वह उसके हित के लिये भी कर सके और साथ ही यह भी जानता है कि स्वर्ग पाना ही सब कुछ पाना नहीं है:—

'स्वर्ग भी विराम एक है हमारी यात्रा में।'

वह स्वर्ग के आनन्द से मन बहलाव तो करता है, अप्सराओं के नृत्य गान से प्रसन्न भी होता है पर उसमें डूबता नहीं है और न साधारण व्यक्तियों की भाँति यही सोचता है कि अब इतना तो पा लिया, और परिश्रम करके क्या होगा। उसकी आँखें बराबर भविष्य पर ही टिकी हुई हैं और वह निरन्तर आगे बढ़ना चाहता है।

नहुष के चरित्र की जो तीसरी बात मन को बहुत गहरा प्रभाव करती है वह है उसका पुरुषोचित अभिमान जीवन के संघर्षों में लगातार विजयी होता हुआ, अपनी योग्यता और वीरता से सफलता की चोटी पर पहुँचने वाला नहुष एक ऐसा पुरुष बन कर हमारे सामने आता है

जिसे अपनी विजयिनी शक्ति पर अटूट विश्वास है और अशेष अभिमान है। कोई भी बाधा उसे हरा नहीं सकी है और कोई भी सङ्कट उसे डरा नहीं पाया है। वह उन साधारण व्यक्तियों में नहीं है जो कठिनाइयों के आगे सिर झुका देते हैं और जुआ डाल देते हैं। वह एक ऐसा आदर्श व्यक्ति है जो जैसी "बड़ा बाधा" हो वैसा ही "बड़ा उत्साह" पाता है और जब तक उस बाधा को जीत न ले, तब तक चैन नहीं लेता। इसीलिये उसे अपनी शक्ति पर और अपनी दृढ़ता पर अभिमान है। और यदि कोई उस अभिमान पर तनिक भी चोट करे तो वह सह नहीं सकता। यही अभिमान उसका बल है। यही वह विशेषता है जो उसे देवताओं से भी ऊँचा उठाती है। ध्यान देने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह देवताओं के जीवन को बहुत ही नीरस और साधारण समझता है और मन ही मन अपने को उनसे बड़ा भी मानता है। यह अनुचित भी नहीं है क्योंकि स्वर्ग में केवल एक ही समस्या थी कि बीच बीच में दैत्य गण देवताओं पर आक्रमण कर दिया करते थे और जब इस एक मात्र समस्या से रक्षा के लिये देवता हार कर मनुष्य को ही अपने यहाँ इन्द्र पद दें तो यदि नहुष देवताओं को कायर और विलासी समझे तो आश्चर्य ही क्या। इस तरह स्वर्ग में पहुँच कर नहुष का आत्माभिमान घटता ही है और जब वह अपने कर्तव्यशील कर्मठ जीवन की तुलना देवताओं के विलासी जीवन से करता है तो यह स्वाभाविक ही है कि वह ऐसा सोचने लगे:—

"स्वर्ग राज्य तो क्या, अपवर्ग भी है एक पुन्य।
मूल गिन दे जो धनी, ले ले वह आप गन्य॥"

लेकिन स्वर्ग में नहुष के इसी अभिमान को चोट पहुँचती है और सच पूछिये तो यही नहुष के पतन का मूल कारण है। मूल कहानी का नहुष अपनी कामवासनाओं का शिकार होता है और उसी के कारण उसे शाप मिलता है। किन्तु गुप्तजी का नहुष काम का नहीं, अपने ही अभिमान का शिकार होता है। यह तो ठीक है कि इन्द्राणी का रूप अद्वितीय है और किसी के भी मन में उसे पाने की इच्छा स्वभावतः ही हो सकती है। जब नहुष उसे देख पाता है तो उसके रूप के आकर्षण से मोहित होकर वह भी उसे पाना चाहता है और इसी उद्देश्य से वह उसके पास सन्देश भेजता है। यदि उसका सन्देश सुनकर रानी उसके पास आ जाती तो उसको सुख तो अवश्य होता, लेकिन यह सम्भव नहीं था कि वह उसी में रम जाता और अपने कर्तव्य को भूल जाता। क्योंकि नहुष वैसा व्यक्ति ही नहीं है। उसकी दृष्टि सदा दुर्लभ की ओर है। इसलिये जब रानी उसके सन्देश को लौटा देती है और इस प्रकार उसके सम्मान को चोट पहुँचती है तब अपनी प्रकृति के अनुसार नहुष उसे सह नहीं पाता। इस प्रकार इन्द्राणी उसके सामने रूपवती नारी की भाँति नहीं बल्कि एक चुनौती, एक कठिन समस्या के रूप में आती है और जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं किसी भी समस्या से नहुष ने हार मानना नहीं सीखा। नहुष का मन एक समर्थ और विजयी पुरुष का मन है जो अपनी इच्छित सन्तोष की वस्तु को पाये बिना साँस नहीं लेता। इन्द्राणी उसको चुनौती देकर उसके पुरुषत्व को जाग्रत कर देती है और इस प्रकार नहुष को संघर्ष रहित स्वर्ग में रहने पर भी संघर्ष मिलता है।

यहाँ यह बात भी जरा विचारणीय है कि इन्द्राणी को पाने की अभिलाषा अनुचित नहीं है। नहुष सोचता है कि जब वह इन्द्र पद पा सकता है तो इन्द्राणी को क्यों नहीं पा सकता। वह इन्द्राणी पर अपना अधिकार समझता है और अपने अधिकार को छोड़ना अपना अपमान समझता है। केवल यही नहीं देवता भी यही मानते हैं और इसीलिये हार कर इन्द्राणी को विवश हो जाना पड़ता है।

इस दृष्टि से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि नहुष का आचरण कहीं भी उसके आदर्श से नहीं गिरा है। उसे असफलता भी मिली और उसका पतन भी हुआ, लेकिन उसका कारण वह नहीं, कुछ परिस्थितियाँ हैं। उसने तो वही किया जो एक आदर्श और वीर अभिमानी पुरुष को करना चाहिये था। यदि इन्द्राणी से हार मानकर वह चुप बैठा रहता तो वह हमारी श्रद्धा का पात्र नहीं रहता क्योंकि उसमें उसकी कायरता प्रकट होती। वह अपने अधिकार के लिये लड़ा, यह उचित ही था। यही

हिन्दी में कहानी का विकास और तंत्र

श्री उमापतिराम चंदेल बी० ए०, साहित्य-रत्न

हिन्दी-कहानी-साहित्य के विकास में पहले तो हमें दो बड़े भाग मिलते हैं। एक भाग को भारतेन्दु पूर्वकाल कह सकते हैं। दूसरा है आधुनिक युग। भारतेन्दु के समय से आरम्भ हो कर आज तक भारतेन्दु से पूर्व की कहानियाँ गिनी-चुनी ही मिलती हैं, उनकी शैली में लोक-कहानियों की झलक विद्यमान है। इंशाअल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' इसका एक उदाहरण है। नासिकेतोपाख्यान वैदिक कहानी का रूपान्तर है। यथार्थ में आज हम कहानी की जो परिभाषा करते हैं, उसकी दृष्टि से भारतेन्दु-पूर्व की कहानियाँ वह आदर नहीं पा सकतीं। भारतेन्दु के समय से ही कहानी का आरंभ हुआ। विविध साप्ताहिक और मासिक पत्रों के प्रकाशन ने वैविध्य को भी उत्तेजित किया, और लघु प्रयास को भी। यों आरम्भ में धारावाहिक रचनायें भी पत्रों में पर्याप्त प्रकाशित होती रहीं, पर पत्रों के अपने स्वभाव के कारण आकर्षण लघु-प्रयासों की ओर ही था। हिन्दी में पं० रामचन्द्र शुक्ल के मत से सबसे पहली आधुनिक ढङ्ग की कहानी 'इंदुमती' है। 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन से हिन्दी में कलात्मक अभिरुचि बढ़ी और कहानी भी निरंतर उन्नत होती गयी। आज तक हिन्दी-कहानी में हमें विकास की कई अवस्थायें मिलती हैं। पहली अवस्था है मनोवैज्ञानिक प्रेरणा के साथ इतिवृत्तात्मक शैली। इसके आदर्शो-मुख और यथार्थाश्रित दो रूप मिलते हैं। दूसरी अवस्था में मनोवैज्ञानिक प्रेरणा स्थूल भाव-संघर्ष में परिणत हुई और इतिवृत्तात्मकता ने 'कथानक' की घनिष्ठता का रूप ग्रहण किया। इसमें भी दो प्रकार प्रकट होते हैं, एक घटना-तारतम्य से चरित्र-विकास वाली कहानियाँ, दूसरे भावुकता के विक्षेप से चरित्र के मर्म की झाँकी वाली। तीसरी अवस्था में इस दूसरी अवस्था की प्रतिक्रिया आरम्भ हो गयी। कथानक संकुचित और संकीर्ण होने लगे। भाव-चित्रों की विशदता होने लगी, इसमें भी भावुकता का अंश कम हो चला। कथानक-प्रधान कहानी की कला इस अवस्था में चरमोत्कर्ष पर जा पहुँची। चौथी अवस्था में कथानक शिथिल होने लगा, बँधे नियमों की अवहेलना हो उठी, कहानियों में कथानक की अपेक्षा व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान गया। व्यवस्था से भी अधिक विषय को प्रस्तुत करने में कहानीकार प्रवृत्त हुआ। उनकी कहानी जीवन के यथार्थ धरातल पर आ पहुँची। पर समस्याओं को उभारने लगी। आजकल पाँचवी अवस्था में बौद्धिक तत्व की प्रधानता हो गयी है। अब कहानियाँ सैद्धान्तिक चेतना के साथ चलती हैं, विषय को भी व्यवस्था नहीं देना चाहतीं, रूप में वैविध्य ही महत्वपूर्ण होगया है, पर लक्ष्य नहीं भूला जा सकता। प्रेमचन्द

कारण है कि मुनियों का शाप पाकर भी वह अपने को दोषी नहीं मानता और न हिम्मत ही हारता है। वह तो वह मानता है कि उसके मन में काम ने विकार उत्पन्न कर दिया था, लेकिन वह यह नहीं मानता कि उसने कोई गलत आचरण किया या कोई अनुचित कार्य किया क्योंकि उसने अपनी आत्म-सम्मान की रक्षा के लिये ही इन्द्राणी को पाना चाहा। इसीलिये वह अपने जीवन में पहली बार असफल होते हुये भी निराश नहीं हुआ। अपने पतन के काल में भी वह अपनी शक्ति, अपनी योग्यता और अपनी लगन को नहीं भूला। उसे अपने आचरण पर पूर्ण-विश्वास है और वह यह जानता है कि वह चेष्टा करके फिर और भी ऊँचा उठ सकेगा। नहुष के चरित्र के द्वारा गुप्तजी ने आशा का एक ऐसा सन्देश हमारे सामने रखा है जो असफल और गिरे हुये व्यक्तियों को भी उनकी शक्ति की याद दिला कर उनको उन्नति की ओर प्रेरित करता है। नहुष का चरित्र गीता के सिद्धान्तों के अनुसार आदर्श चरित्र है जो परिणामों पर ध्यान न देकर केवल उचित कर्मों पर विश्वास करता है।

में इन सभी अवस्थाओं के रूप विद्यमान हैं, अन्तिम अवस्था वे भली प्रकार विकसित नहीं कर सके थे। साधारणतः, चन्द्रधरशर्मा गुलेरी पहली अवस्था के, प्रसादजी दूसरी के, भगवतीचरण वर्मा तीसरी के, जैनेन्द्र चौथी के, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, अश्क, यशपाल आदि पाँचवी के यशस्वी कहानीकार माने जा सकते हैं।

रचना-प्रणाली की दृष्टि से, कहानी के दो बड़े भेद माने जा सकते हैं। एक व्यवस्था की कहानी, दूसरी कथानक आश्रित कहानी। कथानक आश्रित कहानी तो निश्चय ही निबन्ध से भिन्न है, पर व्यवस्था की कहानी कई जगह उच्चकोटि के वर्णनात्मक, भावात्मक निबन्धों से टक्कर लेने लगती है। कथात्मक निबन्धों से तो यह बहुधा टकरा जाती है। फिर भी कहानी का कहानी होना उसके अपने तन्त्र पर निर्भर करता है।

कहानी का तन्त्र (टेकनीक) :

साधारण तौर से कहानी में विकास होता है। आज के युग में हमें बँगला और अँग्रेजी से कहानी मिली है। तबसे ही विकास दीखता है। यह तन्त्र का विकासक्रम चार स्तरों का है:—

पहले स्तर को जिसे गिरिजाकुमार घोष की कहानी का तन्त्र तथा प्रेमचन्द की आरम्भकालीन (सप्तसरोज में) टेकनीक के नाम से अभिहित करते हैं।

इस टेकनीक का आरम्भ परिचय से होता था। 'लाला धनीराम वहाँ के सेठ थे—उनके चार लड़के।'

मुख्य सूत्र को बीज की तरह उपस्थित करना—अंकुर निकलना—क्षुब्ध होना—विकसित होकर फल-फूल जाना। यह इस कहानी का मूल-तन्त्र होता था।

(२) दूसरी टेकनीक को हम 'प्रसाद' से सम्बद्ध कर सकते हैं।

'प्रसादजी की कहानियों का तन्त्र'

'प्रसाद' की टेकनीक में—प्रेमचन्द की तरह बीज का प्रश्न नहीं, इस प्रकार का विकास भी नहीं। एक दम किसी घटना का आरम्भ होता है। इसी को विशद करके उपस्थित कर दिया जाता है। यह टेकनीक प्रसाद में मुख्य है, यद्यपि प्रसादजी की यही टेकनीक नहीं है—वे भी टेकनीकों के धनी हैं। उनकी सालवती नामक कहानी में यह प्रधान टेकनीक उतनी नहीं है। उसके अन्त में प्रेमचन्द की शैली की स्पष्ट झलक है।

'प्रसाद' घटना के तत्व को विकसित कर देते हैं। वे इसे विशदता के साथ करते हैं। जिस घटना से कहानी आरम्भ होती है, उसी के साथ कहानीकार विडंबना उपस्थित कर देता है। प्रेमचन्द घटना को रख कर उसका पूर्ण विकास दिखाते हैं।

उदाहरण के लिए 'सालवती' के मूल में हैं—स्वर्ण और स्वतन्त्रता। स्वर्ण और स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए ही सालवती के पिता—आठों कुल पुत्र—सालवती सभी का आयोजन है। इस घटना की पूर्णता में अभय की रणयात्रा दिखाई देती है। घटना का अन्त है—स्वर्ण और स्वतन्त्रता की विफलता में। यह विम्डबना है।

प्रेमचन्द में सीधी रेखा दिखाई देती है—बीज जाकर फल बन गया।

प्रसाद में परिधि का केन्द्र बिन्दु है—जो बीज है, वही फल है, जो फल वही बीज।

प्रेमचन्द की टेकनीक फलागम की है—यह सीधा 'तन्त्र' है।

प्रसाद की टेकनीक फल रहित है—यह परिधि आत्मक 'तन्त्र' है। एक बिन्दु ही अपने-आपको परिधि में विशद कर देता है।

(३) तीसरी टेकनीक है—जैनेन्द्र-टाइप। जैनेन्द्रजी ने अपनी कहानियों में केवल भाषा के संस्थान को ही नहीं बदला है, कहानी की प्रणाली में भी नवीनता प्रस्तुत की है। उनकी कहानी 'मास्टरजी' में बङ्गाली मास्टर का विवाह बड़ी उम्र में होता है। माता की तरह वे अपनी स्त्री का पालन करते हैं। स्त्री कुछ और ही चाहती है।

उस तरह इसमें न बीज का विकास, न विन्दु की विशदता। यहाँ तो जैसे दो समानान्तर चीजें हैं। किसी गणितज्ञ ने किसी काटने वाली रेखा से उसे मिला दिया है। मास्टरजी तथा मास्टरनी का व्यवहार वही काटनेवाली रेखा है। प्रसाद की टेकनीक में प्रकाश का एक विन्दु है सिनेमा के फोकस की तरह। वह चीज इसमें नहीं वे दोनों

समानान्तर रेखाएँ एक सूत्र से मिलती हैं—मास्टर-मास्टरनी को अपने मिलन का ज्ञान है, फिर भी वे दोनों अलग-अलग चल रहे हैं।

जैनेन्द्र में परिणति का तत्व मिलता है। दो समानान्तर रेखायें अनन्त में मिलती हैं—यही इन रेखाओं की परिणति है। जैनेन्द्र की कहानी की टेकनीक भी यही है। पत्नी कहीं भाग जाती है। एक रेखा टूट गई। अब जो बाद में वह मिलेगी तो अनन्त बिन्दु पर ही मिलेगी।

यह है हिन्दी कहानी की तीसरी टेकनीक।

जैनेन्द्र के उपन्यास भी एक कहानी हैं। जैनेन्द्र समाज के मौलिक यथार्थ पर तो हैं। जैनेन्द्र कहानी की परिणति अनन्त में डुबा देते हैं। मास्टर-मास्टरनी अन्त में भक्त-भक्तिनी के रूप में आ जाते हैं। मास्टरनी अन्त में क्यों लौटी—इसका कोई उत्तर नहीं। साधारणतः स्त्री भाग कर ऐसे नहीं लौटती। फिर भी वह लौटी है, और मिली है। एक रहस्यमय वातावरण वहाँ प्रस्तुत है। समानान्तर रेखाओं का अनन्त विन्दु पर मिल जाना जितना सत्य है, उतना ही जैनेन्द्र द्वारा की गई यह अन्तिम परिणति भी सत्य है।

जैनेन्द्रजी की कहानियों में कोई एक जीवन-सत्य विविध मिथ्यात्वों में से होकर चलता है। विडम्बना यह लगती है कि विविध मिथ्यात्व सत्य का रूप धारण किये रहते हैं, और सत्य मिथ्या-सा प्रतीत होता रहता है।

(४) टेकनीक—वह है जिसमें संघर्ष या द्वन्द्व रहता है। वह द्वन्द्व ऐसा है जैसा मैगनेट के तत्व एक दूसरे से मिलें—पीछे हटें—प्रतिक्रिया हो—फिर टकरायें फिर प्रतिक्रिया और अन्त में झुक जाँय। तीन प्रतिक्रियायें इसमें होती हैं—

(१) पहले तो मिलते ही अलग अलग होंगये।

(२) यह बिलगता ही उन्हें परस्पर आकर्षित करती है।

(३) इसकी प्रतिक्रिया यह होती है कि वे मिल जाते हैं, खोजाते हैं। इसमें पहली चीज अनायास घटना है।

कमलाकान्त की 'बाजी' इस ढंग की कहानी का पूर्ण तन्त्र प्रस्तुत नहीं करती है। शरत में इस तन्त्र की पूर्णता है।

कमलाकान्त की 'बाजी' कहानी में दो टकराते हैं पहले खिचते हैं—झुक जाते हैं—मिल जाते हैं। अँगूठी की अदला-बदली हो गई।

एक कहानी तो वहीं समाप्त हो गई जहाँ एक बार टकराकर ताश-खेल खिलाकर चाय पीकर वे मिल जाते हैं। यथार्थवादिता का यह पुट बड़ा सहज है। ऐसा सहज मिलन कभी होता नहीं देखा गया। ताश खेलते समय इतना झगड़ा अयथार्थ-सा है। वह यथार्थता को लाकर अच्छी तरह निभा नहीं सके।

जिस शिथिल चीज को लेकर उन्होंने कहानी लिखी है वह तंत्रविधान से ठीक नहीं बैठतीं। अँगूठी बदलना—विवाह में जाना यह सब कुछ अच्छी तरह नहीं मिलाई गई। यह क्षणिक विलास की भावना है जो प्रेम में मिल नहीं पाती। इसमें जीवन का कोई अंग नहीं। मनोवैज्ञानिक और टेकनीक की दृष्टि से वह बिलकुल ठीक नहीं। 'पंछी' 'मास्टरजी' 'कामनातरु' के सामने तो वह कहीं नहीं ठहरती।

जो व्यवस्था की कहानियाँ हैं वे दो तरह की हो सकती हैं—(१) विन्दु से विन्दु पर प्रधावित होने वाली। (२) गहरे रंग की कहानी का तन्त्र।

इसमें चरम गहराई ही लाता है। जब गहराई ऐसे स्थान पर पहुँच जाय जहाँ यह पता चले कि इससे अधिक गहराई हो ही नहीं सकती—वहीं कहानी समाप्त हो जाती है। 'अश्क' इस शैली में प्रवीण हैं। इसमें एक भाव होता है, वही गहराई में बदलता जाता है।

ऐसी कहानियाँ भी होती हैं, जिनकी कोई टेकनीक नहीं होती—यदि व्यवस्था की कहानियों को ही टेकनीक रहित कहा जाय तो बात दूसरी है अन्यथा यदि अन्य कोई नहीं तो कहानी की कोई अपनी ही टेकनीक हो जायगी।

इन सब कहानियों में एक तत्व ऐसा भी मिलता हैं जिससे सब कहानियाँ कहानी ही कहलाती हैं—पंचतंत्र आदि को भी कोई कहानी ही कहेगा—उपन्यास नहीं। उसके लिये एक चीज तो कहलाती है—

(१) कहानी में इकाई का प्राधान्य—कहानी में एक लक्ष्यात्मकता होनी चाहिए। प्रत्येक कहानी में यह तत्व

[शेष १२३ पृष्ठ पर]

सूरदास पर कुछ नई दृष्टियाँ

[संकलन]

अभी तक सूरदास जी पर वैज्ञानिक अध्ययन की कमी थी। अब कई ओर से इस दिशा में प्रयास हुये हैं। हम यहाँ बहुत संक्षेप में इन नये प्रयत्नों का परिचय देंगे। जिसमें विद्यार्थी सूरदास संबंधी शोधों से पूर्ण परिचित हो जाँय। अभी अभी सूरदास जी पर तीन पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। एक प्रो० मुंशीराम शर्मा एम० ए० का सूर-सौरभ, दूसरी है डा० ब्रजेश्वर वर्मा का 'सूरदास', तीसरी है रामरतन भटनागर एम० ए० का 'सूरदास—एक अध्ययन'। यहाँ हम अन्तिम दो पुस्तकों के आधार पर ही यह निबंध लिखेंगे। वर्मा जी का 'सूरदास' केवल विश्लेषणात्मक तथा वर्णनात्मक है—ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिकोण को जान बूझ कर दूर रखा गया है। इसमें लेखक ने सूरदास के सूरसागर में मिलने वाली सामग्री को वैज्ञानिक दृष्टि से विभाजित करके विविध विषयों का प्रतिपादन किया है। इसके प्रथम में 'जीवनी और रचनायें' विवेचना का विषय बनी हैं। इसमें भी लेखक ने अन्तर्साक्ष्य को विशेष महत्व दिया है। यह भाग अच्छी वैज्ञानिक दृष्टि से लिखा गया है। लेखक ने सूरदास जी की जीवनी की अध्ययन सामग्री में १६ ग्रंथादिकों का उल्लेख किया है पर उनमें से मूल 'वार्त्ता' और सूरसागर को ही प्रामाणिक ऐतिहासिक माना है। उनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाले हैं :

(१) समय—सं० १५३५ में जन्म तथा १६२८ के पश्चात् किन्तु १६४२ से पूर्व मृत्यु। सं० १५६१ में श्री वल्लभाचार्य जी का विवाह हुआ, उसके उपरांत लगभग १५६७ में गौघाट पर सूरदास उनसे मिले होंगे। गोस्वामी विट्ठलनाथ के स्थायी ब्रजवास संवत् १५२८ के बाद तक वे जीवित रहे। गोस्वामी जी का गोलोकवास १६४२ के पहले होगया था। और सूरदास जी का देहावसान गोस्वामी जी के सामने हुआ। संप्रदाय में प्रचलित है कि सूरदास जी महाप्रभु वल्लभाचार्य जी से केवल दस दिन छोटे थे।

(२) नाम—'सूरदास' नाम प्रारम्भ से ही था या बाद में पड़ा, यह ठीक नहीं कहा जा सकता। सूरदास, सूर-स्वामी, सूर-प्रभु, सूरदास-प्रभु, सूरजदास और सूरज नामों का प्रयोग हुआ है। इन सबको अलग अलग व्यक्तियों के नाम मानने की आवश्यकता नहीं, हरिराय जी ने इन नामों के सम्बन्ध में भाव प्रकाश में जो कल्पना की है वह भक्तों के निकट ही ग्राह्य हो सकती है।

(३) जाति—जाति के संबन्ध में भी निर्णयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। गोस्वामी हरिराय और गोस्वामी यदुनाथ सारस्वत ब्राह्मण मानते हैं। पर प्रमाण क्या है? ब्रह्मभट्ट या भाट भी माना जाता है। इसकी पुष्टि में साहित्य लहरी का पद है, और सूरसागर के 'ढाढ़ी' वाले पद भी दिये जा सकते हैं। पर इसके लिये अन्य साक्ष्य की भी आवश्यकता है।

(४) माता पिता तथा अन्य संबन्धियों के विषय में हरिराय जी ने बताया है कि माता-पिता अकिंचन थे। और तीन बड़े भाई थे। रघुराज सिंह ने विवाह का भी उल्लेख किया है। सभी की पुष्टि के लिये प्रमाणों का अभाव है।

(५) चक्षु-विहीनता—जन श्रुतियाँ उन्हें जन्मान्ध बताती हैं। भक्त का महात्म्य बताने के लिये। पर उन्हें जन्म से अन्धा मानना तर्क संगत नहीं। वृद्ध होते होते अंधे हुये होंगे।

(६) वैराग्य—सूर के पदों को पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि वह जन्म से ही विरक्त नहीं होंगे। संसार का अनुभव इन्होंने प्राप्त किया होगा। पर अन्यथा वे चिर-विरक्त माने जाते हैं।

(७) जन्मभूमि-निवास—केवल हरिराय उनकी जन्म-भूमि 'सीही' बतलाते हैं। इसकी प्रमाणिकता संदिग्ध है। गऊघाट पर वल्लभाचार्य से मिले। वैराग्य लेकर वहीं रहते थे। फिर गोबर्धन में रहे। पारासोली से विशेष प्रेम था।

(८) सामाजिक परिस्थिति—कवि राजनीति की ओर

से सर्वथा उदासीन रहा है। कंस के प्रति जो उसकी दृष्टि है, उससे उसके भावों का अनुमान लगाया जाय तो उनमें राज्य के प्रति अरुचिपूर्ण उपेक्षा थी। शासन और माल के प्रबंध का विस्तृत ज्ञान मिलता है। यही समय का प्रभाव माना जा सकता है। साँस्कृतिक दृष्टि से यह काल संपन्न था भक्त, महात्मा, कवि सभी उच्चकोटि के इस काल में हुए। नृत्य और गीत का भी चरम उत्कर्ष होगा ऐसा स्वयं सूरसागर से झलकता है।

(९) शिक्षा, दीक्षा, ज्ञान—काव्य और संगीत, दोनों में वे असाधारण रूप से व्युत्पन्न थे। उन्हें प्रचलित दार्शनिक सिद्धान्तों का ज्ञान था। सम्प्रदाय के ज्ञान में पूर्ण पारंगत थे। श्रीमद्भागवत का ही नहीं अन्य पुराणों का भी उन्हें ज्ञान था। वे संस्कृत भी जानते थे।

(१०) रचना—मूलवार्त्ता के अनुसार वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होने पर उन्होंने श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कंधों पर सहस्राविधि पद बनाए। अतः सूरदास की एक ही रचना है—सूरसागर

(११) भक्ति—पहले वे पतित-पावन भगवान के प्रति दैन्यभाव प्रदर्शित करते थे। दास्यभाव प्रमुख था। श्रीमद्भागवत की अनुक्रमणिका सुनने के उपरान्त प्रेम-रूप भगवान और प्रेम की महत्ता समझे। कृष्ण की बाल-लीला के अनुभव से कृष्ण में उनकी भक्ति-भावना दृढ़ हुई, और वे स्नेह तथा माहात्म्य ज्ञान का सम्बन्ध समझ गये। उनकी प्रेमभक्ति कृष्ण के बाल रूप से राधाकृष्ण के प्रति अधिक बढ़ी।

रचनाओं पर विचार भी इस ग्रन्थ में मौलिक ढङ्ग से हुआ है। ग्यारह रचनाओं में से पहले लेखक ने तीन ग्रन्थ ही सूरदास रचित माने हैं—सूरसागर, सूरसागरसारावली

[१२१ पृष्ठ का शेषाङ्क]

मिलेगा—चाहे वह पञ्चतन्त्र या अलिफलैला की कहानी ही क्यों न हो। हाँ इस एकाई की परिभाषा बदलती रहती है। 'सहस्र रजनी चरित्र' में एक बात लेकर उसकी पुष्टि में कई कहानियाँ कहते जाना। इसमें चरित्रों की एक-एक झलक एक-एक व्यक्ति ने उपस्थित की है। उसमें उद्देश्य की एकाई थी।

आज की एकाई एक झलक की एकाई है। वह झलक किसी घटना, चरित्र के किसी अंश—सौन्दर्य की झलक को उपस्थित करने के लिए ही हो सकती है।

(२) इस एकाई के साथ दूसरी चीज यह है कि कौतूहल और उसके साथ मनोरञ्जकता कहानी के अन्दर रहे। मनोरञ्जकता का तत्व प्राचीन कहानियों में बहुत अधिक था। पर एकाई की बदली परिभाषा के अनुसार कौतूहल और मनोरंजन का अंश उतना ही सीमित हो गया है और इसको अधिक से अधिक स्वाभाविक धरातल पर लाया गया है। स्वाभाविकता के अन्दर जो कौतूहल मिल सके वही आज की कहानी में है। प्राचीन कहानियों में अद्भुत का अंश कौतूहल में बहुत था।

(३) तीसरी चीज जो कहानी में इसके साथ होती है वह है चरम-परिणति। पुरानी कहानियों में भी चरम आता था पर वे अलस-मन्द गति से चलती थीं और एकाई होने के कारण वे थीं कहानी—उपन्यास नहीं (उपन्यास में मन्द गति मिलती है) और आज की कहानियों में एकाई की बदली हुई परिभाषा के साथ इस गति की परिभाषा भी तीव्र हो गई है। और यह चरम-परिणति का ही तत्व है कि जो कहानी को निबन्ध से नाटक से और उपन्यास से पृथक करता है। नाटक-उपन्यास में भी चरम आना चाहिए। निबन्ध में तो वर्णन रहता है अतः वहाँ चरम उतना नहीं देखा जाता। चरम मिलती सब में है पर उसके आने का ढङ्ग कहानी, उपन्यास, नाटक सब में अलग-अलग है। वह किसमें? कहानी में जहाँ कथा का सूत्र उपस्थित होता है; वह सूत्र तेजी से चरम की ओर दौड़ता है और वहाँ पहुँचकर शान्त हो जाता है—जैसे सिनेमा की फिल्म किसी ने बीच में से काट दी हो और कहानी एक झनकार के साथ समाप्त हो जाती है।

पूर्ण नाटक में एक चरम नहीं, कई चरम उसमें उपस्थित होते हैं—कम से कम दो—अन्यथा कई सूत्र भी उसमें मिलते हैं। एक चरम परिणति के बाद दूसरा सूत्र फूट पड़ता है। उपन्यास में मूल चरम-परिणति कौन है—नहीं कहा जा सकता। उसके बाद भी नाटक और उपन्यास शान से चलते और समाप्त होते हैं।

तथा साहित्यलहरी।

सूरसागर सारावली पर विचार करके लेखक इस निर्णय पर पहुँचा है कि यह 'सारावली' सूरसागर का सार नहीं एक स्वतंत्र ग्रन्थ है, क्योंकि दोनों के विषय-वस्तु और शैली सभी में अन्तर है। लेखक ने इस प्रकार २७ अन्तर सारावली और सूरसागर में स्थापित किये हैं, जिन सूरसागर के विषयों को सारावली ने छोड़दिया है वह इनके अतिरिक्त है। 'संक्षेप में जहाँ सूरसागर में नन्दनन्दन गोपाल, गोपीवल्लभ, राधावल्लभ कृष्ण का गुणगान है, वहाँ सारावली में असुरसंहारक, भक्त-उद्धारक, महाराज द्वारिकाधीश श्रीकृष्णचन्द्र के यश विस्तार की कथा है।' सारावली बाह्यतः तो सूरसागर का अनुसरण करती है पर अन्ततः वह एक स्वतन्त्र रचना है। सारावली की भाषा अधिक तत्सम है। और उसमें करोरी, बूढ़े बाबू, रसाल, वीरुध, वृतांत, भामी, दुःखिता, कह-कहाँ, रंध्र, स्मर, बंदीखाने आदि ऐसे शब्द मिलते हैं जिनका सूरसागर में प्रयोग नहीं हुआ। 'सूरज' नाम का अधिक उपयोग, तथा हरिरायजी में 'सारावली' के उल्लेख का अभाव यह सिद्ध करते हैं कि 'सारावली' इन सूरदास की नहीं। 'साहित्यलहरी' भी सूरदास रचित नहीं हो सकती, क्योंकि यह एक पारिभाषिक रचना सी प्रतीत होती हैं, जिसका विषय अलङ्कार, नायका, भाव, रस आदि का निरूपण है, कई पद ऐसे हैं जिनमें राधा-कृष्ण का उल्लेख नहीं—अतः इसकी प्रेरणा साहित्यिक है। भक्ति भावना का सर्वथा अभाव है। भाषा भिन्न है। सूरदास ऐसी रचना नहीं कर सकते थे। सूर सागर पर विस्तृत विवेचन है। यही ग्रन्थ सूरदास का लिखा हुआ माना गया है। सूरसागर और भागवत की तुलना भी संक्षेप में की गयी है। सूरसागर और भागवत की तुलना का विषय श्री रामरतन भटनागर के 'सूरदास एक अध्ययन' में विशेष विस्तार से बिचार किया गया है। बहुत योग्यता और परिश्रम से भटनागरजी ने यह स्थापना की है कि सूर सागर में भागवत की तुलना में कई मौलिक उद्भावनायें हैं। जिनमें से सिद्धर ब्राह्मण की कथा कागासुर बध, महराने के पांडे की कथा, चीरहरणलीला का पूर्वार्द्ध, दानलीला, पनघटलीला, राधा का खंडिता रूप, हिंडोललीला, आदि बिलकुल सूर की अपनी कल्पना है। भागवत और सूरसागर का तुलनात्मक इतना विशद अध्ययन पहली बार भटनागरजी ने ही किया है। साथ ही उन्होंने यह भी स्थापना की है कि सूर सागर एक प्रबन्ध काव्य है, उसमें सभी कथाओं का कृष्ण और कंस से इस प्रकार सम्बद्ध किया गया है कि वह बिना काव्य की रूप-रेखा के पूर्व निर्माण के संभव नहीं हो सकता। सभी असुर कंस के भेजे हुए आते हैं। जैसा भागवत में नहीं है। फिर सागर में दो प्रणालियाँ मिलती हैं एक छन्द प्रणाली दूसरी पद प्रणाली। ये एक दूसरे की सहायक हैं और सागर को प्रबन्ध काव्य बनाने में सहायक होती हैं। दोनों प्रणालियों में एक ही कथा दो बार कही गयी मिलती है। 'दोनों प्रकार से लिखी कथायें दो भिन्न ग्रन्थों में संग्रहीत नहीं की गयीं, क्योंकि दूसरी छन्दबद्ध कथा केवल ग्रन्थ को भागवत का रूप देने के लिये लिखी गई है और पदबद्ध ग्रन्थ से अलग उसकी कोई महत्ता ही नहीं थी।'

लेखक ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि सूरदास पर ब्रह्मवैवर्त्त पुराण तथा जयदेव का कितना और कहाँ तक प्रभाव था। राधा-कृष्ण का चित्र कवि ने इन्हीं से लिया होगा। पर उसे मौलिक रूप दे दिया है। यहाँ तक तो हमने सूर के जीवन और इनकी रचनाओं पर विचार किया है। विषय पर विचार यहाँ सम्भव नहीं।

सूर-सौरभ (प्रत्यालोचना)

प्रो० मुँशीराम शर्मा, एम० ए०

साहित्य सन्देश के दिसम्बर १९४९ वाले अंक में सूर सौरभ पर श्री रमेश जी वर्मा की लिखी आलोचना प्रकाशित हुई है*। वर्मा जी ने अत्यन्त सहृदयता पूर्वक यह आलोचना लिखी है, इसके लिए मैं उनका अनुगृहीत हूँ। आलोचना के अन्तर्गत कुछ शंकायें उठाई गई हैं, उनका निराकरण करना आवश्यक प्रतीत होता है। वर्माजी ने सबसे पहली आपत्ति सूर के वंश के सम्बन्ध में की है, और उन्होंने विद्याविभाग काँकरोली से प्रकाशित श्रीहरिरायजी की टीका को प्रमाण रूप में उपस्थित किया है। सूरसौरभ में इस विषय पर इतनी अधिक सामग्री है कि वह शंका के लिए कोई स्थान नहीं रहने देती। श्रीहरिरायकृत टीका के सम्बन्ध में भी वहाँ लिख दिया गया है। टीका मूलग्रन्थ के पश्चात् बनी, अतः वह प्रमाण कोटि में नहीं रखी जा सकती; विशेषकर ऐसी अवस्था में जब सूर ने स्वयं अपने वंश का परिचय दे दिया है। रही यह बात कि जिस पद में सूर ने अपने वंश का उल्लेख किया है, वह प्रामाणिक घोषित करनी होगी, (क्योंकि अभी तक साहित्य लहरी की जितनी अमुद्रित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं, उन सबमें यह वंश-परिचायक पद पाया जाता है।) पद की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सूरसौरभ में जो युक्तियाँ दी गई हैं, उनका खण्डन आज तक किसी विद्वान ने नहीं किया। विद्वद्वर डाक्टर धीरेन्द्रजी वर्मा की देखरेख में (श्री व्रजेश्वर वर्मा जी ने सूरदास पर जो थीसिस लिखी है, उसमें भी उन्होंने पद को अप्रामाणिक नहीं माना। हाँ,) एक संकेत इस दिशा में उन्होंने यह अवश्य किया है कि साहित्य लहरी को सूरसागर के रचयिता से भिन्न किसी अन्य सूरदास की कृति मानना चाहिए जो महाकवि चन्द का वंशज था। सूरसागर के रचयिता के सम्बन्ध में उन्होंने मौन रहना ही उचित समझा है।

सूरसागर और साहित्य लहरी के रचयिता दो भिन्न भिन्न सूरदास हैं, अथवा ये दोनों ग्रन्थ एक ही सूरदास की कृतियाँ हैं, इस विषय पर सूरसौरभ में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। 'सूर के ग्रन्थों की एकता' तथा 'सूरदास के विभिन्न उपनाम' शीर्षकों के अन्तर्गत जो सामग्री उपस्थित की गई है, उस पर पाठक यदि एक दृष्टि डाल लें तो यह समस्या बहुत कुछ हल हो जावेगी। इस सामग्री के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें यहाँ लिख देना मैं आवश्यक समझता हूँ।

सूरसागर और साहित्य लहरी की रचना शैलियों की विभिन्नता का उल्लेख करते हुए डा० व्रजेश्वर वर्मा ने सूरसागर की प्रौढ़ एवं परिमार्जित तथा साहित्य लहरी की शिथिल एवं बाल विनोद कारी शैली की ओर संकेत किया है। निःसन्देह सूर सागर की शैली अत्यन्त प्रौढ़ है, पर साथ ही उसमें सूर की विनोद शीलता के भी पर्याप्त उदाहरण हैं। सूरसौरभ में शैली विवेचन के अन्तर्गत इस विषय के मैंने कई उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। दृष्टकूट की शैली स्वतः शब्दों की क्रीड़ा और विनोद शील प्रवृत्ति का परिणाम है। समूची साहित्य लहरी दृष्टकूट की शैली में लिखी गई है और उसमें अलंकार तथा नायिका भेद के उदाहरण विशेष रूप से लक्ष्य में रखकर सन्निविष्ट किये गये हैं। (दृष्टकूट अलंकार तथा नायिका भेद साहित्य-लहरी में ही नहीं, सूर सागर में भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं।) सूर सौरभ के परिशिष्ट दो और तीन विशेष रूप से दृष्टकूटों पर ही प्रकाश डालते हैं। शृंगार-वर्णन के अन्तर्गत सूर सागर से नायिका भेद के अनेक उदाहरण मैंने सूर सौरभ में उद्धृत किये हैं। और (यदि इस शैली के कारण साहित्य लहरी को किसी भिन्न सूरदास की कृति माना जावे, तो तुलसी की सतसई को भी किसी अपर तुलसीदास की कृति मानना पड़ेगा,) क्योंकि उसके दो

* उक्त आलोचना सम्पादक (बाबू गुलाबराय जी) द्वारा लिखित है। उससे नीचे की पुस्तक की आलोचना वर्मा जी लिखित है। —सं०

शतकों में दृष्टकूट ही नहीं; तुलसी से एकदम भिन्न शैली दिखलाई देती है।) पर वस्तुतः ऐसा है नहीं। कवि जहाँ मननशील एवं गम्भीर प्रकृति के होते हैं वहाँ वे क्रीड़ाप्रिय एवं विनोद शील भी होते हैं। मर्यादावादी तुलसी में भी यह प्रवृत्ति दिखलाई देती है और रासप्रिय कृष्ण के उपासक सूरदास में भी। अतः न तो सतसई किसी दूसरे तुलसीदास की कृति है और न साहित्य लहरी किसी अन्य सूरदास की। (अलंकार शैली के सम्बन्ध में भी यही बात ध्यान में रखनी चाहिये। जैसे तुलसी की "बरवै रामायण" विशेष रूप से अलंकार चमत्कार से परिपूर्ण है और एक एक बरवै एक एक अलंकार का उदाहरण सा प्रतीत होता है, वैसे ही साहित्य लहरी चमत्कार मयी शैली में लिखी गई है और उसका एक एक पद—एक एक अलंकार का उदाहरण रूप है।)

यह भी कहा जाता है कि यदि साहित्य लहरी सम्बत् १६१७ में या १६२७ में लिखी गई तो यह सूरदास की वृद्धावस्था का समय था और ऐसे समय में चमत्कार की ओर मानव की प्रवृत्ति प्रायः कम होती है। पर यह आंशिक सत्य है. इसके अपवादरूप अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। पूज्य हरिऔध जी का रस कलश प्रिय-प्रवास के पश्चात् उनकी वृद्धावस्था में ही तैयार हुआ। चौपदे भी बाद में ही बने। इनमें कवि की वही चमत्कार प्रधान प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। महाकवि ब्रजेश जी, रस रंग निर्णय लिखने के पश्चात् अस्सी वर्ष की आयु में आज भी चमत्कार प्रधान काव्य रचना करते हैं (अतः आयु कवि की रचना शैली पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकती।) मनोविज्ञान की दृष्टि में फ्रायड भी यहाँ फेल हो जाता है। कवियों की निरंकुशता उनके ऊपर अंकुश न रखने में सफल होती है। और फिर हम साधारण माप दण्ड लेकर विशिष्ट शक्ति संपन्न सूर जैसे कवियों को मापने ही क्यों चलें।

सम्बत् के सम्बन्ध में एक आपत्ति श्री महावीरसिंहजी गहलौत ने सम्मेलन पत्रिका में प्रकाशित अपने एक लेख में उठाई थी। उनके मतानुसार साहित्य लहरी के 'मुनि पुनि रसन के रस लेख' शीर्षक पद में सम्बत् १६२७ नहीं, प्रत्युत सम्बत् १६१७ मानना चाहिए, क्योंकि गणनानुसार इसी संवत् में अक्षय तृतीया रविवार के दिन पड़ती है। सम्वत् १६२७ में अक्षय तृतीया शनिवार को पड़ती है। यह एक दिन का अन्तर उनकी दृष्टि में बड़ा भारी कारण है। पर पञ्चांगों पर जिसने सरसरी दृष्टि भी डाली होगी, वह जानता होगा कि एक तिथि दो दिन भी पड़ जाती है और वैष्णव सम्प्रदाय वाले उदया तिथि को ही सत्य मानते हैं। शनिवार को रहने पर भी उदया अक्षय तृतीया संवत् १६२७ में रविवार को ही पड़ी होगी। और फिर एक दिन का अन्तर कोई विशेष अन्तर नहीं है। काशी और जोधपुर वाले पंचांग के अनुसार तिथियों में एक दिन का अन्तर हो जाना साधारण सी बात है. इसके एक नहीं अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। पर मैंने उस पद के आधार पर विद्वानों का ध्यान सम्वत् १६२७ की ओर एक विशेष समस्या को सुलझाने के लिए आकर्षित किया था। (यह समस्या थी सुबल संबत की। सूर की समस्त रचना में मुझे दो शब्द सम्वत् सूचक प्रतीत हुए जो उनके जीवन काल का कुछ निर्णय कर सकते थे। एक शब्द साहित्य लहरी के उपरोक्त पद में 'सुबल' था और दूसरा शब्द सूर सारावली के अन्त में 'सरस' था। दोनों ही शब्दों के साथ संवत् शब्द भी लगा हुआ था। ज्योतिष ग्रन्थों में आई हुई सम्वत् सूची पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने के अनन्तर मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि सुबल और सरस सम्वत् किन्हीं अन्य सम्वत्-नामों के पर्यायवाची हैं, क्योंकि ये नाम सम्वतों की सूची में मुझे कहीं भी दिखलाई नहीं दिये।) ये नाम किन नामों के पर्यायवाची हैं—इस समस्या को सुलझाने में मुझे कई दिन लग गये। एक दिन अकस्मात रसखान की प्रेम बाटिका पर दृष्टि पड़ी। उसके ५१ वें दोहे में सरस सवत् का उल्लेख हुआ है। इस दोहे के अनुसार प्रेम वाटिका का रचना सम्वत् १६४१ सिद्ध होता है। सूर सौरभ द्वितीय भाग के पृष्ठ ३३ पर मैंने इस दोहे पर पूर्ण विचार किया है। पाठक कृपा कर वहीं पर इसे देखलें।

ज्योतिष ग्रन्थों में आई हुई सम्वत् सूची के अनुसार सम्वत् १६४१ में मन्मथ संवत् था। रसखान ने इसको सरस संवत लिखा है। अतः सरस संवत् मन्मथ संवत् का

पर्यायवाची है, इसमें मुझे सन्देह नहीं रहा। साहित्य-लहरी का सुबल संवत् १६१७ के स्थान पर १६०७ माना जाय, तो इसमें और मन्मथ (सरस) संवत में १४ वर्षों का अन्तर पड़ता है। इधर संवत् सूची के अनुसार मन्मथ और वृष संवतों में १० वर्षों का अन्तर पड़ता था और वृष का अर्थ बलवान होता ही है। अतः (सुबल संवत् को मैंने वृष संवत् का पर्यायवाची स्थिर किया।) इस प्रकार सूर की रचनाओं में उपलब्ध संवतों की समस्या सुलझ जाती है। पर इस समस्या की ओर न तो श्री गहलौतजी ने ध्यान दिया और न श्री रमेशजी वर्मा तथा डा० व्रजेश्वरजी वर्मा ने। स्वर्गीय आचार्य (शुक्लजी ने साहित्य-लहरी वाले पद का पद-विन्यास ही परिवर्तित कर दिया था। 'मुनि पुनि' के स्थान पर उन्होंने 'मुनि सुनि' लिखा है और सुनि का अर्थ शून्य लगा कर संवत् १६०७ माना है। संवतों के नामों की ओर उनका ध्यान नहीं गया।)

रमेश वर्मा जी ने आलोचना में एक भ्रान्त बात लिख दी है। उनके अनुसार मैंने साहित्य-लहरी के पद के आधार पर सूर को शैव माना है। पर ऐसा नहीं है। सूर का शैव होना मैंने सूरसारावली के एक छन्द के आधार पर लिखा है और उसका समर्थन सूरसागर में आये हुए अन्तःसाक्ष्य की कतिपय पंक्तियों द्वारा किया है। सूरसारावली और सूरसागर की ये पंक्तियाँ स्वयं सूर की लिखी हुई हैं और आज तक किसी विद्वान ने उन्हें प्रक्षिप्त या अप्रामाणिक घोषित नहीं किया है। सूरसारावली का यह छन्द जिसे प्रायः सभी विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है, इस प्रकार है—

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
शिवविधान तप करयो बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन॥

सूर के प्रारम्भिक जीवन में शैव होने का यह अकाट्य अन्तर्साक्ष्य है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि इस छन्द ने ही मुझे सूर की रचनाओं को आध्यात्मिक दृष्टि से पढ़ने की ओर प्रेरित किया। जो छन्द विद्वानों के लिए साधारणतया सरसठ वर्षों के अन्तर का प्रतीक मात्र था, वह मेरे जैसे अल्पज्ञ विद्यार्थी के लिए सूर की रचनाओं कुञ्जी बन गया। इस सम्बन्ध में मेरे हृदयोद्गार सूर-सौरभ प्रथम भाग के पृष्ठ ३६ और ४१ पर प्रगट हुए हैं। (आचार्य वल्लभ से दीक्षित होने के पूर्व मैंने भी सूरदास को हरिगामी वैष्णव ही माना है। पर वे अपने आरम्भिक जीवन में शैव थे, यह ऊपर उद्धृत अन्तः साक्ष्य से स्पष्ट है।) शैव सम्प्रदाय की भावनाओं से सम्बन्ध रखने वाले कुछ पद सूरसागर के प्रथम स्कन्ध में हैं जिन्हें मैंने सूरसौरभ प्रथम भाग पृष्ठ ३४ (सूरसागर १-४७, ४८) पर अङ्कित किया है। शैव सम्प्रदाय में ही गुरु गोरखनाथ भी थे, उन्होंने हठ योग का अधिक प्रचार किया था और उन दिनों के सन्त सम्प्रदाय पर अपना विशेष प्रभाव डाला था। सूरसागर के प्रथम तथा द्वितीय स्कन्धों में हठयोग का प्रतिपादन करने वाले कई पद हैं। पर ये पद किसी प्रकार बच गये हैं। इस सम्बन्ध के अनेक पद निःसन्देह लुप्त हो गये होंगे क्योंकि सूर का ध्यान आचार्य वल्लभ द्वारा ब्रह्म सम्बन्ध होने पर हरिलीला गायन में प्रवृत्त हो गया।

सूर निश्चित रूप से आन्तरिक साधना के धनी थे। भ्रमरगीत के जो पद प्रभु के सगुण रूप के प्रतिपादन में उद्धृत किये जाते हैं, (यदि सामञ्जस्य की दृष्टि से देखा जाय, तो वे आन्तरिक साधना का निषेध नहीं करते। उसकी एक मात्र साधनता की पंगुता अथवा एकांगिता प्रगट करते हैं।) फिर भ्रमर गीत का एक विशेष उद्देश्य है। प्रायः सभी वैष्णव आचार्य शैवादि सम्प्रदायों का खण्डन और इतर उपासना पद्धतियों की निःसारता सिद्ध किया करते थे। सूर ने भ्रमरगीत में इसी पद्धति का अनुसरण किया है। अपने अन्तः साक्ष्य में वे लिख ही चुके थे कि शैव सम्प्रदाय के विधानों के अनुकूल तप करने से वे सिद्ध प्राप्त न कर सके। आचार्य वल्लभ ने ही उन्हें हरि दर्शन कराये। इसमें असङ्गति की मुझे कोई बात दिखलाई नहीं देती।*

---

*विद्यार्थीगण इस प्रत्यालोचना के साथ 'सूरदास पर नई दृष्टियाँ' वाला लेख भी पढ़ें। —संपादक

प्रमुख अलङ्कार

श्री ओमप्रकाश एम० ए०, रिसर्च स्कॉलर

दण्डे ने अलङ्कारों को काव्य शोभा का बनाने वाला बताया है—'काव्यशोभा करान्ध-र्मानलङ्कारान प्रचक्षत्'। वामन ने गुणों को शोभा के बनाने वाले कहा है और अलङ्कारों को शोभा को बढ़ाने वाला कहा है। अलङ्कार वास्तव में नितान्त बाहरी वस्तु नहीं हैं, वे कवि के हृदय के द्योतक हैं। इस लेखमें श्री ओमप्रकाशजी ने मुख्य मुख्य अलङ्कारों का निरूपण किया है।

संसार की वस्तुओं के सम्बन्ध से हमारे हृदय में जो आनन्द देनेवाली भावना उठती है उसको शक्ति (Force) तथा सुन्दरता से पूर्ण बनाकर इस प्रकार कहना कि सुनने वाले में भी वैसे ही भाव जग पड़ें कविता या काव्य कहलाता है। काव्य को सुन्दर बनाने वाले ढङ्ग को अलङ्कार अर्थात् आभूषण कहते हैं।

काव्य के २ अङ्ग हैं—भावना या अनुभूति, तथा उस अनुभूति को दूसरे पर प्रकट करना। अनुभूति अर्थ के समझने पर निर्भर है, और उसकी अभिव्यक्ति की सुन्दरता शब्दों के समझने से भी जानी जाती है। अर्थ में रहनेवाले अलङ्कारों को अर्थालङ्कार तथा शब्दों में रहने वाले अलङ्कारों को शब्दालंकार कहते हैं।

जहाँ पर शब्दों के बदलने पर भी चमत्कार में अन्तर नहीं पड़ता वहाँ अर्थालङ्कार कहलाता है, जैसे 'पङ्कज सम सुन्दर मुख' और 'कमल ज्यों रमणीय आनन' कहना एक ही बात है। किन्तु जहाँ शब्दों के बदल देने से चमत्कार में अन्तर पड़े, वहाँ शब्दालङ्कार होता है, जैसे 'तरनि-तनूजा-तट' अलङ्कार है किन्तु 'यमुना किनारा' कहने में वह चमत्कार नहीं रहता।

काव्य के सुनने या पढ़ने में पहिले शब्दों का ज्ञान होता है अतः पहिले शब्दालङ्कारों को समझते हैं:—

(१) अनुप्रास (Allitration) एक ही अक्षर (letter) का बार-बार शब्दों (words) में आना अनुप्रास अलङ्कार का लक्षण है। यह ३ प्रकार का होता है:—

(क) छेकानुप्रास—एक ही स्वरूप के व्यंजन (consonants) उसी क्रम से दूसरी बार आवें:—

'कावेरी वारी पवन पावन परम सुछन्द'

यहाँ 'वेरी, वारी' में व तथा र, एवं 'पवन, पावन' में प व तथा न तीनों ही व्यञ्जन उसी क्रम से आवृत्त हुए हैं।

(ख) वृत्यानुप्रास—अनेक अथवा एक व्यञ्जन का बार बार आना।

कोकिल के सुकण्ठ की तुलना,
केकी कभी न कर पाया।'

यहाँ 'क' अनेक बार आया है।

इस अनुप्रास का वृत्तियों के अनुकूल नामकरण होता है, इसीलिए इसको वृत्यानुप्रास कहते हैं। वृत्तियाँ ३ प्रकार की होतीं हैं—

(१) उपनागरिका—इसमें टवर्ग छोड़ कर मधुर वर्ण आते हैं।

(२) परुषा—इसमें टवर्ग-प्रधान ओजपूर्ण कठोर वर्ण आते हैं।

(३) कोमला—इसमें दोनों का मिश्रण रहता है।

(ग) लाटानुप्रास—जहाँ एक पद (word) एक ही अर्थ में, किन्तु भिन्न भाव को बतलाता हुआ, एक से अधिक बार आवे—

'स्वयं घर में संयास है,
यदि न संयम को तजकर चलो।
स्वयं घर है संयास भी,
यदि न संयम से रहते चलो।'

इन दोनों पंक्तियों में जो शब्द बार-बार आये हैं उनका अर्थ तो एक ही है किन्तु सारे वाक्य का अर्थ दोनों स्थानों पर भिन्न हो जाता है।

(२) यमक—एक से अधिक शब्दों का एक ही

अर्थ में न आना—

'कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय।'

यहाँ प्रथम 'कनक' का अर्थ है 'स्वर्ण' और दूसरे 'कनक' का अर्थ है 'धतूरा'।

निरर्थक शब्दों का बार-बार आजाना भी यमक है—

'सुर-सभा रस भार विमोहिता'

यहाँ 'सभार' अक्षरसमूह बिना अर्थ के ही दो बार आया है।

(३) श्लेष—(pun) दो अर्थ वाले शब्दों का एक ही बार प्रयोग:—

'को घटि, ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर।'

'वृषभानुजा के २ अर्थ हैं—(१) वृषभानु-पुत्री = राधा (२) वृषभ (बैल) की अनुजा (छोटी बहिन) = बछिया।

'हलधर' के २ अर्थ हैं—(१) बलराम (२) बैल।

(४) वक्रोक्ति—सुनने वाला कहने वाले से भिन्न अभिप्राय में किसी बात को समझे—

'को तुम ? हैं घनश्याम हम,
तौ बरसौ कित जाय।'

यहाँ कृष्ण ने 'घनश्याम' शब्द का प्रयोग अपने नाम के लिए किया था, किंतु राधा ने उसका अर्थ 'काला बादल' लिया।

नोटः—(१) श्लेष और वक्रोक्ति—श्लेष में कहनेवाले और सुननेवाले दोनों के अभिप्राय एक से अधिक होते हैं, वक्रोक्ति में कहनेवाला कुछ कहता है और सुननेवाला कोई दूसरा ही अर्थ लगाता है।

(२) यमक और लाटानुप्रास—यमक में भाव तथा अर्थ दोनों ही भिन्न होते हैं और लाटानुप्रास में अर्थ तो दोनों समान शब्दों का एक ही होता है किन्तु भाव दो होते हैं।

(३) श्लेष और यमक—श्लेष में एक ही शब्द के दो अर्थ हो जाते हैं; किन्तु यमक में वह शब्द दो बार आवेगा, तब दो अर्थ होंगे।

अब अर्थ में रहने वाले अलंकारों—अर्थालंकारों—का वर्णन करते हैं। अनेक अर्थालंकार समानता पर निर्भर होते हैं। जब हम किसी रमणी के मुख की सुन्दरता का वर्णन करते हैं तो कहते हैं कि उसका "मुख चन्द्र के समान सुन्दर है"। यहाँ जिस वस्तु की समानता दिखलाई जाती है वह "मुख" है इसे "प्रस्तुत" या "उपमेय" (उपमा के योग्य) कहते हैं; जिससे समानता दिखलाई जारही है वह "चन्द्र" है, उसे "उपमान" (उपमा का मापदंड Standard of Comparision) कहते हैं; "सुन्दर" शब्द "सामान्य धर्म" (Common quality) कहलाता है; "के समान" समानता सूचक शब्दों को 'वाचक' कहते हैं।

(१) उपमा—(Simile) जहाँ दो वस्तुओं में किसी गुण या धर्म की समानता दिखाई जावे। यदि उसमें ऊपर लिखे हुए चारों अंग हों तो वह 'पूर्णोपमा' कहलावेगी—

'कमल सा सुन्दर मुख देखकर,
भ्रमर से चंचल दृग आ जमे।'

यहाँ मुख तथा दृग 'उपमेय', कमल तथा भ्रमर उपमान, सुंदर तथा चंचल साधारण धर्म और सा तथा से वाचक शब्द हैं; अतः दो बार पूर्णोपमा आई है।

(२) अनन्वय—जहाँ उपमेय और उपमान एक ही वस्तु हो—

'कमल सा बस कोमल कमल ही'

यहाँ पर उपमेय भी कमल है, और उपमान भी कमल ही। इसमें यह व्यञ्जना होती है कि उपमेय इतना उत्कृष्ट है कि उसकी समानता का कोई दूसरा है ही नहीं।

(३) स्मरण—जहाँ समान वस्तु को देखकर अन्य वस्तु की (समानता के कारण) याद आ जावे—

'गगन में देखा नव चन्द्रमा,
प्रिया मुख की कर याद, अधीर बन।'

(४) रूपक—उपमेय में उपमान का आरोप—

'निरखते मुख-चन्द्र बिमूढ़ बन,
दृग-चकोर ठगे से रह गये।'

यहाँ नायिका के मुख को चन्द्र और नायक के नेत्रों को चकोर बनाही दिया है।

नोट—रूपक और परिणाम जहाँ उपमेय द्वारा किया जाने वाला कार्य उपमान द्वारा दिखाया जाय वहाँ परिणाम अलङ्कार होता है। परिणाम का अर्थ होता है—भाव का बदलना—जैसे, कर कमलन धनु सायक फेरत, यहाँ पर फेरना कर का काम है न कि कमल का, जहाँ कार्य उपमान के उपयुक्त हो वहाँ रूपक अलङ्कार होता है ऊपर के उदाहरण में मुख चन्द्र और दृग चकोरों की परस्परानुकूलता है। वचन सुधा पान कराई में रूपक अलङ्कार होगा क्योंकि सुधा पिलाई ही जाती है। किन्तु यदि कोई कहे-वचन सुधा सुनाई, तो परिणाम होगा क्योंकि सुनना वचन के लिये उपयुक्त है सुधा के लिये नहीं।

(५) अपन्हुति—जहाँ उपमेय का प्रतिषेध करके उपमान की स्थापना हो—

'नील वस्त्र में छिपा हुआ मुख नहीं'
गगन तल में मयंक है।'

यहाँ नीली साड़ी पहिने हुए नायिका का मुख देखकर कवि उसका प्रतिषेध करता है और उसे नीलाकाश में चमकता हुआ चन्द्र बतलाता है।

(६) संदेह—जहाँ कवि की कल्पना द्वारा उपमेय में उपमान का संशय हो—

'चमकता नभ बीच मयंक था
प्रिया ही मम बाट निहारती।'

यहाँ आकाश में चन्द्र को देखकर नायक को छत पर खड़ी हुई नायिका का संदेह हो रहा है।

(७) भ्रम—संशय ही न रहकर जहाँ उपमेय के स्थान पर उपमान का विश्वास हो जाय—

'भूलि चकोर दीठि मुख लावा।'

चकोर मुख को चन्द्र समझकर उधर ही दृष्टि लगा बैठी।

नोट—सन्देह में निश्चय नहीं होता है। विकल्प रहता है—यह है अथवा यह है—भ्रम में निश्चय हो जाता है यद्यपि वह निश्चय गलत होता है।

(८) उत्प्रेक्षा—उपमेय की उपमान के रूप में सम्भावना—

बरुनी का बरनौं इमि बनी।
साधे बान जानु दुइ अनी॥

यहाँ कवि नायिका की बरुनी को अनी (सेना) से सम्भावना कर रहा है।

इस अलंकार का चिन्ह 'मानो' 'जानो' इत्यादि हैं।

(९) व्यतिरेक—जहाँ उपमेय में उपमान से अधिक गुण हो अथवा उपमान में कुछ न्यूनता दिखाई जाय—

कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात नर, यह पाये बौराय॥

इस (स्वर्ण) में इतनी मादकता है कि (धतूरे के समान) इसे खाने की आवश्यकता नहीं, इसे पाकर ही आदमी मतवाला हो जाता है—

'सिय अंग कोमल, कनक कठोर।'

यहाँ उपमान (कनक) में कोमलता की हीनता है।

(१०) प्रतीप—प्रतीप का अर्थ है उलटा। इसमें उपमेय को उपमान बना दिया जाता है या उपमान की निरर्थकता दिखाई जाती है—तिरस्कार किया जाता है—

सन्ध्या फूली परम प्रिय की कान्ति-सी है दिखाती।
कुलिस कुन्द कुड़मल दामिन द्युति दसनदेखि लजाती

(११) समासोक्ति—जिस वाक्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जो उपमान और उपमेय दोनों के विषय में लगाये जा सकें, और इस प्रकार एक अप्रस्तुत (नवीन) अर्थ का आरोप किया जाय—

'मणिमय बालुका के तट-पट खोल के।
क्या क्या कल वाक्य नैश निर्जन में बोल के।
श्रांत सुर-सरिता समीर को है भेंटती॥'

यहाँ 'सुर-सरिता' और 'समीर' के व्यवहार में नायिका तथा नायक के आलिङ्गन आदि व्यवहार का आरोप है।

(१२) अर्थान्तरन्यास—जहाँ सामान्य बात के कहने से विशेष की पुष्टि हो अथवा विशेष के कहने से सामान्य का समर्थन किया जावे—

"दान दीन को दीजिए, हरै दरिद की पीर।
औषधि ताको दीजिए, जाके रोग शरीर॥"

सामान्य की विशेष से पुष्टि—

"टेढ़ जानि शंका सब काहू।
बक्र चन्द्रमहि ग्रसै न राहू ॥"

(१३) विभावना—जहाँ कार्य के बिना कार्य की उत्पत्ति हो—

"जीभ नाहिं पै सब कछु बोला।
तन नाही सब ठाहर डोला ॥"

(१४) विशेषोक्ति—जहाँ कारण के होने पर भी कार्य न हो—

'त्यों-त्यों प्यासे ही मरत,
ज्यों-ज्यों पियत अघाय।"

'अघाय कर' पीने से भी प्यासे मरते हैं।

(१५) असंगति—कार्य कहीं हो और उसका कारण कहीं हो—

"दृग उरझत,टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गांठि दुरजन हियैं, दई नई यह नीति ॥"

यहाँ उलझने वाला वस्तु दृग है, किन्तु कुटुम्ब से सम्बन्ध टूटता है, फिर इसको देख कर दो व्यक्तियों के चित्तों में प्रीति जुड़ जाती है, और अन्त में दुष्टों के हृदय में गाँठि पड़ती है (किन्तु संसार में जो वस्तु उलझती है, वही टूटती है, उसी को जोड़ते हैं और इसीलिए उसी में गाँठ पड़ती है); इसी से असंगति है।

अथवा —"हृदय तीर मेरे, पीर रघुबीरै"।

(१६) उल्लेख—एक ही वस्तु को अनेक लोग भिन्न-भिन्न रूप में देखें—

"देखे भूप महा रनधीरा।
मनहुँ वीररस धरे सरीरा॥
पुरवासिन देखे दोउ भाई।
छवि-निधान लोचन सुखदाई ॥"

(१७) दृष्टान्त—उपमान और उपमेय वाक्यों का जहाँ बिम्ब (object) प्रतिबिम्ब (image) भाव हो—

"सहृदय जन ही काव्य का लेते हैं आनन्द।
पीते हैं अलिवृन्द ही, अमल कमल मकरन्द ॥"

(१८) परिसंख्या—जहाँ कथित स्थान के अतिरिक्त अन्य स्थानों में किसी वस्तु या गुण का अभाव ही बतलाया जाय—

"दंड जतिन कर भेद जहँ, नरतक नृत्य समाज।
जितहु मनहिं अस सुनिअयत, रामचन्द्र के राज ॥"

रामराज्य में लोग इतने अच्छे हो गये थे कि दण्ड की आवश्यकता न थी, दण्ड केवल सन्यासियों के हाथ में रहता था; भेदभाव लोगों में न था, केवल भेद के रूप में नर्तक समाज में ही था; जीत भी मन की ही होती थी शत्रु कोई रहा ही न था।

नोट—'परिसंख्या' शब्द का अर्थ है सीमित कर देना (Limiting)।

(१९) प्रत्यनीक—प्रधान शत्रु द्वारा तिरस्कृत होने पर अशक्त यदि उसके किसी सम्बन्धी का तिरस्कार करता दिखाया जाय—

"सिंह न जीता लंक सरि, हारि लीन्ह बनवासु।
तेहि रिस मानुस-रकत पिय, खाइ मारि कै माँसु ॥"

सिंह मनुष्यों को मानों इसलिए मार कर खाता है कि वह मनुष्यों में एक-पद्मावती-की कमर से अपनी कमर की तुलना में जीत न सकता था।

(२०) मीलित—किसी समान वस्तु में अन्य वस्तु का अत्यन्त सादृश्य के कारण छिप जाना—

"कजरारी अँखियाँन में, कजरा री न लखाय।"

(२१) उन्मीलित—मीलित का उलटा होना—

"चंपक हरवा अंग मिलि, अधिक सुहाइ।
जान परे सिय हियरे, जब कुम्हिलाइ ॥"

(२२) तद्‌गुण—जहाँ अपने गुणों को छोड़ कर वस्तु अत्यन्त उत्कृष्ट के गुणों को ग्रहण कर लेती है—

"नयन की श्यामल कान्ति से,
हुई कुछ श्यामल नख प्रभा ॥"

(२३) अतद्‌गुण—तद्‌गुण का उलटा—

"चन्दन विष व्यापै नहीं, लपटे रहत भुजङ्ग।'

(२४) परिकरांकुर—जहाँ साभिप्राय शब्दों (विशेष्यों) का प्रयोग हो—

"वामा, भामा, कामिनी कहि बोलो प्रानेस।
प्यारी कहत लजात नहिं, पावस चलत विदेस।"

यहाँ वामा (सदा टेढ़ी चलनेवाली), भामा (कोप करने वाली) कामिनी (कामारूढ़ा) प्यारी इत्यादि शब्द

सूर : वल्लभ-सम्प्रदाय (पुष्टि मार्ग)

'सूर का एक विद्यार्थी'

[वैष्णव सम्प्रदाय के कवियों का, विशेषतः अष्टछाप के कवियों का, अध्ययन करने के लिए पुष्टि-मार्ग का ज्ञान आवश्यक है। इसी दृष्टि से इस सम्प्रदाय का स्थूल दिग्दर्शन हम यहाँ दे रहे हैं—सम्पादक]

नाम क्यों ?

पुष्टि का अर्थ अनुग्रह है। 'भागवत' में कहा गया है 'पोषणं तदनुग्रहः' भगवान कृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है। अनुग्रह के सम्बन्ध में मुण्डकोपनिषद ३, २, ३ में यह उल्लेख है : 'नायमात्मा बल हीनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैषु आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।' कठोपनिषद के १-२-२२ में भी यह द्रष्टव्य है। यहाँ यह स्पष्ट विदित होता है कि ईश्वर की प्राप्ति ईश्वर के अनुग्रह पर ही निर्भर है। ब्रह्म-सूत्र के २ ३-४२ पर अणु-भाष्य में स्वयं वल्लभाचार्य जी ने लिखा है: 'फलदाने कर्मापेक्षः। कर्म कारणे प्रयत्नापेक्षः। प्रयत्ने कामापेक्षः। कामे प्रवाहापेक्ष इति मर्यादा रक्षार्थं वेदंचकार। ततो न ब्रह्मणि दोष गन्धोऽपि। न चानीश्वरत्वम्। मर्यादा मार्गस्य तथैव निर्माणात। यत्रान्यथा स पुष्टि मध्य इति।' इसमें 'पुष्टि' मार्ग को मर्यादा मार्ग से भिन्न बताया है। एक स्थल और है जहाँ आचार्यजी ने इस पर विशेष प्रकाश डाला है।

कृति साध्यं साधनं ज्ञान भक्ति रूपं शास्त्रेण बोध्यते। ताभ्यां विहितभ्यां, मुक्तिर्मर्यादा। तद्रहिता नामपिस्वरूप बलेन स्वप्रापणं पुष्टि रित्युच्यते। 'अतः अपनी ही शक्ति से (स्वस्वरूप बलेन) ब्रह्म जो मुक्ति भक्तों को प्रदान करता है, वह पुष्टि कहलाती है ? तथा च यं....'

मर्यादा मार्ग में तो ज्ञान और भक्ति के साधन करने से मुक्ति मिलती है। पुष्टि मार्ग में तो सब कुछ समर्पण करने से ही। इस प्रकार यह नाम 'मर्यादामार्ग' से विभेद प्रदर्शित करने के लिए है। जिस मार्ग में कर्म के अनुसार फल न मिले, ईश्वर की कृपा तथा अनुग्रह या पुष्टि से मुक्ति मिले—वही मार्ग पुष्टि मार्ग। भगवदनुग्रह ही, मनुष्य का निजी उद्योग नहीं, मुक्ति का साधन है।

अपने-अपने विशेष अभिप्राय में आये हैं।

(२५) सहोक्ति—सह (साथ) शब्दार्थ के बल से जहाँ एक शब्द दो अर्थों का वाचक हो (इसकी मूल में अतिशयोक्ति रहती है):—

"यौवन संग राग अधरों में,
और प्रेमियों के मन में।"

यहाँ यौवन के आते ही अधरों पर राग (लाली) तथा प्रेमियों के मन में राग (प्रेम) बढ़ने लगा।

(२३) विनोक्ति—यहाँ एक के बिना दूसरा असुन्दर नहीं होता या हो जाता है—

"कमल ज्यों मधुकर के बिना,
प्रिये तब आनन की छटा।"

यहाँ मधुकर के बिना कमल, सुन्दर होते हुए भी, सुन्दर नहीं रहा।

(२७) अत्युक्ति—जहाँ किसी वस्तु का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन हो—

"बिहँसत, जगत होत उजियारा।"

यहाँ हँसने से संसार में प्रकाश हो जाता है।

आधार-ग्रन्थ—

प्रस्थान त्रयी तो प्रसिद्ध ही है : १ वेद (उपनिषदें सम्मिलित), २ गीता, ३ ब्रह्मसूत्र। इनमें वल्लभाचार्यजी ने एक और वृद्धि की। उन्होंने 'भागवत' पुराण को भी वही महत्व दिया जो वेद, गीता और ब्रह्मसूत्र को है। 'ब्रह्मसूत्र' की टीका स्वयं श्री वल्लभाचार्यजी ने की है—जो अणु-भाष्य के नाम से विख्यात है। भागवत की टीका भी आचार्यजी द्वारा प्रणीत 'सुबोधिनी' के नाम से विदित है। श्री वल्लभाचार्यजी के इन दो आधार-ग्रन्थों के साथ कुछ अन्य रचनाएँ भी हैं। सम्प्रदाय में वे भी प्रामाणिक और आधार मानी जाती हैं। वे हैं निबन्धत्रय, षोडश-ग्रन्थ, 'संन्यास-निर्णय', 'शिक्षा-श्लोक' तथा अन्य कई प्रकीर्ण-ग्रन्थ हैं। फिर गोसाईं विट्ठलनाथजी, गोकुलनाथजी तथा हरिरायजी की रचनाएँ भी प्रामाणिक कोटि में आती हैं, पर आधार-ग्रन्थ 'प्रस्थान चतुष्टय' और उस पर आचार्यजी की टीकायें ही माने जायेंगे।

पुष्टि मार्ग का स्थूल पक्ष क्या ?

पुष्टिमार्ग मायावाद का खंडन करता है, भक्ति की स्थापना करता है, और भक्ति के अन्य सम्प्रदायों से भी पृथकता रखता है।

मायावाद के विरुद्ध तो यह शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिष्ठापक है। यह ब्रह्म को विरुद्ध धर्माश्रय मानता है। प्रपंच और संसार में भेद करता हुआ, प्रपंच को भगवत्कृत मानता है, इसलिए सत्य भी मानता है। संसार को अहन्तात्मक अर्थात् अविद्याकृत मानता है—संसार ही इसलिए मिथ्या है। जीव स्वयं चैतन्य स्वरूप ब्रह्म नहीं। फलतः 'अहं-ब्रह्म' का यह मार्ग विरोध करता है। यह तो जीव को भगवदंश अणु स्वरूप विसर्पिगुण-चैतन्य मानता है।

चारों भक्ति सम्प्रदायों और उनके उपसम्प्रदायों* से वल्लभ सम्प्रदाय का पक्ष भिन्न है, उक्त सभी सम्प्रदाय मर्यादा-मार्ग हैं। वे लक्ष्मीनारायण, रामचन्द्र, हिरण्यपुरुष तथा श्रीकृष्ण (विष्णुस्वामी) को आराध्य मानते हैं। आराध्य की दृष्टि से वल्लभ सम्प्रदाय विष्णुस्वामी सम्प्रदाय का निकटवर्ती है, इसीलिए उसे विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की शाखा माना जाता है। पर विष्णुस्वामी सम्प्रदाय से वल्लभ सम्प्रदाय का भेद है। विष्णुस्वामी सगुण भक्ति के प्रचारक और प्रतिष्ठापक थे। वल्लभाचार्यजी ने 'निर्गुण' (अहैतुकी निष्काम) भक्ति की स्थापना की।

शङ्कर ने संन्यास को प्रधानता दी। वल्लभ ने गृहस्थ धर्म को निभाने के उपरान्त अन्त में संन्यास लिया, और इस प्रकार दोनों का समन्वय स्थापित किया, तथा 'विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के भक्तिमार्ग को पाँच सिद्धान्त रत्नों से विशेष अलंकृत किया है : वे हैं—(१) गुरु सेवा, (२) भागवतार्थ (सुबोधिनी), (३) भगवत्स्वरूप निर्णय, (४) भगवत्सेवा (पूजा मार्गीय उपासना से विलक्षण) तथा (५) निरपेक्षता।'.....'हरिर्यद्यत्करिष्यति, तथैव तस्य लीला' यह भावनामय निरपेक्षता (निष्कामता) इस सम्प्रदाय का मुकुट-हीरक है।

भगवान श्रीकृष्ण क्षर—'अधिभूतं क्षरो भावः'—'क्षर' परमात्मा का आधिभौतिक स्वरूप है।

अक्षर—"प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्मा भवत्पुरा;
यद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते।"

जिस रूप का अधिष्ठान लेकर परमात्मा ने प्रकृति और पुरुष का रूप धारण किया है, वह अक्षर उनका आध्यात्मिक स्वरूप है।

इन दोनों से श्रेष्ठतम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव, कलावतार, पूर्ण पुरुषोत्तम, भगवान श्रीकृष्ण हैं।
[सं० प्र० पृ० १२१]

पूर्णावतारता—भागवत में सूतजी ने लिखा है—'एतेचांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' ये वह कृष्ण हैं जो 'सारस्वत कल्प' के हैं और जिनका उल्लेख भागवत में हुआ है।

'देवकी पुत्र भगवान श्रीकृष्ण ही परब्रह्म परमात्मा है, और वह परब्रह्म साकार, व्यापक एवं विरुद्ध-धर्माश्रय-

* उपसम्प्रदाय ये हैं—

१—विष्णु सम्प्रदाय का चैतन्य, २—रामानुज सम्प्रदाय का नन्द (रामानन्द) ३—मध्व सम्प्रदाय का प्रकाश, ४—निम्बार्क का स्वरूप (सं० प्र० पृ० ७४)।

स्वरूप है।

'श्रीवल्लभाचार्यजी साक्षात् श्री भगवान को अवतार हैं, और चार्यो आचार्य चार्यों सम्प्रदाय के अक्षर ब्रह्म तें प्रगटित हैं। तिनकी प्राप्ति हू अक्षर ब्रह्म में है।'' [म० प्रा० वा० भा० प्र० पृ० ५०]

अतः श्री गुसाँईजी वल्लभाष्टक माँ ''वस्तुतः कृष्ण एव'' ऐम आज्ञा करे छे [प्रा० वा० र० प्रथम भाग—वार्तारहस्य (गुजराती) पृ० ५]

हरिरायजी ने 'भावप्रकाश' में एक स्थान पर यह भी लिखा है—

''सो जैसे श्रीकृष्ण और श्री स्वामिनीजी में न्यारो स्वरूप जाने सो अज्ञानी। सो तैसें श्री गोवर्द्धनधर और श्री आचार्यजी हैं। [प्रा० वा० र० द्वि० भा० पृ० ५३]

इनसे निष्कर्ष मिलता है कि—

१—श्री वल्लभाचार्य वैश्वानरावतार, अग्नि अवतार, पूर्ण पुरुषोत्तम के मुखावतार हैं। [अग्नि पुरुषोत्तम का मुख है] अतः वे वाक्पति हैं।

२—उनमें श्रीकृष्ण का आवेश है। वे साक्षात् प्रभु हैं, देवकीपुत्र हैं, वस्तुतः कृष्ण हैं।

शुद्धाद्वैत—पुष्टि मार्ग का ब्रह्म माया से अलिप्त अतः नितान्त शुद्ध है। [भा० द० ५१५]

माया सम्बन्ध रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्मन्न मायिकम् ॥२८॥

[शुद्धाद्वैत मार्तण्ड भा० द० पा० टि० ५१५]

''इस मत में ब्रह्म सर्वधर्म विशिष्ट अङ्गीकृत किया गया है। अतः उसमें विरुद्ध धर्मों की स्थिति भी नित्य है। ·······यह विरुद्ध धर्मों की सत्ता माया से प्रतिभासित नहीं होती है, प्रत्युत स्वाभाविक है।'' पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त शुद्धाद्वैत का सिद्धान्त है।

ब्रह्म और जगत एक हैं—जिस प्रकार लपेटा गया कपड़ा फैलाने पर वहीं रहता है, उसी प्रकार आविर्भाव दशा में जगत तथा तिरोभाव रूप में ब्रह्म एक ही है, भिन्न नहीं। जगत का आविर्भाव कार्य केवल लीलामात्र है। [भारतीय दर्शन पृ० ५१६]। अतः जगत ब्रह्मरूप एवं नित्य है।

''जगत के विषय में आचार्य 'अविकृत परिणामवाद' को स्वीकार करते हैं।······जिस प्रकार कुण्डलादि रूपों से परिणत होने पर भी सुवर्ण में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार जगद्रूप से परिणत होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध में इसी तत्व का सुन्दर प्रतिपादन करता है—

यथा सुवर्णं सुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च
सर्वस्य हिरण्मयस्य।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशै
रहमस्य तद्वत्॥

आचार्य जगत की उत्पत्ति तथा विनाश को नहीं मानते, प्रत्युत आविर्भाव तथा तिरोभाव के पक्षपाती हैं।

[भा० द० पृ० ५१८]

जगत् और संसार—वल्लभमत में जगत और संसार में एक विलक्षण पार्थक्य स्वीकृत किया जाता है। ईश्वरेच्छा के विलास से सदंश से प्रादुर्भूत पदार्थ को 'जगत' कहते हैं, परन्तु पंचपर्वा अविद्या के द्वारा जीव के द्वारा कल्पित ममता रूप पदार्थ की संज्ञा 'संसार' है।

[भा० द० पृ० ५१८]

अविद्या—अविद्या के पाँच पर्व होते हैं—स्वरूपाज्ञान, देहाध्यास इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास तथा अन्तःकरणाध्यास। इस अविद्या की सत्ता रहने पर संसार है, अतः ज्ञान के उदय होने पर 'संसार' का तो नाश हो जाता है। परन्तु ब्रह्मरूप होने से 'जगत' का कभी विनाश सम्भव नहीं। [भा०द० पृ० ५१८-१६

जीव—भगवान को जब रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब वे अपने आनंदादि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीव रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस व्यापार में क्रीड़ा की इच्छा ही प्रधान कारण है, माया का सम्बन्ध तनिक भी नहीं रहता। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दीनता उत्पन्न होती है और यश के तिरोधान से

[शेष पृष्ठ ३३६ में]

साहित्यिक-सदालाप

'साहित्य' की परिभाषा और व्याख्या

श्री रामदहिन मिश्र

[यद्यपि प्रस्तुत लेख हमारे पास एक प्रत्यालोचना के रूप में आया है और हम प्रायः उन्हीं प्रत्यालोचनाओं को छापते हैं जिनकी मूल आलोचना हमारे पत्र में प्रकाशित हुई हो, तथापि साहित्य शब्द की व्याख्या सम्बन्धी मूल्यवान सामग्री होने के कारण उसके उस अंश को हम विद्यार्थियों के हित में देना आवश्यक समझते हैं। —सम्पादक]

मेरे श्रीगणेश के साथ पाण्डेयजी की आलोचना का श्रीगणेश इस प्रकार है—

साहित्य शब्द का बहुत व्यापक अर्थ है।.... आप ही कहें किसी 'काव्यालोक' की भूमिका में 'साहित्य शब्द का बहुत व्यापक अर्थ है।' कहाँ तक शोभा देता है, सो भी आरम्भ में।"*

किसी काव्यशास्त्र की पुस्तक की भूमिका में साहित्य पर विचार करना क्या कोई पाप है? साहित्य शब्द की व्यापकता के विषय में कुछ लिखना क्या कुछ असंगत है? भूमिका के आरम्भ में इस पर विचार करना मुझे क्या सब को उचित प्रतीत होगा।

'धीयते' अर्थात् जो धारण किया जाय या अपनाया जाय वह है 'हित'। हित के साथ जो रहे वह है 'सहित' और उसका भाव है 'साहित्य'। अथवा सहित अर्थात् संयुक्त वा सहयोग से अन्वित का जो भाव है, वह 'साहित्य' है। सहित का तृप्त भी अर्थ है। इसका भाव भी 'साहित्य' है।

हित के साथ वर्तमान इस अर्थ में सभी प्रकार के ग्रन्थ आ जाते हैं। सहयोगान्वित के अर्थ में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध आदि का ग्रहण हो जाता है। 'साहित्य' श्रोताओं को तृप्त कारक होता है। अतः अन्त की व्युत्पत्ति भी सार्थक है।

सहित का अर्थ है संयुक्त। किस से संयुक्त इस आकांक्षा में 'रस' का आक्षेप विद्वान् करते हैं। और रस से संयुक्त अर्थ लेते हैं। इसके अतिरिक्त भी 'साहित्य' शब्द के अनेक विग्रह और अर्थ किये जाते हैं।

साथ के अर्थ में गुप्तजी ने 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किया है—

> तदपि निश्चिन्त रहो तुम नित्य,
> यहाँ साहित्य नहीं साहित्य।

'साहित्य' शब्द का नये नये अर्थों में भी प्रयोग होने लगा है। गुप्तजी का एक पद्य और लें—

> नयी नयी नाटक-सज्जायें सूत्रधार करते हैं नित्य।
> और ऐंद्रजालिक भी अपना भरते हैं नूतनसाहित्य॥

यहाँ 'साहित्य' का कौशल आदि अर्थ लिया जा सकता है। 'जैनेन्द्र के विचार' में जैनेन्द्रजी का एक वाक्यांश है—

'........अपनी अनोखी लगन और अपने निराले 'विचार-साहित्य' के कारण कल वे ही आदर्श मान लिये जाते हैं।'

यहाँ यदि साहित्य का उपर्युक्त ही अर्थ है तो उत्तम, नहीं तो विचार-वैभव, विचार-गाम्भीर्य, विचार-वैचित्र्य या ऐसा ही कोई नया अर्थ लिया गया तो 'साहित्य' शब्द के अर्थ का यह नवीन अवतार समझा जायगा।

'साहित्य' शब्द की अर्थ-व्यापकता के सम्बन्ध में इतना लिखना ही पर्याप्त है।

आपका दूसरे वाक्य पर जो आक्षेप है वह और वाक्य इस प्रकार हैं—

"इस नामरूपात्मक जगत् में नाम और रूप का शब्द और अर्थ का केवल सहयोग ही साहित्य नहीं है, अपितु उसमें अनुकूल एक के साथ

---

* श्री चन्द्रबली पाण्डेय के एक प्रचारपत्र में 'काव्यालोक' (द्वितीय उद्योत) की विषयगत शङ्काओं का समाधान।

रुचिर दूसरे का सहृदयश्लाघ्य सामञ्जस्य स्थापित करना भी है।" यह है वाक्य और

"क्या यह वाक्य विचार, भाव, विराम और व्याकरण आदि की दृष्टि से साधु है?" यह है आक्षेप।

मैं विचार और भाव में विशेष अन्तर नहीं मानता। जहाँ बुद्धि का योग ऊहापोह या तर्क-वितर्क के व्यापार में लग्न रहता है वहाँ 'विचार' और इस ऊहापोह का जो निगमन होता है वह 'भाव' कहलाता है। यह सामान्य भेद किया जा सकता है। वस्तुतः विषय के सम्बन्ध में जो वक्तव्य है, उसे विचार कहते हैं। मेरे वर्णन में दोनों का अंश है और दोनों की दृष्टि से मैं कहूँगा कि यह वाक्य ठीक है।

शब्द और अर्थ का सम्मेलन ही साहित्य है। प्राचीन काल से ही पण्डितों ने शब्द और अर्थ के इस गहन सम्बन्ध की ओर ध्यान दिया था। कालिदास ने इसी विचार से वचन और अर्थ का तात्पर्य समझने के लिये वाक' और 'अर्थ' के समान मिले हुए हर-पार्वती की' वन्दना की थी[१]। अर्धनारीश्वर हर-गौरी का सम्बन्ध जैसा नित्य है वैसा ही शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य है।

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक साहित्य के इस सम्मिलित शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि शब्द और अर्थ का जो शोभाशाली सम्मेलन होता है वही 'साहित्य' है। शब्द और अर्थ का यह सम्मेलन वा विचित्र विन्यास तभी सम्भव है जबकि कवि अपनी प्रतिभा से जहाँ जो शब्द उपयुक्त हो, न अधिक और न कम, वहीं रखकर अपनी रचना को रुचिकर बनाता है।*

जहाँ शब्द और अर्थ सब गुणों में समान हों, मित्रों के समान मिले हुए हों, दोनों ही दोनों के परस्पर शोभाधायक हों, वहाँ ही यथार्थ सम्मेलन है, साहित्य† है।

इतने ही से अब यह बात समझ में आ जायगी कि काव्य में शब्द और अर्थ क्या हैं? उनका सहयोग क्या है? एक का अनुकूल होना, दूसरे का सुन्दर होना और उनके सामञ्जस्य का सहृदय-श्लाघ्य होना साहित्य के लिये कितना आवश्यक है। क्या इस प्रकार के विचार और भाव साधु नहीं तो असाधु हैं? मैं क्या सभी इस बात को समझेंगे कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में आचार्यों के विचार और भाव असाधु नहीं हैं।

प्राचीन आचार्यों को छोड़िये। रीड साहब भी यही बात कहते हैं, जिसका सारांश यह है कि काव्य में शब्द और अर्थ का सुन्दर साहित्य अर्थात् सौन्दर्याधायक सम्पर्क होना चाहिये।‡

नीलकण्ठ दीक्षित काव्य में शब्द और अर्थ का कैसा भावात्मक वर्णन करते हैं—

'शङ्कर के शरीर का बाँया भाग शब्दमय है और दाहिना भाग अर्थमय। ऐसे जगन्मंगलकारी ईश्वरांग काव्य

१ वागर्थाविवसंपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ॥ —रघु०

* साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्व मनोहारिण्यवस्थितिः॥

† समौ सर्वगुणौ सन्तौ सुहृदयाविव संगतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा॥—रुद्रट

‡ Poetry is expressed in words and words suggest images and ideas and in poetry we may be explicitly conscious of both the words and ideas or images with which they are associated. The two must be aisthetically relevant. They must form parts of a single harmonious system. As A. C. Bradely has it the meaning and sounds are one; there is, if I may put it so a resonant meaning are a meaning resonance.

को भला अल्प पुण्य वाले कैसे प्राप्त कर सकते[1] हैं ?

यह विचार और भाव की बात हुई। अब व्याकरण और विराम आदि की बात लीजिए। व्याकरण आदि कहने से ही विराम का ग्रहण हो जाता है। क्योंकि चिन्ह-विचार भी व्याकरण का ही अङ्ग है। व्याकरण की प्रधानता है। इससे उसका प्रयोग पहले होना चाहिये। सम्भवतः आपका विचार ऐसा हो कि दूसरे वाक्य के एक-दो टुकड़े और हो जाते तो अच्छा होता। पर मैं तो कहूँगा कि यह वाक्य व्याकरण से शुद्ध है और इसमें विराम चिन्ह की अवश्यकता नहीं थी। अर्थ की स्पष्टता के लिए ही तो विराम-चिन्ह चाहिये। किन्तु यहाँ अर्थ की अस्पष्टता नहीं है। विचार और भाव की दृष्टि से वाक्य गम्भीर है। इस पर पाण्डेय जी का ध्यान न गया हो सो बात नहीं। पर प्रारम्भ में ही दोष दिखलाना आवश्यक था, कुछ कह दिया 'आदि' के अन्तरङ्ग का पता पाना तो अत्यन्त कठिन है।

३—'कभी काव्य पर कुछ लिखिये तो काव्य और साहित्य के भेद को समझ कर ही—'

आपकी आज्ञा या उपदेश शिरोधार्य है। लेखक ने ऐसी ही चेष्टा की है। उसने साहित्य और काव्य को जो समझा है वह यह है।

साहित्य शब्द आधुनिक कहा जा सकता है। पर काव्य शब्द बहुत प्राचीन है। पहले साहित्य शब्द के लिये काव्य शब्द का ही प्रयोग होता था। वैदिक काल से लेकर निरन्तर इसका व्यवहार हो रहा है। वेद में 'काव्यम्' शब्द आया है और उसका अर्थ होता * है—कविकर्म, कवित्त, स्तोत्र, स्तुत्यात्मक वाक्य। काव्य शब्द की व्युत्पत्ति भी यही अर्थ सिद्ध करती है।

संस्कृत में साहित्य शब्द निर्णायक ग्रन्थों के लिये एक प्रकार से रूढ़ हो गया है। इसी से विद्वद्वर्ग काव्य प्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगङ्गाधर को साहित्यग्रन्थ ही कहता है। यद्यपि वह देखता है कि उपर्युक्त ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय एक ही है पर उनके नाम काव्य, साहित्य और रस के साथ रक्खे गये हैं। क्योंकि उसकी दृष्टि में काव्य की चर्चा करने वाले ग्रन्थ साहित्य-ग्रन्थ हैं। 'काव्यालोक' काव्याङ्ग का ही विचार करता है अतः वह भी साहित्यग्रन्थ हुआ और उसके आरम्भ में साहित्य के स्वरूप को निश्चित करना अप्रासंगिक कदापि नहीं हो सकता। यह प्राचीन रूढ़ि अब मिटती जा रही है और साहित्य शब्द काव्य का ही नहीं, वाङ्मय-मात्र का बोधक होता जा रहा है।

अर्थविस्तार के कारण अब उसमें विशेषण का संयोग भी आवश्यक होता जा रहा है। जैसे कि संस्कृत-साहित्य, भाषा-साहित्य, ऐतिहासिक साहित्य, लौकिक साहित्य आदि। बिना विशेषण के केवल साहित्य शब्द से काव्य विषयक साहित्य ही समझा जाता है।

४—क्या यह साहित्य परंपरागत साहित्य है?

इस प्रश्न का भाव स्पष्ट नहीं है। परंपरागत से आपका क्या अभिप्राय जो कुछ हो। साहित्य शब्द और उसके अर्थ की परम्परा है।

आदि कवि 'वाल्मीकि' के आदि काव्य रामायण के उत्तर-काण्ड में साहित्य शास्त्र का नाम 'क्रियाकल्प' आया है,[1] यही शब्द 'वात्स्यायन' के कामसूत्र में भी है। इस 'क्रिया कल्प' शब्द की व्याख्या 'जयमङ्गल' लिखते हैं—काव्य-करण-विधिः—काव्य रचना की रीति ही 'क्रियाकल्प' है, अर्थात् काव्यालङ्कार।[2] काव्य-करण-विधि का अर्थ ही साहित्य-शास्त्र है।

कामन्दकीय नीति शास्त्र में जहाँ स्त्री-संग निषेध का प्रसङ्ग आया है वहाँ उसका प्रयोग है।[3] इस शब्द का

१—सत्यं वपुः शब्दमयं पुरारेः अर्थात्मकं दक्षिणमामनन्ति। अङ्गं जगन्मङ्गलमैश्वरं तत् लहन्ति काव्यंकथमल्पपुण्याः।

* आत्मा 'यज्ञस्य रंह्या सुष्वाणः पवते सुतः। प्रत्नं नि पाति काव्यम्, ऋक् ६। ७। ८

१ क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदोजनान्। रा० उ० ६४। ५

२ क्रियाकल्प इति काव्यकारणविधिः काव्यलंकार इत्यर्थः। काम सूत्र १। ३। १६ पृ० काशी सं०

३ एकार्थं चर्यासाहित्यं संसर्गंच विवर्जयेत्।

वर्तमान अर्थ में अनुमानतः उसी समय से प्रयोग किया गया होगा जब कि काव्य-साहित्य को शब्द और अर्थ का सम्मिलित रूप मान लिया गया होगा।

राजशेखर ने नवीं शताब्दी में साहित्य शब्द का प्रयोग किया है। वे कहते हैं कि शब्द और अर्थ के यथावत् सहयोग वाली विद्या साहित्य विद्या[1] है।' इतने ही से अब विदित हो जायगा कि साहित्य की परम्परा है। आज हिन्दी में जो व्यापकार्थक साहित्य शब्द का प्रचार है वह बँगला साहित्य के संसर्ग का ही परिणाम है।

५—क्या यह अँग्रेजी लिटरेचर का प्रसाद नहीं है?

जी नहीं। भले ही साहित्य के लिये यह अँग्रेजी शब्द रख लिया गया हो। यह शब्द तो विज्ञाप्य वस्तु के विज्ञापन की वाङ्मय सामग्री के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा है। क्या हमारे साहित्य शब्द का कुछ ऐसा ही अभीष्ट है? हम तो नहीं समझते। अब तक की व्याख्या से कोई भी कह सकता है कि साहित्य क्या वस्तु है। प्राच्य आचार्य वा विवेचक साहित्य का वह अर्थ नहीं समझते जो पाश्चात्य आलोचक मानते हैं।

६—क्या यह (साहित्य) काव्य का पर्याय हो सकता है?

हो सकता है नहीं, होता है। भर्तृहरि ने संगीत, साहित्य और कला से विहीन व्यक्ति को साक्षात् पशु[2] कहा है। यहाँ साहित्य काव्य का ही बोधक है न कि अन्य-विषयक ग्रन्थों का। क्योंकि संगीत और कला के साहचर्य में साहित्य शब्द का ही बोधक है। नैषधकार ने साहित्य को सुकुमार वस्तु[3] कहा है जो काव्य ही है।

एक कवि का कहना है कि 'जिनका मन साहित्य के सुधा समुद्र में मग्न नहीं हुआ'[1]। यहाँ भी साहित्य शब्द काव्य का ही वाचक है। सुधा-समुद्र काव्य ही हो सकता है।

शब्द और अर्थ का सुन्दर सहयोग ही साहित्य है। यह काव्य में ही देखा जाता है। अन्यान्य विषयों में शब्द केवल विचार प्रकट करने के उद्देश्य से ही प्रयुक्त होते हैं। उनके सौष्ठव पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता। उनका सुन्दर सहयोग उपेक्षित रहता है। पर काव्य में उनकी समकक्षता अपेक्षित रहती है। अन्यान्य शास्त्रों में शब्दों का बहुत महत्त्व नहीं पर साहित्य में दोनों बहुमूल्य[2] हैं। अतः साहित्य से काव्य का ही बोध होता है। माघ कवि ने भी कहा है कि 'सत्कवि, शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा रखते हैं[3]।

'भोजराज' ने अपने 'शृंगारप्रकाश' में शब्द और अर्थ के समर्थ बारह धर्मों को ही साहित्य कहा है। उनमें दोषहीनता, गुणग्रहण और अलङ्कार भी हैं। काव्य-प्रकाशकार का काव्यलक्षण इसमें पैठ जाता है। इससे साहित्य और काव्य का एक होना सर्वथा सिद्ध है।

अनेक हिन्दी के विद्वानों के उद्गारों से भी यह निश्चित है कि साहित्य को काव्य कहते हैं। साहित्य की कसौटी वह संस्कार शीलता है जो हृदय से हृदय का मेल चाहती और एकता में निष्ठ रखती है। सहृदय का चित्त मुदित करता है वह खरा। संकुचित करता है वह खोटा।

—जैनेन्द्र के विचार

इसमें साहित्य शब्द की वही व्याख्या है जो काव्य की है। क्योंकि आनन्ददान की बात है। काव्य के अतिरिक्त यह किसी शास्त्र से संभव नहीं।

फूल वस्तु है। वायु के गन्धस्पर्श से फूल कितना हर्षोत्फुल्ल हो जाता है, यह भाव है। वस्तु हृदय में उतर

[शेष ३४० पृष्ठ पर]

[1] शब्दार्थयोः यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।
—काव्यमीमांसा

[2] संगीत साहित्य कला विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छ विषाणहीनः।

[3] साहित्ये सुकुमारवस्तुनि।

[1] येषां न चेतो ललनासु लग्नं मग्नं न साहित्य-सुधासमुद्रे।

[2] नचकाव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्द मात्रं प्रमुज्यते सहितयोः शब्दार्थयोः तत्र प्रयोगात्। साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनातिरिक्तत्वम्।
—वक्रोक्ति जीवित

[3] शब्दार्थौ सत्कविरिवद्वयं विद्वानपेक्षते।

'ग़बन'

प्रो० सत्येन्द्र, एम० ए०

'ग़बन' : उपराम-काल की रचना

राजनीतिक संघर्षों की गति में अत्यन्त व्यस्त उनका मन जब कुछ उपराम और विश्राम चाहता था, तो उतरे हुए ज्वार की भांति वे पूर्व तल पर आ जाते थे और तब फिर सामाजिक समस्याएँ उनका ध्यान आकर्षित कर लेती थीं। 'निर्मला' और 'गबन' ऐसे ही अवकाश-काल के उपन्यास हैं और 'सेवासदन' की परम्परा में रखे जाने चाहिएँ। 'गबन' में देवीदीन के चरित्र में एक आकर्षण है, वह हमें उपन्यास में मिलने वाले समय की सूचना देता है। उसके दो पुत्र विदेशी के बायकाट-आन्दोलन में पिकेटिंग करते हुए बलि हो चुके थे। तब उसने भी उनका स्थान लिया था ; पर अब सब ओर से शिथिल वह अपनी सेवा में ही रत है। आन्दोलन-काल की उग्रता का शमन हो गया है, उसी के साथ प्रेमचन्द भी उस ओर से हटकर देश के अन्य देवीदीनों से सानुकूलता रखने के लिए और रचनात्मक (Constructive) क्षेत्र में काम करने के लिए यह उपन्यास लिखने बैठे हैं।

'ग़बन' में सामाजिक प्रश्न

'गबन' में कई सामाजिक प्रश्न गुँथे हुए हैं। सब से बड़ा प्रश्न तो स्त्रियों की आभूषण-प्रियता का है। हमारे घर और समाज में आभूषणों को कुछ ऐसा महत्व दिया जाता है कि बालकपन से ही स्त्री के हृदय में उनके प्रति विशेष आग्रह उत्पन्न हो जाता है। इसके फल-स्वरूप अनेक तबाहियाँ और संकट सिर पर आते हैं, घर मटिया-मेट हो जाते हैं। इन सबके मूल में सामाजिक प्रतिष्ठा को दिखावे से प्राप्त करने की भावना है। दिखावे में हम बहुत ऊँची प्रतिष्ठा पायँ, यह हमारे समाज में कूट-कूटकर भरा हुआ है। इसी से अनेक व्यक्ति विवाह आदि अवसरों पर अपनी सीमा से ऊपर व्यय कर डालते हैं, अनेक अनावश्यक व्यय सिर पर ले लेते हैं और उनके भार से ऐसे दब जाते हैं कि खुलकर साँस भी नहीं ले सकते। इन दबावों के फल-स्वरूप जीवन-निर्वाह के लिए रिश्वत अनिवार्य हो जाती है। हिन्दू-समाज में हिन्दू-घर की व्यवस्था अत्यन्त दयनीय हो गई है। बेमेल और वृद्ध-विवाह भी भी समस्या है, पर इस ओर प्रेमचन्द ने केवल संकेत-भर किया है। स्त्री को उन्होंने साथ लिया है, और ऐसे विवाह करने वाले पुरुष में एक पश्चाताप की भावना उत्पन्न कर दी है। पर विधवा की दशा पर उनका ध्यान गया है। पति की मृत्यु के उपरान्त स्त्री का सम्पत्ति पर कोई भी अधिकार नहीं रह जाता। क़ानून किंचित् भी उसकी सहायता नहीं कर सकता। जिसका पति सम्पत्तिवान हो और उसके समय में स्त्री जिस शासन और विलास से जीवन बिता रही हो, पति के उपरान्त सम्पत्ति दूसरों के हाथ में चले जाने पर, वे चाहे पुत्र ही क्यों न हो, उसको एक अत्यन्त हीन अवस्था में गिर जाना पड़ता है, जो मर्मान्तिक होता है। क्या स्त्री पति के जीवन काल में भी उतनी ही पराधीनी नहीं है,

---

[शेषांश पृष्ठ ३३४ का]

हीनता।

ऐश्वर्य के	तिरोधान से	जीव में	दीनता
यश	”	”	हीनता
श्री	”	”	समस्त विपत्तियों का आस्पद
ज्ञान	”	”	अनात्मरूप देहादिकों में आत्मबुद्धि
आनन्द	”	”	दुःख को प्राप्त करता है।

"ब्रह्म से आविर्भूत जीव अग्निस्फुलिंगवत् नित्य हैं। यह व्युच्चरण उत्पत्ति नहीं। अतः व्युच्चरण होने पर भी जीव की नित्यता में ह्रास नहीं होता। वल्लभमत में भी जीव ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप तथा अणुरूप हैं।" भगवान के अविकृत सदंश से जड़ का निर्गमन--जड़ के निर्गमन में चिदंश तथा आनन्दांश दोनों का तिरोधान रहता है। भगवान् के अविकृत चिदंश से जीवका निर्गमन होता है--जीवन के निर्गमन काल में केवल आनन्दांश का ही तिरोभाव कहता है। (प्रमेय रत्नार्णव)

जितनी बाद में ? पति के जीवन-काल में भी अधिकार के साथ उसकी कौन-सी वस्तु है? रतनका वह विचार भारतीय हिन्दू-समाज में स्त्री का यथार्थ रूप प्रस्तुत कर देता है: "पहले भी वह अनाथिनी थी, केवल भ्रमवश अपने को स्वामिनी समझ रही थी। अब उस भ्रम का भी सहारा नहीं रहा।" इस दिशा में प्रेमचन्द को बड़ी सहानुभूति रही है। वेश्या को वे इसमें भी नहीं भूल सके हैं। वह आती है अपने पेशे के लिए, पर उसमें परिवर्त्तन हो उठता है और वह अपने वेश्यात्व की केंचुली उतार फेंकती है। दान की निस्सारता और ब्राह्मणत्व का खोखलापन भी प्रसंगात् इस उपन्यास में प्रदर्शित हो उठा है।

इस प्रकार 'गबन' में सामाजिक तत्वों की ही प्रमुखता है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उपन्यासकार ने समाज के दोषों को ही उभार कर रखा है। वर्त्तमान समाज में क्या आकर्षक और सुन्दर है, इसका हमें उल्लेख नहीं मिलेगा। समस्त उपन्यास जैसे वर्त्तमान समाज-व्यवस्था के जर्जरित रूप की उग्र भर्त्सना है। 'गबन' की विस्तृत कथा-भूमि में कहीं भी किसी सुखी प्राणी के दर्शन नहीं होते। जो सुखी है, वह अपने आत्म-परितोष अथवा आत्मकेन्द्रित होने के कारण सुखी है, अथवा उसने अपने अहंबल से अपना ही एक जगत् बना लिया है, जो समाज की चिन्ता नहीं करता।

व्यक्ति और समाज

'गबन' के समस्त समाजिक प्रश्नों का उदय यथार्थतः सामाजिक आधार पर नहीं, बल्कि वैयक्तिक आधार पर हुआ है। यह व्यक्ति दो रूपों में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। एक तो वह व्यक्ति, जो समाज से अनुकूलता ग्रहण करता है अथवा उससे विद्रोह करता है; दूसरा वह व्यक्ति, जिसने जीवन के ठोस यथार्थ को नहीं समझा है। समाज और सामाजिक प्रश्नों ने व्यक्ति-मानव के जीवन की भूमिका बनाई है। आभूषण-प्रेम स्त्रियों में मिलना एक सहज प्रकृति का व्यापार है; पर उसके प्रति उपन्यासों के व्यक्ति-पात्रों की प्रतिक्रिया एक विशेष रूप में है—आभूषणों की प्रियता और उसके लिए एक पुरुष का इतना व्यस्त होना असाधारण नहीं। ऐसे कामों के लिए गबन करना यद्यपि साधारण बात नहीं। पर इसे भी असाधारण नहीं कह सकते। इसी प्रकार अनमेल विवाह अवांछनीय और अनुचित भले ही हों, पर वे भी असाधारण नहीं। ऐसे सभी प्रस्तुत प्रश्न अपनी असाधारणता के कारण आकर्षक नहीं; पर इस कारण कि इनकी पृष्ठभूमि पर पात्रों में जो प्रतिक्रिया हुई है, वह साधारण नहीं है। व्यक्ति समाज के गहन ठोस सत्य को नहीं समझ पाया है। वह व्यक्तिवादी व्यक्ति बना है, अहंवादी नहीं। वस्तुतः 'गबन' व्यक्तिवादी पात्रों की कहानी है। व्यक्तिवादी पात्र का व्यक्तित्व अपनी ही सीमाओं से घिरा रहता है। उसके साथ अपना वैयक्तिक सत्य सर्वोपरि रहता है। उस सत्य को वह इतना महत्व प्रदान करता है कि उसका जो जीवन और समाज-सम्बन्धी असत्य है, वह उससे ओझल रहता है, और जब यह जीवन का और समाज का यथार्थ समुद्रगर्भित चट्टान की भांति उसके व्यक्तिवादी लोक की कल्पना के जहाज से टकरा जाता है, तो फिर वह जहाज डूबता ही है। एक ट्रेजेडी उपस्थित हो जाती है। अहंवादी समाज के लिए आतङ्क की वस्तु बन जाता है और व्यक्तिवादी समाज से अलग लोक का एक प्राणी हो जाता है। अहंवादी को समाज घृणा करने लगता है और व्यक्तिवादी समाज को घृणा करने लगता है। वस्तुतः अहं और व्यक्ति-एक की इकाई के दो

[शेषांश पृष्ठ ३३८ का]

कर छू लेती है। उसका छूना भाव की सृष्टि करता है जो वाणी बन कर साहित्य कहलाने लगता है।

—विनयमोहन शर्मा

हृदय छूने की बात भी ऐसी है जो रागात्मक तत्व की ओर इंगित करती है। हृदय को रमाना कविता का ही धर्म है। यहाँ साहित्य से काव्य ही ज्ञात होता है।

अब तो पाण्डेयजी को यह स्वीकार करने में सङ्कोच होना चाहिये कि साहित्य शब्द काव्य का वाचक है। 'काव्या-लोक' नामधारी पुस्तक में साहित्य शब्द पर विचार करना अक्षम्य अपराध नहीं है। कविराज विश्वनाथ ने काव्य विवेचक अपने ग्रन्थ का नाम साहित्य दर्पण ही रखा है।

रूपान्तर हैं। Superiority Complex अहं को जन्म देता है और Inferiority Complex व्यक्ति को। 'गबन' ऐसे ही हीनता-भावग्रस्त प्राणी की कहानी है। गोर्की ने कहीं कहा है कि व्यक्तिवादी भी पूँजीवाद का परिणाम है—और उसमें पलायन-वृत्ति की प्रधानता इसी पूँजीवादिता के फल-स्वरूप हो जाती है। यह बात प्रेमचन्द के 'गबन' से पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। आभूषण को हम सम्पत्ति या पूँजी का प्रतीक न भी मानें, तो भी समाज की सारी व्यवस्था में उस पुरुष के लिए क्यों वे कल्पनाएँ हैं, क्यों वे सज्जनाएँ हैं, जो एक विशेष वर्ग से सम्बन्धित हैं? व्यक्ति में रसिकता पूँजीवाद का परिणाम है, जब कि स्वस्थ काम और प्रेम यथार्थ मानव का। जहाँ स्त्री को हार, ईयरिंग या कंगन देकर प्रसन्न करने की प्रणाली कोई व्यक्ति स्वीकार करता हो, वहाँ उसका वह कृत्य केवल रसिकता का कृत्य कहा जायगा। प्रेम की भूमि दृढ़ और कठोर होती है। उसमें किसी प्रलोभन का स्थान नहीं। इसी पूँजीवादी व्यवस्था में जर्जरित समाज में वह प्रेम सहज ही प्राप्य नहीं। निन्यानवे प्रतिशत तो प्रेम के प्रदर्शन केवल रसिकता के प्रदर्शन होते हैं। रसिकता से ऊपर उठने पर जब प्रेम का उदय होता है, तो वेश्या भी पावन हो जाती है, अन्यथा विवाहिता भी वेश्या से कम नहीं ठहरती।

घर और बाहर

इसी व्यक्ति के साथ 'घर' और 'बाहर' भी गुँथा हुआ है। यह वह घर और बाहर नहीं, जो रवीन्द्रनाथ ने प्रस्तुत किया; न वह बाहर है, जो घर के अन्तराल को बाहर निकाल कर रख देता है, जैसा जैनेन्द्र की 'सुनीता' में। वह 'घर' और 'बाहर' स्थूल परिस्थितियों और अवकाश की परिस्थाओं से बना हुआ है, जिसमें घर का प्रतिरूप बाहर भी खड़ा किया गया है। घर ही महत्वशाली है, और व्यक्ति की पुष्टि और विकास के लिए घरकी अत्यंत अपेक्षा है। उसी मान्यता को उपन्यासकारने'गबन'में जैसे मानव जीवन को यथार्थ सामाजिक प्रयोगशाला में उधेड़कर रख दिया है। जो व्यक्ति बाहर निस्सारता की झलक देखते हैं और सृष्टि में अपने तथा पराये के व्यावहारिक भेद दूर और देते हैं, उनकी धारणाओं की भी परीक्षा 'गबन' में होती है। 'गबन' का घर फलतः पति-पत्नी का घर नहीं; उसमें माता-पिता, सखा और भाई का भी समावेश है। बाहर किसी पुरुष-मित्र से सम्बन्धित नहीं। इस उपन्यास के घर के बाहर भी घर का ही बाहर है, रोमांस या प्रेम-रसिकता का स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी बाहर नहीं। जिन मूल्यों में प्रेमचन्द अपने पात्रों को जगमगाता देखना चाहते हैं, वे यौन-मूल्यमात्र नहीं। उनके पात्रों की मनोवृत्ति केवल कामोद्रेकित भावनाओं और मस्तिष्क-मुद्राओं के विविध घात-प्रतिघातों और उन से मिलने वाली सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थितियों और गतियों तक ही सीमित नहीं—सृष्टि की भाँति वह भी वैविध्ययुक्त है। यही कारण है कि युग के अन्य कलाकारों की अपेक्षा प्रेमचन्द के उपन्यासों की सृष्टि में एक अनोखापन है। व्यक्ति है; एक तो उसके माता-पिता वे हैं, जिनसे उसका जन्म हुआ है; उसकी एक स्त्री है, जिससे उसका विवाह हुआ है। जब यह घर से बाहर निकल पड़ता है, तब इसे एक और माता-पिता मिलते हैं, पर इनके द्वारा उसका जन्म नहीं हुआ; एक और स्त्री मिलती है, पर उससे विवाह नहीं हुआ। इस प्रकार एक छोर पर उपन्यास का घर है और दूसरे छोर पर बाहर है। पहले घर व्यक्ति के व्यक्तिवादी मिथ्या आवरण से ध्वस्त हो उठता है और जब वह व्यक्ति पूँजीवादी व्यवस्था के जराजीर्ण बन्दीखाने से, जिसे गृह नाम दे दिया गया है, मुक्त होकर बाहर संसार में अनाथ की भाँति उतरता है, तो जैसे वह सबसे अधिक सनाथ हो उठता है। भारतीय समाज में घरों की व्यवस्था पूँजीवादी आधार पर है। इसमें व्यक्तिवादी के लिए स्थान नहीं, जो इसी की पैदाइश है। आज के घर में जो गृह-प्रबन्ध का रूप है, वह ठीक किसी राज्य के एकाधिकारी राजा-जैसा माना जा सकता है। उसके हृदय में वात्सल्य की अपेक्षा शासन और बच्चे को सुधरा हुआ यानी आज्ञाकारी और ठीक उसके जैसा मूढ़ अनुगामी देखने की व्यग्रता व्याप्त मिलती है। बालक के व्यक्तित्व की सम्मान भावना का यहाँ लेश भी दिखाई नहीं पड़ेगा। हमारे घर आज अपनी उपयोगिता खो रहे हैं। गृह-पति अपनी रूढ़ियों में फँसी मनोवृत्तियों की मूढ़ग्राहिता से घिरा हुआ जड़ हो

चुका है—उसमें न सहानुभूति है, न सम्वेदना, न वात्सल्य, न कर्तृत्व, न चैतन्य। वह मोहाविष्ट हो तो हो। यह घर न जाने कितनी मर्यादाओं की दीवारों से घिरा हुआ है। यह घर प्रेमचन्द का घर है, जिसमें वैविध्य है, और कभी जिसमें एक शृङ्खला थी, आज विशृङ्खला है। अतः यह यौन-आधारवाला स्त्री-पुरुष में सीमित घर नहीं। वस्तुतः यह भारतीय घर है। भारतीय घर में यौन-आधार को बहुत पीछे पटक दिया गया है। इस घर में स्त्री-पुरुष कब अपने आप को प्राप्त कर स्त्री और पुरुष होते हैं, यह जाग्रत और हलचलमय घर में कोई सहज ही नहीं जाने पाता। यहाँ माता-पिता भाई-बहन, देवर-भाभी-ननद ही दिखाई पड़ते हैं। इन्हीं सम्बन्धों का उभरा हुआ रूप इस घर में दीखता है। यद्यपि प्रेमचन्द हमें घर में रहते हुए भी स्त्री-पुरुष के पास ही अधिक रखते हैं, फिर भी वह स्त्री-पुरुष का पति-पत्नी-व्यापार घर की ठोस भूमि पर एक कल्पना-लोक-सा ही लगता है। घर का जैसे इस युग से सम्बन्ध छिन्न हो रहा है। प्रेमचन्द ने साम्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार किसी मुक्त समाज की विशद और मोहक कल्पना तो हमारे सामने नहीं रखी; पर उन्होंने घर और बाहर के भेद को हटा देने का प्रयत्न अवश्य किया है। उन मर्यादाओं को भी ध्वस्त दिखाया है, जो इन भेदों को बनाए रखने के लिए जिम्मेवार हैं—जैसे जाति-प्रथा। तो जैसे यौन-आधार का अभाव है, वैसे ही आध्यात्मिक आधार का भी।

व्यक्ति, घर और समाज इन तीनों की अपूर्णताओं का 'ग़बन' एक प्रबल दिग्दर्शन है। व्यक्ति सभी अपूर्ण या यथार्थ हैं, आदर्श नहीं। यह वह उपन्यास है, जिसमें सभी पात्र किसी न किसी मानवीय दुर्बलता के शिकार हैं और कल्पना-निर्मित आदर्श से युक्त नहीं। यह कहा जा सकता है कि इसमें अन्तिम परिणतियाँ आदर्श हुई हैं। रतन विधवा होकर भी वेश्या नहीं हुई; जोहरा वेश्या होकर भी पवित्र जीवन के लिए चल पड़ी; जालपा आभूषण-प्रिय होते हुए भी किसी प्रलोभन में नहीं फँसी, वरन् प्रायश्चित्त के कठोर आदर्श-मार्ग पर चल पड़ी; रमा अन्त में सत्य बोलने पर तुल हो गया; देवीदीन और जग्गो में आदर्श वात्सल्य का भाव विद्यमान है—इन समस्त परिणतियों और स्थितियों में कल्पना-जगत् की आदर्श-सृष्टि की ओर झुकाव है। किन्तु पहले इन परिणतियों को छोड़कर इनके जीवन पर दृष्टि डालिए। प्रत्येक पात्र न जाने किन-किन भूलों और दुर्बलताओं का शिकार हुआ है। वह आगे बढ़ने की चेष्टा करते-करते पीछे हटा है; उठने की चेष्टा करते-करते गिरा है। रमा का जीवन कितने उतार-चढ़ाव का जीवन है। अपनी ही भूलों का वह शिकार होता चला जाता है। गिरह पर गिरह बँधती चली जाती है। उठने की चेष्टा करता है, विवश फिर गिर पड़ता है। रमा बार-बार प्रेरित और अनुप्राणित होता है और फिर गिर पड़ता है। अन्त में वह निराश-प्रयत्न की भाँति ही अपने पाप को हटा पाता है। वह आदर्श नहीं पाता, जैसे परिस्थितियों के थपेड़ों से वह चैतन्य हो उठता है। उसकी सोई हुई आत्म-चेतना उठती है और वह अन्धकार से प्रकाश में आ जाता है।

जहाँ तक रमा के चरित्र का सम्बन्ध है, वह आदि से अन्त तक यथार्थ है—दुर्बल मन, मन के सब्ज बागों से प्रसन्न रहने वाला, यश-प्रिय और घोर कायर, पर श्रद्धालु स्वभाव। वह परिस्थितियों का कन्दुक है। हाँ, भलाई-बुराई के लिए कुछ चैतन्य उसमें है; पर वह चैतन्य उसकी अन्य दुर्बलताओं पर उस समय तक विजय नहीं पाता, जब तक कि उसे बुरी तरह झकझोरा नहीं मिलता। उसका वह चैतन्य भी किसी 'आदर्श' के ऊपर निर्भर नहीं करता। उसका मूल आधार मानवीय सुरुचि है, मानव की मानव के प्रति संवेदना है। जब यह संवेदना उसमें प्रबल हो उठती है, तब उसमें प्रायश्चित्त तथा पश्चात्ताप के भाव उठते हैं, और वह बल ग्रहण करता है; पर सब से अधिक उसे अपने प्रति मोह है। पुलिस के अधिकारियों ने इस मर्म को जान लिया है। जब रमा बल ग्रहण करने का साहस करता है, तो वे उसी मोह पर चोट करते हैं। रमा में हमें आदर्श नहीं मिलता। अन्त में उसका साहस बटोर कर सत्य को उद्घाटित कर देना भी आदर्श की प्रेरणा से नहीं—वह तो केवल उस सम्पर्क के

ऊपर आने का निराशा-जन्य उद्योग है, जिसमें वह अपनी अन्तिम बाजी लगा देता है, जो निरन्तर गहरे में डूबता चला जा रहा है, अन्धकार में फँसता चला जा रहा है और उसे वहाँ कोई अपना साथी भी नहीं दीखता। यश-प्रेम उसका अपनेपन के प्रति मोह का ही दूसरा रूप है। हीन-भावनाग्रस्त होने के कारण यह यश-प्रेम उसके अन्दर से स्वयं अपनी वाणी में आत्म-प्रशंसा का रूप ग्रहण कर लेता है। उसका अपनी पत्नी जालपा से इतना बढ़-बढ़कर बातें करना इसी मूल केन्द्र के दोनों तत्वों से उद्भूत है: कीर्ति-लिप्सा और आत्म-मोह। अन्तिम बार जब वह डूबता हुआ तिनके का सहारा ढूँढ़ता जालपा के पास आता है, तब ठोकर खाकर कितनी निराशा उसके हृदय में चीत्कार कर उठती है—तब वह सत्य का उद्घाटन कर पाता है। इसमें सन्देह नहीं कि जालपा ने ही इस सब की ठोस भूमिका बनाई है। उसका पतन और उद्धार—यदि इन शब्दों का प्रयोग हम कर सकते हैं—तो जालपा के कारण ही हुआ है। जहाँ रमा के चरित्र में कहीं किंचित् भी असाधारणता और आदर्शवादिता नहीं है, वहाँ जालपा में इन दोनों का प्रवेश हमें यथार्थ की ठोस भूमि पर मिलता है।

जालपा में एक अद्भुत धूप-छाँह है। आभूषण-प्रियता एक साधारण बात है, जो स्त्रियों में मिलती है; पर उसने जालपा में असाधारण सङ्कल्प के कारण एक उग्र रूप धारण कर लिया है। उपन्यासकार ने समाज की एक विशेष व्यवस्था को भी जालपा के मानसिक निर्माण के लिए उत्तरदायी ठहराया है। पर जालपा का अपना व्यक्तित्व असाधारण है। जिस यत्न से वह अपने काँच के हार को सँजोकर रखती है, वह साधारण व्यापार नहीं। चीजें आती हैं और चली जाती हैं पर जालपा उस हार को हृदय का हार बनाकर रखती है और उससे किसी असली हार को पाने की अभिलाषा को सींचती रहती है। दूसरी असाधारणता हमें विदित होती है उस दिन, जब रमा घर छोड़कर चला गया है। किस तत्परता से वह चुङ्गी जाकर सब कुछ चुका देती है। उसका यह कृत्य न केवल उपन्यास के पात्रों को ही आश्चर्य-चकित कर देता है, वरन् पाठक भी उसके चरित्र में ऐसी आकस्मिकता पाकर उसमें से अनेक सम्भावनाओं की कल्पना कर उठता है। उसके चरित्र में हमें निःसीम क्षमता के किंचित दर्शन यहाँ होते हैं। फिर तो उसके अद्भुत व्यापारों से बड़ी उग्र हलचल उपन्यास में मिलती है। पुलिस के पहरे में भी रमा के पास पत्र पहुँचाना, देवीदीन और जग्गो के पास रहना, रमा के प्रति एक विशेष कठोरता प्रकट करना—ये तो छोटे आश्चर्य हैं। उस अपराधी के घर का पता लगाकर उसकी सेवा-सुश्रूषा में लग जाना, महान् अद्भुत कर्म है। शतरंज के नक़शे द्वारा रमा का पता लगाने की विधि उसकी मानसिक सक्षम सूझ का अद्भुत उदाहरण उपस्थित करती है। प्रेमचन्द के **'गबन'** में हमें स्पष्ट विदित होता है कि प्रेमचन्द भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को ही अधिक सुलझा हुआ, सबल और बुद्धिमान समझते हैं।

जालपा, रतन, जोहरा, जग्गो—इन चार प्राणियों ने उपन्यास को उपन्यास का दर्जा दिया है। इनमें बुद्धि है, उदारता है, सहिष्णुता है, त्याग है और अवसर के अनुकूल साहस है। यह अन्तिम गुण हमें **'गबन'** के और किसी पात्र में इतनी मात्रा में नहीं मिलता। पुरुषों में दयानाथ एक आदर्श पर मिथ्या अड़ करने वाले, झंझटों से दूर रहने वाले हैं। रमेश में भी कोई चारित्रिकता नहीं मिलती—वही एक साधारण मिथ्याचार, एक नीति पर जीवन की सजीवता को पटकने वाले, हाँ, कुछ सहृदय अवश्य हैं। रतन के पति वकील साहब तो बेचारे जीर्ण-शीर्ण मिट्टी के लोंदे हैं, जो रतन से विवाह करने के प्रायश्चित्त में जैसे गले जा रहे हैं। देवीदीन कुछ आदमी है, पर वह शिथिल और स्त्री के आश्रित है। रमा को तो देख ही चुके हैं, जो गरजता बादल है। पुलिस के अधिकारियों में पुलिस का ही चरित्र है—वे जैसे इस जगत् के यथार्थ शैतान हैं। जालपा ने रमा को हतप्रभ कर दिया है, रतन ने वकील साहब को, जग्गो ने देवीदीन को। घर में और बाहर भी ये स्त्रियाँ पुरुषों से प्रबल ठहरती हैं। इन्हीं के हाथ में पुरुषों की नकेल है। ये ही उपन्यास में छाई हुई हैं, भले ही उपन्यास रमा के चारों ओर चक्कर

काट रहा हो। रमा के साथ जालपा आती ही है, और दोनों ने ही मौलिक पाप (Original sin) किया है। दोनों को उसके लिए प्रायश्चित करना पड़ता है; पर यहाँ भी रमा का प्रायश्चित्त विवशता द्वारा है और जालपा का स्वेच्छा से। अतः उसे दो प्रायश्चित्त करने पड़े हैं—अपना भी और रमा का भी। 'गबन' फलतः प्रायश्चित्त का उपन्यास है। साधारणतः आभूषण के मूल बीज से आरम्भ होकर यह उपन्यास वहीं समाप्त हो जाना चाहिए, जहाँ जालपा को उनके लिए अपने पति को खो देना पड़ा, अथवा अधिक से-अधिक कुछ और तपस्या जालपा द्वारा करा के उपन्यासकार रमा को जालपा से मिला देता। इससे उपन्यास में एक स्वाभाविक पूर्णता तो मिलती, प्रायश्चित का एक भाग किसी सीमा तक पूर्ण भी हो जाता; पर पात्रों में जो सम्भावनाएँ हैं, न तो वे प्रकट होतीं, न रमा के अपराध का और न उस अपराध के मूल जलपा के केन्द्रीय अपराध का ही परिमार्जन हो पाता। जालपा का अपराध ही मौलिक माना जायगा क्या? ईसाइयों की आदम-हव्वाकी कहानी में हव्वाका अपराध ही क्या मौलिक है? शैतानने पहले उसे भुलाया, उसने आदम को ललचाया। स्त्री-जाति का क्या यही अध्ययन है? जालपा का केन्द्रीय अपराध रमा की दुर्बलताओं को—उसके मौलिक अपराधको—उभारने का कारण हुआ है। वे दुर्बलताएँ उभरकर निरन्तर उसका शिकार करती चली गई हैं। जब तक इन सबका समाधान नहीं हो जाता है और रमा जालपाके पास जब उस रूप में लौटकर नहीं आता, जिसमें जालपा उसे अपना सकेगी, तब तक प्रायश्चित की कहानी पूर्ण नहीं हो सकती। जालपाकी आभूषण-प्रियता की कहानी भले ही पहली अवस्था में समाप्त हो ले, रमाकी शुद्धि के साथ जालपाकी भी योग्यता, उसे साधे रखने की, बढ़नी चाहिए। यह उद्योग प्रेमचन्द घर की जड़ और जीर्ण दीवारों के अन्दर नहीं करा सकते। इसके लिए बहिर्जगत् के विशाल क्षेत्र की आवश्यकता है, जहाँ जीवन का मूल्य जीवन के बाजार में कूता जाता है और जहाँ देश-काल उन्मुक्त हो कर अपने प्रभाव से मूल्य की घटा-बढ़ी में क्रियात्मक सहयोग देते हैं।

इस विशाल क्षेत्र में जब ये पात्र उतरते हैं तो एक बात बड़ी विलक्षण दिखाई पड़ती है। रमा का प्रायश्चित तो उसके कर्म के साथ-साथ घर में ही आरम्भ हो गया था चारों ओर भय और अपमान की मूर्तियाँ उसे दीखती थीं, भले ही वह जालपाके सौन्दर्य आश्वस्त रहा हो। घर छोड़ कर उसे यही भय घेरे रहा है, यही भय अन्त तक उसके साथ रहा है—यह तो सब मानसिक क्लान्ति थी। शरीरतः तो हम उसे देवीदीन के यहाँ और पुलिस में भी सुखी ही पाते हैं। पुरुष केवल मानसिक प्रायश्चित कर रहा प्रतीत होता है। जालपाको हम मस्तिष्क और शरीर दोनों से व्यग्र पाते हैं; पर वह मानसिक प्रायश्चित्त में उतनी प्रवृत्त नहीं, जितनी शारीरिक में। घर में भी पिता की सेवा और निकटता पति के चले जाने के बाद उसे करनी पड़ती है। बाहर तो वह फाँसी पर चढ़ाए जाने वाले अपराधियों के कुटुम्ब की स्वेच्छा से क्षुद्र-से-क्षुद्र सेवा भी करती है। क्षुद्रताओं ने उसे महानता प्रदान की है। उसका प्रायश्चित स्वेच्छा से उस कष्ट को स्वीकार करने से ही पूर्ण हुआ है। रमा का जड़ी भूत, मोहग्रस्त मस्तिष्क और हृदय भी उसी से उबरा है। हमें कितना स्पष्ट दीखता है कि जालपा जगत् की यथार्थता को समझती है, मानव-हृदय की गति को समझती है, और उसी के कारण उसमें असाधारणता और आदर्श का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। रमा कल्पनाओं में उमड़नेवाला, जड़-जगत् से टकरा-टकरा कर अन्धकारावृत्त होता है। जालपा यथार्थ जगत का मर्म समझ कर उसे टकरा-टकरा कर उसमें से कल्याण का स्वर्ग रचने को अग्रसर होती है।

मौलिक अपराध के लिए स्त्री को ही पुरुष का प्रायश्चित करना पड़ेगा—मनसा भी और कर्मणा भी। कोरी संवेदना में प्रायश्चित का अणु भी नहीं, वह संवेदना क्रियाशील होनी चाहिए। इस प्रकार 'गबन' मानव के मूल अपराधों का शाश्वत महाकाव्य है। पर उस महान् मानवता को प्राप्तकर अन्त कहाँ है? रतन को मरना था, वह मर गई। तब जोहरा क्यों डूबी? किसी को बचाने में डूबा क्यों जाता है? उस अवसर पर फिर जालपा को हम क्यों मोहाविष्ट पाते हैं? क्यों उसे रमा के प्राण इतने

[शेष पृष्ठ ३४६ में]

गुञ्जन : एक जीवन दर्शन

श्री चन्द्रभान 'राधे राधे'

गुञ्जन का कवि अपनी संस्कृति का कवि-प्रतिनिधि है। वह कवि है, क्योंकि वह गीत गा रहा है; वह गायक है क्योंकि उसकी उँगलियाँ आज विश्व-वीणा को झंकृत कर रही हैं। उसकी आँखों में विश्व-वेदना के आँसू हैं; उसके अधरों पर आत्मानुभव की सी मुस्कान है; उसके हृदय में सागर का सा स्पन्दन है; पदों में प्रगति है; हाथों में सृजन है। वह है लोक गायक। उसका स्वरूप गोधूलि सा स्पष्ट नहीं। प्रभात सा उज्ज्वल है। वह जीवन-दर्शन का पंडित है।

'गुञ्जन' के गीत मानवता की सिहरन, स्पन्दन और कम्पन से आविर्भूत हैं। उनमें जीवन के उल्लास का, विषाद का गान है। जीवन की व्याप्ति के साथ भी असीम होने जा रहे हैं। मानव आज सबका गुरु है। उसी गुरु की बन्दना और स्तवन, उसका सौन्दर्य और स्वरूप ही प्रत्येक गीत में झूल रहा है। इस प्रकार मानव और मानव, जीवन के तारों से 'गुञ्जन' बुना हुआ है। जीवन के रहस्यों ने दर्शन की ओर प्रेरणा की है। वह दार्शनिकता भी कहीं-कहीं आये बिना नहीं रह सकी है। वे गीत आकाश कुसुम नहीं। शब्दों में जकड़ी हुई वासना भी नहीं। ये प्राण ही लयमान हो गये हैं—

बन्धु गीतों के पंख पसार
प्राण मेरे स्वर में लयमान।

यही उच्चतम कला है। यही उज्ज्वलतम और मंगलमय कविता रूप है। सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में सद्-भावनाओं और सदिच्छाओं के बीजों का बपन कवि ने किया; ईश्वर में चिर विश्वासों ने उसे सिक्त किया; आज विश्वात्मैक्य, बन्धुत्व, सहानुभूति, संवेदना और विश्व-प्रेम के फूलों और फलों में काव्य विहसित है; यही गुञ्जन की कविता का स्वरूप है।

मानव-जीवन के प्रत्येक प्रकम्पन, सिहरन और परिवर्तन के साथ उसे लग रहा है मानो सारी सृष्टि में हलचल हो रही है। उस जीवन का बोध आज कवि का धर्म हो गया है। कवि को सुख की लाली और दुख की कालिमा से जीवनाकाश पूर्ण मिलता है। भौतिकवादी विचारक इन आर्थिक सुख-दुखों को ही जीवन मान चला था। कवि को ये अस्थिर लगे। उसने सोचा, जिस धारा में ये सुख-दुख के बुद्बुद् हैं वही चिरन्तन हो सकती है—

अस्थिर है जग का सुख दुख
जीवन ही नित्य चिरन्तन।

जीवन की इस शाश्वतता को पाकर भी कवि को सन्तोष नहीं हुआ। वह जीवन के जीवन को भी खोजने लगा, और उसने पाया—

आत्मा है सरिता के भी
जिससे सरिता है सरिता।

आत्मा को जीवन का आधार मान कर हमारा कवि उसके विस्तार की ओर बढ़ रहा है। उसके विस्तार में ही मानव का परमानन्द अन्तर्हित है। 'अहं ब्रह्म' की यही साधना है। उसका संकोच ही भौतिक क्रान्ति का मूल कारण है। उसे सर्वत्र आत्मा-सौन्दर्य ही मिला, इसलिये आज उसे विश्व भर प्रिय है—

प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर
तृण, तरु, पशु, पक्षी, नर, सुरवर।

यही शान्ति सृष्टि की कुञ्जी है। यही 'एकोऽहं बहुस्याम्' का अमर सिद्धान्त है, जो जगन्नियन्ता को भी स्पृहणीय है और सृष्टि निर्माण की प्रेरणा है। यानी कवि आज भौतिकवादी से कह रहा है: "देखो, अपनी इतनी संकुचित सीमाओं से आगे बढ़ो। अध्यात्मवादी तुम तनिक रुक जाओ और इसे भी आने दो। क्योंकि कवि को दोनों के समन्वय से नया जीवन लाना है—

चाहिये विश्व को नवजीवन।

दोनों में किसी प्रकार का भेद भी वह नहीं मानता—

जगजीवन में उल्लास मुझे।

ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे।

इसके लिये इच्छाओं की साधना चाहिये। जीवन का विकास बिना सुन्दर इच्छाओं के स्पर्श के हो नहीं सकता। भौतिक जीवन इच्छाओं से ही आन्दोलित और क्लान्त रहता है। अपूर्ण इच्छाओं का संघर्ष मानव-मानव का संघर्ष हो उठता है। इन भौतिक इच्छाओं को लेकर मानव चलता है। इनके मूल में एक स्वार्थ होता है। इस स्वार्थ से अनेकों स्वार्थी टकराने लगते हैं। सबके स्वार्थों को चूर्ण करने पर स्वार्थान्ध मानव उतारू हो जाता है। अन्ततः विश्व-स्वार्थ से भी उसका स्वार्थ टकराता है। वह उसको भी चूर्ण कर देना चाहता है। यही विश्व-विग्रह का मूल है।

इन बलवती इच्छाओं का नियन्त्रण साधना द्वारा होता है। यही इच्छाएँ साधना के द्वारा दुःख-मूल के स्थान पर सुख का विधान करती हैं। उनमें मधुरता लाने के लिए साधन के द्वारा आत्मा प्रसार की आवश्यकता है। इच्छाओं के बिना जीवन सूना भी हो जाता है। इसकी महत्ता कवि स्वीकार करता है—

अधरों पर मधुर अधर धर
कहता मृदु स्वर में जीवन

(पृष्ठ ३४४ का शेषांश)

प्यारे हैं, जोहरा के नहीं? यह सुखद दृश्य भी इस एक अवसाद की बूँद से अन्त में क्यों कलुषित हो गया? रमा खरिक के यहाँ रहा, जोहरा वेश्या हो कर भी उसके लिए त्यागशालिनी बनी। जालपा ने जाति-गत दर्प छोड़कर भी हीन-से-हीन वर्ग की सेवा की। इन सबसे भी क्या 'मानव' के लोक में यथार्थ मानवता की प्रतिष्ठा नहीं हुई? प्रेमचन्द का यथार्थ, अयथार्थ को यहाँ आदर्श बनाने के लिए भी उस घर में स्वर्ग नहीं ला सका। प्रायश्चित और पश्चात्ताप की जीवन में सदा अपेक्षा है। मानव जब पूर्णता नहीं पा सका है, तब निर्दोष सुख भी कहाँ है। यह अपने और पराए की परिखाएँ इस वर्त्तमान में व्याप्त सामाजिक रूढ़ियों में क्या योंही ध्वस्त हो जायँगी?

प्रेमचन्द के 'गबन' में हमें गांधीवादी प्रगति के दर्शन होते हैं। जालपा के समस्त साधन गांधीवादी हैं, और उसीकी विजय होती है। हृदय का भाव समाज की जाति-परम्पराओं को कुछ काल के लिए इतस्ततः कर सकता है; पर जैसे व्यक्ति के स्वार्थ का उससे पूर्ण दमन नहीं हो पाता। फलतः सामाजिक दृष्टि से 'गबन' एक महान् ट्रेजेडी—दुःखावसान की कथा—बन जाता है। यहाँ आकर हम देखते हैं कि जालपा जोहरा से हार जाती है। रतन और जोहरा की भाव-सम्पन्नता जालपा से भी महान् सिद्ध होती है। रतन में वह स्नेह और त्याग भी यद्यपि परिस्थितियों का परिणाम है, जोहरा में परिस्थितियों से अधिक आत्म-चेतन का, फिर भी इन दोनों का व्यक्तित्व अपना महत्व रखता ही है। रतन के लिए भी आत्म-सम्मान के लिए कष्ट भोगने का मार्ग छोड़कर अन्य मार्ग था। जोहरा-जैसे पात्रों के लिए तो 'आत्मग्लानि' अनुभव करने के जीवन में कितने तो अवसर आते होंगे और वे कितने प्रबल होते होंगे; पर यह जोहरा ही मानी जानी चाहिए, जो इस प्रकार अपने क्षुद्रत्वपर विजय प्राप्त कर लेती है। जालपा के प्रायश्चित्त में स्वार्थ का पुट सदा विद्यमान है। वह स्वार्थ उसका निजी है, वह सारा कार्य आत्म-जागरण के लिए नहीं करती, यथार्थतः आत्म-भोग के लिए ही करती है। जोहरा का त्याग आत्म-जागरण के लिए है। वह अपनी खोई हुई आत्मा को पाकर अपने को पूर्णतः खो देती है। जालपा प्रायश्चित्त में पति को और घर को पाकर मानो अपने को पा लेती है। जोहरा में मानव-मात्र के लिए सहानुभूति उसके प्राणों का स्पन्दन बन जाती है। जालपा अपनी उदारता के चारों ओर गृह और अपने मन की दीवारें खड़ी कर लेती है। उसकी समस्त महानता उन दीवारों से टकरा उठती है और क्षुब्ध हो जाती है। जोहराने उन परिखाओं को तोड़ दिया है। उसकी उदारता उन्मुक्त है। भले ही वह तत्कालीन गृह-परिस्थितियों के कारण हो। इस दृष्टि से उपन्यास का महान् उत्थान क्षुद्रता से टकराकर चूर-चूर हो जाता है, और अन्त में उसकी क्षीण प्रतिध्वनि जालपा और रमा के मन्द शोकाश्रुओं और स्मृति में रह जाती है। —(विशाल भारत से)

बस एक मधुर इच्छा पर
अर्पित त्रिभुवन यौवन-धन।

मन इच्छा की बात को अस्वीकार करके कह उठता है—

ना, मुझे इष्ट है साधन।

कवि दोनों के संघर्ष को देखकर समझता है कि भाई यदि 'इच्छा है जग का जीवन' तो 'साधन है आत्मा का धन'। दोनों का एकीकरण इस प्रकार हो सकता है—

ये आधी, अति इच्छाएँ
साधन में बाधा बन्धन
साधन भी इच्छा ही है
सम इच्छा ही रे साधन।

यही आधी इच्छाएँ भौतिक हैं। 'सम-इच्छा' में 'सर्वेभवन्तु सुखिनः' की उच्चतम साधना है। इच्छा के साथ मङ्गल और कर्तव्य मिल जाने पर वह साधन का रूप धारण कर लेती है। यही इच्छा कवि को लगती है, कि प्राणों को मधुदान दे रही है। इसी से जीवन व्याप्त हो रहा है—

खुल खुल नव इच्छाएँ
फैलातीं जीवन के पल।
गा गा प्राणों का मधुकर
पीता मधु रस परिपूरण।

विश्वास की महत्ता सब ने ही स्वीकार की है। सुन्दर विश्वासों से ही जीवन में सौन्दर्य आता है। अपने पर विश्वास हो, साथियों पर, ईश्वर पर हो—इन्हीं विश्वासों को लेकर अनन्त कलाकार इन्द्र-धनुषी रंगों को लेकर जीवन का मनोरम चित्र रचता है। हमारा कवि भी आज जीवन-सौन्दर्य के लिये विश्वास की सुन्दरता आवश्यक समझता है। विश्वास है क्या वस्तु? आदर्शों से श्रद्धा का जन्म होता है। श्रद्धा का रुचिरतम और दृढ़तम रूप ही विश्वास है। कवि को विश्वासों पर पूर्ण विश्वास है—

सुन्दर विश्वासों से ही
बनता रे सुखमय जीवन।

इन विश्वासों की सुन्दरता को, इच्छाओं की सुन्दरता को कवि क्यों खोज रहा है? वह सौन्दर्योपासक है। आज विश्व-मन्दिर में वह जीवन-सौन्दर्य स्थापित करके उसे पूजना चाहता है। यही कवि की आत्मा की चिर-साधना है। इन्हीं दो उपकरणों से सौन्दर्य उषा उदित होकर जीवन-प्रांगण के कण-कण को सौन्दर्य-स्नात करके उसे पूज्य बना देगी। यही कवि का विश्वास है। इस सौन्दर्य की सृष्टि से पूर्व ही उसे जग-जीवन सुन्दर लगने लगता है। आज कवि की आँखें सुन्दर हैं। अतः उसे शैशव यौवन, सुख दुख, जन्म-मरण, पुराण, नूतन सभी सुन्दर लगते हैं। यही सौन्दर्योपासना का चरम उत्कर्ष है। वह कह उठता है—

सुन्दर सुन्दर जग-जीवन!

सुख का तथा दुख का बटवारा आज मानव-जीवन में उचित रीति से नहीं हुआ। सुख का आधिक्य और दुख का आधिक्य—दोनों ही जीवन-पीड़ा के कारण हैं। दोनों का मिश्रण यदि अनुपाततः हो जाय तो जीवन में शान्ति और मंगल रहे। यहाँ साम्यवादी भावना कवि को स्फूर्त बना रही है। वह साम्य चाहता है। सुख और दुख के बँटवारे से सम्पत्ति और निर्धनता का भी बँटवारा हो जाता है। कवि मानता है—

अविरल दुख है उत्पीड़न
अविरल सुख भी उत्पीड़न।

अतः वे कहते हैं—

मैं नहीं चाहता चिर सुख
मैं नहीं चाहता चिर दुख।

चाहते हैं दोनों का बँटवारा—

मानव जग में बँट जावें
दुख सुख से औ सुख दुख से।

अन्त में वह स्थिति आती है जिसे दार्शनिक प्रतिभा ब्रह्मात्मैक्य कहती है। इस समय सुख दुख का विभेद नहीं रहता। यही 'कैवल्य' है। केवल जीवन ही रहता है जो शाश्वत है चिरन्तन है। वह स्थिति यह है—

सुख दुख के पुलिन डुबाकर
लहराता जीवन सागर।

जहाँ तक आदर्शवाद का सम्बन्ध है दुख को सुख ही मानना चाहिये। सुख और दुख का समान स्वागत

करना सभी कवियों का आदर्श रहा है। काँटों में जीवन-कुसुम खिलते हैं। सुख-दुख को समान मानने वाला ही महान है। हृदय तपाकर शुद्ध करना है, उसके लिये दुख-ज्वाला की आवश्यकता है ही—

बन की सूनी डाली पर
सीखा कवि ने मुसकाना
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुख को अपनाना।

जीवन में सुख भी हैं, दुख भी हैं। कवि को जीवन-सागर का हास और अवसाद दोनों ही प्रिय हैं। इसकी लहरों में स्वर्णिम किरणों का हास है और गहराई में मूक कणों का अवसाद है। वह नाविक को कहता है 'लहरों से खेल और तल में भी पैठ—

सागर की लहर लहर में
है हास स्वर्ण किरणों का
सागर के अन्तस्तल में
अवसाद अवाक कणों का।

❀ ❀ ❀

जीवन की लहर लहर से
हँस खेल खेल रे नाविक!
जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड़ बूड़ रे नाविक!

आत्मा का सुख दुःख क्या है! आत्मा किसी रमणीय सत्ता के विरह की आग में जलती है इसी आग में जल कर वह अपने प्रियतम से मिलने के योग्य बनती है। इसी को दुख की कालिमा कहते हैं। इस दुःख में, वेदना में एक सत्ता मधुदान करती है जिससे वह ज्वाला भी मधुमय लगने लगती है। यही विरह आत्मा को प्रकाश की ओर ले आता है। यही आत्मा का सुख दुख है। कवि के शब्दों में—

दुख इस मानव आत्मा का
रे नित का मधुमय भोजन
दुख के तम को खा खा कर
भरती प्रकाश से वह मन।

हमारा कवि मानवता का कवि है। मानव अनन्त जीवन का सब से भावुक और विचार शील प्रतिनिधि है वही सृष्टि को जीवन का सन्देश देता है; मानव कला को दीक्षा देता है। सब का गुरु है यह देवत्व और ईश्वरत्व की सीढ़ी है। यह मानव देवों को और ईश्वर को भी इच्छाशील बनाये रहा है। 'अहं ब्रह्म' कह कर उसने अपना उच्चतम परिचय दिया है। 'सर्वेभवन्तु सुखिनः' कह कर उसने सबकी मङ्गल कामना करके अपने को परमात्मा बनाया है। कृष्ण ने मानव से कहा: 'तू अमर है; अभेद्य; सुन्दरतम है।' उन्होंने कर्म का योग मानव से कराया है। 'श्री कृष्णार्पण' के भाव को जाग्रत करके अनासक्ति का उज्ज्वल प्रकाश मानव की स्वार्थी आँखों में भरा। 'मा फलेषु कदाचन्' कह कर उसे निष्काम कर्म की दीक्षा दी। इन और उन सभी महा पुरुषों ने मानव का परिष्कार किया। मानव के इसी शुद्धतम रूप को हमारा कवि लेता है।

मेरे मानस के स्पन्दन
प्राणों के चिर पहचाने
× × ×
सुख के स्मित की मृदु रेखा
करुणा के आँसू कोमल।

यह कितना सूक्ष्म और व्यापक मानव-परिचय है। सारी प्रकृति का मानव आज गुरु बन गया है। मानव ने ह प्रत्येक वस्तु को उसके उपयुक्त कार्य की दीक्षा दी—

सीखा तुमसे फूलों ने
मुख देख मन्द मुस्काना
तारों ने सजल नयन हो
करुणा किरणें बरसाना,।

× × ×

नारी! मानव की चिर आकांक्षा और आकर्षण और प्रणय की प्रतिमूर्ति। उसका प्रणय चिरकाल से मानव के लिये मृग-तृष्णा रही है। यह महिला महत्व आजका महत्व नहीं युग युग का सत्य है। शास्त्रों में बहुत से उद्धरण महिला-महत्व का समर्थन करते हैं—

'यस्य माता गृहे नास्ति भार्या च प्रियवादिनी
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम्।',

नारी में एक सौन्दर्य है। वीणा और पल्लव का कवि भी इस ओर आकर्षित हुआ था। उस कवि में वासना घनीभूत नहीं थी। वह दर्शक मात्र था। 'गुञ्जन' के कवि में एक प्रकार से ऐन्द्रिकता आ गई है। इसकी प्रणयानुभूति ऐन्द्रिक हो उठी है। 'अज्ञात यौवन नायका' के रूप में 'भावी पत्नी' आती हैं। वह अपनी मा के समीप होगी, अकलुषित और निर्दोष होगी; पर यौवन छलक ही रहा होगा—

जननि अंचल में भूल सकाल
मृदुल उर-कंपन सी वपुमान
स्नेह-सुख में बढ़ सखि चिरकाल
दीप की अकलुष शिखा समान।

'पल्लव' में दर्शन तो अवश्य था पर इतनी ऐन्द्रिकता और इतना निकटस्थ नहीं था। आज प्रणय-गीत रोकता नहीं, कवि उन्हें छिपा नहीं पाता—

अलि इन भोली बातों को
अब कैसे भला छिपाऊँ।

कवि का भोला हृदय मिलन की कल्पना करने लगा है। उसमें कुछ ऐन्द्रिकता अधिक आजाने से कुछ लांछित सी हो गई है। पर कवि की सीमा से निकल कर कवि समष्टि की ओर बढ़ निकलते हैं। अतः इसका परिष्कार हो जाता है। इसी समष्टि भावना से उसकी ऐन्द्रिकता धुलसी जाती है—

सुमखि, वह मधु क्षण! वह मधु बार
धरोगी कर में कर सुकुमार।

फिर समष्टि भावना आजाती है—

निखिल जब नारी नर संसार
मिलेगा नव सुख से नव बार
अधर उर से उर अधर समान
पुलक से पुलक प्राण से प्राण।

गुंजन में बौद्धिक तत्व प्रधान हो उठा है। बौद्धिकता और भावुकता का सुन्दर समावेश 'गुंजन' है। बौद्धिकता में दो रूप होते हैं: १-दर्शनवाद २-पदार्थवाद। पदार्थ में सौन्दर्य देखा। सौन्दर्य या तो उसे मानव जीवन से मिला है या व्यापक, असीम प्रेयसि की मुस्कान से मिला है। दर्शन में आत्म दर्शन प्रधान है। जीवन में आत्म दर्शन ही सबसे प्रमुख है। 'आत्मा है सरिता के भी' में इस आत्म-दर्शन का चरम उत्कर्ष है। पदार्थवाद की सूक्ष्मता की ओर ध्यान देकर कवि ने उसमें आत्मा का समावेश पाया और इस प्रकार दोनों एकाकार हो गये। पदार्थ का जीवन से सूक्ष्म सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध का उद्घाटन कवि ने किया है। रहस्य की भावना भी कवि नहीं छोड़ पाया है—

दूर वन के ओ राजकुमार
अखिल उर-उर में तेरे गान।
मधुर इन गीतों से, सुकुमार।
अमर मेरे जीवन ओ प्राण।

इससे दर्शित है कि जीवन और प्राणों को अमर करने वाली कोई सत्ता है।

'एक तारा' के रूप में पंतजी को आत्मा के दर्शन हुए। वह शुद्ध ज्ञान मय आत्मा का प्रतीक है। वह ब्रह्म का एक अन्श, 'अनन्त का एक मीन है।' जीवन के अंधकार का बोधमय आत्मा भेदन करती है—

वह शुद्ध, प्रबुद्ध शुद्ध वह सम।

यही आत्मा का रूप परम बौद्धिक है। आत्मा किसी से मिलने को आतुर है। वह विरह मधुमय है। इस मधुरता का कारण एक अमर आशा और अपूर्व अभिलाषा है। और जगत?—वह जगमगा रहा है। यहीं आत्मा और जगत का दर्शन छिपा पड़ा है—

जग मग नभ का आँग
लद गया कुन्द कलियों से मन
वह आत्म और यह जग दर्शन।

यह आत्मा अब परमात्मा में लीन होगी। वह शाश्वत से मिलेगी और एक रस आनन्द मय हो जायगी। वहाँ की कल्पना कवि करता है। अपने अस्तित्व ज्ञान से वह शून्य हो जाता है। जन्म मरण की लोह कड़ियों से मुक्त हो, 'शाश्वत नौका विहार' की आशा कवि को खींचे लिये जा रही है। कवि अमर हो उठता है।

अष्टछाप पदावली

बा० गुलाबराय एम० ए०

मूल-विषय—श्री सोमनाथ गुप्त एम० ए० ने एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए अष्टछाप के कवियों के पद उपस्थित किए हैं। इससे यह लाभ अवश्य हुआ है कि जहाँ विद्यार्थी केवल सूर के भ्रमर गीत का ही रसास्वादन करते थे वहाँ वे अब उस सम्प्रदाय के आठों प्रमुख कवियों का जिनको गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने कवि होने की छाप (मुहर) सी लगा दी थी अर्थात् एक प्रकार का प्रमाण-पत्र दे दिया था (थापि गुसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप) परिचय प्राप्त कर सकेंगे। इन कवियों में चार आचार्य महाप्रभु बल्लभाचार्य के शिष्य थे और चार गोस्वामी विट्ठलनाथजी के। (इनके जीवन के बारे में डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा की अष्टछाप नाम की छोटी-सी व्रज-भाषा पुस्तक अथवा हरिरायजी की टीका के सहित प्राचीन वार्त्ता रहस्य जो कि कांकरोली विद्या-विभाग से प्रकाशित हुआ है पढ़ें। ये दोनों ही ग्रन्थ चौरासी वैष्णवों की वार्ता पर आश्रित हैं)।

इस संग्रह की यह विशेषता है कि इसमें तुलनात्मक अध्ययन के लिए एक ही विषय के आठों कवियों के पद मिल जाते हैं। मैं यह अवश्य कहूँगा कि खण्डिता के पद इसमें न दिये जाते तो अच्छा होता। इस संग्रह के पद मूल पाँच सन्दर्भों में रक्खे गये हैं—समुदायकीर्तन, खण्डिता पद, फुटकर पद, जमुनावर्णन और गुरु सम्बन्धी-पद।

समुदायपद—वे हैं जो गोवर्धन पर्वत के श्रीनाथजी के मन्दिर में (पहले श्रीनाथजी की मूर्ति वहीं विराजमान थी) भक्त समुदाय द्वारा गाये जाते थे। कीर्तन केवल नाम कीर्तन ही नहीं होता है, वरन पदों का भी होता है। मेरी समझ में कीर्तन का प्रचार चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से व्रज में आया, आया नहीं तो बढ़ा अवश्य। इन पदों में लीला सम्बन्धी पद भी हैं किन्तु अधिकतर उनका सम्बन्ध युगल मूर्ति के सौन्दर्य वर्णन और विनय से है। ऐसे ही पद भगवान के सामने भक्त समुदाय द्वारा गाये जाते होंगे।

खंडिता-पद—यद्यपि मैं पहले लिख चुका हूँ कि ये पद न होते तो अच्छा होता तथापि जब ये हैं तो इनके सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना क्षम्य होगा। नायिका भेद का धार्मिक रूप हमको बङ्गाल के उज्ज्वल नील मणि आदि वैष्णव ग्रन्थों में मिलता है। यह गीत गोविंद की ही देन है। और यही बीज रीतिकाल में पूर्ण रूप से फला-फूला (बङ्गाल में शक्ति पूजा के प्राधान्य से राधा की उपासना में भी विशेष बल आ गया था) हिन्दी के भक्त-कवियों में रीतिकाल के कुछ अंकुर दिखाई पड़ते हैं और खण्डिता का वर्णन उन्हीं अंकुरों में से है। यह अवश्य मानना पड़ेगा कि भक्त-कवियों ने खण्डिता का भी वर्णन भक्ति-भावना के साथ भगवान की लीला के रूप में ही किया है—'चतुर्भुजदास प्रभु गिरिधरन भले, तुम आये हो मोहि देखावत प्रात' रीतिकाल के कवियों और भक्त-कवियों में यही अन्तर है। फिर भी खण्डिता सम्बन्धी पदों में रीतिकाल के अंकुर मैं इसलिए कहता हूँ कि इनकी उक्तियों में वे ही बातें खानापूरी की भाँति बार-बार आई हैं। वही 'बिन गुनमाल' (बिना डोर की केवल गुरियों की कपड़ों पर पड़ी हुई छाप) आदि की उक्तियाँ जिनको रीतिकाल के कवियों ने अपनाया है, बार-बार आई हैं। भक्तिकाल का

हे जग-जीवन के कर्णधार—
चिर जन्म मरण के आरपार
शाश्वत जीवन नौका विहार
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान,
जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्वदान।

और तत्व खोजने के लिए कवि जा रहा है। वह गा रहा है। हमसे बिदा ले रहा है—

'कवि से रे किसका क्या दुःख।'

यह नायिका निरूपण भक्ति के साथ था और रीतिकाल में उस भक्ति और निजी सम्बन्ध का अपेक्षाकृत अभाव था। यहाँ पर खण्डिता की परिभाषा भी दे देना अनुपयुक्त न होगा।

अनत रमे रति-चिन्ह लखि, प्रीतम के मुख गात।
दुखित होइ सो 'खंडिता', बरनत मति अवदात॥
—जगद्विनोद

प्रसङ्गवश यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि बङ्गाल के कवियों ने राधा को परकीया प्रेयसी के रूप में लिया है। क्योंकि वे लोग यह मानते हैं कि परकीया अधिक त्याग और बलिदान का परिचय देती है। किन्तु सूर आदि ने राधा को स्वकीया माना है। सूरदासजी के नीचे के पद में अपने लड़के विवाहित देखने के उत्साह का बड़ा सुन्दर पारिवारिक चित्र मिलता है। यही बात रीतिकाल के कवियों से भक्तिकाल के कवियों को ऊँचा उठा देती है। इसमें नवीनता, निजी निरीक्षण और उल्लास है। देखिए—

बूझति जननी कहाँ हुती प्यारी।
किन तेरे भाल तिलक रचि कीनों,
किहि कच गूँदि माँग शिर पारी॥
खेलत रही नंद के आँगन,
यशुमति कही कुँवरि ह्याँ आरी।
तिल चाँवरी गोद करि दीन्ही,
फरिया दई फारि नव सारी॥
मेरो नाउँ बूझि बाबो को,
तेरो बूझि दई हँसि गारी॥
मोतन चितै चितै ढोटा तन,
कछु सविता सों गोद पसारी॥

विद्वान लेखक ने पुस्तक की भूमिका में यह प्रश्न उठाया है कि 'अष्टछाप के कवि पुष्टिमार्गीय हैं जिसमें बाल कृष्ण की उपासना का ही निर्देश है'। समझ में नहीं आता फिर राधा की भावना इन कृतियों में कैसे आई? उनका स्थान इतना प्रधान कैसे बन गया? इसका उत्तर कुछ तो स्वयं लेखक ने ही दिया है। कवि की कोमल भावनाएँ नारी के रूप के चित्रण के बिना अधूरी रहती हैं। इसके अतिरिक्त निम्बार्क, जयदेव, विद्यापति, चैतन्य महाप्रभु आदि का प्रभाव कम न था। सूर आदि कवि उनसे प्रभावित अवश्य हुए किन्तु उनके सम्बन्ध में अपनी नई उद्भावनाएँ थीं। इसके अतिरिक्त कृष्ण की बहुत सी यौवन-लीला उनकी बाल-लीला से मिली हुई थीं, जैसी कि ऊपर के पद में है।

फुटकर पद—इन पदों में बाल-लीला तथा यौवन-लीला सम्बन्धी पद हैं और इनमें जीवन का वैचित्र्य और उसकी उछल-कूद दिखाई देती है। इन पदों द्वारा हमको घोष-जीवन का बड़ा सुन्दर परिचय मिलता है। इसमें जो प्रेम चित्रित हुआ है वह राज-महलों का सा एकान्त-प्रेम नहीं है। जहाँ एकान्त स्थल में, बैठकर प्रेम के सिवाय और कोई व्यापार ही नहीं होता। यहाँ प्रेम जीवन की चहल-पहल, उद्योग-धन्धों, गोचारण आदि के दैनिक कार्यों के साथ चलता है—

धेनु दुहति अति ही रति बाढ़ी।

जमुना सम्बन्धी पद—कृष्ण-भक्तों में जमुना का वर्णन कहीं-कहीं तो उद्दीपन रूप में हुआ है किन्तु इस संग्रह में आये हुए पदों में आलम्बन रूप से उसी भक्ति-भावना के साथ किया गया है जिस भक्ति-भावना से तुलसीदासजी ने चित्रकूट और सरयू का। इससे भी कुछ अधिक मान जमुना का इसलिए है कि उनको रानी का पद दिया गया है।

गुरु-वंदना—

केवल सूरदासजी के गुरु सम्बन्धी पद नहीं दिये गये हैं उसका विशेष कारण यह है कि उन्होंने भगवान की लीला के वर्णन को अपने गुरु के यश वर्णन के रूप में ही किया था। सूरदासजी जब पारसोली में शरीर त्याग रहे थे तब गोस्वामी बिट्ठलनाथ अन्य वैष्णवों के साथ उनके पास पधारे। चतुर्भुजदासजी ने उनसे पूछा कि तुमने एक लाख पद लिखे किन्तु आचार्य महाप्रभु के वर्णन में कुछ नहीं लिखा। तब सूरदासजी ने उत्तर दिया 'मैं तो सगरों जस आचार्य जी को ही वर्णन कियो है, तो मैं कछु न्यारो

देखतौ तो न्यारौ करतौ' फिर भी उन्होंने उस समय 'वल्लभ नखचन्द्र छटा बिनु सब जग माँहि अँधेरौ' वाला पद गाया। वल्लभ सम्प्रदाय में महाप्रभु वल्लभाचार्य को भगवान का ही अवतार माना है। उनमें केवल कृष्ण भगवान की ही नहीं वरन् युगल मूर्ति की प्रतिष्ठा रहती है। कवि कृष्णदासजी ने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी और गिरधर भगवान का तादात्म्य माना है, देखिए:—

जाके मन में उग्र भरम है
श्री विट्ठल श्री गिरधर दोय।
ताकौ संग विषम विषहू ते
भूलिहु चातुर करि हैं जिन कोय॥

गुरु महिमा एक ऐसा विषय था जो भक्ति काल के सभी सम्प्रदायों में, क्या निर्गुण और क्या सगुण में मान्य था। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस के आदि में गुरु महिमा गाई है—'बंदऊ गुरु पद पद्म परागा'। कबीर ने तो गुरु को गोविन्द से भी बड़ा माना है।

अष्टछाप के कवियों का दृष्टिकोण—अष्टछाप के कवि कवि नहीं थे वरन भक्त थे। इसलिए उन्होंने जो लिखा स्वान्तः सुखाय लिखा। वे कृष्ण से सम्बन्धित नन्द यशोदा और गोपियों के सुख दुख का स्वयं अनुभव करना चाहते थे। इसी सुख-दुख की अभिव्यक्ति के लिए वे कविता करते थे—

यच्च सुखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यद्दुखं स्यान्मम क्वचित॥

सूरदासजी तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने यही भावना प्रकट की है—

दुतिया के ससि लौं बाढ़ै सिसु, देखै जननी सोइ।
यह सुख सूरदास के नैननि, दिन दिन दूनो होइ॥

❀ ❀ ❀

चतुर्भुज प्रभु गिरधरन लाल कों,
निरखि निरखि उर नैन सिरावें।

❀ ❀ ❀

चतुर्भुजदास निरखि दम्पति सुख,
तन मन धन कीन्हो बलिहारी।

राधा कृष्ण की रति के वर्णन उनके लिए रति का विषय नहीं रहता वरन् इष्टदेव की लीला का वर्णन हो जाता है। वह रति उनकी भक्ति का आलम्बन बन जाती है। इसीलिए हरएक पद में उन कवियों की छाप रहती है। यह छाप अपने पदों को सर्वाधिकार सुरक्षित कराने के लिए नहीं होती थी वरन् भगवान से अपना निजी सम्बन्ध स्थापित करने के लिए होती थी।

पदों का प्रगीतत्व—यही निजी सम्बन्ध कृष्ण-भक्तों के लीला-सम्बन्धी पदों को आत्माभिव्यक्ति का रूप दे देता है। प्रगीत काव्य के लिए सङ्गीतात्मकता के साथ संक्षिप्तता, भावाधिक्य और आत्माभिव्यक्ति के गुण आवश्यक हैं। प्रायः प्रत्येक पद में 'सूरदास प्रभु' 'कृष्णदास प्रभु गिरधर प्रिय हित' 'कुंभनदास लाल गिरधर बिन जीवन जन्म अलेखें' आदि अन्तिम पंक्तियों में कवि के नाम की छाप है। यह छाप इन पदों को इतिवृत्तात्मकता के दोष से बचा देती है। उनके इतिवृत्तात्मक वर्णन भी भावमय आत्माभिव्यक्ति का रूप धारण कर लेते हैं।

पदों की कुछ विषयगत विशेषताएँ—

१—व्रजभाषा साहित्य में जो समता का भाव है वह इन पदों में पूर्णतया उतर आया है। कवि तो प्रायः भक्ति-भावना से ही प्रेरित रहते हैं। अन्य गोपी ग्वाल पूर्ण समता का भाव दिखाते हैं—

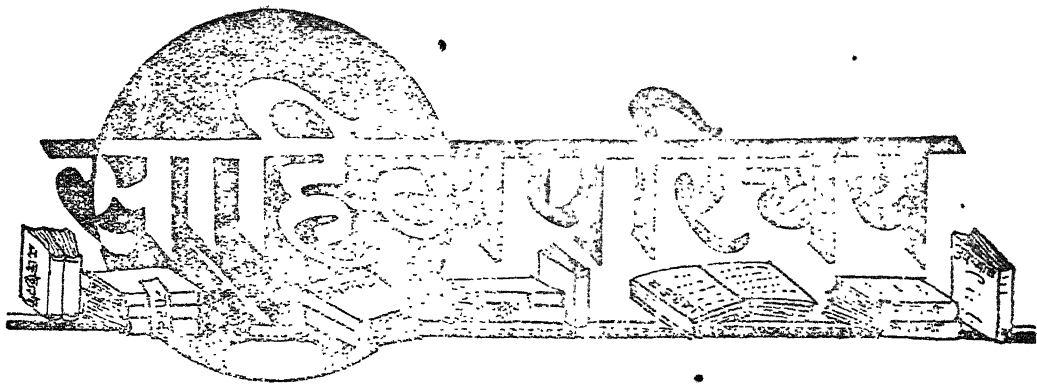
करि लो न्यारी हरि आपनि गैयाँ।

❀ ❀ ❀

हम तुम जाति पाँति के एकै
कहा भयो अधिकी द्वै गैयाँ।

२—इन पदों में तत्कालीन समाज का (विशेष कर घोष समाज का) अच्छा चित्रण हुआ है। गो दोहन, दही बिलोने, नृत्य और बालकों के खेलों का अच्छा चित्रण है। 'चुटिया तेरी बड़ी कीधों मेरी' (पृष्ठ १६८), 'गोपाल माई खेलत चक डोर' 'गोपाल माई खेलत है चौगान' (पृष्ठ ११७), 'गोपाल माई नीके फिरावत बंगी' (पृष्ठ ११८) आदि पद इसके प्रमाण हैं।

३—इन पदों के कर्ता कृष्णभक्त होते हुए भी राम कृष्ण की एकता स्वीकार करते हैं। 'सुन सुत एक कथा कहूँ प्यारी' (पृष्ठ ६७) 'राम कृष्ण कहिये निशि भोर, वे



साहित्य

उर्दू के अदीब—लेखक—श्रीयुत श्री पाद जोशी; प्रका०— बोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स लिमिटेड कालवादेवी रोड बम्बई। पृष्ठ सं—१२० मूल्य १।)।

हिन्दू-मुस्लिम समस्या की तरह हिन्दी-उर्दू विषयक वाद विवाद भी हमारे यहां चलता ही रहता है। भिन्न भिन्न रायें हैं; समस्या के भिन्न भिन्न हल पेश किये जाते हैं। जो हो—दो भिन्न संस्कृतियों में मेल की दृष्टि से अथवा एक ही संस्कृत के दो रूपों में सही रिश्ता कायम करने की निगाह से यह लाजिमी है कि एक को दूसरे के सम्बन्ध में अच्छा बोध हो। हिन्दी वाले उर्दू को समझें, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी के हिमायतियों को दोनों भाषाओं की मूल प्रेरणा, उनके विकास और गठन का ज्ञान हो। उर्दू का अपना साहित्य है, उसका एक विकास-क्रम है। हिंदी की ही तरह उसके रूप और शैली के परिवर्तन, विभिन्न धाराओं के प्रवाह हैं। जो इस पुस्तक में संक्षेप, सरल और रोचक ढँग से बतलाये गये हैं। एक तरह से यह उर्दू का संक्षिप्त इतिहास है, जिसको कालक्रम से, उर्दू कवि और लेखकों के परिचय तथा उनकी कृतियों के उदाहरणों के साथ बतलाया गया है। इसी से उर्दू की अब तक की गतियों का भी पता चल जाता है। उर्दू भाषा के विषय में प्रारंभिक जानकारी हासिल करने वाले साहित्य प्रेमियों के लिये पुस्तक उपयोगी है।

कविता

दीपक-रचयिता—श्री द्वारिका प्रसाद एम० ए०, प्रका०—ओंकार प्रेस प्रयाग। पृष्ठ संख्या ५६ मूल्य ॥।)।

पुस्तक में अधिकाँशतः प्रकृत वस्तुओं पर सरल, रोचक, सरसतापूर्ण कविताएँ हैं। कवि की कल्पना में नवीनत्व है। उसके पढ़ने में पाठक को कवि का अभिप्राय समझने में मस्तिष्क के व्यायाम की जरूरत नहीं पड़ती। सरिता, सागर, निर्झर, तारे, तथा दीपक, इन विषयों पर और कवियों ने भी सुंदर और उच्चकोटि की कवितायें लिखी हैं। फिर भी इस नवीन लेखक की कविताओं के पढ़ने में आनन्द आता है। कविता देवी के मन्दिर में कवि यह अपनी प्रथम भेंट लेकर पहुँचता है जो उसकी निष्ठा का परिचय है। उसकी आराधना में आगे चल कर गम्भीरत्व और कवित्व के विकास की आशा करना चाहिये।

दो चित्र—रचयिता—श्री शिशुपालसिंह 'शिशु', प्रका०—मारवाड़ी नवयुवक मंडल हैदराबाद दक्षिण। पृष्ठ संख्या १७१ मूल्य १॥)।

अवधेस धनुष धरे वे व्रज-जीवन माखन चोर' (पृष्ठ १६२) आदि पद इस बात की गवाही देंगे।

४—इन पदों में व्रज-भूमि के प्रति अगाध प्रेम है—'जोगी रे बसो तो बसो गोवर्धन, मथुरा धाम' (पृष्ठ १६५) और देखिए व्रज के आगे ये कवि बैकुण्ठ को भी तुच्छ समझते हैं—

कहा करै बैकुण्ठहि जाय।
जहँ नहिं कुंज लता अलि कोकिल,
मन्द सुगन्ध न वायु बहाय॥
(पृष्ठ ६६)

५—इन पदों में प्रातःकाल के बड़े सुन्दर वर्णन आये हैं। यद्यपि उनमें भी थोड़ी रीतिकालीन प्रवृत्ति है, विशेषकर उन पदों में जो खंडिता से सम्बन्धित हैं।

ये दो चित्र एक ही (समाज-व्यवस्था) सिक्के के दो पहलू हैं—एक रुपहला दूसरा मटमैला। कमलाकान्त-जमींदार वैभवशाली, धन धान्य की क्रान्ति से पूर्ण, दीनू-हीन, हीन, पराश्रित किसान। जमींदार ने उसे लूट लिया। पर दीनू की कष्ट सहिष्णुता और त्याग भाव ने पत्थर को पिघला दिया, मिटने वाले ने मिटाने वाले को जीत लिया। इस कथानक के आधार पर कवि की काव्य रचना होती है। उसे जहाँ एक कथा-वस्तु का आश्रय मिल कर; कविता का मार्ग सरल हो जाता है वहाँ एक निर्दिष्ट पथ से चलने की अस्वच्छंद गति पर ही उसे चलना होता है। अतः इस सुगम और अगम साधन के अनुसार ही कवि की कविता बन पड़ी है। कोई पद बड़े ही सुन्दर, भावपूर्ण, प्रसादगुण से पूर्ण हैं तो कहीं शिथिल पदावली और तुक की खोज में अटपटे शब्दों का जोड़ रखना पड़ा है।

सुखी चाहते हैं अपने सुख
को दिन रात बढ़ाना
दुखी चाहते हैं अपने दुख
को दिन रात घटाना।
दोनों ओरों से होते हैं
अपने अपने काम
घटा बढ़ी के सङ्गम पर ही
छिड़ता है संग्राम ॥

इस पद में कवि समाज की द्वंद्वावस्था का चित्रण कर, रोग के इलाज के सही—क्रान्ति मार्ग का भी निर्देष कर रहा है, किन्तु अन्त में—

दुखी न इससे दुखी कि उन पर
सुखी कर रहे अत्याचार
दुखी इसलिये हैं कि त्याग से
डरते हैं वे अपरम्पार।

कह कर कवि अपने उक्त-संग्राम-लक्ष से हट जाता है। उसका उद्देश्य समाज की विषमता का चित्रण करना है। उसे दूर करने का उसने जो रास्ता बताया है उसे भी बहुत से लोग मानते हैं—एक प्रवृति के लोगों का यह भी मार्ग है। किन्तु कवि ने अपनी रचना में दो वर्गों की दशा का जैसा चित्रण किया है उसमें और कवि के निष्कर्ष में मेल नहीं बैठता। फिर भी इस विषय पर इतनी लम्बी कवितायें रचना इस बात का द्योतक है कि हमारे कवि, समाज की परिस्थितियों से कहाँ तक प्रभावित हो चुके हैं और उसकी कलात्मक व्यंजना में वे कितने प्रयत्नशील हैं।

कहानी

पगडंडियाँ—लेखक—श्री राजेन्द्र सक्सेना; प्रका०—ज्ञान मन्दिर प्रकाशन कोटा। पृष्ठ संख्या ८५ मूल्य १)।

पुस्तक लेखक की सोलह कहानियों का संग्रह है। अधिकाँश कहानियाँ समाज की दो परस्पर संघर्ष रत प्रवृत्तियों का चित्रण हैं। ये दो प्रवृतियाँ सुविधा प्राप्त वर्ग और दूसरे पीड़ित वर्ग के आपस के संबन्धों से पैदा होती हैं। प्रेमी प्रेमिका के संबन्धों की चर्चा करने के स्थान में आजकल नई पीढ़ी के लेखकों की रचनाओं में यह रुझान बढ़ रहा है। यह समय की गति के अनुकूल है। 'प्रतिशोध' 'कला और जीवन' 'कहानी का प्लाट' तथा कई एक और कहानियाँ समाज की इसी द्वंद्वावस्था की परिचायक हैं। यह संघर्ष केवल आर्थिक जगत में ही नहीं है, जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी है, जैसा कि लेखक की 'विरक्ति और आशक्ति' तथा 'आत्मा का सौन्दर्य' आदि कहानियों में प्रकट है। लेखक ने दृश्य तथा अदृश्य वस्तुओं के चित्रण जिस ढँग से किये हैं उनसे आगे चलकर उनकी कला के और निखरने की आशा की जाती है। हाँ कई एक कहानियों की कथा वस्तु ऐसी है जिस पर कहानी की सुन्दर इमारत नहीं बन सकी है। वे फूल पत्तों से अच्छादित फल-विहीन वृक्ष की तरह हो गई हैं।

अष्टदल—लेखिका—कुमारी सावित्री कपूर और शशि अरोरा, प्रका०—मैक्स बेल कम्पनी लाटूश रोड लखनऊ। पृ० सं० ६६, मूल्य—पुस्तक पर लिखा नहीं।

दोनों लेखिकाओं की चार चार कहानियाँ इस अष्टदल में गुँथित हैं। कहानियों की दिशा प्रायः एक ही है। और एक वाक्यांश में उन्हें 'नारी हृदय की तड़पन' कह सकते हैं। कहीं माँ बाप और अभिभावकों द्वारा मनवांछित जीवन संगी चुनने में बाधा उपस्थित करने, कहीं वैवाहिक

जीवन में पति के मिथ्या संदेहों का शिकार बनने और कहीं समाज के कुचक्र से अभिशापित भारतीय नारी का जीवन दासत्व और दयनीयता की चरम सीमा है। अपनी अपनी कहानियों में लेखिकाओं ने यही भाव दर्शाया है। इस उद्देश्य के लिये उन्होंने कुछ पुरानी और नई घटनायें चुनी हैं, उन्हें कल्पना और भावों से सजाया है। कहानियाँ पढ़ने से मालूम होता है, ये वयस्क लेखिकायें सतत उद्योगशील रहने पर अच्छी रचनायें कर सकेंगी। अभी उन्होंने नारी जीवन का एक अंग ही देखा, उसमें भी उन्होंने 'कराहट' के सिवाय 'हुँकार' का कहीं नाम नहीं लिया। यह अवस्था शायद उसे ऐसा साहस दिखाने की आज्ञा न देती हो, तभी वे पुरातन आदर्श वादिता का सहारा लेने लगती हैं। पर आगे चल कर वे जीवन के नवीन, उदीयमान प्रौढ़चित्रों को अंकित करेंगी, ऐसी आशा है।

इनकिलाब—लेखिका-श्री० 'पुष्पा' भारती; प्रकाशक-अ० भा०-राष्ट्रीय प्रका० परिषद मेरठ। मूल्य २) पृष्ठ सं० १२०

इन कहानियों के मूल में देश भक्ति की भावना प्रवाहित है, जिसके साथ समाज की अनीति के पक्ष का चित्रण भी शामिल है। कुछ चित्रों में भावुकता का द्रावक रंग है। पर अधिकांश विचार राजनैतिक प्रोपेगैन्डा मात्र रह गये हैं। किसी किसी कहानी का कलेवर अनावश्यक प्रसंगों से बढ़ गया है जिससे कई उद्देश्यों के साथ कहानी का सौष्ठव ही नष्ट हो गया है। जैसे 'फरार' नामक कहानी। जिसमें लेखिका ने एक ही जगह सामाजिक और राजनैतिक उद्देश्य हल करने का असफल प्रयत्न किया है। इन दोषों के साथ इस संग्रह में कुछ एक राजनैतिक चित्र सुन्दर हैं। छपाई सफाई अच्छी है पर मूल्य अधिक रक्खा गया है।

उपन्यास

इसके बाद—लेखक-श्री मोहनलाल महतो वियोगी प्रकाशक-कल्याण साहित्य मंदिर प्रयाग। मूल्य १॥) पृ० सं० १०७

श्री महतोजी हिन्दी के सिद्धहस्त कलाकार हैं। जिस विषय पर अब तक कितनी ही लेखनी चल चुकी हैं, उसी को उन्होंने कला का नवीन परिधान पहना कर पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। ललिता अबोध अवस्था में विधवा होगई, नन्दरानी पचास वर्ष के पति के साथ बांध दी गई, मीनाक्षी कालेज की पढ़ी लिखी नारी है, संतोषकुमार ग्रामीण रईस और मजिस्ट्रेट के साथ उसका विवाह हुआ है। ललिता सन्तोष की बहिन है और ललिता नन्दरानी एक गाँव की, आपस में सखी का सम्बन्ध रखती हैं। इन चार पात्रों के ऊपर उपन्यास की रचना होती है। प्रत्येक अध्याय में क्रमशः एक एक नाम का चरित्र-चित्रण होता है, इस प्रकार उपन्यास चरित्र प्रधान है। पर एक बार पढ़ना शुरू कर देने पर उसका अन्त देखने की लालसा पाठक को बढ़ती ही जाती है और इसके बाद भी प्रश्न वाचक चिन्ह सामने रहता है। भाषा, भाव, टेकनिक, अन्तरङ्ग तथा बाहरी सजावट में उपन्यास मनमोहक और पठनीय है।

भूचाल—लेखक-श्री रामसिंह, प्रकाशक-विद्यामन्दिर लिमिटेड नई दिल्ली। मू० ३॥) पृ० सं० २२५

इस उपन्यास का आरम्भ बिहार के भूकम्प की घटना के साथ होता है, उसका मध्य समाज के एक जीवन की तस्वीर दिखाना और अन्त आदर्श की ओर ले जा कर होता है। भूकम्प में बिहारीलाल वकील का घर तबाह हो जाता है। ग्रामीणों ने उनकी और उनकी पत्नी मनोरमा की प्राण रक्षा की। इसके बाद लेखक बिहारीलाल के गृहस्थ जीवन का चित्र देने लगता है। बुढ़ापे में पहली पत्नी और पुत्र, पुत्रवधुएँ होते हुए भी बिहारीलाल युवा स्त्री से शादी कर लेते हैं। उनकी यह दूसरी पत्नी अपनी सौत के पुत्र पर आसक्त हो जाती है। पर सुशील सचरित्र और आदर्शवादी है। अन्त में यह पूरा परिवार आश्रम जीवन अपनाकर शान्ति लाभ करता है। वहीं सुशील की खोई हुई बहिन का पता लग कर एक रहस्य उद्घाटन होता है। उद्देश्य की दृष्टि से उपन्यास विशृंखलित है, कला की दृष्टि से साधारण कोटि का है। अनावश्यक प्रसङ्गों की भरमार, चरित्र-चित्रण का अभाव और कई एक दोष खटकने वाले हैं। पुस्तक की छपाई सफाई सुन्दर है।

राजनैतिक

भारत में सशस्त्र क्रान्ति चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास—लेखक–श्री मन्मथनाथ गुप्त, प्रकाशक–छात्रहितकारी पुस्तक माला प्रयाग। मू० ४॥) पृ०सं०३३०

श्री मन्मथनाथ गुप्त स्वयं सशस्त्र क्रान्ति चेष्टा के एक सिपाही रह चुके हैं। उन्हें प्रसिद्ध काकोरी केस में लम्बे कारावास का दण्ड मिला था। अतः अन्य लेखकों के इस सम्बन्ध के इतिहास से उनके लिखे इतिहास में विशेषता होनी ही चाहिये। यों तो यह पुस्तक सन् १६१६ में प्रकाशित हो चुकी थी—किन्तु यू० पी० और विहार में (कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों द्वारा) वह जब्त करली गई फिर भी उसका प्रथम संस्करण हाथों हाथ निकल गया। बाद में पुस्तक पर से प्रतिबन्ध उठालिया गया और यह दूसरा संस्करण हमारे सामने है। इसमें चटगाँव शास्त्रागार डकैती केस और बङ्गाल ऑर्डिनेन्स के समय तक की सशस्त्र क्रांति चेष्टाओं का वर्णन आगया है। लेखक ने इसका आरम्भ सन् १८५७ के गदर से किया है और आन्दोलन की पृष्ट भूमि बतलाते हुये उसे एक शृंखला बद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। घटनाओं के भारी विस्तार में न जाकर लेखक ने इस रोमांचकारी इतिहास की मुख्य धाराओं तथा सामयिक राजनैतिक स्थितियों का भी वर्णन किया है। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास के ये लाल पृष्ट कितने सनसनी पूर्ण, विदग्धकारी, रोमाँचक तथा आकर्षक हैं, इसका स्मरण इस पुस्तक के पढ़ने के साथ होता है। पुस्तक की छपाई सफाई सुन्दर है। चित्रों से उसका महत्व और भी बढ़ गया है।

अगस्त क्रान्ति और प्रति क्रान्ति—लेखक–श्री मन्मथनाथ गुप्त, प्रकाशक–कल्याण साहित्य मन्दिर प्रयाग। मू० २॥) पृ० सं० १८६

भारत के स्वतंत्रता संग्राम में अगस्त सन् १६४२ की राजनैतिक उथल पुथल का अपना एक अलग-विशेष स्थान है। एक सिंहावलोकन के साथ इस क्रान्ति की समीक्षा इस पुस्तक में विद्वान लेखक ने की है। क्रान्ति का स्वरूप, उसकी गति तथा अवरोधों (प्रतिक्रान्तिमयी चेष्टाओं) का वर्णन लेखक ने अपनी विशेष विचारधारा और शैली के साथ किया है। लेखक का आलोचनात्मक दृष्टि कोण मार्क्सवादी और उनका पक्ष उग्र राष्ट्रीयवादी है। कांग्रेस के दक्षिण पक्षीय नेतृत्व की एतद् विषयक नीति तथा गाँधीवादी पद्धति की उसने तीव्र आलोचना की है। अपने विचार, विश्वास तथा धारणा से इतर, अन्यथा सोचने तथा कार्यपद्धति अपनाने वाला, राजनैतिक व्यक्ति के समक्ष किसी सहानुभूति और सहिष्णुता का पात्र नहीं रहता, प्रहार का लक्ष रहता है, यह पुस्तक इसका उदाहरण है। लेखक को भारत की गत, युद्ध कालीन वक्त की राजनैतिक घटनाओं का शास्त्रीय ढङ्ग से विचार करने का श्रेय प्राप्त है। उनके मत से सर्वत्र साम्य होना आवश्यकीय नहीं। ढाई रुपया पुस्तक का मूल्य अधिक है।

खून का बदला खून से नहीं—लेखक–महात्मा गांधी, प्रका०–हिन्दी पुस्तकालय बुलानाला काशी। पृ० १२० मूल्य १॥)।

प्रस्तुत पुस्तक में महात्मा गांधी के वे लेख और वक्तव्य संकलित हैं जो उन्होंने देश में हाल ही में घटी साम्प्रदायिक विद्वेष की घटनाओं के संबन्ध में दिये हैं। महात्मा जी के कथन का सार है–खून का बदला खून नहीं हिंसा को अहिंसा से जीतो। ये वक्तव्य और लेख गांधीजी के 'हरिजन' पत्र में निकल चुके हैं और उन्हीं को प्रकाशक ने पुस्तिका रूप में छाप दिया है। देश की आज की दशा में इन लेखों का पठन और उनके अनुकूल आचरण कितना कल्याणकारी है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। संकलनकर्त्ता ने अंत में सन् १६४२ में आगाखां महल (जेल) से वायसराय लार्ड लिनलिथगो के नाम लिखे गये महात्मा गांधी के पत्रों को उद्धृत करके पुस्तक की पूर्ति की है। इन पत्रों में और महात्मा जी के इन वक्तव्यों में एक प्रकार का साम्य भी है। पुस्तक की छपाई सफाई अधिक अच्छी नहीं है।

—र० व०



भाग ८] आगरा—मार्च १९४७ [अङ्क ९

आचार्य केशवदास और उनका काव्य सम्बन्धी मान-दण्ड

श्री सोमनाथ गुप्त एम० ए०

प्राचीन कवियों के अध्ययन के लिए एक विशेष सहृदयता की आवश्यकता है। प्रोफेसर सोमनाथजी ने पूर्ण सहृदयता के साथ केशव की कविप्रिया का काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण पाठकों के समक्ष रक्खा है। इसमें कविप्रिया का सार मिल जाता है किन्तु उस सार को पढ़ लेने के पश्चात् भी हमको खेद के साथ कहना पड़ता है कि काव्य के लिए केवल दोषों से बचने का नकारात्मक मान उपस्थित कर सके हैं। दोषों का अभाव मात्र काव्य की आत्मा का स्थान नहीं ले सकता। वर्ण्य विषयों की लम्बी तालिका और अलङ्कार शेष रह जाते हैं वर्ण्य विषय सब कवि-शिक्षा के व्यावहारिक अङ्ग हैं उनका काव्य की आत्मा से उतना ही सम्बन्ध है जितना कि वस्त्रों और आभूषणों का पहनने वाले की आत्मा से। गुप्तजी के सहृदयता पूर्ण पोषण के पश्चात् हमारी भावना यही रहती है कि कम से कम कवि-प्रिया में केशव की दृष्टि बर्हिमुखी ही रही है। भावों की अपेक्षा उनकी दृष्टि राज्यश्री की ओर अधिक रही है। उनके विशिष्ट अलङ्कार केवल अभिव्यक्ति के ही अलङ्कार हैं।—सम्पादक

काव्य किसे कहते हैं? काव्य का स्वरूप क्या है? काव्य का लक्ष्य क्या है अथवा उसका क्या प्रयोजन है? काव्य के सामान्य उपकरण कौन से हैं? काव्य के तत्व कितने हैं और उनमें किस की प्रधानता है? काव्य की आत्मा किसे मानना चाहिए?

काव्य-शास्त्र पर लिखने वाले प्रत्येक आचार्य ने उक्त प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया है। किसी का विवेचन विस्तृत है और किसी का संकुचित। ऐसा भी देखा जाता है कि किसी ने काव्य की सीमा का उल्लेख करते हुए उसे 'काव्य के स्वरूप' का विवेचन समझ लिया है और किसी ने 'काव्य के प्रमुख तत्वों का वर्णन' ही काव्य सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर मान लिया है। ऐसी अवस्था में पाठक

बड़े असमञ्जस में पड़ जाता है। लेखक—आचार्य का स्पष्ट मन्तव्य उसके सामने नहीं आपाता और प्रश्नों का उत्तर भी इसलिए अधूरा ही रह जाता है।

संस्कृत की बात जाने दीजिए। उसमें आचार्यों ने वास्तविक अर्थों में विवेचन किया है। 'साहित्य-दर्पण' और 'रस-गंगाधर' इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। परन्तु हिन्दी के आचार्यों ने ऐसा नहीं किया। कभी कभी तो उन्हें 'आचार्य' कहने में इसी कारण संकोच भी होने लगता है। प्रस्तुत लेख में हम केशवदास का मत इस सम्बन्ध में पाठकों के सामने रखते हैं।

केशव के विषय में सामान्य धारणा यही है कि केशव अलङ्कारवादी लेखक थे। काव्य में कला-पक्ष का चमत्कार उन्हें अधिक प्रिय था और अपनी कविता में उन्होंने इसी को प्रधानता दी है।

इसमें सन्देह नहीं कि केशव अलङ्कार-प्रिय थे परन्तु उनकी 'अलङ्कार भावना' भी सामान्य तत्संबंधी भावना से बहुत कुछ भिन्न थी। 'कवि-प्रिया' इस विषय में उनकी चिंताधारा को बिल्कुल स्पष्ट कर देती है।

केशव ने 'कविता के स्वरूप' की कल्पना 'स्त्री' रूप में की है और अपनी कवि-प्रिया के १६ भावों को उसके १६ शृंगार माना है।

सुवरण जटित पदारथनि, भूषण भूषित मान।
कवि-प्रिया है कवि-प्रिया, कवि की जीवन प्रान॥
केशव सोरह भाव शुभ, सुवरन मय सुकुमार।
कवि-प्रिया के जानिये, यह सोरह शृङ्गार॥

उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए वह कहते हैं—

राजत रंच न दोष युत, कविता बनिता मित्त।
बूँद क हाला होतज्यों, गंगाघट अपवित्त॥

इस कथन में भी केशव 'काव्य की आत्मा' को अभी छूने का प्रयत्न नहीं करते।

'कवि साधना' का वर्णन करते हुए केशव कहते हैं,

चरण धरत चिंता करत, नींद न भावत शोर।
सुवरण को सोधत फिरत, कवि व्यभिचारी चोर॥

कवि की साधना यही है कि वह अपनी कविता का एक एक चरण चिन्तन करने के पश्चात लिखता है। अपनी धुन में उसे न तो शिथिलता (नींद) ही अच्छी लगती है और न बेसुरे स्वर (शोर) ही अच्छे लगते हैं। उसका कवि सुन्दर और मधुर वर्णों को सदैव ढूँढ़ता रहता है। इससे स्पष्ट है कि कवि बनना केशव के मतानुसार, कोई साधारण कार्य नहीं है। कवि बनने के लिए चिंतन, उत्साह या ओज, स्वर-साधन और सुन्दर वर्णावली पर पूर्ण अधिकार की आवश्यकता है।

केशव उस काव्य को उत्कृष्ट काव्य मानते हैं जो दोषों से रहित हो। इस विषय का वर्णन उन्होंने विस्तार के साथ किया है। सब मिलकर उन्होंने काव्य के १६ दोष बतलाये हैं। इनमें ५ तो ऐसे हैं जिन पर एकदम दृष्टि जाती है। ये दोष यदि कवि-प्रतिभा और उसके कर्म को मर्यादित करने में सहायक होते हैं, यद्यपि कवि निरंकुश होता है परन्तु केशव उसे यह अधिकार नहीं देते कि वह किसी वस्तु का वर्णन इस प्रकार करे जो कवि-रीति के विरुद्ध है। यदि वह ऐसा करता है, कमल का स्वामी सूर्य न बताकर चन्द्रमा को बताता है, तो वह पंथ-विरोधी 'अन्ध' दोष का भागी है। इसी प्रकार यदि संहरण करने वाले शिवरूप का वर्णन करते हुए कवि उनके विशेषण के रूप में 'रुद्र' और 'उग्र' आदि न लिखकर 'सिद्ध' और 'शिरोमणि' लिखता है तो वह कवि शब्द-विरोधी 'बधिर' दोष का भागी है क्योंकि ऐसा करने से कवि शिष्ट और शिक्षित समाज में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के अपयुक्त प्रयोग से अपनी अज्ञानता प्रदर्शित करता है। छन्द-भङ्ग भी भारी दोष है क्योंकि वह काव्य को 'पंगु' बना देता है. अलङ्कार हीन छन्द रचना नग्न दोष से युक्त मानी जाती है और इसी प्रकार निरर्थक शब्दों के प्रयोग से कविता में 'मृतक' दोष आजाता है।

जैसा ऊपर बताया जाचुका है, केशव के दोषों की सूची में इन पाँच के अतिरिक्त, अगण (गणों का शुभ अशुभ तथा उपयुक्त रूप से छन्दों में अप्रयोग), हीन रस (रस तत्वों का अपरिपाक), गति भङ्ग, व्यर्थ (एक ही छन्द में पूर्वापर विरोध), अपार्थ (छन्द में सुसंगत अर्थ का अभाव), हीन क्रम, कर्ण-कटु, पुनरुक्ति, तथा देश, काल, लोक, न्याय और आगम (शास्त्र)

विरोधी दोषों का भी वर्णन है।

इन दोषों के वर्णन से केशव का अभिप्राय काव्य की अभिव्यञ्जना संबन्धी सीमाओं का निर्धारण समझना चाहिए। आगे चलकर केशव अभिव्यञ्जना सम्बन्धी इन सीमाओं में और भी योग दे देते हैं। 'वस्तुवर्णन' के प्रसंग में केशव ने रंग की दृष्टि से समस्त पदार्थों को सात रंगों में विभाजित कर दिया है। उनका स्पष्ट मन्तव्य है कि विष्णु, शिव, सूर्य और चन्द्रमा आदि देवता, नारद आदि मुनि; शरद मेघ, चन्द्रिका आदि प्राकृतिक दृश्य; मन्दार तथा घनसार आदि पदार्थ एवं कीर्त्ति, जरा तथा हास आदि सूक्ष्म भावनाओं का चित्रण ऐसे शब्दों द्वारा होना चाहिए जो श्वेत रंग के अभिव्यञ्जक हैं। हरि वाहन हरकंठा, चम्पक, दीपक तथा सुरपाल आदि के लिए पीत वर्ण के पर्यायवाची; रामचन्द्र, नीलकण्ठ, आकाश, खंजन, जमुना, किसान तथा कलह, लोभ, क्षोभ, दुख आदि सूक्ष्म मनोभावों का वर्णन श्याम-वर्ण पर्यायवाचियों द्वारा; संध्या, खद्योत गजमुख, रौद्र आदि का रक्तवर्ण पर्यायवाचियों द्वारा; काक-कंठ, खर, मूषक और कपोत आदि का धूम्रवर्ण पर्यायवाचियों द्वारा; व्योम, मरकत मणि और सूर्य, अश्व आदि का नील वर्ण पर्यायवाचियों द्वारा तथा उन समस्त पदार्थों और भावों का जिन में एक से अधिक वर्ण सम्मिलित हैं, दो या अधिक उन्हीं के वर्ण पर्यायवाची शब्दों द्वारा होना चाहिये। ये मिश्रण कई प्रकार के हो सकते हैं।

इससे स्पष्ट है कि कवि की दृष्टि रंग रूप में बड़ी सच्ची और पैनी होनी चाहिये अन्यथा इस वर्णन के दोषयुक्त होने की संभावना रहेगी। ये दोष पंथ, देश, काल, न्याय, आगम आदि किसी भी प्रकार के हो सकते हैं।

कवि का 'वर्ण्य' क्या हो ! और कैसा हो ! इनके सम्बन्ध में भी केशव बड़े विस्तार में गए हैं। आजकल की विचार-धारा के अनुसार काव्य का सीमा-क्षेत्र (Scope & Subject matter) कुछ भी हो सकता है। साधारण पदार्थ से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव का चित्रण कवि अपनी कविता में करने के लिए स्वतन्त्र है। केशव ने भी इसी प्रकार का विस्तार माना है। भेद इतना ही है कि यह न कह कर उन्होंने अपने विवरण में अनेक पदार्थों के नाम गिना दिए हैं और उनका वर्गीकरण कर दिया है। यह वर्गीकरण वर्ण्य के रूप, गुण, गति, प्रभाव तथा शक्ति आदि के आधार पर किया गया है।

(अ) रूप और आकार—के अंतर्गत कई प्रकार के वर्ण्य आगये हैं।

(१) आवर्त—चकरी; चक्र, अलात (बनेठी) तथा आतपत्र (छाता)

(२) सुवृत्त—गुच्छा, कुंभ, कुच, अंडा।

(३) सुरूप—नल, नलकूबर, हरि-सुत, मदन।

(४) कुटिल—अलक, भृकुंचिका, अहि, कटाक्ष, बालशशि।

(५) त्रिकोण—शकट, वज्रहर, शिव-नेत्र, पावक-कुण्ड।

(आ) गुण और प्रकृति के अनुसार वर्ण्य—

(१) कोमल—पल्लव, माखन, प्रेम, पुण्य, दयालु-मन।

(२) कठोर—मणि, धातु, कुच, भुज-मूल, विरही का चित्त, दुर्जन-दृष्टि।

(३) सुखद—पण्डित, पुत्र, पतिव्रता, विद्या, दान, मान।

(४) दुखद—पाप, पराजय, झूठ, हठ, असहन-शीलता।

(५) तीक्ष्ण—नख, कटाक्ष, नितम्ब, कुच, कुश-लाज मति।

(६) शीतल—मलयज, दाख, कालिंद, प्रिय-संग।

(७) तप्त—रिपु-प्रताप, दुर्वचन, तप्त-वचन, संताप, तृष्णा।

(८) निश्चल—सती, समर, धर्म।

(९) चंचल—तरंग, कुरंग, धन, लोभी-मन, बालक, लक्ष्मी।

(१०) मधुर—प्रियाधर, सोमकर, माखन, दाख, बालक की तोतरी भाषा, कवि उक्ति, महुआ, मिश्री।

(इ) गति के अनुसार :

(१) मंदगति—कुलतिय, कुलजन का हास विलास शनि और गुरु की गति, हंस तथा गज आदि की गति।

(२) अगति—सिंधु, गिरि, वापी, कूप ।

(३) सदागति—पवन ।

(ई) सात्विक भाव तथा क्रिया के अनुसार :

(१) गुरुआज ।

(२) सत्य ।

(३) झूठ ।

(४) दान—गौरीदान, रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र, वार्ता आदि का दान ।

(उ) ध्वनि के अनुसार :

(१) क्रूर स्वर—झींगुर, साँप, उलूक, महिषी, काल, श्वान ।

(२) सु-स्वर—केकी, कोकिल, तंत्री, दुंदभी ।

(ऊ) शक्ति के अनुसार :

(१) अबल—पंगु, गूँगा, रोगी, अंधा, अनाथ ।

(२) बलिष्ठ—पवन, पवन-दूत, परमेश्वर, सुरपाल, अदृष्ट ।

(ए) समष्टि रूप से :

मंडल—कुंडल मंडल, मुद्रिका मंडल, आल बाल मंडल, रविमंडल ।

(ऐ) सम्पूर्ण वर्णन के आधार पर (इनका वर्णन सम्पूर्ण रूप से होना चाहिये) ।

सम्पूर्ण—अंबुज, आनन, आरसी और संत सुप्रेम प्रकाश ।

वर्ण्य-विषय सम्बन्धी उपरोक्त तालिका के अतिरिक्त केशव की आचार्य प्रतिभा काव्य विषय की विवेचना में और भी अधिक गहरी गई है । इन विषयों को उन्होंने दो प्रकार के 'भूषण' माना है— 'भूमि-भूषण और राज्यश्री भूषण'। इनका वर्गीकरण भी इसी प्रकार से किया गया है।

भूमि भूषण केशव ने १२ माने हैं ।

देश नगर बन बाग गिरि आश्रम सरिता ताल ।
रवि शशि सागर भूमि के भूषण ऋतु सबकाल ।।

प्रत्येक भूषण के अन्तर्गत केशव ने यह भी बताया है कि उन प्रसंगों में कौन-कौन से अन्य प्रासंगिक वर्णन आने चाहिए ; यथा—

देश—रत्न, पशु, पक्षी, बधु, वसन, सुगन्ध, सुवेश, नदी, नगर, गढ़, भाषा ।

नगर—खाईकोट, अटा ध्वजा, वापी, कूप, तड़ाग, वारनारि, असती, सती, भिक्षमाग ।

बन—सुरभी, वनजीव, भूतप्रेत, भय, भिल्ल-भवन वल्ली, विटप, दव, (निवासी)

गिरि—शृंग, दीरघ दरी, सिद्ध, सुन्दरी धातु, सुर, नर औषधि, निरझर, (शान्ति) ।

आश्रम—होमधूम, ब्रह्मघोष, मुनिवास, सिंहादिव पशु, मृग, मोर का बैर नाश ।

सरिता—जलचर, हय, जलज, तट, मुनिवास और यज्ञकुंड, स्नान, पवित्रता ।

बाग—लतायें, तरुवर, कुसुम, कोकिल और मोर कलरव, भँवरे का अनुराग वर्णन ।

तड़ाग—लहर, खग, पुष्प, पशु, सुरभी, समीर, तमाल, करम-केलि, जलचर ।

समुद्र—तुंग लहरें, गंभीरता, रतन, जंतु, गंगासंगम देवियाँ, यान, विमान, पहाड़, बड़वानल, चन्द्रोदय, समय, ज्वार, पन्नग तथा देव, अदेव का घर ।

सूर्योदय—अरुणता, पावनता, शंखवेद ध्वनि मुनियों द्वारा, पंथ का चालू होना, कोक कोकनद शोकहर, कुवलय और कुलटाओं को दुखदायी, तारा, ओषधि, चन्द्रमा, दीप, घू-घू, चोर और तम के लिए हानिकारक ।

चन्द्रोदय—कोक कोकनद को दुखद माननि और कुलटाओं को दुखद तथा कुवलय, जलधि और चकोर को सुखद ।

ऋतुवर्णन-१ वसन्त—पुष्प, अलि कोकिलरव, वन शोभा, कोमल सुगंधित समीर ।

(२) ग्रीष्म—तप्त समीर, मुख और जल; सरिता, ताल का सूखना, जल और थल में जीव की निर्बलता तथा आम का फलित होना ।

(३) वर्षा—हंसों बकों का पयान; चातक दादुर और मोर रव, केतकी, कंज कदम्ब और घनघोर बिजुली का वर्णन ।

(४) शरद—निर्मल आकाश में शशि प्रकाश, कास और कमल का विकास, पंथी, पितर और राजाओं की यात्रा

आचार्य शुक्ल का काव्य-सिद्धान्त

श्री शिवनाथ एम० ए०

इस लेख को हमने अध्ययन अंक के लिए आमन्त्रित किया था। देर में आने के कारण हम उसमें न दे सके। आचार्य शुक्लजी की काव्य दृष्टि व्यापक और समन्वयशील थी। 'उसमें जीवन की धूप छाँह और शुक्ल और कृष्ण पक्ष दोनों के लिए ही स्थान था। उनके लिए जीवन-कुसुम शैया नहीं थी जिसमें सब कोमल ही कोमल हों। वे जीवन के सुखमय साध्य-पक्ष के साथ-साथ कठोर प्रयत्नशील साधना-पक्ष के भी समर्थक थे। तुलसी का रामचरित मानस इसी कठोर प्रयत्नमय साधनावस्था के ही कारण उनका उपास्य ग्रन्थ था।

शुक्ल भाव और विभाव पक्ष दोनों को ही महत्व देते थे। विभाव पक्ष के अभाव या क्षीणता के ही कारण वे रहस्यवाद के पक्ष में न थे। शुक्लजी की इसी समन्वयशील वस्तुगत (objective) प्रतिभा का परिचय लेखक ने दिया है। साथ ही उनके रस और साधारणीकरण सम्बन्धी सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डाला है।—सम्पादक

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने वाले समीक्षक थे और इसी तथ्य को दृष्टि-पथ में रखकर उन्होंने सर्वत्र साहित्य की मीमांसा की है। वे लोकवादी भी थे। वे वैसे ही साहित्य वा साहित्यकार को महत्व देते थे जिसके द्वारा "सुरसरि सम सब का हित होई।" इसी लोकवाद के कारण वे व्यक्तिवादी अथवा सीमित क्षेत्र में ही प्रसारित साहित्य वा साहित्यकार को विशेष महत्व नहीं देते थे। काव्य-सिद्धान्त की स्थापना में भी वे अपने इन सतों को लेकर चले हैं। काव्य के विषय की व्यापक सीमा पर विचार करते हुए वे कहते हैं—"काव्य-दृष्टि कहीं तो १—नरक्षेत्र के भीतर रहती है। कहीं २—मनुष्येतर बाह्य-सृष्टि के और ३—कहीं समस्त चराचर के।" (चिन्तामणि पहिला भाग पृष्ठ १६६) नरक्षेत्र के अन्तर्गत मनुष्य के बाह्यान्तर दोनों रूपों के चित्रण से तात्पर्य समझना चाहिए। कवियों की दृष्टि नर-क्षेत्र पर ही विशेष रही है। जिस क्षेत्र को लेकर चलने में

की तैयारी।

(५) हेमंत—तेल, रुई, स्त्री और रतिवंतों की तपन बड़ी रातें और छोटे दिन।

(६) शिशिर—राजा और रंक का नाच, गाना हंसना, दिन में क्रीड़ा, रात्रि में निशंकता, सरसता।

राज्य श्री के भूषणों—में केशव ने निम्न प्रसंग माने हैं—

१ राजा, २ राजपत्नी, ३ राजकुमार ४ प्रोहित, ५ दल-पति, ६ दूत, ७ मंत्री, ८ मंत्रीपति, ९ पयान, १० हय, ११ गज, १२ संग्राम, १३ आखेट, १४ जल-केलि, १५ विरह, १६ स्वयंवर १७ सुरति,—

तत्पश्चात् भूमि भूषण के अनुसार राज्य श्री के प्रत्येक भूषण के अनुकूल प्रसंगों का उल्लेख भी केशव ने ही किया है।

ऊपर जिन प्रसंगों का उल्लेख हुआ है उन सब को केशव काव्य के 'सामान्य अलकार' मानते हैं। इस व्याख्या से पता चलता है कि केशव की अलंकार-भावना कितनी विस्तृत और व्यापक है। इससे यह भी मालूम होता है कि संसार और उसके विषय में उनकी जानकारी कितनी सूक्ष्म और पूर्ण थी।

सामान्य अलंकारों के अतिरिक्त काव्य का एक और भी महत्वपूर्ण अंश है जो वर्ण्य-विषय सम्बन्धी कवि-भावों की उद्भावना की व्यंजना से संबंध रखता है। इस प्रकरण को केशव 'विशिष्ट-अलंकार' के नाम से पुकारते हैं।

मनुष्येतर बाह्य-प्रकृति और समस्त चराचर भी आगए हैं।

नरक्षेत्र पर दृष्टि रखकर चलने वाले काव्य की अपेक्षा नरेतर सृष्टि पर भी दृष्टि रखकर चलने वाले काव्य का महत्व अधिक है। इसी प्रकार समस्त चराचर को दृष्टिपथ में रखकर चलने वाले काव्य का महत्व और भी अधिक है। आचार्य शुक्ल ने काव्य की इस विस्तृत विषय-सीमा के अनुसार ही काव्य की परिभाषा का रूप भी स्थापित किया है। वे कहते हैं—"हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों की भावना के सामने लाकर कविता बाह्य-प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तःप्रकृति का सामञ्जस्य घटित करती करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है।" (वही पृष्ठ १६६) काव्य के रूप के विषय में आचार्य शुक्ल ने किसी न किसी रूप में ऐसी ही बातें सर्वत्र कही हैं।

(२)

आचार्य शुक्ल द्वारा निर्धारित काव्य-विषय के तीन रूपों की चर्चा ऊपर हुई है। काव्य के इन विषयों से मानव अनन्त काल से परिचित है। ऐसी अवस्था में ऐसे विषयों के प्रति उसके हृदय में वासना की स्थिति वंश-परम्परानुगत रूप से भी हो गई है; परन्तु नागरिक-सभ्यता के उत्तरोत्तर विकसित होते जाने के कारण काव्य विषय के इन प्रकारों के मूल वा आदिम रूपों से मानव दूर होता जा रहा है। काव्य विषय के मूल वा आदिम रूपों के प्रति मानव हृदय में जो वासनाएँ वा भावनाएँ हैं उनको सभ्यता के नए-नए पर्दे ढँकते जा रहे हैं। आचार्य शुक्ल का कथन है कि ज्यों-ज्यों इस प्रकार के आवरण मन की वृत्तियों पर चढ़ते जायँगे "त्यों-त्यों एक ओर तो कवि की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायगा।" (वही पृष्ठ १६७) ऐसा इसलिए होगा कि मानव हृदय के सम्मुख काव्य विषय के मूल और आदिम रूपों को सभ्यता के आवरणों से बाहर निकाल कर रखना होगा और इन विषयों को मूर्त और गोचर रूपों में सामने रखना होगा। आचार्य शुक्ल का कथन है कि इन विषयों को मूर्त और गोचर रूपों में इसलिए रखना होगा कि "काव्य में अर्थ ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्बग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है।" (वही पृष्ठ ११८)

काव्य-रचना की प्रक्रिया में अर्थ ग्रहण वा बिंबग्रहण कराने अथवा श्रोता, पाठक वा दर्शक के संमुख समुचित आलम्बन उपस्थित करने में कल्पना वा भावना का बहुत महत्व है। "जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्य वाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आजकल के लोग कल्पना।" (वही, पृष्ठ ११६-२०) 'उपासना' भावयोग का ही एक अङ्ग है, धार्मिक क्षेत्र में इसे 'ध्यान' कहा जाता है। कल्पना के दो रूप हैं—विधायक और ग्राहक। प्रथम का सम्बन्ध कवि से है और द्वितीय का श्रोता, पाठक वा दर्शक से।

आचार्य शुक्ल ने काव्य-रचना के उपकरण कल्पना और चमत्कारवाद को, जिसके अन्तर्गत अलङ्कार को लिया है, काव्य का साधन ही माना है, साध्य नहीं। 'चमत्कार' से उनका तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है जिसके भीतर वर्ण-विन्यास की विशेषता, शब्दों की क्रीड़ा, वाक्य की वक्रता या वचन भङ्गी और अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उसके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दूरारुढ़ कल्पना आदि आती है। आचार्य शुक्ल चमत्कार को भी काव्य के लिए आवश्यक मानते हैं, परन्तु उतने ही चमत्कार को वे उपयोगी स्वीकार करते हैं जितने से किसी भाव की अनुभूति में तीव्रता आए। वे काव्य और सूक्ति में अन्तर करते हैं। जो उक्ति स्वयः भाव में लीन करे वह तो काव्य है, और जो केवल कवि की कथन-चातुरी के दर्शन की ही ओर मन को प्रवृत्त करे वह सूक्ति है, काव्य श्रेष्ठ है, सूक्ति नहीं।

काव्य का परम लक्ष्य होता है रूप-विधान, इसी कारण जगन्नाथ पंडित राज ने कहा है—"रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।" इस रूप-विधान के लिए भाषा की लक्षणा शक्ति का उपयोग करना पड़ता है, जाति-संकेतवाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप-व्यापार सूचक शब्द अधिक

रखने पड़ते हैं। पारिभाषिक शब्दों का बहिष्कार करना पड़ता है, ऐसे शब्दों का लाना 'अप्रतीतत्व' दोष माना गया है। भाषा में नाद-सौन्दर्य की योजना करनी पड़ती है। काव्य-भाषा में व्यक्तियों के नाम न लाकर उनके रूप, गुण, कार्य-बोधक शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

(३)

हिन्दी-साहित्य में रीतिकाल के आ जाने से बहुत दिन तक लोगों में यह धारणा बनी रही कि कविता का लक्ष्य मनोरंजन मात्र है, वह ठाले बैठे लोगों की वस्तु है। कविता का कोई उच्च लक्ष्य नहीं है। इस धारणा को निराधार साबित करने के लिए इधर अनेक लोगों को प्रयत्न करना पड़ा; उनमें से आचार्य शुक्ल भी एक हैं। उनका कथन है—'मन को अनुरंजित करना, उसे सुखी या आनन्द पहुँचाना ही यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई।' (वही पृष्ठ २२३) परन्तु बात ऐसी नहीं है। कविता विलास की परिस्थिति उपस्थित कर मनुष्य को अकर्मण्य नहीं बनाती; वरन् 'कविता तो भावप्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।' (वही पृष्ठ २१६) इस प्रकार काव्य और जीवन-निर्वाह अथवा व्यवहार में कोई विरोध नहीं है। आचार्य शुक्ल कविता का लक्ष्य इससे भी ऊँचा मानते हुए कहते हैं—'कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्चभूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है। उसकी अश्रुधारा में जगत् की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत् के आनन्द-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत् के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।' (वही पृष्ठ २१६) आचार्य शुक्ल काव्य की इस उच्चभूमि की चर्चा कर उसके चरम लक्ष्य रस की ओर संकेत करते हैं। वे 'हृदय की मुक्तावस्था' को रस दशा मानते हैं। मुक्तावस्था कब आती है, इस पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि जगत् के 'इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूट कर अपने आप को बिलकुल भूलकर-विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है।" (वही पृ० १६२) आचार्य शुक्ल की दृष्टि से यही रसावस्था है और इस अवस्था तक कविता पहुँचाती है।

रस-दशा तक पहुँचाने के लिये कवि को किन प्रतिक्रियाओं का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है, इस पर भी आचार्य शुक्ल ने विचार किया है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि रसोद्रेक या रसानुभूति के लिये श्रोता पाठक या दर्शक के साथ आलंबन का साधारणीकरण और आश्रय का तादात्म्य आवश्यक है। 'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।' (वही पृ० ३०८) यह भाव का विषय पहले ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं, फिर इनके द्वारा उपस्थित सामग्री को कल्पना लेकर रसोद्रेक के उपयुक्त उनकी योजना करती है। आश्रय के साथ तादात्म्य का तात्पर्य यह है कि काव्य या नाटक में आश्रय के हृदय में जो भाव उठते हैं वे ही भाव कवि अपनी शक्ति द्वारा श्रोता पाठक और दर्शक में भी उठाए। कुछ काव्य ऐसे होते हैं जिनमें आलंबन का चित्रण नहीं रहता वे केवल भाव-प्रदर्शक काव्य होते हैं, ऐसी परिस्थिति में श्रोता या पाठक अपनी रुचि, योग्यता, भावना आदि के अनुसार आलंबन का आरोप कर लेता है।

यह तो रस की उच्चकोटि की दशा की मीमांसा हुई, जिस पर भारत के प्राचीन साहित्याचार्यों ने विचार किया है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि रस की इससे एक नीची कोटि भी होती है, जिस पर इन आचार्यों की दृष्टि नहीं गई है। ऊपर इस पर विचार हुआ है कि रस की उच्चावस्था में आश्रय के साथ श्रोता या दर्शक का तादात्म्य होना चाहिये, परन्तु इसकी कुछ नीची अवस्था में "श्रोता या दर्शक का हृदय उस पात्र के हृदय (आश्रय के हृदय)

से अलग रहता है—अर्थात् श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिसकी व्यंजना पात्र अपने आलंबन के प्रति करता है, बल्कि व्यंजना करने वाले उस पात्र के प्रति किसी और ही भाव की व्यंजना करता है। यह दशा एक प्रकार की रस दशा ही है—यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलंबन का साधारणीकरण नहीं होता।.....बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील द्रष्टा या प्रकृति द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।" (वही पृ० ३१६) आचार्य शुक्ल का कथन है कि इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है।" (वही पृष्ठ ३१५) उच्चकोटि की रसानुभूति और इस मध्यम कोटि की रसानुभूति में अन्तर है। मध्यम कोटि की रसानुभूति में "श्रोता या पाठक अपनी पृथक सत्ता अलग सँभाले रहता है" और उच्च कोटि की रसानुभूति में "अपनी पृथक सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है। (वही पृष्ठ ३१६) मध्यम कोटि की रसानुभूति का सम्बन्ध व्यक्ति-वैचित्र्यवाद से है, जिसके साक्षात्कार से केवल तीन अवस्थाएँ उत्पन्न हो सकती हैं—आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, आश्चर्यपूर्ण अवसादन और कुतूहल मात्र।

इस मध्यम कोटि की रसानुभूति की स्थापना के अतिरिक्त आचार्य शुक्ल ने रसात्मक बोध के कुछ और रूपों की भी स्थापना की है, जो दर्शक को रस की पूर्णावस्था तक पहुँचाते हैं। आचार्य शुक्ल का कथन है कि कल्पित रूप-विधान द्वारा रसानुभूति की मीमांसा तो आचार्यों ने भी की है और इसके द्वारा रसावस्था की प्राप्ति मानी है, परन्तु प्रत्यक्ष रूप-विधान और स्मृत रूप-विधान द्वारा भी भावुक हृदय उसी रसावस्था का अनुभव करता है जिस रसावस्था का अनुभव कल्पित रूप-विधान द्वारा होता है। यहाँ प्रत्यक्ष से तात्पर्य केवल चक्षुष-ज्ञान से ही नहीं, वरन् कान, नाक, जिह्वा और त्वचा के प्रत्यक्ष ज्ञान से भी है। प्रत्यक्ष रूप-विधान द्वारा रसानुभूति की मीमांसा करते समय आचार्य शुक्ल की दृष्टि प्रकृति के प्रत्यक्ष-दर्शन द्वारा रसानुभूति पर विशेष है।

स्मृत रूप-विधान की मीमांसा करते समय आचार्य शुक्ल ने स्मृति के दो रूपों पर विचार किया है—विशुद्ध स्मृति और प्रत्यक्षाश्रित स्मृति या प्रत्यभिज्ञान। इसी स्मृत रूप-विधान के अन्तर्गत स्मृत्याभास कल्पना की मीमांसा हुई है जिसमें "पहले देखी हुई वस्तुओं या बातों के स्थान पर या तो पहले सुनी या पढ़ी हुई बातें हुआ करती हैं अथवा अनुमान द्वारा पूर्णतया निश्चित।" (वही पृष्ठ ३५०) आचार्य शुक्ल इन सभी प्रकार के रूप-विधानों में उच्चकोटि की रसानुभूति मानते हैं।

(२)

रस-सिद्धान्त पर भी उन्होंने मौलिक ढङ्ग से विचार किया और इसके विषय में अपने ढङ्ग से तर्क उपस्थित किए। साधारणीकरण, रस की मध्यम कोटि (व्यक्ति-वैचित्र्यवाद) प्रत्यक्ष तथा स्मृत-रूप विधान में उच्चकोटि की रसानुभूति आदि की उनकी मौलिक स्थापनाएँ हैं। कहना न होगा कि रस-सिद्धान्त की मौलिक स्थापना करते समय उनकी दृष्टि शास्त्रवाद पर अत्यन्त कम और जीवनगत व्यवहार और अनुभूति पर अत्यधिक है, इसी कारण वे मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना भी कर सके। आचार्य शुक्ल ने अपनी दृष्टि से वस्तुओं की छानबीन करके सिद्धान्तों की स्थापना की है। इस प्रकार विवेचना कर सिद्धान्तों की स्थापना करने वाले समीक्षक देशी तथा विदेशी साहित्य में भी कम है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में नायक का विकास

(लेखक—श्री कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा)

हिन्दी का उपन्यास क्षेत्र पर्याप्त रूप से विस्तृत है। गत सौ वर्ष के भीतर उपन्यास साहित्य ने जिन मंजिलों को तय किया है उनका विद्वान लेखक ने अपने समाजवादी दृष्टिकोण से बड़ा कौशलपूर्ण पर्यवेक्षण किया है। हमें खेद है कि स्थानाभाव के कारण हमें इसमें काट-छाँट करनी पड़ी है। सौनरेक्सा जी ने जो प्रारम्भ में तिलिस्मी, जासूसी तथा नीतिवादी उपन्यासों का दिग्दर्शन कराया है उसको हमने छोड़ दिया है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य के प्रथम पचास वर्षों के दो चरण समाप्त कर बीसवीं शताब्दी प्रारम्भ होती है। उसी के लगभग प्रेमचन्द जी ने हिन्दी के अधकचरे सामाजिक नायक को बल, बुद्धि और प्रौढ़ता प्रदान की। प्रेमचन्द की नवीन प्रेरणा का स्रोत आर्यसमाज के अतिरिक्त राजनीति में नवोदित गाँधीवाद का बढ़ता हुआ प्रभाव भी था।

तिलिस्मी और अर्धसामाजिक उपन्यासों में सामाजिक बन्धनों से रहित और व्यक्तिगत शौर्य तथा गर्व की केवल मध्यकालीन भावनाओं से संयुक्त चरित नायकों के साथ साथ खलनायक भी पाये जाते हैं; उनमें सामाजिक अथवा वस्तुगत परिस्थितियाँ नहीं, खलनायकों की दुष्टता ही उपन्यास के कथानक का अधिकतर विकास और चरित नायक के चरित्र का निर्माण करती है। प्रेमचन्द ने देखा कि हमारी वर्तमान समाज-व्यवस्था में उन्मुक्त प्रेम को कोई स्थान नहीं है; सभी इन्सान न्यूनाधिक मात्रा में भले-बुरे है, अतः उनके उपन्यासों में खलनायक को कोई स्थान नहीं मिला, यदि हम मान लें कि रूढ़िगत अर्थानुसार प्रेमाश्रम का ज्ञानशंकर एक सर्वथा खलनायक नहीं है। चरितनायक को छोड़कर प्रेमचन्द के अन्यान्य पात्र दुर्बल दुष्ट, दुराचारी, आदि हो सकते हैं, किन्तु चरितनायक के मुकाबिले में वे किसी भी तरह से खलनायक नहीं कहे जा सकते। हिन्दी उपन्यास के नायक के विकास में इस आधारभूत तथ्य को उन्नति की ओर एक उच्चतर सोपान मानना चाहिये।

ध्यान देने की दूसरी आधारभूत बात यह है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों की नायिकायें बड़ी सकर्मक बड़ी प्राणवान हैं, तिलिस्मी उपन्यासों की प्रेम की कठपुतलियों की तरह नहीं जिनसे प्रेम और विवाह करने के लिये, मध्यकालीन प्रकृति के चरितनायक और खलनायक परस्पर तलवारें खड़काते हों। प्रेमचन्द की नायिकायें अक्सर ही उनके नायकों से ऊपर उभरने लगती हैं, उनसे अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होती हैं; जीवन के भावना-क्षेत्र में उनसे ऊँची उठ जाती हैं, जीवन के कर्मक्षेत्र में उनसे आगे बढ़ जाती हैं। प्रतिज्ञा की प्रेमा और सेवासदन की सुमन, रंग-भूमि की सोफिया और कर्म-भूमि की सकीना, गबन की जालपा और निर्मला की निर्मला; और गोदान की उस महान धनिया के नाम सम्पुष्ट प्रमाण हैं।

प्रेमचन्द के प्रथम उपन्यास प्रतिज्ञा का नायक अमृतराय भीष्म प्रतिज्ञ है; किन्तु उसकी वह प्रतिज्ञा पथ-भ्रष्ट थी; परन्तु नायिका प्रेमा अन्त तक जीवन से जूझती रहती है। सेवासदन का नायक सदनसिंह चरित्रहीन (दुश्चरित्र नहीं।) व्यक्ति है उसकी अपेक्षा भी उसके चाचा पद्मसिंह कहीं अधिक कर्मशील और प्रबुद्ध हैं। वास्तव में उसकी नायिका सुमन ही उसकी नायक भी है। दुर्बल और शक्की तोताराम की अपेक्षा आत्मरक्षा की चेष्टा में सतत संलग्न किंतु परम सद्भावनामयी निर्मला ही अपने नामराशि उपन्यास की प्राण है। गोदान में धनिया ही संचालक एवं संवाहक शक्ति है, वही जिंदगी को आगे बढ़ाती है। उसमें बिजली बनकर जान डालती है। जीवन की प्रगति को अवरुद्ध करनेवाली परम्परागत अवनतिशील प्रथाओं

सामजस्यहीन भावनाओं, जर्जर रूढ़ियों, खण्डित मान्यताओं, का वह प्रतिरूप होरी हिन्दुस्तान की मिट्टी में बट वृक्ष की भांति दृढ़ खड़ा है—घना और गम्भीर किंतु स्थिर और निश्चल। जर्जरित, गतिरुद्ध, प्रतिक्षण खण्ड खण्ड होती हुई भारतकी पंगु प्राचीनता का यह प्रतिनिधि होरी वास्तव में एक महान चरित्र-चित्रण है। परन्तु आज जीवन-मरण के हमारे संघर्ष में मजूर-किसान, दलित-शोषित, दीन-हीन की जागृति की प्रतिनिधि धनिया अर्थात् विदेशी साम्राज्य-वाद और देशी पूँजीवाद की कसी जंजीरें तोड़ती हुई भारतमाता महानतर है। **समाज और उसके अधिनायक पुरुष द्वारा युग युग से संत्रस्त और संतप्त भारतीय नारी को प्रेमचन्द के उपन्यास साहित्य में नई परिभाषा, नई वाणी, नई जिंदगी मिली। नवीन भारतीय संस्कृति को हमारे महान उपन्यासकार की यह एक महानतम सामाजिक देन है।**

गबन का नायक रमानाथ नासमझ, डरपोक और गैरदुनियादार आदमी है, जो अपने परिवार को मुसीबतों के गड्ढे में ढकेल देता है। नायिका जालपा उन नारी-सुलभ संस्कारगत मनोवृत्तियों की दास है जो अपने आप में कोई भयंकर दुर्गुण न होते हुए भी निम्न मध्यवर्गीय भारतीय परिवार के आर्थिक कंकाल के लिए अभिशाप बन जाती हैं। फिर भी वह अपने पति की नासमझी से उत्पन्न विकट परिस्थिति से परिचित होते ही अपने परिवार को उबार लेती है और बड़ी समझदारी तथा कर्मशीलता का परिचय देती है। 'रंगभूमि' में आदर्श-चरित्र सूरदास है और चरितनायक विनय। गांधीजी का प्रतीक सूरदास शायद हिन्दी उपन्यास-साहित्य का प्रथम गान्धीवादी नायक है, जिसका विश्वास है कि गान्धीवाद द्वारा ही मानवता का त्राण सम्भव है और यही प्रेमचन्द की तत्कालीन दार्शनिक स्थापना थी, मान्यता थी; हालाँकि इससे भी पहले वह प्रेमाश्रम में साम्यवादी नायक प्रेमशंकर की बड़ी साहसिक कल्पना कर चुके थे। उस जमाने में साम्यवाद से उनका परिचय अवश्य ही सुना-सुनाया और दूर का था। यही कारण है कि आगे प्रेमशंकर का विकास न होकर सूरदास आता है और आगे बढ़कर कायाकल्प का रहस्यमय-सा चक्रधर। गान्धी कल्पित जीवन की सरलता दरिद्रता की सीमा को छूने लगती है और वही फिर जीवन की गतिमयता, उसकी उन्नत-विकास, उसकी शक्ति की विरोधिनी बन जाती है, यह प्रेमचन्द नहीं सोच सके थे। दरिद्रनारायण की प्रतिष्ठा के लिए पूँजीवादी समाज में दरिद्रता की सत्ता अनिवार्य है। इसी कारण पूँजीवादी नीतिशास्त्र और अध्यात्मवाद दरिद्रता को दिव्यता से विभूषित करता है। उसे वरदान की संज्ञा देता है, उसे एक सद्गुण मानने की प्रवंचना खड़ी करता है। व्यक्ति के बाद वह समस्त समाज को दरिद्र बनाने का आयोजन करता है। जिस सुख का सुखद स्वप्न दरिद्र को दिखाया जाता है, उसका आधिभौतिक और आध्यात्मिक भोग दरिद्र को दान देकर पूँजीपति पाता है। प्रेमचन्द ने किसी तर्क-प्रणाली का आश्रय नहीं ग्रहण किया, उनकी करुणा, उनकी अन्तर्भूत मानवीयता ही इतनी तीव्र, प्रखर और प्रचुर थी कि सचेत रूप से वह किसी ऐसी प्रतिगामी विचारधारा के पोषक नहीं बन सकते थे। जो संस्कारगत दुर्बलतायें आगे थीं, वे उन्होंने अपने समय से, अपने समाज से विरासत में पाईं थीं, किन्तु प्रेमचन्द उन से निरन्तर जूझते रहे। विनय का सोफिया से प्रेम होता है, किन्तु विवाह नहीं। तत्पश्चात् कर्म-भूमि में अमरकान्त प्रेमचन्द का प्रथम नायक है जो प्रेम की सम्भ्रान्त अथवा बुर्जुआ (सुसंस्कृत नहीं) परम्परा को छोड़कर ग्राम्य-बाला मुनिया से और फिर दरिद्र पठान किशोरी सकीना से प्रेम करने का साहस करता है और प्रतीत होता है कि यदि वह विवाहित न होता, तो उससे शादी भी कर लेता। किन्तु गोदान का गोबर, झुनिया को बिना फेरे डाले भी घर ले आता है।

इस प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यास-नायक का विकास एक नितान्त सीधे रेखाक्रम में कालक्रमानुसार न होकर एक वक्र रेखाक्रम में होता है, जिसका उच्चतम विन्दु प्रेमशंकर है और अन्यतम एवं अन्तिम होरी। प्रेमचन्दी नायक के इस विषम-विकास का कारण हमारे उपन्यास-सम्राट की एक ओर तो असीम मानवीयता से परिपूर्ण

अनुभूतिशीलता थी और दूसरी ओर यथार्थ तथा आदर्श की उनकी अपनी धारणा, अपनी परिभाषा थी। 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' उपन्यास को वह उच्चकोटि का मानते थे।* और कहते थे कि "यथार्थवाद का यह आशय नहीं कि हम अपनी दृष्टि को अन्धकार की ओर ही केन्द्रित करें।"‡ परन्तु प्रकाश की ओर दृष्टि फेरते ही प्रेमचन्द उसका नाम आदर्शवाद रख देते थे। यथार्थवाद को वह कमजोरियों और कुरीतियों की पर्यायवाची अभिव्यक्ति समझते रहे। यथार्थ का अर्थ कभी भी 'अच्छा' और 'आदर्श' हो सकता है, यह उन्होंने कभी विचार नहीं किया। फलस्वरूप उनका नायक सामान्यतः रूढ़िग्रस्त और दुर्बल है और आदर्श उपस्थित करती हैं उनकी नायिकाएँ अथवा उपनायक। इनके अतिरिक्त उनके शेष पात्र तो और भी अच्छे होते हैं, जो न सिर्फ भलाई-बुराई के—भलाई अधिक बुराई कम—असरदार मानव हैं, बल्कि ऐसे मानव हैं जो अच्छे बनना चाहते हैं, अच्छाई करना चाहते हैं। प्रेमचन्द के नायक और उपनायक कभी-कभी तो एक-दूसरे में इतने घुले-मिले होते हैं कि नायक को पहिचानना मुश्किल हो जाता है और अक्सर ही उनके उपनायक उभरकर अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह कि प्रेमचन्द के नायक की कोई साफ-सुथरी तस्वीर खींचना नामुमकिन है; यदि कोई दुस्साहस करेगा भी, तो परिणाम जामिनीराय की अपेक्षा पिकासो के चित्रों जैसा होगा। प्रेमचन्दीय नायक विशिष्ट और असाधारण व्यक्ति न होकर अपने समाज के सामान्य अङ्ग ही होते हैं। कला की दृष्टि से कोई इसे उपन्यासकार की कमजोरी कह सकता है, लेकिन विचार-पक्ष से यह उनकी खूबी है कि उनके उपन्यासों का विकास उनके नायकों में नहीं, बल्कि सभी छोटे बड़े पात्रों में सन्निहित है—वे पात्र-पात्रियाँ जो समाज के समूचे वातावरण में साँस लेते हैं, जीते-मरते हैं और परिस्थितियों को सुधार द्वारा बदलकर समाज को उन्नत करना चाहते हैं।

जीवन को प्रेमचन्द ने जमे और थमे हुए पानी के पोखर में नहीं, प्रवाहित सरिता की—जन-जीवन की सरिता—वेगवती धारा में देखा था और उसी का गतिशील चित्रण किया है।

प्रेमचन्द के समकालीन उपन्यासकार विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, बेचन शर्मा पाण्डेय उग्र, जी० पी० श्रीवास्तव (दिल की आग उर्फ दिल जले की आह), चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन और भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने भी प्रेमचन्दीय सुधारवादी नायक को अपनाया, किन्तु वे उनमें प्रेमचन्द की सुसंस्कृत, सुकरुण और स्वधननिष्ठ मानवचेतना की उदात्तता को प्रतिष्ठित नहीं कर सके। उग्र ने यथार्थता की कुछ गहरी पुट देकर उसे विकसित करना चाहा, किन्तु उलटे उसे अधिक उग्रपन्थी और उच्छृङ्खल बना बैठे। कुत्सित आदर्शवादी एवं सुधारवादी आलोचकों (vulgor Idealist and Rolouinst) ने (जैसे बनारसीदास चतुर्वेदी) उनके साथ बजाय सहानुभूतिपूर्वक बरताव करके उन्हें सही मार्ग दिखलाने के, प्रतिक्रियावादी बनाकर पथ से भटका दिया। जैन स्वयं ही कुत्सित और पथभ्रष्ट सुधारक प्रमाणित हुए। कौशिकजी ने यद्यपि कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं की, तथापि अवनति की राह भी उन्होंने नहीं पकड़ी। जी० पी० श्रीवास्तव कल्पना-पूर्ति की शैली अपनाकर अवास्तविक रोमांसवादी बन कर रह गए। केवल भगवतीप्रसाद वाजपेयी ही सचेत रूप से उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहे परन्तु कालान्तर में वह शरद्चन्द्र से अत्यधिक प्रभावित हो गए, इस काल में केवल प्रतापनारायण श्रीवास्तव ही एक ऐसे उपन्यासकार हुए जिन्होंने अपने विख्यात उपन्यास विदा में पूर्णचन्द्र जैसे धीरोदात्त नायक का निर्माण प्रेमचन्द से एक कदम आगे बढ़कर किया है।

जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्दकालीन उपन्यासकारों में अपनी साहित्यिक प्रौढ़ता के कारण उल्लेखनीय हैं, 'कंकाल' और 'तितली' उनके दो प्रसिद्ध उपन्यास हैं; तीसरा

* प्रेमचन्द के निबन्ध-संग्रह 'कुछ विचार' में देखिए 'उपन्यास' शीर्षक लेख।

‡ इसी पुस्तक में 'उपन्यास का विषय' शीर्षक लेख देखिए।

उपन्यास 'इरावती' अधूरा है। कंकाल का विजय और तितली का मधुवन केवल परिस्थितिजन्य नायक हैं और तदनुसार घटनाचक्र से ही संचालित हैं। विजय वर्तमान समाज की जर्जरता का प्रतीक है, यानी कंकाल है। मधुवन एक सामान्य सुधारवादी किन्तु सच्चा और शिक्षित ग्राम्य युवक है। प्रेमचन्द नायक से भिन्न प्रसाद के नायक परिस्थिति निर्माण नहीं करते। जो है, वो है। उनमें गति है, किन्तु एक ही स्थान पर घूमनेवाले दिशाहीन लट्टू की प्रगतिहीन गति, मात्र कम्पन। समय की अग्रसर दिशा में वे नहीं बढ़ते। प्रसाद जी ने जीवन की धीर वेगवान गंगा में से दो गागर जल भरकर उसका चित्रण किया है, जिसमें गंगाजल के सभी गुण हैं, किन्तु गंगा की गतिशीलता नहीं। हिन्दी के उपन्यास नायक की विकास-प्रक्रिया में प्रसाद जी का नायक एक विश्राम-बिन्दु है।

(४)

प्रेमचन्द के जीवनकाल में ही फ्रायड के मनोविज्ञान से अनभिज्ञ उपन्यासकारों ने विलायती और बंगाली लेखकों की देखादेखी मनोविश्लेषणात्मक (१) उपन्यास लिखने शुरू कर दिए, जिनके नायक प्रेमचन्दीय, स्वाभाविक, समाजगत नायक के विपरीत मनोवैज्ञानिक उलझनों के विचित्र प्राणी हैं। कहने का यह अभिप्राय नहीं कि वे फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र को पहले पढ़कर फिर उसके दृष्टान्त रूप में पात्रों की अथवा कथानक की सृष्टि करते

– उपन्यास में क्या दृष्टान्त रूपक को सर्वथा अवाञ्छनीय माना जाए, यह प्रश्न अब उपस्थित होता है, मेरे विचार से सभी उच्चकोटि की साहित्य किसी न किसी रूप में दृष्टान्त कहा जा सकता है। जीवन में सामग्री जो है, उसे लेकर और जो होनी चाहिए, उसकी कल्पना कर के ही साहित्य रचना की जाती है। यथार्थ का उपयोग अथवा अभिव्यक्ति दृष्टान्त नहीं तो क्या है? मनोविज्ञान शास्त्र में जो उदाहरण अथवा दृष्टान्त दिए जाते हैं, वे भी जीवन से लेकर ही, कल्पना कर के नहीं। वास्तव में दृष्टान्त का प्रश्न साहित्य के अंतस्थ का इतना नहीं जितना कि उसके रूप का, शैली का, शिल्प का है। दृष्टान्त को जीवन से लेकर साहित्य में पात्र दृष्टान्त के रूप में उतारा जाये, तो उसे अवांछनीय कहा जाएगा, क्योंकि उसमें तब साहित्यकार की कला कहाँ रही? मनोविज्ञान की पुस्तक में ही कोई दृष्टान्त आ जाने से वह साहित्यिक उपयोग के लिए बहिष्कृत नहीं किया जा सकता क्योंकि साहित्य की सामग्री स्वानुभूत भी होती है और परानुभूत भी; परानुभूत सामग्री अन्य रचनाकारों की कृतियों से प्राप्त होती है, अन्य व्यक्तियों के ज्ञान और अनुभव से उपलब्ध होती है। परानुभूति को त्याज्य कहने का दुस्साहस कौन समालोचक करेगा और साहित्य सृजन को असम्भव बनाने की धृष्टता करेगा? मनोविज्ञान शास्त्र में उल्लिखित अनेक दृष्टान्त ऐसे हो सकते हैं, जो स्वयं कथाकार की एकत्र सामग्री में भी समानान्तर रूप से, यदि हूबहू नहीं तो, उपस्थित रह सकते हैं। समालोचक का कर्तव्य तो केवल शैलीपक्ष में उस सामग्री की अभिव्यक्ति, चयन, आदि की विवेचना करना है; भाव अथवा अन्तस्थ अथवा दर्शन पक्ष में उसकी समीचीनता, उसकी संगति उसकी उपादेयता आदि का परीक्षण आदि करना है। ये दोनों कार्य उसे देश, काल, समाज, परिस्थिति आदि के संदर्भ में सम्पन्न करने हैं।

तो मनोविज्ञान का अध्ययन किये बिना मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखने तथा उसमें पात्रों का मनोविश्लेषण करने का परिणाम यह होता है कि पात्रों का आचार-व्यवहार विचार-धारायें, सफलता-विफलता और उनका अन्त असंगतियों, अस्वाभाविकताओं, विरूपताओं से भरा होता है जिनकी कोई व्याख्या कोई कारण आपको उपन्यास में नहीं मिलेगा; जिनके एक मात्र कारण हैं लेखक की निजी विचित्रतायें, अभिरुचि, मनःविकृति आदि। लेखक अधिक से अधिक उनके द्वारा अपनी मनोकामना पूर्ण करता है अथवा अपने विकृति-बुद्धि पाठकों की। जैनेन्द्र ने सुनीता लिखने से पहले कभी मनोविज्ञान का अध्ययन नहीं किया* इसीलिए सुनीता अनायास, अकारण ही नंगी हो

* उसी अवसर पर जैनेन्द्रजी का कथन।

जाती है। सुनीता के चरित्र में अथवा उपन्यास की परिस्थितियों में ऐसा क्या है जो उसे अयाचित हो ऐसा प्रदर्शन करने के लिये प्रेरित करता है? हरि प्रसन्न अवश्य ही उस दुर्घटना के लिये तैयार नहीं था। फ्रायडियन किस्सा के नायकों के हिंदी स्रष्टाओं को फ्रायड तथा उसके पूर्ववर्ती और परवर्ती मनोविज्ञान शास्त्रियों के विचारों और पद्धतियों का कितना ज्ञान था और उसका कितना उपयोग वे कर सके। यह चिन्तनीय है, किंतु इसका अनुमान हिंदी साहित्यकारों की विज्ञान विषयक सामान्य अनभिज्ञता और उपेक्षा से सरलता पूर्वक लगाया जा सकता है।

फिर भी इस तथाकथित अथवा मिथ्या मनोवैज्ञानिकता के कारण हिन्दी उपन्यास में बारीकी और गहराई आई, कलात्मक निखार आया और फलस्वरूप उनकी औपन्यसिकता भी बढ़ गई। अध्ययन की सुविधा के लिए यहाँ से हिन्दी के उपन्यास-नायक का विकास तीन धाराओं में विभक्त किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक, रोमान्टिक और राजनीतिक। शेषोक्त धारा में नवरोमान्सवादी और ऐतिहासिक, ये दो उपधारायें भी सम्मिलित हैं।

प्रथम धारा के प्रमुख उपन्यासकार जैनेन्द्र के पास भी केवल नायकायें हैं। मृणाल उर्फ बुआजी, सुनीता, कट्टो और कल्याणी। 'त्यागपत्र' की मृणाल, हिन्दी उपन्यास साहित्य की एक अनुपम नारी है,—धीर; प्रशान्त; उदात्त असीम करुणा, अगाध स्नेह, अपरिमित मानवीयता से परिपूर्ण किन्तु विद्रोह की ज्वालामुखी, समाज में क्रान्ति की मुखर माँग, जीवन विकास के लिये अदम्य शक्ति, अमर ज्योति! उसका स्रष्टा धन्य है, अमर है।

सुनीता के साथ देवर-भाभी के जोड़े में हरिप्रसन्न एक महत्वपूर्ण नायक है। यह जोड़ा हिन्दी कथा-साहित्य में देवर-भाभी के ऐंद्रिक रोमान्स का माता-पिता है। (लखनऊ से प्रकाशित 'चकल्लस' ने देवर-भाभी विशेषांक तक निकाला था, जिसके सम्पादक थे नरोत्तम प्रसाद नागर और प्रमुख लेखक थे पहाड़ी, अमृतलाल, नागर रामविलास शर्मा और केदारनाथ अग्रवाल)। हरिप्रसन्न के सन्मुख निर्जन में अनायास ही सुनीता के अनावरण हो जाने की अस्वस्थ परम्परा हिन्दी कथा-साहित्य में ऐसी चली कि पीढ़ी के हिन्दी उपन्यासकार ने किसी न किसी बहाने अपनी नायिका का नग्न प्रदर्शन अवश्य किया है। समन्वयवादी यशपाल तक ने इस प्रवृत्ति को बड़े चाव से ग्रहण किया है। हिन्दी उपन्यास की विकासोन्मुख प्रवृत्ति में यह ह्रासोन्मुख मनःस्थिति अवश्य ही विचारणीय है। कहने का यह अभिप्राय नहीं कि नारी के नग्नतम सौंदर्य का चित्रण साहित्य-कथा में वर्जित होना चाहिए, किन्तु चित्रण की शैली अवश्य ही विकृत नहीं होनी चाहिये; नहीं उससे रसाभास उत्पन्न हो। नग्नता का कौन-सा चित्रण विकृत है, कौनसा नहीं, इसके विषय में मतभेद की गुंजाइश बहुत अधिक नहीं होती, मैं तो सोचता हूँ कि नारी के नग्नतम सौन्दर्य के सामाजिक प्रदर्शन का एकमात्र औचित्य उसका सृजनात्मक उपयोग है, ऐसा उपयोग जिसकी गतिशील गंगा व्यक्ति से समाज की ओर प्रवाहित हो; न कि उल्टी बहे।

तथाकथित मनोवैज्ञानिक नायक का चरम विकास अज्ञेय के 'शेखर' में हुआ और चरम पतन इलाचन्द्र जोशी की 'पर्दे की रानी' के नायक इन्द्रमोहन तथा प्रेत और छाया के नायक पारसनाथ में होता है। इन दोनों ही उपन्यासकारों ने फ्राइड का घोर अध्ययन किया है। शेखर के प्रथम भाग का अधिकांश तो जैसे शिशु-मनोविज्ञान का शास्त्र है, एक समस्यागत बालक का तथाकथित वैज्ञानिक-सा अध्ययन। दूसरे भाग में शेखर किशोर और युवक के रूप में आता है जिसकी प्रवृत्तियां असामाजिक प्रतीत होती हैं। 'प्रश्न' संस्मरण' 'नरगंध' और 'निकट की दूरी के नायक भी अस्वस्थमना और अकर्मण्य हैं। वे स्वस्थ सामाजिकता से या तो अनभिज्ञ हैं या उसके विरोधी हैं।

हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास नायक पर शरदचन्द्र का प्रभाव भी इसी काल में पड़ने लगा था। प्रेमचन्द्रीयता भगवती प्रसाद वाजपेयी के सुधारवाद नायक में तो बहिने तक शरद-चन्द्रीयता पूरी तरह से आती है। दोनों ही भले-बुरे युवक हैं। जीवन के विकास

में या यों कहें कि अपनी कामनापूर्ति की राह में रोड़े अटकते देखकर देवता बनने की कोशिश करते हैं और असफल रहते हैं, असफल रहना ही चाहिए, क्योंकि ये परिस्थितियों को बदलने का प्रयत्न नहीं करते। इस दृष्टि से एक कर्मठ नायक हमें सियारामशरण गुप्त की "नारी" में मिलता है, जो अपने अभिभावक से विद्रोहकर एक दरिद्र लड़की से शादी करके जीने के लिए उन्हीं से जंग भी छेड़ देता है और अपने भाग्य का निर्माण स्वयं करता है। उदयशंकर भट्ट का प्रथम उपन्यास वह "जो मैंने देखा" इसी क्रम में आता है, जिसका नायक अजय शरद के श्रीकान्त का असफल उत्तराधिकारी प्रतीत होता है, यद्यपि नायिका सुधि किरणमयी की भाँति ही एक सफल नारी है। बंगाली के छायावादी प्रभाव से रंजित हिन्दी उपन्यासनायक के अतिमनोविज्ञानवाद की यहाँ जान निकल जाती है और अब उनके और आगे विकास की कोई गुञ्जाइश नहीं है। -

हिन्दी के रोमांटिक नायक अप्सरा और अलका में पहले निरालाजी ने रचे, जो भले भले सामन्तवादी प्रेमी से लगते हैं। विशुद्ध एवं स्वस्थ मनोरञ्जन उनका ध्येय है। तत्पश्चात् यह नायक क्रमानुसार भगवती चरण वर्मा के तीन वर्ष में उपेन्द्रनाथ अश्क के सितारों के खेल में और रांगेय राघव के घरौंदे में यूनिवर्सिटी का विद्यार्थी है। अश्क का नायक गर्ल्स हॉस्टिल के एक कमरे में आत्म-विकास (नगेन्द्र जी के शब्दों में निश्छल आत्माभिव्यक्ति।) का प्रयत्न प्रारम्भ करता ही है कि वहाँ से बाहर गिरकर अस्पताल में अपनी प्रेमिका द्वारा मारा जाता है। अध्ययन नायक का नहीं, पढ़ी लिखी लता के रूप में एक विकृत नारी का मनोवैज्ञानिक चित्रण है। भगवतीचरण वर्मा का प्रखर बुद्धि, निर्धन नायक रमेश सामन्तवादी संगति में पड़ कर वेश्यागामी बनता है और फिर अपनी प्रेमिका भले घर की बेटी प्रभा को भी वेश्या की परिभाषा की परिधि में समेट लेता है, प्रेम के स्वस्थ सामाजिक रूप को न देखकर उसके मात्र वासना रूप को भी विकृत करके देखता है, वह भाग्यवादी है। समाज-विज्ञान को बेचारा न तो जानता है और न ही जानना चाहता है। आज मानव जीवन के दुख की जड़ में सामाजिक असंगतियाँ, असामञ्जस्य और विश्रृङ्खलता है, जिन्हें दूर करके ही अपना और अपने समाज का नया भाग्य निर्माण किया जासकता है— रमेश के रूप में वर्माजी यह नहीं मानते, क्योंकि जानते ही हैं। उनके लिये सामाजिक नारी प्रभा वेश्या है और वेश्या सरोज समाज से ऊपर कोई सती-साध्वी और आध्यात्मिक नारी है। सामाजिकता का यह अवैज्ञानिक विरोध वर्माजी में यहाँ तक बढ़ता है कि गांधीवाद का आदर्श-कवच पहनकर वह अपने सबसे नये वृद्ध उपन्यास "टेढ़े मेढ़े रास्ते" में वैज्ञानिक समाजवाद के विरोधी हो जाते हैं, साम्यवाद की पीठ में छुरा भोंकते हैं और इस प्रकार विकास की शक्तियों का विरोध करने का नतीजा यह होता है कि उनका नायक रामनाथ पहले विक्षिप्त और फिर पागल हो जाता है। लेकिन 'घरौंदे' में भगवती जैसे दृढ़, कर्मशील नायक की रचना कर रांगेय राघव ने रोमांटिक उपन्यास के पथभ्रष्ट नायक को ऐतिहासिक विकास की सहज क्रान्तिकारी धारा की ओर मोड़ दिया।

अब मैं तीसरे तथा अन्तिम नायक वर्ग का उल्लेख करूँगा, जिसमें ऐतिहासिक कहे जाने वाले उपन्यासों और उनके नायकों की प्राचीन परम्परा को वर्तमान में होकर भविष्य में ले जाने का भगीरथ प्रयत्न है, जिससे कि समाज के ऐतिहासिक विकास की शृङ्खला स्पष्ट है, क्योंकि उसकी स्पष्टता में ही भविष्य का निर्देशक और उस शृङ्खला की अटूटता सन्नहित है। वृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़कुण्डार' 'विराटा की पद्मनी' भगवती चरण वर्मा की चित्रलेखा, कृष्णानन्द गुप्त के 'केन' और निरालाजी की प्रभावती के मध्यकालीन सामन्त नायकों की विश्रृङ्खलित परम्परा मेरी विवेचना की राह से परे एक अलग पगडण्डी है। परन्तु निरालाजी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यास में सामन्तवादी परम्परा के विरुद्ध जो जनवादी दृष्टिकोण अपनाया है वह इस धारा में प्रगति का पहला चिन्ह है। रामरतन भटनागर की 'अम्बपाली' राहुल जी के 'जय यौधेय' और सिंह 'सपति' तथा यशपाल की 'दिव्या आधुनिक संदर्भ में उल्लेख-

नीय हैं। भटनागर जी ने आम्रपाली के सामन्ती नायक को गाँधीवाद की संजीवनी बूटी खिलाकर उसे पुनर्जीवित करने का साहसिक प्रयत्न किया है, हालाँकि यह तरीका अवैज्ञानिक और अनैतिहासिक है। प्रेमचन्दीय दर्शन से इस भाँति सम्बंध स्थापित करके वह आधुनिक बन जाते हैं, लेकिन प्रेमशंकर जैसा उसमें कुछ भी नहीं है जो उसे भविष्य के उपन्यास नायक की चरम परिणति साम्यवाद की अन्तिम मानववादी परम्परा में प्रतिष्ठित करदें। राहुलजी ने भारत की प्राचीनतम भूमि में से साम्यवादी व्यवस्था के बीज खोद निकाले हैं। यशपाल ने मारिश के चित्रण में जीवन के इसी यथार्थ तथा व्यवहारिक दर्शन को रूपान्वित कर दिया है।

प्रेमचन्द के जीवन काल में ही जैनेन्द्र के साथ साहित्य में पदार्पण करने वाले नरोत्तम प्रसाद नागर ने आत्मचरितात्मक उपन्यास 'दिन के तारे' में नायक शशि को गांधीवादी बलि-का बकरा बनाने से इन्कार करके प्रेमचन्दीय नायक परम्परा से पहली बार हिन्दी उपन्यास में तीव्र और सकर्मक विद्रोह उपस्थित किया। समाजजन्य अभावों से व्यथित शशि अभावों की पूर्ति करने के लिये समाज को ही बदलने का एक मात्र और सही रास्ता अपनाता है। क्रांति का दर्शन वह समझता है; उसकी वैज्ञानिक प्रणाली चाहे उसे अभी न आती है, पर वह निश्चय ही रोमाण्टिक नहीं है। सतत प्रगतिशील भगवती प्रसाद वाजपेयी ने अपने सबसे नवीन उपन्यास निमंत्रण के नायक शर्मीजी के रूप में रोमाण्टिक साम्यवादी सृष्टि की है। फिर गंगाप्रसाद मिश्र के संघर्षों के बीच का चरित्रहीन नायक (दुश्चरित्र नहीं) त्रिलोकी पूरा साम्यवादी होजाता न। 'चढ़ती धूप' में अंचल का उपन्यास नायक मोहन अपनी अपूर्णताओं और चरित्रगत दुर्बलताओं के बाव जूद एक बलिदानी और "प्रेरक सामाजिक बोध का सृजन" करना चाहकर ही साम्यवादी विचारधारा को अपनाता है और सार्वजनिक सेवा में अपने प्राणों की आहुति चढ़ा देता है—यह माना, लेकिन वह सही क़िस्म का साम्यवादी नहीं बनता। जीवन में वह रोमाण्टिक रहा; वैयक्तिक वासनाओं से ऊपर नहीं उठ सका; तदुपरान्त गोली खाकर मृत्यु में कामनापूर्ति करना ही उसके लिए एकमात्र शेष उपाय था। सर्वदानन्द वर्मा के 'अनिकेतन' का नायक रामेश्वर भी रोमाण्टिक साम्यवादी है, जो अब "आँधी और पानी में कुछ बदला सा लगता है। रामचन्द्र तिवारी के उपन्यास सागर-सरिता और अकाल के नायक अनिल पर साम्यवाद का कोई बिल्ला नहीं टँका है, किन्तु फिर भी वह मन, वचन और कर्म से जीने की एक दुर्दमनीय इच्छा शक्ति से प्रेरित' कठोर अनवरत परिश्रम और संघर्ष करके केवल साम्यवादी होकर जी सकता है इसके विपरीत साम्यवादी श्रीकृष्णदास के 'अग्निपथ' और 'क्रान्तिदूत' के नायक मोहरचन्द साम्यवादी होते हुए भी रोमान्स की घनी छाँह से धुँधले हो उठे हैं। अपने भाग्य का स्वयं निर्माता दिनेश, पहाड़ी के उपन्यास सराय का नायक है जो जीवन से कभी नहीं भागता। यशपाल के दादा कामरेड का हरीश आतंकवाद का गलत राह को अवश्य छोड़ता है, लेकिन जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण दुर्बल रोमांस से मुक्त नहीं है। देशद्रोही के डा० खन्ना आजादी की लड़ाई के सही रास्ते पर चलते हैं, भले ही उनके विरोधी उन्हें गद्दार कहें और पार्टी कॉमरेड का भावरिया तो देश की आज़ादी की लड़ाई में अपने प्राण दे ही देता है। उपेन्द्रनाथ अश्क सबसे नए बृहद उपन्यास गिरती दीवारें में नायक चेतन स्वभाव से ही भावुक और संवेदनशील है, अतः उसके घरेलू जीवन में जो घटनाएं होती हैं, उनसे पूरी तरह प्रभावित होता है और उसकी प्रतिक्रियायें एक प्रकार से समूचे समाज के जीवन में घटित होनेवाले संघर्ष का प्रतीक बन जाती हैं। वह देखता है कि पुरानी मान्यतायें टूट रही हैं परन्तु उनसे चिपटे रहने की चेष्टा भी औचित्य की सीमा का अतिक्रम करने लगती हैं। परिस्थितियों के दबाव से पुरानी दीवारों का गिरना अनिवार्य है, दीवारें गिरने लगती हैं; चेतन उनका एक मूक दर्शक नहीं है; उनमें परवश बन्दी नहीं है; वह समाज का सचेत-अंग ही नहीं, सकर्मक कर्त्ता भी है; वह ध्वंस में सहायता देता है। यह उसके चरित्र का एक रचनात्मक पहलू है। चेतन का चरित्र पूर्वनिश्चित और किसी पूर्वाग्रह द्वारा नियोजित नहीं है। परिस्थितियों के क्रम में

प्रकृति के कवि रवीन्द्रनाथ

श्री नलिनीरञ्जन बन्द्योपाध्याय

प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रकृतिसम्बन्धी विचारों का उद्घाटन किया है। उन्होंने कवि और प्रकृति के आदान-प्रदान को नीचे के शब्दों में व्यक्त किया है—'प्रकृति हृदय को रँगती है अपने रंग में और फिर स्वयं प्रकृति भी हृदय की अनुभूति और रंग में रँग कर सजीव हो उठती है'। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भौतिक चक्षु द्वारा मानसिक तत्व को देखा है और मन के द्वारा भौतिक पदार्थों को। यही कवि का पृथ्वी और स्वर्ग का एकीकरण है। —सम्पादक

"काव्य वह साधन है, जिसके द्वारा प्रकृति के साथ मनुष्य के रागात्मक संबन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है। कविता उन मूल और आदिम मनोवृत्तियों का व्यवसाय है, जो सजीव सृष्टि के बीच सुख-दुख की अनुभूति से विरूप परिणाम द्वारा, अत्यन्त प्राचीन कल्प में प्रकट हुई और मनुष्य जाति जिसके सूत्र में आदिकाल से सृष्टि के साथ तादात्म्य का अनुभव करती चली आयी है रागात्मक मनोवृत्तियों का सृष्टि के साथ उचित सामञ्जस्य-स्थापित करके, कविता मानव-जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करने का प्रयास करती है।"

कवि, प्रकृति का अनन्य पुजारी है। प्रकृति के पाठशाला में ही कवि जीवन का अध्ययन करता है। तदनतर, वह अपनी मनोवृत्तियों और भावनाओं के अनुरूप, प्रकृति का वर्णन करता है। प्रकृति-कवि वर्ड्सवर्थ (Words-worth) के विषय में माथ्यु आर्नेल्ड (Mathew Arnold) कहता है—"the nature took hold of his pen aἀnd wrote herself for him". (प्रकृति खुद ही आकर उनके हाथ से कलम लेकर लिखने बैठ जाती थी।) मानसोद्भूत विभिन्न भावनाओं का प्रतिबिम्ब, कवि, प्रकृति के विशाल क्षेत्र में ढूँढता है और अपने मनोनुकूल उसका वर्णन करता है। मानव-प्रकृति-गत भिन्न-भिन्न तत्वों का साक्षात् स्वरूप-दर्शन कवि को होता है प्रकृति में कवि वर्ड्सवर्थ, एक दिन संध्या-समय समुद्री किनारे पर विचरण करता है। उसकी अन्तः वृत्तियाँ शान्त हैं, निस्तब्ध है, और तदनुकूल वह प्रकृति को भी शान्त-वातावरण में देखता है,—"the holy time is quiel as nun, breth less with adoralion".

कविवर रवीन्द्रनाथ के जीवन और काव्य में विश्व प्रकृति का एक प्रधान स्थान है। एक सुदीर्ग काल-व्यापी साहित्यिक जीवन के विभिन्न अध्यायों में कवि के अकुण्ठित आग्रह और आकुल मनोवेगों का स्वाभाविक निस्रण हुआ है। इस व्यापक सत्य का प्रमाण, उनकी कृतियों से हमें मिलता है—प्रकृति के साथ हार्दिक संयोग का विकाश, इस रहस्यमयी प्रकृति के साथ मानव-आत्मा की आत्मीयता, विश्व प्रकृति का आह्वान—"जानि ना कोन् विपुल वानी,

---

ही उसका विकास होता है। वह स्वंय उस विकास का विरोधी नहीं, सहयोगी है—यही उसकी महानता है।

हिन्दी उपन्यास के नायक का विकास यहाँ पर उन्नति की एक निश्चित मंजिल पर पहुँच जाता है। प्रेमशंकर शशि, शर्मा जी, त्रिलोकी, मोहन, रामेश्वर, दिनेश, अनिल, भगवती, हरीश, डा॰ खन्ना, सावरिया और चेतन उसके टेढ़े-मेढ़े विकास-पथ के मार्ग-सूचक हैं और दिव्या का वह महान नास्तिक, दार्शनिक, प्रेमी और मानव मारिश जो "मानव की ही सन्तति की परम्परा के रूप में मानवता को अमरताप्रदान करने का आश्वासन दे रहा है, हिन्दी उपन्यास नायक के समोज्ज्वल भविष्य को आलोकित करनेवाला एक विशाल प्रकाश-स्तम्भ है।

बाजे व्याकुल सूरे", भाषाहीन के साथ अनिर्वचनीय का परिचय, सीमा के बीच असीम का इंगित और प्रकाश—"मेघेर आड़ाले हाँसिया पोंछाले, अरुण किरणें चरण बाड़ाले", सीमाहीन के साथ ससीम के मिलन की अभिलाषा और व्यग्रता—"आछि—पावार आशा निये, तारे हय-नि आमार पाउआ", प्रकृति के आनन्दोत्सव में मनुष्य का आमन्त्रण और योग—"विजुलि क्षणिक आभा हाने, सकल प्राण टानिछे पथ-पाने", तथा ससीम का चिर सुन्दर, चिर नवीन के साथ निकटतम और अनिवार्य संयोग—"यतई गृह साजाइ आयोजने, येन तोमाय घरे हय नि आना, से कथा रय मने।"

रवीन्द्र नाथ के प्रकृतिक-काव्य, प्रकृति-दर्शन और प्रकृत के संपर्श से अन्त: प्रवृत्तियों का क्रमिक परिवर्तन और परिवर्द्धन की पर्यालोचना करने के पूर्व, आलोचनीय विषय यह है कि साहित्य और प्रकृति के सम्बन्ध में कवि का क्या कथन है! 'साहित्येर तात्पर्य" में कवि ने लिखा है,—"वाह्य जगत हमलोगों के अन्तर्जगत में प्रवेश कर, एक नवीन जगत की सृष्टि करता है। वाह्यजगत के रूप रङ्ग और ध्वनि के साथ हमारे अन्तःजगत की रागात्मक प्रवृत्ति का रहस्यमय समन्वय होता है।.........इस अभिनव सृष्टि जगत का आनन्दोल्लासित सङ्गीत हमारी हृदय-वीणा-तन्त्री को रात-दिन झंकृत करता रहता है—एक मानस-संगीत होता है—ईश्वरीय सृष्टि की प्रतिक्रियात्मक पृष्ठभूमि पर, हमारे अन्तःकरण में एक नवीन सृष्टि की प्रेरणा होती है—साहित्य, उसी का विकाश है।"

प्रकृति के संपर्श से स्पन्दित हृदय प्रकाशोन्मुख होता है। प्रकृति कवि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) कहता है—"Nature fails not to provide impulse and uttrance. The slightest impulse in the vernal wood would tell you more of man and the world, than any sage or volumes of books can tell you, प्रकृति, किस प्रकार, मानव-मस्तिष्क में नाना रूपों और रसों का संचार करती है, अन्तः प्रकृति को वाह्य प्रकृति के आनन्दोत्सव में संयोग कराती है, और शिल्पकार के हृदय की सृष्टि को प्रकाश-लीला में आत्मविभोर करती है, इसका आभाष हमें मिलता है कवि की "मानसी"—स्थित "उपहार" कविता में—

"वाहिरे पाठाय विश्व, कत गन्ध नाना दृश्य
संगीहारा सौन्दर्येर वशे,
विरही से घुरे घुरे, व्यथाभरा कत सुरे
काँदे हृदयेर द्वारे एसे।
सेइ मोह मन्त्र गाने, कविर गभीर प्राणे
जेगे उठे विरही भावना,
छाड़ि अन्तःपुरवासे, सलज्ज चरणे आसे
मूर्त्तिमति मर्त्तेर कामना।
अन्तरे वाहिरे सेइ, व्याकुलित मिलनेइ
कविर एकान्त सुखोच्छ्वास,
सेइ आनन्द मुहुर्तगुलि, तव करे दिनुतुलि
सर्व श्रेष्ठ प्राणेर प्रकाश।"

"चैताली" की सूचना में, कवि ने प्रकृति की इस प्रेरणा, और इस हृदयोन्मेष के सम्बन्ध में लिखा है—"बाहर, हमारी आँखों पर प्रकाश है और अन्तकरण में मैं गीत गाता हूँ।" "जीवनस्मृति" नामक पुस्तक की 'छवि ओ गान' शीर्षक रचना में कवि ने लिखा है—'विभिन्न नेत्र गामिनी दृष्टि के सहारे मैंने स्वतन्त्र छवि को कल्पना के आलोक और मन के आनन्द के घेरे में बाँधकर देखा। एक एक दृश्य एक एक विशेष रंग में रंगीन होकर, हमारी आँखों के सामने उपस्थित हुआ। कल्पनो की तूलिका से विश्व-प्रकृति को रंगीन बनाकर मैंने देखा। परन्तु—कामना होती थी, देखने की—चक्षुरिन्द्रिय द्वारा, मानसिक पदार्थ को और मन द्वारा भौतिक पदार्थ को।" कवि कहता है, "यदि मैं चित्रकार होता तो चित्रपट पर, रेखा और रंग द्वारा, मानसिक दृष्टि और सृष्टि को जकड़कर रखने की चेष्टा करता। किन्तु, मेरे पास तो हैं, सिर्फ शब्द और छन्द।" कवि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) ने

भी इसी तरह का भाव शब्द चित्रण किया है,—

Ah ! if mine had been the painter's hand,
To express what then I saw; and add the gleam
The light that never was on sea or land,
The consecration and the poet's dream"

प्रकृति हृदय को रंगती है—अपने रंग में, और फिर स्वयं प्रकृति भी, हृदय की अनुभूति और रंग में, रंग कर सजीव हो उठती हैं। कवि के शब्दों में,—'ससीम पूर्णता के लिए असीम की ओर दौड़ता है, और असीम, ससीम में अपने आवास की भिक्षा मांगता है।" तभी तो 'मुक्ति' के पीछे मरने वालों को कवि ने कहा,—

"मुक्ति उरे मुक्ति पावि कि रे ?
स्वयं विधि बाँधा आछेन, सृष्टि-बाँधन तरे।"

कवि; असीम से भिक्षा मांगता है, —

"युक्त करो हे सबार संगे,
मुक्त करो हे बन्ध।"

कवयित्री महादेवी असीम से वर-याचना करती है,—

"वर दो मुक्ति दो,
बन्धनों के बीच, मुक्ति की रानी बनूँ मैं।"

कवि की सृष्टि में, असीम और ससीम का यह अद्भुत् अन्वय हमें देखने को मिलता है। कवि गुरु कहता है—

'सीमार माझे असीम तुमि,
बाजाउ आपन सूर।"

कवि के कथनानुसार, शिल्पकार की सृष्टि उसकी अन्तः ज्योति है, उसका आनन्द उसका अन्तःएश्वर्य है। कवि और शिल्पकार की आधार शिला, बाह्य उपकरण नहीं। बाह्यजगत की वास्तविकता को स्वीकृत कर शिल्पकार उससे 'सत्यं' 'शिवं' और 'सुन्दर' की सृष्टि करता है। बाह्यजगत को देखने का जो गम्भीर तात्पर्य है वह कवि और शिल्पकार का एक ही है। जहाँ तक 'देखने' तक का संपर्क है उन दोनों में कोई पार्थक्य नहीं। शिल्पकार भौतिक जगत में वास्तविकता को नहीं देख पाता। उसके दृष्टिकोण में द्रष्टा ही स्रष्टा है और स्रष्टा ही द्रष्टा है। कवि के मानस-सागर में भी बाह्य प्रकृति के रूप और रस के आस्वादन से, जो आनन्द-लहरियाँ अठखेलियाँ करती हैं, उसका मूलभूत कारण उपकरण नहीं है। रवीन्द्रनाथ की भाषा में—उस आनन्द का कारण उसकी अन्तरात्मा ही है। तभी तो कहा, हमारे मनीषियों ने—"सोऽहं" सिर्फ जीवन में ही नहीं, शिल्प में, साहित्य में, काव्य में भी—"आत्मानं रथिनं विद्धि; एषहि द्रष्टा, स्रष्टा, घ्राता, मन्ता, रसयिता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः।" ज्ञानमय, अनुभूतिमय, प्रकाशमय आत्मा के द्वारा ही संसार में रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श तथा संयोग-सुख की अनुभूति होती है।

बाह्यजगत को देखने की दृष्टिभंगी ही कवि और शिल्पकार की सृष्टि का मूलभूत रहस्य है। "जापान यात्री" नामक पुस्तक में कविगुरू ने लिखा है, "आज प्रकृति देवी सजधज कर हमारे सामने खड़ी है। मैं उन्हें देखता हूँ। मैं यहाँ द्रष्टा हूँ। इस द्रष्टा 'अहम्' का अपने को शब्द रेखा के उपकरणों द्वारा अभिव्यंजित करना ही साहित्य है, कला है। जगत का दृष्ट पदार्थ नहीं, इसका द्रष्टा ही रहस्यपूर्ण है—यह एक विशिष्ट दर्शन है, और इसीका प्रकाशन कला के रूप में हमारे सामने आता है। कवि की आत्मा में, 'अहम्' ही काव्य-सृष्टि का मूल उद्गम स्थान है। "श्यामली" की "आमि" कविता में इस भाव का स्वच्छन्द स्फुरण हुआ है—

"आमि चोख मेललुम, आकाशे ज्वले उठलो आलो
पूर्वे-पश्चिमे।

गोलापेर दिके चेपे बललुम, 'सुन्दर'
सुन्दर हल से।
तुमि बलवे, एइ ये तत्त्व-कथा,
एइ कविर वानी नय।
आमि बलव, एइ सत्य, ताइ एइ काव्य।
एइ आमार अहंकार अहंकार समस्त मानुषेर हय,
मानुषेर अहंकार-पटेइ, विश्वकर्मार विश्व-शिल्प।"

कवि रवीन्द्रनाथ, अपनी सृष्टि में अकेले ही स्रष्टा

हिन्दी कविता में विरहिणी

डा० नगेन्द्र एम० ए०, डी० लिट०

यद्यपि मिलन स्पष्टतः ही सुखमय और विरह दुखमय है। परन्तु फिर भी मानव-मन निसर्गतः मिलन की अपेक्षा विरह की ओर ही अधिक आकृष्ट होता है और मन के मर्मी कवियों ने भी इन दोनों में विरह को ही कहीं अधिक महत्व दिया है। साधारणतः यह बात मानव-प्रकृति की विचित्रताओं में गिनी जाती रही है। परन्तु वास्तव में ऐसा नही है। मानव प्रकृति और उसकी प्रवृत्तियाँ विचित्र होते हुए भी कार्य-कारण सम्बन्ध में बँधी हुई हैं। उपर्युक्त वैचित्र्य भी अकारण नहीं है—मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र दोनों के पास इसके निश्चित कारण मौजूद हैं और स्वयं कवियों ने ही उनकी ओर जाने-अनजाने स्पष्ट संकेत कर दिए हैं—उन्होंने स्पष्ट कहा है—'विरह प्रेम की जागृति गति है और सुषुप्ति मिलन है—अथवा मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।' अर्थात् मिलन की अपेक्षा विरह का महत्व इसलिए अधिक है कि विरह में प्रेम उद्बुद्ध रहता है और मिलन में सुप्त हो जाता है—अभिलाषा की अपूर्ति उसकी चैतन्यावस्था है और पूर्ति उसकी सुषुप्ति है। कालिदास ने कारण को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—

स्नेहावाहुः किमपि विरह व्या दन्ते ह्यभोग्या—
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्त।

अर्थात् स्नेह के लिए कहा गया है कि वह विरह में कुछ मलिन हो जाता है। परन्तु इसके साथ यह भी मानना पड़ेगा कि इसकी अनुपस्थिति में भोग के अभाव के कारण वह अत्यधिक सघन हो जाता है। इस प्रकार कालिदास ने असन्दिग्ध शब्दों में भोग के अभाव को विरह के महत्व का कारण बतलाते हुए आज से दो हजार वर्ष पूर्व मनोविश्लेषण-शास्त्र के उस सूक्ष्म तथ्य को प्राप्त कर लिया था जिसको कि उसके आचार्य फ्रॉयड ने आज अनेक सिद्धान्तों और प्रयोगों की शल्य-क्रियाओं के बाद प्रामाणिक रूप से हमारे सम्मुख रखा है—उन्होंने स्पष्ट कहा है कि प्रत्येक मिलन अर्थात् काम-पूर्ति के पश्चात् प्रेम की क्षति हो जाती है और यदि पुनरावृत्ति की इच्छा जागृत न हो जाया करे तो निश्चय ही प्रेम का अन्त हो जाए। दूसरे शब्दों में, मिलन प्रेम का व्यय है और विरह उसका संचय—इसलिए मिलन की अपेक्षा विरह का मूल्य अधिक है—यह केवल काव्य-सत्य ही नहीं है, विज्ञान भी इसको इसी रूप में स्वीकार करता है।

इस प्रसङ्ग में दूसरी बात जो ध्यान आकर्षित करती है वह यह है कि वैसे तो प्रायः सभी साहित्यों में, और विशेषकर हमारे साहित्य में पुरुष की अपेक्षा स्त्री का विरह वर्णन अधिक है। कवियों ने विरह की अपेक्षा विरहिणी का ही अधिक महत्व दिया है। यह भी आप देखेंगे, कोई आकस्मिक घटना या संयोग नहीं है—इसके भी निश्चित कारण वर्तमान हैं। भारतीय आलोचकों ने कई प्रकार से इसकी संगति बैठाई है—पार्थिव विरह वास्तव में अपार्थिव विरह का ही प्रतिबिम्ब है—और अपार्थिव विरह में स्त्री-रूपिणी मानव-आत्मा ही परम पुरुष के विरह में व्याकुल रहती है, सच्चिदानन्द-घन परम-पुरुष में विरह कहाँ? इसलिए पार्थिव विरह में भी स्त्री का ही विरह प्रधान है। एक आध्यात्मिक कारण तो यह दिया जाता है। दूसरा एक अर्ध-मनोवैज्ञानिक कारण यह दिया जाता

है। किसी भी इतिहास ने उसे सर्वसाधारण के साथ बाँधने का प्रयास नहीं किया है।

He was not of an age, but for all time
Like Apollo he came forth to warm our ears
or like a Mercury to charm!
Nature herself was proud of his designs,
And joyed to wear the dressing of his lines!'

है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का भाव-जगत अधिक समृद्ध है, और साथ ही वर्णन करने वाले पुरुष कवियों को स्वभावतः पुरुषों की चेष्टाओं का अङ्कन करने की अपेक्षा स्त्रियों की वियोग-जन्य चेष्टाओं और काम-दशाओं का अङ्कन करने में अधिक रस मिलता है, इसलिए विरहिणी का महत्व अधिक रहा है। परन्तु आज मनोविश्लेषण-शास्त्र इसका कुछ और ही वैज्ञानिक कारण उपस्थित करता है—उसका कहना है कि प्रेम की परिणति है रति में—और रति-क्रिया में पुरुष मोचन करता है और स्त्री धारण करती है। पुरुष के लिए जो केवल एक क्षण का तीव्र आनन्द है, स्त्री के लिए वह एक स्थायी वरदान है जो नौ मास तक उसके शरीर और आत्मा के रस से पोषण पाकर जीवनभर के लिए उस मधुर-मिलन का प्रतीक बन जाता है। इसी कारण पुरुष का प्रेम अपेक्षाकृत अस्थायी और स्त्री का स्थाई होता है और यही कारण है कि पुरुष की वृत्ति अनेकोन्मुखी और स्त्री की एकोन्मुखी होती है। इसी अन्तर को ध्यान में रखते हुए ही तो भारतीय तथा अन्य शास्त्रों ने पुरुष को एक से अधिक विवाह की आज्ञा देदी है, और स्त्री के लिए पातिव्रत्य को अनिवार्य ठहराया है। एकोन्मुख प्रेम में स्वभाव से ही स्थायित्व और तीव्रता अधिक होती है—और इसीलिए स्त्री के विरह में पुरुष के विरह की अपेक्षा अधिक गुरुता रहती है।

विरह के साहित्य-शास्त्र में चार अंग कहे गए हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। पूर्वराग मिलन से पूर्व की अवस्था है—इसमें अभिलाषा जागृत हो जाती है परन्तु मिलन-सुख के अभाव में अतृप्त रहती है, इसीलिए इसे विरह का ही एक रूप माना है। मान में ईर्ष्या आदि के कारण मिलन नहीं हो पाता—इसमें संयोग में भी वियोग रहता है। प्रवास में नायक अथवा नायिका की अनुपस्थिति रहती है—और करुण में उनमें से एक का मरण हो जाता है—परन्तु पुनर्जीवन की आशा बराबर बनी रहती है। विरह के इन चारों अङ्गों में करुण तो आधिदैविक परिस्थितियों पर आधृत रहने के कारण अस्वाभाविक है और हिन्दी में उसका वर्णन नहीं है। उधर पूर्वराग अपरिपक्व है और मान अत्यन्त अस्थाई तथा एक प्रकार से संयोग का ही अंग-सा है। विरह का पूर्ण विकास प्रवास में ही है। इस प्रकार पूर्वानुरागवती, मानवती और प्रोषित-पतिका विरहिणियों में वास्तविक गाम्भीर्य प्रोषितपतिका में ही मिलता है। शास्त्र की दृष्टि से पूर्वराग के अंतर्गत साधारणतः उत्कण्ठिता की ही गणना की जा सकती है। मान के अन्तर्गत मुख्यतः खण्डिता, साधारणतः विप्रलब्धा, कलहान्तरिता आदि, और प्रवास के अंतर्गत प्रोषितपतिका और उसके प्रवत्स्यत्पतिका आदि भेद आते हैं। "आने का निश्चय करके भी दैव वश जिसका प्रिय न आसके वह खिन्नमना नायिका 'उत्कण्ठिता' कहलाती है" परिभाषा के अनुसार यह अवस्था कम से कम एकबार मिलन होजाने के उपरांत ही आनी चाहिये, परन्तु साधारण रूप में, अभिलाषा से आकुल पूर्वानुरागवती को भी 'उत्कण्ठिता' मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये "अन्य स्त्री के संसर्ग चिह्नों से युक्त नायक जिसके पास जाय वह ईर्ष्या से कलुषित चित्त वाली नायिका 'खण्डिता' कहलाती है। जो क्रोध के मारे पहले तो प्रार्थना करते हुए नायक को निरस्त करदे, फिर पीछे से पछताए उसे 'कलहान्तरिता' और संकेत करके भी प्रिय जिसके पास न जाए उस नितान्त अपमानिता को 'विप्रलब्धा' कहते हैं।'–हिन्दी में विरहिणी के सामान्यतः ये ही रूप प्रकारान्तर से मिलते हैं। आज मनोविज्ञान के युग में वैसे तो इस प्रकार के स्थूल वर्ग-वाचक भेदों का कोई विशेष मूल्य नहीं रहा, फिर भी हिन्दी की प्राचीन कविता में विरहिणी के रूप-विकास का अध्ययन करने के लिए नायिका-भेद का शास्त्रीय आधार ध्यान में रखना आवश्यक है, ऐसा विशेष कर इसलिए और भी आवश्यक हो जाता है कि हमारे प्राचीन कवियों में से अधिकांश की चेतना में स्थूल अथवा सूक्ष्म रूप से यह आधार अनिवार्यतः व्याप्त था।

हिन्दी कविता ने जिस वातावरण में जन्म लिया, वह राजनीतिक और सामाजिक विप्लव से क्षुब्ध था—उस युग का प्रतिनिधि नायक योद्धा होता था जिसका अधिकांश

जीवन युद्ध-क्षेत्र में बीतता था, और उस युग की प्रतिनिधि नायिका क्षत्राणी वीराङ्गना होती थी जो क्षात्रधर्म के महत्व और गौरव से पूर्णतः अभिज्ञ होती थी। वह समराङ्गण में जाते हुए अपने वीर-प्रेमी को अपने हाथों से अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित कर आरती उतार कर विदा करती थी। पति का गौरव उसका गौरव था—पति की जय उसके प्रेम की जय थी, और पति की पराजय उसकी पराजय। इतिहास साक्षी है कि महाराज जसवंतसिंह की रानी ने युद्ध से विमुख होकर लौटने वाले अपने पति के लिए महल का द्वार बन्द कर दिया था। इस प्रकार वीर-युग का प्रेम क्षात्रधर्म से अभिन्न था—किसी तरह भी हृदय की दुर्बलता का प्रदर्शन करना क्षत्राणी नायिका के लिए अपमान की बात थी। परन्तु फिर भी मानव-स्वभाव अपने आप को व्यक्त किए बिना थोड़े ही रहता है. और क्षात्र-धर्म के सम्पूर्ण संयम और गौरव-भावना को चीरती हुई विरहिणी के हृदय का पुकार भी वीरकाव्य में समय समय पर सुनाई दे ही जाती है।

'आजु बरसि जा मेरे कनवज पै
कन्ता एक रैनि रहिजायँ।'

भक्ति-युग के प्रथम चरण में प्रेममार्गी सूफ़ी कवियों की प्रबंध-रचनाएँ और दूसरे चरण में सगुणोपासक कवियों का भ्रमर-गीत प्रसंग मुख्यतः विरह-काव्य के अन्तर्गत आता है। जायसी और उनके सहयोगियों की विरहिणी नायिकाएँ दुहरा व्यक्तित्व रखती हैं। वे प्रायः सभी राज-कुमारियाँ होने के अतिरिक्त किसी न किसी रूप में मानव-आत्मा की प्रतीक भी हैं। इन सूफ़ी कवियों ने अपनी प्रेम-विह्वल आत्मा का सम्पूर्ण विरह उनके व्यक्तित्व में उंडेल दिया है, अतएव स्वभावतः ही उनमें एक उत्कट तीव्रता और गंभीरता मिलती है जो अन्यत्र दुर्लभ है। जायसी की नागमती को सरलता से इन सबकी अन्यतम प्रतिनिधि माना जा सकता है। साधारणतः उसका व्यक्तित्व एक राजमहिषी का सा ही है, उसमें भौतिक जीवन के राग-द्वेष सभी मिलते हैं; परन्तु कवि ने जहां उसके विरह का वर्णन किया है वहां उसके व्यक्तित्व का भौतिक (शारीरिक) अंश क्षीण होजाता है और मानसिक तथा आध्यात्मिक अंश ही जैसे शेष रह जाता है। वह अपने राजमहिषी के गौरव को त्याग कर जोगिनी बन कर घर से निकल पड़ती है। प्रकृति के कण कण से उसकी रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होजाता है, और कवि की अपनी रहस्य-भावना का उसके व्यक्तित्व पर आरोप होजाने से सम्पूर्ण विश्व ही जैसे उसे विरह-विह्वल प्रतीत होता है। इस प्रकार प्रेममार्गी कवियों की विरहिणी अनेक अंशों में विरह-दग्ध प्रकृति का एक अंग है जो रहस्यद्रष्टा प्रेमी कवि की वाणी प्राप्त कर मुखर हो उठता है।

सूफ़ी कवियों का यही विरह मीरा में सगुणोपासना का आधार पाकर सर्वथा प्रत्यक्ष होजाता है। आलम्बन में नाम, रूप, गुण का आरोप होजाने पर फिर न किसी प्रतीक की आवश्यकता रहती है, और न किसी माध्यम की। इसीलिए मीरा ने कृष्ण को स्पष्टतः पति रूप में वरण कर उनके समक्ष अपने विरह का प्रत्यक्ष निवेदन किया है, उन्होंने न किसी लौकिक कथा को व्याज बनाया है और न प्रकृति को माध्यम।

सगुणोपासक कवियों में सबसे प्रमुख हैं सूर—और इन कवियों की प्रतिनिधि विरहिणी हैं राधा और उनकी सहचरी गोपियाँ। वास्तव में सूर ने विरहिणी के एक नवीन वर्ग की ही सृष्टि की है। इनमें हमें काव्यों की अष्टाङ्गवती संस्कारमयी नायका और लोक-गीतों की निश्छल ग्राम-वधूटियों का मध्यवर्ती रूप मिलता है। इनका विरह काल्पनात्मक न होकर नैसर्गिक जीवन का सहज अंग है—इन विरहिणियों में न तो राजसी जीवन की गरिमा और अभिजात्य है और न नागरिक जीवन की विलास भावना। इसलिए इनके विरह में न तो नागमती और सीता का सा गंभीर संयम मिलता है, और न रीति-काव्य की नायकाओं का जैसा प्रदर्शन ही। ये विरहिणियाँ सीधी-सादी ग्वालिनी हैं जो न किसी प्रकार की कृत्रिम मर्यादा का बंधन मानती हैं, और न विरह-निवेदन की ऊहात्मक शैली का ही प्रयोग करना जानती हैं। इनके मन में किसी प्रकार का छल नहीं है—इसीलिये इनका विरह उपालम्भ से मुखर है।

सर्वस्व दान कर देने के उपरान्त भी इनका प्रेमी इनसे छल कर चला गया—और कदाचित लौटकर भी न आये। उन्होंने नाहक ही ऐसे व्यक्ति से मैत्री की जो उनकी कोटि का नहीं था, उनके प्रेम की अवहेलना हुई, इसी की कसक है। परन्तु फिर भी उसे भूलना उनकी शक्ति की बात नहीं रही। उसी का योग साधे हुए वे मथुरा की ओर आँखें किए बैठी थीं कि कदाचित उनका भाग्य फिरे और कृष्ण लौट कर आएं। पर कृष्ण तो न आए उनके प्रतिनिधि ऊधो ज्ञान का संदेश लेकर आते हैं। वञ्चित प्रेम इस व्यंग्य की चोट से तड़प उठता है। और व्यंग्य का जवाब व्यंग्य से देना आरम्भ कर देता है। गोपियों का प्रेम मुख्य तो था ही—व्यंग्य का मिश्रण हो जाने से एक विचित्र तिक्तता (तलखी) आ जाती है। इसमें संदेह नहीं कि गोपियाँ अशिक्षिता हैं—उनका बौद्धिक आधार किसी प्रकार भी समृद्ध नहीं है परन्तु उनकी वाणी में आवेग की इतनी तीव्रता है कि सुनने वाला अभिभूत हो जाता है—उनके तर्कों में बुद्धि की तीक्ष्णता नहीं है परन्तु भाव की शक्ति है। इसीलिये भारतीय विरह काव्य में भ्रमर-गीत का इतना गौरव है। गोपियों के विरह पर मनोविश्लेषण-शास्त्र की दृष्टि से विचार कीजिये, उसका मुख्य तत्व है उपालम्भ और उपालम्भ में अपनी हीनता की स्वीकृति अन्तर्निहित है। गोपी कृष्ण के प्रेम में स्थिति का वैषम्य स्पष्ट था—आरम्भ में उनको इसका ज्ञान रहा होगा, परन्तु उनका विकास इतने स्वाभाविक ढंग से हुआ कि प्रेम के आवेग में यह चेतना शीघ्र ही मग्न हो गई। लेकिन विरह फिर इस वैषम्य को सतह पर ले आता है, और उधर ज्ञान के संदेश से आहत और अपमानित होकर यह आत्म-हीनता का भाव उपालम्भ का रूप धारण कर लेता है। गोपियों के इस विरह की संगति उनके स्रष्टा सूर की मानसिक स्थिति के साथ पूरी तरह बैठ जाती है क्योंकि सूर को भी तो भगवान से सखा-भाव का निर्वाह करने में इसी प्रकार की हीनता की चेतना और उधर ज्ञानियों द्वारा अपने भाव के तिरस्कार की अनुभूति हुई होगी। पात्र और उनके स्रष्टा का यही तादात्म्य विरहिणी गोपिकाओं के सफल अंकन का कारण है।

भक्ति-काल में स्वभावतः ही विरह का प्राधान्य रहा—क्योंकि इस युग के प्रतिनिधि कवियों का परोक्ष प्रेम अनिवार्यतः विरह प्रधान था। इसके विपरीत रीति युग का प्रेम विलासमय और संयोग प्रधान था। अतएव भक्तिकाल की विरहिणी स्वकीया या प्रोषित-पतिका है, रीति-काल की प्रतिनिधि विरहिणी प्रायः खण्डिता ही है। प्रोषित-पतिका का विरह प्रवास जन्य होने के कारण निश्चय ही स्थायी और गम्भीर होता है—स्वकीया के विरह में स्थायित्व और गांभीर्य और भी अधिक होना चाहिये। उधर खण्डिता में वियोग तो अत्यन्त अल्प-कालीन एवं अस्थायी ही होता है परन्तु ईर्ष्या के आतिशय्य के कारण उसमें तीव्रता बेहद आजाती है। बिहारी, मतिराम देव, और पद्माकर जैसे रसिकों के मन प्रोषित-पतिका के गांभीर्य को पूर्णतः ग्रहण और व्यक्त करने में प्रायः असमर्थ रहे हैं—इन कवियों द्वारा अंकित प्रोषित पतिकाओं के चित्र प्रायः अत्युक्ति से मुखर और ऊहा से वाचाल हैं। इसका कारण यही है कि इनकी प्रकृति रसिक अर्थात् अनेकोन्मुखी थी और प्रोषित-पतिका के विरह का मूल आधार है एक निष्ठता, जिसके गांभीर्य और महत्व से ये अपनी परिस्थिति और प्रकृति-वश पूर्णतः परिचित नहीं हो सके थे। इसके विपरीत इनका वातावरण और संस्कार खण्डिता के अनुकूल पड़ते थे क्योंकि रसिकता का ईर्ष्या से घनिष्ठ परिचय होता है। और जैसा कि मैंने अभी कहा खण्डिता के विरह का आधार ईर्ष्या ही है। ईर्ष्या से प्रज्वलित विवशता से आर्द्र और व्यंग्य से कटु-तिक्त रीति-युग की खण्डिता को नैतिक गांभीर्य और गरिमा से वञ्चित किया जा सकता है, परन्तु उसकी तीव्रता का प्रभाव असंदिग्ध और अनिवार्य है।

देवजु पै चित चाहिए नाह तो
नेह निबाहिये देह मर्‌यौ परै।
त्यों समुझाइ सुझाइए राह
अमारग मैं पग धोखे धर्‌यो परै।
नीके में फीके ह्वै आंसू भरौ कत
ऊँची उसास गरो क्यों भर्‌यौ परै।

रावरो रूप पियो अँखियान भर्यौ सु
भर्यौ ऊबर्यौ सो ढर्यो करै।

इसके बाद आधुनिक युग आरम्भ हो जाता है। आधुनिक युग का आरम्भ यों तो हरिश्चन्द्र के समय से ही होता है, परन्तु वह वास्तव में परिवर्तन-काल है। उस युग की काव्य-चेतना रीति-काल के विरुद्ध प्रतिक्रिया करती हुई कभी पीछे भक्ति-युग की ओर लौटती है, और कभी आगे दृष्टि-पात करती हुई नवीन संघर्ष-मय राष्ट्रीय-सामाजिक जीवन की ओर बढ़ती है। निदान उस युग की विरहिणी के व्यक्तित्व में इन्हीं तीनों तत्वों का असमेल मिश्रण है। आधुनिक युग की रूप-रेखा वास्तव में द्विवेदीजी के समय में आकर बन पाई। यह युग सुधार अथवा पुनर्निर्माण का युग होने के कारण नैतिक मूल्यों से शासित है।

रीतिकाल में नारी का कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं था—वह जीवन का एक उपकरण मात्र थी पर यहाँ आकर रीति-काल का भोगवाद नवीन नैतिक आदर्शों द्वारा तिरस्कृत हो कर एक प्रकार से विशेष हो जाता है। अब नारी-स्वातन्त्र्य और नारी के समानाधिकार की प्रतिष्ठा प्राचीन संस्कृति और नीति-शास्त्रों के आलोक में धीरे धीरे हो रही थी। भारतीय नारी घर की चहार-दीवारी को लांघ कर सामाजिक उत्सवों और सभाओं में पुरुष के साथ आने जाने लगी थी—परन्तु स्त्री-पुरुषों का यह सम्मिलन अभी केवल सामाजिक स्तर पर ही हो रहा था, अभी वह सामाजिक दायित्व और धार्मिक कर्त्तव्य की नैतिक चेतना से बँधी हुई ही पुरुष के सामने बाहर आती थी। बाहर का पर्दा उसने अनैतिक और अस्वाभाविक कह कर उतार दिया था—परन्तु उसके मन पर अभी नैतिकता का गुरुतम भार था। ऐसी परिस्थित में उसका प्रेम और विरह भी विलास की भावना से ऊपर उठकर नैतिक आदर्शों द्वारा अनुशासित हो चला था।

इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं हरिऔध और मैथलीशरण गुप्त। प्रियप्रवास की राधा, साकेत की उर्मिला और यशोधरा की गोपा के व्यक्तित्वों में तत्कालीन विरह का आदर्श जैसे साकार हो उठा है। इस युग का संदेश है सेवा, युग-पुरुष गांधी के प्रभाव से दीन-दुखियों की सेवा में ही उस युग के धर्म का स्वरूप स्थिर हो गया था। राधा, उर्मिला और यशोधरा तीनों ही लोक के आदर्शों को ग्रहण कर अपनी व्यथा का उन्नयन (Sublimation) करती हैं—दूसरे शब्दों में दुःखी विश्व की पीड़ा में ही अपनी पीड़ा को विलयन कर शान्ति-लाभ करती हैं। ये विरहिणियाँ मानो पहले अपने प्रेमियों को ईश्वर से एक रूप कर लेती हैं, और फिर ईश्वर को जनता-जनार्दन से एक रूप कर अपने स्नेह का आलम्बन करती हैं। परन्तु विरह का यह उदात्तीकरण बहिर्मुख और वस्तु-परक ही है—वहाँ चिन्तन के द्वारा भावना का परिष्करण और परिशोधन किया गया है।

छायावाद-युग तक आते आते स्वातन्त्र्य और समानाधिकार की भावना जो नारी के मन में अङ्कुरित हुई थी, वह विदेशी साहित्य और संस्कृति के सम्पर्क में आकर पल्लवित हो चुकी थी। वहाँ के रोमानी प्रेम का प्रभाव अनिवार्य रूप से उसके मन पर पड़ रहा था, और इधर जिस पुरुष से पिछले युग में उसने केवल सामाजिक स्तर पर मिलना सीखा था उसके साथ उसका संपर्क अब अधिक घनिष्ठ हो चला था। निदान पुरुष के प्रति अब उसके मन में भी सहज रोमानी आकर्षण जगने लगा था—परन्तु उधर नैतिक मूल्यों का आतङ्क भी अभी संस्कारों पर कठोरता से जमा हुआ था। परिणाम यह हुआ कि उसका वह आकर्षण सहज अभिव्यक्ति न पाकर कुण्ठित होने लगा। इस कुण्ठा से स्वास्थ्य की क्षति तो अवश्य हुई, परन्तु उसकी चेतना बहिर्मुखी और वस्तुपरक न रहकर अन्तर्मुखी एवं सूक्ष्म भाव-परक हो गई, और अभिव्यक्ति के असामान्य मार्गों की खोज करती हुई—कहीं मिथ्या आध्यात्मिक, कहीं बौद्धिक—आध्यात्मिक, और कहीं आध्यात्मिक स्पर्श का मोह छोड़ अतीन्द्रिय मात्र रह गयी। छायावाद की विरहिणी का प्रतिनिधि-रूप हमें महादेवी में मिलता है। इस विरह का आलम्बन कौन है? यह प्रश्न थोड़ा जटिल है। मेरे पास इसका केवल एक ही

कुरुक्षेत्र-युग की ललकार

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय

कुरुक्षेत्र का नाम लेते ही सारा महाभारत अपनी विपुल विराटता के साथ साकार हो उठता है। महाभारत यदि महायुद्ध का प्रतीक है तो कुरुक्षेत्र उसकी मीमांसा। द्वापर में महायुद्ध हुआ था, सतयुग में महायुद्ध हुआ था और कलयुग में—आज भी युद्ध-महायुद्ध होता है। शायद आगे भी होगा। कवि 'दिनकर' कुरुक्षेत्र में युद्ध की मीमांसा आज की देश-काल-पात्र की परिस्थिति में रखकर करते हैं। वास्तव में भारत की रग-रग में आज अर्जुन से भी अधिक व्यामोह समाया हुआ है और स्वत्व-प्राप्ति की आकांक्षा को हिंसा-अहिंसा का प्रश्न इस तरह से जड़ीभूत किए है कि सारा देश 'किंकर्तव्यविमूढ़' की तरह स्तब्ध है। बर्बर विदेशियों की सशस्त्र शक्ति के सामने उसका क्या कर्तव्य है? यही उसकी सबसे बड़ी समस्या है जो सुलझने की अपेक्षा दिन प्रतिदिन और अधिक उलझती जा रही है। देश को वर्गों, दलों और व्यक्तियों में विभाजित कर रही है।

श्री दिनकर का कुरुक्षेत्र आज के भारत का, विश्व-व्यापी महाभारत का काव्य-विवेचन है, साहित्य-दर्शन है।

उत्तर है, वह यह कि मूल रूप में तो इसका आलम्बन पार्थिव है, परन्तु व्यक्त रूप में अपार्थिव है। मध्य युग के भक्त कवियों के विरह का भी मूल आलम्बन अनिवार्यतः पार्थिव ही था—परन्तु उन्होंने जहाँ मूल आलम्बन और व्यक्त आलम्बन के अन्तर को साधना और विश्वास के द्वारा भर लिया था, वहाँ छायावाद के कवि के लिए आज वह सम्भाव्य नहीं है। इस अन्तराल को भरने का उसके पास केवल एक ही साधन है—वह है दार्शनिक चिंतन और महादेवीजी ने इसी के द्वारा पार्थिव को अपार्थिव रूप दिया है। उनकी अनुभूति सत्य है, और उतना ही सत्य यह दार्शनिक चिन्तन है, इस लिए उनका विरह शुद्ध अध्यात्म की कोटि में भले ही नहीं आता परन्तु मिथ्या-अध्यात्म की कोटि में उसे नहीं धकेला जा सकता। उन्होंने अपनी अनुभूति का दार्शनिक चिंतन द्वारा परिष्कार कर दर्शन के सर्ववाद को भावों में बाँधने का प्रयत्न किया है। अन्य कवियों में से कुछ ने इस अन्तर का अनुभव ही नहीं किया, उनका विरह स्पष्ट रूप से अतीन्द्रिय और अशारीरी अर्थात् इतना सूक्ष्म और परिष्कृत है कि उसका भोगमय रूप लुप्त हो गया है। और कुछ ने अध्यात्म के केवल बाह्य-रूप को ही ग्रहण कर अनुभूति की ईमानदारी के अभाव में मिथ्या अध्यात्म को जन्म दिया है।

यह समय भी अधिक न रहा। आज जीवन की गति काफी तेज है, इसलिए उसके मूल्यों में भी उसी तेजी के साथ परिवर्तन होरहे हैं। साहित्य में छायावाद के सूक्ष्म रोमानी मूल्यों के विरुद्ध प्रगतिवाद के भौतिक-आर्थिक मूल्यों ने पिछले कुछ वर्षों से प्रतिक्रिया आरम्भ करदी है। प्रगतिवाद की कविता परिमाण में अभी अत्यल्प है, परन्तु उसके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण, और उधर कुछ एक कहानी-उपन्यास आदि से संकेत लेते हुए कहा जा सकता है कि जीवन की अन्य अभिव्यक्तियों की भाँति विरह का विवेचन भी वह आर्थिक वैषम्य के आधार पर करेगा। उसकी विरहिणी पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के दुष्परिणामों से शोषित नारी होगी, ऐसा अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

रवि बाबू ने कहा है कि मेरी आत्मा में एक विरहिणी भरी बैठी है जो अपने दुःख के गीत सुनाया करती है। परन्तु वास्तव में यह विरहिणी तो अजर अमर है। प्रत्येक युग के कवियों के हृदयों में इसका वास है। यही विरहिणी तो आदि कवि के हृदय में सीता, कालिदास के हृदय में शकुन्तला, जायसी के हृदय में नागमती, सूर के अन्तस में राधा, मैथलीशरण के मानस में उर्मिला और महादेवी के प्राणों में कवि से तद्रूप होकर रोई है।

(आ० इं० रेडियो के सौजन्य से)

युद्ध की यह मीमांसा, प्रज्ज्वलित प्रतिशोध की वाणी का यह स्वरसन्धान, अपने को मिटाकर भी स्वतन्त्रता पाने की हठ का आह्वान गुलाम भारत तथा अन्य सभी पराजित एवं पददलित राष्ट्रों के विकास और गति का मूलमन्त्र है। कुरुक्षेत्र वाली वाणी वास्तव में युगवाणी है। विश्व-महायुद्ध के बीच सबसे महान निरीह हत्या भारत की ही हुई है। सन् ४२ का पृष्ठ रक्ताक्षरों से लिखा गया है, और इस रक्त में हिन्दू-मुसलमान तथा ईसाई सभी भारतीयों के रक्त की अपनी-अपनी अरुणिमा है। हिन्दी के कवि का यह स्वर देश-व्यापी पीड़ा तथा अपमानजनक क्रीड़ा की प्रतिशोध-परिपुष्ट अन्तर्ध्वनि की प्रतिध्वनि-शंखध्वनि मात्र हैं। और सन् ४३ का जनविरचित बंगाल का अकाल; रोंगटे खड़े हो जाते हैं! सदियों से यह देश इसी के लिए गौरवान्वित है; और आज! आज तो दिनकर ने ठीक ही लिखा है—

जिस दिन समर की अग्नि बुझ शान्त हुई,
एक आग तब से ही जलती है मन में।

इसी ज्वाला से तपा हुआ, निखरा हुआ, दिनकर का कवि कुरुक्षेत्र के प्रथम प्रश्न से ही स्वत्व-प्राप्ति की साधना में युद्ध-क्रान्ति को अनिवार्य मानता है, और सच तो यह है कि दिनकर का क्रान्ति प्रतिपादन आज के भारत के लिए गीता की तरह गेय हो उठा है। प्रश्न के द्वारा प्रश्न का उत्तर देना वाणी की शक्ति का समर्थक है और यदि यह प्रश्न काव्यमय हो, काव्य हो तो सोने में सुगन्धि की प्रतिष्ठा। दिनकर का प्रश्न-उत्तर ऐसा ही है—

पापी कौन मनुज से उसका
न्याय चुराने वाला।
याकि न्याय खोजते विघ्न का
सीस उड़ाने वाला।

'न्याय चुराने वाले को' पापी तो सभी कहेंगे, मानेंगे किन्तु 'सीस उड़ाने वाले' की दाद देना कठिन है।

देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साधन निर्देशकों में प्रायः दो दल हैं—गान्धीवादी और शेष विभिन्न मतवादी। कोई भी दल और कुछ भी विश्वास करता रहा हो, युद्ध की चुनौती द्वारा देश को स्वतन्त्र करने की प्रेरणा लेकर नहीं आया।

हाँ, राजनीति में, साहित्य में क्रान्ति के कतिपय शब्दकार ऐसे अवश्य रहे जो क्रान्ति की शब्द-रचना बराबर करते रहे और करते हैं। बच्चन की 'बंगाल का अकाल' एक ऐसी ही क्रान्तिकारी कविता है जो पिछले सन् ४२–४३ के दानवी बंगाली दुर्भिक्ष को आधार बना कर लिखी गई है। कविता बड़ी घनघोर है, फ्रांस की महाक्रान्ति का सजीव स्मरण सामने रखकर ग्रेंड ग्रोला-ग्रोला के साथ बहुत ही ओजपूर्ण शब्दों में बंगाली (भारतीय) मरभुखों से क्रान्ति की अपील की है। शान्ति-अहिंसा का पाठ पढ़ाने वाले पुरखों को आवेश में लंठ तक कह डाला है किन्तु सन् ४२-४३ के मुर्दों की आवाज सन् ४७ के जीवित-प्राणों की पुकार नहीं, मानवता का उपहास मात्र है क्योंकि जिनसे क्रान्ति की कामना की गई है, वे मर गए। काश कि बच्चन ने उस समय यह आवाज उठाई होती? महादेवी जी ने बंग-दर्शन का माध्यम कवियों के लिए उपस्थित किया था। कविता पढ़ने से सहज में ही यह विश्वास होता है कि भूखों-कुत्तों की तरह मरने वाले मानव की मरणशील मनोवैज्ञानिकता में कवि की यह स्वर-साधना निश्चय ही नए प्राण फूंक देती—फ्रांस की क्रान्ति की तरह जिसका स्मरण कविता में है। पर बच्चन के कवि को यह सौभाग्य नहीं मिला और आज तो वह कविता उस महानाश और महापमान की विस्मरणीय स्मृति के अतिरिक्त कुछ नहीं, चिता की ठंडी राख, बारूद नहीं। बच्चन ने इसके पहले भी कहीं लिखा है।

कंचन तो लुट चुका पथिक अब,
लूटो राख लुटाता हूँ मैं।

ऐसे क्रान्तिकारी कवियों की हिन्दी में कमी नहीं क्रान्तिदूत अंचल जी का तो सारा साहित्य क्रान्ति की कल्पित कल्पना किलोल है। इस प्रकार देश में गांधीवाद न केवल राजनीति में वरन् साहित्य में भी हावी रहा। तभी तो बच्चन जैसा महाप्राण व्यक्ति भी मच्छरों की भांति मरते हुए भुखमरों में खड़े होकर उन्हें स्फूर्ति नहीं दे सका और कवि पुंगव अन्तर्राष्ट्रीयता की शव पर रूस-गान की, लालनिशान की, स्टैलिनग्रेड की साधना करते रहे। उस समय का

प्रगतिशील साहित्य सब सामने है।

धीरे-धीरे समय बदल रहा है और देश पीड़ा के दंशन से विचक कर उद्बुद्ध हो रहा है, गांधीवाद की अगली पीढ़ी राजनीति और साहित्य दोनों में, जिसकी आत्मा सन् ४२ में चमक उठी थी सामने आ रही है और दिनकर के शब्दों में उसकी रूप रेखा भी।

युद्ध का उन्माद संक्रमशील है
एक चिनगारी कहीं जागी अगर
तुरत बह उठते पवन उनचास हैं
दौड़ती-हँसती-उगलती आग चारों ओर से।

सन् ४२ में ऐसा ही हुआ था। मारपीट-तोड़फाड़ सारे देश में एक ही दिन! कहा जाता है उसके इतिहास बाजार में बिकते हैं। फल भी कुछ बुरा नहीं हुआ। आज निश्चय ही हम गांधीवाद द्वारा उपार्जित प्रायः पूरे राजनीतीक अधिकारों से बहुत ज्यादा के अधिकारी हैं। फिर भी देश की स्थिति में अभीतक किसी सम पर अपने ताल-स्वर को समन्वित करने की कोई सुविधा सामने नहीं दीखती, चारों ओर अविरल-अवरोध। दिनकर के कवि ने इस परिस्थिति को, देश की इस विपन्नता को, उसके 'पैसिव-रेसिस्टेन्ट' को चीन्हा-पहचाना है, क्योंकि वह समाजी है, संसारी है। हर गाँव-प्रान्त-देश-विदेश विश्व को साथ लेकर चलता है, सब को सब के मन का रास्ता दिखाता है, उसे द्रष्टा भी तो कहा जाता है। विश्व के स्वतंत्रता संग्रामों में, सामाजिक क्रान्तियों में, जीवन-विकास की प्रायः सभी सम्भावनाओं में अखिल जीवन में, साहित्यकार विचार और भाव जगत् का गायक अगुआ रहा है और रहेगा।

दिनकर उनमें से एक हैं। नये भारत का नया नेता, यद्यपि अपनी पोथी 'नये भारत के नये नेता' में दिनकर का शुमार नहीं किया। पर दिनकर तो आज प्रतिशोध पर उतारू है—

जानता हूँ किन्तु जीने के लिये
चाहिये अंगार जैसी वीरता,
पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है
जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।

इतना ही नहीं और भी—

छीनता हो स्वत्व कोई और तू
त्याग तप से काम ले यह पाप है।

यही दिनकर की ललकार है, समय को कवि का सन्देश है। दिनकर ने साफ भूमिका में लिख दिया है— 'कुरुक्षेत्र की रचना भगवान व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है और न महाभारत को दुहराना ही मेरा उद्देश्य था। मुझे जो कुछ कहना था वह युधिष्ठर और भीष्म का प्रसंग उठाये बिना भी कहा जा सकता था किन्तु तब यह रचना (कुरुक्षेत्र) शायद प्रबंध के रूप में नहीं उतर कर मुक्त बनक कर रह गई होती। दिनकर ने भीष्म और युधिष्ठर का प्रसंग उठाया है। कुरुक्षेत्र की प्रबंधात्मकता के लिये नहीं वरन् अपनी भावधारा की प्राण-प्रतिष्ठा के लिये आज अपने अधिकारों को मांगने की अपेक्षा येनकेन प्रकारेन लेलेना ही अधिक जँचता है। जनता-समाज-देश सभी अपने अधिकारों के लिये आकुल व्याकुल हैं। सब के भीतर आग सुलग रही है और दिनकर कुरुक्षेत्र में जाता है, अपने अधिकारों के लिये मर मिटने की बात सिखाता है, युद्ध की बात बताता है। भीष्म के माध्यम से दिनकर की विदग्ध मानवता जैसे चीख पड़ती है—

कायरों सी बातकर मुझको जला मत आजतक
है रहा आदर्श मेरा वीरता, बलिदान ही।

* * * * * *

त्याग-तप, भिक्षा? बहुत हूँ जानता मैं भी, मगर
त्याग-तप, भिक्षा, विरागी योगियों के धर्म हैं,
याकि उसकी नीति जिसके हाथ में शायक नहीं
या मृषा पाखण्ड यह उस कापुरुष बलहीन का
जो सदा भयभीत रहता युद्ध से यह सोचकर
ग्लानिमय जीवन बहुत अच्छा, मरण अच्छा नहीं।

भारत अब ग्लानिमय जीवन बिताने को कतई तैयार नहीं। अब वह अपने अधिकारों के लिए मरने-मिटने, मारने-मिटाने को भी कटिबद्ध है। देशी भाई जान चुके हैं कि—

पाशविकता खड्ग जब लेती उठा
आत्मबल का एक वश चलता नहीं।

ऐसी स्थिति में तो केवल 'शरीर माधम खलु धर्म

सा·नम्' वाला बलिष्ट शरीर ही काम देता है। आज के भारत की तरह द्वापर में पाण्डवों को निर्वासित करके दुर्योधन ने भी शान्ति की स्थापना की थी किन्तु उसका जो परिणाम हुवा उसी का नाम महाभारत है। आज सारा देश निर्वासित है, सम्भवतः इसी कारण पं· जोशी ने अपने नवीनतम उपन्यास का नाम निर्वासित रखा है। और कृष्ण का काम कवि करे तो आश्चर्य की बात नहीं। कवियों ने देश को विदेश को स्वतंत्रता-संग्रामों में सक्रिय भाग लिया है, इतिहास इसका साक्षी है। दिनकर ने मनुजोचित अधिकारों के लिए युद्ध का निमंत्रण दिया है—खुले शब्दों में जिहाद बोला है, जिसे सुनकर, पढ़कर, मनन करके यदि—

दबे हुए आवेग यहाँ यदि
उबल किसी दिन फूटें,
संयम छोड़ काल बन मानव
अन्यायी पर टूटें।

तो यह स्वाभाविक ही कहा जावेगा। इसी प्रकार के अन्य अनेक तर्कों तथा प्रमाणों से कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि—

किसने कहा, पाप है समुचित
स्वत्व प्राप्त हित लड़ना
उठा न्याय का खड्ग समर में
अभय मारना मरना।

मूलतः यही दिनकर के कुरुक्षेत्र का सार-स्वर है। इस परिणति तक पहुँचने के लिए सांस्कृतिक तथा व्यावहारिक जिन सीढ़ियों का निर्माण कवि ने किया है वे उसके काव्य की अनोखी उक्तियाँ और चुभती हुई सूक्तियाँ हैं। जिनके द्वारा मानव को नई प्रेरणा मिलती है, वह नये विचार सुनता और समझता है—

कानन में देख अस्थि-पुंज मुनि पुंगवों का
दैत्य-वध का था किया प्रण जब राम ने;
"मति भ्रष्ट मानवों के शोध का उपाय एक
शस्त्र ही है"? पूछा था कोमलमना वाम ने।
"नहीं प्रिये सुधर मनुष्य सकता है तब
त्याग से भी" उत्तर दिया था घनश्याम ने,
"तप का परन्तु बस चलता नहीं सदैव
पतित समूह की कुवृत्तियों के सामने"।

और फिर—

हिंसा का आघात तपस्या ने कब कहाँ सहा है?
देवों का दल सदा दानवों से हारता रहा है।

इसलिए कवि बार-बार सचेत करता है कि—

करुणा, क्षमा है क्लीव जाति के कलंक घोर
क्षमता क्षमा की शूर-वीरों का सिंगार है।

वस्तुतः भारत जैसे पराक्रांत-पीड़ित देश को आवश्यकता इस बात की है कि वह—

कौन है बुलाता युद्ध? जाल जो बनाता?
या जो जाल तोड़ने को क्रुद्ध काल-सा निकलता?

कहते हुए अपने अधिकारों के लिए डट जाय और उन्हें अपनी शक्ति से प्राप्त करे।

दिनकर ने विजयोपरान्त व्यवस्था का भी बहुत ही सुन्दर-स्वस्थ और समतामय निर्देशन किया है—

शान्ति नाम उस रुचिर सरणि का
जिसे प्रेम पहचाने,
खड्ग-भीत तन ही न
मनुज का मन भी जिसको माने।

सबके मानने की बात समता के सिवाय और हो भी क्या सकती है?—

धर्मराज यह भूमि किसी की नहीं क्रीत है दासी,
है जन्मना समान परस्पर इसके सभी निवासी।

अस्तु—

पृथिवी हो साम्राज्य स्नेह का,
जीवन स्निग्ध सरल हो,
मनुज-प्रकृति से विदा सदा को
दाहक द्वेष-गरल हो,
बहे प्रेम की धार, मनुज को
वह अनवरत भिगोये,
एक दूसरे के उर में नर
बीज प्रेम का बोये।

क्योंकि मानव के साथ मानव की साम्यवादी-स्नेहवादी नीति ही से विश्व का कल्याण सम्भव है, अन्यथा नहीं। कौन नहीं जानता कि—

विचार-विमर्श—

प्रसाद जी की कहानियों में यथार्थवाद की अभिव्यञ्जना

प्रसादजी कवि हृदय तथा छायावाद के प्रवर्तकों में से एक थे। फिर भी सांसारिक जीवन की यथार्थ परिस्थितियों तथा उनके प्रभावों से वे एक दम मुक्त न होसके। देशकाल का प्रभाव उनके हृदय तथा मस्तिष्क पर भली भांति पड़ा जिसकी झलक उनके साहित्य में अनेक स्थलों पर दृष्टिगत होती है। आदर्श तथा काल्पनिक लोक में विचारों के पंखों के द्वारा विचरने वाले प्रसादजी ने स्वयम् ही यथार्थ की महिमा का कई एक स्थान पर उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ आंधी कहानी में प्रसादजो ने लिखा है:—"फिर भी घर बसाना पड़ेगा। फिर वही सब समस्याएँ सामने आयेंगी। तब तुम्हारा यह स्वप्न भंग हो जायगा। पृथ्वी ठोस और कंकरीली रह जायगी। फूल हवा में बिखर जायगें......।" इसी प्रकार के अनेक उदाहरण हमें विवश करते हैं कि हम उन्हें यथार्थ जगत की ठोस तथा कंकरीली पृथ्वी से विमुख न समझें। लेखक की प्रथम कहानी में हम ग्रामीण जीवन का यथार्थ वर्णन पाते है। प्रेमचन्द की भाँति प्रसादजी ने यद्यपि ग्राम जीवन के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश नहीं डाला, तथापि प्रसाद के हृदय पर गावों की हीनता तथा घोर दरिद्रता का गम्भीर प्रभाव पड़े बिना न रह सका। देश की दरिद्रता का प्रभाव प्रसादजी पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा। फलतः उन्होंने अपनी कई एक कहानियों में दरिद्र जीवन का चित्रण करते हुए धनी तथा पूंजीपतियों की अर्थ लोलुपता पर व्यंग वाणों की वर्षा की है।

'करुणा की विजय' कहानी में लेखक ने अधिकारी वर्ग की स्वार्थ परता तथा कर्तव्य विमुखता का चित्रण किया है। इसी कहानी में मोहन के कपड़ों तथा रोकड़ का वर्णन लेखक ने इस प्रकार किया है:······"एक कुये के समीप बैठा हुआ अपनी बहन को समझा रहा है। फटे हुए कुरते की छोर से उसके अश्रु पोंछने में वह सफल नहीं होरहा है। क्योंकि कपड़े के सूत अश्रु विशेष थे।······ ढाई पैसे. के वह बेच चुका था। अभी दो तीन पैसे का चना जो जल और मिर्च में उबाला हुआ था और बचा है। मोहन चाहता था कि चार पैसे उसकी रोकड़ में और बचे रहें। डेढ़ दो पैसे का कुछ लेकर अपना और रामकली का पेट भर लेगा।" मोहन की गरीबी का यह वर्णन पढ़कर प्रत्येक व्यक्ति यही सोचेगा कि प्रसादजी यथार्थ जीवन के कुशल चित्रकार हैं और सन्देह होने लगता है कि यही प्रसादजी छायावाद के प्रवर्तक थे जिन्होंने यथार्थ जीवन का इतना सूक्ष्म अवलोकन किया था।

इसी प्रकार नीरा का पिता (नीरा कहानी में) निरन्तर दुखों का सामान करते करते नास्तिक बन जाता है। ईश्वरी भक्त-वत्सलता का वह उपहास करता है। प्रेमाश्रम के दुख

जब तक मनुज-मनुज का यह
सुख-भाग नहीं सम होगा,
शान्ति न होगा कोलाहल
संघर्ष नहीं कम होगा!

अन्त में यह बता देना अनुचित न होगा कि मैंने पाठकों के सामने दिनकर के कुरुक्षेत्र का रीढ़-भाव ही सामने रखने की चेष्टा की है। युधिष्टिर की ग्लानि और भीष्म का आँखे खोलने वाला प्रबोध तथा तन-मन एंव बुद्धि-हृदय के द्वन्द्व और अन्तर्वृत्तियों का काव्योचित आकलन यदि देखना हो तो कुरुक्षेत्र में प्रवेश कीजिए। राजनीति में शान्ति-अशान्ति का उपयोग, जीवन में यौवन-वार्धक्य का उपयोग, ज्ञान-वैराग तथा कर्म का योग, मानवीय साम्य-सिद्धान्तों नूतनता का आनन्द और प्रयोग आदि का काव्यानन्द लेने के लिए दिनकर का यह काव्य पठनीय है, संग्रहणीय है। मानव श्रेय के लिए दिनकर के ये शब्द कितने सजीव हैं—

श्रेय उसका बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत;
श्रेय मानव की असीमित मानवों से प्रीत।
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान,
तोड़दे जो, बस वही ज्ञानी, वही विद्वान्।
और मानव भी वही है।

(कुरुक्षेत्र—रचयिता—श्री रामधारीसिंह दिनकर, प्रका०—उदयाचल पटना। मूल्य १॥)

हरन भगत भी नीरा के पिता के समान चित्रित किये गये हैं। प्रसादजी ने अपनी 'भिखारिन' तथा 'छोटे जादूगर' कहानी में भी यथार्थ जीवन का भला चित्रण किया है। 'छोटे जादूगर' कहानी में बालक जब जादू का तमाशा दिखाकर घर पहुँचा तो उसकी माँ अन्तिम सांसें लेरही थी। बिना कुछ बोले ही वह चल बसी। कहानी का करुण अन्त हममें समाज के स्वार्थी और विनोद प्रिय रईसों के प्रति विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित कर देती है। यथार्थ की कठोरता से ऊबकर किसी अन्य लोक में भाग जाने की इच्छा हमारे हृदय में जागृत हो उठती है। प्रसादजी दरिद्र जीवन की हीनता से प्रभावित थे। इसके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में हमें कहीं कहीं राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का भी चित्रण मिलता है पर वहाँ भी प्रसादजी अपने आदर्श को नहीं भूले और जैसी परिस्थिति है उसका यथार्थ मय चित्रण करके वे चुप नहीं होगए। उनका उद्देश्य था उसमें सुधार करना, उसे उचित मार्ग पर लगाना।

'आँधी' तथा 'इन्द्रजाल' संग्रह में यथार्थवादी कहानियों की अधिकता है। आँधी, मधुआ, घीसू, बेड़ी, इन्द्रजाल तथा गुण्डा इत्यादि कहानियों में लेखक अपनी कल्पना का सहारा लेकर किसी आदर्श लोक की स्थापना नहीं करता वरन यथार्थ जीवन का चित्रण करना ही उसका लक्ष्य है। मधुआ तथा घीसू कहानियों में शराबी तथा घीसू का जीवन चित्रण यथार्थ से अत्यन्त विवश है। शराबी का जीवन और उसके मनोभावों का चित्रण बहुत ही स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक है। इसी कहानी में मधुआ के प्रति करुणा की भावना तथा शराब पीने की लालसा दोनों ही भाव उसके हृदय में उठते हैं। उनमें संघर्ष होता है पर अन्त में करुण भाव की विजय होती है। घीसू कहानी में यत्र तत्र आदर्शों की भी स्थापना की गई पर यथार्थवाद आदर्शवाद से दबा हुआ दृष्टिगत होता है।

'बेड़ी' कहानी में यथार्थपूर्ण वातावरण ही चतुर्दिक दृष्टिगत होता है। इसमें आदर्शों के लिए कोई स्थान नहीं है। श्री विनोद शंकर व्यास के शब्दों में बेड़ी का कथानक सत्य घटना पर निर्भर है। प्रसादजी ने अपनी आँखों से बनारस की गलियों में फिरते हुए एक अंधे भिखारी को देखा था जिसने अपने सुख तथा स्वार्थ के लिए लड़के के पैरों में बेड़ियाँ डाल दी थी और एक दिन वह एक धनी की तीव्र गति से आती हुई कार से टकरा गया। पर पैसे की कचालू खाने और शीत का दूर करने के लिए कुरता पहनने की अपूर्ण साध लिए हुए वह बालक अपनी सांसारिक बेड़ियाँ काटकर इस लोक से विदा होगया।

प्रसादजी ने 'आँधी' कहानी में लैला (एक ईरानी नवयुवती) को प्रेम कहानी का यथार्थ वर्णन करते हुए स्थान स्थान पर आधुनिक डाक्टरों, मनोवैज्ञानिकों तथा इतिहासकारों पर व्यंग बाण चलाये हैं। मनोवैज्ञानिकों पर लेखक ने निम्न शब्दों में व्यंग किया है—

"आज कल मनोविज्ञान का युग है न? प्रत्येक मनोवृत्ति के लिए हृदय को कबूतर का दरबा बना डाला है, जिसके लिए सफेदा, नीला, सुर्खा का श्रेणी विभाग कर लिया गया है।"

यह सब प्रसाद की यथार्थवादिता के परिचायक हैं और यह प्रमाण है कि वे कल्पना के सहारे ही आदर्श लोक में नहीं विचारा करते थे, वरन् यथार्थ जीवन और आधुनिक परिस्थितियों तथा समस्याओं से भी वे परिचित थे। प्रसाद जी की कहानियाँ हमारे जीवन से दूर की वस्तु नहीं हैं। उनमें स्वाभाविकता की भी कमी नहीं है।

ले०—त्रिलोकी नारायण दीक्षित एम० ए०,

प्रगतिशील संगीत

साहित्य-सन्देश के नवम्बर १९४६ के अंक में एक नोट श्री प्रभाकर माचवे का प्रकाशित हुआ है जिसमें उन्होंने और बातों के साथ प्रगतिशीलता या प्रगतिशील संगीत के संबन्ध में चर्चा की है। आज कल प्रगतिशील नाम प्रत्येक कृति के साथ जुड़ा होना आवश्यक है, ऐसी ध्वनि आज के साहित्यिक वर्ग में विशेष रूप से जागरूक है। 'प्रगति शील' शब्द आज लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त होता है। स्पष्ट तौर से हँसिया हथौड़े से संबन्ध रखने वाली कृति या कम्युनिस्ट कृति के साथ। इसीलिए प्रत्येक कवि या कलाकार से आशा की जाती है कि प्रगतिशील बनने के लिए परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से, उसका संबन्ध कम्युनिस्ट पार्टी से हो। मेरे एक कट्टर कम्युनिस्ट मित्र तो यहाँ तक आगे बढ़ गए हैं कि वे मनुष्य के पुराने ढंग के पहनावे को देखकर उस व्यक्ति की कलात्मकता का भी परिचय पा लेने का दावा रखते हैं। उनकी दृष्टि में ऊँचे कालर का कुरता तथा पजामा पहरने वाला व्यक्ति ही प्रगति शील हो सकता है। उनका कहना है कि मनुष्य का पहनावा देखकर वे उसकी कृति के संबन्ध में भी निर्णय दे सकते हैं। वे कहते हैं—'हँसिया हथौड़े, लाल निशान और रूस पर लिखी गई आज तक की प्रत्येक कविता कालिदास रवीन्द्र तथा आजकल के युग-प्रवर्तक कवियों से श्रेष्ठ है।'

जहाँ इतना आग्रह अपने मत के प्रति लोगों (प्रगतिशील कहलाने वाले वर्ग) में हो यदि वहां प्रगतिशील संगीत की भी कल्पना की जाय तो आश्चर्य की बात नहीं है।

कहानी, कविता, नाटक, उपन्यास तक ही यह बात नहीं है। आलोचना के सम्बन्ध में भी कुछ लोग इसी दृष्टि-कोण से आलोचना करते हैं। यदि आप तथाकथित प्रगतिशील वर्ग से किसी प्रकार संबन्ध नहीं रखते तो आपकी अच्छी से अच्छी कृति भी उनकी दृष्टि में उपहासास्पद एवं निन्दनीय है। वे चाहेंगे कि ऐसी कृति का निर्माण न हो, पाठकों तक भी वह न जा सके। रूस के मार्क्सवादी लेखक 'ज़्दानोव' की तरह का यह दुराग्रह आजकल के हिन्दी लेखकों में पाया जाता है। जिसने बिना समझे बूझे 'मिनुएट' नाम के एक परम्परागत नृत्य के पूंजीवादी कह कर पुकारा था।

मैं मानता हूँ प्रगतिशील या प्रगतिवाद मानवता तक पहुँचने का साधन है, स्वयं साध्य नहीं है। इसी तरह कम्युनिज्म भी हमारे या संसार के समाज के वास्तविक सुखतक पहुँचने का एक प्रयोग है। वह प्रयोग भविष्य में कैसा सिद्ध होगा, यह भविष्य के गर्भ में है। ऐसी अवस्था में हमें प्रत्येक पुरानी वस्तु या प्रत्येक अप्रगतिशील कही जाने वाली कृति को उपेक्षा की दृष्टि से देखने का अधिकार नहीं है।

एक प्रकार के ज्ञान के संस्कृत होने में युगयुगान्त के प्रयत्न होते हैं जो परिवर्तित एवं परिवर्धित होकर उसको साहित्य का अङ्ग बनाते हैं। वह हमारे साहित्य की संचित निधि बनती है। यदि हम उनको सुरक्षित रख कर समय की उपादेयता के अनुसार कुछ सामयिक चीजें लिखते हैं तो वे शाश्वत नहीं हो सकतीं और न वे हमारे साहित्य की निधि ही बन सकती हैं। रूस, लाल निशान, हँसिया, हथौड़े की कविता में एक सिद्धान्त के प्रचार का साधन है, स्वयं स्थायी साहित्य नहीं है।

जनता में प्रचारार्थ लिखाजाने वाला साहित्य न तो शाश्वत हो सकता है न भविष्य के लिये प्राणवान। उसकी प्राणवत्ता सामयिक है और समय के बीत जाने या जिस उद्देश्य के लिये वह लिखा गया है उसकी पूर्ति हो जाने के बाद उसका महत्व नहीं रहता। इसलिये प्रगतिशीलता की व्याख्या हमको कुछ और आगे बढ़ कर करनी होगी। उसमें उन तत्वों को भी लेना होगा जिनका मानव प्रकृति से स्थायी सम्बन्ध है, तथा जो जीवन के प्रत्येक प्रकार के उत्थान में व्यष्टि या समष्टि के साथ चलते हैं। हम केवल समष्टि ही नहीं है व्यष्टि भी हैं। व्यक्ति की पृथकता या श्रेष्ठता भी हमारे हजारों साल के निरंतर उद्बोधन का फल है। उसे हम छोड़ कर पीछे नहीं चल सकते। इस लिए यह आवश्यक है कि हम जीवन के सभी निर्माणकारी तत्वों का समावेश कर के प्रगतिशीलता की व्याख्या करें।

इस दृष्टि से यदि प्रगतिवाद का अर्थ प्रोपेगेंडा नहीं है तो हमें संगीत, नृत्य, कविता, कहानी में उनका भी समावेश करना होगा जो प्राचीन हैं। जिनमें अभीतक

मीरां के 'राणा'

समस्त उत्तरापथ को अपने प्रेमाकुल हृदय के विह्वल आह्वान से एक बार ही आलोड़ित कर देने वाली भक्त मीरा का जीवन चरित्र तिमिराच्छन्न है। इतिहास के पृष्ठ उस पर समुचित प्रकाश डालने में असमर्थ हैं, और भक्त श्रद्धालु जनता उसके चरित्र पर अलौकिकता का आवरण डाल उसे अधिक रहस्यमयी बनाये हुए हैं। मीरा जिसके जीवन की प्रत्येक अनुभूति में, प्राणों की पुकार में भारतीय नारी-हृदय का अन्तर्नाद प्रतिध्वनित है, उस मीरा के सम्बन्ध में जनता का यह अज्ञान हमारे साहित्य का एक करुण अभाव है। इस अभाव की पूर्ति के निमित्त कुछ विद्वानों ने मीरा के जीवनवृत्त पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। इनमें पाश्चात्य विद्वानों में सर्व श्री टॉड और ग्रियर्सन के नाम प्रमुख हैं, तथा भारतीय विद्वानों में सर्व श्री देवीप्रसाद, श्यामल दास, सारदा और ओझा जी की खोजें अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

टॉड के अनुसार मीराँ का काल सन् [illegible] से १५-७० है। टॉड की धारणा थी कि मीरा राणा कुम्भा की पत्नी थीं किन्तु यह मत अब भ्रान्त सिद्ध हो चुका है। ग्रियर्सन ने मीरा को विद्यापति की समकालीन मानते हैं। विद्यापति का संवत् १४६० में राजा शिवसिंह के यहाँ वर्तमान होना इतिहास सिद्ध है। किन्तु [illegible] को समकालीन सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त [illegible] के मध्य के ४७ वर्ष के व्यवधान से बड़ी खींच तान करनी पड़ेगी।

इधर भारतीय विद्वानों ने मीरा को १६ वीं और १७ वीं शताब्दी की विभूति सिद्ध किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मीरा की जन्म-तिथि संवत् १५७३ माना है किन्तु अन्य विद्वानों में श्री देवीदास, श्यामल दास तथा ओझा जी के अनुसार संवत् १५५५ से [illegible] अधिक युक्ति संगत है। इन सभी विद्वानों ने मीरा को [illegible] शूर राणा सांगा की पुत्रवधू और [illegible] माना है। समय के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी इन सभी विद्वानों ने एक मत से मीरा को मेड़ता के संस्थापक और मेड़तिया शाखा के जन्मदाता दूदा जी की पौत्री और रत्नसिंह की पुत्री माना है। इस तथ्य का निर्देश हमें मीरा के काव्य में भी मिलता है:—

"मेड़तिया घर जन्म लियो है मीरा [illegible]।"

कहा जाता है कि मीराँ की "गिरधर लाल" के प्रति लगन बाल्य-काल से ही थी। मीरा का यह प्रेमाधार पार्थिव नहीं, वह अपार्थिव जगत की विभूति है जहां लौकिक वासना की गन्ध अभिप्रेत नहीं।

मीरा को हम सर्वत्र एक प्रेम योगिनी के रूप में पाते हैं। वैवाहिक जीवन की जो कुछ झलक हमें उसके काव्य में मिलती है उससे यह तो स्पष्ट ही ध्वनित हो जाता है कि मीरा की प्रेम साधना में अनेक विघ्न थे। कुछ काल-तक जनता की सर्वमान्य धारणा थी कि मीरा के त्रासक स्वयं उसके पति थे। किन्तु इधर विद्वानों का सतत प्रयास यह सिद्ध करना रहा है कि मीरा पर अत्याचार करने वाले उसके देवर विक्रमादित्य थे तथा मीरा के जीवन-काल में मीरा का जीवन सुखकर और साधारण लोक व्यवहार सम्मत था। अर्थात् मीरा अपने पति में अनुरक्त थी और

जीवन को उन्मेलित करने की क्षमता है, जो अभी तक हमारे लिए स्फूर्ति का कारण बनती रही है। केवल नवीन की भावना हमारे लिये हितकर न होगी। नवीन केवल उतना ही ग्राह्य है जिससे हमारी परम्परा का बौद्धिक विकास जीवन की ग्राहिणी शक्ति खो न बैठे। कौन नहीं जानता कि इस नवीन कम्यूनिज्म के तत्त्व हमारे प्राचीन विचारों का ही विकास नहीं है या उन बिखरे सूत्रों का एकत्रीकरण नहीं है? यह ठीक है उसमें दर्शन तथा विवेचन की पद्धति नवीन है जिसमें समाज का आर्थिक आधार प्रमुख है। परन्तु आर्थिक आधार तो जीवन का वाह्य व्यापार है। इस वाह्य व्यापार को सब कुछ मान लेना मनुष्य की सब अवस्थाओं के लिये कभी भी हित कर नहीं हो सकता। जहाँ तक समाज का सबन्ध है यह आर्थिक पहलू ठीक एवं सङ्गत है किन्तु उसकी आध्यात्मिकता तथा आत्म-सुख का तो यह कभी भी मूलाधार नहीं बन सकता। सुख या आनन्द हृदय की वस्तु है, वाह्य व्यापार के पहलुओं में सदा परिवर्तन होता रहेगा किन्तु आत्मा में तो हमें अपने अपने भीतर के प्रच्छन्न सुख को खोज निकालना होगा। जिस दिन मनुष्य मात्र में यह क्षमता उत्पन्न हो सकेगी उसी दिन मनुष्य का कल्याण होगा।

उसकी संसार से विरक्ति वैधव्य जीवन गत ज्वाला में है। किन्तु इस विचार धारा से अनेक स्थानों पर मीरा के पदों से साम्य नहीं मिलता और साधारणतः मीराँ के पदों को पढ़ कर पाठक को यही भ्रान्ति होती है कि मीराँ के 'राणा' उसके पति राणा हैं देवर राणा नहीं।

मीरा के पदों में जहाँ भी पारिवारिक जीवन के उल्लेख मिलते हैं वहाँ सर्वत्र हमें उसके लौकिक पति की उपस्थिति का आभास मिलता है। प्रियादास की टीका में मीराँ के सम्बन्ध में हमें जो पंक्तियाँ मिलती हैं वे मीराँ के आत्म परिचय में इतनी सटीक बैठती हैं कि यहाँ उनका उदाहरण देना प्रस्तुत विषय की समीक्षा में सहायक सिद्ध होगा। प्रियादास मीरा के सम्बन्ध में लिखते हैं—

मेर तो जन्म भूमि, झूम हित नैन लागे
पगे गिरिधारी लाल पिता ही के धाम में
राना के सगाई भई करी ब्याह सामानई
गई मत बूढ़ि वा रंगीले घनश्याम में।
भांवरे परत मन सांवरे सरूप मांझ
तांवरे सी आवे चलिबे को पति गाम में
पूछें पिता माता 'पट आभरन लीजिये जू'
लोचन भरत नीर कहा काम दाम में।
देवो गिरधारी लाला जौ निहाल कियौ चाहौ
और धन माल राखियै उठाय के
बेटी अति प्यारी प्रीति रंग चढ़यौ भारी
रोय मिली महतारी कही 'लीजियै लड़ाय कै"

तथा—

राणा सुनि कोपि करयौ धरयौ हिय मरबोई
दई ठौर न्यारी देखि रीझि मति बाम की
लालन लड़ावै गुन गाय कै मल्हावै
साधु संग ही सुहावै जिन्हें लागी चाह श्यामकी।

प्रियादास की इस टीका से यह निर्भ्रान्त सिद्ध है कि अभी तक मीराँ के त्रासक उसके पति राणा ही माने जाते थे तथा मीराँ का कृष्ण-प्रेम वैधव्य की ज्वाला को भूलने का उपादान मात्र न था। कृष्ण उसके बाल्य सखा और प्रणयी हैं—

'भांवरे परत मन सांवरे सरूप मांझ की' उक्ति 'मेरी उनकी प्रीति पुरानी, उन बिन पल न रहाऊँ" की ही पुष्टि करता है।

स्वप्न देखती है और विश्वास के आवेग भरे हृदय से कह उठती है—

"माई म्हाँ ने सुपने में परण गया जगदीश
सोती को सुपना आवि ज्योजी, सुपना विश्वावीस।"
"माई म्हाँ ने सुपने में परण गया गोपाल।
अंग अंग हल्दी में करी जी सुधे भी ज्यो गात
माई म्हाँ ने सुपने में परण गया दीना नाथ।"

कोई विश्वास करे या न करे, मीरा का विश्वास तो अटल है। बार-बार वह गा उठती है—

"सुपनें में म्हाने परण गया जी हो गया
अचल सुहाग।"

एक दिन मीरा के जीवन में ऐसा आता है जब वह देखती है कि उसका प्रेम-मार्ग अवरुद्ध है। वहाँ पति अपने सम्पूर्ण अधिकार दर्प से अपने प्रणय का दावा करता है। अधिकार के इस दावे पर मानों वह विवश होकर कह उठती है—

"राणा जी म्हाँरी प्रीति पुरवली मैं कांई करूँ"

राणा का अधिकार गर्व यहाँ अवश्य ही कुण्ठित हुआ होगा। उधर मीरा राज कुल की मर्यादा के विरुद्ध निर्बाध भाव से साधुओं का सत्संग भी करने लगीं—राज-मन्दिरों में जहाँ केवल श्री एक लिङ्ग के पूजन की परम्परा चल रही थी, वैष्णव जन के गान गूँजने लगे। मीराँ का मार्ग भला निर्बाध कैसे रहता? विवाह के अवसर पर ही गौरी-पूजन के विधान से मीरा की हठ पूर्ण असह मति "म्हाँने गुरु गोविन्द री आन गोरल का पूजाँ" सास की तथा अन्य परिजनों की विपत्ति का कारण बन गई। सास ऊँच-नीच समझाती है-"थे बेटी राठोड़ की थाँने राज दियो भगवान।" किन्तु मीराँ अपनी टेक नहीं छोड़ती यही नहीं जब वह सौभाग्य-सूचक आभूषण भी उतार कर कौषेय धारण करती है तब राणा पुनः मीराँ से उसकी इस उदासीनता के प्रति विद्रोह प्रकट करते हैं, तभी अपने प्रण में अटल मीराँ मानो सदर्प कह उठती है—

"हार सिंगार सभी ल्यो अपना चूड़ी कर की पटकी।
मेरा सुहाग अब मोकूँ दरसा औरन जाने घटकी ॥
महल किला राणा मोहि न चाहिये सारी रेशम पटकी
हुई दिवानी मीराँ डोले केस लटा सब छिटकी।"

क्या मीरा की यह उक्ति पति से भिन्न किसी अन्य पुरुष के प्रति हो सकती है ?

"चुनरी के लिए टूक-टूक ओढ़ लीन्ह लोई
मोती मूँगे उतार बन माला पोई।"

मीराँ की यह स्वच्छन्दता तथा हठ घर वालों की आँखों में काँटे सी खटकती है—सखियाँ निरन्तर समझाती हैं, ननंद ऊदा मीराँ से राजवधू के उपयुक्त वस्त्राभूषण पहनने तथा लौकिक एश्वर्य भोग का बार बार स्नेहाग्रह करती है। 'रत्न जड़ित पहिरो आभूषण भोगो भोग अपारी" पर वह आग्रह व्यर्थ सिद्ध होता है। तब ऊदा दूसरे प्रबल शस्त्र लोक निन्दा का भय दिखाती है। वह कहती है—

"भाभी मीरा लाजे लाजे गढ़ चित्तौड़
राणो जी लाजे गढ़ रा राजवी।"

तथा—

"भाभी मीरा लाजे लाजे प्यारा मायन बाप
पीहर लाजे जी कांशे मेड़ तो।"

पर ऊदा का यह अस्त्र भी व्यर्थ ही जाता है और तब मानों वह हताश होकर प्रश्न करती है—

बर पायो हिंदुवाणी सूरज, थैं काई मन धारी"

हे भावी! अब तो तुम हिन्दू कुल के सूर्य स्वरूप राणा को ही पति रूप में प्राप्त कर चुकीं; अब किस आकांक्षा से यह साधना कर रही हो? अर्थात् हिन्दू स्वरूप राणा से बढ़ कर नारी के लिए और कौन आदर्श वर हो सकता है।

किन्तु मीराँ कह उठती है—

"ऐसे बर को क्या बरूँ,
जो जनमै और मर जाय।
बर बरिये एक साँवरों जी,
'मेरो' चुड़लो अमर हो जाय।"

मीराँ पर जब समझाने बुझाने से कोई प्रभाव न पड़ा तब उस पर अत्याचार प्रारम्भ हुए। मीराँ के पदों में अनेक जगह विषाद मानो छलका पड़ा है—

"हेली म्हाँ सूँ हरि बिन रह्यो न जाय।
सासु लड़े मेरी ननद खिझावे,
राणा रह्यो रिसाय।
पहरो भी राख्यो, चौकी बिठायो,
ताला दियो जड़ाय।
पूर्व जन्म की प्रीति पुराणी,
सो क्यूँ छोड़ी जाय।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर,
और न आवे म्हारी दाय।"

"औरन आवै म्हाँरी दाय" मुझे तो गिरिधर नागर के अतिरिक्त और कोई पसन्द ही नहीं आता, अरे! मैं क्या करूँ?

यह विषादोक्ति पति के अतिरिक्त और किस की ओर लक्ष्य कर सकती है?

किन्तु अत्याचार का यहीं अन्त नहीं। मीराँ के प्रति राज परिवार में विद्रोह बढ़ता ही रहा। राणा का हृदय मीरां के प्रति अत्यन्त कठोर हो उठा। मीरां का साधुओं के मध्य बैठ कर भजन कीर्तन करना एक अक्षम्य अपराध था। किंवदन्तियों से तो यहाँ तक प्रकट है कि राणा तथा अन्य सम्बन्धी मीरां के चरित्र पर भी सन्देह करने लगे और एक बार स्वयं राणा तलवार लेकर मीरा का वध करने पहुँचे। किन्तु मीरां के पदों में इसकी उल्लेख नहीं। "सांप टिपारो" तथा "विष को प्यालो" का उल्लेख अवश्य मीरां ने अनेक बार किया है। संसार के इन प्रपञ्चों से, अत्याचारों से तथा ईर्षा द्वेष मुक्त मीरां कभी कभी तो मानों चकित होकर प्रश्न करती है—

"राणा जी के क्यां ने राखो म्हासूँ बैर।
के तो राणा जी म्हांने ऐसा लाग्यो
ज्यूँ ब्रच्छन में कैर।"

और कभी विरक्त हो कर कह उठती है—

"सीसोद्या रूठो तो म्हारो कांई कर लेसी।"

और कभी नहीं जन्म सहज करुणा से अभिभूत हो कह उठती है—

"राणा मो पर कोप्यौ रे रती न राख्यो मोद।
ले जाती बैकुँठमें यह तो समझ्यो नहीं सिसोद।"

इस उक्ति में हमें एक और संकेत मिलता है—भारतीय धर्म परम्परा के अनुसार पत्नी के पुण्य बल से पतित से पति के भी उद्धार के दृष्टान्त मिलते हैं। मीरां की यह उक्ति संभवतः इसी सिद्धान्त की ओर संकेत करती है।

मीरां के इसी प्रकार के और भी कितने ही पद हैं जहाँ मीरां ने राणा को सम्बोधन कर अपना हृदय मानों खोल कर रख दिया है।

मीरां के पदों में जिन राणा के प्रति सम्बोधन है वह मीराँ के देवर हैं या पति ? विद्वानों की सम्मति तो देवर के ही पक्ष में है किन्तु मीरां के पदों में व्याप्त ध्वनि से वह पति ही प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त मीरां ने जैसे अपने पदों में सास, ननद, सखियों आदि का उल्लेख किया है वैसे ही क्या वह देवर कह कर राणा को एक बार भी सम्बोधन नहीं कर सकती थी। पर मीरा ने ऐसा नहीं किया यह भी भारतीय नारी के पति के नाम न लेने की साधारण रीति के अनुकूल ही प्रतीत होता है। मीरां ने प्रत्येक स्थान पर "राणा" और "सीसोद्या" उपाधियों का ही प्रयोग किया है अतः यह "राणा" मीरां के पति ही प्रतीत होते हैं देवर नहीं।

मीरां का राणा से विवाह तो हुआ पर वह उन्हें पति रूप में कभी वरण न कर सकी। आर्य रमणी का पति तो एक ही हो सकता है और मीरां अपने पति का परिचय उन्मुक्त कंठ से देती है—

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई,
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।"

इसी भाव की यथार्थता हमें एक गुजराती पद में मिलती है जो मीरा की एक निष्ठा पर मानों सत्य की छाप लगा देती है—

"का तुडेन जाणी मोरी पीर बाइहुँ तो बाल कुंवारी।"*

मीराँ के इस पद में "बाल कुंवारी" शब्द का प्रयोग चिन्त्य है। यह प्रयोग मीराँ के आलोचकों को उनकी जीवन सम्बन्धी गुत्थी सुलझाने में सहायता दे सकता है। विवाहिता मीराँ अपने को "बाल-कुंवारी" कहती है। यह क्या अकारण हो सकता है ? मीराँ के स्वर में कहीं भी लोक-भावना का प्रतिबन्ध नहीं। उसने अपने विषय में जो कुछ भी कहा है वह कहीं रहस्यात्मक नहीं। अतः मीराँ को समझने के लिए हमें टेढ़े-मेढ़े मार्ग के अनुसरण की आवश्यकता नहीं। मीराँ का लौकिक-व्यक्ति से परिणय उसके जीवन पर कोई छाप न डाल सका।

"रैन अंधेरी विरह घेरी तारा गिणत निस जात।
लै कटारी कंठ चीरूं करूंगी अपघात।"

मीराँ का अस्तित्व लोकोत्तर है—अतः लौकिक दृष्टिकोण से मीराँ की जीवनी नहीं समझी जा सकती। विद्वानों की विचारावलि में मीराँ को 'राणा' की मीराँ का पति मानने में संकोच होने के दो ही व्यक्त कारण प्रतीत होते हैं—एक तो भारतीय नारी का पति की उपेक्षा कर अपना स्वतन्त्र मार्ग निर्धारित करने की धारणा से असहमति हो सकती है। यहाँ आलोचकों का दृष्टिकोण अत्यन्त ही, रूढ़िग्रस्त है। अतः उदार मत और निर्णय रूढ़िगत विचारों के ऊपर उठ नहीं पाते। शताब्दियों से भारतीय नारी का रूप पति की अनुवर्तिनी रहा है—उसे कोई धार्मिक स्वाधीनता नहीं, जीवन का कोई स्वतन्त्र पथ नहीं, पति से भिन्न उसकी कोई गति नहीं। अतः आलोचक यह कैसे सहलें कि वैष्णव-धर्म की ज्वलन्त प्रतीक, भारतीय महिलाओं का आदर्श मीराँ पति का विरोध कर अपना स्वतन्त्र मार्ग बनावे। भले ही वह मार्ग अध्यात्म और दर्शन के सिद्धान्तों पर ही अवलम्बित क्यों न हो ! एक मात्र ईश्वर तो पति ही है, पति की उपस्थिति में उसके किसी प्रतिद्वन्द्वी की संभावना भारतीय नारी जीवन

में संभव नहीं; चाहे वह प्रतिद्वन्द्वी अपार्थिव और लोकोत्तर ही क्यों न हो।

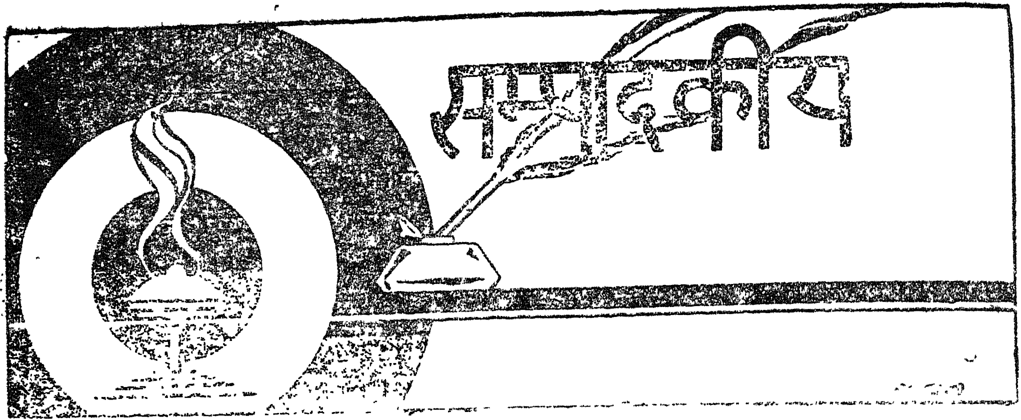
मीराँ के इस कल्पित वैधव्य का दूसरा कारण मीराँ के निर्धारित पति भोजराज की अल्पायु होना है। किन्तु मीराँ की जन्म-तिथि इतनी विवाद ग्रस्त है कि मीराँ के पति कौन थे यह निर्विवाद मानने में हमें संकोच होता है। मीराँ के सम्बन्ध में काल विस्तार इतना लम्बा हो जाता है कि सहसाही किसी तिथि पर विश्वास नहीं होता। और ग्रियर्सन की तिथियां आज मान्य नहीं, किन्तु स्वयं मीराँ के पदों में कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे सहसा ही किसी तिथि के सम्बन्ध में निश्चय करना कठिन हो जाता है। मीराँ के पदों में गुरु रैदास का नाम मिलता है, वैष्णव साहित्य में भी मीराँ रैदास की शिष्या मानी गई है; यद्यपि कुछ विद्वान वैष्णव भक्ति की प्रतीक मीराँ को निर्गुणियां रैदास की शिष्या नहीं मानते। इसके अतिरिक्त जन श्रुतियों और वैष्णव साहित्य में मीराँ के चैतन्य सम्प्रदायी जीव गोस्वामी से भेट का विस्तृत उल्लेख मिलता है। तुलसी की पत्रिका और अकबर तथा तानसेन की मीराँ से भेंट, मीराँ को १५ वीं शताब्दी से १७ वीं शताब्दी तक खींच लाती है। इन तीन शताब्दियों के दीर्घ काल में मीराँ का अस्तित्व सब में व्याप्त है; तब कैसे यह निर्भ्रान्त रूप सिद्ध किया जावे कि मीराँ की जन्म तिथि संवत् १५७३ है अथवा १५५५ से १६०३ तक। इन विरोधी मतों के मध्य यह ही कैसे निसंकोच घोषित कर दिया जावे कि मीराँ के पति कौन हैं। संभवतः इन्हीं अनिश्चित धारणाओं के कारण किसी अन्तिम निर्णय को न देकर गुजराती साहित्य के इतिहास लेखक श्री कावेरी कहते हैं—

"यह प्रश्न कि वह किस की पत्नी थी कोई महत्व नहीं रखता क्योंकि उसको अपने पति अथवा पति के परिवार वालों से कोई सहयोग न था।"

यदि इसी प्रकार का उदार दृष्टिकोण हिन्दी साहित्य के आलोचकों का भी होता तो कम से कम इस कल्पित वैधव्य की दुरूह धारणा से मीरां के पाठक अवश्य बच जाते। क्योंकि मीराँ के काव्य में जहाँ भी आत्म परिचयात्मक उक्तियाँ आती हैं वहाँ मीराँ का कल्पित वैधव्य उस सत्य के संहार के लिए मानो नंगी तलवार खींच कर दौड़ पड़ता है। मीराँ की आत्माभिव्यक्ति में हमें वह कसक मिलती है जो सदियों से नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के अपहरण के विरुद्ध मानों चीत्कार कर रही है। मीरा के स्वर में कहीं भी वैधव्य की ज्वाला नहीं, मृत पति की पुण्य और प्रिय स्मृति में एक भी करुण अश्रु बिन्दु का अर्घ्य कहीं भी नहीं। अतः मीराँ को वैधव्य जन्य ज्वाला से इस पवित्र प्रेम योग का विकास सम्भव नहीं क्योंकि मीराँ यदि वैधव्य की ज्वाला भूलने के लिए कृष्ण को अपना आराध्य बनाती तो इससे सहज उपाय सती प्रथा का पालन करने में ही उनके मार्ग में कौन सी बाधा हो सकती है? मीराँ मेवाड़ भूमि की, वीर क्षत्राणी थी। जिसके लिए जीवन और मृत्यु में कोई विशेष अन्तर नहीं। जौहर की अग्नि समाधि से सुपरिचित वीरांगनाओं के लिए पति की अग्नि शैया पर चिरशयन सुमन शैया पर सोने की सुकोमल और सुखकर कल्पना थी। फिर मीरां भला इस अग्निपथ से चलकर शीघ्रातिशीघ्र उस लोक में अपने प्रिय पति से अनन्त मिलन के लिए महायात्रा करने में क्यों कुंठित होती? पति के वियोग दुख को भूलने के लिए कृष्ण को अपनाने की भावना राजस्थान की सती रमणियों में प्रचलित नहीं। उन वीरांगनाओं के सम्मुख तो एक ही पथ प्रशस्त था और वह था अग्निपथ। आज की यह भावना कि किसी अभाव को भूलने के लिए भक्ति से मन बहलावे उस सुदूर काल की भावनाओं से मेल नहीं खाती। मीरां की कृष्ण-भक्ति में किसी अभाव को भूलने का भाव नहीं। वह तो सती की एक निष्ठा से अपने प्रियतम के रंग में आपाद मस्तक डूबी हुई समस्त लौकिक—अभावों से मुक्त प्रेम के सुरीले गीत गाती हुई अपने पथ पर बढ़ रही है—

"मैं अपने सैयाँ सँग साँची।
अब काहे की लाज सजनी॥
मरगट है नाची।"

— विद्यागुप्त



हिन्दी में अभिनन्दन-ग्रन्थ

अभी कुछ समय पूर्व ही श्री० नाथूरामजी प्रेमी को एक अभिनन्दन-ग्रन्थ टीकमगढ़ से भेंट किया गया है। यह एक स्तुत्य प्रयत्न है। यह पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की प्रेरणा और देखरेख तथा विद्वद्वर्य डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के परामर्श से प्रस्तुत हुआ है। चतुर्वेदीजी ने निवेदन में लिखा है :

"जो किसान खेत पर घोर परिश्रम करके अपने खून को पसीना बनाकर अन्न उत्पन्न करते हैं, जो मजदूर लोकोपयोगी धन्धों में अपना जीवन खपाते हुए भावी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिए अपनी शक्ति तथा समय को अर्पित करते हैं, जो ग्रामीण अध्यापक मगजपच्ची करके पचासों छात्रों को अक्षर-ज्ञान कराते हैं, जो बढ़ई अथवा लुहार जनता के नित्यप्रति काम आने वाली चीजें बनाते हैं, अथवा जो पत्रकार या लेखक नानाप्रकार के कष्टों को सहते हुए सर्वसाधारण को सात्विक मानसिक भोजन देते हैं वे सभी अपने-अपने ढङ्ग पर बन्दनीय हैं, अभिनन्दनीय हैं।"

हम इससे पूर्ण सहमत हैं। प्रेमी अभिनन्दन-ग्रन्थ कुशल व्यक्तियों के द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है। इसमें ७५१ बनिष्ठ छपे हुए पृष्ठ हैं, ३४ सुंदर चित्र हैं। ३५ निबन्ध प्रेमीजी के सम्बन्ध में हैं; १७ भाषा विज्ञान और हिन्दी-साहित्य पर हैं, १७ भारतीय संस्कृति, पुरातत्व और इतिहास पर, ७ जैनदर्शन पर, २१ संस्कृत, प्राकृत और जैन-साहित्य विषयक ८ मराठी और गुजराती साहित्य पर, ११ बुन्देलखण्ड सम्बन्धी, १२ समाज-सेवा और नारी-जगत पर, ६ विविध। इस प्रकार ग्रन्थ में अपने-अपने विषय के मान्य विद्वानों के द्वारा यह इतनी विशद और ज्ञानवर्द्धक सामग्री प्रस्तुत कर दी गयी है। साहित्य की किसी भी रूप में सेवा करने वाले व्यक्ति का यह अभिनन्दन निश्चय ही व्यक्ति का अभिनन्दन तो है ही, लोककल्याण का भी सुन्दर साधन है।

यथार्थ में हिन्दी में अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने की यह परिपाटी नयी नहीं है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (शोक आज वे स्वर्गीय हो चुके हैं!) को आरा नागरीप्रचारिणी सभा एक अभिनन्दन-ग्रन्थ बहुत पहले भेंट कर चुकी है। 'काशी नागरीप्रचारिणी' का 'द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ' आचार्य द्विवेदी के अभिनन्दन के उपलक्ष्य में अब तक एक आदर की वस्तु है। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य सम्मेलन महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द को अनुशीलन ग्रन्थ भेंट कर चुका है।

इधर हिन्दी के दो और महान साहित्य-सेवियों और साधकों के अभिनन्दन के लिए ग्रन्थ प्रस्तुत किये जा रहे हैं। ऐसा एक अयोजन काशी से वर्तमान युग के महाकवि निराला के अभिनन्दन के लिए प्रस्तुत हो रहा है। यह ग्रन्थ 'सरस्वती' के आकार के ५०० पृष्ठों में होगा। इस ग्रन्थ के द्वारा यह उद्योग किया जा रहा है कि नवयुग की 'साहित्यिक तथा सांस्कृतिक प्रगति का सर्वाङ्गीण विवेचन तथा विवरण' प्रस्तुत कर दिया जाय। इसके सम्पादक मण्डल में भी देश के उच्चकोटि के विद्वान सम्मिलित हैं, और शेष सभी हिन्दी जगत का इस अभिनन्दन में पूरा-पूरा सहयोग है। अवश्य ही यह अभिनन्दन-ग्रन्थ हिन्दी के आधुनिक युग से सम्बन्धित ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत कर सकेगा।

दूसरा आयोजन ब्रज-साहित्य-मण्डल के द्वारा हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्य-सेवी सेठ श्री कन्हैयालाल पोद्दार के अभिनन्दन के उपलक्ष्य में हो रहा है। इसकी रूपरेखा से विदित होता है कि यह अत्यन्त विशद होगा। सरस्वती के आकार के एक हजार पृष्ठों से अधिक पृष्ठ उसमें रहेंगे। इसका सम्पादक मण्डल भी उतना ही दृढ़ है और उच्च-कोटि के साहित्य और कला के मर्मज्ञ तथा विद्वान इसमें सम्मिलित हैं। यों इसमें संस्कृत साहित्य, हिन्दी साहित्य तथा मारवाड़ और मारवाड़ी साहित्य पर भी संग्रहणीय सामग्री रहेगी, किन्तु प्रकाशित रूपरेखा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह 'ब्रज का एक वृहत विश्वकोष' होगा। मण्डल का यह उद्योग भी प्रशंसनीय है। ब्रज का भारत के इतिहास में साहित्य, संस्कृति तथा कला सभी दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उसके सम्बन्ध में एक स्थान पर ही प्रायः समस्त मननीय सामग्री मिल सके तो बड़ा लाभ हो। हम आशा करते हैं कि मण्डल ऐसा ही उपयोगी अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रस्तुत करके सेठजी के अभि-नन्दन के बहाने साहित्य, इतिहास, संस्कृति और कला का यथार्थ उपकार करेगा। हम इन दोनों महान आयोजना की पूर्ण सफलता चाहते हैं। ये दोनों ही ग्रन्थ हिन्दी के साहित्य-भण्डार की अमूल्य मणियाँ बनें।

श्री 'हरि-औध' जी का स्वर्गवास

कवि सम्राट पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय जी द्विवेदी युग की सुसम्पन्न साहित्यिक विभूतियों में से थे। उन्होंने ऐसे समय में जबकि खड़ी बोली की लोग हंसी उड़ाया करते थे कि न उसमें साहित्यिक-प्रतिष्ठा है और न उसने साहित्य को कोई स्थायी सम्पत्ति-प्रदान की, अपना प्रिय-प्रवास संस्कृत छंदों में लिखकर खड़ी बोली का मान बढ़ाया। यद्यपि संस्कृत छंद लिखे रहीम आदि अन्य कवियों ने भी तथापि हिन्दी में संस्कृत छन्दों के प्रयोग की सम्भावना को उन्होंने ही विकसित किया था और कृष्ण-काव्य को आज कल की भावनाओं के अनुकूल एक नया रूप प्रदान किया था। उपाध्याय जी केवल "रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेश बिम्बानना' की सी संस्कृत-गर्भित भाषा लिखने में ही सिद्ध हस्त नहीं थे वरन् उन्होंने बोलचाल की मुहावरेदार भाषा लिखने में भी कमाल हासिल किया था। रीतिकालीन परम्परा में उन्होंने रस कलश लिखा। उसकी भूमिका में उसका गद्यमय पाण्डित्य पूर्ण विवेचन हुआ है, वह उनके शास्त्रीय पाण्डित्य का परिचय है। उनके पटना विश्व-विद्यालय में दिये हुए व्याख्यान उनके भाषा शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान तथा ऐतिहासिक खोज की प्रवृत्ति के द्योतक हैं। उपाध्याय जी ने हिन्दी काव्य के किसी विधा को अछूता नहीं छोड़ा और जिस विधा को छुआ उस में अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया यद्यपि आप पूर्ण आयु को पहुँच चुके थे तथापि उनका जीवित रहना हिन्दी के लिए गौरव की वस्तु थी। हिन्दी में प्राचीन पाण्डित्य की परम्परा अब मिटती सी जा रही है। उपाध्याय जी के स्वर्गवास से जो हिन्दी को क्षति पहुँची है उसकी पूर्ति सहज नहीं है। ईश्वर दिवङ्गत आत्मा को शान्ति प्रदान करे तथा उनके परिवार के लोगों को इस क्षति के सहन करने की शक्ति प्रदान करे।



समालोचना

साहित्य—लेखक—श्री शिवनारायण शर्मा, बी॰ ए॰ (आनर्स) साहित्यभूषण; प्रकाशक—पाटलिपुत्र प्रकाशन पटना सिटी। मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक में साहित्य के विविध अङ्गों पर विवेचन है और साथ ही उन अङ्गों का क्रम विकाश भी दिया है। यह पुस्तक किसी वाद या पक्ष विशेष को लेकर नहीं लिखी गई है किन्तु इसका उद्देश्य विद्यार्थियों को साहित्य की विभिन्न विधाओं के सम्बन्ध में प्रचलित और मान्य ज्ञान से परिचय करा देना प्रतीत होता है। यद्यपि इस में भारतीय और पाश्चात्य दोनों सिद्धान्तों का समावेश हुआ है तथापि यह पाश्चात्य सिद्धान्तों से कुछ अधिक प्रभावित प्रतीत होती है। जैसे गीत काव्य के ही विभाजन में ओड इलेजी आदि पर अधिक विवेचन है, पद साहित्य पर कम। कहानी, उपन्यास, इत्यादि तो पाश्चात्य देशों की देन है ही, उसमें टेकनीक भी प्रायः पाश्चात्य होगा ही, उसके लिए पाश्चात्य का सहारा ढूँढना किसी को आपत्ति जनक नहीं हो सकता। साहित्यिक विधाओं के विकास का विवेचन सरल और मार्मिक है किन्तु उसमें दोष केवल इतना ही है कि अखीर में आकर यह विवेचन कुछ चलता सा हो जाता है और इसे अद्यतन बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। जितना है उतना बहुत अच्छा है। लेखक ने रस निष्पत्ति जैसे विषय को काफी सरल बना दिया है। पुस्तक साहित्य के विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोग भी सिद्ध होगी।

साहित्यिक निबन्धावली—सम्पादक—डा॰ धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी एम॰ ए॰ पी॰ एच॰ डी॰ तथा प्रो॰ देवेन्द्रनाथ शर्मा साहित्याचार्य; प्रकाशक—ग्रन्थ माला कार्यालय पटना कालेज। मूल्य ३॥)

बिहार प्रान्त अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए हिन्दी भाषा को अपनाये हुए हैं और उस प्रान्त में साहित्यिक चिन्तन भी काफी हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक में उसी साहित्यिक चिन्तन का दिग्दर्शन हुआ है। इसमें बिहारी के विभिन्न विद्वानों के साहित्यिक धाराओं के विभिन्न पक्षों पर तेरह लेख संग्रहीत है। ऐसे संग्रहों में न तो सब लेख एक ही धरातल के हो सकते है और न उनमें अन्विति ही हो सकती है। फिर भी जो लेख हैं उनमें साहित्यिक विवेचन पर्याप्त ईमानदारी से किया गया है और प्राय सभी तरह के पक्षों का प्रतिनिधित्व हुआ है।

डाक्टर देवराजजी के साहित्य के प्रयोजन में काव्य के उद्देश्यों और क्षेत्र का कुछ दार्शनिकता के साथ विवेचन हुआ है। लेखक की दृष्टि बाह्य और वस्तुगत अवश्य है किन्तु उन्होंने जीवन को उसकी सम्पूर्णता में लिया है—जीवन से आँख बचाकर नहीं, जीवन को उसकी पूर्णता में रागात्मक निरीक्षण और अनुभूति का विषय बनाकर ही कलाकार अपने काम को पूर्णतया सम्पादित कर सकता है

डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्रीजी न निर्गुण भावना का दार्शनिक आधार सांख्य के प्रकृति पुरुष में माना है और रहस्यवाद का उद्गम स्थान वेदों में दिखाया है। सूर और तुलसी की सगुण निर्गुण ऐक्य की भावना की जड़ें श्रीमद्भागवत में दिखाई हैं। लेख विशेष ज्ञान वर्द्धक है।

श्रीमती विद्यावती गुप्त ने बड़ी सहृदयता के साथ तुलसी चित्रित नारी भावना पर विचार किया है। उन्होंने

तुलसी को अधिक दोषी नहीं ठहराया है। प्रो० जगन्नाथ शर्मा ने सूर की भक्ति भावना और दर्शन में यह सिद्ध किया है कि मूलतः सूरदासजी ने वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग को ही स्वीकार किया है किन्तु वे सम्प्रदाय के घेरे में बँधे नहीं है वे भी तुलसी की भाँति समन्वय वादी थे। प्रोफेसर विश्वनाथ प्रसादजी ने भारतेन्दु की कला में बतलाया है कि भारतेन्दुजी जहाँ प्राचीन साहित्य की सृष्टि थे वहाँ नवीन साहित्य के सृष्टा भी थे। प्रो० नवल किशोर गौड़ ने छाया वाद की शव परीक्षा के बहाने उसका वास्तविक मूल्याङ्कन किया है। ऐसे सहृदयता पूर्ण विश्लेषण को शव परीक्षा कहना शब्दों का कुछ दुरुपयोग सा प्रतीत होता है। श्री शिववालकराम ने प्रगतिवाद की रूप रेखा अङ्कित की है किन्तु वे साम्प्रदायिक प्रगतिवादी नहीं मालूम पड़ते हैं। उनके मत से साम्प्रदायिक प्रगतिवाद अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है। प्रो० वेणीमाधव मिश्र ने सामयिक हिन्दी काव्य पर एक दृष्टि डाली है। इस विवेचन में उन्होंने भारतीय संस्कृति प्रधान राष्ट्रीयता का पक्ष लिया है। प्रो० केशरी-कुमारसिंह भी विगत महायुद्ध और हिन्दी साहित्य शीर्षक लेख में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्य के कलात्मक निर्माण के लिए न तो जर्मनी से फतवा आ सकता है और न रूस से फरमान। उसकी मृत्तिका तो कलाकार की आत्मा में पड़ी है। श्री केदारनाथ मिश्र भी हिन्दी कविता के वर्तमान और भविष्य में इसी स्वर में बोल रहे हैं। प्रो० दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी ने पाश्चात्य साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियाँ बतलाई हैं और उनकी यत्र-तत्र हिन्दी साहित्य में छाया भी दिखाई है। प्रो० विश्वनाथप्रसादसिंह वर्मा ने अपने लेख में (भगवान बुद्ध का रहस्यवाद) भगवान बुद्ध को न तो पुद्गलवादी (Maeritalistic monist) माना है और न न्याय वैशेषिक का सा आत्मवादी। उनकी अविद्या से मुक्त स्थिति को माण्डूक्य उपनिषद की रहस्यमयी तर्कातीत प्रज्ञावस्था से सम्बद्ध किया है। पुस्तक के सभी लेख लेखकों की सहृदयता और गम्भीर अध्ययन का परिचय देते हैं।

मैथिल कोकिल विद्यापति की पदावली—सम्पादक, शम्भूप्रसाद बहुगुना एम० ए० प्रकाशक—एजूकेशनेल पबलिशिंग कम्पनी, कैसरबाग लखनऊ मूल्य २) पृष्ठ संख्या, भूमिका ७१ + पाठ और टीका ७५ = १४६

गीत काव्य में विद्यापति का एक विशेष स्थान है उनको गीत काव्य के जनक जयदेव का सीधा उत्तराधिकार मिला है, इसी लिए वे अभिनव जयदेव की पदवी से विभूषित किये गये थे। विद्यापति के मार्मिक पदों का यह संग्रह विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोग की वस्तु है क्योंकि इस में प्रत्येक पद की पूरी टीका दी गई है। अन्य सहृदय लोग भी इसके सहारे विद्यापति का रसास्वाद कर सकते हैं।

इसकी भूमिका में पदावली के भाव पक्ष की आलोचना के साथ दो प्रश्न पर विशेष प्रकाश डाला गया है। लेखक महोदय ने उपयुक्त उदाहरणों से इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मैथिल भाषा बङ्गाली की अपेक्षा पूर्वी हिन्दी के अधिक निकट है। दूसरी बात यह है कि बहुगुना जी ने विद्यापति ठाकुर को भक्त और रहस्यवादी कवि की अपेक्षा शृङ्गारी अधिक माना। उनको यदि भक्ति थी तो शिवजी की। राधा माधव की नहीं। राधा माधव की भक्ति के जो पद हैं वे वृद्धावस्था के लिखे हुए मालूम पड़ते हैं। फिर भी वे रीतिकाल के शृङ्गारिक कवियों से विद्यापति को भिन्न मानते हैं। उन्होंने जीवन का उल्लास देखा था और उसको सजीव रूपमें चित्रित किया था। लेखक की यह बात भी ठीक है कि विद्यापति ने अपने आश्रय दाता की प्रसन्नता के लिए लिखा, किन्तु लेखक के साथ इस बात में सहमत होने में थोड़ी हिचकिचाहट होती है कि जयदेव के केवल "यदि हरि स्मरणे सरसं मनः" के लिख देने से वे भक्त हो गये और इसके न लिखने से विद्यापति शृङ्गारिक रहे। जयदेव शिव भक्त थे किन्तु उनकी शृङ्गारिक भावना ने उनकी शिव भक्ति को दबा लिया। उन्होंने कुचों की उपमा शिव से दी। हमको इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दू धर्म में पालित पोषित होने के कारण वे कृष्ण का अलौकिकत्व और नारायणत्व मानते थे। कृष्ण उनके इष्ट न थे। कृष्ण का सौन्दर्य पक्ष उनके हृदय में कुछ अधिक प्रबल हो गया था और वे शृङ्गारिक भावनाओं में

वह गये। उन्होंने राधा कृष्ण का शृङ्गार इसी प्रकार वर्णन किया जिस प्रकार कालिदास ने शिव पार्वती का। कौन कह सकता है कि कालिदास शिवपार्वती के भक्त न थे। बहुगुनाजी ने जो लिखा वह भी एक पक्ष है।

कहानी

माटी की मूरतें—लेखक-श्री रामवृक्ष बेनीपुरी; प्रका० पुस्तक भंडार लहेरिया सराय, पटना। पृष्ट सं० १०४ मू० १)

इस पुस्तक में ग्रामीण जीवन के ग्यारह चित्र हैं। बुधिया, बलदेवसिंह, सरजू भैया, भौजी आदि किसी कथा के कल्पित पात्र नहीं, वे ऐसे नायक हैं जिनका लेखक से सम्पर्क और सम्बन्ध रहा है। जिनके जीवन कृत्य जो इस पुस्तक में अंकित हैं, लेखक की आंखों के सामने गुजरे हैं। इसलिये ये कल्पना चित्र नहीं, जीवन चित्र हैं। व्यक्ति का चित्र खींचते हुये लेखक देहाती समाज की सामयिक अवस्था का फोटू भी सामने ला देता है। देहाती जीवन के सम्बंध में अब तक भिन्न भिन्न लेखकों द्वारा जो कुछ चर्चा हुई है उसमें कल्पना, अनुमान और सहानुभूति की मात्रा ही अधिक पाई जाती है। बेनीपुरीजी के इन चित्रों में उस कठोर सत्य की झाँकी मिलेगी जो सौ फीसदी देहात की जिन्दगी है। तिस पर भी उसमें रूखापन नहीं है, सामाजिक दृष्टि कोण से इन जीवन चित्रों का मूल्य किसी युग पुरुष के जीवन चरित्र से कम नहीं है?

हमारे अमर नायक—लेखक-श्री प्रेमनरायन टंडन, प्रका०—विद्या मंदिर रानी कटरा लखनऊ। पृ. सं० ८० मू० ।।।)

उत्तर रामचरित, कादम्बरी, नागानंद, मृच्छ कटिक शकुन्तला, रघुवंश तथा सत्य हरिश्चन्द नाटक के क्रमशः राम, चन्द्रापीड़, जीमूत बाहन, चारुदत्त, दुष्यन्त, रघु और हरिश्चंद्र नायक हैं। इन नायकों का चरित्र चित्रण इस पुस्तक में दिया गया है। मूल पुस्तक में नाटक का जैसा चरित्र चित्रण है, उसी का सरल, सुबोध, सार-अनुवाद पुस्तक में है। जो एक स्वतंत्र रोचक कथा सी बन गई है। पाठकों को मनोरंजन के साथ उससे ज्ञान लाभ भी होगा।

जीवनियां

राष्ट्रपति कृपलानी—लेखक-श्री. कौशल प्रसाद जैन; प्रका—इन्द्र प्रस्थ विद्या पीठ देहली। मूल्य ।—) पृ. सं० ३२

राष्ट्रपति आचार्य जे० पी० कृपलानी की यह संक्षिप्त जीवनी है। कॉंग्रेस के अंदर उनके मुख्य मुख्य कार्यों का जो प्रकाश में आचुके हैं, यह पुस्तक परिचय देती है।

पं० जवाहरलाल नेहरू—लेखक—श्री कौशल-प्रसाद जैन; प्रकाशक—इन्द्रप्रस्थ विद्यापीठ, दिल्ली। पृ. सं० ५२ मूल्य ॥)

पं जवाहरलाल नेहरू की संक्षिप्त जीवनियाँ भी कई निकल चुकी हैं। यह पुस्तक उन्हीं का अनुकरण मात्र है। उनके उत्तर कालीन जीवन पर नाम मात्र का ही प्रकाश डाला गया है।

महामना पं० मदनमोहन मालवीय—लेखक-श्री कौशल प्रसाद जैन; प्रका; इन्द्रप्रस्थ विद्यापीठ दिल्ली। पृ; सं० ४८ मू० ।।)

स्वर्गीय महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी के जीवन का परिचय।

छत्रपति शिवाजी—ले०-स्व० लाला लाजपतराय, प्रकाशक—जय भारत सा० प्रे० दिल्ली। पृ; सं० १६७ मू० १।।)

स्वर्गीय लाला लाजपतिराय जी की लेखनी से निसृत यह महाराष्ट्र केशरी शिवाजी का जीवन चरित्र है। ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर लिखी गई यह जीवनी हिन्दू जाति में अपने पूर्वजों की कीर्ति, साहस और बलिदान के भाव भरेगी और आज के युग के लिये उन्हें कर्मरत, वीर और नीतिज्ञ बनने की प्रेरणा देगी। मनोरंजन के साथ पढ़ते हुये इस पुस्तक से पाठक लाभ उठायेंगे।

राजनैतिक

५४ वां कांग्रेस अधिवेशन—लेखक-श्री कौशलप्रसाद जैन, प्रका०—आर्य पुस्तक भण्डार दिल्ली। मू० १) पृ. सं० ६६

मेरठ कांग्रेस अधिवेशन का संक्षिप्त हाल इस पुस्तक में आगया है। शुरू में मेरठ का ऐतिहासिक परिचय भी दिया गया है। कांग्रेस के प्रस्ताव और मुख्य भाषणों का खुलासा भी पुस्तक में दिया गया। पुस्तक जल्दी में तैयार की गई है, इसकी झांकी उसके बाह्य रंग रूप में मिलती है।

पं० जवाहरलाल नेहरू के प्रमुख भाषण—संकलन-कर्ता-श्री कौशल प्रसाद जैन, प्रका०—इन्द्र प्रस्थ विद्यापीठ दिल्ली। मू० ।।) पृ. सं० ५२

पं० जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रपति के रूप में ही अंतःकालीन सरकार में शामिल हुये थे। इस स्थिति में उन्होंने समय समय पर जो भाषण दिये, उनमें से कुछ खास भाषण मुख्यतः इस संग्रह में संगृहीत हैं। पुस्तक की छपाई अच्छी नहीं है।

हमारे राष्ट्रपति और उनके भाषण—संग्रहकार-श्री कौशल प्रसाद जैन, प्रका-इन्द्रप्रस्थ विद्यापीठ देहली। मू० १।) पृ० १०८

इस पुस्तक के प्रायः आधे पृष्ठों में पं० जवाहरलाल नेहरू के कुछ भाषण और आधे पृष्ठों में उनकी संक्षिप्त जीवनी दी गई है। इस प्रकार 'पं० जवाहरलाल नेहरू' और 'पं० जवाहरलाल नेहरू के प्रमुख भाषण' नामक पुस्तिकाओं को मिलाकर यह एक और पुस्तक तैयार करली गई है।

अगस्त आन्दोलन के क्रांतिकारी—लेखक-श्री कौशल प्रसाद जैन, प्रका-आर्य पुस्तक भंडार दिल्ली। मू० १) पृ. सं० ७६

इस पुस्तक में अगस्त १९४२ के आन्दोलन में नाम पाये हुये विशेषतः श्री जयप्रकाशनारायण, श्री राममनोहर लोहिया, श्री अच्युत पटवर्धन और श्री अरुणा-आसफ अली का जीवन परिचय दिया गया है। ऐसी ही एक पुस्तक 'अगस्त क्रांति के विद्रोहीनेता' नाम से दिल्ली से ही और भी निकल चुकी है। फिर दोनों लेखकों ने किसने किसकी नकल की है? प्रतीत होता है कि 'क्रान्तिकारी' 'विद्रोहीनेता' का अनुकरण है। विषय में ही नहीं मैटर में भी।

बालोपयोगी।

अँगूठी का मुकदमा—लेखक-श्री सुदर्शन; प्रका०—बोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स कालबा देवी रोड बम्बई मू० १) पृ. सं० ६३

बालकों के लिये दस कहानियां इस पुस्तक में दी गई है। कहानियां कुछ तो पुरानी हैं जिनको लेखक ने नया रूप देकर बालकों के लिये उपयोगी बनाया है, कुछ कही-सुनी बातों के आधार पर गढ़ी गई हैं। बालपयोगी कहानियां कई पहलुओं से लिखी जाती हैं। कोई मनोरंजन प्रधान होती है तो कोई शिक्षा प्रधान तथा कोई ज्ञान वर्धक। इस संग्रह में हर तरह की कहानियों से लेखक ने बालकों के लिए शिक्षा ग्रहण का उपदेश दिया है। पुस्तक की भाषा सरल और मँजी हुई है। चौथी कक्षा से ऊपर के विद्यार्थी इन कहानियों को पढ़ेंगे।

विजय किसकी—लेखिका-श्री० शकुन्तला पाठक; प्रका-हिन्दी मन्दिर प्रकाशन प्रयाग। मू० ।।।) पृ. सं० ६६

प्रसिद्ध नीति ग्रंथ 'हितोपदेश' की कहानियां इस पुस्तक में संगृहीत हैं। जिनको नये ढंग से लिखकर छोटे छोटे बालकों के लिये उपयोगी बनाया गया है। जंगल के पशु पक्षियों की इन कहानियों को छोटे बालक चाव से पढ़ेंगे और उनको शिक्षा भी मिलेगी।

विविध।

बंगाल में हिन्दू संस्कृति के नाश का प्रयत्न—संकलन-कर्ता- श्री कौशलप्रसाद जैन, प्रका-आर्य पुस्तक भंडार दिल्ली। मू० ।।) पृ. सं० ५४

बंगाल के नोआखाली काण्ड की देश में जो प्रतिक्रिया हुई उसका परिचय इस पुस्तक में दिया गया है। नोआखाली काण्ड पर देश के प्रमुख व्यक्तियों ने जो वक्तव्य दिये तथा कांग्रेस ने जो प्रस्ताव पास किया वह इस पुस्तक में संगृहीत है। उसके साथ जहां तहां लेखक ने अपनी टिप्पणियां भी करदी हैं, जिनमें राष्ट्रीय और हिन्दू महा सभावादी दोनों दृष्टिकोण शामिल हैं।

क्या बिहार काण्ड के लिये हिन्दू जिम्मेदार हैं—लेखक श्री कौशलप्रसाद जैन; प्रका०—आर्य पुस्तक-भंडार, दिल्ली। मू० ।।) पृ. सं० ४२

नोआखाली काण्ड की प्रति क्रिया बिहार में हुई और बिहार की प्रतिक्रिया जैसी देश में हुई उसका वर्णन इस पुस्तिका में है। पुस्तक तैयार करने का लेखक का तरीका बड़ा आसान है। देश में हुई किसी विशेष घटना पर नेताओं के वक्तव्यों को इकट्ठा कर दिया, कुछ नमक मिर्च मिलाकर पुस्तक तैयार हो गई। व्यवसायिक दृष्टि से यह चीज भली है पर वह साहित्य नहीं कही जा सकती। विशेषकर उस दशा में जहाँ पुस्तक की छपाई, सफाई, प्रूफ आदि में अनगिनती दोष भरे हुए हों। लेखक के विचारों की अनिश्चितता का तो जिकर ही क्या?

सेक्स से सुख और जीवन—श्री मन्मथनाथ गुप्त; प्रका०—किताबमहल इलाहाबाद। मू० २॥) पृ. सं० १७२

प्रस्तुत पुस्तक में दाम्पत्ति जीवन के योनि सम्बंधों पर लेखक ने विशद चर्चा की है। इस सम्बन्ध में पाश्चात जगत बहुत आगे बढ़ चुका है। पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष की ओर स्वाभाविक आकर्षण प्रणय के रूप में परिवर्तित होता है। योनि समागम के साथ उसकी निष्पत्ति होती है। कामेच्छा शारीरिक तत्वों की एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रगट होती है अथवा प्राणधारियों में वह नैसर्गिक, उसके प्रत्येक व्यापार की प्रेरक शक्ति है, यह दो मत पश्चिमी दार्शनिकों में प्रबल रहे हैं। इस दूसरी प्रवृत्ति के जन्मदाता फ्रायड हैं और पहले मत के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स। लेखक ने अपनी पुस्तक के प्रारंभ में दोनों विद्वानों के मत की चर्चा की है और मार्क्स के मत के विपरीत फ्राइड के कई सिद्धान्तों की आलोचना भी की है।

पश्चिमी विद्वानों के विचारों का मन्थन करते हुए आपने बतलाया है कि स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध केवल प्रजनन के लिए ही नहीं होता, सुख या आनन्द की निष्पत्ति उसका अनिवार्य अंग है। आगे लेखक ने काम-कला सम्बन्धी बातें भी बतलाई हैं जिसमें कहीं-कहीं ऐसे वाक्यों का प्रयोग हुआ है, जिन्हें बाजारू लोग ही प्रयोग कर सकते हैं। हमारे साहित्य में इस विषय पर इस ढङ्ग से लिखने का यह प्रयास प्रारम्भिक ही है अतः कुछ व्यक्तियों को पुस्तक में अश्लीलपन की गन्ध आवे पर सचाई और वस्तुस्थिति का स्पष्ट चित्रण करने वाले इतनी जोखों उठा सकते हैं।

मासिक साहित्य

जनवाणी—सम्पादक—आचार्य नरेन्द्रदेव आदि। प्रकाशक—काशी विद्यापीठ बनारस कैंट। मू० ८) वार्षिक, पृ० सं० ८०

हमारे मासिक साहित्य में 'जनवाणी' का उद्भव एक विशेष उद्देश्य को लेकर हुआ है। पत्रिका 'समाजवादी दल' (कांग्रेस) के उद्देश्य और नीति की पोषक है। उसके राजनैतिक लेख गम्भीर और मननशील होते हैं। समाजवादी विचार धारा के बुद्धिजीवी लेखकों की रचनाएँ इस पत्रिका द्वारा इच्छुक पाठकों को पढ़ने के लिये मिलेंगी। इस प्रकार 'जनवाणी' का प्रकाशन राजनैतिक व्यक्तियों की एक आवश्यता की पूर्ति करेगा और संक्रांति काल के भारत को समाजवादी लक्ष्य की ओर अग्रसर होने में सहायक सिद्ध होगी। उसके विद्वान सम्पादकों से यह आशा की जासकती है कि वे दल गत राजनीति के उथले वादविवाद से ऊपर रह कर पत्रिका का दृष्टिकोण गम्भीर और व्यापक रखेंगे।

सन् १९४६-४७ की हिन्दी की नई पुस्तकें

साहित्य और अलोचना

सिद्धान्त और अध्ययन—
बा० गुलाबराय एम० ए० ३।)
विद्यापति की पदावली—शंभुप्रसाद बहुगुणा २)
सूरदासःएक अध्ययन—रामरतन भटनागर २॥)
हिन्दी प्रयोग—रामचन्द्र वर्मा ३।)
साहित्य और जीवन—बनारसीदास चतुर्वेदी ।)
हिन्दी कलाकार—इन्द्रनाथ मदान ५)
कोविद निबंध—श्रीनरायण चतुर्वेदी १।=)
राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज—
मोतीलाल मैनारिया ३)
हिन्दीसाहित्य का परिचय—
डा० सी० बी० लाल गुप्त १)
साहित्य परिचय—प्रेमनरायण टण्डन २)
गोदानःएक अध्ययन—प्रेमनरायण टण्डन १॥।)
साहित्य निबंधावली—
डा० धर्मेन्द्र, प्रो० देवेन्द्र ३॥।)
हिन्दी लोक गीत—राम किशोरी श्रीवास्तव १॥।)
हिन्दी में निबन्ध साहित्य—
जनार्दनस्वरूप अग्रवाल १॥)
हिन्दी रचना और उसके अङ्ग—
प्रेमनारायण टण्डन २)
बात चीत—आनन्दकुमार १)
गद्य चन्द्रिका—बुद्धिनाथ शर्मा १=)
साहित्य की वर्तमान धारा—
जगन्नाथप्रसाद मिश्र १॥।)
तुलसीसाहित्य की भूमिका—
रामरतन भटनागर २)
गीता दर्शन की पृष्ठ भूमि—सत्यदेवशास्त्री १॥)
प्रसाद साहित्य—परमानन्द शर्मा २)
साहित्य—शिवनारायण शर्मा ३)
प्रगतिवाद—शिवदान सिंह चौहान ६)
जवाहर गद्य गीत—चन्द्रसेन शास्त्री ॥।)
कामायिनी का विवेचन—
व्रजभूषण शर्मा एम० ए० १)
सूरदास—व्रजेश्वर वर्मा २॥)
उर्दू के अदीब—श्रीपद्मजोशी १॥)
प्रेमचन्द : उनकी कहानी कला—प्रो० सत्येन्द्र ३)
तुलसीदास एक अध्ययन—रामरतन भटनागर २॥)
कबीर ,, ,, २॥)
कविप्रसाद ,, ,, २॥)
नंददास ,, ,, २॥)
शरदचन्द ,, ,, मन्मथनाथ गुप्त ३)
प्रगतिवाद की रूपरेखा—श्री शिवचन्द्र ४)
हमारे अमर नायक—प्रेमनरायन् टण्डन ॥।)
निर्मलाःएक अध्ययन ॥=)

कविता

इत्यलम—'अज्ञेय' ४)
प्रतिध्वनि—'त्यागी' २)
कालदहन—केदारनाथ एम० ए० १)
नवीन—गोपालसिंह नेपाली २)
मानसी—उदयशंकर भट्ट २)
अपने पथपर—शिशुपालसिंह 'शिशु' १)
नयेपत्ते—निराला २)
गाँधी आश्रम की प्रार्थना—'संकलन' ।)
फांसी—रघुवीरशरण मिश्र ३)
वल्लरी—शेखर १)
छत्रसाल शतक—रेवतसिंह ।=)
मिट्टी की दुनिया—महेशचरण जौहरी १॥)
हलाहल—बच्चन २॥)
आहुति—तन्मय बुखारिया १)
पाकिस्तान— ,, ,, २)
वीरगान—शिवनन्दन कपूर ॥)
अरुणिमा—युगलकिशोर पटैरिया १।)
मिट्टी की ओर—'दिनकर' ४)

उपन्यास

वैम्पायर—अजीमबेग चगताई १||)
विकृत छाया—गुरुदत्त ४|)
विक्रमादित्य—शुकदेवबिहारी मिश्र ५)
सर्द-छाया—द्वारिकाप्रसाद |||)
सुमंगला—वैनीप्रसाद वाजपेयी २||
श्रीमतीजी—शिक्षार्थी २.
राजसी कलाकार—सीतेश १)
कँटीले तार—रामशरन शर्मा १)
गृहयुद्ध—मनमथनाथ गुप्त ३|)
तीन उपन्यास—शरतचन्द्र २|)

कहानियाँ

अधूरी साधना—अविनाश कुमार १||)
अंजुलिनी—स० न० कुलश्रेष्ठ
अमर ज्योति—निशीथ कुमार राय १)
अमरों की बस्ती में—मुरलीधर सारस्वत १|)
अष्टदल—सावित्री कपूर, शशि अरोरा २)
इनकिलाब—पुष्पा भारती २)
ईश्वर : ऐतिहासिक विकास—नरसिंह जोशी १)
कर्मयोग—मोहन शर्मा १|||)
क्रान्ति और कुमारियाँ २)
गौरव मुकुट—रामचन्द्र शर्मा २)
चिर समाधि—अनंत १|||)
चलते चित्र—शिव चन्द्र १||)
चन्द्रमित्रा— २||)
चवन्नी वाले—संतोष नरायन नौटियाल १||
जुगनू—श्री मन्नारायण ३)
जवानी का नशा—नलिन २|)
जातक भाग—भदन्त आनन्द कौ० १०)
डा० कोटनीस—राजेश्वर गुप्त १)
तूफानों के बीच—रांगेय राघव १)
तूफान (संग्रह) २)
दलेमले फूल—बिजली १||)
देवदासी—रांगेय राघव १||)
धरोहर—होमवती १|||)
नरक का कीड़ा—अरुण १||)
नया आलोक: नई छाया—विराज २)
नव प्रसून—यशपाल जैन १)
नयन तारा—श्री नाथसिंह १||)
पगडंडियाँ—राजेन्द्र सक्सेना १)
प्रगति और प्यार—वीरेन्द्र २)
पुकार—कमला त्रिवेणी २||)
सुख की खोज—स्वा० सत्यभक्त १)
किससे क्या सीखें—कृष्णगोपाल माथुर २)
बाहर भीतर—नरोत्तमदास नरेन्द्र १|)
भस्मा व्रत चिनगारी—यशपाल १||)
मुर्दों का गाँव—धर्मवीर भारतीय |||)
मंज़िल—भैरव प्रसाद गुप्त २)
मालिनियाँ—राजनरायन शर्मा १||)
मानसरोवर भाग ५—प्रेमचन्द ३)
माटी की मूरतें—रामवृक्ष बेनीपुरी ३)
यात्रा—कमला चौधरी २||)
युग चित्र—लक्ष्मीधर वाजपेयी २||)
रामलीला—राधा कृष्ण १|||)
राजस्थान रमणीरत्न १|)
रोटी का टुकड़ा—शिव नरायन १|)
राशनकार्ड—महावीर शुक्ल १)
लेफिटीनेन्ट—अजीमबेग चगताई १|||)
वे चेहरे—शम्भुनाथ सक्सेना १)
स्नेहदान—प्रो० हरीशंकर १|)
हंसों की रानी— १)

नाटक

कालदहन—केदारनाथ १)
तिरङ्गा झंडा—'विराज' १|)
विक्रमार्चन—डा० रामकुमार वर्मा, सत्येन्द्र आदि २)
प्रेम या पाप—सेठ गोविन्ददास १)
मीरा—गोकुलचन्द शास्त्री १||)
मुकुट—वात्सायन १)

राधाकृष्ण—चतुरसेन शास्त्री ।॥)
संकल्प—प्रेमनरायन टंडन १।)
सन्तोष कहाँ—सेठ गोविन्ददास १॥)
सोहागदान—शिवकुमार ओझा ॥=)
शिवाजी—डा० रामकुमार वर्मा १)
भोर का तारा—जगदीशचन्द्र माथुर १॥)
सर्प दर्शन—गणेशचन्द्र जोशी १)

इतिहास

ग्वालियर राज्य में प्राचीन मूर्तिकला—
हरहिर निवास दुबे १०)
विजयनगर साम्राज्य का इतिहास—
वासुदेव उपाध्याय १)
विक्रम स्मृति ग्रन्थ— ३०)
सम्राट अशोक—कोसल एम० ए० १)

राजनैतिक

अधिनायक तन्त्र—गुप्तनाथसिंह ।=)
आधुनिक संसार—कृष्णचन्द्र विद्यालंकार ४)
अगस्त १९४२ का महान विप्लव—
दीनाथ व्यास ४॥)
आजादहिंद फौज का इतिहास—सूर्यवलीसिंह २)
अगस्त क्रान्ति के विद्रोही नेता—
कैलाशचन्द्र जैन २।)
अगस्त आन्दोलन के क्रान्तिकारी—
कौशलप्रसाद जैन १)
अगस्त क्रान्ति और प्रति क्रान्ति—
मन्मथनाथ गुप्त २॥)
आजादहिन्द फौज का मुकद्दमा २)
एक महान चुनौती—लुईफिशर ६॥)
कल की दुनियाँ—रा० रा० खाडिलकर २॥)
कांग्रेस के सात साल—पट्टाभि सीतारमैया ॥)
कलकत्ते का कत्लेआम—व्रजेन्द्रनाथ गौड़ १)
खून का बदला खून नहीं—म० गान्धी १॥)
गान्धीवादी विधान—श्रीमन्नारायण अग्र० १॥)
गान्धीजी के साथ सात दिन—लुईफिशर २)
ग्यडा गैंग—रामकृष्ण ।=)
चीन और भारत—अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी १।)
५४ वाँ कांग्रेस अधिवेशन १)
चीन का आधुनिक इतिहास-प्रो०तान०यु०शान ·)
जेल के वे दिन—विजयलक्ष्मी पंडित २)
जंगी गेस्टापो—कमलाप्रसाद राय ।=)
झाँसी रानी रेजीमेन्ट— ।=)
देशी राज्य की अंतिम ज्योति—मानसिंह २)
नवभारत—रामकृष्ण ५)
नेताजी—श्रीराम ब्रह्म० ४)
नेताजी सुभाषचन्द्र बोस—प्रहलाद भट्ट ४)
परिवार और राजसत्ता की उत्पत्ति—
फ्रे० एँगेल्स १)
परमाणु बम—र० इ० खाडिलकर ।=)
प्रांतीय स्वायत्त शासन—राजेश्वर प्रसाद १)
फरार की डायरी—दुर्गाशंकर २॥)
ब्रिटिश साम्राज्य शासन—दयाशंकर दुबे १।)
भारत का भाग्य—सिरिल मोडका (अनु०) १॥)
भारत में सशस्त्र क्रांति का रोमांचकारी इति०—
मनमथनाथ गुप्त ४॥)
भारतीय जाग्रति—भगवानदास केला २)
मनुष्य जाति की प्रगति— ,, ,, ३।)
यूरोप के दो सिपाही—रामकृष्ण शर्मा ।=)
रियासती जनता की समस्याएँ— ।॥)
रियासतों का सवाल—बैजनाथ महोदय २)
विजयपथ—रस्किन १॥)
सन् बयालीस का विद्रोह—गोविन्दनारायण खरे
६)
सन् ४२ का विद्रोह—गोविन्दसहाय-
एम० एल० ए० ६॥)
समाजवाद (चतु० सं०)—सम्पूर्णानन्द २)
हमारी आज की आर्थिक समस्याएँ—
दयाशंकर दुबे २)
हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ—भगवानदास केला १)
हमारे राष्ट्रपति, उनके भाषण— १)

जीवनी

अशोक—भगवती प्रसाद बाजपेयी ४)
नेताजी सुभाष—छविनाथ पाण्डेय ३)
विश्व की विभूतियाँ—हरिभाऊ उपाध्याय १॥)
मेरी जीवन यात्रा—राहुल सांकृत्यायन ७॥)
रोजा लेग्जुम्बर्ग—रामवृक्ष बेनीपुरी
छत्रपति शिवाजी—ला० लाजपतराय १॥)
मौलाना आजाद—महादेव देसाई २॥)
बा० राजेन्द्रप्रसाद (आत्म कथा) १२)
महामन पं० मदनमोहन मालवीय ॥)
राष्ट्रपति कृपलानी ।—)

आयुर्वेद

शरीर परिचय—जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल वैद्य १)
नैसर्गिक आरोग्य ,, ,, ,, १॥)
भारतीय भौतिक विज्ञान ,, ,, ॥)
ऊर्ध्वाङ्ग चिकित्सा ,, ,, २)
मुख रोग विज्ञान ,, ,, २)
कर्ण रोग विज्ञान ,, ,, २)
सिरो रोग विज्ञान ,, ,, ४)
चिकित्सक—रामनरायन दुबे ७॥)

ग्रामोपयोगी

गाँव की बात—भगवानदास केला ॥)
गाँव की सेहत—रमेश वर्मा ॥)
गाँव के गीत (स्त्रियों के गाने)—रमेश वर्मा ॥)
गाँव के गीत (पुरुषों के गाने)— ,, ,, ॥)
रेंगने वाले—आनन्द स्वरूप १)
सरदार हरीसिंह नलुआ—कौ० प्रसाद जैन १।)

धर्म और नीति कथा

धर्मशिक्षा—व्यथित हृदय ॥।≈)
अशान्तविश्व को शान्ति का सन्देश—
तुलसीरामजी महाराज ।)
जीवन सूत्र—(अनुवाद) १॥।)
ब्राह्मण सावधान—किशोरीदास बाजपेयी ॥।)
जागरण का मार्ग—लक्ष्मीप्रसाद पाण्डेय १)

जातक—तृतीय खण्ड न० आ० कौसल्यायन १०
आचार्य सायण और माधव—बलदेव उपा० ६)
हिन्दू जाति का उत्थान और पतन—रजनीकान्त
शास्त्री ५)
अपराध—मनमथनाथ गुप्त ३)

स्वास्थ्य-चिकित्सा

ब्रह्मचर्य जीवन—स्वा० योगानन्द १॥)
हमारी खुराक—एम० आर० मसानी ॥।)
दी मैटेरिया मैडिका (हिन्दी)—
डा० एन० सी० भादुरी २॥)
वृद्द-वाया कोमिक चिकित्सानिदान— ,, ३)
जेम्स आव हेल्थ—जटाशंकर नन्दी
कबीर परिचय—जगन्नाथप्रसाद शुक्ल वैद्य १)
नैसर्गिक आरोग्य— ,, ,, १॥)
भारतीय भौतिक विज्ञान— ,, ॥)
ऊर्ध्वाङ्ग चिकित्सा— ,, ,, २)
मुखरोग विज्ञान— ,, ,, २)
चर्म रोग विज्ञान— ,, ,,
नासा रोग विज्ञान— ,, ,,
बच्चों का पालन पोषण—व्रजमोहन मिहिर २।)

स्त्रियोपयोगी

नारीजीवन : कुछ समस्याएँ—सुमन १)
नारी : गृहलक्ष्मी और कल्याणी—सुमन २)
नारीसमस्या—राधादेवी गोइनका ४)
गाँव के गीत—रमेश वर्मा ॥)
नारीजीवन—दुर्गाप्रसादसिंह २॥)

बालोपयोगी

मोतीचूर का भुट्टा—अशोक बी० ए० ॥)
हिम्मत के फल—अबुल वासे असरी ।≈)
ईमानदारी—डा० जाकिर हुसेन
नटखट कट्टो—ज्योतिलाल भार्गव ॥।)
उड़न खटोला—लक्ष्मीनारायण टंडन ।—)
चाँद सितारे—गिरीशनाथ दीक्षित ॥।)
विचित्र द्वीप—विमला देवी १)

सात मूर्ख—गिरिजाशंकर द्विवेदी ।=)
विगुल—गंगाप्रसाद मिश्र ।।।)
नसीहत की कहानियाँ—शिवनाथ सिंह ।=)
कौआ चला हंस की चाल— ,, ,, ।=)
बाल विनोद—श्यामाचरण लवानियाँ १)
विगुल—सोहनलाल द्विवेदी ।)
कपड़ों का नाच—भगवानदास अवस्थी ।–)
लेमन चूस की चोरी— ,, ,, ।–)
कस्तूरवा गांधी—व्यथित हृदय ।=)
म्याऊं की पूंछ—राजेन्द्रसिंह गौड़ ।।)
बारह वर्ष—लोकेश्वरनाथ सक्सेना १।)
गदहे राम विलायत को—शेखर ।।)
नया जादूगर—विष्णुदेव तिवारी ।=)
लाल परी—विमलेश ।=)
भूत से भेंट—विष्णुदेव तिवारी ।=)
जादू का पहाड़—सत्यनरायन व्यास ।=)
सात कहानियाँ—सोहनलाल द्विवेदी १)
विजय किसकी—शकुन्तला पाठक ।।)
सोन चिरैया—अशोक बी० ए० ।।)
वीरांगना लक्ष्मी—चन्द्रपालसिंह यादव ≡)
किससे क्या सीखें—कृष्णगोपाल माथुर २)
अंगूठी का मुकद्दमा—सुदर्शन १)
मनोहर कहानियां (तीन भाग)—सत्यजीवन-वर्मा ।।)
जादू का घोड़ा—रामरतन भटनागर ।=)
सेठ धनपाल— ,, ,, ।=)
परियों के देश में—शिवचन्द्र नागर ।=)
खरगोश माया—इन्द्रेश कुमार ।=)
जाउवरों का जादू— ,, ,, ।=)
चन्द्रभाल चूहे की कहनी—रामरतन भट० ।=)
तुलसी दास— ,, ,, ।=)

दर्शन और आचार-शास्त्र

मुक्ति का मार्ग—कानजी स्वामी ।=)
भावत्रय फल प्रदर्शी—आ० कुन्थसागर
जज की बात—'जैनेन्द्र' २)
जीवन-सूत्र—(अनु०) रामनाथ सुमन १।।।)
महापुरुषों के आदर्श उपदेश— २)
गौरवशाली जीवन—(अनु०) जगपति चतु० ।।)
बौद्धधर्म—बलदेव उपाध्याय ६)
मृत्यु और उसके बाद—गंगाप्रसाद गौड़ ३)

हास्य

अजीब दुनिया—सी० एल० विद्यार्थी ।=)
जादूगर—नार्मन एम० एस० आई० एस० १।।)
न नर न नारी—श्री 'बैरिस्टर' ।।।)
चालीस साल बाद—(नाटक) विश्वनाथ ।।।)
गरम चाय—(कहानी) रूपसदराय बनारसी १।।)

स्फुट

गीतालंकार—श्रीमद् वन्द्योपाध्याय ।।)
सम्पत्ति का राजमार्ग—दास और रावी ।।।)
मानव जीवन की सफलता—रामस्वरूप जैन १।)
बुद्धि परीक्षा—पं० जगदम्बाशरण शर्मा २)
हिन्दी टाईपराइटिंग—गोर्धनदास गुप्त १।।)
हिमालय—शिवपूजन सहाय १)
दिमागी खेल—राममूर्ति मेहरोत्रा ।=)
मनन—हरिभाऊ उपाध्याय १।)
मेरी यूरुप यात्रा—राहुल १।।।)
खटोला—आनन्दकुमार १)
सेक्स से सुख और आनन्द—मन्मथनाथगुप्त १।)
बंगाल में हिन्दू संस्कृति के नाश का प्रयत्न ।।)
क्या बिहारकाण्ड के लिये हिन्दू जिम्मेदार हैं? ।।)
भूखा बंगाल—ब्रह्मदत्त विद्यार्थी ४)
विश्व की विभूतियाँ—हरिभाऊ उपाध्याय १।।)
हवाई शिक्षा—श्रीराम बाजपेयी १)
विदेशों के महाकाव्य—गोपीकृष्ण ६।।)



भाग ८] आगरा—मई १९४७ [अङ्क ११

कविता में 'रहस्यवाद'

[सुधीन्द्र एम० ए०, (अँग्रेजी) एम० ए० (हिन्दी)]

'छायावाद' और 'रहस्यवाद'

अपने अन्तर्लोक में संचरण करते हुए कवि की भाव-प्रवणता ने इस सान्त सृष्टि के परे अनन्त की ओर जाने वाले अदृश्य पथ का अनुसन्धान किया। इस पथ की परिणति हुई आत्मा (जीव) और परमात्मा (ब्रह्म), ससीम और असीम के चिरन्तन अद्वैत की 'अनुभूति' में।

ससीम और असीम का अद्वैत उभय पक्षीय है। एक ओर कवि को प्रकृति में उस असीम चेतन की सत्ता अनुभूत होती है—फूल में उसकी हँसी, लहरों में उसका बाहुपाश, तारकों में उसकी पुतली, भ्रमरों मे उसका गुंजन, ओस में उसका आँसू। कौतूहल भरी जिज्ञासा से वह इसको प्रतीति करता है : दूसरी ओर कवि को आत्मा में विश्वात्मा (परमात्मा) की प्रणय-अनुभूति होती है। पहली स्थिति—'प्रकृति में असीम चेतन सत्ता की प्रतीति' अब 'छायावाद' की, और दूसरी स्थिति—'आत्मा में विश्वात्मा की प्रणय-अनुभूति' 'रहस्यवाद' की संज्ञा पागई है और प्रारम्भ का 'छायावाद' अब 'रहस्यवाद' से इस अर्थ में भिन्न हो गया है। एक व्यष्टिभावना है; दूसरी समष्टि-भावना। एक एकांगी है, दूसरी सर्वांगीण, एक ऐकांशिक है, दूसरी ऐकान्तिक।

वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों और विविध दर्शनों द्वारा प्रतिपादित वह 'रहस्य' सन्तों और सूफियों की वाणियों, तुलसी और सूर की उक्तियों, दार्शनिकों, मनीषियों और साधुओं के सत्संग, पाठ-पारायण, मनन-मन्थन तथा संस्कृति और संस्कारों के प्रकट-प्रच्छन्न मार्गों से होता हुआ मन-प्राण में बीज रूप में रहता है। आज का 'रहस्यवाद' अतः नवीन और विचित्र सृष्टि है। महादेवी वर्मा के शब्दों में 'इसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छाया मात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सब को कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भाव-सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका, तथा मस्तिष्क को हृदयमय तथा हृदय को मस्तिष्क मय बना सका।'*

---

* 'सान्ध्यगीत' की भूमिका : महादेवी।

रहस्यवाद के तत्व—

काव्य का रहस्यवाद आत्मा में विश्वात्मा की प्रत्यक्षानुभूति है, अतः उस परम तत्व की सत्ता, विश्व और जीवन से उसके संबन्ध, और उसकी प्रेम-प्रतीति के रहस्यों का वह निदर्शन करता है।

सत्ता-रहस्य—

रहस्य भावना का जन्म ही कुतूहल और जिज्ञासा में हुआ था। रहस्यवादी भारतीय या अभारतीय 'ब्रह्मवाद' के अध्ययन-अध्यवसाय से अथवा अपने प्रातिभ ज्ञान से चराचर विश्व के व्यक्त रूपों में प्रच्छन्न चेतन सत्ता को देखता है।

प्रकृति की अनेक रूपता और उस अनेक रूपता में एक अज्ञात आकर्षण और सम्मोहन ने मानव प्राणों को जिज्ञासु बना दिया है। 'जगती के अखिल चराचर ये मौन मुग्ध किसके बल' की कुतूहलमयी जिज्ञासा उसके मानस में उठा करती है। कामायनी के मनु की भाँति आज भी वह किन्हीं क्षणों में कुछ इसी प्रकार प्रश्न-शील हो उठता है—

विश्वदेव, सविता या पूषा,
सोम मरुत, चञ्चल पवमान
वरुण आदि सब घूम रहे हैं
किसके शासन में अम्लान?

× × ×

महानील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते से सन्धान।
छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुये;
तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए?
(कामायनी : प्रसाद)

उस अज्ञात शक्ति का भावन 'अनन्त रमणीय' रूप में होता है परन्तु 'कैसे हो? क्या हो? इसका तो भार विचार न सह सकता।' कठ के मनीषी ने कहा था उसी चेतन तत्व से यह जगत अनुप्राणित-विभासित है* तभी रहस्यदर्शी कवि उस चित शक्ति का 'मौन निमंत्रण' नक्षत्र से, विद्युत् से, फूल से, लहर से प्रकृति के 'अणोरणीयान् महतो महीयान्, पदार्थ से पाता रहता है—

(१) न जाने नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन?
(२) न जाने तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन।
(३) न जाने सौरभ के मिस कौन
संदेशा मुझे भेजता मौन?
(४) उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने मुझे बुलाता मौन?
(मौन निमंत्रण:पन्त)

किसी अज्ञात शक्ति के क्रिया-व्यापार वह प्रकृति के सौंदर्य में पाता है—

ओसों का हँसता बालरूप यह
किसका है छविमय विलास?
विहंगों के कण्ठों में समोद यह
कौन भर रहा है मिठास।
(चित्ररेखा : कुमार)

ऐसा सौंदर्य का सौंदर्य, 'चिर सुन्दर' पुरुष अपने रूप माधुर्य का जाल रहस्यवादी के मन पर फैलाता है और जब-तब मधुर 'दूरागत झंकार' उसके प्राणों को इस ससीम भूमण्डल के पार बुलाती रहती है।

आज किसी के मसले तारों
की वह दूरागत झंकार,
मुझे बुलाती है सहमी सी
झंझा के परदों के पार
(नीहार : महादेवी)

तब 'अनन्त और शून्य' में उस असीम अलक्ष्य,

* 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'

अज्ञात की खोज करने प्राण (भावना और कल्पना के पंखों पर बैठकर) निकल पड़ते हैं,

खोज जिसकी वह है अज्ञात,
शून्य वह है भेजा जिस देश,
लिये जाओ अनन्त के पार
प्राणवाहक सूना सन्देश।
(नीहार : महादेवी)

कभी वह अन्तर्तम के भीतर छिपा-छिपा सांसों में, अश्रु में वेदना में रागिनी उठाकर, 'छिपा उर में कोई अन जान' की घोषणा करता रहता है।

खोज खोजकर सांस विकल
भीतर आती जाती है,
पुतली के काले बादल में
वर्षा सुख पाती है;
एक वेदना विद्युत सी खिच
खिचकर चुभ जाती है,
एक रागिनी चातक स्वर में
सिहर सिहर गाती है।
(चित्ररेखा:कुमार)

अथर्व वेद के—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्ष मुतोदरम्।
दिवं यश्चक्र मूर्धानं तस्मै जेष्ठाय ब्रह्मणे नमः।

के विराट रूप की अवतारणा रहस्यदर्शी कवि का हृदय भी करता रहता है।

तुम्हारी वीणा है अनमोल,
हे विराट! जिसके दो तूँबे
ये भूगोल, खगोल।
—मैथिलीशरण गुप्त

विश्व-रहस्य : जीवन-रहस्य—

'रहस्यवाद' श्रुतियों के अद्वैतवाद और आत्मवाद का रस पुत्र है। अद्वैतवाद में एक ओर आत्मा और परमात्मा (विश्वात्मा) और दूसरी ओर ब्रह्म और जगत् की अद्वयता समाहित है: एक ओर वह 'तत्त्वमसि' की घोषणा करता है, दूसरी ओर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का निरूपण। इस प्रज्ञात्मक स्थापना का रागात्मक (भावना और अनुभूतिपरक) रूप ही रहस्यवाद है।

श्रुतियों के तत्वचेता महर्षियों ने 'एको ऽहंबहुस्याम' को सृष्टि का मूल प्रेरणा माना है। "पहले 'आत्मा' या 'इदम्' एक ही था। तब उससे अन्य और कुछ न था।" (आत्मा वा इदमेक एवाग्रआसीत्। नान्यत्किंचनमिषत्।) (ऐतरेय ब्रा०)। उसने इच्छा की कि मैं बहुत बन जाऊँ (सोऽ कामयत् बहु स्यां—प्रजायेय) और इसलिये उसने लोक सृष्टि की (स इमाँल्लोका नसृजत्)। रहस्यवादी कवि इन दार्शनिक तथ्यों को भावमयी भाषा में इस प्रकार कहेगा—

छिपाये थी कुहरे सी नींद
काल का सीमा का विस्तार;
एकता में अपनी अनजान
समाया था सारा संसार।
मुझे उसकी है धुँधली याद
बैठ जिस सूनेपन के कूल।
मुझे तुमने दी जीवन बीन
प्रेम शतदल का मैंने, फूल।
उसी का मधु से सिक्त पराग
और रहता वह सौरभ-भार
तुम्हारे छूते ही चुपचाप
होगया था जग में साकार,
और तारों पर उँगली फेर
छेड़दी जो मैंने झंकार,
विश्व-प्रतिमा में उसने देव!
कर दिया जीवन का संचार
(नीहार : महादेवी)

सृष्टि के पञ्चभूतों (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तेज, और आकाश) की उत्पत्ति भी उसी 'प्रेम-शतदल' से हुई;

होगया मधु से सिंधु अगाध,
रेणु से वसुधा का अवतार;
हुआ सौरभ से नभ वपुमान
और कम्पन से बही बयार;

उसी में घड़ियाँ पल अविराम
पुलक से पाने लगे विकास,
दिवस-रजनी, तम और प्रकाश
बन गये उसके श्वासोच्छ्वास।

इस प्रकार आत्मा दीप से आलोक की भाँति, समुद्र लहर की भाँति, हृदय से स्पन्दन की भाँति, कलिका से करन्द की भाँति, तार से झङ्कार की भाँति विश्वात्मा से त्वतः अभिन्न है;—

(१) मैं तुम से हूँ एक,
एक है जैसे रश्मि-प्रकाश;
मैं तुमसे हूँ भिन्न, भिन्न
ज्यों घन से तड़ित-विलास।

(२) धड़कनों से पूछता
है क्या हृदय पहिचान?
क्या अभी कलिका रही
मकरन्द से अनजान?
(रश्मि)

आत्मा और परमात्मा में बिम्ब—प्रतिबिम्ब भाव का अद्वैत भी है—

ऊर्म्मियों में झूलता राकेश का आभास
दूर होकर क्या नहीं है इन्दु के ही पास?
(रश्मि)

मानव-जीवन में ही नहीं वह महामहिम् महाप्राण समस्त प्रकृति के अणु-परिमाणु में व्याप्त है। ऐसी स्थिति रवींद्र के एक गीत में सुन्दर अभिव्यक्ति पा सकी है;

मेरी-शिरा-शिरा में निशि दिन
बहता जो जीवन-तरंग बन,
वही प्राण उन्मुक्त आज है
करने विश्व—दिग्विजय—साधन;
अनुपम छन्द-ताल लय में वह
है विश्व में कर रहा नर्तन—
धरा धूलि के रोम-कूप से
अविदित—फूट—फूट वह जीवन
लक्ष-लक्ष तृण-तृण में करता
है अनुपम उल्लास—संचरण
पल्लव-फूलों में खिल-खिल उठता
है वह जीवन—विकास बन
विश्व व्याप्त है जो जीवन का
और मरण का सिन्धु चिरन्तन
करता वहाँ ज्वार—भाटों की
अन्त हीन दोलों में दोलन,
अङ्ग-अङ्ग ये महामहिम हैं
उसी प्राण का पा आलिङ्गन!
नाच रहा मेरी नस-नस में
युग-युग का विराट् वह स्पन्दन।
(गीताञ्जलि)

'मुण्डकोपनिषद्' के 'तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पाव-काद्वि स्फुलिङ्गा' के अनुसार जीव ब्रह्म का ही अंश है। जो चेतन शरीर में है वही विश्व में भी है—
जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर-भीतर पानी
—कबीर

वही भिन्न होकर विश्वरूप बनता है। अतः आत्मा का व्यक्तरूप परमात्म तत्व का आत्म विरह ही हुआ। इसी आत्म-विरह की माया को कवीन्द्र ने शब्दों में बाँधा है—

'तुम निजको ही दूर कर
उसे बुलाते नाना स्वर भर,
आत्मविरह यह प्राण, तुम्हारा
आज बन गया मेरी काया!'
'गीताञ्जलि'

आत्मा के ही मिलन-विरह, हास-रुदन आशामय के स्वर से ब्रह्माण्ड गूँज उठा है—

विश्व-गगन है विरह-गान-मय
रंजित-रुदन-हास, आशामय
यों ही तो तुमने यह मुझमें
आज पराजय अपना पाया।

जीव और ब्रह्म (आत्म परमात्मा) के अङ्ग-अङ्गी, उद्गत-उद्गम, अरूप और सरूप के सम्बन्ध 'तुम और मैं' में व्यञ्जित हुए हैं—

तुम मृदु-मानस के भाव
और मैं मनोरंजिनी भाषा,
तुम नन्दन वन घन विटप
और मैं सुख शीतल-तल-शाखा.
तुम प्राण और मैं काया
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म,
मैं मनोमोहिनी माया।

(परिमलःनिराला

महादेवी भी इसी प्रकार की अनुभूति में कहती हैं—

१—तुम हो विधु के बिम्ब
और मैं मुग्धा रश्मि अजान!
२—तुम अनन्त जलराशि
ऊर्मि मैं चंचल सी अवदात,
३—तुम परिचित ऋतुराज
मूक मैं मधुश्री कोमलगात,
४—स्वर-लहरी मैं मधुर स्वप्न की
तुम निद्रा के तार!—'रश्मि'

यह द्वैत-भाव उस प्रणय सम्बन्ध के लिये आधार हुआ जिसमें प्रेम की समग्र अनुभूतियाँ समाहित हैं। दाम्पत्य-भाव प्रेम-भाव की उत्कटता, अनन्यता और ऐकान्तिकता के लिये एकमात्र आश्रय है, क्योंकि प्रेम-भावना की चरम-परिणति इसी में होती है।

द्वैत-भाव को तत्व-चिन्तक ने अपनी सांकेतिक भाषा में स्वीकार किया—'दो साथ रहने और समान आख्यान-वाले पक्षी एक ही वृक्ष पर बसते हैं। एक स्वाद फल खाता है, दूसरा भोग न करके केवल देखता रहता है।'—(मुण्डकोपनिषद) उपनिषदों के मनीषियों की भाँति महादेवी ने कहा है कि वह ब्रह्म की भाँति अविकार था और उसी से यह विकार नानारूपमयी त्रिगुणात्मक सृष्टि हो गई। कैसे—

स्वर्ण-लता सी कब सुकुमार
हुई उसमें इच्छा साकार,
उगल जिसने तिनरंगी तार
रच लिया अपना ही संसार।—'रश्मि'

आत्मा के स्पन्दन, जागृति और तिरोभाव का एक दूसरा चित्र है—

नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण-कण में,
प्रथम जाग्रति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में;
प्रलय में मेरा पता पदचिन्ह जीवन में,
शाप है जो बन गया वरदान बन्धन में;
कूल भी हूँ कूल-हीन प्रवाहिनी भी हूँ।

इसी बीन रागिनी, नील घन और दामिनी तथा अधर और स्मित की चाँदनी में ही विश्वात्मा और आत्मा के 'रहस्य' का सत्य है। रवीन्द्र की भाषा में विश्व-ब्रह्माण्ड जीव और ब्रह्म की ही महा प्रणय-लीला है—

जुड़ा हुआ है आज गगन में
मेरा और तुम्हारा मेला,
निकट-दूर यह बिखर पड़ी है
मेरी और तुम्हारी खेला,
हम दोनों का प्रेम-गुञ्जरण
मत्त समीरण-भर कुञ्ज बन
दोनों के आने जाने में
बीती सकल कल्प की बेला।

—गीताञ्जलि

महा कवि को विरह ही विश्व और प्रकृति के रूपों में दिखाई देता है—

राज रहा है देखो अहरह,
विरह तुम्हारा भुवन-भुवन में
रूप विविध धर-धर कर सजता,
गिरि-कानन में सिन्धु-गगन में।

—गीतांजलि

महादेवी ने भी अपने आँसुओं से लिखा—

विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात!

—नीरजा

जीवन, जगत, जीव के रहस्य का निरूपण रहस्यवादी कवि अनेक विध करता है—(१) जीवन अनन्त है, क्योंकि जीव और ब्रह्म का वियोग ही जीवन है। (२) जीवन उसके मिलन-मार्ग की रेखा है। (३) जन्म-जन्मान्तरों से वह अनन्त यात्री है। (४) प्रथमा आलोक के रथ पर ग्रहों—तारों लोक लोकान्तरों में पद-चिन्ह बनाता वह आया है? (५) विश्व-जीवन उस अज्ञात लीलामय की प्रणय-लीला है। (६) जीवन-मरण में निखिल भुवन में वही चिर-जन्मों का परिचित सबसे पहिचान कराता है। (७) जीवन उसी प्रियतम का विरह-वियोग है, मरण उसका मिलन-सन्देश। (८) जीवन—जीवन में भटककर वह उसी प्रभु की खोज कर रहा है—यदि इस जीवन में मिलन न हो सका तो कभी न कभी होगा, पर ज्ञात नहीं। (९) जीवन आत्मा का एक स्तन-पान है, मृत्यु उस स्तन को हटाने की क्रिया और नवजीवन पुनः स्तन-दान है। (१०) आत्मा (प्राण) का पथ अनन्त है इत्यादि-इत्यादि।

प्रेम-रहस्य -

आत्मा और विश्वात्मा में प्रेम की प्रतीति होते ही उसकी मधुरतम अनुभूतियाँ जीवन और प्रकृति के नाना रूप-व्यापारों के माध्यम से होने लगती हैं। विरह की अनुभूति के लिये आत्मा-परमात्मा में द्वैत की प्रतीति आवश्यक हो जाती है और मिलन की उत्कटता-उत्कण्ठा के लिये अद्वैत की प्रतीति। दृश्यमान द्वैत के द्वैत में बिना प्रेम निराधार रहता है। इस प्रकार द्वैत-अद्वैत भाव अद्वैतभाव के मधुर सम्मिश्रण से रहस्यवादी की अभिव्यक्तियाँ ओत-प्रोत रहती हैं। वह दृश्यमान वियोग से पीड़ित रहता है और अदृश्य 'मिलन' से अनुप्राणित। विरह में वह भावना करता है—

धरती-सरग मिले हुत दोऊ।
केइ निनार कै दीन्ह बिछोऊ॥

(जायसी : पद्मावत)

अपने प्रेम-सम्बन्धों में वह उसकी दूरी भी अनुभूत करता है, निकटता भी!

दूर होकर भी निकट तुम,
निकट होकर भी अलक्षित।

(सुधीन्द्र : अमृत लेखा)

प्रेमानुभूति में आत्मा विश्व-प्रकृति में व्याप्त प्रियतम के रंग में रँग जाती है—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल
लाली देखन में गई मैं भी होगई लाल।

(कबीर)

अणु-परमाणु में उसे उसी का प्रणय-माधुर्य बिखरा दिखाई देता है—

ज्योत्स्ना है, मानों अपने वे
रजत-स्वप्न सच होकर आ,
जुही झाँकती है समीर को
लता कुञ्ज के द्वार द्वार में।

—कुमार

वह बासन्ती बनवीथियों में श्रावणी मेघों के रथों में उसी के पद की चाप सुनता है।

कत कालेर फागुन दिने बनेर
पथे सेजे आसे, आसे, आसे।
कत श्रावण अन्धकारे मेघेर
रथे सेजे आसे, आसे, आसे।

—गीताञ्जलि

और उषा-सन्ध्या की क्रीडाओं में प्रणयी-प्रणयिनी की आँख मिचौनी देखता है—

निज अलकों के अन्धकार में
तुम कैसे छिप आओगे,
इतना सजग कुतूहल ठहरो
यह न कभी बन पाओगे!
आह चूम लूँ जिन चरणों को
चाँप चाँप कर उन्हें नहीं—
दुख दो इतना अरे अरुणिमा
ऊषा-सी वह उधर बही।
बसुधा चरण-चिन्ह सी बन कर
यहीं पड़ी रह जावेगी,

प्राची रज कुंकुम ले चाहे
अपना भाल सजावेगी।

(लहर : प्रसाद)

और समस्त जीवन मिलन का द्वार बन जाता है—

जब तुम आये हो एक बार!
तब मैंने जाना है, जीवन बन
गया मिलन का एक द्वार।

—कुमार चित्ररेखा

'जन्म ही जिसका हुआ वियोग तुम्हारा ही तो हूँ उच्छ्वास' की प्रतीति से परन्तु ज्यों ही उस प्रेम की विपंची में विरह की रागिनी बजती है तो जीवात्मा विरहिणी की भाँति आकुल-व्याकुल होकर उस प्रणय-पात्र के अनुसन्धान में, प्रेम की नाना अनुभूतियों के साथ, प्रयत्नशील हो उठती है।

स्मृति—उसे पीड़ित कर देती है, क्योंकि वह भी सुख स्मृति के समान विधुर है—

कैसे कहती हो सपना है
अलि उस मूक मिलन की बात,
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू उनके हास।

उस सोने के सपने को देखे कितने युग बीते।
आँखों के कोष हुए हैं मोती बरसाकर रीते!

—महादेवी

स्वप्न : स्वप्नों में कबीर ने भी संचरण किया था और गाया था—

सपने में साईं मिले सोते लिया जगाय
आँखिन खोलूँ डरपता मत सपना हो जाय।

रवि ठाकुर ने भी ऐसा ही स्वप्न देखा है :

आगमन उनका हुआ इस यामिनी!
व पधारे पास बैठे, मैं न जागी कामिनी!

और महादेवी ने भी ;

मिलन-बेला में अलस तू
सो गई कुछ जागकर जब,
फिर गया वह स्वप्न में
मुस्कान अपनी आँक कर तब।

—'नीरजा'

सन्देश—ज्यों ही अपने चिर प्रियतम के विरह की प्रतीति उसे होती है जीवन के तारों में मदन-तीर की पीड़ा बज उठती है—

जीवन-तंत्री के तार तार
मदन-तीर की पीड़ा लेकर
कसक रहे हैं बार बार।

—'कुमार'

प्राण स्वयं मिलन के सन्देश-वाही दूत हो जाते हैं—

प्रिय तुम्हारे प्राण से ही मिलन का संदेश पाये,
आ रहा हूँ मैं विरह में क्षीण, तन में डगमगाये!

(सुधीन्द्र)

समस्त ब्रह्माण्ड में आह्वान का स्वर गूँजता सुनाई देता है :

दूर के नक्षत्र लगते पुतलियों के पास प्रियतर;
शून्य नभ की मूकता में गूँजता आह्वान का स्वर।

(महादेवी)

कभी-कभी तो यह अनुभूति इतनी तीव्र हो उठती है कि मरण भी प्रिय का सन्देश-वाही दूत बनकर प्राणों का सखा बन जाता है—

यह मृत्यु-दूतिका प्रिय तेरी आयी है मेरे द्वार,
ले मधुर निमन्त्रण वह लेने आई इस पार।

—'रवीन्द्रनाथ' गीतांजलि

महादेवी ने भी मृत्यु को प्राणों का अन्तिम पाहुन कह कर अभिनन्दित किया है।

अभिसार—कभी-कभी प्रिया अपने प्रेमी के अभिसार (प्रणययात्रा) में चल पड़ती है क्योंकि उसे 'प्रेमाभिसार' का सन्देश मिला है—

१—वेदना-दूती गाहिछे 'ओरे प्राण,
तोमार लागि जागेन भगवान।'

निशीथे वन अन्धकारे डाकेन
तोरे प्रेमाभिसारे ।
—'गीताञ्जलि'

२—बाँध लेंगे क्या तुझे
ये मोम के बन्धन सजीले ?
पन्थ की बाधा बनेंगे
तितलियों के पर रँगीले ?

× × ×

तू न अपनी छाँह को अपने लिये कारा बनाना।
जाग तुझको दूर जाना । —'महादेवी'

स्वयं प्रियतम भी प्रेम-विहल होकर, आँधी-तूफान मेल कर भी प्रिया से मिलने चल पड़ा है। ऐसी एक अभिसार कथा है—

प्राणसखा, हे प्राणाधार।
इस झड़ अन्धड़ की रजनी में
आज चले करने अभिसार।
—'गीताञ्जलि'

गौरव था नीचे आये
प्रियतम मिलने को मेरे।
(प्रसाद)

प्रसादजी से भी इसी की व्यञ्जना होती है। प्रेमियों का यह अभिसार चिरन्तन है—

१—प्राण, मेरे मिलन हित
आते भला तुम कब थके।
चन्द्र सूर्य भला तुम्हारे
कब तुम्हें ढक रख सके ?
—'गीताञ्जलि'

२—करुणामय को भाता है
तम के परदों में आना।
—'महादेवी'

२—दूर से अज्ञात वासन्ती
दिवस रथ चल चुका है।
—'महादेवी'

मिलनाकुलता—प्रिय से मिलने की उत्कण्ठा समस्त जीवन को तीर की भाँति उसी ओर खींचती लिये जाती है, वह आकुलता ही तन्मयता बन गई है और द्वैतभाव मिट गया है—

आकुलता ही आज हो गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य द्वैत क्या कैसी बाधा।

इस स्थिति में जो आनन्द है वह मिलने में कहाँ ? यही मिलन है—

होगई आराध्यमय मैं विरह आराधना ले।
—'महादेवी'

मिलन—फिर भी एक अमिट कामना उसे प्रणयों के बीच, जन्म-जन्म के मधुर विराम विश्रामों के साथ 'मिलन' की ओर खींच रही है। अनन्त मिलन का प्रत्यय उसे पन्थ पर अग्रसर करता है। उस 'मिलन' का आभास है।

प्रणत लौ की आरती ले,
धूम लेखा स्वर्ण-अक्षत नील-कुमकुम वारती ले,
मूक प्राणों में व्यथा के स्नेह उज्ज्वल भारती ले।
मिल अरे बढ़ आरहे यदि प्रलय झंझावात।
—महादेवी

इस प्रकार के रहस्यवादी कवियों को नीचे लिखे वर्गों में देखा जा सकता है।

प्रकृतिपूरक रहस्यवादी—जो प्रकृति में उस चिर-सुन्दर चिर प्रियतम की प्रणयानुभूति पाते हैं। सुमित्रा-नन्दन पन्त, रामनरेश त्रिपाठी, रामकुमार वर्मा इस वर्ग में आते हैं।

(२) प्रेमपरक रहस्यवादी—जो अपने प्रियतम के रङ्ग में समस्त विश्व को रँगा पाते हैं जैसे जायसी, कबीर, और महादेवी।

(३) उपासक (भक्तिपरक) रहस्यवादी—जो प्रियतम को अपने भगवान के रूप में मानकर उसकी व्यापक उपासना की साधना करते हैं मीरा, कबीर के पद, नवीन, मैथिली-शरण गुप्त इस कोटि में आते हैं।

(४) दार्शनिक (चिंतनपरक) रहस्यवादी—निराला और प्रसाद इसी कोटि के रहस्यवादी हैं राम-कुमार वर्मा के कई गीत इसी प्रकार के हैं।

व्यक्ति और वाङ्मय*

[श्री प्रभाकर माचवे]

साहित्य की आलोचना में 'व्यक्ति' और उसकी कृति को किस रूप में ग्रहण किया जाय इसे विद्वान लेखक ने इस लेख में समझाने की चेष्टा की है। वह व्यक्ति को वर्तमान आचार-रीति को साहित्य के लिए कसौटी मानने को तय्यार नहीं, हाँ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से वह आचार-मानव का ऐतिहासिक अध्ययन करने की चेष्टा आवश्यक समझता है। यह प्रश्न वास्तव में विवाद ग्रस्त है कि लेखक की साहित्यिक-कृति और अन्य कार्यों में विच्छेद होना कहाँ तक क्षम्य है! —सम्पादक

आलोचना करते समय आलोचक रचना को तो आँखों के सामने रखता ही है, परन्तु वह रचनाकार की उस रचना के पीछे रहने वाली स्पष्ट अथवा अस्पष्ट तस्वीर को भी नहीं भुला सकता। नवीन आलोचना दृष्टि में वैज्ञानिक तटस्थता, पृथगात्मता, पूर्वग्रह विरहित होना अधिक चाहा जाता है। मगर साहित्य, चाहे समाजोपयोगी हो चाहे गर्भित सामाजिक प्रयोजनवती वस्तु हो, निर्मित होती है व्यक्ति द्वारा ही और पढ़ी गुनी भी जाती है व्यक्ति ही के द्वारा—सिवा नाटक या चित्रपट जैसे साहित्य-प्रकारों के, जहाँ सामूहिक आनन्द ग्रहण ही सम्भव होता है। ऐसी अवस्था में वाङ्मय को रचना से जब व्यक्ति काटकर अलग नहीं किया जा सकता तब आलोचना में वह कैसे सम्भव है।

उदाहरणार्थ एक लेखक 'क्ष' हैं। मैं व्यक्तिगत जीवन में जानता हूँ कि वे दुश्चरित्र हैं, अनीतिमय जीवन व्यतीत करते हैं, उनका आदर्श कोई भी सभ्य मनुष्य समाज के लिए सामने नहीं रख सकता। जीवन में वे अत्यन्त अ-सामाजिक हैं; यह सब मैं उनके व्यक्तिगत समीपतर परिचय से जानता हूँ। परन्तु उनकी कृतियाँ लीजिये; अत्यन्त बलिष्ठ चरित्र व्यक्त करती हैं; नीतिमय और आदर्श समाज की अवतारणा में वे सहायक हैं। ऐसी अवस्था में क्या मेरा यह कर्तव्य नहीं हो जायगा कि मैं उनकी कृति की प्रशंसा कृति की निष्पक्ष आलोचना के समय करूँ; और उतने समय के लिए बिल्कुल भूल जाऊँ कि इस कृति के पीछे किस प्रकार का व्यक्ति है। जैसे रेडियो पर अथवा चूड़ी के बाजे पर जब आप गान सुनते हैं तब यह बिल्कुल भुला देते हैं कि गानेवाला (या 'ली') कौन है। सम्भव है उस गायिका के घर जाकर, किसी मजमे में या अकेले गाना सुनना आपको नागवार गुजरे; मगर उसका रेकर्ड आप मंगल प्रसंगों पर बजा रहे हैं और उस गायिका-विरहित गान के सौन्दर्य को उसी तरह ग्रहण कर रहे हैं जैसे फूल-विरहित सुगन्ध। तो क्या इस प्रकार केवल गान की प्रशंसा करने वाला, मगर गायिका से कतराने वाला व्यक्ति आलोचक की कोटि में आ सकता है? आप कमल की प्रशंसा में रम जाना चाहते हैं, मगर कीचड़ से बचते हैं।

एक कोटि के आलोचक वे भी हैं जो कमल को कमल और कीचड़ को कीचड़ कहना पसन्द करेंगे। वे कहेंगे—हाँ मीरा की कविता में भक्ति की आर्तता उच्च कोटि की अवश्य है। परन्तु मीरा का व्यक्तिगत जीवन? राणा को छोड़ कर जोगी के साथ चले जाना कुछ नीति सम्मत नहीं जान पड़ता। प्रत्यालोचक पूछेगा—कृपया अपने 'नीति' शब्द की जरा परिभाषा दें? क्या रूढ़ियाँ नीति हैं; क्या जो कुछ समाज में चल रहा है और चलने दिया जा रहा है, और जिसे यदाकदा शास्त्राधार और धर्मगुरुओं का समर्थन प्राप्त हो जाता है, वह सब नीति है? मैथ्यू आरनाल्ड भी अँग्रेजी के क्रान्तदर्शी शेले की जीवनी के

* ज्ञान-मन्दिर कोटा से छपने वाली लेखक की आलोचनात्मक लेख संग्रह की इसी नाम की पुस्तक की भूमिका का अंश।

उच्छ्रृंखल स्वतन्त्र किन्तु पूर्वग्रह-दूषित (prejudiced) हो गया और कहने लगा—ऐसा व्यक्ति कैसे श्रेष्ठ कवि हो सकता है। वह तो शून्य में पंख फड़फड़ाने वाला एक स्वर्ण पक्षी मात्र है, जिसके पंख अपने ही आलोक की आभा में चमक रहे हैं। मगर वही अरनाल्ड ताल्स्ताय की 'अन्ना' पर लिखते समय कुछ और हो गया; क्योंकि वहाँ उसे ईसाईयत में बहुत महत्वपूर्ण मानी जानेवाली स्वीकारोक्ति को मिली।

सवाल यों पैदा होता है कि मान लीजिए शेली की कविता केवल आपके सामने है—उसके जीवन के बारे में आप कुछ नहीं जानते (जैसे कालिदास या शेक्सपीयर के सम्बन्ध में हम बहुत कम जानते हैं।) ऐसे समय आपकी आलोचना की कसौटी क्या होगी? केवल उसकी रचनाएँ ही न? परन्तु केवल 'ऋतु संहार' और 'कुमार सम्भव' पढ़ कर क्या आप उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कोई निर्णय दे सकेंगे? क्या वह अतिरिक्त साहस-पूर्ण कार्य न होगा? अज्ञेय ने द्वितीया नामक कविता लिखी, जबकि उनका पहिला विवाह भी नहीं हुआ था। अथवा वह व्यक्ति जो केवल इतना ही जानता हो कि पं० बालकृष्ण शर्मा कांग्रेसी एम० एल० ए० हैं और गाँधीजी के भक्त हैं, क्या कभी कल्पना कर सकता है कि वह रसभीनी-रोमैंटिक कविताएँ लिखने वाले ही 'नवीन' होंगे? वियोगीहरिजी को जिसने सत्याग्रहाश्रम में झाड़ू लेकर सफाई करते ही देखा हो वह कैसे जान सकता है कि इस व्यक्ति ने वीरसतसई भी लिखी होगी? तात्पर्य, व्यक्तित्व को जान लेने भर से, नहीं, पूरी तरह जान लेने पर भी उसकी कृति, कलात्मक रचना के सम्बन्ध में कोई भी स्थापना, 'कैटगोरिकल' विधान के रूप में स्वीकृत करना खतरे से खाली नहीं। जैसे बाप को जान लेने से आप बेटे के बारे में निश्चय रूप से नहीं कह सकते, जैसे गाँधी के हीरालाल और अज्ञातनामा, कुलगोत्र-हीन पिता के सुविख्यात पुत्र भी अनुवंश शास्त्र में मिल जाते हैं। अतः रचना से रचनाकार के संबन्ध में कई धारणाएँ बनाकर चलने से बहुत कुछ स्वप्नभंग होने का डर रहता है। मैं क्रांतिकारियों को कुछ अतिमानव समझकर श्रद्धा पात्र मानता था। उस किशोर-वय में जब मैंने प्रत्यक्ष जीवन में कुछ उन्हीं भूतपूर्व आतंकवादियों को देखा तब मेरी श्रद्धा को जैसे ठेस लगा। कोई इंश्योरेन्स एजेण्ट जैसा नजर आता था, तो कोई छुई-मुई-वादी कविनुमा, कोई मरियल हड्डी का कंकालावशेष था, तो कोई तुन्दिल बनिये के समान। मेरी गलती यह थी कि मैं कुछ अतिरंजित, अवास्तव धारणाएँ लेकर चला। अक्सर आलोचक यही करते हैं। उनके दिमाग में एक काठ का नाप तैयार रहता है, उसी दण्डे से वे लेखक की कृति को हाँकते हैं। जब उस नाप में कृति फिट नहीं होती, तब उस लेखक को कोसने लगते हैं। कलाजीवन में सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि इसके मान सामाजिक हैं; अतः वे स्थिर, शाश्वत, सदा एक से रहने वाले नहीं होते। अब तो नीति शास्त्रविद् भी कहने लगे हैं कि अच्छे बुरे के नैतिक मान भी ऐसे स्थाणु, अचल और दुनिया जिस दिन बनाई उसी दिन परमात्मा ने बना दिये हों, ऐसे नहीं होते।

आप कहेंगे, हम व्यक्तित्व के मोह से आतंकित न हों, लेखक के बड़े नाम के रोब में न आजायँ। वह अमुक अमुक कोटि का प्रसिद्ध राष्ट्र-भक्त या गो-भक्त या धर्ममार्तण्ड है इसलिए उसकी रद्दी से रद्दी किताब को ऊँचा साहित्य न कर डालें;—दूसरी ओर उत्तम साहित्य है, इसलिए यह भी न मान बैठें कि उसका लेखक भी कोई अप्सरा-जात या देवदूत होगा; तो आखिर हम जायँ कहाँ? क्या आलोचना के कोई निश्चित मान ही नहीं, सिवा इसके कि 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' 'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी?' अब आपके सवाल का सही-सही हल तो आप खुद ही पाने की कोशिश करें—मुमकिन है, आप का मेरा स्वभाव न मिलता हो। मेरी आपकी अभिरुचि भिन्न हो; मुझे रूसी साहित्य पसंद है; आपको रूस के नाम से चिढ़ हो। इसलिए जवाब में बजाय इस तरह का उपदेश देने के कि आप कैसे सोचें मैं इस समस्या को किस तरह सोचता हूँ, यह बतलाता हूँ।

मैं ऐतिहासिक द्वंद्ववाद में विश्वास करना चाहता हूँ। आप इस लम्बे-चौड़े शब्द से घबड़ाएँ नहीं—मैं ऊपर का ही उदाहरण देकर कहूँ कि केवल 'कला के लिए कला' वाले सौंदर्यवादियों की भाँति मैं केवल कला की सुन्दरता

पर मुग्ध रह कर नहीं रह जाना चाहता (पं० पद्मसिंह शर्मा बिहारी की बन्दिश की खूबी देख कर वाह-वाह कर उठे; बिहारी एक सामन्ती कवि था वे यह भूल ही गये; या जैसे 'त्रिशंकु' में 'केशव की कविताई' में अज्ञेय उस 'रसिक प्रिया' वाले केशव के पक्ष में भी कुछ कह पाने की खोज में हैं।)—वैसे ही मैं केवल 'नीति के लिए ही कला' वाले 'जीवन-साहित्यवादियों' की भाँति कमल के अस्तित्व में भी अश्लीता सूँघता हुआ (क्योंकि न होते कमल, न होते उपमेय नारी के रूपमय अङ्ग, न होती वासना इत्यादि इत्यादि) कमल की निर्मलता में भी कीचड़ की ही गन्ध नहीं देखना चाहता। मेरा विश्वास है कि कीचड़ के बिना कमल उतना ही असम्भव है जितना कमल के बिना केवल कीचड़ का अस्तित्व अशोभन है। मैं अस्तित्व की समस्या को भी देखता हूँ, सौष्ठव की सम्भावना को भी। बिहारी या केशव का उक्तिवैचित्र्य ठीक है, परंतु उसकी देशकालपरक अनुकूलता और औचित्य भी देखना होगा। आज कोई नायका भेद लिखने बैठे, तो कल अखिलभारतीय महिलासम्मेलन उस कवि की रचनाओं पर बहिष्कार का प्रस्ताव पास करेगा। मगर तुलसीदास भी केदारनाथ अग्रवाल की तरह कविता तब लिख ही नहीं सकते थे। अतः तुलसीदास में साम्यवाद खोजने जाना अण्डे में शोरवा खोजने जाने के समान है या अगर यह उपमा आपको अप्रिय जान पड़े तो दृढ़ भाषा में कहूँ बीज में शाखा-प्रशाखा खोजने के समान यह बात है। आशय द्वन्द्ववाद का अर्थ है कि कला-रूपी कमल का अस्तित्व कमल के बीज (सौंदर्य) और कीचड़ (असौंदर्य) के परस्पर संघात से ही संभव है। आप कहो कि दुनियां से असुन्दर सब मिट जाय और केवल 'सुन्दर से सुन्दरतम' यह मानव-जीवन हो जाय—तो यह सृष्टि के नियम से विपरीत है।

आप कहेंगे कि कला तो नियतिकृत नियम-रहिता है। इसे सृष्टि के नियम आप कहाँ से लगाते हैं? कला तो दैवायत्त, प्रातिभ, चमत्कार है। हर कोई कालिदास नहीं हो सकता, हर कोई 'हैम्लेट' नहीं लिख सकता। माना; इसी शंका में मेरा उत्तर छिपा है। मेरा विश्वास है कि प्रतिभा या दैवायत्त कोई अलौकिक वस्तु है ही नहीं जो कला तो कला, किसी भी रचना को निर्मित करे। क्रोचे ने जिसे प्रभा या अंतर्ज्ञान (इंट्यूशन) कहा है वह भी एक रहस्यमय संज्ञा है। मनोवैज्ञानिक उसे अचेतन का क्रीडास्थल कहने की अनुमति माँगता है। कलाकार का अचेतन भी उसकी कला में व्यक्त हो सकता है।

यदि आप यहां तक मेरी बात मान गये कि कलाकार के व्यक्तित्व से बिल्कुल विपरीत दिखाई देनेवाली वस्तु उसकी कलाकृति हो सकती है, तो अब आगे चलकर यह भी देखिये कि ऐसा किन परिस्थितियों में विशेषरूप से सम्भव होता है? जब कि चेतना का उपचेतन पर अधिक दबाव हो, जबकि प्रत्यक्ष का भार अप्रत्यक्षोन्मुख करदे, जब जागृति से घबड़ाकर-ऊबकर अथवा हताश होकर वह स्वप्न की ओर आये। इस दृष्टि से कलाकार की कल्पना पर प्रत्यक्ष, वास्तव, यथार्थ का बहुत सूक्ष्म परन्तु साधारण अपेक्षा से भिन्न प्रकार का असर पड़ता रहता है। उसकी कल्पना इसी प्रकार के प्रभावों से बनती है। कालिदास जब मेघदूत में कृष्णा-भिसारिकाओं को मार्ग दिखाने के लिए विद्युल्लता चमकाना कहता है तब उसे कसौटी के पत्थर पर के सोने की रेख की ही उपमा क्यों सूझती है—निश्चय, इसके मूल में उसका राजाश्रित रहना, उस समय के देशकाल परिस्थिति की वैभव-परिपूर्णता, स्वर्णकारों का अस्तित्व; संक्षेप में सामन्ती मनोवृत्ति की यह उपमा परिचायक है। जब शेक्सपीयर बार बार कुम्हलाये, अंदर से कीड़ों द्वारा खाये गये गुलाब या अन्य फूलों के उपमान प्रयुक्त करता है, निश्चय ही एलिज़ाबेथ के समय के इंग्लैंड के स्वेच्छाचारी नैतिक जीवन का उस उपमा में प्रतिबिंब है। लेखक अथवा कलाकार की कल्पना भी अब इस पर देशकाल परिस्थिति से परोक्ष-अपरोक्षरूप में आबद्ध रहती ही है, यह बात आप मानें तो मैंने आरंभ में कहे हुए, 'ऐतिहासिक' शब्द की भी व्याख्या हो जाती है।

व्यक्ति और वांग-मय के संबंध ऐसी ऐतिहासिक द्वंद्ववादिता के न्याय से जुड़े हुए हैं। आलोचना के मान

भी इसी ऐतिहासिक अनिवार्यता से निर्णीत होते रहते हैं। स्पष्ट है कि मम्मट और जगन्नाथ पंडित, अभिनवगुप्त और रुद्रट के काल में हम जीवित नहीं हैं, न-ही प्लेटो और अरस्तू, लौंगिनस और दांते के। बोदलू और ड्रॉबूक, टेन और पेटर का भी जमाना बदल गया। आज की आलोचना आज और अब की आलोचना होगी; वह दो हजार वर्ष पुरानी या अट्ठारहवीं सदी की उसी प्रकार नहीं हो सकती जैसे मैं आज अपना परदादा चाहकर भी नहीं हो सकता। ऐसी दशा में साहित्य में शाश्वत-मानों के, अमरत्व के, युगों-युगों से अवाधित नियम-बंधनों के उल्लेख का क्या मतलब बचा रहता है? रस-चर्चा में सिवा जुगाली करने के आनंद (यदि चर्वित-चर्वण में कोई आनंद हो!) के कौनसा अर्थ शेष है, यह मैं इस नीरस अणुबम के युग में जानना चाहता हूँ। यदि हमारी आलोचना में हमारे आसपास के संघर्षों का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता; यदि वह उन सबकी ओर उदासीन है, तो वह आलोचना मानवीय नहीं। वह शब्द शृंगार मात्र है। जिसे ग्रंथगुरु विद्वान केवल दिमागी शतरंज से ऊबकर शुष्क तर्कों की तूलिका से ठंडे दिल और दिमाग से, केवल आलोचना के लिए आलोचना की भाँति किया करते हैं अतः आजकी आलोचना के मानों को, आलोचना दृष्टि को आमूलाग्र प्रगतिशील (मेरे बतलाये हुए ऊपर के अर्थ में) होना होगा। ऐसी मेरी व्यक्तिगत धारणा है। मेरा मत है कि आज को बहुजन-सम्मत मानना भी कुछ ऐसी ही है, यद्यपि उसके आकार की रेखाओं को कुछ स्पष्ट करने का मैंने प्रयत्न किया है।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में 'साहित्य-संदेश' में छपे मेरे प्रगतिशील संगीत-संबंधी पत्र की प्रत्यालोचना को पढ़ें तो पता चलेगा कि अब मैं उस शब्द प्रगतिशील को प्रयुक्त करता हूँ तो केवल बाह्य फैशन रूप में नहीं; परंतु एक विशेष दृष्टिकोण के रूप में ही। उदयपुर कॉलेज में एक भाषण देने के पश्चात् एक विद्यार्थी ने यह शंका उपस्थित की कि आजकल के प्रगतिवादी केवल मौखिक सहानुभूति व्यक्त करते हैं, उनका व्यक्तिगत जीवन विरोधपूर्ण होता है—ऐसी अवस्था में प्रगतिवाद केवल एक ढोंग, एक 'पोज़' नहीं है क्या? विद्यार्थी भावावेश में और भी कुछ-कुछ कह गया, जो कि यहाँ दुहराना अनावश्यक है। मैंने उत्तर दिया जिसका आशय था कि मानो जब मैं एक चोर की कहानी लिखूँ—प्रथम पुरुष एक वचन में; या अपनी रचना में वेश्या या शराब का जिक्र करूँ तो क्या आप समझ लेंगे कि मैं भी एक चोर, व्यभिचारी या शराबी हूँ। क्या मैं प्रत्यक्ष इन कर्मों के अनुभव के बिना उनके बारे में लिखने का अधिकारी नहीं? तब, आप उन बातों के लिए जिन्हें आप बुरा समझते हैं जो बात लेखक पर थोपना न्याय्य नहीं समझेंगे, वहीं अच्छी समझी जानेवाली बातों के बारे में आप क्यों आवश्यक समझते हैं? उदाहरणार्थ, आप मानते होंगे कि देश भक्ति की रचना करने वाले को 'सी' क्लास में चक्की पीसना जरूरी है। कृपया मुझे निवेदन करने दीजिए कि वंदे-मातरम का लेखक न कभी जेल गया था न 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' का लेखक; न प्रेमचंद कभी कारागृह के अतिथि हुए यद्यपि उनकी रचनाओं ने देश के जागरण में बहुत योगदान दिया (मैंने स्वयम बम्बई कांग्रेस में प्रेमचंद को एक मामूली दर्शक के नाते आते-जाते देखा; यद्यपि निराला के 'प्रबन्ध-पद्म' में ('नेहरू से बातचीत' में नेहरू प्रेमचन्द की मृत्यु पर 'शायद कांग्रेस का प्रस्ताव हुआ है' ऐसा कहने की कृपा करते हैं।) और 'भारत-भारती' के रचनाकार ने भी तब तक जेल-यात्रा नहीं की थी? इससे उलटे जेल में रहकर अपने विकृत प्रेम-वासना-द्वंद्व में रस ले लेकर गीत-कथा उपन्यास लिखने वाले भी महान् देशभक्त (?) मैंने देखे हैं। मेरे ऊपर के उदाहरण से यह न समझें कि मैं कारागृह के अनुभवों की क़ीमत कम कर रहा हूँ, उनसे भी लेखकों की अनुभव-संपदा और बढ़ी है, परंतु वह राष्ट्रीय साहित्य की आवश्यक शर्त नहीं है—ठीक उसी तरह जैसे देश से प्रेम करने के लिए झंडा लेकर उस प्रेम का प्रदर्शन करते फिरना आवश्यक नहीं। मैं अपनी माता से प्रेम करता हूँ—यह बात मैं विज्ञापन देकर घोषित नहीं करता। अतः लेखक या कलाकार के प्रत्यक्ष-जीवन में मत झाँको शायद वहाँ तुम्हें कुछ भी न हाथ आये।

रीतिकालीन कविता की परम्परा

अभी मिटी नहीं ; और न मिटेगी

सत्येन्द्र—बीती विभावरी जागरी।
अंबर पनघट में डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी।
अधरों से राग अमंद पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये,
तू अब तक सोई है आली,
आँखों में भरे विहाग री!

बाबूजी—बड़ी सुन्दर कविता सुनाई सत्येन्द्र जी! प्रसाद जी ने इस उद्बोधन में नई कविता के अरुणोदय की ओर भी संकेत कर दिया है। काव्य की पुरानी रीतिकालीन धारा तो हरिश्चन्द्र तक आते-आते बिल्कुल सूख ही गई थी। रति श्रान्ता व्रज वनिता की भाँति रीतिकालीन ब्रजभाषा काव्य ने भी विश्राम ले लिया था। नये युग से नये प्रकार के काव्य का उदय स्वाभाविक ही है।

स०—पर बाबूजी! भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से आज तक, मेरा तो विचार है कि यह धारा सूखी नहीं, अनुराग अभी तक बही चली जा रही है। यही नहीं, उलटे यह धारा और विशद हो गई है

बा०—आपका यह विचार निश्चय ही किसी भ्रम के कारण हुआ है। बात बहुत स्पष्ट है, रीति काल एक ऐतिहासिक काल हो चुका है। प्रत्येक काल सामयिक घटना चक्रों का परिणाम होता है। रीतिकाल में देश की जो परिस्थिति थी वह वर्तमान युग में नहीं है। अतः रीतिकाल का काव्य आज नहीं पनप सकता। न तो वे विलास-मग्न सामन्त आज हैं जो किसी फड़कती उक्ति पर उछल कर कवि को निहाल कर दें। आज का कवि अनूठी स्वच्छन्दता से काव्य प्रस्तुत करता है।

किसी का वचन है कि लेखक या कलाकार जब कुछ नहीं करता सा दीखता है तब भी वह महान कर्मरत रह सकता है। उसका अंतस्तल जो मथित-व्यथित है, ऊपर चाहे महासागर सी शान्ति हो। कला सृजन की प्रक्रिया बहुत कुछ रसायनी शास्त्र में जिसे fermentation कहते हैं उसके समान है। मूल में कोई सजीव वस्तु-कण आवश्यक हैं, जिन पर चाहे अधिक काल तक पड़े रहने से या विशिष्ट तापमान या दबाव के संयुक्त होने से, एक नवीन प्रकार का सजीव द्रव्य निर्मित होता है। ठीक वही स्थिति कलाकार के मन की है, जिसके चेतन-उपचेतन पर विविध संवेदनाओं-अनुभवों-रागात्मक आवेग प्रवेगों का आघात होकर एक कलाकृति का जन्म होता है। उन सब सूक्ष्म रचनामूल विभावनाओं (कन्डीशंस) को जाने बिना, कार्य-कारण परम्परा पर जल्दी से निर्णय दे देना बहुत बार गलत साबित हो सकता है। बहुत बार एकसा कार्य दीखने पर भी कारण बिल्कुल विपरीत और भिन्न भी हो सकते हैं। एकांतकता से यहाँ भी बचना जरूरी है। नहीं तो किसी रूसी कला समीक्षक ने शेक्सपीयर के टेम्पेस्ट नाटक में भी 'बोर्जुआ समाज रचना से दूर निकलना चाहने वाली एरिअल की क्रान्तिकारिणी आत्मा' का वर्णन किया है। हर जगह एक ही डंडे से पीटना या हाँकना उसी तरह गलत है जैसे गल्ला तौलने के बाँटों से सोना तोलना और कपड़ा नापने के गज से नक्शे नवीशों की या वैज्ञानिकों की बहुत बारीक स्केल का काम लेना।"

आलोचना के सम्बन्ध में मेरे अपने कुछ मंतव्य ऊपर दिये हैं। आपको मुझ से भिन्न मत रखने का पूरा हक है अगर उस मत में कोई तुक हो, उसके पीछे कोई विचार-सरणि हो। अन्यथा आलोचना में निरी भावुकता को कोई स्थान नहीं। यहाँ श्रद्धा विषयों का मूर्तिखंडन भी हुआ है। जन द्वारा तिरस्कृत भी सिर-आँखों पर से लिये गए हैं। यह प्रश्न दृष्टि पूत होने का है। मनःपूतता उसके बिना नहीं जानी जा सकती।

सं०—यह सब तो एक दृष्टि कोण है, और प्रायः सभी इतिहासकारों ने और नवयुग के प्रवर्तक कवियों ने भी यही कहा है पर यह यथार्थ नहीं। हाँ कोई भ्रम न रहे इसलिये पहले रीतिकालीन काव्य-परंपरा का अर्थ स्पष्ट हो लेना चाहिये।

बा०—हाँ! आपही बताइये, आप रीतिकाल की कविता की परम्परा किसे कहते हैं?

सं०—मेरी दृष्टि में पहले तो हमें 'रीति और रीति सम्बन्धी कविता' में अन्तर समझ लेना चाहिए। 'रीति' को वामन ने काव्य की आत्मा बताया था।

बा०—किन्तु वामन तथा अन्य संस्कृत आचार्यों ने 'रीति' शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग किया है, उसी अर्थ में हिन्दी में उसका प्रयोग नहीं होता है।

सं०—यह भी ठीक ही है। किन्तु रीति शब्द का महत्व पहले वामन ने ही दिया। उसने रीति को कविता को शैलियों के अर्थ में ग्रहण किया। पर आत्मा मान लेने से कविता के गुण अलङ्कार आदि सभी उससे सम्बद्ध हो गये। हिन्दी में इसी विस्तृत अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। 'रीति' ग्रन्थ, अतः वे ग्रन्थ हैं जिनमें काव्य अथवा साहित्य की 'रीति' दूसरे शब्दों में उसके शास्त्र का निर्देश हो। हिन्दी के रीतिकाल में हमारे आचार्य कवियों ने पहले रीति का निरूपण किया, यह बहुधा दोहों में किया। यह तो हुई रीति—इसमें काव्य, ध्वनि, रस, अलङ्कार और उनके भेदों की परिभाषा की गई। यह रीति या लक्षण कविता नहीं हो सकती। रीतिकाल की 'कविता' तो वह है जो रीति के लक्षणों के उदाहरण स्वरूप कवि ने रची।

बा०—इसीलिए तो भूषण की कविता वीर रस की होते हुए भी रीति कालीन ठहरती है?

सं०—माफ कीजिये, मैं अभी अपनी बात पूरी कहाँ कह पाया था। भूषण ने रीति ग्रन्थ तो लिखा 'शिवराज भूषण' किन्तु उसकी कविता रीतिकालीन परम्परा में नहीं आती। रीतिकाल की कविता की कुछ विशेष बातें हैं, एक तो यह कि वह शृङ्गार रस के विलास की रचना होती है।

बा०—हाँ यह विलास शब्द आपने अच्छा रखा, इससे भ्रम की गुञ्जाइश नहीं रही। 'तुलसीदास' में शृङ्गार रस की कविता है किन्तु उसमें शृङ्गार रस का विलास नहीं, सूर की रचनाएँ तो अति शृङ्गार पुष्ट हैं फिर भी उनमें रस का विलास नहीं है।

सं०—जी हाँ, तो यह 'रस-विलास' रीतिकालीन कविता की पहली चीज है। इसी शृंगार रस की विलासिता से ही घनिष्ट संबंध रखने वाली दो और बातें हैं। एक नायक नायिका भेद की ओर विशेष आकर्षण और रस के उद्दीपन के लिए प्रकृति, दूती तथा चेष्टाओं का वर्णन, संयोग में रतिकेलि और वियोग में तड़पन का भी विशद निरूपण होगा ही।

बा०—मेरे विचार से इन सब बातों के साथ एक और बात है जो रीति काल के काव्य में मिलती है—वह है ऊहा और उक्ति वैचित्र्य। वैसे तो मैं लक्षण देने को भी रीति कालीन परम्परा का मुख्य अङ्ग मानता हूँ।

सं०—पर यह तो केवल बाहरी लक्षण हैं। यथार्थ में किसी कविता की मूल प्रवृत्ति को देखने की आवश्यकता है। रीतिकालीन काव्य का मूल बिन्दु 'रति' की भावना है। इसी भावना की प्रमुखता के कारण रीतिवादी कवियों ने शृंगार रस पर, नायक नायिकाओं पर इतना अधिक ध्यान दिया है। नहीं तो रीति की प्रतिष्ठा करने में लक्षणों की परिभाषा करने और उन्हें समझाने में भूषण की भांति किसी अन्य रस का भी सहारा ले सकते थे।

बा०—यहाँ पर आप एक बात भूले जा रहे हैं। युग का प्रभाव साहित्य पर पड़ता ही है। भूषण का वीर रस औरङ्गजेब के शासन की प्रतिक्रिया के कारण परिपक्व हुआ। 'रीतिकाल' की लम्बी परम्परा का रहस्य मुगल सम्राटों की नीति में है। उन्होंने राजाओं के शौर्य को अनावश्यक कर दिया। वे विलास में डूब गये। रीतिकाल भारतीय सामन्तशाही की मध्यकालीन प्रवृत्ति पर आश्रित था। उसी में पैदा हुआ था। उसी के समस्त धर्म उसमें आगये थे।

स०—कैसे ?

बा०—राजा अपने आश्रित कवियों में पाण्डित्य आवश्यक मानते थे। जिससे उन्हें सन्तोष हो कि उनके दरबार में भी रत्न हैं। इस प्रवृत्ति ने कवियों को शास्त्र तथा लक्षण ग्रन्थ लिखने की ओर लगाया। राजा विलासी थे ही। उन्होंने शृङ्गार की चर्चा और नायकाओं के वर्णन को उत्तेजना दी। इस विलास को सजीव बनाने के लिए उन्हें फड़कती चीज़ की आवश्यकता थी। उसने उक्ति वैचित्र्य और ऊहा प्रदान की। आज वह युग नहीं रहा। अतः रीतिकालीन कविता भी समाप्त हो गयी।

स०—जहाँ तक साहित्य के इतिहास का प्रश्न है वहाँ तक आपको यह रीतिकालीन कविता अपने प्रत्येक रूप में आज तक अटूट मिलती है।

बा०—कैसे ? ज़रा स्पष्ट कीजिए

स०—भारतेन्दु तक तो आप और सभी इतिहासकार मानते हैं। आपने ऐतिहासिक तर्क में भूषण को औरङ्गजेब कालीन नीति की प्रतिक्रिया बताया। पर उसी काल में मतिराम, देव, कालिदास, त्रिवेदी, कुलपति मिश्र जैसे दिग्गज आचार्य और कवि हुए जिन्होंने रीति कालीन काव्य की परम्परा में भूषण को केवल एक अपवाद ही कर दिया है। आचार्यत्व की दृष्टि से लाला भगवानदीन, जगन्नाथ प्रसाद भानु, बिनायक राव, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, केडियाजी, रसालजी, और अपने 'रस कलश' के लिए प्रसिद्ध पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय रीतिकालीन परंपरा के आचार्यत्व को आज तक बनाये हुये हैं। और जहाँ तक रीतिकालीन कविता का प्रश्न है वहाँ जगन्नाथदास रत्नाकरजी को कौन भूल सकता है।

बा०—यह तो आप ब्रज भाषा काव्य की बात कह रहे हैं। नये कवि और नये भाव क्या नहीं आये ?

स०—नये युग में भी रीति कालीन काव्य का अभाव कहाँ हुआ है ? रीति-युग के बाद साहित्यिक युग की दृष्टि से तो छायावाद का ही युग आया है। उसमें तो रीतिकाल की समस्त प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। केवल रूप-भेद हुआ है। इस युग के प्रवर्तक प्रसाद में और पन्त में ही आप देखें, समस्त प्रवृत्ति वही रीतिकालीन काव्य की है—वही 'प्रिय और प्रिया' के संयोग, वही उनके वियोग में आहोज़ारी और दीर्घ उच्छ्वास, वही हाव-भाव, लुकना छिपना, वही अलङ्कार-प्रियता, वही उक्ति वैचित्र्य।

बा०—सत्येन्द्रजी, यह तो आप बहुत चलती बात कह रहे हैं।

स०—नहीं बाबूजी, उदाहरणों से पुष्ट करके यह स्थापना सिद्ध की जा सकती है। प्रसाद जी का 'आँसू' तो इन सब प्रवृत्तियों का प्रबल परिचय देता है।

जल उठा स्नेह दीपक सा,
नवनीत हृदय था मेरा।
अब शेष धूम रेखा से,
चित्रित कर रहा अँधेरा।

इसमें अलंकार, ऊहा और उक्ति वैचित्र्य के साथ शृंगार रस की रति भावना ही तो स्थाई है। पंत जी का पल्लव तो समस्त रीतिकालीन रूप विधान पर खड़ा हुआ है। उसमें उच्छ्वास, षटऋतु, विशेषतः पावस और वसंत, सहेट-संकेत, और विविध नायिकायें, उनकी चेष्टाएँ अत्यन्त स्पष्ट देखने को मिल जायगी।

इस युग के कवियों ने केवल एक विपर्यय कर दिया है। प्राचीन कवि नायका के अंग प्रत्यंगों के लिए प्रकृति से उपमान खोजते थे। आज के कवि प्रकृति में नारी का आरोप करते हैं। आज ऊषा अथवा चाँदनी नारी बन गई है। और उनमें किसी न किसी नायका का रूप दर्शन हो सकता है।

बा०—पर यह सब रीतिकालीन मनोवृत्ति से तो नहीं हुआ। एक विराट और भव्य की भावना तो इनमें प्राचीनों से धरातल का अन्तर पैदा कर देती है।

स०—बाबू जी, वह विराट-भावना तो केवल आड़ मात्र है। माँस की स्थूल बैचेनी आप अंचल में देखते ही हैं। प्रसाद की कामायनी में भी श्रद्धा में नायिका-भाव का उद्दीपन करने वाला प्रतिपादन हुआ है। उसमें तो कवि ने वास्तविक रति भी चित्रित करदी है। उपाध्यायजी के 'प्रिय-प्रवास' से वियोग वर्णन की परिपाटी महाकाव्यों में मिलती

ही है। मैथलीशरण गुप्त जैसे राष्ट्रीय कवि की 'उर्मिला' और यशोधरा में वियोगिनियों के वही चित्र उतरे हैं जो रीतिकालीन में मिलते हैं।

बा०—पर ठहरिये, आपने इन सब उदाहरणों में क्या यह नहीं देखा कि वह 'राधा' देश और समाज की सेवा के लिए कटि बद्ध हो जाती है। भारतेन्दु जी की रचनाओं में भी देश की आर्त अवस्था उभरी है।

आवहु सब मिलकर रोवहु भाई
हा हा !! भारत दुर्दशा न देखी जाई

उर्मिला सैन्य-संचालन का कार्य करने को तत्पर है। मानवीय करुणा ही आज की रचनाओं में प्रतिफलन मिलती है। 'निराला जी' की, 'तोड़ती पत्थर थी इलाहाबाद की सड़क पर' में स्त्री का चित्र होते हुए भी कथा परिपाटी-मुक्त नायिका मिलती है। छायावादी कवियों ने आज वह चोला उतार फेंका है और प्रगतिवाद के निकट आ गए हैं।

स०—हाँ, पर उससे हुआ क्या है? यह भी तो देखिये।

बा०—वही तो मैं बता रहा हूँ। प्रगतिवाद ने तो समस्त प्राचीन रूढ़ियों को एक दम धता बता दी है, न अलंकारों का आकर्षण है, न छन्दों का। विषय की दृष्टि से नारी उसमें नहीं आती। इस बाद ने तो रीतिकालीन प्रवृत्ति के मूल को ही रूंध दिया है। प्रगतिवाद के अवतरण से रीति-कालीन प्रवृत्ति के लिये अब भविष्य भी बिल्कुल अंधकार मय हो गया है।

स०—बाबूजी, किंचित गहराई में जाकर देखिये, जिस प्रगतिवाद का आप उल्लेख कर रहे हैं, वह एक सामयिक लहर है। जिसने मनुष्य की शाश्वत भावनाओं, उसके मनोवेगों को साहित्य के लिये अस्वाभाविक उद्वेगों से कुछ काल के लिये दबा दिया है। पन्त जी प्रगतिवादी हो कर भी ग्राम्या में सौन्दर्य के मानों को नहीं त्याग सके। अंचल आदि की कविताओं में नारी का रीति-कालीन रूप छिपा हुआ है। उसकी वेशभूषा प्रगतिवादिनी होगई है। यथार्थ बह है बाबूजी कि रीतिकाल ने जिस 'रति-काम' को महत्व दिया वह शाश्वत मानववृत्ति है। वह किसी सामयिक आन्दोलन से, उत्तेजित विचारधारा से कुछ काल के लिए पीछे पड़ सकती है, पर टूट नहीं सकती। फ्रायड के मनोविश्लेषण ने इस बात को वैज्ञानिक प्रमाण-पत्र प्रदान कर दिया है।

बा०—देखिये! एक बात फिर कुछ भूल की सी हो रही है। आप जिसे शाश्वत वृत्ति कहते हैं, उसे मैं भी शाश्वत मानता हूँ पर प्रेम का वर्णन तुलसी ने भी किया है, सूर ने भी, पर वे रीतिकालीन कविता करने वाले नहीं हो जाते। भक्त कवियों ने खिले गुलाब की मादकता को लिया। रीतिकालीन कवियों ने गुलाब को सड़ा कर निकाले हुए शृङ्गारिक इत्र की मादकता में विभोरता पायी। आज आपको यह मानना पड़ेगा कि वह इत्र की मादकता हट रही है। खिले गुलाबों की ओर फिर दृष्टि जा रही है।

स०—सामयिक प्रभाव को मैंने मानने से कब इनकार किया है बाबूजी, पर वह सब क्षणिक है। भक्तिकाल की भक्ति के अभाव होने से रीतिकाल के उदय की बात कितने ही विद्वानों ने कही है। जबकि केशवदास उसी भक्तियुग में बैठे बैठे रीतिकाल का बीज अंकुरित कर रहे थे। यह रीतिकालीन भावना तो वेदों से लेकर आजतक उसी रूप में आयी है और आगे भी रहेगी। मनुष्य के दो रूप मानने ही होंगे, एक शाश्वत जब वह 'अपने व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व' से बँध रहा हो, दूसरा संघर्ष का सामयिक रूप, जब वह आन्दोलनों से आन्दोलित हो उठता है। पहला रीतिकालीन प्रवृत्ति का परिचायक है, किसी भी परिपाटी में बंधा हुआ हो और अमर है।

बा०—पर क्या यह भी आप नहीं मानेंगे कि, स्त्री अब उन कवियों की नायिकाओं की भांति 'भोग्या' नहीं रही। और ऐसी उक्तियां आज ही सुनने को मिलती हैं।

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आंचल में है दूध और नयनों में पानी ॥

साकेत संत और उसका राष्ट्रीय आदर्श*

[बाबू गुलाबराय एम० ए०]

यद्यपि यह युग मुक्तक-काव्य का गिना जाता है तथापि अब कवियों का, विशेषकर उनका जो प्राचीन आदर्शों से प्रभावित हैं झुकाव प्रबन्ध-काव्य की ओर होता जाता है। हाल ही में दो महाकाव्य निकले हैं, एक 'साकेत संत' दूसरा 'कृष्णायन'। पहला खड़ी बोली में है, दूसरा प्रबन्ध काव्य की जायसी और तुलसी द्वारा परिमार्जित अवधी भाषा में है। कृष्ण चरित का प्रायः मुक्तक में ही पल्लवित होने का एक कारण यह है कि हिन्दी के कवियों ने भगवान कृष्ण का माधुर्य-मय पक्ष ही अपनाया है, उनके द्वारिकाधीश रूप की झाँकी में उनका मन नहीं रम सका है। द्वारकाप्रसाद जी ने छछिया भर छाछ पर नाच नाचने वाले गोपीवल्लभ और अपने समय के राजनीतिक नाटक के सूत्रधार योगेश्वर पार्थ-सारथी कृष्ण के चरित को एक सूत्र में आबद्ध कर उसे महाकाव्य की अपेक्षित अनेक रूपता प्रदान करदी है (उसकी विस्तृत आलोचना हम अगले अंक में देंगे) दोनों ही की रचना मध्य-प्रान्त में हुई है और दोनों ही के रचयिता मिश्र-उपनामधारी हैं। यह एक विलक्षण संयोग है।

स्वनाम धन्य मैथिली शरण गुप्त ने साहित्य की उपेक्षिता उर्मिला को काव्य विषय बनाकर कवियों के उत्तरदायित्व को निभाया था। भरत जी का भी त्याग और तप लक्ष्मण जी से कम न था। गोस्वामी जी ने उनको 'भाइप भगति' का आदर्श माना है। उन्होंने भी राम की भांति ही प्राप्य राज्य को ठुकरा दिया था तभी तो गोस्वामी जी ने मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी से उनको राजमद से अछूता रहने का प्रमाण पत्र दिलवाया था।

भरतहि होइ न राजमद विधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँकि कांजी सीकरनि छीर सिंधु बिलगाइ॥

माण्डवी को केवल यही सन्तोष था कि भरत जी उसके पास थे, किन्तु वे राज्य करते हुए भी बनी थे। मिश्रजी ने महात्मा भरत को महाकाव्य का विषय बनाया है। साकेत और साकेत संत दोनों ही रामचरित के आश्रित हैं किन्तु साकेत में जहाँ पूरे रामचरित को (कुछ प्रत्यक्ष रूप से और कुछ उर्मिला के बिरह निवेदन में स्मृति रूप से) प्रकाश में लाने का प्रयत्न है वहाँ साकेत संत का कवि हर जगह अपने चरित नायक के साथ रहा है। भरतजी जब केकय देश को चले जाते हैं तब अयोध्या की घटनाओं पर पर्दा सा पड़ा रहता है। इसीलिए उनको कैकेयी मंथरा संवाद देने का मोह संवरण करना पड़ा। उसका उन्होंने पीछे से भरत के मामा युधाजित द्वारा उल्लेख करा दिया है।

---

* साकेत संत-लेखक, पंडित बलदेव प्रसाद मिश्र प्रकाशक, विद्या मंदिर लिमिटेड नई दिल्ली। पृष्ठ संख्या २०६ मूल्य ६)

कृष्णायन—लेखक, पंडित द्वारिकाप्रसाद मिश्र प्रकाशक—हिन्दी विश्व-भारती, कार्यालय लखनऊ। पृष्ठ संख्या ९०६, मूल्य १२)

जैसा दिनकर ने कहा है :—

'आज न उड़के नील कुंज में स्वप्न खोजने जाऊँगी,
आज चमेली में न चन्द्रकिरणों से चित्र बनाऊँगी।

यही आज कविता की दिशा होनी है।

स०—यों आज की बात है यह तो। कल की बात कहाँ है? युग-युग से जो चली आयी है वह किसी एक युग से परास्त कहाँ हो पाती है? वह आज पीछे भले ही पड़ जाय। कल फिर उभरेगी। इसमें इतिहास प्रमाण है।

बा० गुलाबराय—अब उस कविता कामिनी के रम्य-रत्नाभरण भी ढीले हो गये हैं। क्या आप इतना भी मानने को तैयार नहीं हैं कि दिन का आना नहीं हुआ, रात का आना हो गया?

सत्येन्द्र—खैर आप की खातिर यह तो मैं मान लूँ या कि कवियों का दृष्टिकोण तो बदला है लेकिन मनुष्य की शाश्वत भावनाएं वैसी की वैसी ही हैं। समय का प्रभाव अवश्य पड़ा है। (आल इंडिया रेडियो के सौजन्य से)

है धन्य मन्थरा ही वह,
यद्यपि दासों की दारा ।
जो समझ गई सब बातें,
पाकर एक इशारा ।

वास्तव में युधाजित भरत को अपने साथ लेजाते हुए मंथरा पर यह भार रख गये थे कि वह भरत का हित सँम्हाले रहे । तुलसीदास जी की 'गई गिरा मति फेर' की बात न थी । मिश्रजी ने दशरथ को दोष मुक्त करने के लिए भरत को केकय देश युधाजित के आग्रह पर ही भेजा है । 'जीत मामा की हुई विशेष' गुप्तजी के साकेत की भांति लंका की घटनाओं का आभास वसिष्ठजी के योगवल से करा दिया गया है ।

साकेत की भांति इस में भी कथा का आरम्भ भरत माण्डवी प्रेमालाप से होता है, किन्तु इसका श्रृङ्गार भरत के चरित के अनुकूल ही मर्यादित रहा है ।

मित्र जी ने भरत के चरित्र को शङ्का से भी परे बना कर लक्ष्मण जी से अकारण वीर दर्प प्रदर्शन की गुञ्जाइश नहीं रक्खी है । भरत जी के ससैन्य जाने की मिश्रजी ने पहले ही व्याख्या करदी है ।

भूप के अभिषेक का सब साज लो,
तीर्थ के जल और पावन नाज लो ।
छत्र चँवर गजादि बाहन संग हो;
चक्रवर्ती, के सभी वे रंग हो ।
साथ सेना हो कि नृप को मान दे,
साथ हो मुनि मण्डली जो विधान दे ।
साथ-परिजन हों कि सेवा भाव लें ।
साथ पुरजन हों कि प्रभु स्वीकार लें ।

इसके अतिरिक्त मिश्रजी ने रामजी को भरत के आगमन की सूचना कोलों द्वारा पहले ही दिलवा दी थी 'कोलो ने दी थी रात सूचना आकर, प्रिय बन्धु हेतु चल पड़े स्वतः करुणाकर ।'

कैकेयी के पश्चाताप के चित्रण में मिश्रजी ने गुप्तजी का साथ दिया है । 'युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी, रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी' के अनुकूल ही साकेत संत की कैकेयी की उक्ति है ।

तुमको बन भेजा अहह ! हुई ये बन्या,
तुम गहो भरत का हाथ बनू मैं धन्या ।
तुम एक बार 'मां' न हो लाल ! बलि जाऊँ,
मैं जो कुछ खो चुकी, पुनः वह पाऊँ

राम का उत्तर भी उनके अनुरूप है, देखिए—

मैं पुत्र और तुम सदा दुलारी मैया,
हूँ धन्य कि मुझ को मिला भरत सा भैया ।

मिश्रजी ने एक उद्भावना यह भी की है कि राम और भरत ने बड़ी सभा में मिलने से पूर्व उनकी एकांत में भट करादी है, जिससे श्री रामचन्द्रजी अपने बन आने का अभिप्राय पूर्ण रूप से भरत पर प्रकट करदें और उनकी बात न मानने का दोष राम पर न रहे । भरत के नन्दी ग्राम लौट आने पर कथा प्रवाह गीत मुक्तकों का रूप धारण कर लेता है । यह युग का प्रभाव है । एक गीत में माण्डवी का चित्र देखिए ।

कल की बधू आज माता-सी, दिव्य देवियाँ हारी ।।
भोजन लेकर चली माण्डवी जहाँ भरत व्रतधारी ।
जीवन रक्षक-कन्द मूल-फल, बस सामग्री सारी ।।
आई उतर तपस्या भू पर नारी बन सुकुमारी ।
पर सुकुमारी अग्नि शिखा थी जन-जग-पावनकारी ।।
तन पर दो खादी के टुकड़े, चार चूड़ियाँ धारी ।
एक छत्र शासक की यह थी आधी देह उघारी ।।
दोनों एक, परन्तु बीच थी असिधारा वह भारी ।
चौदह वर्षों तक न भावना जिसने अन्य निहारी ।।

इस काव्य में प्रकृति चित्रण भी सुन्दर हुआ है । बन वर्णन में इस पर भवभूति की छाया है । मानवी चरित्रों का इसमें सुन्दर निर्वाह हुआ है । यदि दानवी-चरित है तो युधाजित और ऋषि जावालि । जावालि-ऋषि के सिद्धान्त ही दानवी थे । किन्तु सज्जनता के आदर्शों के उद्घाटन के लिए दुर्जनता के आदर्शों का पूर्व पक्ष के रूप में उद्घाटन आवश्यक था । यह पुस्तक विचार प्रधान है । कला-पक्ष गौण होते हुए भी उसका अभाव नहीं है । भरत और राम के मिलन का बड़ा सुन्दर शब्द चित्र दिया गया है ।

भैया भैय। वह उभय भुजाएँ फूलीं,
वक्षस्थल चिपके, कमी-लताएँ भूलीं।
मन बुद्धि अहं तक एक हुए घुल मिल कर,
थी एक नीलिमा शेष, कहाँ कुछ अन्तर॥

'थी एक नीलिमा शेष' में व्यक्तित्व और पार्थक्य के विलीन हो जाने की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। यह प्रभाव का सुन्दर चित्रण है। कलात्मक स्थलों के दो एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

मैं हत भागिन अब क्या मांगूँ,
मांग, मांग का सेंदुर मेरा।

—यमक

× × × ×

चढ़ा दृगों में ज्वार, और
मुख के रंगों पर भाटा आया।

—रूपक और असंगति

ज्वार और भाटे का बड़ा सुन्दर संयोग हुआ है।

मधु लघु लहराती लहर लहर,
छल छल छविछाती छहर छहर।
रविकर रंजित झलमल झलमल,
आलोक भरा गंगा का जल।

—अनुप्रास

रहें मनुज निर्भयी मयी क्यों हो शव आकृति।

—यमक

(मालूम नहीं उस समय मिश्र की ममी प्रथा का ज्ञान भारतीयों को था या नहीं)

पुस्तक में भाव पक्ष और कला पक्ष की अपेक्षा विचार पक्ष की प्रधानता है। यही इस पुस्तक की कमजोरी और सबलता है।

यद्यपि हमारे यहां महाकाव्य के लक्षणों में इस बात का उल्लेख नहीं है कि महाकाव्य में देश की संस्कृति प्रतिबिम्बित होती है, तथापि व्यवहार में इस बात का पूरा ध्यान किया गया है। नवीन महाकाव्यों में ही नहीं वरन् प्राचीन महाकाव्यों में भी संस्कृति और जातीय मनोवृत्ति का उद्घाटन रहता है। नायक का उदात्त चरित का होना ही एक सांस्कृतिक पक्ष उपस्थित कर देता है। सज्जनों की प्रशंसा और दुर्जन निन्दा आदि में मनुष्य गुणों की परिचायक है। रघुवंश में 'शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां' श्लोकों में भारतीय संस्कृति का परिचय मिल जाता है। इस पुस्तक में हमको भारत के प्राण महात्मा गांधी के अहिंसा वादी आदर्शों की जो उपनिषदों के आदेशों पर आश्रित हैं, झलक बड़े स्पष्ट रूप में मिलती है। सच्चे राष्ट्र और उन्नत समाज का जो आदर्श है वह भी इस में प्रसङ्ग वश आगया है। यही काव्य का लोक पक्ष है। यही काव्य और जीवन का सम्बन्ध है।

पुस्तक के द्वितीय सर्ग में युधाजित और भरत में जो बात चीत हुई है उसमें एक ओर तो नित्शे के सिद्धान्तों की झलक है जिनको नाजी ही क्या प्रायः सभी यूरोप ने अपनाया है और दूसरी ओर भरत के मुख से गांधीवादी आदर्शों की स्थापना हुई है।

युधाजित— करुणा को दण्डित करले,
वही है विश्व विजेता।

× × × ×

सिंहासन है उनही के।
जो रहे न दुर्बल मन के॥

भरत— अति मानवता कब अटकी,
जग के नश्वर भोगों में।
मानव पशु ही होता है,
पाशव सुख के योगों में।

× × × ×

वह शक्ति शक्ति ही कैसी,
दुर्बल-बलि जिसका बल है

× × × ×

शासक वह क्या शासक है,
जो केवल भय उपजावे।
जिसके नयनों की ज्वाला,
सुहृदों को शत्रु बनावे।

रामचन्द्र जी आर्य संस्कृति के प्रचार के लिये आये थे किन्तु वे बल पूर्वक आदर्शों के प्रचार के पक्ष में न थे। देखिये—

दो आत्म कथायें*

["मधुकर" एम.ए.]

हिन्दी में यों आत्म कथा (Autobiography) लिखने की प्रथा पुरानी है। बनारसीदास जैन का 'अर्द्ध-कथानक' एक आत्म-कथा है जो आज से, आधुनिक युग से कईसौ वर्ष पूर्व लिखा गया। बीच में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने कुछ प्रयोग किये; किन्तु वे पूर्ण न हो सके। आधुनिक युग में हिन्दी के साहित्यकारों में बाबू श्यामसुन्दरदास तथा

भूप बन यदि हम दक्षिण गये,
रहेगा शस्त्रों ही का खेल।
बनेंगे दक्षिण उत्तर एक,
उरों का हो जब उर से मेल।

आर्य संस्कृति के अनुकूल समाज का आदर्श इस प्रकार दिया गया है—

अभय हों सभी, शक्त हों सभी,
न कोई कहीं दुखी हो लोग।
राज्य से खुले रहें सब ओर,
अशक्तों की रक्षा के योग।
योग्यता भर सब ही श्रम करें,
और आवश्यकता भर प्राप्ति।

पुस्तक में अखण्ड भारत की भी झलक है, साथ ही विभिन्न जातियों और संस्कृति के लोगों की संस्कृति की रक्षा के साथ उनके एक राष्ट्रीयता के सूत्र में बांधने की भी पुकार है।

सभी निज संस्कृति के अनुकूल,
एक ही रचे राष्ट्र उत्थान।
इसलिये नहीं कि करें सशक्त,
निर्बलों को अपने में लीन।
इसलिये कि हों विश्व हित हेतु,
समुन्नति पथ पर भव स्वाधीन।

आजकल हम को ऐसे ही साहित्य की आवश्यकता है जो यह प्रचार करे कि इसलिये नहीं कि—करें सशक्त, निर्बलों को अपने में लीन, यहाँ कला जीवन के लिये होती है, और साहित्य राजनीति का हाथ बटाता है।

महादेवी वर्मा ने अपनी आत्म कथा तथा संस्मरण हिन्दी को दिये हैं। महादेवीजी के 'अतीत के चल चित्र' एक अनोखी वस्तु है। उससे हिन्दी को, साहित्यिक आत्म कथा विभाग को अच्छी देन मिली है। किन्तु कितने ही अन्य कारणों से आत्म-कथा साहित्य में अभी तक दो महापुरुषों की रचनायें विशेष आदर की वस्तु रही हैं। एक विश्ववन्द्य महात्मा गांधी की आत्म कथा, दूसरी पं० जवाहरलाल नेहरू की आत्म-कहानी। ये दोनों आत्म-कथाएँ हिन्दी में अनुवादित होकर आयी हैं। आज हमारे सामने दो और आत्म-कथाएँ हैं—एक डा० राजेन्द्रप्रसाद की आत्म-कथा, दूसरी राहुल सांकृत्यायन की 'मेरी जीवन-यात्रा'। ये दोनों ही हिन्दी में लिखी गयी हिन्दी की मौलिक सम्पत्ति हैं।

डा० राजेन्द्रप्रसाद भारत के प्रमुख नेता हैं। वे कांग्रेस के सभापति रह चुके हैं, और आज अन्तरिम सरकार के खाद्य-सदस्य ही नहीं विधान-परिषद के प्रधान भी हैं। गांधीवादी राजनीति के आप प्रमुख स्तम्भ हैं, और इसी कारण बिहार के गांधी तक कहे जाते हैं। वे हिन्दी-प्रदेश के हिन्दी के अपने हैं। और उसके क्षेत्र की एक महान विभूति हैं।

राहुल जी भी उसी बिहार के हैं। हिन्दी के वे पहले घुमक्कड़ फिर महापंडित-लेखक और तब साम्यवादी नेता हैं। आज वे रूस के एक प्रसिद्ध विश्व-विद्यालय में भारतीय ज्ञान के अध्यापक हैं। वे भी देश की और हिन्दी की एक महान विभूति हैं। आज हमें इन दोनों की आत्म-कथायें हिन्दी के माध्यम से प्राप्त कर गौरव अनुभव होता है।

आत्म-कथा साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग है

* १—आत्मकथा—लेखक, देश रत्न डा० राजेन्द्र-प्रसाद, प्रकाशक—साहित्य संसार पटना। पृष्ठ संख्या वृहदाकार ६५६७ मूल्य १२)।

२—मेरी जीवन यात्रा—लेखक, राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक—किताब महल इलाहाबाद, पृष्ठ-संख्या ५६४ (साधारण आकार); मूल्य ७॥)।

आत्म-कथा लेखन ने एक कला का रूप ग्रहण कर लिया है। यह निर्विवाद् है कि सभी साहित्य आत्म-अभिव्यक्ति है; उपन्यास-नाटक आदि उसकी विविध शैलियाँ हैं। आत्म-कथा भी अतः अभिव्यक्ति की एक शैली है। उपन्यास-नाटक आदि में हम लेखक के मानस में उतराते हुए विचारों और भावों को ही चित्रित पाते हैं। उसकी मनोगति की अवस्था तर्क-युक्ति प्रमाण की योजना-कुशलता ही हमें मिल पाती है। वृक्ष का फल ही मिलता है। पर भौतिक वनस्पति जगत में 'फल' के बाद हमें पेड़ गिनने की अथवा वृक्षों को जानने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। किन्तु इस साहित्य क्षेत्र में हम साहित्य देने वाले व्यक्ति को भी साहित्य का रूप देकर समझना चाहते हैं। आत्म-कथा एक ऐसा ही प्रयास है। साहित्य देने वाला व्यक्ति स्वयं साहित्य बन कर प्रस्तुत होता है। अपनी रचना का वह स्वयं नायक हो जाता है। साहित्यकार अपरोक्ष रूप से जब तक अपनी रचनाओं में व्याप्त रहता है, वह हमारे लिये आकर्षण का विषय बना रहता है। आत्मकथा में वह स्वयं 'साहित्य' का रूप ग्रहण करते हुए भी अपनी उस व्याप्ति को नहीं छोड़ता। वह आत्म-कथा में जितना ही प्रयत्न होता चला जाता है उतना ही उसका साहित्यिक-व्यक्तित्व उसमें अपरोक्षतः व्याप्त होता चला जाता है। आत्म-कथा में भी हमें इसीलिये एक ओर तो उसके लिखने वाले लेखक को देखना होता है, दूसरे 'लेख्य' विषय 'नायक' को। आत्म-कथा की कला एक कठिन कला है। लेखक स्वयं ही विषय बनकर उसमें आता है। उसका न्याय अपनी 'आत्म-कथा' के नायक के साथ भी वही होना चाहिए, जो वह किसी अन्य जीवनी के नायक अथवा उपन्यास, नाटक के नायक के साथ करता। इस न्याय का अर्थ अपनी कमजोरियों और बुराइयों को खोलकर रख देने से पूर्ण नहीं होता। यह न्याय चाहता है कि आप वस्तु-स्थिति के यथार्थ को हाथ से न जाने दें। कलम का कौशल छद्म में सहायक हो सकता है, तभी शायद काल-यिल ने कहा था कि भाषा भावों का आच्छादन है। भाव तो और भी अधिक धोखे की टट्टी हो सकते हैं। जीवन के सत्य को इन सब अयथार्थों के हिरण्यमय पात्रों से अनावृत कर मग्नतः उपस्थित कर देने में ही आत्म-कथा-कार का कौशल है। यह वह अन्य शैली की रचनाओं के द्वारा नहीं कर सकता। उसे कहीं पात्रों का आवरण, कहीं उस विभाग की टेकनीक के छल का आश्रय लेना पड़ता है और उनके लिये उसे जीवन के सत्य को विविध रूपेण प्रस्तुतः करना पड़ता है, उनमें सत्य उतना ही संशोधित हो जाता है। जब लेखक यह अनुभव करता है कि उसे सभी पर्दों को फाड़कर अपने स्वरूपका साक्षात्कार कर जीवन के मग्न सत्य को ही देख लेना और दिखा देना है, तब वह आत्म-कथा ही लिख सकता है। अन्य किसी प्रेरणा से लिखी आत्म-कथा मूल्यवान नहीं हो सकती। यह सब होते हुये भी आत्म-कथा कला है। इस कला का कल्पना तत्त्व जीवन की विस्तृत बिखरी सामग्री में से आवश्यक तत्वों का संकलन कर उन्हें सुव्यवस्थित कर देता है। जीवन के विविध आचारों को चरित्र की प्रेरणा से अनुप्राणित करता है, और आत्म-निरीक्षण का अवसर देता हुआ भी प्रत्येक आचरण की एक व्याख्या प्रस्तुत करता है। जीवन-जगत के रागतत्वों को भी यथास्थान उद्‌मुदित करता है। ऐसी ही आत्म-कथायें आदरणीय होती हैं। जो आत्म-कथायें अपने किन्हीं कार्यों की व्याख्या करने, अपने अहंकार का प्रत्यक्ष पोषण करने, अपनी त्रुटियों के लिये बहाने देने के लिये लिखी जाती हैं वे न लिखी जाँय तो श्रेयस्कर है। फलतः आत्मकथा में तटस्थता और आत्म-संयम की महत्त्वम आवश्यकता है।

प्रस्तुत दोनों आत्म-कथायें कला की दृष्टि से भी महान हैं। यह आशा के अनुकूल ही है। ऐसे महानपुरुषों से आवश्यक भव्यता की अवहेलना नहीं हो सकती।

डा॰ राजेन्द्रप्रसाद की 'आत्म-कथा' में आत्म-संयम बहुत ऊँचा है। उनकी कथा उनकी जन्म-भूमि जीरा देई की ग्रामीण-भूमि के संकुचित क्षेत्र से क्रमशः विस्तृत होती चली गई है। उसका विकास क्रमिक है, उत्क्रमिक नहीं। अनवरत अध्यवसाय वाली आत्म-दृढ़ता और कर्तव्य-निष्ठता कैसे मनुष्य को ऊँचे से ऊँचा उठाती ले जाती है यह इस आत्म-कथा से मिलता है। वास्तविक योग्यता—खरा सोना संकोच-शील प्रवृत्ति के आवरण से भी चमक उठता है,

और गुण-ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहता। हाँ उत्तरदायित्व पड़ने पर उन्हें सम्भालने की तत्परता भी आवश्यक है। डा० राजेन्द्रप्रसाद ग्रामीण विद्यार्थी-जीवन से नागरिक में गये। फिर कलकत्ता कालेज में प्रविष्ट हुये। हर परीक्षा में प्रथम आते गये। कलकत्ते में १६०५ से कैसे धीरे-धीरे राजनीति की ओर आकृष्ट हुए। विद्यार्थी जीवन में किस प्रकार अध्ययन किया, किस प्रकार अपनी योग्यता बढ़ाई, कैसे वकालत के लिये तय्यारी की, और कैसे परिस्थिति चक्र ने उन्हें राजनीति में लिप्त किया और वे घर से वैराग्य सा लिये हुये जन-सेवा के कार्य में जुटे रहे। विद्याध्ययन में तो उनकी मौलि प्रतिभा साथ देती थी। उचित परिश्रम से सदा प्रथम श्रेणी पाते रहना, उनके मेधावी होने का परिचायक है। सेवा में उनकी रुचि भी स्वाभाविक थी और वे उसी सेवा-रुचि के कारण विहारी-छात्रों का संगठन करने में प्रवृत्त हुए। उसकी सफलता के कारण बहुत व्यक्तियों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ। किन्तु राजनैतिक क्षेत्र में उन्हें विशेष जकड़ कर गाँधीजी के चम्पारन में किये गये उद्योग ने बाँधा। यह आत्म-कथा हमें यह स्पष्ट बता देती है कि किस प्रकार भारत की निष्क्रिय मंचीय राजनीति को छोटे छोटे उद्योगों के साथ गांधीजी ने सचेष्ट उद्योगशील राजनीति में परिणत कर दिया। १६०५ से १६४६ तक की राजनीतिक प्रगति का इस व्यक्ति के क्रमिक विकास के साथ भी घनिष्ट संबन्ध रहा है। वह सब इसमें आगया है। साथ ही ग्रामीण जीवन और विविध रीति रिवाजों का भी सूक्ष्म उल्लेख जहाँ तहाँ हुआ है। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य कैसे वैमनस्य में धीरे-धीरे परिणत होता चला गया, बिहार प्रान्त कैसे कैसे स्वतंत्रता सग्राम में प्रवृत्त होता चला गया, इन सब ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक चर्चाओं के साथ व्यक्तिगत जीवन में ममता की झाँकियाँ भी हमें जहाँ तहाँ मिलती हैं। डा० राजेन्द्रबाबू का कैसा पारिवारिक जीवन था? उनकी अपने माता-पिता तथा बड़े भाइयों से कैसी श्रद्धा थी, घर के सम्बन्धों को उन्होंने कैसे निबाहा, व्यक्ति और कुटुम्ब, कुटुम्ब और प्रान्त, प्रान्त तथा देश सभी सम्बन्धों का निर्वाह करते हुये कैसे स्वातंत्र्य संग्राम के सैनिक और नेता बने। यह सब रोचक किन्तु सरल सीधी स्वाभाविक भाषा में डा० राजेन्द्र बाबू ने लिख दिया है। बीच बीच में मनोरंजक स्थलों की कमी नहीं है। यह 'आत्म-कथा' गांधीजी की 'आत्म-कथा' की भाँति अपने सत्य प्रयोगों को प्रकट करने के दावे के साथ नहीं है। आत्म-कथाकार ने अपनी कुशाग्र-बुद्धि से यह अनुभव किया है कि गांधीजी का मार्ग ही वह मार्ग है जो उनका अपना मार्ग हो सकता है, उनके अपने जीवन-सत्य के प्रयोग का मार्ग हो सकता है। और बिना विशेष तरद्दुद में पड़े वे उसे मौलिक प्रतिभा के साथ व्यवहार में परिणत करते चले गये हैं। न पं० जवाहरलालजी की आत्म-कथा की भाँति यह विविध राजनीतिक व्यक्तित्वों और राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय धारा संघर्षों का रेखाङ्कन है। पं० जवाहरलाल जैसी रोमांटिक भाव-भूमि का यद्यपि इसमें सर्वथा अभाव नहीं, फिर भी वह भाव रंगियाँ या रंगीनी नहीं, और न वैसे रेखा चित्र ही हैं। फिर भी व्यक्ति से अधिक घटनायें ही इस आत्म-कथा की भाषा बनी हैं, और उन घटनाओं के द्वारा ही व्यक्ति और व्यक्तित्व उभरे हैं, उनके साथ ही अनेक भाव और विचार। इससे पुस्तक में दुर्बोधता है, बहुत अधिक नामों और स्थलों की टकराहट भी नहीं है। इसके प्राकथन में श्री बल्लभ भाई पटेल ने जो लिखा है वह अक्षरशः ठीक है—

"श्री राजेन्द्र बाबू को देखते ही उनकी सरलता और नम्रता की जो छाप हमारे दिल पर पड़ती है, उसका प्रतिबिम्ब इस आत्म-कथा के पन्न-पन्ने में पाया जाता है।"

इस आत्म कथा में हमें राजेन्द्र बाबू के बाल्यकाल के विहार के सामाजिक रीति-रिवाजों का, संकुचित प्रथाओं से होने वाली हानियों का, उस समय के ग्राम्य जीवन का, धार्मिक व्रतों उत्सवों और त्यौहारों का, उस जमाने के बच्चों के जीवन का और उस समय की शिक्षा की स्थिति का हूब-हू चित्र देखने को मिलता है। उस चित्र में सादगी और खान दानियत के साथ विनोद और खेद उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का मिश्रण हुआ है। साथ ही आज-कल हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भेद-भाव की जो खाई बढ़ी हुई नजर आती है उसके अभाव का और दोनों

ज्ञातियों के बीच शुद्ध स्नेह का जो चित्र इस आत्म-कथा में है वह आँखों को ठण्डक पहुँचाने वाला होते हुए भी दुर्भाग्य से आज लुप्त होता जारहा है।

राहुल जी की जीवन-यात्रा भी जीवनी है। पर जीवन यात्रा नाम ही उसे लेखक ने दिया है। अन्तर्मुख पृष्ठ पर लिखा है। "बेड़े की तरह पार उतरने के लिए मैंने विचारों को स्वीकार किया न कि सिर पर उठाए-उठाए फिरने के लिए" इस वाक्य से हमें पहले ही लेखक अपने जीवन की कुंजी देता है। फिर दो पंक्तियों में यह 'समर्पण' है "उन दौड़नेवालों की स्मृति में जो मुझे आगे बढ़ने का अवसर दे आप पीछे रह गये।" जिससे लेखक का अपने आगे बढ़ जाने का विश्वास प्रकट होता है, और पाठक को उसे आगे बढ़ने को देखने के लिए उत्सुक कर देता हैं। फिर प्राक्कथन में एक स्थान में उन्होंने यह स्पष्टीकरण किया है—"मैंने अपनी जीवनी न लिखकर जीवन-यात्रा लिखी है। यह क्यों? पाठक इसका उत्तर पुस्तक को पढ़कर ही पा सकते हैं। अपनी लेखनी द्वारा मैंने उस जगत की भिन्न-भिन्न गतियों और विचित्रताओं को अंकित करने की कोशिश की है जिसका अनुमान हमारी तीसरी पीढ़ी बहुत मुश्किल से करेगी।" इस आत्म-कथा में इस प्रकार हम वैविध्य और वैचित्र्य पाने के लिए पहले से तैयार हो जाते हैं। लेखक का कुछ दृष्टि-कोण भी आरम्भ से स्पष्ट हो जाता है।

इस लेखक की पितृ-भूमि कनैला है। किन्तु इसे बहुधा अपने नाना-नानी के पास पन्दहा रहना पड़ा। नाना का स्नेह भी बहुत था, उसका प्रभाव भी पड़ा। उन्हीं के प्रभाव से उनकी मटरगश्ती की कहानियाँ सुन-सुन कर देश-विदेश घूमने की रुचि पैदा हुई। साथ ही वाज़िन्दा की इस युक्ति ने,

सैर कर दुनिया की गाफ़िल ज़िन्दगानी फिर कहाँ
ज़िन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ

तो गिलोय को नीम चढ़ी कर दिया। इस घुमक्कड़ प्रवृत्ति के साथ अध्ययन की रुचि और ज्ञान-जिज्ञासा भी उतनी ही प्रबल रही। इन दोनों प्रवृत्तियों की स्पर्द्धा हमें इस लेखक के जीवन में निरंतर होती मिलती है। यद्यपि पहली उड़ान नाना के भय से ही हुई और वह भाग कर कलकत्ता पहुँचे। उसके बाद तो हृदय का भय निकल गया। और बीच-बीच में पढ़ाई छोड़ कर, कार्य छोड़ कर कभी दक्षिण की ओर कभी उत्तर की ओर यात्राएं करते रहे। इन यात्राओं का विशद वर्णन इस आत्म-कथा में दिया गया है। लेखक की स्मरण-शक्ति ने प्रत्येक छोटे-बड़े आदमी का नाम सुरक्षित रखा है। इस प्रकार इस आत्म-कथा में ग्रामीण-जीवन के साथ-साथ भारत के दक्षिण के छोर कुमारी अन्तरीप से लेकर उत्तर हिमालय में तिब्बत तक के प्रसिद्ध तीर्थों तथा दिव्य स्थानों और उनके मार्ग का रोचक वृतान्त प्रस्तुत कर दिया है। हिमालय के वर्णन में तो कवि की काव्यानुभूति भी जागृत हो उठी है। प्रत्येक वर्णन में राहुल जी का उपन्यासकार काम करता प्रतीत होता है। फिर भी इतने पात्र और इतने स्थान आये हैं कि उनकी भीड़ कहीं-कहीं खटकने वाली हो गई है यद्यपि कथाकार की विलक्षण स्मरण शक्ति का लोहा मानना पड़ता है।

इस लेखक का जीवन बड़े उतार चढ़ावों का रहा है। फिर भी उत्कर्ष की ओर बढ़ता रहा है। उसे अच्छे संयोग मिले हैं। बनारस में संस्कृत पढ़ने गया तो वहाँ तन्त्र विद्या में प्रेम हुआ और उसका अनुष्ठान करते हुए जो परिणाम निकला, उससे प्रेमचन्द जी के प्रेमाश्रम उपन्यास के उन दो भाइयों का स्मरण हो जाता है जिन्होंने सिद्धि के विश्वास में अपने प्राण गवाँ दिये। वहाँ परसा के महन्त मिले जिन्होंने उत्तराधिकारी बनाने के लिये इस केदारनाथ को अपने साथ ले लिया। जो केदारनाथ पहले वैष्णवों से घृणा करता था। वह अब वैष्णव बना। परसा का उत्तराधिकारी होने की शिक्षा पाने लगा। भुज-मूलों को शंख-चक्र से दगवा कर दीक्षित भी हो गया। यहाँ से उड़ान भरी तो दक्षिण की ओर चल पड़ा और वहाँ तिरुमिशी के महन्त का उत्तराधिकारी बनाया गया। अयोध्या में संस्कृत पढ़ने के लिए ठहरे तो देवी की बलि रोकने में आर्यसमाजियों से सहानुभूति पाकर आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुआ। आगरा के मुसाफिर विद्यालय में आर्य मिश्नरी बनने की शिक्षा पायी और वैदिक धर्म का विस्तार करने का उद्योग भी किया। वहाँ से बौद्ध धर्म की ओर दृष्टि गई

बौद्ध तीर्थों का दर्शन किया। धीरे धीरे यह बौद्ध होने लगा। इस आत्म कथा में अधिकांशतः लेखक के धार्मिक रूपों का ही विशेष उल्लेख हुआ है। पुस्तक का मूल ४७१ पृष्ठों में है। उसमें से ३७१ पृष्ठ लेखक के विविध धार्मिक रूपों से ही संबंधित हैं। इसमें भी धर्म की गहराई को प्रस्तुत करने की उतनी चेष्टा नहीं की गई जितना उनके रूप का स्थूल वर्णन करने की। यही कारण है कि इसे लेखक ने जीवनी न कह कर जीवन-यात्रा कहा है। लेखक को गांधी जी के कार्यक्रम का प्रभाव देश पर दक्षिण में पड़ता दिखाई पड़ा। असहयोग आन्दोलन आरंभ हुआ, और जब वह उग्र हुआ तो इस लेखक को भी देश की पुकार ने अपनी ओर आकर्षित कर दिया। तब से यह धार्मिक विडंबनाओं को छोड़ कर राजनीति और सेवा के मार्ग में तत्पर हुए। सेवा कार्य में प्रवृत्त होने पर भी लेखक की घुमक्कड़ वृत्ति शान्त नहीं हुई और नैपाल तथा तिब्बत की यात्रा उसने फिर की। लेखक का मूल नाम केदारनाथ था। फिर परसा में वह रामउदारदास बना, बौद्ध होने पर राहुल सांकृत्यायन।

लेखक का विवाह ११ वर्ष की अवस्था में हुआ, और इस विवाह ने लेखक को घर से और भी विरक्त कर दिया। लेखक के ही शब्दों में—"उस वक्त ग्यारह वर्ष की अवस्था में मेरे लिये यह तमाशा था। जब मैं सारे जीवन पर विचारता हूँ, तो मालुम होता है, समाज के प्रति विद्रोह का प्रथम अंकुर पैदा करने में इसने ही पहला काम किया। १९०८ ई० में जब मैं १५ साल का था, तभी से मैं उसे शंका की नजर से देखने लगा। १९०९ ई० के बाद से तो मैं गृहत्याग का बाकायदा अभ्यास करने लगा, जिसमें भी इस "तमाशे" का थोड़ा-बहुत हाथ जरूर था। १९१०–११ ई० से निश्चित तौर से मैं इसे अपना ब्याह नहीं कहता था। ग्यारह वर्ष की अबोध अवस्था में मेरी जिन्दगी को बेचने का घर वालों का अधिकार नहीं। इस प्रकार जिस बालिका का संबंध हुआ, उसका उल्लेख इस जीवन यात्रा में कहीं नहीं आता। मामूली से मामूली, रास्ते चलने वाले व्यक्ति का नाम ही नहीं उसका चेहरा-मुहरा और गति-विधि का रोचक परिचय यहाँ मिलेगा, पर इस 'उर्मिला' तो नहीं कुछ-कुछ 'यशोधरा' का वर्णन उपेक्षित रहा है। सबसे अन्त के परिशिष्ट में एक स्थान पर लिखा मिलता है: 'भोजन समाप्त हुआ। हम उठना चाहते थे कि कपड़ों से ढकी एक मूर्ति ने मेरे पैरों पर गिर कर रोना आरंभ करना चाहा। मैं तुरन्त चलने को उठ खड़ा हुआ। खैर रोना वहीं रुक गया। रोने वाली कौन थी कह नहीं सकता, न मुझे बतलाया गया। मेरे नाम से शैशव में घर वालों ने जो ब्याह किया था, उसे तो घर के साथ-ही तीन दशाब्दियों पहले ही मैं छोड़ चुका था।" इन सबसे यद्यपि किसी भी सहृदय को बुद्धितः भी संतोष नहीं हो सकता, फिर भी इस घटना से आत्मकथा के नायक पर गहन प्रभाव पड़ने का स्पष्टीकरण अवश्य हो जाता है। काश! वह स्त्री भी इस आत्मकथा के नायक की भांति स्वाभिमानिनी ही नहीं, पढ़ी लिखी होती, और वह भी कुछ पंक्तियाँ लिख सकती। इस परित्यक्ता का दुःख उर्मिला और यशोधरा से भी कहीं विकट है। वह बिना अपने किसी अपराध के दण्डित की गई और उसे अपना पक्ष रखने तक की योग्यता किसी क्रान्तिकारी अथवा समाज-सुधार-व्यग्र ने क्यों न दी? महान पुरुषों के जीवन की ये घटनाएँ ही कवि और काव्यों के लिए सामिग्री प्रस्तुत करतीं हैं।

इस जीवन यात्रा के साथ पांच परिशिष्ट और लगाये गए हैं, इनमें से प्रथम में १९२२ की डायरी से लेखक के संस्कृत तथा हिन्दी की कुछ रचनाओं का उल्लेख है। इससे हमें राहुलसांकृत्यायन के कवि होने का भी पता चलता है। सांकृत्यायन वंश पर ऐतिहासिक विचार अवलोक्य हैं। नाना और पिता का पूरा परिचय दे कर अन्तिम पृष्ठ में चौंतीस साल बाद कनैला और पन्दहा आने का वर्णन है।

इसमें लेखक ने समय का ध्यान रखा है, उसकी अबाधता ने कहीं भी कटुता नहीं ग्रहण की।

ये दोनों ही आत्म कथायें हिन्दी की अनोखी देन हैं। दोनों ही महापुरुष इस देन के लिए बधाई के पात्र हैं।

अभी हिन्दी में इस दिशा में और भी उद्योग होने की आवश्यकता है।



साहित्यालोचना

तुलसीदास : एक अध्ययन—लेखक-श्री रामरतन भटनागर एम० ए०; प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद। पृ० सं० २६१, मूल्य २॥) ।

लेखक ने लिखा है कि "आशा है यह पुस्तक उन विद्यार्थियों को रुचेगी जो तुलसी के साहित्य-खोजियों के वाद-विवादों से ऊपर युग-पुरुष के रूप में देखना चाहेंगे।" इससे लेखक का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। उसने यथा-संभव इसका निर्वाह भी किया है। १२ निबन्धों में जीवनी और व्यक्तित्व, रचनाएँ और उनका संक्षिप्त परिचय, राम-कथा, राम, तुलसी की भक्ति, धर्म और दर्शन, काव्य, विनयपत्रिका की एक परख, तुलसी के अन्यग्रन्थ, तुलसी की मौलिकता, हिन्दी साहित्य में तुलसी का स्थान, तुलसी संदेश पर विद्यार्थी-उपयोगी विचार प्रकट किये गये हैं। लेखक ने अच्छी मधुप-वृत्ति का परिचय दिया है। अबतक जो भी नयी से नयी शोध हुई है, उसका उल्लेख किया गया है। 'तुलसी की मौलिकता' सम्बन्धी निबन्ध में लेखक ने अपने मौलिक अध्ययन का भी थोड़ा-सा संकेत किया है—रामचरित मानस की रूपरेखा भागवत् के अनुकरण पर है, यह सिद्ध करने की चेष्टा लेखक ने की है। और यही उसने विद्यार्थी को अपने संकल्प के विरुद्ध विवादास्पद क्षेत्र में ला खड़ा किया है। जिन साम्यों को लेकर लेखक ने भागवत का अनुकरण सिद्ध करना चाहा है, वे न तो पूर्ण रूपरेखा ही प्रस्तुत करते हैं, और न विशेष प्रबल ही हैं। फिर भी यह समस्या विचारणीय है। संपादक-वृत्ति होने के कारण पुस्तक में गहराई नहीं आ सकी है।

सूरदास : एक अध्ययन—लेखक-श्री रामरतन भटनागर एम० ए०; प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद। पृष्ठ २५१, मूल्य २॥) ।

सूरदास पर 'सूर साहित्य की भूमिका' नाम से एक ग्रन्थ यह लेखक पहले भी लिख चुका है। यह उसकी दूसरी पुस्तक है। लेखक का कथन है कि 'इस पुस्तक में सूर सम्बन्धी गवेषणाओं को आगे बढ़ाया गया है, और उन्हें इतिहास, धर्म और साहित्य-शास्त्र के मापदंडों पर नवीन ढंग से तोलने का प्रयत्न किया गया है।' इसमें १० निबन्ध हैं—सूर का कथा-संगठन, सूरसागर और भागवत की कृष्ण-लीलायें, सूर की विनय-भावना, सूरदास का वात्सल्य, रस-निरूपण, सूरदास का शृंगार, सूर के काव्य में आध्यात्मिकता, सूरदास का धार्मिक काव्य, शुद्धाद्वैत की दार्शनिक मान्यतायें और सूरसागर, सूरदास का भक्ति-काव्य, सूर के काव्य की विशेषतायें। पीछे पाँच पृष्ठों के परिशिष्ट में लेखक ने सूर की जीवनी, व्यक्तित्व और रचनाओं पर अत्यन्त संक्षिप्त और अपर्याप्त प्रकाश भी डाला है। प्रथम दो निबन्धों में पुस्तक के ११६ पृष्ठ व्यय हुए हैं, शेष १३५ में नौ; इसी से स्पष्ट है, लेखक का विशेष श्रम भागवत और सूरसागर की तुलना में गया है। इस श्रम में उसकी मौलिक देन है, वह यह है कि सूर-सागर एक व्यवस्थित प्रबन्ध-काव्य है, और भागवत की कथाओं में आवश्यकता-नुसार संशोधन कर के उन्हें उस व्याख्या के अनुकूल कर लिया गया है, तथा बारह मौलिक प्रसंगों की भी उद्भावना की गई है, जो किसी पुराण में नहीं मिलती। सूर-सागर में दो कथायें साथ साथ मिलती हैं, पद-बद्ध और छंद-बद्ध। "दूसरी छंद बद्ध कथा केवल ग्रंथ को भागवत रूप देने के

लिये लिखी गई है, और कहीं कहीं कथा विधान की कथा की भाँति भी काम करती है। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक की स्थापनाओं पर विशेष विचार करने की आवश्यकता है। शेष अध्याय विद्यार्थियों और परीक्षार्थियों की दृष्टि में रख कर लिखे गये प्रतीत होते हैं। लेखक की शैली सुबोध है और व्यवस्थित विश्लेषण पर निर्भर करती है।

नन्ददास : एक अध्ययन—लेखक वही; प्रकाशक वही। पृष्ठ २३६, मूल्य वही।

लेखक ने लिखा है कि "प्रस्तुत पुस्तक नन्ददास पर पहला ग्रन्थ है।" प्रथम पुस्तक होते हुए भी पुस्तक में मौलिक स्थल कम ही हैं। अधिकांश संग्राहक मधुप-वृत्ति से विविध निबन्धों और भूमिकाओं तथा साहित्य के इतिहास ग्रन्थों से बिखरी सामग्री को लेकर अपने ढंग से एक स्तुत्य व्यवस्था प्रदान कर दी है। इसमें सात निबन्ध हैं: १ जीवनी, २ रचनायें, ३ नन्ददास के काव्य में पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त, ४ नन्ददास का पदावली साहित्य (गीत काव्य) ५ नन्ददास की भक्ति, ६ काव्य और कला, ७ परिशिष्ट—वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत दर्शन और पुष्टिमार्ग।

जीवनी में लेखक का सोरों वाली सामग्री को मान लेने की ओर झुकाव है। वार्ता को भी मान लिया है। तभी अकबर और बीरबल के समक्ष मानसी गंगा पर उनकी मृत्यु होने पर विश्वास कर उनकी मृत्यु-तिथि का निर्णय करने की चेष्टा की है, और मृत्यु स्थान भी उसी के आधार पर 'मानसी-गंगा' माना है। कम से कम वार्ता की प्रामाणिकता सिद्ध होने की महती आवश्यकता है, अन्यथा इन निश्चयों पर पहुँचने का समस्त उद्योग व्यर्थ है। रचनाओं पर विचार करते हुये लेखक ने प्रयाग-विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'नन्ददास' ग्रंथावली के ही ग्रंथों को प्रामाणिक माना है, और उन्हीं का विस्तृत परिचय प्रस्तुत किया है। शेष सभी अध्याय भी अपनी स्वाभाविक सुबोध शैली में अच्छे लिखे गये हैं। एक ही पुस्तक में पहली बार इतनी विचार-सामग्री देने का इस विद्वान लेखक ने सहरानीय प्रयत्न किया है। यह उद्योग विद्यार्थियों तथा विद्वानों दोनों के ही काम का है। —सत्येन्द्र

कविता

विश्व की समीक्षा—रचयिता-श्री आ० कुमार यौधेय; प्रका०—बी० ओ० जोशी ५३३ सदाशिव पेठ, पूना २। पृ० सं० १०६, मूल्य २)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक की 'विश्व-समीक्षा' तथा अन्य स्फुट कवितायें संग्रहीत हैं। विश्व-समीक्षा में लेखक अपने आदर्श-संसार के अन्दर एक आदर्श-मानव की कल्पना करता है। लेखक की वाणी में बल है। स्फुट कविताओं में उसने देश-स्वतन्त्र्य तथा समाज के दुखी अंग पर भी रचना की है जो आजकल के प्रवाह के अनुकूल है। हृदय और मस्तिष्क दोनों में लेखक के ऊपर हृदय का अधिक प्रभाव है।

अचिरा—रचयिता—श्री शिवकुमार त्रिपाठी 'सन्तप्त' प्रका०—राघव पब्लिशिंग हाउस, दोस्तपुर, सुल्तानपुर; (अवध)। पृ० सं० २५, मूल्य ॥)

अचिरा में लेखक की कुछ भाव-पूर्ण कविताएँ संग्रहीत हैं। कल्पना की ऊँची उड़ान है; कहीं छायावादी रंग है। कविताएँ विशेषतः स्वान्तः सुखाय हैं।

उनका पाकिस्तान—रचयिता—श्री गोपालप्रसाद व्यास; प्रका०—नई किताबें कार्यालय, दिल्ली। पृ० सं० ९६, मू० २)

श्री गोपालप्रसाद व्यास की यह एक और हास्य और व्यंग रचना है। पाकिस्तान शब्द आजकल हर एक की जबान पर चढ़ा हुआ है, फिर कवि और कलाकार उसे अपनी कृति में क्यों न स्थान दे? श्री व्यासजी ने 'जिन्हाइट' पाकिस्तान से इतर अपने एक और पाकिस्तान की सृष्टि कर डाली है। वह उनकी कविताओं का 'पत्नीस्तान' बन गया है। आजकल की उनकी प्रायः हर कविता में पत्नी उनके लक्ष्य में रहती है। वह उनकी कविता की स्फूर्ति-प्रेरणा बन गई है। इस पुस्तक में पत्नी पर कंट्रोल, हिजड़िस्तान, डबल भैंस, सुकुमार गधा आदि हास्य रचनाएँ इस दिशा में आगे बढ़ने का प्रयत्न है। किसी भी कवि की रचनाओं के पाठकों से व्यासजी के इस 'पत्नीपुराण' के वाचक अधिक मिलेंगे।

देशदर्शन—ले०—श्री वैजनाथप्रसादसिंह, प्रका०—ह० प्रजापतिलाल, खुशहाल पर्वत, प्रयाग। पृ० सं० ५२, मू० ।।)

पुस्तक में देश की सामयिक अवस्था पर कविताएँ लिखी गई हैं। देशभक्ति की भावनाओं से प्रेरित लेखक के हृदय में जो विचार तरंगे उठी हैं उन्हीं को उन्होंने कविता का रूप दे दिया है। हिन्दू-मुस्लिम समस्या का विचार करते हुए कहीं-कहीं लेखक की रचना में कटुता आ गई है।

—र० ब०

कहानी

सुख की खोज—लेखक-स्वामी सत्य-भक्त; प्रका—० सत्याश्रम वर्धा। पृ० सं० १०६, मू० १)

इन कहानियों का एक बड़ा उद्देश्य है समाज-सुधार। पुरुष के कर्त्तव्य, स्त्री के अधिकार, दलित की मानवता धर्म-अर्थ और काम द्वारा पैदा की गई असमानता से मुक्ति आदि कितने ही विषय समाज-सुधार के अंतर्गत आते हैं। लेखक ने इनमें से किसी एक को लक्ष्य में रखकर उस पर सुन्दर कहानी की रचना की है। कहानियों में उद्देश्य और कला का सम्मिश्रण उनकी 'नई दुनिया' कहानी के पति पत्नी सम्बन्ध की तरह ही हुआ है। यद्यपि किसी-किसी कहानी में इसका अपवाद भी है, जैसे लेखक की आदि—और अन्त की कहानियाँ—जो उपदेश के लिए दृष्टान्त मात्र बन गई हैं—किन्तु 'भाभी की उपाधि' में कला के कलेवर के अंदर प्रयोजन ऐसे ही छिपा हुआ है जैसे दूध के अन्दर मक्खन। पुस्तक का बाह्य रूप रंग आकर्षक नहीं है।

चलते चित्र—लेखक—श्री शिवचन्द्र शर्मा; प्रका०—पुस्तक भंडार लहेरिया सराय, पटना। पृ० सं० १४२, मू० १॥)

चलते चित्र में लेखक की अठारह कहानियां हैं। उनमें अधिकांशतः मानव की करुणान्त दशा का चित्र है। यों इस दशा में कहानियों का विषय आधुनिक और उनका भाव सामयिकता से पूर्ण है, पर बेबसी या दुखान्त जीवन का चित्रण मात्र ही आज का विषय नहीं रह गया है। साधन सम्पन्नों की हृदय हीनता और साधन-हीनों की बेबसी का बतंगड़ कठिनाई हल नहीं करेगा। 'बेबसी' का चित्रण अच्छा है, उसे पढ़कर हृदय पर असर होता है, पर यह असर दिल का मसोसना है, उसमें न उमंग है न तड़पन। इसी प्रकार 'दीप-दान' कहानी का अन्त भी एक मृत्यु के साथ होता है। कहानी एक उलझन बन गई है। वैसे साधारणतः, पाठक इन कहानियों को चाव से पढ़ेंगे, क्योंकि लेखक की वर्णन शैली में आकर्षण है; उनके उद्देश्य के प्रति पाठकों में सहानुभूति है।

अमरज्योति—लेखक-श्री निर्मलकुमारराय बी-ए, प्रका० इण्डियन प्रेस लि० प्रयाग। मूल्य १) पृष्ठ संख्या १५७।

पुस्तक में लेखक की चौदह कहानियाँ हैं। समाज के आर्थिक और राजनैतिक जीवन की ओर दृष्टि न फेरकर लेखक ने इन कहानियों में दुनियादारी जीवन की तसवीर दी है। समाज का जीवन किसी खास चौखटे में ढला हुआ नहीं है—उसमें बड़ी पचीदगीयाँ हैं, टेढ़े मेढ़े रास्ते हैं। वृद्ध-विवाह एक महा अपशकुन है, पर 'अनुशोचना' के पाठक को बूढ़े नरेशचन्द्र के प्रति इतनी घृणा पैदा नहीं होती। स्वयं नरेश की जवान पत्नी कमला अपने पति से असंतुष्ट नहीं रह सकी उसकी अतृप्ति भी नहीं रही। इन कहानी में लेखक ने जहां एक लीक छोड़कर नई पगडंडी तलाश की है वहाँ उन्होंने कथानक अनावश्यक रूप से बढ़ा दिया है। 'तावीज' 'परिचय' कहानियों में ग्रामीण जीवन की झलक दिखलाई गई है पर कहानियाँ बहुत साधारण रही हैं। छोटे बड़े आकार की इन कहानियों में मनोरंजन की यथेष्ट सामिग्री है, साहित्यिक मूल्य चाहे उतना न हो।

भूखा बङ्गाल—सम्पा०—श्री ब्रह्मदत्त विद्यार्थी, प्रका० कल्याण साहित्य मंदिर प्रयाग। मू० ४) पृष्ठ सं० १८४।

बङ्गाल का अकाल भारत की एक महा दुर्घटना के रूप में अपनी अमिट छाप छोड़ गया। भूख और बीमारी के उस ताण्डव ने सारे देश को कँपा दिया। शान्ति और सौन्दर्य के संसार में विचरण करने वाले कलाकारों तक के

दिल हिला दिये। उन दिनों के बंगाल पर उन्होंने जो कुछ लिखा वह हृदय के खून से लिखा गया है। प्रस्तुत पुस्तक में इसी सम्बन्ध की सत्रह कहानियाँ संग्रहीत हैं। जो हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठित लेखक श्री निराला, यशपाल, उषामित्रा तथा अन्य उदीयमान लेखकों द्वारा लिखी गई हैं। एक उद्देश्य तथा समान विषय पर लिखी गई इन कहानियों में वैविध्य की कमी नहीं, वह लेखक की अपनी अपनी शैली तथा कला के चित्रण के रूप में ही नहीं बल्कि विषय के भिन्न भिन्न अंगों के चित्रण के रूप में भी है। भिन्न भिन्न लेखकों की कलाकृति के अनुरूप ही इन कहानियों को पढ़ने से दिल में सिहरन, धड़कन तथा हलचल पैदा होती है। —र० व०

राजनीति

एक महान चुनौती—लेखक-श्री लुईफिशर; प्रका० सस्तासाहित्य मंडल दिल्ली। मू० ७॥) पृ० सं०४२३

मूल पुस्तक प्रसिद्ध अमरीकन पत्रकार श्री लुईफिशर ने 'दी ग्रेट चैलेंज' नाम से लिखी है। लुई फिशर अंतर्राष्ट्रीय विषयों के ज्ञाता तथा अनुभवी व्यक्ति हैं। आपने विभिन्न देशों का भ्रमण करके, वहाँ के लोक नायकों से भेंट करके तथा उनके और देशों के महत्वपूर्ण मामलों से गहरा सम्पर्क स्थापित करके अपने अनुभवों के आधार पर पुस्तक रचना की है। प्रस्तुत-पुस्तक में आपने द्वितीय महासमर के उत्तरार्ध की घटनाओं की समीक्षा के साथ महायुद्ध के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का चक्र किस धुरी पर किस दिशा में घूम रहा है, इस पर अपने विस्तृत विचार प्रकट किये हैं। उसमें भारत पर भी चर्चा है। लुईफिशर एक स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति, निष्पक्ष आलोचक, तथा मूलतः जनतंत्रवाद के समर्थक हैं। भारत के स्वातंत्र्य आन्दोलन के साथ आपकी सहानुभूति है। अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में आपने युद्ध में पराजित राष्ट्रों और उनके अभिनायकों के कार्यों का उल्लेख करते हुए विजयी राष्ट्रों के सम्बन्ध में भी अपने निष्पक्ष विचार प्रकट किये हैं। रूस, इङ्गलैंड, अमरीका, चीन और अन्य देशों के पारस्परिक सम्बंध तथा उनकी आंतरिक राष्ट्रीय अवस्था-समस्यायें और उनके कारण तथा राष्ट्रीय चरित्र के संबंध में आपने जो लिखा है वह राजनीतिज्ञों के लिये पठनीय है। घटनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव होने के कारण आपके कथनों में प्रमाणिकता के लिये शक करने की गुंजाइश नहीं रहती—भले ही आपके निर्णय और निष्कर्ष से किसी को असहमति हो। आपकी पुस्तकों में कितनी ही ऐसी बातें हैं जहाँ तक दूसरे लेखक नहीं पहुँच पाये हैं। पुस्तक मनोरंजन ढंग से लिखी गई, पठनीय और संग्रहणीय है।

राष्ट्र-निर्माण—ले०-श्री आनन्दकुमार; प्रका० बसंत निवास सुल्तानपुर। मूल्य १) पृ० संख्या ४०।

पुस्तक में लेखक ने राष्ट्र-निर्माण के लिये लोकप्रिय मंत्रि मंडलों द्वारा किये जाने वाले रचनात्मक कार्यों के संबंध में अपने विचार प्रकट किये हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, आर्थिक संगठन, खेती, उद्योग धंधे तथा भाषा और सांस्कृतिक सुधार के लिये क्या क्या प्रयत्न किये जाने चाहिये इसका सीधा सादा परिचय इस पुस्तक में मिलेगा। छपाई सफाई उत्तम है, मूल्य अधिक रक्खा गया है।

रियासतों का सवाल–लेखक-श्री वैजनाथ महोदय; प्रका०—नवयुग साहित्य सदन इन्दौर। मू० १॥) पृ० सं० १६६

स्वतन्त्र भारत के शासन में रियासतों का क्या स्थान होगा, आज की मुख्य समस्याओं में एक समस्या यह भी है। ये शुभ चिन्ह हैं कि देशी रजवाड़े अब सम्राट की भक्ति भावना के स्थान पर भारतीय राष्ट्र की भावना को अपना रहे हैं। इधर भारतीय स्वतंत्रता के सिपाही अंग्रेजों से उलझते हुये देशी रियासतों की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं देसके पर इसका अर्थ यह नहीं कि यह विषय उनकी आँखों से ओझल रहा है। रियासतों में आन्दोलन भी चलते ही रहे हैं। इन आन्दोलनों की आज की मांग यह है कि रियासतों के राजाओं की स्थिति सूबों के गवर्नरों की सी हो जाय और शासन का सारा कार्य जनता द्वारा चुनी गई असेम्बलियाँ चलायें। पुस्तक में लेखक ने देशी रियासतों सम्बन्धी मुख्य-मुख्य समस्याओं को उठाया है। रियासतों की वर्तमान स्थिति—सम्राट और भारत सरकार से उनका

सम्बन्ध, राज्यों का संगठन (नरेन्द्र-मण्डल) भावी भारतीय विधान के संबन्ध में उनका रुख तथा देशी-राज्य प्रजा की माँग, इन सवालों पर लेखक ने तथ्य और प्रमाणों के साथ अपने भाव प्रगट किये हैं। पुस्तक लेखक की प्रथम पुस्तक 'रियासती जगत की समस्याएँ' से एक कदम आगे जाती है, पर आज के सभी प्रश्नों का बोध उससे नहीं होता। आशा है इस विषय के विशेषज्ञ श्री बैजनाथ महोदय आगे के प्रश्नों पर शीघ्र ही और नई पुस्तक लेकर प्रस्तुत होंगे।

सन् बयालीस का विद्रोह—लेखक-श्री गोविन्द-सहाय एम० एल० ए०, प्रका०—नवयुग-साहित्य-सदन, इन्दौर। पृ० सं० ३४३, मू० ६)

अगस्त सन् १९४२ में भारतीत स्वतन्त्रता के लिये किये गये जन-विद्रोह का इतिहास अब तक कई लेखकों ने लिखा है। इन सब में घटनाओं के विस्तार पर जोर दिया गया है अर्थात् सन् ४२ की घटनाओं के ऐतिहासिक पक्ष पर अधिक लिखा गया है। प्रस्तुत पुस्तक में भी मुख्यतः यही बात है पर लेखक ने प्रारम्भ में आन्दोलन की कुछ मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी की है। सन् ४२ के विद्रोह में भावुकता अधिक थी, उसका वैज्ञानिक पहलू कमजोर था, ऐसा हमारा मत है, फिर भी आन्दोलन की प्रचण्डता को दर्शानेवाले मनोवैज्ञानिक कारण उस समय मौजूद थे, लेखक से हम इस बात में सहमत हैं जनता को कोई कार्य-क्रम क्यों नहीं दिया गया, इस संबंध में लेखक की उक्ति येन केन प्रकारेण गांधीजी के नेतृत्व का समर्थन करना है पर असल में आन्दोलन का रूप क्या होगा, इसकी तस्वीर नेताओं के दिमाग में नहीं थी; नहीं हो सकती थी, इस बात को लेखक की हम मान लें तो—वह तस्वीर नेता के दिमाग में होनी चाहिये, इससे हम इन्कार कैसे कर सकते हैं? गांधीवादी नेतृत्व, स्वयं वर्किंग कमेटी और सोशलिस्ट पार्टी, जिन्हें मिलकर विदेशी सत्ता को खत्म करने का आन्दोलन चलाना था, उन्हें किसी एक कार्य-क्रम पर मतैक्य होना अनिवार्य था। पुस्तक के प्रारंभ में ही लेखक ने क्रांति की पूर्व स्थिति का जो चित्र दिया है उसकी पांचवी बात में उन्होंने 'विभिन्न दलों की एक माँग पर मिल कर जोर लगाने की इच्छा' कह कर बस कर दिया, किन्तु इच्छा ही काफी नहीं है, एक कार्य-क्रम अनिवार्य है। वह नहीं था। गांधीजी कोई फैसला दें—अपने ढँग का ही आन्दोलन शुरू करें, सोशलिस्ट फिर उसको ले उड़ेंगे, यह इच्छा काम कर रही थी। ऐसा हुआ भी। इसलिये सन् ४२ के विद्रोह का पूर्व पक्ष (विवेचनात्मक पहलू) अभी तक बहस की चीज बनी हुई है और रहेगी। जहाँ तक जनता के कौशल—उसके बलिदान, स्वातंत्र्य भावना और उसके लिये कर मिटने का सम्बन्ध है, उसमें किन्हीं दलों में दो रायें नहीं। पुस्तक में इसी का अधिक वर्णन है। साथ ही दमन-चक्र के घुमाव का भी पूरा जिकर है। पुस्तक काफी छोनबीन, परिश्रम और प्रमाण तथा तथ्यों के आधार पर लिखी गई है और पठनीय है। —र० व०

जीवनी

रोजा लेक्जुम्बर्ग—लेखक-श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रका०—नेशनल इनफोरमेशन एण्ड पब्लिशर्स लिमिटेड, बम्बई। पृ० सं० १८४, मू० ३।)

प्रथम महायुद्ध के बाद योरप में क्रांति और जन आन्दोलनों की जैसी आँधियां चलीं, उनमें जर्मनी के प्रसिद्ध समाजवादी क्रांतिकारियों में रोजा लेक्जुम्बर्ग का नाम खूब चमका। वह लेनिन की समाकालीन और वर्षों तक उसकी सहयोगी कार्यकर्ता रही। जब लेनिन की सारी शक्तियाँ रूस की क्रांति को सफल बनाने में लग गईं उस समय अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में क्रांति की चेष्टा करने वाले ये दो सह-योगी एक दूसरे से अलग पड़ गये। पीछे इनमें कतिपय बातों में मतभेद हो गया। पर इसमें सन्देह नहीं कि जिस कार्य को लेनिन ने अपने जीवन में सफल और पूरा करके दिखाया उसी कार्य की चेष्टा में और समाजवादी आदर्श की आराधना में रोजा लेक्जुम्बर्ग ने अपने जीवन को खपा दिया, अपने प्राण विसर्जन कर दिये। इस क्रांतिकारी देवी की जीवनी मृत-प्राय अंगों में जीवन और जोश के प्राण फूंकती है। श्री बेनीपुरीजी ने पॉलफ्रोलिख की लिखी हुई 'रोजा लेक्जुम्बर्ग' पुस्तक के आधार पर हिन्दी में इस वीर महिला की जीवनी लिखी है जो राजनीतिक व्यक्तियों के लिये पठनीय और अनुकरणीय है।

दर्शन

जड़ की बात—लेखक-श्रीजैनेन्द्र कुमार, प्रका०—हिन्दी मंदिर प्रयाग। मू० २) पृ० सं० २१५

प्रसिद्ध साहित्यकार और कलाकार श्रीजैनेन्द्र जी के विचार इस पुस्तक में संग्रहीत हैं। कुल उन्नीस निबंध इस पुस्तक में आगये हैं। आधुनिक समस्याओं को परोक्ष दृष्टि से देखने वाले श्री जैनेन्द्र जी के इन विचारों में व्यष्टि और समष्टि के सम्बंध की सुन्दर झांकी मिलेगी। लेखक ने अपने अहंत्व के द्वारा विश्व के मानवीयत्व के सागर में डुबकी लगाकर कुछ रत्न खोज निकाले हैं, जरूरी नहीं कि वे सभी को समान रूप से ग्रहणीय हों। जीवन धारण करने के लिये आवश्यक साधनों से रहित मानव-प्राणी पथ में पड़ा हुआ प्राण तोड़ देता है, दूसरी ओर फक-फक करती हुई मोटर उसके पास से निकल जाती है। मानवत्व का यह निरादर और अवहेलना—समाज की वर्त्तमान व्यवस्था इसके लिए जिम्मेदार है। जैनेन्द्रजी के दिल में इसकी कसक उठती है, वह इस पर गहराई के साथ विचार करते हैं, असमानता के कारणों की खोज करते हैं। इस और ऐसी ही अन्य समस्याओं पर उनके विशद विचार पाठकों के लिये मनन और चिंतन की सामिग्री प्रस्तुत करते हैं। घटनाओं की डाल पात से जड़ का पता लगा कर ही मानव की इस जड़ता को दूर करने का सही मार्ग ढूँढा जा सकता है।

मृत्यु और उसके बाद—लेखक-श्री गंगाप्रसाद गौड़ 'नाहर' प्रका-पुस्तक भंडार लहेरिया सराय पटना। मू० ३) पृ० सं० ३१२

मृत्यु जीवन की अनिवार्य और सबसे बड़ी घटना है। मरने के बाद क्या होता है? शरीर में काम करने वाली चेतना शक्ति, एक भौतिक रूप को परित्याग कर क्या अन्य प्रकार से अस्तित्व में रहती है?—लेखक ने इसका उत्तर 'हाँ' में दिया है। भारतीय दार्शनिकों और इस विषय के तत्ववेत्ताओं में से अधिकांश का मत यही है लेखक ने उन्हीं के विचारों को इस पुस्तक में संग्रहीत कर दिया है। पुस्तक का नवीनत्व पुराने विचारों को नये ढँग से कहने मात्र में है। पुनर्जन्म के प्रमाण में लेखक ने कुछ आधुनिक मत और घटनाओं के वर्णन भी दिये हैं। किन्तु लेखक का ध्यान इस मत से साम्य न रखने वाले दार्शनिक विचारों पर नहीं गया है। जिनकी वैज्ञानिक ढँग की व्याख्या को अयथार्थ सिद्ध किये बिना मरणोपरान्त जीवन की पुष्टि के कथन एक मत को मानकर चलने वालों का परम्परागत विश्वास व आग्रह मात्र रह जाता है। लेखक ने पुस्तक मनन और अध्ययन के साथ लिखी है। ज्ञानवर्द्धन की दृष्टि से पाठकों में उसका आदर होगा। छपाई सफाई अच्छी है।

स्त्रियोपयोगी

नारी-जीवन—लेखक-श्री दुर्गाप्रसादसिंह, प्रका० इंडियन प्रेस लि० प्रयाग। मू ३) पृष्ठ संख्या १४६+१८।

नारी-जीवन पर अब तक कई पुस्तकें लिखी गई हैं। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने अपनी पुत्री के नाम पत्रों के रूप में नारी-जीवन का आदर्श और कर्तव्य बतलाया है। लेखक ने अपने सामने हिन्दू आदर्श रक्खा है और प्राचीनता तथा पूर्व की प्रत्येक बात का समर्थन वकीलों जैसी उक्तियों के साथ किया है। यह सही है कि नारी जीवन का भारतीय आदर्श पश्चिम के मुकाबले श्रेष्ठ है, पर कतिपय बातों में पश्चिम की श्रेष्ठता हमें स्वीकार करनी पड़ेगी। इङ्गलैंड के की नारी आन्दोलन को हम समस्त नारी समाज की जागृति के लिये एक महत्व की चीज मानने में क्यों संकोच करें। इसी प्रकार विज्ञान की उन्नति के युग में, स्त्री-समाज के लिये किसी शिक्षा को लेखक अस्वीकार नहीं करेंगे, कुंडली और ग्रह मिलाने वाली बात हास्यास्पद हो जाती है। लेखक की दृष्टि में भले ही वह प्राचीन विज्ञान रहा हो। फिर भी कतिपय विषयों पर लेखक का विवेचन और उनकी वर्णन शैली प्रभावोत्पादक है। उसमें नारी धर्म का मर्म है। पुस्तक के पीछे लेखक का गंभीर अध्ययन छिपा हुआ है। महिला समाज तथा समाज सुधारकों के लिये पुस्तक पठनीय है।

—र०

विविध

राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद (प्रथम शतक) लेखक और प्रकाशक—श्री कन्हैयालाल सहल पिलानी, जयपुर स्टेट। मूल्य २) पृष्ठ संख्या १५१।

प्रस्तुत पुस्तक में राजस्थानी इतिहास का जीवित रूप में व्यक्तियों, विशेषकर राजाओं, राजपुरुषों और चारण कवियों से सम्बन्धित घटनाओं द्वारा हुआ है। इसलिये इस पुस्तक में इतिहास और साहित्य का अपूर्व सम्मिश्रण है। राजपूताने के लोग वैसे तो जीना और मरना दोनों ही जानते थे किन्तु उनके मरण में कुछ महत्व और गौरव रहा है—

'जिसने न माना कभी तुच्छ मृत्यु को
जीने का वही तो अधिकारी है जगत में।'

पुस्तक में ऐसे बहुत से स्थल हैं जहाँ पर राजपूतों के मरण गौरव की झांकी मिलती है। 'काव्यं यशसे व्यवहार विदे'। यह पुस्तक राजस्थान की भाषा, व्यवहार और चारणों की परम्पराओं से परिचित कराने में सहायक होगी। राजपूताने के लोक साहित्य में रुचि रखने वाले लोगों के लिये यह अत्यन्त उपादेय है। —गुलाबराय

बुद्धि परीक्षा—लेखक—श्री जगदम्बाशरण शर्मा प्रकाशक—पुस्तक भंडार पटना। मूल्य १) पृष्ठ संख्या २१६।

पुस्तक बाल मनोविज्ञान से संबन्ध रखती है। छोटे बालकों में बुद्धि और मानसिक विकास किस प्रकार होता है, उसके लिये कैसे, क्या प्रयोग काम में लाने चाहिये। सभी बालकों की मानसिक अवस्था एक सी नहीं होती। अतः किस उम्र के किस बालक का मानसिक स्तर कैसा है, यह जानने के लिये इस पुस्तक में कुछ विधियाँ तथा प्रश्न दिये गये हैं। उनसे मौजूदा स्थिति का पता लगाकर आगे किन प्रश्नों के द्वारा शनैः शनैः बढ़ा जाय, जिससे बालक उन्नति करता जाय, यह गुर बताना इस पुस्तक का विषय है। हमारे देश में और विशेषकर हिन्दी भाषा में इस प्रकार का साहित्य अभी नहीं लिखा गया है। हिन्दी में इस ढंग की केवल यही पुस्तक देखने में आई है। इससे अध्यापक और विद्यार्थी दोनों ही फायदा उठा सकते हैं पर अन्य पाठकों के लिये भी पुस्तक का महत्व कम नहीं है।

गौरवशाली जीवन—प्रनु० श्री जगपति चतुर्वेदी, प्रकाशक—छात्र हितकारी पुस्तक माला प्रयाग। मूल्य ॥।) पृष्ठ संख्या ८३।

मानव जीवन को समृद्ध, सम्पन्न तथा गौरव पूर्ण बनाने के लिये मानव के अन्दर के गुणों का विकास किस प्रकार किया जाना चाहिये। हृदय में अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की भावनायें उठती हैं। खराब वृत्तियों का शमन अच्छी वृत्तियों के विकास के साथ होता है, ऐसी हालत में साहस, संयम, शौर्य, उदारता, शान्ति तथा सुख आदि गुणों की अभिवृद्धि होती है। इस पुस्तक में इन्हीं बातों की चर्चा की गई है। मूल पुस्तक श्रीयुत जेम्स एलन द्वारा लिखी गई है जिसका भावानुवाद यह पुस्तक है। चरित्र निर्माण के लिये पुस्तक उपयोगी है।

(४३८ पृष्ठ का शेषांश)

खेद-प्रकाशन—

पिछले मार्च अप्रेल के सम्मिलित अङ्क में विचार विमर्श के अन्तर्गत कुमारी विद्या गुप्ता, का 'मीरा के राणा' शीर्षक एक लेख छपा था। लेख लम्बा होने के कारण उसमें काट-छाँट करना आवश्यक हो गया था। उसके कारण दो स्थानों में दो विभिन्न उद्धरण एक दूसरे के बिल्कुल पास आगये हैं। (उदाहरणार्थ: पृष्ठ १६० दूसरे कालम में स्वप्न के प्रसङ्ग में) यद्यपि उनमें अलग-अलग अवतरण चिन्ह लगे हुये हैं और उनके एक पद होने का सन्देह नहीं हो सकता है और दोनों का विषय भी एक है तथापि यदि दोनों के बीच की भूमिका और बनी रहती तो कुछ अधिक स्पष्टता आ जाती। लेखिका महोदय ने इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। विषय की एकता की सफाई देते हुये लेख की सम्बद्धता विकलित होने पर हम खेद प्रकाशित करते हैं। साथ ही हम लेखकों से निवेदन करेंगे कि वे यथा-सम्भव लेख छोटे भेजा करें जिससे काट-छाँट करने की आवश्यकता न पड़े।